...जा बांधनेमें विफल

चुनावी सभाओंका लेखा-जोखा

...स राष्ट्रीय महासचिवने मिर्जापुर और जौनपुरकी चुनावी सभामें मात्र मुलायमके प्रति अपने गुस्सेको जाहिर कर यही बताया कि बाबरी मस्जिदके ध्वस्त होनेमें नरसिंह राव और मुलायमका हाथ है। इससे भी जब उनका मन नहीं भरा तो उन्होंने जनताका आह्वान इसलिए कर डाला कि वह राज्य अतिथि कांडका मुलायमसे बदला लेनेके लिए उनका साथ दे। सभामें न तो किसी विकास कार्यक्रमकी बात, न ही जनताके उत्थान की। महज निजी स्वार्थकी बातकर सभाको समाप्त कर दिया गया। ऐसेमें मायावतीकी मिर्जापुर-जौनपुरकी चुनावी सभासे जनताका भला क्या लेना देना? हां इससे एक बात जरूर हुई कि मतदाता इस बातके लिए पूरी तरह दृढ़ हो गया कि वह अबतक तारीखतक सचमुच कुछ नहीं बोलेगा।

दिग्गज युद्ध ... वीरगतिको प्राप्त हो गया। सप्ताहने हद तब पार कर लिया जबकि डोभी (जौनपुर) की एक चुनावी सभामें उसी फूलन देवीने मायावतीपर आरोप किया कि वह दलित समाजको लूट रही है जिसकी जिंदगीका अधिकांश समय लूट, डकैती और हत्या करनेमें बीता। ऐसेमें भला फूलनकी सभा जौनपुर और सैदपुर संसदीय क्षेत्रके मतदाताओंपर भला क्या इम्पैक्ट डालती। लिहाजा, यहां भी बात कुछ बनी नहीं। भाजपाकी ओरसे साध्वी ऋतम्भराने अपने तेवरमें कुछ कमी लाकर हवा बांधनेकी कोशिश जरूर की लेकिन अकेला चना भाड़ तो फोड़ता नहीं। उनकी सभामें थोड़ी रंगत होनेके बावजूद जनपदकी चुनावी फिजां कोई रंग लेती नहीं दिखायी पड़ती।

जौनपुर संसदीय क्षेत्र इस सप्ताह फिर उस जरूर बदला, लेकिन सप्ताहमें जनताके ... कोई असर नहीं डाल सके। उन्होंने कांग्रेसको भ्रष्टाचारकी जननी, भाजपाको बेशर्म, बेहया और बेईमान पार्टी बताया। मतदाता सभामें काफी देर तक यहीं सोचते रहे कि भला मुलायम कैसे दूसरोंको भ्रष्ट, बेईमान, बेशर्म कह सकते हैं? सभा जैसे-तैसे बीत गयी लेकिन मतदाताओंकी चुप्पी तोड़वानेमें बेअसर ही रही।

सोनभद्र और मिर्जापुर संसदीय क्षेत्रोंमें इस सप्ताह कल्याण सिंहने चुनावी सभा की। सभामें उन्होंने किसीको गाली तो नहीं दी। हां, उनकी बातोंमें वे तेवर नहीं दिखे जो मतदाताओंको सोचनेके लिए मजबूर कर सके। उन्होंने कहा कि सभी पार्टियां भाजपाको हरानेमें लगी हैं। इससे जनताका भला क्या लेना देना। कश्मीरपर चिन्ता तथा महापरिवर्तनकी बात कर सभामें उन्होंने महज पदाताओंको सिर ही खाया। कुछ उखाड़ न सके। इसलिए सफलता की दृष्टिसे पूर्वांचलमें कल्याण सिंहकी ये सभाएं भी कुछ नहीं रही। कोरम पूरी करती नजर आयी।

भारतीय जनता युवा मोर्चाके राष्ट्रीय उपाध्यक्ष मुख्तार अब्बास नकवीने मुसलमान होकर जौनपुरकी सभामें तुष्टीकरणका विरोध कर अलख जगायी लेकिन मतदाताओंकी इसपर कोई खास प्रतिक्रिया नहीं रही।

इसी क्रममें कांग्रेस (इ) के प्रांतीय अध्यक्ष जीतेन्द्र प्रसादने भी चुनावी सभा वालोंमें की। उन्हें यह आशा थी कि अबकि बह मतदाताओंको ... लेकिन उनकी ... दिखायी दिया ... कांग्रेसका नाम ... इसके पीछे ... जीतेन्द्र प्रसादने ... दिया। ...

नेताकी सभाका कन्नगाह, जो बजरिये सुराज यात्रा देशमें परिवर्तन करना चाह रहे हैं। बात भाजपाई दिग्गज लालकृष्ण आडवाणी की है। ... भयमुक्त समाजकी दुहाई ... उससे ठगना चाहा कि ... करनेमें सक्षम है। ... कांग्रेस ... मंदिरकी गोटी ... तपर फेंकी। ... लगा कि ...

इस प्रकार एक दूसरेकी टांग खिचाई, दावे, आश्वासन और लुभावने भाषण भी पूर्वांचलके मतदाताओंकी चुप्पी तोड़नेमें पूरी तरह बेकार साबित हो रहे हैं। पूर्वांचलके प्रायः सभी संसदीय क्षेत्रोंमें विभिन्न दलोंके दिग्गज नेताओंका तूफानी दौरा अबाध गतिसे जारी है लेकिन यहांके मतदाताओंकी खामोशी उन्हें यह ...

जंग मैदानसे आ रहे हैं। कुछ पर ... है, चेहरे स्याह पड़ गये हैं, तथा बालमें धूल और गर्द पड़ गये हैं। यानि चुनाव प्रचार ने नेता एवं नेता ... दोनोंकी रौनक ले ली है।

धंधा कहीं मंदा कहीं तेज

ग्यारही लोकसभाका चुनाव उन प्रत्याशियोंको एक सुखद संदेश दे रही है, जो कम खर्चेमें चुनाव लड़नेकी इच्छा रखते थे, परन्तु कतिपय दलीय प्रत्याशी जो पानीकी तरह पैसा बहाकर संसदीय क्षेत्रोंमें अपनी शानदार उपस्थिति की चाहत रखते थे, उनके लिए यह चुनाव परेशानीका सबब बन गया है। यानि शेषन के चुनावी डंडे ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी है अब गरीब प्रत्याशी भी चुनाव लड़ सकते हैं। इन सबके बावजूद चुनाव कार्यक्रमों की प्रतीक्षा करने वाले कतिपय धंधेबाजोंका धंधा आजकल मंदा पड़ गया है। हालात ऐसे बन गये हैं कि लाउडस्पीकर व जीप चालकका धंधा करने वाले धंधेबाज इन ...

... उन बातोंमें ... रहे हैं, जहां दूसरे ... संघमासिका ... लोग चुनाव ... वोटों का बंटवारे ... दलके एक नेता ... चौकी मोड़ पर ... भाजपासे हैं। ... इस प्रश्नके ... दिया कि हम ... चढ़कर हाथीके ...

एक प्र...

निर्दलीय प्र... अपने विभिन्न ... मतदाताओंके ...

क्षेत्र और देशका बि...

'आपकी नजरमें आपके प्रत्याशी' के लिए अपनी राय भेजनेमें मतदाताओं ने काफी उत्साह दिखाया है। यह उनकी जागरुकताका भी परिचायक है।

बलिया संसदीय क्षेत्रके भरौली ग्राम से शिव जी प्रसाद लिखते हैं प्रत्याशीके चयनका मापदण्ड उसका चरित्र तथा सामाजिक कार्योंमें उसकी रुचि होनी चाहिए। वह लिखते हैं कि ...

वर्षीय शर्फ... चयनमें मैं ... उसकी काय... उससे अ...

राजनैतिक दलों... सम्भाले कतिपय पदाधि... दिन अखबार नवीसोंको इस... कि वे अपने अखबारमें उनका... करें। आजकल ऐसे खबरी लोगोंकी ... बढ़ गयी है। चुनावके पूर्व तक जिनकी ... डंवाडोल थी, वे अब चुनाव प्रचारको म... करनेमें लग गये हैं। ऐसे राजनीतिक व्यक्तियोंकी चाहत यह कि वे चुनावमें भले ही पिछड़े हो लेकिन अखबारमें अपना टेम्पू हाई चाहते हैं।

...करनेवाला चाहिए

कम्युनिस्ट पार्टीमें २० वर्षों तक ... किया है लेकिन पार्टी के ... चलते दुर्भाग्यवश स... सपाका प्रत्याशी ... फूल...

...एक ही ... जब कोई ... तो उसके ... जाता है। शायद ... लेकर ३० अप्रैल तक ... पूर्वांचलके जौनपुर, ...या, मिर्जापुर, ... सभाएं

...भाषण, ...का इतना पक... ...टेंगे, कहां नहीं ... प्रत्याशियोंके सारे प्र... ...ताओंकी उपस्थिति भी ... रही है तो आश्चर्यकी कों... आधारपर यह कहनेमें तनिक... नहीं कि मतदाता सात तारीखको ... जरूर खुलेंगे लेकिन मतदाता इस... अपनी रहस्यमयी खामोशी तोड़... शिलापर ऐसा इतिहास लिखेगा, ... भविष्यमें कोई नेता लुभावने भाष... आश्वासनसे मतदाताको ठगनेके ... सपनेमें भी भूल जायगा।

बहरहाल, एक हफ्ते पूर्व... दलोंके दिग्गज नेताओंने जितनी ...

चुनावी ...

सभाएं की उसमें जनताके कल्... कम, एक दूसरेपर आरोप, झूठे... ज्यादा नजर आया। इसकी वजह... सभाएं मतदाताओंपर कोई प्रभाव... असफल रही। इसका अंदाजा इ... जा सकता है कि इन दिग्गजोंने ... संसदीय क्षेत्रोंमें अबत... ...वाला टांय-टांय फि...

प्राच्यभारतीग्रन्थमालाया। पञ्चमं पुष्पम्

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितया

न्यासापरपर्यायकाशिकाविवरणपञ्जिकया

विद्वद्वरहरदत्तमिश्रविरचितया

पदमञ्जरीव्याख्यया च सहिता

श्रीमद्वामन-जयादित्यविरचिता

काशिकावृत्तिः

[पाणिनीयाष्टाध्यायीव्याख्या]

चतुर्थो भागः

(पञ्चमाध्यायः, प्रथमपादात्मकश्च षष्ठाध्यायः)

सम्पादकौ

स्वामी द्वारिकादासः शास्त्री
व्याकरणपालि-साहित्यबौद्धदर्शनाचार्यः

पं० श्रीकालिकाप्रसादशुक्लः
एम० ए०, व्याकरणाचार्यः

तारा पब्लिकेशन्स,

वाराणसी

१९६७

प्रकाशक :
© तारा पब्लिकेशन्स
कमच्छा, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९६७

पुस्तकालय संस्करण रु० २५.००

मुद्रक
जय भारत प्रेस
वाराणसी

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वेदान्तविभागाध्यक्षचराणां
सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां श्रीमतां रघुनाथशर्ममहाभागानां

शुभाशंसनम्

इदं खलु विलोकयतो विमृशतश्च मम मानसमवारितप्रसरमुद्वेलमुल्लोलकल्लोल-जालमुल्लासमासादयति यत् *काशिकावृत्ति-न्यास-पदमञ्जरी*ग्रन्थैर्ग्रथितस्य ग्रन्थ-स्यास्य पञ्चमोऽध्यायः, प्रथमपादात्मकश्च षष्ठोऽध्यायः प्राङ्मनोरथपथातीतो-ऽपि साम्प्रतं दृग्गोचरतामायाति ।

एतस्य शुक्लस्य सुकृतस्य कर्मणः कर्त्तारौ वैयाकरणमूर्धन्यौ—पण्डित-*श्रीकालिकाप्रसादशुक्लमहोदयः*, लब्धव्याकरणाचार्यपदवीकः *स्वामी श्रीद्वारिका-दासमहानुभावश्च* । ग्रन्थस्यास्य सम्पादकाविमौ साम्प्रतमनवरतं सुश्लोक्या-वग्रे च भविष्यति भविष्यतः, शताब्द्याः परतः सुश्लोक्यौ चैनेनैव सुकृतेन ।

आशासे—अस्मिन् प्रवर्त्तमाने प्रवर्धमाने च भाषापरिष्कारविरोधिनि विषय-मात्रपरिष्कारप्रवणे कराले काले समावर्त्तनाय त्वरयति च च्छात्रवर्गे नूनमयं ग्रन्थोऽनूनमनवमं च पदमवाप्स्यत्यरमलञ्च ।

इदञ्चापरमप्याशासे—

> अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥

इति प्राक् परोक्षं कविभिः स्तूयमानोऽयं ग्रन्थ इतः परं प्रत्यक्षामपि स्तुतिं लप्स्यत इति ।

अध्येषये च कुतुकाक्रान्तस्वान्तो गीर्वाणवागनुरक्तान् विपश्चितो यत्तेऽस्य ग्रन्थस्य श्रुत्यङ्गस्य श्रवणमननाभ्यां श्रोत्रमनसी संस्कुर्वन्त्विति ।

महाशिवरात्रिः, २०२३ वै०
वाराणसी

रघुनाथशर्मा

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥

—श्रीभर्तृहरिपादाः

❀ ❀ ❀

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत् ।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥

❀ ❀ ❀

रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः ॥

—श्रीहरदत्तमिश्राः
(पदमञ्जरीकाराः)

प्रकाशकीयम्

देवैरपि स्पृहणीयस्यास्य महनीयस्यार्यावर्तस्य प्राचीनेतिवृत्तसङ्कलनेन गौरवमावहन्ती सुरभारतीयं विश्वस्याखिलासु भाषास्वतिप्राचीनतमा। प्रातःस्मरणीयैर्विगतविविधकल्मषैर्मुनिभिः, आचार्यैः, पण्डितपुङ्गवैश्चास्यामेव देववाण्यां तानि तानि सन्दर्भरत्नानि ग्रथितानि, यैर्देशस्यास्य माहात्म्यं परां काष्ठां नीतम्।

परमिदानीं महदिदमसन्तोषकरमेव यदीदृश्या भाषाया भूयांसो ग्रन्थमणयः कालवशादेवं पारोक्ष्यमुपागताः, मन्ये ते विरचिता एव नासन्! तेषु केचित् लब्धात्मलाभा अपि कतिपयैः प्रकाशकैर्विकृतिं नीताः। केषाञ्चित्पत्त्राणि भ्रष्टानि, केषाञ्चिदङ्कनं न मनोहारि, केषाञ्चिच्च तत्रस्थः सन्दर्भ एव व्यत्यस्तः।

अतः, बहोः कालादस्माकं मनस्ययं विचारः पदमादधदासीद्यत् कश्चिन् मनस्वी दोषानिमान्निरस्यादर्शभूतान् दुर्लभान् संस्कृतसन्दर्भान् प्रकाशयेत्, येन संस्कृतसमाजस्य चिरायोपकृतिर्भवेत्। एतद्धियैवास्माभिरियं *प्राच्यभारती-ग्रन्थमाला* समारब्धा। अत्र वयं यथासमयं सुदुर्लभान् संस्कृतभाषानिबद्धान् महत्त्वशालिनो ग्रन्थान् मुद्रापयित्वा प्रकाशयिष्यामः।

अत्र प्रथमं प्रकाशनम्—*माधवीया धातुवृत्तिः*, यत्र हि पाणिनीयधातुपाठमाश्रित्य *श्रीमत्सायणाचार्येण* धातूनामतिविस्तृतं साङ्गोपाङ्गं व्याख्यानं कृतम्। ग्रन्थेनानेन वैयाकरणानां कियानुपकारो जात इति मात्सर्यरागविधुरा भाषातत्त्वविदो विद्वांसो विदन्त्येव।

ततश्चेदानीमयमनेकेभ्यो वर्षेभ्यो लुप्तप्रायोऽपरो ग्रन्थः पाणिनीयशब्दानुशासनसम्बद्धः *काशिकावृत्ति*नामा विद्वद्वर*वामन-जयादित्य*विरचितः, आचार्य-*जिनेन्द्रबुद्धिपादकृतन्यासेन श्रीहरदत्तमिश्रकृतपदमञ्जरी*व्याख्यया च सह षट्सु भागेषु विभज्य प्राकाश्यं नीयते, यस्य प्रथमो भागः प्रथमाध्यायमितो २०२२ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः। तथाऽस्य द्वितीयो भागोऽपि, यत्र द्वितीयाध्यायो द्वितीयपादान्तश्च तृतीयाध्यायोऽस्ति परुदेव प्रकाशितः।

एवमेव तृतीयभागोऽपि, यत्र तृतीयचतुर्थपादात्मकस्तृतीयोऽध्यायः, चतुर्थोऽध्यायश्चास्ति, एष प्रकाशित एव।

अयमिदानीमस्य चतुर्थो भागः, यत्र पञ्चमोऽध्यायः प्रथमपादात्मकश्च षष्ठोऽध्यायोऽस्ति, सर्वावयवानवद्यः प्राकाश्यं भजते।

अनुपदमेव चास्य पञ्चमभागोऽपि न्यासपदमञ्जर्योरवशिष्टांशं प्रेक्षितु-कामानां सचेतसां पुरस्सरमुपस्थापयिष्यते यत्र, अवशिष्टः षष्ठोऽध्यायः, सप्तमाध्यायस्य च कियानंशो भविष्यति।

एतद्ग्रन्थरत्नस्य साधु सम्पादनार्थमस्माभिर्भृशं प्रार्थिताविमौ विद्वद्धौरेयौ—प्रथमः विद्वत्पुङ्गवः स्वामि*श्रीद्वारिकादास*महाभागः, व्याकरणपालि-साहित्यबौद्धदर्शनाचार्यः, वाराणसेयविद्वत्समाजे प्राप्तप्रतिष्ठः; अपरश्च पण्डित-प्रकाण्डः शास्त्रार्थमहारथी *श्रीकालिकाप्रसाद*शुक्लमहोदयः, एम. ए., व्याकरणा-चार्यः, यो हि वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयेऽनुसन्धानसहायकपदमलङ्करोति। आभ्यां पण्डितप्रकाण्डाभ्यामपरेऽप्यनेके ग्रन्थाष्टीकिताः, सम्पादिताश्च।

तदेवमनयोः शास्त्रविचारदक्षयोः साहाय्येनैतद्ग्रन्थरत्नस्यावशिष्टभाग-योरपि प्रकाशनमनुपदमेव भविष्यतीत्याशासाना वयं ग्रन्थरत्नमिदं विदुषां समक्षं समुपस्थापयामः।

प्रकाशकः

सम्पादकीयम्

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥

भाषामधिकृत्य वैज्ञानिकसरण्या यावत्सुव्यवस्थितं सुदृढञ्च भारतीयैर्मनीषि-मूर्धन्यैर्विचारितम्, न तावदन्यत्र दृग्गोचरीभवति। भाषाया वर्गीकारः, प्रकृतिप्रत्ययविश्लेषणम्, पादानां मूलभूतशब्दान्वेषणम्, धातुप्रत्ययवाच्य-निश्चयनम्, पदार्थानां परस्परं सम्बन्धनिरूपणम्, प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गस्थापनञ्च भारतीयसंस्कृतशाब्दिकानां बुद्धिवैभवस्य परां कष्ठां बोधयति। देशेऽस्मिन् शताब्दीर्यावत् मेधाविनो वैयाकरणमूर्धन्याश्शब्दविद्यावगमाय माहात्म्यसम्प-न्नानि तानि तानि निबन्धरत्नानि निरमासिषुरिति न परोक्षं प्रेक्षावताम्। अमीषां निबन्धानां सामर्थ्येनैव संस्कृतभाषा परामरतां भजति। किमधिकम्, वैदेशिकैरपि विद्वन्मूर्धन्यैरेषां निबन्धानां स्वकीयेषु भाषाशास्त्रेषु बहुतमामु-पयोगः कृत इति केषां सुमनसां नाविदितचरम्। अथ च आ सृष्टेरद्य यावत् व्यवस्थितभाषाशास्त्रराहित्येनाप्यनेका भाषा नातिचरमेव विलयं गताः, दुरवबोधा जाताः; परन्तु संस्कृतभाषाशाब्दिकानां विपुलयाऽनुकम्पया संस्कृतवाङ्मयं परःसहस्रं परप्रहारान् सोढ्वाऽपि जीवत् सत् सुतरां सुगमतां गच्छति।

भाषां स्थिरयितुं व्यवस्थापयितुं वा प्रातिशाख्यादिषु प्राचीनतमग्रन्थेषु निर्दिष्टेषु सङ्केतितेषु, सम्प्रति स्वसत्तामासादयत्सु चानेकेषु शब्दानुशासनेषु पाणिनीयशब्दानुशासनमेव सर्वातिशायीति केन तिरोधातुं साहसमाद्रियेत! संस्कृतवाङ्मयमधिगन्तुमपेक्ष्यमाणसकलसामग्रीसम्भृतमिदं *पाणिनीयाष्टकमस्ति*। यस्य रचनापाटवपरिपाटी न केनाप्यद्यावधि मनागप्यतिशयितेत्यतोऽधिकं सम्प्रति अप्रस्तुतप्रशंसाप्रसङ्गकलङ्को मा भूदिति विरम्यते। एतावदपि, विद्व-त्समाजस्य सेवायां सादरमुपायनीक्रियमाणोऽयं व्याख्याद्वयोपेतो ग्रन्थोऽपि तदेव पाणिनीयाष्टकमुपजीव्य विरचित इति कृत्वा निवेदितम्।

काशिकावृत्तिः

गच्छति काले *पाणिनीयाष्टक*सूत्राणि सारवन्त्यपि अल्पाक्षरत्वात्, असन्दिग्धान्यपि विश्वतोमुखत्वात् मध्यमधियां मन्दधियाञ्च कृते दुरवगाहाणि जातानि। तेषामिदं मान्द्यमवलोक्य अनुग्रहैकहृदयो भगवान् *पतञ्जलि*स्तेषु सूत्रेषु *महाभाष्यं* प्रणिनाय। यत्र सर्वाण्येव दुरूहाणि पाणिनीयसूत्राणि सरलया प्राञ्जलया च भाषया तथा व्याख्यातानि, यथा वराका अपि कियतैवायासेन दुरधिगममेतच्छास्त्रं पारं गच्छेयुः। ततोऽप्यवरस्मिन् काले *महाभाष्य*स्यास्य गूढाशयतया तत्रत्यानामभ्युपगमवादानां सिद्धान्तानाञ्च दुरधिगमतया मन्दमतीनां ततोऽभीष्टसिद्धावन्तरायमालोच्य *कुणि-श्वोभूति-देवनन्दि-दुर्विनीत-चूर्णि-निल्लूरा*दिविद्वद्भिस्तानि सूत्राणि ताभिस्ताभिर्वृत्तिभिरुपबृंहितानि; परन्तु करालेन कलिकालेन ताः सर्वा एवाकरुणं कवलिताः। इदानीं संस्कृतसमाजस्तासामुद्धरणमात्रैकशरणः संवृत्तः। अथापि भगवतो भूतभावनस्यासीमयाऽनुकम्पया साम्प्रतमियं *काशिकावृत्ति*रेव पाणिनीयाष्टकसमुपासकान् सूपकरोति। सा चेदानीमियं पाणिनीयसूत्राष्टकस्योपलब्धवृत्तिषु सर्वतः प्राचीनतमा वृत्तिः। अस्यां प्रतिसूत्रमनुवृत्ति-वृत्त्युदाहरण-प्रत्युदाहरणानि शङ्का-समाधानपुरःसराणि समुपलभ्यन्ते। वृत्तेरस्याः प्रौढा प्रतिपादनशैली प्रौढानामपि चेतांसि चमत्करोति।

सा चेयं वृत्तिरापञ्चमाध्यायं विद्वद्वर*जयादित्येन* (६५०-७०० वै० श०) विरचिता, शेषाश्चास्यास्त्रयोऽध्यायाः कोविदकुलकुमुदकलाधरेण *वामनेन* विवृताः—इति सम्प्रदायः।

वृत्तेरस्या *न्यास*व्याख्यापर्यालोचनेदमनुमीयते यदाभ्यां विद्वद्भ्यां पृथक् पृथगपि द्वे वृत्ती विरचिते; परं कालक्रमेण ते कथं विलुप्ते जाते, अथ वा तयोरेव सारमादायैषा नवीना वृत्तिस्ताभ्यामेव विद्वद्भ्यां परिष्कृता, अन्यैर्वा विद्वद्भिरर्वाचीने काले इत्थं प्रतिसंस्कृता—इत्येतत्सर्वं ग्रन्थस्यास्य भूमिकायां यथावसरं विस्तरतो विचारयिष्यते।

अथ च—यद्यपि विदुषोरनयोः क्वचित्तत्र तत्र *महाभाष्यतो* वैमत्यं दरीदृश्यते; परं नैतेनैवास्या माहात्म्यं क्षीयेत! अपि त्वस्यां बहुत्र भाष्यानुक्तानामपि विषयाणां मनोहारि प्रतिपादनं विपश्चिदपश्चिमानामपि मनांसि बलादावर्जयति—इति सर्वथैवाभ्यसनीयेयं वृत्तिः।

व्याख्याद्वयी—न्यासः, पदमञ्जरी च

अस्याः काशिकावृत्तेरक्षुण्णं माहात्म्यमुररीकृत्यानेकैर्विबुधवरैरत्र पूर्णपाण्डित्याष्टीकाः कृताः। परं हन्त! तामिमां व्याख्याद्वयीमतिरिच्य ताः सर्वा एव नामतोऽपि विलयमिताः। तत्रैका—बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्री*जिनेन्द्रबुद्धि*पाद-विरचिता *न्यासा*परनामधेया *काशिकाविवरणपञ्चिका*, अपरा च विद्वद्वरहरदत्त-*मिश्र*विहिता *पदमञ्जरी* च भगवत्या भारत्या भाण्डागारं बिभृतः। यद्यपि तत्र तत्र शास्त्रार्थविषयो महताऽऽडम्बरेण *पदमञ्जर्या*मेव विस्तरतः स्फोटितः; तथापि श्री*जिनेन्द्रबुद्धि*पादानां व्याख्याशैली प्रौढा, पाण्डित्यपूर्णा, अधिगमितयाथातथ्या च, अतस्तस्या एव महत्त्वमधिकतरां वर्त्ततेऽधिगन्तॄणामधिजिगमिषूणाञ्च कृते—इति द्वे अपीमे व्याख्ये अस्मिन् संस्करणे *काशिकया* सहैव समायोजिते। एतत्समायोजनमेवास्य संस्करणस्यापूर्वं महत्त्वं ख्यापयिष्यति।

अथ चान्ते—यद्यपि कालक्रमसमीक्षणे, *न्यासस्य* प्राचीनत्वं स्फुटतरमिति *काशिका*तोऽनन्तरमत्र तस्यैव स्थानं निधित्सितमासीद्, तथाप्यस्माभिः पद-मञ्जर्या वर्त्तमानविद्वत्समाजे शास्त्रार्थसरणावभ्यर्हितत्वात्तस्या एव पूर्वनिपातः कृत इति क्षन्तव्या वयमैतिह्यैकचक्षुष्कैर्विद्वद्भिः।

सम्पादनशैली

गूढाशयायाः *काशिकावृत्तेः*, प्रतिपदं शास्त्रार्थमुद्रां बिभ्राणायाः *पदमञ्जर्याः*, स्पष्टपदाया अपि गभीरार्थायाः *काशिकाविवरणपञ्चिकाया* यथायथं सम्पादनं बालक्रीडैव नानुमेया! आभिः पदे पदे यथा वयं व्यामोहे निपातितास्तदस्माक-मेवानुभवैकगम्यम्। अथापि *'तारा पब्लिकेशन्स'—प्रतिष्ठानाध्यक्षाणां* प्राच्य-संस्कृतग्रन्थानां प्रकाशने कल्पनातीतमुत्साहं पर्यालोचं पर्यालोचम्, अवि-गणय्यापि महान्तमायासं सम्पादनेऽस्मिन् कर्मणि वयं व्यापृता अभूम। वृत्तेः, व्याख्याद्वयस्य च गाम्भीर्यमालोच्य, परिश्रमं चास्माकमनुमाय, साधुत्वासाधुत्वे विद्वांस एव प्रमाणम्।

अस्माभिरनुसृता सम्पादनशैली तु पूर्ववदेव। तथा च—

(क) काशिकापाठः प्रायः सर्वत्र न्यासानुसार्येव स्वीकृतः।

(ख) प्रायः प्रतिपृष्ठम् अनुकाशिकावृत्ति व्याख्ये स्थापिते।

(ग) व्याख्याद्वयेऽपि प्रतीकरूपाणि पदानि विभिन्नाक्षरैर्मुद्रापितानि, येन द्रष्टॄणां चक्षूंषि सद्य एव तत्राभिनिपतेयुः

(घ) वृत्तौ व्याख्याद्वये वा समागतान्यन्यग्रन्थकर्तॄणां ग्रन्थानां वा नामानि तथैव विभिन्नाक्षरैर्मुद्रापितानि; उद्धरणानि च एककर्द्विकचिह्नादिभिः (' ' " ") संयोजितानि बोद्धॄणां सौकर्याय ।

(ङ) यत्र तत्र सत्यावश्यकत्वे टिप्पण्यादयोऽपि संयोजिताः ।

(च) वृत्तेः, व्याख्याद्वयस्य च भाषाजाटिल्यनिरासार्थं तत्र तत्र दुरवगमः सन्धिजालोऽप्यस्माभिर्निरस्तः, येनायासमन्तरैवान्तेवासिनामप्यत्र सुखावगतिर्भवेत्, ग्रन्थस्यास्य च सौन्दर्यमक्षुण्णं स्यात् ।

(छ) अत एव चास्माभिरधुनोपयुज्यमानानि विरामादिचिह्नान्यप्यत्र सर्वथोपयोजितानि, येन ग्रन्थकर्तुर्हृदयं वाचकैः सपदि समासादितं भवेत् ।

(ज) अनुसन्धित्सूनां विषयान्वेषणे समयव्ययो मा भूदिति प्रतिपदं कोणप्रदेशे व्याख्यायमानं सूत्रम्, अध्यायः, पादश्च स्थापितम् ।

(झ) व्याख्यायमानानि सूत्राणि सर्वत्र (वृत्तौ, व्याख्याद्वये च) विभिन्नाक्षरैरेव मुद्रापितानि । वृत्तौ च सूत्राणामष्टाध्यायीगतसङ्ख्यापि निर्दिष्टा ।

(ञ) ग्रन्थस्य प्रारम्भ एवाक्षरक्रमेण एतद्भागान्तःपातिसूत्रसूची सङ्कलिता ।

एवं प्रकाशकानां त्वरया विवशैस्त्वरमाणैरप्यस्माभिर्ग्रन्थस्य महत्त्वमवधारयद्भिरत्र हृदयेनैवैतत्कार्यं सम्पादितम्, यच्च प्रकृतग्रन्थावलोकनेन लोचनपथमारोक्ष्यति । अथापि याः काश्चन त्रुटयः प्रमादात्सम्भूतास्ता विद्वद्भिः कालेकाले उद्बोधनीयाः, येनागामिनामध्यायानां सम्पादनावसरे कृतज्ञैरस्माभिस्तथाविधास्त्रुटयो निवारिताः स्युरिति । तथा हि—

मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ।

अन्ते च—वृत्तिम्, वृत्तिकारम्, वृत्तिस्थविषयञ्चाधिकृत्य; पदमञ्जरीम्, पदमञ्जरीकारम्, पदमञ्जरीस्थविषयञ्च; एवमेव न्यासम्, न्यासकारम्, न्यासस्थविषयञ्चाधिकृत्य यद् बहु वक्तव्यं समालोच्यं वाऽस्ति, तत्सर्वं ग्रन्थस्यास्यास्यान्तिमे भागे ग्रन्थभूमिकायां वक्ष्याम इति तावन्तं कालं प्रतीक्षमाणैः क्षन्तव्या वयं विद्वद्भिरिति ।

महाशिवरात्रिः, २०२३ वै०
वाराणसी

सम्पादकौ

सूत्रसूची

भागान्तःपातिसूत्राणामेतद्वृत्त्यनुसारिणाम् ।
सूची प्रदर्श्यते तावदक्षरक्रमपूर्विका ॥

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
अंशं हारी	१८५	अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि०	३५९
अकः सवर्णे दीर्घः	५७०	अतियेऽर्यः	३४४
अक्ष्णोऽदर्शनात्	३८५	अतिशायने तमबिष्ठनौ	२७०
अग्राख्यायामुरसः	३९७	अतेः शुनः	३९८
अग्रान्तशुद्धशुभ्र०	४२५	अतो गुणे	५६६
अङ्ग इत्यादौ च	५९३	अतो रोरप्लुतादप्लुते	५८६
अङ्गुलेर्दारुणि	४०७	अद्यश्वीनावष्टब्धे	१३६
अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक्	३१४	अधिकम्	१८७
अचः कर्तृयकि	६७५	अधिकरणविचाले च	२६३
अचतुरविचतुरसुचतुर०	३८६	अधुना	२४९
अचि शीर्षः	५१२	अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्	३९
अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः	३८४	अध्यायानुवाकयोर्लुक्	१८०
अजादी गुणवचनादेव	२७७	अध्वनो यत्खौ	१३७
अजादेर्द्वितीयस्य	४४३	अनत्यन्तगतौ क्तात्	३२५
अजाविभ्यां थ्यन्	१४	अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्	२५०
अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च	२९८	अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः	३४१
अज्ञाते	२९३	अनश्च	४०४
अञ्चेर्लुक्	२५६	अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि	४०१
अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम्	६५३	अनुकम्पायाम्	२९५
अञ्नासिकायाः संज्ञायां०	४११	अनुकाभिकाभीकः कमिता	१८७
अड्भ्यासव्यवायेऽपि	६१३	अनुगवमायामे	३९१
अणिनुणः	३३५	अनुगादिनष्ठक्	३३३
अण् च	२१५	अनुग्वलङ्गामी	१३७
अत इनिठनौ	२२२	अनुदात्तं पदमेकवर्जम्	६३०

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः	६४३	अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहो०	३६३
अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्	५०६	अर्धाच्च	३६६
अनुदात्ते च	६७१	अर्शआदिभ्योऽच्	२३०
अनुदात्ते च कुधपरे	५६३	अल्पाख्यायाम्	४२१
अनुपदसर्वान्नायानयं०	१३१	अल्पे	३०३
अनुपद्यन्वेष्टा	१६८	अवक्षेपणे कन्	३०६
अनुप्रवचनादिभ्यश्छः	६४	अवङ् स्फोटायनस्य	५६५
अनोऽश्मायस्सरसां०	३६७	अवपथासि च	५६४
अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः	४११	अवयसि ठंश्च	८०
अन्तश्च तवै युगपत्	६७८	अवसमन्धेभ्यस्तमसः	३८६
अन्तादिवच्च	५४६	अवात्कुटारच्च	१४७
अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ	२८०	अवारपारात्यन्तानुकामं०	१३३
अन्तोदात्तादुत्तरपदा०	६५१	अवेः कः	३४५
अन्तोऽवत्याः	६८६	अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ	५६६
अन्ववतप्ताद्रहसः	३६०	अव्यक्तानुकरणाद्०	३६८
अपगुरो णमुलि	५०५	अव्ययसर्वनाम्नामकच्०	२६१
अपरस्पराः क्रियासातत्ये	६१६	अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः	४०३
अपस्करो रथाङ्गम्	६२४	अव्यादवद्यादवक्रमु०	५६१
अपस्पृधेथामानृचुरानृहु०	४६०	अश्वस्यैकाहगमः	१३८
अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वलिखेने	६१७	अषडक्षाशितङ्ग्वलं०	३२७
अपादाने चाहीयरुहोः	३५७	अष्टनो दीर्घात्	६५५
अप्पूरणीप्रमाण्योः	४०६	असमासे निष्कादिभ्यः	३०
अप्लुतवदुपस्थिते	६०१	अस्ताति च	२६१
अभिजिद्विदभृच्छालावत्०	३१६	अस्मायामेधास्रजो विनि	२२७
अभिविधौ सम्पदा च	३६५	अहंशुभमोर्युस्	२३८
अभूततद्भावे कृभ्वस्ति०	३६१	अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च०	३६३
अभ्यमित्राच्छ च	१३८	अह्नोऽह्न एतेभ्यः	३६३
अभ्यस्तस्य च	४८६		
अभ्यस्तानामादिः	६७१	आकर्षादिभ्यः कन्	१८२
अमि पूर्वः	५८०	आकालिकडाद्यन्तवचने	६७
अमु च च्छन्दसि	३३३	आगवीनः	१३७
अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां०	१८८	आङोऽनुनासिकश्छन्दसि	५६८

आङ्माङोश्च ० ५३३
आ च त्वात् १०६
आटश्च ५५८
आढकाचितपात्रात्खो० ५६
आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः १४
आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ६६६
आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम् ६७४
आदेच उपदेशेऽशिति ४६७
आद् गुणः ५५४
आपोजुषाणोवृष्णो० ५६२
आप्रपदं प्राप्नोति १३०
आमन्त्रितस्य च ६७७
आयुधजीविसङ्घात्० ३१६
आर्हादगोपुच्छसंख्या० २७
आलजाटचौ बहुभाषिणि २२६
आशितः कर्ता ६८२
आश्चर्यमनित्ये ६२३
आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ६२२
आहि च दूरे २६०

इको यणचि ५३६
इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य० ५६६
इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ११६
इच् कर्मव्यतिहारे ४१६
इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते २४७
इदम इश् ० २४२
इदमस्थमुः २५२
इदमो र्हिल् २४८
इदमो हः २४७
इनः स्त्रियाम् ४२८
इनच्पिटच्चिक चि च १४८
इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रजुष्ट० २००
इन्द्रे च नित्यम् ५६७
इवे प्रतिकृतौ ३१०
इष्टादिभ्यश्च १६७

ई३चाक्रवर्मणस्य ६०३
ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ६८६
ईयसश्च ४३०
ईवत्याः ६८६
ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः २८६

उगवादिभ्यो यत् ६
उञ्छादीनां च ६४१
उत्क उन्मनाः १६१
उत्तमैकाभ्यां च ३६५
उत्तरपथेनाहृतं च ७५
उत्तरमृगपूर्वाच्च० ३६६
उत्तराच्च २६०
उतराधरदक्षिणादातिः २५८
उदराट्ठगाद्यूने १८४
उदात्तयणो हल्पूर्वात् २५७
उद्भिभ्यां काकुदस्य ४२६
उपमानाच्च ४२१
उपमानादप्राणिषु ३६८
उपर्युपरिष्टात् २५७
उपसर्गाच्च ४१२
उपसर्गाच्छन्दसि० १०२
उपसर्गादध्वनः ३६२
उपसर्गाद्दति धातौ ५५६
उपात्प्रतियत्नवैकृत० ६१५
उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः १४६
उपोत्तमं रिति ६८७
उभादुदात्तो नित्यम् १६१
उभे अभ्यस्तम् ४५१

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ४२७
उस्यपदान्तात् ५६४

ऊडिदम्पदाद्यप्पु० ६५३
ऊधसोऽनङ् ४१६
ऊर्णाया युस् २२६
ऊर्ध्वाद्विभाषा ४१६
ऊषसुषिमुष्कमधो रः २१७

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ३८२
ऋत उत् ५८४
ऋतश्छन्दसि ४३१
ऋतोरण् ६२
ऋत्यकः ६०१
ऋषभोपानहोर्ञ्यः २४

एकः पूर्वपरयोः ५४३
एकगोपूर्वाट्ठञ्० २२४
एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ३१४
एकस्य सकृच्च ३३६
एकाचो द्वे प्रथमस्य ४३३
एकाच्च प्राचाम् ३०८
एकादाकिनिच्चासहाये २६७
एकाद्धो ध्यमुञन्य० २६३
एङः पदान्तादति ५८२
एङि पररूपम् ५६२
एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ५२७
एचोऽयवायावः ५३७
एतत्तदोः सुलोपो० ६०६
एतदोऽश् २४३
एतेतौ रथोः २४३
एत्येधत्यूठ्सु ५५५
एधाच्च २६४

एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः २५८

ऐकागारिकट् चौरे ६६

ओमाङोश्च ५६४
ओषधेरजातौ ३५०

औतोऽम्शसोः ५६१

कंशंभ्यां बभयुस्ति० २३७
कंसाट्टिठन् ३७
ककुदस्यावस्थायां० ४२५
कडङ्करदक्षिणाच्छ च ७१
कपिज्ञात्योर्ढक् ११५
कम्बलाच्च संज्ञायाम् १०
कर्कलोहितादीकक् ३१५
कर्मण उकञ् ६१
कर्मणि घटोऽठच् १५०
कर्मवेषाद्यत् ६१
कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ६३६
कस्य च दः २६३
काण्डाण्डादीरन्नीरचौ २२०
कारस्करो वृक्षः ६२८
कालप्रयोजनाद्रोगे १६१
कालाच्च ३४८
कालात् ७६
कालाद्यत् ६३
कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ३०५
कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ६२८
किंयत्तदो निर्धारणे० ३०६
किंसर्वनामबहुभ्यो० २४१
कितः ६४७
किमः क्षेपे ३७६

किमः संख्यापरिमाणे० १५७
किमश्च २५२
किमिदम्भ्यां वो घः १५७
किमेत्तिङव्ययघादाम्व० ३३१
किमोऽत् २४७
किरतौ लवने ६१६

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ३०४
कुत्वा डुपच् ३०४
कुत्सिते २६४
कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ४०२
कुम्भापदीषु च ४२२
कुलिजाल्लुक्खौ च ५७
कुल्माषादञ् १६४

कुशाग्राच्छः ३१३
कुस्तुम्बुरूणि जातिः ६१८
कृञो द्वितीयतृतीयशम्ब० ३७१
केशाद्वोऽन्यतरस्याम् २१८
क्रय्यस्तदर्थे ५४२
क्रीङ्जीनां णौ ५०१
क्षयो निवासे ६७६
क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ५४१
क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः १६६

खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च १२
खार्या ईकन् ० ४३
खार्याः प्राचाम् ४००
खिदेश्छन्दसि ५०५

ख्यत्यात् परस्य ५८४

गन्धस्येदुत्पूतिसु० ४२०
गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् २१६
गिरेश्च सेनकस्य ४०५
गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः० ११२
गोत्रचरणाच्छ्लाघा० १२२
गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणा० ४६
गोरतद्धितलुकि ३६६
गोषदादिभ्यो वुन् १८१
गोष्ठात्खञ् भूतपूर्वे १३८
गोष्पदं सेवितासेवित० ६२०
ग्रहिज्यावयिव्यधि० ४७१
ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ३६८

घनिलचौ च २६०

ङयि च ६८४
ङसिङसोश्च ५८३
ङयश्छन्दसि० ६६१

चङि ४६०
चङ्यन्यतरस्याम् ६८७
चतुरः शसि ६४६
चर्मणोऽञ् २५
चायः की ४७७, ४६०
चितः ६४६
चित्तवति नित्यम् ८१
चिस्फुरोर्णौ ५०६
चौ ६६०

छदिरुपधिबलेर्ढञ् २३
छन्दसि घस् ६३
छन्दसि च ७०, ४२४
छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ० १६८
छे च ५३१
छेदादिभ्यो नित्यम् ८८

जक्षित्यादयः षट् ४५३
जम्भा सुहरितृणसोमेभ्यः ४१५
जयः करणम् ६७९
जातिनाम्नः कन् २९८
जात्यन्ताच्छ वन्धुनि ३२९
जायाया निङ् ४२०
जीविकार्थे चापण्ये ३११
जुष्टार्पिते च छन्दसि ६८३
ज्य च ३७९
ज्यश्च ४९६
ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणो० २२१

झयः ४०५
झल्युपोत्तमम् ६६२

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६७७
ञ्यादयस्तद्राजाः ३२०

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः २९९

णचः स्त्रियामञ् ३३४
णो नः ५१९
णौ च संश्चङोः ४८७

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः ३९२
तत्प्रकृतवचने मयट् ३४०
तत्र कुशलः पथः १८२
तत्र च दीयते कार्यं० ८७
तत्र तस्येव १०१
तत्र विदित इति च ५१
तत्सर्वादेः पथ्यङ्ग० १२९
तदधीनवचने ३६६
तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ १८
तदर्हति ६८
तदर्हम् १०१
तदस्मिन्नधिकमिति० १६२
तदस्मिन्नन्नं प्राये० १६३
तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभ० ५१
तदस्य परिमाणम् ५८
तदस्य ब्रह्मचर्यम् ८३
तदस्य सञ्जातं० १५०
तदस्य तदस्मिन्स्यादिति २५
तदस्यास्त्यस्मिन्निति० २०२
तदो दा च २४९
तद्वरति वहत्यावहति० ५४
तद्धितस्य ६४७
तद्युक्तात्कर्मणोऽण् ३४९
तन्त्रादचिरापहृते १८५
तपःसहस्राभ्यां विनीनी २१४
तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ७७
तयोर्दार्हिलौ च० २५०
तसेश्च २४६
तस्माच्छसो नः पुंसि ५७६
तस्मै प्रभवति० ९१
तस्मै हितम् १२
तस्य च दक्षिणा० ८६
तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ४८
तस्य पाकमूले० १४२
तस्य पूरणे डट् १७०
तस्य भावस्त्वतलौ १०३
तस्य वापः ५१
तस्येश्वरः ५०
तावतिथं ग्रहणमिति० १८२
तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० ६६५
तिङश्च २७४
तित् स्वरितम् ६६५

तिसृभ्यो जसः ६४७
तुजादीनां दीर्घो० ४५५
तुन्दादिभ्य इलच्च २२४
तुन्दिबलिवटेर्भः २३७
तुश्छन्दसि २७८
तेन क्रीतम् ४६
तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ६८
तेन निर्वृत्तम् ७७
तेन परिजय्यलभ्यकार्यं० ८३
तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां० ६०
तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ १४३
त्यागरागहासकुह० ६८७
त्रिंशच्चत्वारिंशत्० ६७
त्रिककुत्पर्वते ४२६
त्रेः संप्रसारणं च १७५

थट् चच्छन्दसि १७२
थलि च सेटीडन्तो वा ६७६
था हेतो चच्छन्दसि २५२

दक्षिणादाच् २५६
दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ४१६
दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् २५५
दण्डव्यवसर्गयोश्च ३२२
दण्डादिभ्यो यः ७०
दन्त उन्नत उरच् २१६
दन्तशिखात्संज्ञायाम् २२१
दानीं च २४६
दामन्यादित्रिगर्तं० ३१८
दाश्वान् साह्वान्मीढ्वांच० ४६२
दिक्शब्देभ्यः सप्तमी० २५३
दिव उत् ६०४

दिवो झल् ६६४
दीर्घाज्जसि च ५७८
दीर्घात् ५३४
दुःखात्प्रातिलोम्ये ३७४
द्युद्रुभ्यां मः २१८
द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः० ४७६
द्रव्यं च भव्ये ३१२
द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च १२१
द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्० ४०२
द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणि० २३१
द्विगोर्यप् ७६
द्विगोर्वा ८०
द्विगोष्ठंश्च ५७
द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ३३६
द्वित्रिपूर्वादण्च ४६
द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ४२
द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा १६०
द्वित्रिभ्यां ष मूर्द्धनः ४०८
द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ४००
द्वित्र्योश्च धमुञ् २६४
द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ४१७
द्विवचनविभज्योपपदे० २७४
द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ३६१
द्वेस्तीयः १७४
देये त्रा च ३६७
देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ३४२
देवपथादिभ्यश्च ३११
देवमनुष्यपुरुषपुरु० ३६८
देवात्तल् ३४५
देशे लुबिलचौ च २१६

धनहिरण्यात्कामे १३३

धनुषश्च	४१६
धर्मशीलवर्णान्ताच्च	२३३
धर्मादनिच् केवलात्	४१५
धातोः	६४५
धातोस्तन्निमित्तस्यैव	५३८
धात्वादेः षः सः	५१५
धान्यानां भवने क्षेत्रे०	१२५
न गोश्वन्साववर्ण०	६६२
नञस्तत्पुरुषात्	३७६
नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्यो०	४१३
नते नासिकायाः०	१४७
नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः	४०४
नद्यृतश्च	४२८
न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुर०	१०८
न न्द्राः संयोगादयः	४४७
नपुंसकादन्यतरस्याम्	४०४
न पूजनात्	३७८
न वशः	४७७
न व्यो लिटि	५००
न संख्यादेः समाहारे	३६५
न संज्ञायाम्	४३०
न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्	४६२
न सामिवचने	३२६
नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे	४३१
नादिचि	५७८
नान्तादसंख्यादेर्मट्	१७१
नामन्यतरस्याम्	६६०
नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा	५६८
नावो द्विगोः	३६६
नित्यं मन्त्रे	६८४
नित्यं शतादिमासार्धमास०	१७७
नित्यः स्मयतेः	५०७
नित्यमसिच् प्रजामेधयोः	४१४
नित्यमाम्रेडिते डाचि	५६६
निष्कुलान्निष्कोषणे	३७४
निष्ठा च द्व्यजनात्	६८२
निष्प्रवाणिश्च	४३२
नीतौ च तद्युक्तात्	२६६
नॄ चान्यतरस्याम्	६६४
नेर्बिडज्विरीसचौ	१४८
नोङ्धात्वोः	६५८
पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्०	६२
पक्षात्तिः	१४३
पञ्चद्दशतौ वर्गे वा	६७
पञ्चम्यास्तसिल्	२४५
पणपादमाषशताद्यत्	४४
पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्	११६
पथिमथोः सर्वनामस्थाने	६७८
पथो विभाषा	३८०
पथः ष्कन्	७४
पदान्ताद्वा	५३५
पद्दन्नोमास्हृन्निश०	५१३
पन्थो ण नित्यम्	७५
परिखाया ढञ्	२७
परोवरपरम्परपुत्र०	१३३
पर्यभिभ्यां च	२४६
पर्श्वादियौधेयादि०	३१६
पश्च पश्चा चच्छन्दसि	२५७
पश्चात्	२५७
पात्राद् घंश्च	७०
पात्रात्ष्ठन्	५१
पादशतस्य संख्यादे०	३२१

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः	४२१
पादार्घाभ्यां च	३४३
पारस्करप्रभृतीनि०	६२८
पारायणतुरायण०	७३
पार्श्वेनान्विच्छति	१८८
पुत्राच्छ च	५०
पुरुषहस्तिभ्यामण्च	१५४
पुष्करादिभ्यो देशे	२३५
पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्	३१५
पूरणाद्भागे तीयादन्	२६६
पूरणार्धाट्ठन्	५३
पूर्णाद्विभाषा	४२६
पूर्वादिनिः	१६६
पूर्वाधरावराणामसि०	२६१
पूर्वोऽभ्यासः	४५०
पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा	११०
प्यायः पी	४८५
प्रकारवचने जातीयर्	२६०
प्रकारवचने थाल्	२५१
प्रकृत्यान्तःपाद०	५८८
प्रकृष्टे ठञ्	६३
प्रजने वीयतेः	५०६
प्रज्ञादिभ्यश्च	३५१
प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	२१४
प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः	३५६
प्रतिष्कशश्च कशेः	६२६
प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्	३६०
प्रतेश्च	४८०
प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल्०	३१५
प्रथमयोः पूर्वसवर्णः	५७२
प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्०	१५१
प्रयोजनम्	६४
प्रशंसायां रूपप्	२८३
प्रशस्यस्य श्रः	२७८
प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः	४१८
प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी	६२६
प्राक् क्रीताच्छः	३
प्रागिवात्कः	२६१
प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि	२६६
प्राग्दिशो विभक्तिः	२३६
प्राग्वतेष्ठञ्	२७
प्राचामुपादेरडज्वुचौ च	२६७
प्राणभृज्जातिवयो०	११७
प्राणिस्थादातोत्मजन्यतरस्याम्	२०७
प्लुतप्रगृह्या अचि	५६७
फेनादिलच्च	२१२
बन्धुनि बहुव्रीहौ	४६८
बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम्	२३६
बहुपूगगणसङ्घस्य०	१७३
बहुप्रजाश्छन्दसि	४१४
बहुलं छन्दसि	२२७, ४६०
बहुव्रीहौ संख्येये०	३८०
बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०	४०५
बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा	२६७
बह्वल्पार्थाच्छस्कारका०	३५३
बिभेतेर्हेतुभये	५०६
बिस्ताच्च	४३
बृहत्या आच्छादने	३२७
ब्रह्मणस्त्वः	१२४
ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्	४०१
ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः	३८६

ब्राह्मणकौशिककेसंज्ञायाम्	१८५	रजःकृष्यासुतिपरिषदो०	२२०
		रसादिभ्यश्च	२०६
भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि	५४२	राजाहस्सखिभ्यष्टच्	३९६
भागाद्यच्च	५४	रात्र्यहस्संवत्सराच्च	८०
भीह्रीभृहुमदजनधन०	६७३	रिक्ते विभाषा	६८३
भूतपूर्वे चरट्	२६८	रूपादहतप्रशंसयोर्यप्	१२६
		रोगाच्चापनयने	३६०
मतोः पूर्वमात्०	६८८		
मतौ छः सूक्तसाम्नोः	१७८	लिटि धातोरनभ्यासस्य	४५६
मद्रात्परिवापणे	३७५	लिटि वयो यः	४९५
मस्करमस्करिणौ०	६२७	लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्	४७३
माणवचरकाभ्यां खञ्	१८	लिड्यङोश्च	४८५
मानपश्वङ्गयोः०	२६७	लिति	६७४
मासाद्वयसि यत्खञौ	७८	लुम्मनुष्ये	३१०
मीनातिमिनोतिदीङां०	५०३	लोकसर्वलोकाट्ठञ्	५१
मृदस्तिकन्	३५२	लोपो व्योर्वलि	५१९
यजुष्युरः	५९२	लोमादिपामादिपिच्छादिभ्य०	२१२
यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ	७२	लोहितान्मणौ	३४६
यतोऽनावः	६८५	ल्यपि च	४९६
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्	१५५		
यथामुखसम्मुखस्य०	१२८	वचिस्वपियजादीनां०	४६९
		वतोरिड् वा	३६
यवयवकषष्टिकाद्यत्	१२६	वतोरिथुक्	१७४
याप्ये पाशप्	२९५	वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि	८३
यावादिभ्यः कन्	३४५	वत्सांसाभ्यां कामबले	२११
युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्	२८१	वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च०	३०५
युष्मदस्मदोर्ङसि	६८४	वन्दिते भ्रातुः	४३१
ये च तद्धिते	५११	वयसि दन्तस्य दतृ	१४१
योगाद्यच्च	९१	वयसि पूरणात्	२३२
योजनं गच्छति	७४	वर्चस्केऽवस्करः	६२३
योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्	१२०	वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च	११०
		वर्णाद् ब्रह्मचारिणि	२३४
रक्ते	३४७	वर्णे चानित्ये	३४६

वर्षाल्लुक् च ८१
वस्त्रास्यान्यतरस्यां किति ४६५
वस्तेर्ढञ् ३१२
वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ५५
वाचो ग्मिनिः २२६
वाचो व्याहृतार्थायाम् ३४६
वा छन्दसि ५७६
वातातिसाराभ्यां० २३२
वान्तो यि प्रत्यये ५३७
वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने० ३०७
वा संज्ञायाम् ४१६
वा सुप्यापिशलेः ५६०
वा ह चच्छन्दसि २४७
विंशतिकात्खः ४३
विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् ३७
विंशत्यादिभ्यस्त० १७५
विनञ्भ्यां नानाञौ० १४३
विनयादिभ्यष्ठक् ३४८
विन्मतोर्लुक् २८२
विभाषा कार्षापण० ४१
विभाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ३१६
विभाषा तिलमाषोमा० १२६
विभाषा परावराभ्याम् २५६
विभाषा परेः ४६६
विभाषा बहोर्धाऽवि० ३४०
विभाषा भाषायाम् ६६२
विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ४८०
विभाषा लीयतेः ५०४
विभाषाऽस्वरस्य २६२
विभाषा वेण्विन्धानयोः ६८६
विभाषा स्थावारोकाभ्याम् ४२४
विभाषा श्वेः ४८६
विभाषा साति कार्त्स्न्ये ३६४
विभाषा सुपो बहुच्० २८७
विभाषा हविरपूपादिभ्यः ११
विमुक्तादिभ्योऽण् १८१
विशाखाषाढादण्मन्थ० ६३
विसारिणो मत्स्ये ३३५
विष्किरः शकुनि० ६२४
वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ० ३५३
वृकाट्टेण्यण् ३१७
वृद्धस्य च २८१
वृद्धिरेचि ५५५
वृषादीनां च ६७६
वेञः ४६६
वेरपृक्तस्य ५२१
वेः शालच्छङ्कटचौ १४४
व्यश्च ४६६
व्युष्टादिभ्योऽण् ८८
व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ३१६
व्रातेन जीवति १४०
व्रीहिशाल्योर्ढक् १२६
व्रीह्यादिभ्यश्च २२३

शदन्तविंशतेश्च १६५
शतमानविंशतिकसहस्र० ३८
शतसहस्रान्ताच्च० २२६
शताच्च ठन्यतावशते ३२
शतुरनुमो नद्यजादी ६५६
शरीरावयवाद्यत् १२
शर्करादिभ्योऽण् ३१४
शाखादिभ्यो यत् ३१२
शाणाद्वा ५५

शालीनकौपीने० १३९
शिलाया ढः ३१२
शीतोष्णाभ्यां कारिणि १६८
शीर्षंश्छन्दसि ५१०
शीर्षंच्छेदाद्यच्च ६९
शुष्कधृष्टौ ६८२
शूर्पादञन्यतरस्याम् ३८
शूलात्पाके ३७५
शृङ्खलमस्य बन्धनं० १९०
शृतं पाके ४८१
शेवलसुपरिविशाल० ३०३
शेश्छन्दसि बहुलम् ५२९
शेषाद्विभाषा ४२८
श्वसो वसीयःश्रेयसः ३८९
श्लौ ४५९
श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ १९५
श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते १९४

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् १७२
षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ६६१
षण्मासाण्ण्यच्च ७९
षत्वतुकोरसिद्धः ५५०
षष्टिकाः षष्टिरात्रेण० ८२
षष्ठ्यादेश्चासंख्यादेः १७७
षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च २६७
षष्ठ्या रूप्य च २६९
षष्ठ्या व्याश्रये ३६०
ष्यङः सम्प्रसारणं० ४६४

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्ति० ३३५
संख्यायाः संज्ञासङ्घ० ५९
संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ३४
संख्याया अवयवे० १५९
संख्याया गुणस्य० १६६
संख्याया विधार्थे धा २६२
संख्यायाश्च गुणान्तायाः ३७२
संख्यासुपूर्वस्य ४२३
संख्यैकवचनाच्च० ३५४
संज्ञायां कन् २९५, ३०४
संज्ञायां च ३१०
संज्ञायां मन्माभ्याम् २३६
संज्ञायामुपमानम् ६८१
संपरिपूर्वात्ख च ८३
संपर्युपेभ्यः करोतौ० ६१५
संप्रोदश्च कटच् १४५
संशयमापन्नः ७३
संहितायाम् ५३१
स एषां ग्रामणीः १९०
सख्युर्यः ११५
सत्यादशपथे ३७५
सद्यः परुत्परार्यैषमः० २५०
सन्यङोः ४५८
सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने ३७३
सपूर्वाच्च १९६
सप्तनोऽञ् छन्दसि ६७
सप्तम्यास्त्रल् २४६
समयस्तदस्य प्राप्तम् ९२
समयाच्च यापनायाम् ३७३
समवाये च ६१५
समांसमां विजायते १३५
समापनात्सपूर्वपदात् ९५
समायाः खः ८०
समासस्य ६९०
समासान्ताः ३७६
समासाच्च तद्विषयात् ३१३

समूहवच्च बहुषु	३४१	स्तेनाद्यन्नलोपश्च	११५
सम्पादिनि	९०	सत्यः प्रपूर्वस्य	४७८
सम्प्रसारणाच्च	५८१	स्त्रियां संज्ञायाम्	४२४
सम्भवत्यवहरति पचति	५६	स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति०	३३०
सर्वचर्मणः कृतः०	१२७	स्थालीबिलात्	७२
सर्वत्र विभाषा गोः	५९४	स्थूलादिभ्यः प्रकार०	३२३
सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ	१७	स्फायः स्फी निष्ठायाम्	४७७
सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ	५०	स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि	५००
सर्वस्य सुपि	६७२	स्यश्छन्दसि बहुलम्	६०८
सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि	२४४	स्वपादिर्हिंसाम०	६७०
सर्वैकान्यकियत्तदः०	२४८	स्वपिस्यमिव्येञां०	४७६
सस्नौ प्रशंसायाम्	३५३	स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते	१८३
सस्येन परिजातः	१८४	स्वापेश्चङि	४७५
साक्षाद् द्रष्टरि०	१९९	स्वामिन्नैश्वर्ये	२३०
सातपदीनं सख्यम्	१४१		
सावेकाचस्तृतीया०	६५०	हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०	५२३
सिकताशर्कराभ्यां च	२१६	हशि च	५८८
सिध्मादिभ्यश्च	२०९	हस्ताज्जातौ	२३४
सिध्यतेरपारलौकिके	५०१	हायनान्तयुवादिभ्योऽण्	११८
सुखप्रियादानुलोम्ये	३७४	हिंसायां प्रतेश्च	६१७
सुखादिभ्यश्च	२३३	हीयमानपापयोगाच्च	३५९
सुट् कात् पूर्वः	६०९	हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्	१४२
सुप्रातसुश्वसुदिवशारि०	४१३	होत्राभ्यश्छः	१२३
सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः	४२७	ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्	६५८
सृजिदृशोर्झल्यमकिति	५०८	ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	५३०
सोऽचि लोपे चेत्०	६०८	ह्रस्वाचन्द्रोत्तरपदे०	६२५
सोऽस्यांशवस्नभृतयः	५८	ह्रस्वे	३०४
		ह्वः सम्प्रसारणम्	४८८

पदमञ्जरी-काशिकाविवरणपञ्जिकासहिता

काशिकावृत्तिः

(पञ्चमोऽध्यायः)

❀ तस्मै श्रीगुरवे नमः ❀

काशिकावृत्तिः

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः

प्राक् क्रीताच्छः ॥ १ ॥

न्यासः

प्राक् क्रीताच्छः ॥ विधिः, अधिकारः, परिभाषा वेति त्रयमत्र सम्भाव्यते । यथा चैतत् त्रितयमपि निर्दोषम्, तथा 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यत्र दर्शितम् । यद्येवम्, काशिकाकारेण कस्मान्न सूचितम् ? एकदेशानुस्मरणेन सर्वस्य सूचितत्वादित्यभिप्रायः । अथ प्रागिति कोऽयं निर्देशः, यावता प्रपूर्वस्याञ्चतेः क्विनि नलोपादिके विहिते 'उगिदचाम्' इति नुमि, संयोगान्तलोपे च, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य ङकारे प्राङिति भवितव्यम् ? अथेदृशी व्युत्पत्तिराश्रीयेत, यावता 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' इति कृते ङीपि प्राच्यां दिशि वसतीति 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी' इत्यादिना अस्तातिः, तस्य 'अञ्चेर्लुक्' इति लुक्, 'लुक्तद्धितलुकि' इति ङीपोऽपि 'तसिलादिस्तद्धित एधाच्पर्यन्तः' इत्यव्ययत्वे 'अव्ययम्' इति सोर्लुकि 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् सर्वनामस्थानाभावे नुमोऽप्यभावः, ततः कुत्वे सति प्रागिति सम्पद्यते ? यस्तु मन्यते—"आद्येऽपि पक्षे क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसत्वम्, क्रियाविशेषणानां यथा नपुंसकत्वम्, कर्मभावश्च; तथा 'करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र' इत्यत्र प्रतिपादितम्, तत्र कर्मणि द्वितीयायाः 'स्वमोर्नपुसकात्' इति लुकि कृते पूववन्नुमभावः" इति, तन्मते द्वितीयैकवचनान्तं पदं सञ्जायते । तदेवमितरस्मिन् पक्षे 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति षष्ठ्या भवितव्यम्, तत् कथं 'क्रीतात्' इति पञ्चमीनिर्देशः ? नैतदस्ति; यावता 'अन्यारादित्तर्तेदिक्शब्द' इत्यत्रेदमुक्तम्—दिक्शब्दत्वादेव सिद्धेऽञ्चूत्तरपदग्रहणं 'षष्ठ्यतसर्थ' इत्यनेन प्राप्तां षष्ठीमपि बाधित्वा पञ्चम्येव यथा स्यादिति कुतः षष्ठीप्रसङ्गः ! अतो व्यवस्थितमिदम्—प्राक् क्रीतादिति ।

अथ प्राग्वचनं किम्, न 'क्रीताच्छः' इत्येवोच्येत ? नैतदस्ति; एवं ह्युच्यमाने क्रीतशब्द एव प्रकृतित्वेन ज्ञायेत, ततश्च क्रीतशब्दादेव प्रत्ययः स्यात् । तस्मात् क्रीतादित्यवधिद्योतनार्थं प्रागिति वक्तव्यम् । तर्ह्ययमर्थः 'प्राग्घितात्' इत्यतः प्रकृतेन प्राग्ग्रहणेन हि सम्बध्यते । एवं तत्रैतत् स्यात्—तद्धि 'भवे च्छन्दसि' इति, तेन च्छन्दोऽधिकारेण प्रकृतं प्राग्ग्रहणं सम्बद्धम् । अतस्तदनुवृत्तौ सत्यां तस्याप्यनुवृत्तिरिति ? वार्त्तमेतत्; अस्वरितत्वादेव च्छन्दोऽधिकारस्य निवृत्तेः । तर्हि हि 'प्राग्दीव्यतः' इत्यतः प्रकृतत्वात् तेनापि च वर्त्ततेरित्येवमादिकं सम्बध्येत, यथा—'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ

'तेन क्रीतम्' इति वक्ष्यति, प्रागेतस्मात्क्रीतसंशब्दनाद्यानिति ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामश्छप्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति—"'तस्मै हितम्' इति। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्। करभीय उष्ट्रः। अकरभीयः। अवत्सीयः"।

पदमञ्जरी

प्राक् क्रीताच्छः॥ अवत्सीय इति। अतिदोहनाद्वत्सान्प्रति हितो न भवति गोधुगित्येवं प्रकृत्या नञा च युगपत्प्रत्ययार्थस्य सम्बन्धः, प्रधानभूतश्च प्रत्ययार्थः। भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि वृत्तिः, प्रधानत्वादेवानेकोपकार्यत्वस्याविरोधात्, 'सामान्याप्रयोगः' इति लिङ्गाच्च। किञ्च--विशेषतोऽत्र ज्ञापकमस्ति यदयं नञो गुणप्रतिषेधे 'सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः' इत्याह, तज्ज्ञापयति—'भवत्येवञ्जातीयकेऽपि विषये तद्धितः' इति, अन्यथा सम्पाद्यर्हहितालमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि नञो गुणप्रतिषेधे प्रवृत्तिनिमित्तप्रतिषेधे वर्त्तमानात्पराणि न सम्भवेयुः। तत्र पूर्वं प्रत्ययः, पश्चान्नञ्समासः। अत एव यत्नसाध्यत्वादवत्सीय इत्यादेरुपन्यासः। यस्तु वत्सादन्यस्मै हितः, यो वा वत्सीयादन्यः, न तत्र किञ्चिद्यत्नसाध्यम्।

अथ किमर्थमियानवधिरुपादीयते, यावता न ह्यस्य 'प्राग्वतेष्ठञ्' इत्यारभ्य ये योगाः 'तेन क्रीतम्' इत्येतस्मात्प्राक् पठिताः, तेषु व्यापारोऽस्ति, न हि तत्र

न्यासः

भवनात्' इति ? नैतदस्ति; एवं हि 'सोमाट् ट्यण्' इत्यादौ यत्र पञ्चमी श्रूयते तत्र सर्वत्र प्राग्वचनेन सम्बन्धे न ज्ञायते—को विधिः, का च प्रकृतिरिति स्यात्। येषामवधित्वमिष्यते, तेषामेव प्राक्शब्दमधीतवानिति। इह तु प्रकृतेन प्राग्वचनेन सम्बध्यते। ननु च विपर्ययः कस्मान्न भवति—भवनादिति प्रकृतिः स्त्रीपुंसाभ्यामित्यवधिनिर्देश इति ? नैतदस्ति; अवधेरेकत्वादेकवचनेन निर्देशो न्याय्यः। प्रकृतिनिर्देशे तु द्वे एव प्रकृती परस्परापेक्षे इति द्विवचनमुपपद्यते। ननु च विशदमिदमुदितमप्यर्थज्ञानम् स्वरितलिङ्गादधिकाराणामासङ्ग इत्येतद् भवता विस्मृतम्, तदेवम् 'सोमाट् ट्यण्' इत्यादौ कः प्राग्वचनसम्बन्धप्रसङ्ग इति नार्थः प्राग्ग्रहणेन ? सत्यमेतत्; किन्तु स्वरितत्वास्वरितत्वख्यापनपरम्परया मन्दधियो मोहमासादयन्तीति तत्प्रतिपत्त्यर्थं प्राग्ग्रहणं कर्त्तव्यम्।

अवत्सीय इति। विकल्पनात् त्रयमत्र सम्भवति—अनुत्पन्ने प्रत्यये नञास्य सम्बन्ध इति, उत्पन्ने वा संसर्गः, उत्पत्तिकाल एवेति। तत्राद्ये पक्षे वत्सादन्यस्मै हितमितीष्टाभिधानं न प्राप्नोति। द्वितीये तु गोधुगनभिधानप्रसङ्गः। तृतीये तु 'सापेक्षमसमर्थं भवति' इति प्रत्ययो न प्राप्नोति। न चापि चतुर्थी; हितार्थस्य प्रतिषिध्यमानत्वात्।

अर्थोऽत्रावधित्वेन गृहीतः, न प्रत्ययः। तेन 'प्राक् ठञश्छः' इति नोक्तम् ॥

पदमञ्जरी

कश्चिदर्थो निर्दिश्यते, ततश्च 'प्राक्ठञः' इति वक्तव्यम्, 'प्राग्वतेष्ठञ्' इत्ययमेव च प्रत्यासन्नष्ठञ्ग्रहीष्यते, न विप्रकृष्टः 'लोकसर्वलोकाट्ठञ्' इत्यादिः ? इत्यत आह–*अर्थोऽवधित्वेन गृहीत इति*। गृहीतो ग्रहीतुमिष्टः। अयमभिप्रायः–अवश्यमत्रार्थोऽवधित्वेन ग्राह्यः, अन्यथा 'प्राक् ठञः' इत्युच्यमानेऽवधिना सजातीयस्यावधिमतोऽभावादर्थाः, प्रकृतयो वाऽवधिमत्त्वेन गृह्येरन्–प्राक् ठञो येऽर्थाः, या वा प्रकृतय इति। तत्र प्रकृतिपक्षेऽधिकारस्य नदीस्रोतोरूपेण प्रतिप्रकृत्युपस्थानाद् 'उगवादिभ्यो यच्छश्च' इति यच्छयोः सन्निधानादविशेषादुत्सर्गापवादभावो न स्यात्, तव्यत्तव्यानीयरामिव विकल्प एव स्यात्। अर्थे त्ववधित्वेन गृहीते प्राक् क्रीताद्येऽर्थास्तेष्वस्योपस्थानं भवति। अवधिसजातीयो ह्यवधिमान् भवति, यथा—'मासात्परः' इति कालः प्रतीयते, 'ग्रामात्पूर्वः' इति देशः, 'अलोऽन्त्यात्पूर्वः' इत्यलेव, ततोऽतिप्रसङ्गो न भवति। कथम्? समानार्थे प्रकृतिविशेषादुत्पद्यमानो यदादिः प्रकृत्यन्तरे सावकाशं छं बाधते, यथा–तक्रंकौण्डिन्ये दधि, अतोऽर्थोऽवधित्वेन गृहीत इति। ननु च 'प्राक ठञः' इत्युच्यमाने भवतु नामैवं

न्यासः

तृतीये तु पक्षे यथा दोषो न भवति तथा प्रतिविधीयते। तत्र वत्सहितशब्दयोः पदान्तरनिरपेक्षयोः क्रियापदेन भवतिनानुगम्यमानत्वात्, न च बाह्यसम्बन्धोऽन्तरङ्गसम्बन्धं निवर्त्तयितुं शक्नोति। अत एव न देवदत्ताय गां ददातीति सम्प्रदाने चतुर्थी भवति; कर्मणाभिप्राप्तेरन्तरङ्गत्वादिति। तथानेन च क्रमेण यत्रापि प्राप्तिर्न विद्यते, केवलं त्विच्छामात्रमेव, अत्रापि कर्मसंज्ञा प्रवर्तते, तद्यथा–ग्रामं गन्तुमिच्छामि न कश्चित् सहायोऽस्तीति।

यदप्युच्यते–असामर्थ्यात्तद्धितेन न भवितव्यमिति, तदेतदप्यसारम्; यदयम् 'नञो गुणप्रतिषेधे सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः' इति तदन्तान्युत्तरपदानि नञो गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानानि पराण्यन्तोदात्तानि भवन्तीति तद्धितग्रहणमनर्थकं स्यात्।

अथ किमर्थमियानवधिरुपादीयते, न हि तत्र तावदस्य व्यापारोऽस्ति; प्रत्यान्तरैर्बाधितत्वात्। लघुत्वात् 'प्राक्ठञश्छः' इति वक्तव्यम्? इत्यत आह -**अर्थोऽवधित्वेनेत्यादि**। कः पुनरर्थमवधित्वेनाङ्गीकुर्वतो गुण इति चेद्? अयमभिप्रायः–'प्राक्ठञश्छः' इत्युच्यमाने प्राक् ठञो याः प्रकृतयस्ताभ्यश्छो भवतीत्यर्थः स्यात्। ततश्चाधिकारस्य प्रतियोगोपस्थानादपवादविषये छप्रत्ययः प्रसज्येत। अर्थे त्ववधित्वेनोपादीयमाने प्राक् क्रीताद् येऽर्थास्तेषु च्छो भवतीत्ययमर्थः सम्पद्यते, ततोऽतिप्रसङ्गो न भवति। तेन समानेऽर्थे प्रकृतिविशेषादुत्पद्यमानोऽपवादश्छं बाधते। ननु च 'प्राक् ठञः' इत्युच्यमानेऽपवाद-

उगवादिभ्यो यत् ॥ ३ ॥

पदमञ्जरी

प्राक्ठञो याः प्रकृतय इति, तथापि यदादिविषये छो न भविष्यति, ज्ञापकात्, यदयम् 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इति विभाषां शास्ति, तज्ज्ञापयति—नान्यविषये छो भवतीति, एवं च कृत्वा छ इत्येवाधिकारोऽस्तु, नार्थोऽवधिनिर्देशेन, ज्ञापकाच्च प्रतिसूत्रमुपस्थानेऽप्यन्यविषये न भविष्यति, प्राग्वतेष्ठञित्यादिके तु प्रकरणे नास्याधिकारः; अधिकारान्तरेणावष्टब्धत्वात् ? सत्यम्; प्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थस्त्ववधिनिर्देशः, स चावधिरर्थ एव निर्देश्यः, न प्रत्ययः, अन्यथा 'लशुनं च भक्षितं व्याधिश्च न निवृत्तः' इत्येतदापद्येत ॥

न्यासः

विषयेऽपि च्छो न भविष्यत्येव; ज्ञापकात्, यदयम् 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इति विभाषाग्रहणं शास्ति; इतरथा ह्यधिकाराच्छोऽपि लब्ध एवेति विभाषाग्रहणमनर्थकं स्यात् ? सत्यमेतत्; किन्तु ज्ञापकद्वारेणार्थप्रतिपत्तौ सत्यां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । तस्मात् सुखप्रतिपत्त्यर्थमर्थोऽवधित्वेनोक्तः । अन्ये पुनराहुः—गृहीत इति 'आशंसायां भूतवच्च' इत्यनेन भविष्यति निष्ठाप्रत्यय इति । तेनायमर्थः सम्पद्यते—वत्सीयादिरूपसिद्ध्यर्थमर्थमवधिं ग्रहीष्यामीति । अतः शालातुरीयेण[1] 'प्राक् ठञश्छः' इति नोक्तम्; अन्यथा हि प्रत्ययावधित्वे प्रतिपदोक्ता अन्तरङ्गा इत्युपात्ताभ्यः प्रकृतिभ्य एव प्रत्ययः स्यादित्याशंक्येत ।

अन्ये पुनरन्यथा वर्णयन्ति—'परिखाया ढञ्' इत्यत्र 'छयतोः पूर्णोऽवधिः' इत्यभिधास्यति, ततश्च तेन क्रीतमिति वक्ष्यतीत्युच्यते, ततश्चेदं विरुद्धमित्याह—अर्थोऽवधित्वेनेत्यादि । गतार्थम् । नैयायिक इत्याह—"क्वचिदर्थोऽवधित्वेन गृह्यते, यथा—'आर्हाद् भवनात्' इति, क्वचित् प्रत्ययः प्राग्वहतेः—'आ च त्वात्' इति, क्वचित् प्रकृतिः—'आ कडारात्', 'प्राक्कडारात्' इति, क्वचिदेकदेशः—'प्राग्दीव्यतोऽण्' इति, क्वचिन्निरवधिः प्रत्ययः—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति; तेनायमात्मनो वैचित्र्यमाचार्यो दर्शयतीत्यवसीयते" इति । अथ क्रीतशब्दादेव पूर्वेणच्छप्रत्ययो भपतीत्येवं कस्मान्न विज्ञायते, यथा—'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' इति ? अनभिधानात् । न हि क्रीतशब्दात् पुरस्तादुत्पद्यमानेन प्रत्ययेन कस्यचिदर्थस्याभिधानमस्ति । न चापि 'तेन क्रीतम्' इति निर्देश उपपद्यते । तत्रैवमपि प्राक् क्रीतशब्दादेव प्रत्ययो भवतीत्येव कस्मान्न विकल्प्यते ? अनभिधानादेव । न हि तत उत्पन्नेन प्रत्ययेन विवक्षितोऽर्थोऽवगम्यते । अर्थान्तरं भवादिकम्, तत्र च वृद्धलक्षणश्छ एव सिद्ध इत्यनर्थकमिदं स्यात् । तस्मात् प्रागुदितमेव प्रयोजनं न्याय्यम् ॥

---

1. पाणिनिना—इत्यर्थः ।

'प्राक् क्रीतात्' इत्येव । उवर्णान्तात्प्रातिपदिकाद् गवादिभ्यश्च यत्प्रत्ययो भवति, प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु । छस्यापवादः । शङ्कव्यं दारु । पिचव्यः कार्पासः । कमण्डलव्या मृत्तिका[1] । गवादिभ्यः खल्वपि—गव्यम् । हविष्यम् । सनङ्गुर्नाम चर्मविकारः, ततः परत्वात् 'चर्मणोऽञ्' इत्येष विधिः प्राप्नोति; तथा चरुर्नाम हविः; सक्तुः=अन्नविकारः, अपूपादिषु 'अन्नविकारेभ्यश्च' इति पठ्यते, ततः 'विभाषा

पदमञ्जरी

उगवादिभ्यो यत् ॥ *उवर्णान्तात्प्रातिपदिकाद् गवादिभ्यश्चेति* । उवर्णादेर्गोशब्दादेर्वशब्दादेश्च यद्भवतीत्यर्थो न भवति, गवादिगणपाठतः । *सनंगुरित्यादि* । चर्मविकारलक्षणस्याञोऽवकाशः—वार्ध्रं चर्म, वारत्रं चर्मेति, उवर्णान्तलक्षणस्य यतोऽवकाशः—शङ्कव्यम्, पिचव्यमिति; सनङ्गोरुभयप्रसङ्गे परत्वादञ्प्राप्नोति । *चरुर्नाम हविरिति* । स्थालीवचनस्य चरुशब्दस्य तदधिकरणे हविष्युपचाराद्वृत्तिः । 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इत्यत्र हविर्विशेषवाचिनां ग्रहणम्, न स्वरूपस्य; तस्य गवादिषु पाठात् । विपर्ययस्तु न भवति—इह विशेषग्रहणं तत्र स्वरूपग्रहणमिति; गवादिष्वसञ्जातविरोधित्वेन स्वरूपग्रहणे बाधकाभावात् । अतः 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इत्यत्रैव विशेषग्रहणमिति स्थिते तस्यावकाशः—आमिक्ष्यम्, आमिक्षीयम्; पुरोडाश्याः, पुरोडाशीया इति ।

अन्नविकारेभ्यश्चेति पठ्यत इति । तस्यावकाशः—सुराः, सुर्याः, सुरीयाः, ओदन्याः, ओदनीया इति, उवर्णान्तलक्षणस्य यतः स एव; चरुसक्तुभ्यामुभय-

न्यासः

उगवादिभ्यो यत् ॥ उगिति प्रत्याहारग्रहणं वा स्यात् ? उवर्णग्रहणं वा ? तत्राद्ये पक्षेऽयं वाक्यार्थो जायते—उगन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽवादिभ्योऽवकारादिभ्योऽवसुप्रभृतिभ्य इति । वकारादीन् वर्जयित्वेत्यर्थः । ननु चैवं सति पञ्चम्या निर्देशः स्यात् ? नैष दोषः; 'सुपां सुलुक्' इति लुका निर्दिष्टत्वात् । एवं तर्हि प्रातिपदिकेषु गवादिपाठसामर्थ्यात् प्रत्याहारग्रहणं न भवति; अन्यथा हि गवादीनां पाठोऽनर्थकः स्यात् । एतत् सर्वं मनसि कृत्वाऽऽह—उवर्णान्तादिति । सर्वत्रग्रहणे तदन्तविधेरभ्युपगमादित्यभिप्रायः । **शङ्कव्यमिति** । 'ओर्गुणः', 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यवादेशः । **सनङ्गुरित्यादि** । चर्मविकारलक्षणस्याञोऽवकाशः—वार्ध्रम्, वारत्रम्, उवर्णान्तलक्षणस्य यतोऽवकाशः—शङ्कव्यम्, पिचव्यमिति; सनङ्गुर्नाम चर्मविकारः, तत्रोभयप्राप्तौ परत्वात् 'चर्मणोऽञ्' इत्यञ् प्राप्नोति । **तथेत्यादि** ।

अन्नविकारेभ्यश्चेति । अपूपादिलक्षणस्य पाक्षिकस्य यतोऽवकाशः—अपूप्यास्त-

---

१. 'कमण्डलव्या मृत्तिका' इति पाठः पुस्तकान्तरे नास्ति ।

हविरपूपादिभ्यश्च' इत्येष विधिः प्राप्नोति; तत्र सर्वत्र पूर्वविप्रतिषेधेन यत्प्रत्यय एवेष्यते—सनङ्गव्यं चर्म, चरव्यास्तण्डुलाः, सक्तव्या धाना इति।

गवादिषु 'नाभि नभं च' इति पठ्यते, तस्यायमर्थः—'नाभिशब्दो यत्प्रत्ययमुत्पादयति नभं चादेशमापद्यते' इति। नाभये हितो नभ्योऽक्षः। नभ्यमञ्जनम्। यस्तु शरीरावयवो नाभिशब्दः, ततः 'शरीरावयवाद्यत्' इति यति कृते नाभये हितं नाभ्यं तैलमिति भवि-

पदमञ्जरी

प्रसङ्गे परत्वाद्विभाषा प्राप्नोति, *तत्र सर्वत्र पूर्वविप्रतिषेधेन यत्प्रत्यय एवेष्यत इति*। अयमेव नित्यो यत्प्रत्यय इत्यर्थः।

नभं चादेशमापद्यत इति। भसंज्ञकं च न भवतीत्ययं त्वर्थो न भवति, व्याख्यानात्। तदर्थमेव हि गणसूत्रं व्याख्यातम्, प्रायेण हि *वृत्तिकारो* गणसूत्राणि न व्याचष्टे। *नभ्योऽक्ष इति*। छिद्रवद्रथाङ्गविशेषः–नाभिः, तच्छिद्रानुप्रविष्टकाष्ठविशेषः–अक्षः, स तदनुगुणत्वात्तस्मै हित इत्युच्यते। अञ्जनं तैलकृताभ्यङ्गः, तदपि स्नेहनत्वान्नाभये हितम्। यत्तु *भाष्य* उक्तम्–'नाभेर्नभभावे प्रत्ययानुपपत्तिः प्रकृत्यभावात्' इति, तन्नभ्यं चक्रमिति प्रयोगाभिप्रायम्। न हि चक्रस्य नाभिर्विकृतिः, अपि त्ववयवः। नापि तादर्थ्यमस्ति; अवयविनोऽवयवार्थत्वाभावात्। तेन 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यत्रार्थे नभ्यं चक्रमिति नैव सिद्ध्यति। हितार्थस्त्वाशङ्क्य एवेति न सर्वथा प्रत्ययानुपपत्तिस्तत्र विवक्षितेति भावः। *शरीरावयवाद्यदिति*

न्यासः

ण्डुलाः, अपूपीया इति, उवर्णान्तलक्षणस्य स एव; चरुर्नाम हविर्विशेषः, सक्तुश्चान्नविकारः, तत उभयप्रसङ्गे परत्वात् 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' इति हविर्लक्षणोऽन्नविकारलक्षणश्च विधिः प्राप्नोति। तदेवं सनङ्गुशब्दादञ् प्राप्तः, चरुसक्तुशब्दाभ्यां विकल्पेन यत्, नित्यश्चेष्यते, तदर्थं पूर्वविप्रतिषेधो भाषितव्य इति। 'ओर्गुणः', 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यवादेशः। **सनङ्गव्यमित्यादि**। एतच्चेष्टवाचित्वात् परशब्दस्य लभ्यत इत्यवगन्तव्यम्।

गवादिषु नाभि नभञ्चेति पठ्यत इति। अत्र कस्यचिदियमाशङ्का स्याद्–भसंज्ञाप्रतिषेधो विधीयत इति, ततश्च यस्येति लोपेन भवितव्यमित्यत आह–**नाभिशब्दो यत्प्रत्ययमिति**। शरीरावयवो यो नाभिशब्दस्तत्र कथं भवितव्यमित्याह–**यस्त्वित्यादि**। **ततः शरीरावयवाद् यति कृते परत्वाद् नाभ्यं तैलमिति**। ननु च शरीरावयवलक्षणे यति सति

तव्यम् । गवादिषु यता सन्नियुक्तो नभभावोऽत्र न भवति ।

गो । हविस् । बर्हिष् । खट । अष्टका । युग । मेधा । स्रक् । ❀ नाभि नभं च ❀ । ❀ शुनः सम्प्रसारणं वा दीर्घत्वं च तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम् ❀ । शुन्यम्, शून्यम् । चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् 'नस्तद्धिते' इति लोपो न स्यात् । ❀ ऊधसोऽनङ् च ❀ । ऊधन्यः कूपः । उदर । खर । खद । अक्षर । विष । गवादिः[1] ॥

पदमञ्जरी

यति कृते इति । परत्वादिति भावः । *नाभ्यं तैलमिति भवितव्यमिति* । अथात्रापि नभभावः कस्मान्न भवति ? इत्याह—*गवादियतेति* । *शुन इत्यादि* । श्वनित्यस्य सम्प्रसारणं यत्प्रत्ययश्च भवति, पक्षे दीर्घश्च तत्सन्नियोगेनेति । यदा दीर्घत्वं तदा शुने हितं शुन्यं शून्यमिति वा, 'नस्तद्धिते' इति टिलापो न भवति; 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावात् । ननु 'अनः' इति तत्र वर्त्तते, सम्प्रसारणे च कृते नेदमन्नन्तम्, कामं दीर्घपक्षे तद्विधानसामर्थ्याट्टिलोपो न स्यात्, पक्षान्तरे तु प्राप्नोति, सम्प्रसारणं बाधकबाधनार्थम्, अन्यथा प्रकृतिभावप्रसङ्गात् ? एवं तर्हि चकारद्वयमत्र पठ्यते, तत्रैकः सम्प्रसारणसमुच्चये द्रष्टव्यः, तत्रान्यस्य समुच्चेतव्यस्याभावात्सम्प्रसारणमेव पुनर्विधीयते । तत्र पुनर्विधानं तु तद्रूपस्यैवावस्थानार्थं भविष्यति । *ऊधसोऽनङ् चेति* । 'नश्च' इति नोक्तम्; लाघवे विशेषाभावात् । ऊधःशब्दस्यानङादेशो भवति यत्सन्नियोगेन—ऊधन्यः, 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः ॥

न्यासः

नभभावः कस्मान्न भवतीत्याह-गवादिषु यतेत्यादि । स हि गवादियता सह विहितः । तेन 'सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभाव उभयोरप्यभावः' इति नभभावो न भवति ।

शुन इत्यादि । श्वन्नित्येतस्य सम्प्रसारणे कृतेऽन्नन्ततास्तीति 'नस्तद्धिते' इति टिलोपेन भाव्यमेवेति । एवं तर्हि सम्प्रसारणसामर्थ्यान्न भवति ? नैतदस्ति; 'यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते, यस्तु विधेर्निमित्तमेव नासौ बाध्यते' इति तदवस्थो दोषः । दीर्घविधानसामर्थ्यादिति चेत् ? एवमपि पक्षे स्याद् ।

एवं तर्ह्यन्यथा व्याख्यायते । इह चकारद्वयं पठ्यते—सम्प्रसारणञ्च, वा दीर्घत्वञ्चेति । द्वितीयश्चकारो भिन्नक्रमः सम्प्रसारणसमीपे द्रष्टव्यः । स च समुच्चयार्थोऽन्यस्य समुच्चेतव्यस्याभावात् तदेव समुच्चिनोति । तत्र सम्प्रसारणमेकेन क्रियते, द्वितीयेन तद्रूपस्यैवावस्थितिरिति । तत्सन्नियोगनेत्यादि । तदित्यनेन दीर्घत्वं प्रत्यवमृश्यते । तेन दीर्घत्वेन यत एवान्तोदात्तत्वं भवति, अन्यथा 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं

१. स्कन्द, अध्वा—एतौ शब्दौ पुस्तकान्तरेऽधिकौ ।

कम्बलाच्च संज्ञायाम् ॥ ३ ॥

कम्बलात्प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत्प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये। छस्यापवादः। कम्बल्यमूर्णापलशतम्।

पदमञ्जरी

कम्बलाच्च संज्ञायाम् ॥ अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं कम्बल्य इति? निपातनादेवैतत्सिद्धम् 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि' इति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—संज्ञायामिति वक्ष्यामीति? एतदपि नास्ति प्रयोजनम्; परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते तत्र कम्बल्यग्रहणम्—परिमाणस्य च संज्ञा कम्बल्यशब्दः। एवं तर्हि स्वरार्थं वचनम्, निपातनेन हि परिमाणे कम्बल्य-शब्दः साधुरित्येतावदवगम्यते, न तु यदन्तोऽयमिति, ततश्चान्तस्वरितत्वं न स्यात्। अथ निपातन एवान्तस्वरितत्वं पठ्येत? तत्र व्याख्यानं शरणम्, व्याख्यानाच्च लघु सूत्रम् ॥

न्यासः

स्यात्। ऊधसोऽनङ् चेति। ऊधःशब्दस्यानङादेशो भवति, चकाराद् यच्च। ऊधन्यः। पूर्ववत् प्रकृतिभावः ॥

कम्बलाच्च संज्ञायाम् ॥ ननु 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यः' इति निपात-नादेव कम्बल्य इति सिध्यति, कम्बल्यं हि परिमाणविशेषः, इतरथा हि कम्बल्य-शब्दस्य तत्र ग्रहणमनर्थकं स्यात्, परिमाणविशेषस्य कम्बल्यशब्दो नामधेयम्; अय-मपि प्रत्ययः संज्ञायां विधीयमानस्तत्रैव भवति, नान्यत्र; न ह्यत्र कम्बल्यशब्दः संज्ञा, तस्मान्नार्थोऽनेन? नैतदस्ति; निपातनेन हि कम्बल्यशब्दः परिमाणे साधुरित्येतावत् प्रतीयते, न तु यदन्तोऽयमिति। ततश्चान्तस्वरितत्वं न स्यात्। तस्मात् स्वरितत्व-परिज्ञानार्थमिदं कर्त्तव्यम्। अनन्तरश्रुतस्य यतोऽनुकर्षणार्थश्चकारः। ननु स्वरितत्वादेव यद् भविष्यति? छोऽपि तर्हि स्यात्। ननु च च्छस्य सन्निधाने प्रकृतिमात्राच्छ उक्त इति नियमार्थमिदं स्यात्, तच्चानिष्टम्, यत् पुनर्नियतविषय इति तत्सम्बन्धे विध्यर्थता, विधिनियमयोश्च विधिरेव ज्यायान्? नैतदस्ति; छस्यापि सम्बन्धे विध्यर्थता सम्भवति। कथं संज्ञायामित्युच्यते, संज्ञा चानुपात्तावयवार्थापि भवति, तत्रानवयवार्थानामप्राक्-क्रीतीयत्वाद्धिताद्यर्थाभावे छप्रत्ययार्थमेतत् स्यात्, तस्माच्चकारो यत्प्रत्ययानुकर्षणार्थः कर्त्तव्यः? न कर्त्तव्यः; इष्टतोऽप्यधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती भवत इति यत एवानुवृत्ति-र्भविष्यति, न तु च्छस्य। एवं तर्हि चकार उगवादिभ्य इत्यनुकर्षणार्थः। किमर्थ-मिदम्? सनङ्गवादिभ्यः परत्वादञादयः प्राप्नुवन्ति तद्बाधनार्थमिति। अथ गवादि-ष्वेव 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' इति कस्मान्न पठति? तत्र पाठे न कश्चिद् गुरुलाघव-कृतो विशेष इति यत्किञ्चिदेतदिति ॥

संज्ञायामिति किम् ? कम्बलीया ऊर्णा: ।

विभाषा हविरपूपादिभ्यः ॥ ४ ॥

हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु विभाषा यत् प्रत्ययो भवति । आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयं दधि । पुरोडाश्यास्तण्डुला, पुरोडाशीया: । हविश्शब्दात्तु गवादिपाठान्नित्यमेव भवति । अपूपादिभ्यः—अपूप्यम्, अपूपीयम् । तण्डुल्यम्, तण्डुलीयम् ।

पदमञ्जरी

विभाषा हविरपूपादिभ्यः ॥ हविर्विशेषवाचिभ्य इति । स्वरूपस्य ग्रहणं न भवति; तस्य गवादिषु पाठात् । विपर्ययस्तु न भवति–तत्र विशेषाणां ग्रहणमिह स्वरूपस्येति; असञ्जातविरोधित्वेन तत्रैव स्वरूपग्रहणस्य न्याय्यत्वात् । *अन्नविकारेभ्यश्चेति ।* अन्नविकारा: = अन्नप्रकाराः, अदनीयविशेषा इत्यर्थः, तेभ्यश्च विभाषा यद् भवति–ओदन्याः, ओदनीयाः । यद्येवम्, अपूपादीनां किण्वपर्यन्तानां पाठोऽनर्थकः, अन्नविकारत्वादेव सिद्धेः; सुराप्रकृतिद्रव्यं किण्वम् ? नानर्थकः, प्रपञ्चार्थत्वात् ।

अपर आह–यदा सादृश्यादिनापूपादिभ्योऽर्थान्तरे उपचर्यन्ते, तदर्थ एषां पाठ इति ॥

न्यासः

विभाषा हविरपूपादिभ्यः ॥ हविःशब्दो गवादिषु पठ्यते, तेन तस्मान्नित्यं यता भवितव्यम् । अत्र हविर्विशेषाणां ग्रहणम्, न स्वरूपस्येति; उगवादिसूत्रे स्वरूपपरिभाषाया उपस्थानात् । न हि तत्र सोपतिष्ठमाना केनचिन्निवार्यते, तेन स्वरूपस्यैव ग्रहणम् । तत्र स्वरूपग्रहणे सतीह स्वरूपपरिभाषा नोपतिष्ठते; अन्यथा हि यद्यत्रापि स्वरूपग्रहणं स्यात्, ततः स्वतन्त्र एकस्मात् शब्दात् नित्यश्च यतो विधिः स्यादनित्यश्चेत्युभयमेकत्र नोपपद्यत इति न भवति विपर्ययः । अथ वा–हविःशब्दस्येह पृथगुपादानादर्थप्रधानत्वमवसीयते, अन्यथा ह्यपूपादिष्वेव पठेदिति । **अन्नविकारेभ्यश्चेति ।** अन्नविकारा: = अन्नप्रकाराः, ते च प्रत्ययमुत्पादयन्ति विभाषा—उदन्याः, उदनीया इति । यद्येवम्, अपूपादीनां किण्वपर्यन्तानाममत्रविकारत्वादेव सिद्धत्वात् पाठोऽनर्थको जायते ? यदा तर्हि केनचिदाकारसादृश्येनापूपादयोऽर्थान्तरे उपचर्यन्ते, तदर्थमेषां पाठः । किञ्चान्नविकारग्रहणेनापूपादिषु प्रत्ययमिच्छत इहापि स्यात्–यवापूपाः, व्रीहितण्डुला इति । प्रतिपदपाठे तु ग्रहणवत्त्वात् तदन्तविधिः पर्युदस्तो भवति । ननु च 'असमासे निष्कादिभ्यः' इत्यसमासग्रहणाद् भवितव्यमेवात्र तदन्तविधिना, एते-

अपूप । तण्डुल । अभ्यूष । अभ्योष । पृथुक । अभ्येष । अर्गल । मुसल । सूप । कटक । कर्णवेष्टक । किण्व । ❀ अन्नविकारेभ्यश्च ❀ । पूप । स्थूणा । पीप । अश्व । पत्त्र[1] । अपूपादिः ॥

तस्मै हितम् ॥ ५ ॥

'तस्मै' इति चतुर्थीसमर्थाद् 'हितम्' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । वत्सेभ्यो हितो गोधुक् वत्सीयः । अवत्सीयः । पटव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् । अपूप्यम् । अपूपीयम् ॥

शरीरावयवाद्यत् ॥ ६ ॥

शरीरम्=प्राणिकायः । शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकाद्यत् प्रत्ययो भवति 'तस्मै हितम्' इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । ओष्ठ्यम् । नाभ्यम् । नस्यम् ।

खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ॥ ७ ॥

पदमञ्जरी

तस्मै हितम् ॥ तस्मै इति । 'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या' इति चतुर्थी । अपर आह–अयमेव निर्देशो ज्ञापको हितयोगे चतुर्थी भवतीत्यस्येति, तच्चिन्त्यम्; 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' इति आशिषि विषयविशेषे हितयोगे चतुर्थ्याः सम्भवात् ॥

शरीरावयवाद्यत् ॥ शरीरं प्राणिकाय इति । एतेनैतद्दर्शयति–शीर्यत इति शरीरमिति शृणातेरीरन्प्रत्ययमुत्पाद्य यद्यपि शरीरशब्दो व्युत्पाद्यते, तथापि योगरूढत्वात्प्राणिकाय एव वर्त्तते, न घटादाविति ॥

न्यासः

नासमासग्रहणेन पूर्वत्र तदन्तविधिरस्तीत्येषोऽर्थः प्रतिपाद्यते ? सत्यमेतत्; अपूपादिषु प्रतिपद्पाठसामर्थ्यान्न भविष्यति ॥

तस्मै हितम् ॥ एतदेव ज्ञापकम्—हितयोगे चतुर्थ्यस्तीति ; तेन यदुक्तम्—'हितयोगे चतुर्थी वक्तव्या' इत्येतदुपपन्नं भवति ॥

शरीरावयवाद्यत् ॥ शीर्यत इति शरीरम्, तेन घटादेरपि ग्रहणं भविष्यतीत्यत आह–शरीरं प्राणिकाय इति । एतेन रूढिरियमिति दर्शयति । गवादावेते शरीरावयववाचिनः । तत्र तु या प्रकृतयस्ताभ्योऽनेनापि पूर्वेणापि वा यति विशेषे नास्त्येव । यत्र विशेषः—'नाभि नभञ्च' इति, स विशेषस्तत्रैव वेदितव्य एव ।

खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ॥ खलादीनां वृषपर्यन्तानाम् 'यस्येति' लोपः ।

---

१. कट, अयःस्थूल, ओदन, अवोष, प्रदीप—एते शब्दाः पुस्तकान्तरेऽधिकाः ।

खलादिभ्यो यत्प्रत्ययो भवति 'तस्मै हितम्' इत्येतस्मिन्विषये। छस्यापवादः। खलाय हितं खल्यम्। यव्यम्। माष्यम्। तिल्यम्। वृष्यम्। ब्रह्मण्यम्।

वृष्णे हितम्, ब्राह्मणेभ्यो हितमिति वाक्यमेव भवति। छप्रत्ययोऽपि न भवति, अनभिधानात्।

पदमञ्जरी

खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ॥ *ब्रह्मण्यमिति* । पूर्ववट्टिलोपाभावः। वृषशब्दोऽयमकारान्तो गृह्यते, न तु नकारान्तः; अन्यथाऽसन्देहार्थं नकारलोपमकृत्वैव निर्दिशेत्, यथा—आत्मन्विश्वजनेति। अस्ति च नकारान्तस्तत्र वक्तव्यम्, ततोऽपि यद्भवतीति, अन्यथा तत्र छे टिलोपे च वृषीयमिति प्राप्नोति, तस्य च वृषशब्दे आदेशो वक्तव्यः, अन्यथा वृषण्य इति स्यात्; ब्रह्मशब्दो नकारान्तो गृहीतः, ब्राह्मणशब्दश्चाकारान्तोऽस्ति, तत्र वक्तव्यम्—ब्राह्मणशब्दादपि यद्भवतीति, अन्यथा ततश्छः स्यात्, तस्य च ब्रह्मन्-शब्द आदेशो वक्तव्यः; अन्यथा ब्राह्मण्यमिति प्राप्नोति ? इत्यस्मिन्पूर्वपक्षे इदमाह—*वृष्णे हितमित्यादि* ।

छप्रत्ययोऽपि न भवतीति । यत्प्रत्ययस्तु तावत्सूत्रेऽनुपादानादेव न भवति, न केवलं स एव, अपि तु छप्रत्ययोऽपीत्यपिशब्दस्यार्थः। कुत इत्याह—*अनभिधानादिति* । तदनेनाप्यव्यविकन्यायो दर्शितः। त्रैशब्द्यं हि नः साध्यम्—वृषाय

न्यासः

ब्रह्मण्यमिति। 'न संयोगाद् वमन्तात्' इति प्रतिषेधाद् 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपो न भवति। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपोऽपि न भवति; 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावात्। वृषशब्दोऽयमत्राकारान्तो गृह्यते, न तु ब्राह्मणशब्दोऽकारान्त इति। ननु चाशङ्का वृषशब्दे युक्ता—नलोपे सति किमयमकारान्तः ? आहोस्विद् नकारान्तः ? इति, ब्रह्मन्शब्दस्तु नकारान्त एवेति तद्विषये भ्रान्तिरेव नोपपद्यते, तत् कथं ब्रह्मन्-शब्दो विकल्प्यते ? सत्यम्; किन्तु वृषन्शब्दाच्च यतो निवृत्तिप्रसङ्गाद् ब्रह्मन्शब्दादपि यच्च प्रत्ययो निवर्त्तत इति भावः। अत एवाह—छप्रत्ययोऽपीत्यादि। यत्प्रत्ययापेक्षयापिरयम्—न केवलं यत्प्रत्ययो न भवति, अपि तु च्छप्रत्ययोऽपीति। ब्राह्मणशब्दाच्छप्रत्ययाभावो योज्यः। ननु चाभ्यामिहानुपादानाद् यत्प्रत्ययो न भवति, 'तस्मै हितम्' इति च्छप्रत्ययस्तु कस्मान्न भवति ? इत्याह—अनभिधानादिति। न हीह वृषीयम्, ब्राह्मणीयमित्युक्ते विवक्षितोऽर्थः प्रतीयते; यतोऽर्थप्रतिपादनं प्रति नियता एव शब्दशक्तयो भवन्तीति क्वचित् प्रत्ययान्तेनार्थस्याभिधानम्, क्वचिद्वाक्येनेति। अतो वाक्यमेवावतिष्ठते—वृष्णे हितम्, ब्राह्मणेभ्यो हितमिति। वाक्यसमधिगम्यस्यार्थस्य तद्धितेनानभिधानादिति यावत् ॥

चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः—रथाय हिता रथ्या ॥

अजाविभ्यां थ्यन् ॥ ८ ॥

अज, अवि—इत्येताभ्यां थ्यन् प्रत्ययो भवति 'तस्मै हितम्' इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । अजथ्या यूथिः । अविथ्या ॥

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ॥ ९ ॥

आत्मन्, विश्वजन—इत्येताभ्यां भोगोत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात्खः

पदमञ्जरी

हितम्, वृष्यम्, वृष्णे हितम्; तथा ब्रह्मणे हितम्, ब्रह्मण्यम्, ब्राह्मणाय हितमिति; तत्र द्वयोः शब्दयोः समानार्थयोरेकत्र विग्रह एव, अपरत्र विग्रहश्च वृत्तिश्च भविष्यति, तद्यथा—अविकस्य मांसम्, आविकम्, अवेर्मांसमिति । *रथाय हिता रथ्येति* । हितार्थ एव यथा स्यादर्थान्तरे मा भूदित्येवमर्थं गवादिषु पाठो नाङ्गीकृतः ।

केचित्तदन्तविधिमिच्छन्ति—रथसीताहलेभ्यो यद्विधाविति । अपरे तु—हलसीताभ्यां साहचर्याच्चातुरर्थिक एव तदन्तविधिर्भवति, न त्वस्मिन्निति ॥

अजाविभ्यां थ्यन् ॥ अजशब्दोऽयमिह पुंल्लिङ्ग उपात्तः, अत एव 'द्वन्द्वे घि' इत्यविशब्दस्य पूर्वनिपातं बाधित्वा 'अजाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातः कृतः, 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति स्त्रीलिङ्गादपि थ्यन्भवत्येव—अजायै हितमजथ्यम्, 'तसिलादिषु थ्यन्थालौ' इति परिगणनात्पुंवद्भावः ॥

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः ॥ इहोत्तरपदग्रहणं व्याप्तिन्यायेन सर्वैर्वा सम्बध्येत, प्रत्यासत्तिन्यायेन भोगशब्देनैव वा ? तत्राद्यं पक्षं निराकरोति—

न्यासः

अजाविभ्यां थ्यन् ॥ अजशब्दोऽयमिह पुंल्लिङ्ग उपात्तः; अविशब्दस्य घ्यन्तशब्दस्यापूर्वनिपातात् । आबन्तस्य ग्रहणे ह्यविशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । अदन्तस्य ग्रहणे 'द्वन्द्वे घि' इत्येतस्य बाधितत्वाद् 'अजाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्वनिपातो युज्यते । तस्मात् पुंल्लिङ्गस्य ग्रहणम् । तथा च 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' इति स्त्रीलिङ्गादपि प्रत्ययो भवत्येव—अजाभ्यो हितमजथ्यम् । 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवद्भावः । परिसंख्यायन्ते हि तत्र तसिलादयः, तेषाञ्च मध्ये परिसंख्यातौ थ्यंस्थालावपि । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य ग्रहणे शब्दान्तरत्वादकारात् पुंल्लिङ्गान्न स्यात् ॥

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ॥ अथात्मन्नित्यत्र नलोपः कस्मान्न कृतः, यावता द्वन्द्वेनायं निर्देशः क्रियते, तत्र 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः

प्रत्ययो भवति 'तस्मै हितम्' इत्येतस्मिन्विषये। छस्यापवादः। आत्मन्-इति नलोपो न कृतः प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरपदग्रहणं भोगशब्देनैव सम्बध्यते, न तु प्रत्येकम्। आत्मने हितम् आत्मनीनम्। 'आत्माध्वानौ खे' इति प्रकृतिभावः। विश्वजनेभ्यो हितं विश्वजनीनम्। कर्मधारयादेवेष्यते। षष्ठीसमासाद्बहुव्रीहेश्च छ एव भवति। विश्वजनाय हितं विश्वजनीयम्।

❀ पञ्चजनादुपसंख्यानम् ❀। पञ्चजनाच्च खः। अत्रापि कर्मधारयादिष्यते। पञ्चजनीनम्। अन्यत्र–पञ्चजनीयम्।

पदमञ्जरी

आत्मन्निति नलोपो न कृत इति। विवक्षितां प्रकृतिं कार्त्स्न्येन निर्दिशेयमिति नलोपो न कृतः, प्रत्येकं सम्बन्धे चोत्तरपदग्रहणस्य नैतावती प्रकृतिः स्याद्, अतो नलोपाकरणेन प्रत्येकं सम्बन्धे निवारिते भोगशब्देनैव सम्बध्यते इत्यर्थः। *कर्मधारयादिष्यत इति*। व्याख्यानमत्र शरणम्। *षष्ठीसमासादिति*। विश्वस्य जनो विश्वजनः=सर्वसाधारणो वेश्यादिः। *बहुव्रीहेश्चेति*। विश्वो जनोऽस्येति, स एव वेश्यादिरन्यपदार्थः।

पञ्चजनादिति। रथकारपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः=पञ्चजनाः। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः। *पञ्चजनीयमन्यदिति*। षष्ठीसमासाद् बहुव्रीहेश्च छ एव भवतीत्यर्थः। यदा च प्रकरणादिवशाद्विशिष्टसंख्येयवृत्तित्वावसायः संख्या-

न्यासः

प्राप्नोति ? इत्यत आह–आत्मन्नित्यादि। आत्मन्नित्येव भवत्येषा प्रकृतिरिति ज्ञापनार्थं नलोपो न कृतः। कः पुनरेवं सति विशेषः ? इत्याह–तेनेत्यादि। गतार्थम्। यद्येवम्, विश्वजनशब्देन ह्युत्तरपदस्य सम्बन्धः प्राप्नोति ? एवं मन्यते—आत्मन्निति नलोपाभावेन प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेर्व्यभिचारस्य दर्शितत्वात् ततः प्रत्यासत्तेर्भोगशब्देनैव सम्बध्यते, न तु विश्वजनशब्देनेति नास्ति दोषः। कर्मधारयादेवेष्यत इति। आचार्यपारम्पर्योपदेशात्। विभाषाग्रहणानुवृत्तेर्व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद् वेदं वेदितव्यम्। विश्वस्य जनो विश्वजनः, विश्वो जनोऽस्येति विश्वजन इति समासेन भवितव्यम्। यथा खो न भवति तथाच्छोऽपि न भवतीत्याशङ्कयाह—बहुव्रीस्त्वित्यादि।

उपसंख्यानमिति प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—इह हि भोगसमासादिति वक्तव्ये उत्तरपदग्रहणमधिकविधानार्थम्। न चैवं सति बहुपूर्वादीषदसमाप्तौ भोगो बहुभोग इत्यस्मात् खः स्यादित्याशङ्कनीयम्; बहुच्प्रत्ययस्य समासाभावात्। ततोऽत्र छेनैव भवितव्यम्–बहुभोगीय इति। तेन पञ्चजनादपि भविष्यति। संज्ञाशब्द-

❀ सर्वजनाट्ठञ् खश्च[1] ❀। सार्वजनिकम्, सर्वजनीनम्। अत्रापि कर्मधारयादेव। सर्वजनीयम्—अन्यत्।

❀ महाजनान्नित्यं ठञ्वक्तव्यः ❀। महाजनाय हितं महाजनिकम्। तत्पुरुषादेव। बहुव्रीहेस्तु छ एव भवति—महाजनीयम्।

पदमञ्जरी

शब्दानां तदा सापेक्षत्वाभावादविरुद्धः समासः, जनादिनैव साक्षात्सम्बन्धाद्; अन्यथा तु संख्येयस्यैव जनापेक्षया व्यतिरेकः, तद्द्वारेण तु संख्यागुणस्येति साक्षात्सम्बन्धाभावाद् दुर्लभः षष्ठीसमासः।

सर्वजनादिति। 'पूर्वकालैकसर्व' इति कर्मधारयः।

महाजनान्नित्यमिति। नित्यग्रहणं सर्वजनादुक्तो खो मा भूदिति।

तत्पुरुषादेवेति। अत्र 'कर्मधारयादेव' इति नोक्तम्, आत्वनिर्देशेनैव षष्ठीसमासव्यावृत्तिसिद्धेः।

इह पितृभोगीणादिशब्दैः पित्रादिहितस्यार्थस्याभिधानमिष्यते, पित्रादिभोगहितस्य तु प्राप्नोति। भोगशब्दश्चायमस्त्येव द्रव्यपदार्थकः, तद्यथा—भोगवानयं देश उच्यते, यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्द्धन्ते, भुज्यत इति भोगः; अस्ति च क्रियापदार्थः, तद्यथा—भोगवानयं ब्राह्मण उच्यते यः सम्यक् स्नानादिकाः क्रिया अनुभवति; अस्ति च शरीरवाची, अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुमिति दर्शनात्, अत्र समुदाये प्रवृत्तस्य भोगशब्दस्यैकदेशेषु फणेषु प्रयोगः, न चाहेरेव शरीरं भोगः, अपि तु सर्वं शरीरम्; अनन्तत्वात्प्रयोगविषयस्यावधारणस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्। *निघण्टुषु* तु प्रयोगबाहुल्यादहिशरीरे प्रयोगः। सर्वेष्वपि चार्थेषु विवक्षिताभिधानं न प्राप्नोति। तस्मान्नायं भोगोत्तरपदात्खो विधेयः, पित्रादिभ्य एव तु भोगीनच्प्रत्ययो विधेयः—पित्रे हितः पितृभोगीण इति। यद्येवम्, वावचनं कर्त्तव्यम्, मात्रीयं पित्रीयमिति यथा स्याद्; अन्यथा भोगीनचा बाधित-

न्यासः

श्चायम्, 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः। तथा सर्वजनादपि वेदितव्यः। तत्पुरुषादेवेति। विशेषानभिधानेऽपि महाजनादिति निर्देशादेव समानाधिकरणादेव विज्ञायते। 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इति समानाधिकरणोत्तरपदे महत आद्विधानात्। भोगशब्दोऽयं भावसाधनः—भुक्तिर्भोग इति, कर्मसाधनो वा—भुज्यत इति भोग इति। अयमव्युत्पन्नः शरीरवाची, तस्येह ग्रहणमित्याह—भोगशब्द इत्यादि। भोगशब्दः शरीरमेव प्रतिपादयतीत्यर्थः। यत्र वर्त्तमानोऽयं साक्षात् सम्बन्धमाह, तत्रैव

१. 'सर्वजनाच्छञ्, चकारात्खञ्च'—इति पाठा०।

भोगोत्तरपदात्खल्वपि—मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । भोगशब्दः शरीरवाची केवलेभ्यो मात्रादिभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयम् । पित्रीयम् ।

❀ राजाचार्याभ्यां तु नित्यम् ❀ । भोगोत्तरपदाभ्यामेव प्रत्यय इष्यते, न केवलाभ्याम् । राजभोगीनः ।

❀ आचार्यादणत्वं च ❀ । आचार्यभोगीनः । केवलाभ्यां वाक्यमेव भवति—राज्ञे हितम्, आचार्याय हितमिति ॥

सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ॥ १० ॥

सर्वपुरुषाभ्यां यथासंख्यं णढञौ प्रत्ययौ भवतः, 'तस्मै हितम्'

पदमञ्जरी

त्वाच्छो न स्यात् । इह च ग्रामणिभोगीनः सेनानिभोगीन इति 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इत्युत्तरपदनिबन्धनं ह्रस्वत्वं न स्यात्, इह चाब्भोगीन इति 'अपो भि' इति भकारादौ प्रत्यये विधीयमानं तत्वं प्राप्नोति, भोगोत्तरपदात्तु खविधाने नैते दोषाः । अर्थविरोधस्तु भवति, तं परिहरति—*भोगशब्दः शरीरवाचीति* । तत्र शरीरशरीरिणोरभेदाद्य एवार्थो मात्रे हित इति, स एव मातृभोगाय हित इत्यपि विग्रहे भवतीति भावः । एवं भोगोत्तरपदात्खविधानेऽप्यर्थविरोधं परिहृत्य तत्रैव गुणमाह—*केवलेभ्यो मात्रादिभ्यश्छ एव भवतीति* । एवकारो भवतीत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । भोगीनच्प्रत्ययविधाने तु छो न स्यादेव—इत्येवशब्दस्यार्थः ।

राजाचार्याभ्यामिति । राजाचार्याभ्यां हितार्थे यदि प्रत्ययो भवति नित्यम्, भोगोत्तरपदाभ्यामेव, स च ख एवेत्यर्थः । *न केवलाभ्यामिति* । अत्र 'प्रत्यय इष्यते' इत्येतावदपेक्ष्यते, न तु 'खप्रत्यय इष्यते' इति; प्राप्त्यभावात् । अत एव केचित् 'खः प्रत्यय इष्यते' इति व्यस्तं पठन्ति ।

आचार्यादणत्वं चेति । भोगोत्तरपदादिति गम्यते, इदानीमेव ह्युक्तम्—राजाचार्याभ्यां नित्यं भोगोत्तरपदाभ्यामेवेति ॥

सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ॥ *सर्वादिति* । अनुकरणत्वात्सर्वनामकार्याभावः, सर्व-

न्यासः

खप्रत्ययमासादयति । वर्त्तते च क्रियायां द्रव्ये च । तथा हि—यद्यपि भुजिक्रियया द्रव्येण च सम्बन्धोऽस्ति, तथापि शरीरेण मुख्यः सम्बन्ध इति ततो भवति प्रत्ययः । यथा राजाचार्याभ्यां वाक्यमेव भवति, तथेहापि भवितव्यमिति यश्चोदयेत्, तं प्रत्याह—**केवलेभ्य इति** । मात्रीयम्, पित्रीयमिति । दिङ्मात्रमेतत् । अन्येषामपि दुहित्रीयमित्यादीनां दर्शनात् । आचार्यादणत्वमिति । क्षुभ्नादिपाठात् । **केवलाभ्यां वाक्यमेव भवतीति** । छप्रत्ययो न भवति, अनभिधानादेव ॥

इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । सर्वस्मै हितं सार्वम् । पौरुषेयम् ।

❀ सर्वाण्णस्य वा वचनम् ❀ । सर्वीयम् ।

❀ पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम् ❀ । पौरुषेयो वधः, विकारः, समूहो वा, तेनकृतः पौरुषेयो ग्रन्थः ॥

माणवचरकाभ्यां खञ् ॥ ११ ॥

माणवचरकशब्दाभ्यां खञ् प्रत्ययो भवति, 'तस्मै हितम्' इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । माणवाय हितं माणवीनम् । चारकीणम् ॥

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥ १२ ॥

पदमञ्जरी

नामानि' इत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यपि सर्वनामत्वं न भवति; अनाश्रितार्थस्य शब्दरूपस्यानुकरणात् ।

पुरुषाद्वधेति । प्रत्ययार्थसामर्थ्येन षष्ठीसमर्थविभक्तिर्लभ्यते, कृते तु तेनेत्युपात्तैव तृतीया । *भाष्यकार*प्रयोगाच्च द्वन्द्वमध्येऽपि तेनेत्यस्य निवेशः, तत्र वधे- 'तस्येदम्' इत्यणोऽपवादः, विकारे—'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इत्यञः, समूहेऽपि 'तस्य समूहः' इत्यण एव, तेन कृतेऽपि ग्रन्थात्मके-'कृते ग्रन्थे' इत्यण एव । पौरुषेयः प्रासाद इत्यत्र न कस्यचिदपवादः ॥

माणवचरकाभ्यां खञ् ॥ मनोरपत्यं कुत्सितं माणवः, 'अपत्ये कुत्सिते मूढः' इति णत्वम्, चरतीति चरः, 'पचाद्यच्' 'चरिचलिपतिवदीनाम्' इति द्विर्वचनं विकल्पितत्वादिह न भवति, ततः संज्ञायां कन्-चरकः । खञो ञित्करणं वृद्ध्यर्थं स्वरार्थं च । चरके वृद्ध्यर्थम्, माणवे 'वृद्धिनिमित्तस्य च' इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थम्-माणवीभार्यः ॥

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥ *प्रकृतिरुपादानकारणमिति* । उपादीयतेऽस्मात्कार्य-

न्यासः

सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ॥ **सर्वाण्णस्य वावचनमिति** । अभिधानेऽभिधेयोपचाराद् वेति विकल्पमाह । इहापि विभाषाग्रहणानुवृत्तेरेव वेदितव्यम् । न च सर्वपुरुषाभ्यां विकल्प आशङ्का ; व्यवस्थितविभाषात्वात् ।

पुरुषाद्वधेति । तत्र वधे-'तस्येदम्' इत्यणोऽपवादः, विकारे-'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इत्यञः, समूहेऽपि-'तस्य समूहः' इत्यणः । 'तेन कृते ग्रन्थे' इत्यण एव ॥

माणवचरकाभ्यां खञ् ॥ उभयस्मिन् ञित्करणं स्वरार्थम् । चरके वृद्ध्यर्थञ्च । माणवे तु 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थम् । माणवीना भार्या यस्य स माणवीनाभार्य इति ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥ तस्मै इदं तदर्थम्, 'चतुर्थी तदर्थ' इत्यादिना समासः ।

प्रकृतिः=उपादानकारणम्, तस्यैव उत्तरमवस्थान्तरम्=विकृतिः। विकृतिवाचिनः प्रातिपदिकात्प्रकृतावभिधेयायां यथाविहितं प्रत्ययो भवति। 'तदर्थम्' इति प्रत्ययार्थविशेषणम्। तदिति सर्वनाम्ना विकृतिः परामृश्यते, विकृत्यर्थायां प्रकृतौ प्रत्ययः। तदर्थग्रहणेन प्रकृतेरनन्या-

पदमञ्जरी

मित्युपादानम्, उपादानं च तत्कारणं च उपादानकारणम्। कार्यस्य हि त्रीणि कारणानि–उपादानकारणम्, असमवायिकारणम्, निमित्तकारणमिति, तत्र कार्येणापृथग्देशं यद्बुद्धिः कार्येष्वनुवर्त्तते, तद्यथा–मृदयं कुम्भः, तन्तवः पटः, हिरण्यं कुण्डलमिति तदुपादानकारणम्। उपादानकारणप्रत्यासन्नमसमवायिकारणम्, यथा–तन्तुसंयोगः पटस्य। तटस्थं तु कारणं निमित्तकारणम्–तन्तुवायादि, तदेतेषु त्रिषु यदुपादानं सा प्रकृतिः, तस्यैवोपादानकारणस्योत्तरमवस्थान्तरं विकृतिरिति। अनेन कार्योपादानयोरभेदमाह। यथा हि–शिक्यं रज्जुरिति न तत्त्वान्तरम्, अथ च न रज्जुमात्रे शिक्यप्रतीतिः, एवमत्रापि मृदेव घटः, तन्तव एव पटः, सुवर्णमेव कुण्डलम्, अथ च न मृदादिमात्रे घटादिप्रतीतिः। यद्यपि वृक्षादिषु न बीजादिप्रतीतिर्भवति, या तु बीजस्यानन्तरावस्था तत्र तत्प्रतीतिर्भवत्येव। एवं तदनन्तरादिष्वप्यवस्थासु पूर्वपूर्वा प्रतीतिर्द्रष्टव्या। वृक्षस्य तु बीजं परम्परयोपादानकारणमिति सर्वमवदातम्। *विकृतिवाचिन इति*। ननु 'समर्थानां प्रथमात्' इति वचनात्तदर्थस्य चेह प्रथमनिर्देशात्प्रकृतेश्च तदर्थत्वात्तद्वाचिन एव प्रत्ययःप्राप्नोतीत्यत आह-*तदिति सर्वनाम्ना विकृतिः प्रत्यवमृश्यत इति*। तेन विकृतिरेव सर्वतः प्रथमनिर्दिष्टेति भावः। *विकृत्यर्थायां प्रकृतौ प्रत्यय इति*।

न्यासः

एतदेव वचनं ज्ञापकम्–अर्थोत्तरपदे समासे समुदायार्थस्य लिङ्गं भवति, न च परवल्लिङ्गतेति। एतेन यदुक्तम्–'अर्थेन नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' इति सा सिद्धा भवति। **प्रकृतिरुपादानकारणमिति**। समानजातीयमभिन्नसन्तानवृत्ति कारणमुपादानकारणमित्युच्यते। उपादीयत इत्युपादानम्, बहुलवचनात् कर्मणि ल्युट्, तस्य कारणमिति षष्ठीसमासः। **तस्यैवेत्यादि**। तस्यैवोपादानकारणस्योत्तरभाव्यवस्थाविशेषो विकृतिः। **विकृतिवाचिन इत्यादि**। ननु च 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति वचनात्तदर्थमिति प्रथमं निर्दिष्टत्वात् प्रकृतेश्च तदर्थत्वात् तद्वाचिन एव प्रत्ययः प्राप्नोति? नैष दोषः; प्रथमस्य चाप्रथमस्य च कार्यप्राप्तौ प्रथमादेव यथा स्यादित्येवमर्थम् प्रथमग्रहणं नियमार्थं कृतम्। इह तु प्रथमात् प्राप्तिरेव नास्ति। **प्रकृताविति**। सप्तम्या प्रकृतेः प्रत्ययार्थत्वेन सम्पादितत्वात्। **विकृतेरिति**। पञ्चम्या विकृतेः प्रकृतित्वेन। तस्मान्नायमस्य विषय इति विकृतिवाचिन एव प्रत्ययो भवति। **विकृत्यर्थायामिति**। अनेन तदर्थमित्यत्र सुब्व्यत्ययेन सप्तम्याः स्थाने प्रथमा,

र्थताऽऽख्यायते, न प्रकृतिविकारसंभवमात्रे प्रत्ययः, किं तर्हि ? प्रकृतेरनन्यार्थत्वे विवक्षिते। प्रत्ययार्थस्य च तदर्थत्वे सति सामर्थ्याल्लभ्या चतुर्थी समर्थविभक्तिः। केचित्तु 'तस्मै हितम्' इत्यनुवर्त्तयन्ति। अङ्गारेभ्यो हितानि एतानि काष्ठानि अङ्गारीयाणि काष्ठानि। प्राकारीया इष्टकाः। पङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः।

तदर्थमिति किम् ? यवानां धानाः। धानानां सक्तवः। प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिरत्र विवक्षिता, न तादर्थ्यम्। धानानां सक्तवो न लाजानामिति।

पदमञ्जरी

एतेन तदर्थमिति सप्तम्याः स्थाने प्रथमा, स्त्रीलिङ्गस्य च स्थाने नपुंसकलिङ्गमिति दर्शयति। *तदर्थग्रहणेनेत्यादि*। इह प्रकृतिविकारवाक्ये क्वचिद्योग्यतामात्रं विवक्ष्यते—मूत्राय कल्पते यवागूरिति; क्वचित्प्रकृत्यन्तरव्यावृत्तिः, यथा—यवानां धानाः, धानानां सक्तव इति; क्वचित्प्रकृतेरनन्यार्थता, यथा—अङ्गारेभ्य एतानि काष्ठानीति, तत्रेह चरमोऽर्थो विवक्षित इति प्रतिपादनाय तदर्थग्रहणं कृतमित्यर्थः। किं सिद्धं भवति ? तदाह—*न प्रकृतिविकारेति*। *प्रत्ययार्थस्य* चेत्यादि। विकृत्यर्थायां हि प्रकृतौ प्रत्यय उच्यते, तच्च तस्यास्तादर्थ्यं चतुर्थ्यैव शक्यते बोधयितुमित्येतत्सामर्थ्यम्। *केचित्त्विति*। तेषां वचनादेव लभ्या चतुर्थी।

न्यासः

लिङ्गव्यत्ययेन च स्त्रीलिङ्गस्य स्थाने नपुंसकलिङ्गं कृतमिति दर्शयति। ननु च छन्दसि व्यत्यय उक्तः, नेदं छन्दः, तत् कुतो व्यत्ययः ? 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इत्यदोषः। तदर्थग्रहणेनेत्यादि। इह प्रकृतिविकारवाक्ये क्वचिद् योग्यतामात्रं विवक्ष्यते—मूत्राय कल्पते यवागूः, पादशोफाय नड्वलोदकमिति। क्वचित् प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिः—यवानां धानाः, धानानां सक्तव इति। क्वचिद् विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धः—धानानां यवाः, सक्तूनां धाना इति। क्वचित् प्रकृतेरनन्यार्थता, यथा—काष्ठानामङ्गाराः। प्रकृतेरनन्यार्थताख्यानार्थेन यदिष्टं सम्पद्यते, तद्दर्शयति—प्रत्ययार्थस्य चेत्यादि। इह विकृत्यर्थायां प्रकृतौ प्रत्यय उच्यते। तस्य तस्मात् तादर्थ्ये चतुर्थ्येव शक्यते प्रतिबोधयितुम्। अतः प्रत्ययार्थस्य तदर्थत्वेन सामर्थ्याच्चतुर्थी समर्थविभक्तिर्लभ्यते। केचित्त्वित्यादि। तेषां वचनलभ्यैव चतुर्थी समर्थविभक्तिः।

तदर्थमिति। किमिति षष्ठी प्रत्युदाह्रियते ? षष्ठ्यपि तादर्थ्यं ब्रूते, यथा—गुरोरिदं गुर्वर्थमिति। तथा सति षष्ठ्यपि समर्थविभक्तिर्भवति। अङ्गाराणां काष्ठानीति प्रत्युदाहरणं तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्त्या, तया यवादेः समर्थ्यते। अङ्गारेभ्यः काष्ठानि, प्राकारेभ्य इष्टका इति। इदमसति तदर्थग्रहणे न ज्ञायते किमर्थं विवक्षित-

विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । विकृतिग्रहणेऽक्रियमाणे या काचित्प्रकृतिर्गृह्यते, नोपादानकारणमेव । भवति च कूप उदकस्य प्रकृतिः ; तत्रोत्पादनात् । न तु उदकं तस्य विकृतिः ; अत्यन्तभेदात् ।

पदमञ्जरी

यवानां धाना इति । येषां सामर्थ्यलभ्या चतुर्थी तेषामिदं प्रत्युदाहरणम् । ये तु 'तस्मै' इत्यनुवर्त्तयन्ति, तेषां मूत्राय कल्पते यवागूरिति द्रष्टव्यम् ।

या काचिदिति । अनुपादानकारणभूतापीत्यर्थः । तत्रैतत्स्याद्—न कूप उदकस्य काचिदपि प्रकृतिस्तत्राह–*भवति चेति* । कुत इत्याह–*तत्रेति* । यथैव हि प्रयाजादीनां धर्माणामुत्पत्त्याधारत्वाद्दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिः सौर्यादीनाम्, एवमुदकधर्माणां क्षारत्वादीनामुत्पत्त्याधारत्वात्कूप उदकस्य प्रकृतिरित्यर्थः । यद्येवम्, उदकमपि तस्य विकृतिरेव सौर्यादिवत् ? इत्यत आह–*न त्विति* । कुत इत्यत आह–*अत्यन्तभेदादिति* । तस्यैवोत्तरमवस्थान्तरं विकृतिरित्यत्र कार्योपादानयोरभेदो दर्शितः । उदकं तु कूपादत्यन्तभिन्नमत्यन्तग्रहणेनैतद्दर्शयति–कार्यकारणयोर्नात्यन्तभेदः, मृदयं कुम्भ इति प्रतीतेः । नाप्येकान्ततस्तत्त्वम् : मृन्मात्रे कुम्भप्रतीतेरभावात् । तस्मात्कथञ्चिद् भेदः, कथञ्चिच्चाभेदः । एतेन जातितद्वतोर्गुणगुणिनोश्च भेदाभेदौ व्याख्यातौ ।

न्यासः

मिति । तस्मादनन्यार्थता प्रकृतेर्विवक्षितेति । एतत् प्रयोजनं प्रतिपादयितुं तदर्थग्रहणं कृतमिति भावः । तथाच प्रकृत्यन्तरनिवृत्त्या प्रकृतिरेव सम्बध्यमाना व्यतिरिच्यत इति यवादेरेव व्यतिरेकविभक्तिर्भवति । ये तु चतुर्थीमनुवर्तयन्ति, तेषां तदर्थग्रहणं चतुर्थीविशेषणं विज्ञायते–तादर्थ्ये चतुर्थीति । तत्र मूत्राय कल्पते यवागूरिति प्रत्युदाहरणम् । तेषां चतुर्थ्यनुवृत्तिरपार्थिका; तदर्थग्रहणेनैव गतार्थत्वात् । तथा च या तादर्थ्यसमानार्था षष्ठी सा चासत्यां विशेष्यते । या काचदिति । न तूपादानकारणभूतापीत्यर्थः । स्यादेतत्—कूपः प्रकृतिरुदकस्य न भवत्येव, ततस्तन्निवृत्त्यर्थं विकृतिग्रहणं न कर्त्तव्यमित्यत आह—भवति चेत्यादि । चशब्दोऽवधारणे । ननु चान्येभ्य एव स्वकारणेभ्य उदकमुत्पाद्यते, तत्कथं कूपस्तस्य प्रकृतिः ? इत्याह—तत्रोत्पादनादिति । यथैव हि प्रयाजादीनां धर्माणामुत्पत्त्याधारभूतौ दर्शपौर्णमासौ प्रकृती भवतः, एवमुदकस्योत्पत्त्याधारभूतत्वात् कूपः प्रकृतिर्भवति । यद्येवम्, उदकमपि तस्य विकृतिः ? इत्याह—नन्वित्यादि । अत्रैवोपपत्तिमाह—अत्यन्तभेदादिति । विकारो हि प्रकृतेरुत्तरमवस्थान्तरमिति ततो नात्यन्तभिन्नो भवति, यथा—काष्ठानामङ्गाराः । ते हि पार्थिवेनाभिन्नसन्तानवर्त्तित्वेन काष्ठेभ्यो नात्यन्तं भिद्यन्ते । उदकं तु भिन्नस्वभावत्वाद् भिन्नसन्तानवर्त्तित्वाच्च कूपादत्यन्तं भिन्नम् । अतो न तस्योत्तरमवस्थान्तरमिति न भवति विकृतिः ।

प्रकृताविति किम् ? अस्यर्था कोशी । असिरयसो विकृतिर्भवति, न तु कोशी तस्य प्रकृतिर्भवति । द्वयोरपि प्रकृतिविकृत्योर्ग्रहणे विवक्षितः प्रकृतिविकारभावो लभ्यते ॥

पदमञ्जरी

न तु कोशी तस्य प्रकृतिरिति । अतत्कारणत्वादनुत्पत्त्याधारत्वाच्च, चर्मपिनद्धं दार्वादिनिर्मितमस्यादीनां प्रक्षेपस्थानं कोशी । ननु च प्रकृतिर्विकृतिरिति च सम्बन्धिशब्दावेतौ, सम्बन्धिशब्दाश्च नियतमेव सम्बन्धिनमुपस्थापयन्ति, तद्यथा–मातरि वर्त्तितव्यमित्युक्ते न चोच्यते स्वस्यामिति, अथ च या यस्य माता तस्यामिति गम्यते, एवं चात्रान्यतरोपादानेऽप्यन्यतरस्य प्रतीतिः सिद्धयति ? अत आह—*द्वयोरपीति* । एवं मन्यते—विपूर्वोऽयं करोतिरस्त्येवापकारे–दैवं मे दौस्थ्ये विकरोतीति, अस्ति चेष्टानानात्वे–विकुर्वते छात्त्रा इति, अस्त्यनौचित्ये–विकृतिरेषा स्त्रीणां यत्स्वातन्त्र्यं नामेति, अस्ति कार्ये–तन्तूनां विकारः पट इति; तथा प्रपूर्वोऽपि करोतिरनेकार्थः, अस्ति कारणे–तन्तवः प्रकृतिः पटस्येति, सांख्यास्तु सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्थां प्रकृतिमाहुः, अस्ति दोषापगमे–प्रकृतिस्थं मन इति, अस्ति स्वभावे–प्रकृत्याभिरूप इति, अस्ति धर्माणामुत्पत्त्याधारे—यथोक्तं पुरस्तात्, तदेवमनेकार्थत्वान्नानयोरैकान्तिकं सम्बन्धिशब्दत्वमित्यन्यतरोपादानेन विवक्षितः प्रकृतिविकारभावो लभ्यत इति । 'तस्य विकारः' इत्यत्र तु अभिधानस्वभावादेव कार्यस्य ग्रहणम्, नापकारादेः ॥

न्यासः

न तु कोशी तस्य प्रकृतिरिति । अतत्कारणत्वात्, अनुत्पत्त्याधारभूतत्वाच्च । ननु च प्रकृतिर्विकृतिरिति सम्बन्धिशब्दावेतौ । सम्बन्धिशब्दश्च नियत एव प्रतियोगिनि प्रतीतिमुपजनयति, यथा 'हि मातरि वर्त्तितव्यम्' इत्युक्ते न चोच्यते स्वस्यां मातरीति. या यस्य माता तस्यामिति प्रतीयते । एवं सति कूपलक्षणायां प्रकृतौ विकृत्यर्थायां प्रत्ययार्थत्वेन विवक्षितायामसत्यपि विकृतिग्रहणे तस्यैव कूपस्य या या विकृतिस्तत एव प्रत्ययो विज्ञायते । तथा च विकारवाचिनोऽसिशब्दात् प्रत्यये विधित्सिते यस्यासौ प्रकृतिस्तस्यामेव तदर्थायां प्रकृतावसत्यपि प्रकृतिग्रहणे प्रत्ययो विज्ञायते । तस्मादन्यतरोपादानेऽपि सर्वमिष्टं सम्पद्यते । न किञ्चिदनिष्टमापद्यत इत्याह—**तदर्थं द्वयोरपीत्यादि** । अनेनैवं मन्यते—स्यादेतदेव यदासौ प्रकृतिविकृतिशब्दौ नियोगतः सम्बन्धिशब्दौ, नचेमौ नियोगतः सम्बन्धिशब्दौ । तथा हि, विपूर्वस्तावदयं करोतिरस्त्येवापकारे—देवदत्तोऽस्थित्यै विकरोतीति; अस्ति चेष्टानानात्वे—विकुर्वते च्छात्रा इति; अस्त्यनौचित्ये—विकृतिरेषा स्त्रीणां यत् स्वातन्त्र्यमिति । अस्ति कार्ये-तन्तूनां पटो विकार इति । तथा प्रपूर्वोऽप्ययमस्ति कारणे—तन्तवः प्रकृतिः पटस्येति; अस्ति चौदासोन्ये-सत्त्वादीनां प्रकृतिरिति । तान्युच्यन्ते यान्यना-

छदिरुपधिबलेर्ढञ् ॥ १३ ॥

छदिरादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्येतस्मिन्विषये। छस्यापवादः। छादिषेयाणि तृणानि। औपधेयं दारु। बालेयास्तण्डुलाः।

उपधिशब्दात्स्वार्थे प्रत्ययः। उपधीयत इत्युपधिः=रथाङ्गम्। औपधेयमपि तदेव दारु॥

पदमञ्जरी

छदिरुपधिबलेर्ढञ् ॥ छाद्यतेऽनेनेति छदिः, 'अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिभ्य इसिः' 'इस्मन्त्रन्क्विपु च' इति ह्रस्वत्वम्। *छादिषेयाणि तृणानीति*। यदा तु चर्मविकारश्छदिस्तदा परत्वात् 'चर्मणोऽञ्' इत्यञ्प्राप्नोति, तत्र पूर्वविप्रतिषेधेन ढञेवेष्यते—छादिषेयं चर्मेति, आह च 'यञञ्यावञः पूर्वविप्रतिषेधेन ढञ्च' इति। *वृत्तिकारेण* तु प्रतिपदविधेर्बलीयस्त्वान्नैतदुपन्यस्तमित्याहुः। नेति वयम्; ढञोऽपि छादिषेयाणि तृणानीत्यत्र चरितार्थत्वात्। *बालेयास्तण्डुला इति*। कथं पुनरत्र प्रकृतिविकृतिभावः, यदा बल्यवस्थायामपि त एव तण्डुलाः? नावश्यं यत्प्रकृत्युपमर्देनैव भवति स एव विकारः, तदेव गुणान्तरयुक्तमपि विकारः। अस्ति च बल्यवस्थायां हरिद्रायोगेन तण्डुलानां गुणान्तरयोगः, अन्ततः प्रक्षालनेन श्वैत्यमार्द्रता मार्दवं सन्निवेशविशेषो वा भवति। *उपधिशब्दात्स्वार्थे प्रत्यय इति*। इष्टिरेषा। किं पुनः कारणमधिकारप्राप्तो नेष्यते? इत्याह—*उपधीयत इत्युपधिरित्यादि*।

न्यासः

रम्भकाणि; अस्ति दोषापगमे—प्रकृतिस्थोऽयमिति। अस्ति स्वभावे—प्रकृत्याभिरूप इति; अस्ति धर्माणामुत्पत्त्याधारे, यथा—दर्शपौर्णमासौ धर्माणां प्रकृतिरिति। तदेवमर्थबहुत्वादनयोः सम्बन्धित्वमनैकान्तिकमिति, अतोऽन्यतरग्रहणे न सिध्यति। न चान्यतरेण शक्यते वक्तुं विवक्षितः प्रकृतिविकारभावः। अयमुपादानकारणस्य तदुत्तरावस्थाभूतस्य च यो विकारः स इह वेदितव्यः। यदि तु विपूर्वः करोतिरनेकार्थः, 'तस्य विकारः' इत्यत्रापि सन्देहापगमाय तर्हि प्रयतितव्यम्? सत्यमेतत्; शैलीयमाचार्यस्य यस्य क्वचिदभिधानमाश्रयति, क्वचिन्न्यायम्, क्वचिद्वचनमिति तत् सर्वमुच्यते। तेन सर्वं प्रत्याय्यते॥

छदिरुपधिबलेर्ढञ् ॥ यदा छदिश्चर्मविकारो विवक्ष्यते तदापि ढञेवेष्यते—छादिषेयश्चर्मेति। ननु च परत्वात् 'चर्मणोऽञ्' इत्यञ् प्राप्नोति? नैष दोषः, 'चर्मणोऽञ्' इत्यत्र छदिषो ढञनुवर्त्तिष्यते।

यथा छदिःशब्दाद् बलिशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् प्रकृतिविकारभावे प्रत्यय उपजायते, तथोपधिशब्दादपि भवितव्यमित्याशङ्कयाह—उपधिशब्दादित्यादि। अत्र

ऋषभोपानहोर्ञ्यः ॥ १४ ॥

ऋषभ, उपानह्—इत्येताभ्यां ञ्यः प्रत्ययो भवति 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । आर्षभ्यो वत्सः । औपानह्यो मुञ्जः ।

पदमञ्जरी

यदेव हि तद्रथाङ्गमुपधीयमानत्वादुपधिशब्देन कर्मणि किप्रत्ययान्तेनोच्यते, यद्यपि तस्य प्रकृतिरस्ति, तथापि तत्र न ढञन्तं वर्तते, किं तर्हि ? तत्रैव हि रथाङ्गे । स्वभावश्चात्र हेतुः, न च तदेव तस्य प्रकृतिर्भवति, अतः स्वार्थे प्रत्यय एषितव्यः । अथायमुपधानमुपधिरिति ? क्रियावचन उपधिशब्दस्तादर्थ्यमपि सम्भवति, उपधानक्रियार्थत्वाद् द्रव्यस्येत्युच्यते । एवमपि क्रिया विकारो न भवति, क्रियापि विकारो भवति; बहुविकारोऽयं मनुष्यो हसति नृत्यति गायतीति दर्शनात् ? सत्यम्; 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यत्र तु विशिष्ट एव प्रकृतिविकारभावो गृह्यते—यत्र प्रकृतेरुच्छेदः, यत्र वा रूपान्तरापत्तिः । अत एव तत्र विवक्षितः प्रकृतिविकारभाव इत्युक्तम् ॥

ऋषभोपानहोर्ञ्यः ॥ *आर्षभ्यो वत्स इति* । महाप्राणः संहननवान् सुजातावयवो यो वत्स ऋषभावस्थाप्राप्तये पोष्यते । *चर्मण्यपीति* । ञ्यस्यावकाशः—औपानह्यो मुञ्जः,अञोऽवकाशः—वाह्यं चर्म,उपानच्छब्दाच्चचर्मणि प्रकृतित्वेन विवक्षिते सति परत्वादञ्प्राप्नोति पूर्वविप्रतिषेधेन ञ्य एव भवति । ये तु सावकाशत्वे सत्यपि प्रतिपदविधानं बलीयस्त्वे कारणमाहुः, तेषामयं पूर्वविप्रतिषेधोऽसङ्गतः स्यात् ॥

न्यासः

युक्तिमाह—**उपधीयत इत्यादि** । तेन 'कर्मण्युपसर्गे घोः किः' इति दर्शयति । तेन च द्रव्यस्यानासादितोत्तरावस्थस्याभिधानम् । यद्युपधिशब्दाद् विकृतिवाचिनः स्यात्,एवमर्थान्तरे स्यात् । न चासौ प्रकृतिविशेषे भवति । न तूपधिशब्दाद् वाच्यस्य प्रत्ययान्तरस्य प्रकृतिविकारभावोऽस्ति, अभेदात् । तथा हि—यदेव रथाङ्गमुपधिशब्देनोच्यते तदेवानासादितोत्तरावस्थमौपधेयशब्देनापि । स्यादेतत्—यदा भावसाधन उपधिशब्द उपधानमुपधिरिति तदा नास्ति भेदः, क्रियाभिधानात्; यदाप्युपधिशब्देन क्रियाद्रवस्य विकार उच्यते तदौपधेयशब्देन च तत्प्रकृति द्रव्यम्, अतः प्रकृतिविशेषे परप्रत्ययो भविष्यतीति ? एतच्चायुक्तम्; न हि क्रियाद्रव्यस्य विकारो युज्यते; अत्यन्तभेदात् । तस्मात् स्वार्थ एवोपधिशब्दात् प्रत्ययो विज्ञायते ॥

ऋषभोपानहोर्ञ्यः ॥ **चर्मण्यपीत्यादि** । ञ्यस्यावकाशः—औपानह्यो मुञ्जः, अञोऽवकाशः—वार्ध्रम्, वारत्रम्; चर्मणि प्रकृतित्वेन विवक्षिते सत्युभयप्राप्तौ पूर्वविप्रतिषेधेन ञ्य एव भवति—औपानह्यं चर्मेति ॥

चर्मण्यपि प्रकृतित्वेन विवक्षिते पूर्वविप्रतिषेधादयमेवेष्यते—औपानह्यं चर्म ।

चर्मणोऽञ् ॥ १५ ॥

'चर्मणः' इति षष्ठी । चर्मणो या विकृतिः तद्वाचिनः प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्येतस्मिन्विषये । छस्यापवादः । वार्ध्रं चर्म । वारत्रं चर्म ॥

तदस्य तदस्मिन्स्यादिति ॥ १६ ॥

'तत्' इति प्रथमा समर्थविभक्तिः, 'अस्य' इति प्रत्ययार्थः, 'स्यात्' इति प्रकृतिविशेषणम् । इतिकरणो विवक्षार्थः । एवं द्वितीयेऽपि वाक्ये । सप्तम्यर्थे तु प्रत्यय इत्येतावान्विशेषः । प्रथमासमर्थात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं स्याच्चेत्तद्भवति । इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा । प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादीयं दारु । सप्तम्यर्थे खल्वपि—प्राकारोऽस्मिन्देशे स्यात् प्राकारीयो देशः । प्रासादीया भूमिः ।

स्यादिति संभावनायां लिङ् 'संभावनेऽलमिति चेत्' इत्यादिना,

पदमञ्जरी

चर्मणोऽञ् ॥ *चर्मण इति षष्ठीति* । पञ्चम्यां तु चर्मन्शब्दाच्चर्मार्थायां प्रकृतौ प्रत्ययः स्यात्—चर्मणे द्वीपीत्यादौ, न चैवमभिधानमस्ति ॥

तदस्य तदस्मिन् स्यादिति ॥ *सम्भावने लिङिति* । 'सम्भावनेऽलमिति च' इत्यादिना । *इष्टकानां बहुत्वेनेत्यादिना* सूत्रार्थमुदाहरणेषु दर्शयति ।

न्यासः

चर्मणोऽञ् ॥ **चर्मण इति** परपञ्चमी वा स्यात् ? षष्ठी वा ? यदि पञ्चमी, चर्मण एव प्रत्ययो भवेत्, न चर्मविकारवाचिभ्यः । एतच्च कुतो लभ्यते ? अनभिधानात् । तथा हि प्रकृतिविशेष एव प्रत्यय इष्यते । न च चर्मशब्दादुत्पन्ने प्रत्यये विवक्षितार्थस्याभिधानमस्ति । तस्मान्नेयं पञ्चमी, अपि तु षष्ठी ।

तदस्य तदस्मिन् स्यादिति ॥ द्वितीयाशङ्कामपनिनीषुराह—तदित्यादि । अस्तेरकर्मकत्वादित्यभिप्रायः । अवयवार्थपूर्वत्वादवयव्यर्थस्येत्याह—अस्येत्यादि । करोतीति करणः । कर्त्तरि बहुलवचनाल्ल्युट् । इतिश्चासौ करणश्चेति कर्मधारयः । 'सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' इति ।

इष्टकानां बहुत्वेन तत्संभाव्यते। प्राकार आसामिष्टकानां स्यादिति। देशस्य च गुणेन संभाव्यते—प्रासादोऽस्मिन्देशे स्यादिति।

प्रकृतिविकारभावस्तादर्थ्यं चेह न विवक्षितम्, किं तर्हि? योग्यतामात्रम्; तेन पूर्वस्यायमविषयः। द्विस्तद्ग्रहणं न्यायप्रदर्शनार्थम्। अनेकस्मिन्प्रत्ययार्थे प्रत्येकं समर्थविभक्तिः सम्बन्धनीयेति।

अथेह कस्मान्न भवति—प्रासादो देवदत्तस्य स्यादिति? गुणवानयं सम्भाव्यते, प्रासादलाभोऽस्येति। 'इतिकरणो विवक्षार्थः' इत्युक्तम्॥

पदमञ्जरी

प्रकृतिविकारभाव इत्यादिना 'तदर्थं विकृतेः' इत्यादिना सिद्धिं दर्शयन्सूत्रारम्भं समर्थयते। *योग्यतामात्रमिति*। तथा चान्यार्थास्वपीष्टकासु वक्तारो भवन्ति—प्राकारीया इष्टका इति। *द्विस्तद्ग्रहणमित्यादि*। ननु विपरीतमिदम्, प्रत्येकं सम्बन्धे ह्यत्र द्विस्तद्ग्रहणमनर्थकम्, अतोऽत्र द्विस्तद्ग्रहणादन्यत्र समुदायेन सम्बन्धो युक्त इति? सत्यम्; अयमपि तु प्रकारः सम्भवतीति न्यायप्राप्तं प्रत्येकं सम्बन्धमस्मिन्सूत्रे स्थित्वा उदाहरणरूपेण दर्शयतीति तदिदमुक्तम्। *न्यायप्रदर्शनार्थमिति*। प्रदर्शनं दिगुदाहरणमित्यर्थः। यदि पुनरयं न्यायोऽत्र न प्रदर्श्येत, तदा 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यत्र समुदायेन समर्थविभक्तिसम्बन्धो विज्ञायेत, ततश्च शाखावान्वृक्ष इत्यादौ यत्र द्वाभ्यां प्रत्ययार्थाभ्यां समर्थविभक्तेः सम्बन्धः सम्भवति, तत्रैव स्यात्; यत्र त्वन्यतरेण सम्बन्धः—गोमान्देवदत्तो वृक्षवान्पर्वत इति, तत्र न स्यात्।

अथेहेति। यदा ब्राह्मणार्थं निर्मितं प्रासादं गुणवन्तं च देवदत्तं पश्यन्सम्भावयति तदा तस्य प्रसङ्गः॥

न्यासः

ननु च प्राकारीया इष्टकाः, प्रासादीयं दार्विति च पूर्वेणैव सिद्धम्, तथा हि—यासामिष्टकानां यस्य च दारुणो बहुत्वेन प्राकारः प्रासादश्च सम्भाव्यते, तासामिष्टकानां तस्य च दारुणो यथासंख्येन प्राकारप्रसादौ विकारौ भवतः, तादर्थ्यञ्चेष्टकानां दारूणाञ्चास्तीवेत्यत आह—प्रकृतिविकार इत्यादि। गतार्थम्।

द्विस्तद्ग्रहणमित्यादि। इत्येष न्यायोऽनेन प्रदर्श्यते। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इत्यादौ नैकः प्रत्ययार्थः। तत्र तत्समुदायेन समर्थविभक्तेः सम्बन्धो विज्ञायते। ततश्च यत्र द्वाभ्यां प्रत्ययार्थाभ्यां समर्थविभक्तेः सम्बन्धः सम्भवति--शाखावान् वृक्ष इत्यादौ, तत्रैव तत् स्यात्। यत्र त्वन्यतरेणैव सम्बन्धः--गोमान् देवदत्तः, वृक्षवान् पर्वत इत्यादौ, तत्र न स्यात्। अस्मिंस्तु न्याये प्रदर्शिते सर्वत्र भवति।

परिखाया ढञ् ॥ १७ ॥

परिखाशब्दाद् ढञ् प्रत्ययो भवति 'तदस्य तदस्मिन्स्यादिति' एतस्मिन्नर्थे । छस्यापवादः । पारिखेयी भूमिः ।

छयतोः पूर्णोऽवधिः । इतः परमन्यः प्रत्ययो विधीयते ॥

प्राग्वतेष्ठञ् ॥ १८ ॥

'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्वतिसंशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः ठञ् प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति–'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति' । पारायणिकः । तौरायणिकः । चान्द्रायणिकः ॥

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ॥ १९ ॥

'तदर्हति' इति वक्ष्यति । आ एतस्मादर्हसंशब्दनाद्यानित ऊर्ध्व-

पदमञ्जरी

प्राग्वतेष्ठञ् ॥ वक्ष्यति पारायणतुरायणेति । अत्र तु प्रदेशेऽस्य करणमुत्तरसूत्रे येषां पर्युदासस्तेभ्यष्ठञ्यथा स्यादिति–गौपुच्छिकः, साम्प्रतिकः । ठञित्येवाधिकारे सिद्धे 'प्राग्वतेः' इति वचनं मध्ये योऽधिकारवानपवादः 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ', 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' इत्येवमादिस्तेन विच्छेदेऽपि 'पारायणतुरायण' इत्येवमादौ ठञेव यथा स्यादित्येवमर्थम् । यद्यप्यत्र प्रत्ययोऽवधित्वेन गृहीतः, तथाप्यर्थेष्वेवोपतिष्ठते, न तु प्रकृतिषु; तेनापवादविषये न भवति । तथा च 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इत्यन्यतरस्यांग्रहणमर्थवद्भवति ॥

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ॥ तदर्हतीति वक्ष्यतीति । तदेकदेशोऽर्हशब्दो निर्दिश्यत इति भावः, तदाह—*आ एतस्मादर्हसंशब्दनादिति* । तदर्हमित्ययं

न्यासः

परिखाया ढञ् ॥ परिखाशब्देन चात्र खेयमुच्यते[1] ।

प्राग्वतेष्ठञ् ॥ प्राग्वचनम् 'शीर्षच्छेदाद् यच्च', 'दण्डादिभ्यो यः' इत्येवमादिनाधिकारवता ठञि विच्छिन्ने 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति' इत्येवमादावर्थनिर्देशे ठञेव यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ॥ 'तदर्हति' इत्येको विधिः, 'तदर्हम्' इति द्वितीयः; तत् कस्येहावधित्वेनोपादानम् ? इत्याह–तदर्हतीत्यादि । इतरस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति ? एवं मन्यते—यदि तस्य ग्रहणमभिप्रेतं स्यात् 'प्राग्वतेः' इत्यनेनैव

१ 'कोकोच्यते' इति पाठः, परं केयं कोका ? कोशेषु कोकशब्द एवोपलभ्यते, स च पुंल्लिङ्गः । यथा–'कोको वृके चक्रवाके खजूरीद्रुमभेकयोः' इति हैमः ।

मनुक्रमिष्यामः ठक् प्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः, गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा। अभिविधौ वायमाकारः, तेनार्हत्यर्थोऽपि ठग्भवत्येव। ठञधिकारमध्ये तदपवादः ठग्विधीयते। वक्ष्यति—'तेन क्रीतम्। नैष्किकम्। पाणिकम्'।

अगोपुच्छसंख्यापरिमाणादिति किम्? गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्।

संख्या—षाष्टिकम्। परिमाण—प्रास्थिकम्। कौडविकम्। ठञ् प्रत्युदाह्रियते।

पदमञ्जरी

त्ववधिर्न भवति, यदि स्यादार्हादित्यनर्थकम्; प्राग्वतेरित्येव सिद्धत्वात्। ननु च वत्यर्थेऽपि ठको विधिर्यथा स्यादित्येयमर्थमार्हादिति वचनं स्याद्? एवमप्याङ एव निर्देशः कर्त्तव्यो वतेरित्येवाभिविधावाकारः। एवमपि 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इत्यत्रापि वत्यर्थे ठक्प्राप्नोति। तस्माद्व्याख्यानमेवात्र शरणम्। *गोपुच्छादीन्वर्जयित्वेति*। अगोपुच्छशब्दात्सङ्ख्यावाचिनः परिमाणशब्दाच्चेत्ययं त्वर्थो न भवति। यदि स्यान्निष्कादिषु द्रोणशब्दस्य परिमाणवाचिनः षष्टिशब्दस्य सङ्ख्यावाचिनः पाठोऽनर्थकः स्याद्? अनेनैव सिद्धत्वान्नानर्थकः। नियमार्थं पुनर्वचनं स्यात्—असमासएव यथा स्यादिति? नैतदस्ति; विधिनियमसम्भवे विधेरेव ज्यायस्त्वात्। *अभिविधौ वायमाकार इति*। यदि तु मर्यादायां स्यात्तस्य ग्रहणमनर्थकं स्यात्, प्राग्ग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धत्वात्, तेन किं सिद्धं भवति? तदाह—*अर्हत्यर्थेऽपि ठग्भवत्येवेति*।

न्यासः

सम्बन्धं कुर्यात्, न 'आर्हात्' इत्यनेन। ननु च वत्यर्थेऽपि ठग्विधिर्यथा स्यादित्येवमर्थमार्हादिति वचनं स्यात्, अस्ति तस्मिंष्ठञ इव ठकः प्राग्वतेर्व्यापार इति विज्ञायते? नैतदस्ति; यद्यपि वत्यर्थेऽपि ठगधिक्रियते, तथापि तत्र तेन न भवितव्यम्; प्रतिपदविहितेन वतिना बाधितत्वात्, अनभिधानाद्वा। तस्मादर्हतिशब्दैकदेशस्यैवार्हशब्दस्यावधित्वं न्याय्यम्। गोपुच्छादीन् वर्जयित्वेति। कथं पुनरेतज्ज्ञायते—अगोपुच्छादिति प्रतिषेधोऽयमिति? अन्यस्यार्थस्येहासम्भवात्। ननु चायमर्थः स्याद्—अगोपुच्छशब्दात् संख्यायाः परिमाणाच्चेति? अशक्योऽयमर्थ इह सम्भावयितुम्। यदि ह्ययमर्थः स्यात्, निष्कादिभ्यः परिमाणादेव सिद्धत्वात् पुनर्वचनमनर्थकं स्यात्। ननु च नियमार्थं पुनर्वचनं स्यात्—असमास एव यथा स्यादिति? नैतदस्ति; न हि विधौ सति नियमार्थता युक्ता। नियमे हि सत्यवक्तव्यस्य त्यागाच्छब्दबाधनम्। किञ्च, सिद्धञ्च पुनर्वचनमुपादीयत इति, उक्तानुवादे दोषश्च। विधौ तु न शब्दबाधनम्, नानुवाददोष

संख्यापरिमाणयोः को विशेषः ? भेदगणनम्=संख्या, एकत्वादिः। गुरुत्वमानम्=उन्मानं पलादिः। आयाममानम्=प्रमाणं वितस्त्यादिः। आरोहपरिणाहमानम्=परिमाणं प्रस्थादिः॥

पदमञ्जरी

सङ्ख्यापरिमाणयोः को विशेष इति। परिमीयते परिच्छिद्यते येन तत्परिमाणम्, सङ्ख्यापि च परिच्छिद्यते इति प्रश्नः। *भेदगणनं सङ्ख्येति*। भिद्यत इति भेदः, मिथो भिन्नाः पदार्थाः ते गण्यन्ते येन तद् भेदगणनम्। एकत्वादिसङ्ख्यासामान्योपक्रमत्वाद् भेदगणनी संख्येति न भवति, भेदगणनमित्यनेन पृथक्त्वनिवेशितत्वमाह। यथोक्तं पृथक्त्वनिवेशितत्वात्सङ्ख्यया कर्मभेदः स्यादिति। एकत्वसङ्ख्यापि बहुषु बुद्धया सन्निवेशितेषु भेदमेकमसहायमाह। एतदुक्तं भवति—एको घट इत्यत्रापि द्व्यादिनिरासाद् भेदावगतिरस्त्येवेति। *गुरुत्वमानमुन्मानमिति*। तुलादावारोप्य येन द्रव्यान्तरपरिच्छिन्नगुरुत्वेन पलादिशब्दवाच्येन पाषाणादिना सुवर्णादेर्गुरुत्वमुन्मीयते, तदुन्मानमित्यर्थः। *आयाममानं प्रमाणमिति*। आयामः=दैर्घ्यम्, स येन मीयते तदायाममानम्। एतच्च क्वचित्तिर्यगभिमुखस्य वस्तुनो भवति, यथा—वस्त्रादेर्हस्तादि, क्वचिदूर्ध्वाधरदिगवस्थितस्य भवति—हास्तिनमुदकम्, ऊरुद्वयसमुदकमिति। *आरोहपरिणाहमानं परिमाणमिति*। आरोहः=उच्छ्रायः, परिणाहः=विस्तारः; ताभ्यामारोहपरिणाहाभ्यां स्वगताभ्यां येन काष्ठादिनिर्मितेन व्रीह्यादि परिमीयते तत्परिमाणम्। परिः सर्वतोभावे, संख्यापरिमाणयोर्विशेषे पृष्ठे उन्मानादविशेषप्रदर्शनं प्रसङ्गेन तद्विशेषस्याप्यज्ञानस्यापनयनार्थम्।

न्यासः

इति। विधिनियमसम्भवविचारे विधिनैव युक्तं भवितुम्। तस्मादन्यस्येहार्थस्यासम्भवात् 'अगोपुच्छात्' इति प्रतिषेधोऽयमिति विज्ञायते। ज्ञापकात्प्रकृतिरत्र न विवक्ष्यते, यदयम् 'लोकसर्वलोकाट्ठञ्' इति ठको निवृत्त्यर्थं ठञं करोति। अभिविधावयमाकार इति। मर्यादायां हि वर्त्तमानस्याकारस्यात्र ग्रहणमनर्थकं स्यात्, प्राग्ग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धत्वात्। अभिविधिवृत्तेराकारस्य ग्रहणे सति यदिष्टं सम्पद्यते, तद्दर्शयितुमाह—**अर्हत्यर्थेऽपि ठग् भवतीति**।

भेदगणनं संख्येति। भिद्यन्त इति भेदाः, भिन्नाः पदार्थाः, ते गण्यन्ते संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते येन तद् भेदगणनम्, एकत्वादि। संख्याभेदे हि सति पदार्थानुसङ्कल्पनमेकत्वादिभिः क्रियते। एकत्वसंख्यापि बहुषु सन्निवेशितेषु भेदमेकमसहायमाह। **गुरुत्वमानमुन्मानमिति**। सुवर्णादेर्वस्तुनो गुरुत्वमुत्क्षिप्यते, येन तदुन्मानं तुलादि। **आयाममानं प्रमाणमिति**। तिर्यगभिमुखस्य वस्तुनो येनायामपरिच्छेदः क्रियते तत् प्रमाणम्, वितस्त्यादि। **आरोहपरिणाहमानं परिमाणमिति**। आरोहतः परिणाहतश्च मीयते व्रीह्याद्यर्थो येन तत्परिमाणम्। आरोहः=उच्छ्रायः, परिणाहः=विस्तारः।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात्संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥

असमासे निष्कादिभ्यः ॥ २० ॥

'आर्हात्' इत्येव । निष्कादिभ्यः शब्देभ्योऽसमासे ठक्प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु । ठञोऽपवादः । नैष्किकम् । पाणिकम् । पादिकम् । माषिकम् ।

असमास इति किम् ? परमनैष्किकम् । उत्तमनैष्किकम् । ठञेव भवति, 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

अथ किमर्थमसमास इत्युच्यते, यावता ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः प्रतिषिध्यते ? निष्कादिष्वसमासग्रहणं ज्ञापकम्—पूर्वत्र तदन्ताप्रतिषेधस्य । 'उगवादिभ्यो यत्'—गव्यम्, सुगव्यम्, अति-

पदमञ्जरी

ऊर्ध्वमानमिति । ऊर्ध्वारोपणाद् गुरुत्वमानमुन्मानमिति पूर्वोक्त एवार्थः । *किल*शब्दः प्रसिद्धौ । *परिमाणं तु सर्वत इति* । ऊर्ध्वमानमित्युपसमस्तमपि मानमित्येतदत्रापेक्ष्यते । एतदर्थमेव केचिद् ऊर्ध्वं *मानमिति* व्यस्तं पठन्ति । *आयामस्येति* । मानमित्यपेक्ष्यते, कर्मणि षष्ठी । प्रसिद्धस्तु पाठः *आयामस्त्विति* । तत्रायामपरिच्छेद्यार्थ उपचारादायामशब्देनोक्तः । *सङ्ख्या बाह्या तु सर्वत इति* । पूर्वोक्तादुन्मानादेः सर्वतो बाह्या, तत्रानन्तर्भावात् । तस्याश्च संख्यायतेऽनयेति निर्वचनं भेदगणनलक्षणत्वं व्याख्यातव्यमित्यनुसन्धातव्यम् ॥

असमासे निष्कादिभ्यः ॥ *ठञोऽपवाद इति* । येन नाप्राप्तिन्यायेन निष्कादिभ्यो हि द्रोणपर्यन्तेभ्यः परिमाणशब्दात्षष्ठिशब्दाट्ठकः पर्युदासे ठञेव प्राप्नोति, अतस्तस्यैवायमपवादः ।

तदन्ताप्रतिषेधस्येति । तदन्तविधावप्रतिषेधस्येत्यर्थः । यदि तर्हि तदन्ता-

न्यासः

संख्यापरिमाणयोर्भेदे पृष्टे यदुन्मानादीनां विशेषप्रदर्शनं तत्प्रसंगेन तद्विषयस्याज्ञानस्यापनयनार्थम् । संग्रहेण किलशब्द एवमादिमतमाचार्याणामित्यर्थं सूचयति । **सर्वत इति** । आरोहतः परिणाहतश्चेत्यर्थः । **संख्या बाह्या तु सर्वत इति** । उन्मानात् परिमाणात् प्रमाणाच्च संख्या बाह्या; तत्रानन्तर्भावात् ॥

असमासे निष्कादिभ्यः ॥ **ठञोऽपवाद इति** । येन नाप्राप्तिन्यायेन । निष्कादिभ्यो द्रोणपर्यन्तेभ्यः परिमाणशब्दत्वात् षष्टिशब्दस्य संख्याशब्दत्वाट् ठकि पर्युदस्ते ठञेव प्राप्नोति, अतस्तस्यैवायमपवादः । **तदन्ताप्रतिषेधस्येति** । तदन्तविधेरप्रतिषेधस्ये-

सुगव्यम् । 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः'—अपूप्यम्, अपूपीयम् । यवापूप्यम्, यवापूपीयम् । 'शरीरावयवाद्यत्'—दन्त्यम्, राजदन्त्यम् इत्येवमादि सिद्धं भवति ।

इत उत्तरं च संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरिष्यते । 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति'—द्वैपारायणिकः, त्रैपारायणिकः । लुगान्तायास्तु प्रकृतेर्नेष्यते । द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम् । त्रिशूर्पम् । द्विशूर्पेण क्रीतमिति तदन्तविधिप्रतिषेधात् 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इत्यञ् न भवति, सामान्यविहितष्ठञेव भवति । द्विशौर्पिकम् ।

पदमञ्जरी

त्प्रत्ययो विज्ञायते, एवं तर्हि 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति केवलेभ्यो नोपपद्यते ? नैष दोषः; असमासग्रहणेन हि ग्रहणवत्परिभाषाया निवृत्तिराख्याता, तन्निवृत्तौ 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति तदन्तता, अत्र स्वस्य च रूपस्य प्रकृतत्वात्केवलादपि भवति । यस्तु मन्यते—पूर्वत्रोपादानसामर्थ्यात्केवलादपि स्यादिति, तस्य हि लाघवार्थं केवलानां पाठः स्यादिति यत् किञ्चिदेतत् ।

इत उत्तरं चेति । कथं पुनरिष्यमाणोऽपि तदन्तविधिर्लभ्यते, यावता 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न भवति' इति प्रतिषिध्यते ? अस्याः परिभाषाया अनित्यत्वं च तस्या गर्गादिषु 'वाजासे' इति समासप्रतिषेधाद् गम्यते । नित्यत्वे हि सति वाजशब्दादुत्पद्यमानस्य प्रत्ययस्य समासे प्राप्तिरेव नास्तीति समासे प्रतिषेधं न कुर्यात् । *द्विशूर्पमिति* । द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतमिति तद्धितार्थे द्विगुं कृत्वा न तावदेषा लुगन्ता प्रकृतिरिति 'संख्यापूर्वपदा-

न्यासः

त्यर्थः । यदि तर्हि तदन्तात् प्रत्ययो विज्ञायते, एवं तर्हि 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति केवलेभ्यः प्रत्ययो नोपपद्यते ? नैष दोषः; असमासग्रहणेन हि ग्रहणवत्परिभाषाया निवृत्तिराख्याता, निवृत्तायाञ्च 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति तदन्ताद्भवति । तत्र च 'स्वस्य च रूपस्य' इति प्रकृतत्वात् केवलादपि भवति । यत्तु मन्यते—'अपूर्वोपादानसामर्थ्यात् केवलादिति लाघवार्थं केवलानां पाठः स्यात्' इति, यत्किञ्चिदेतत् ।

इत उत्तरञ्चेत्यादि । कथं पुनरिष्यमाणोऽपि तदन्तविधिर्लभ्यते, यावता 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' इति प्रतिषिध्यते ? अस्याः परिभाषाया अनित्यत्वात् । अनित्यत्वं तु तस्या गर्गादिषु 'वाजासे' इति समासे प्रत्ययप्रतिषेधाद् गम्यते । नित्यत्वे हि वाजशब्दादुत्पद्यमानस्य प्रत्ययस्य समासे प्राप्तिरेव नास्तीति प्रतिषेधं कुर्यात् । **द्विशूर्पमिति** । द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतमिति तद्धितार्थे द्विगुं कृत्वा । न

ठञो द्विगुं प्रत्यनिमित्तत्वाल्लुगभावः । तथा चोक्तम्—'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इति ।

निष्क । पण । पाद । माष । वाह । द्रोण । षष्टि । निष्कादिः ॥

शताच्च ठन्यतावशते ॥ २१ ॥

'आर्हाद्' इत्येव । शतशब्दात् ठन्यतौ प्रत्ययौ भवतः अशतेऽभिधेये, आर्हीयेष्वर्थेषु । कनोऽपवादः । शतेन क्रीतं शतिकम् । शत्यम् ।

अशते इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकं निदानम् । प्रत्ययार्थोऽत्र सङ्घः । शतमेव वस्तुतः प्रकृत्यर्थान्न भिद्यते । इह तु न भवति—

पदमञ्जरी

दपि 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इत्यञेव क्रियते, तस्य 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति लुक् । *द्विशौर्पिकमिति* । 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' इत्युत्तरपदवृद्धिः । यदुक्तम्—'इत उत्तरं संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरिष्यते' इति, यच्चोक्तम्—'लुगन्तायास्तु प्रकृतेर्नेष्यते' इति, तदुभयमाप्तागमेन स्थिरीकर्तुमाह—*तथा चोक्तमित्यादिना* ॥

शताच्च ठन्यतावशते ॥ *कनोऽपवाद इति* । उत्तरसूत्रेण प्राप्तस्य ।

शतकमिति । 'तदस्य परिमाणम्' इति वर्त्तमाने 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' इति संघे प्रत्ययार्थे विवक्षिते उत्तरसूत्रेण कनेव भवति । *प्रत्ययार्थोऽत्र सङ्घ इति* । शतमध्यायानां परिमाणं यस्य निदानाख्यस्य ग्रन्थस्य स इह प्रत्ययार्थः, स च शतसंख्यावच्छिन्नाध्यायसमुदायात्मक इति संघः प्रत्ययार्थो भवति । *शतमेव वस्तुत इति* । शतात्तस्यानन्यत्वात् ततश्च प्रकृत्यर्थान्न भिद्यते, यदेवाध्यायानां शतं प्रकृत्याभिधीयते प्रत्ययान्तेनापि तदेवेति

न्यासः

तावदेषा लुगन्ता प्रकृतिरिति संख्यापूर्वपदादपि 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इत्यञेव क्रियते, तस्य 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्' इति लुक् । द्विशौर्पिकमिति । 'परिमा०ान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' इत्युत्तरपदवृद्धिः । यदुक्तम्—'संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरितीष्यते' इति, यच्चोक्तम्—'लुगन्तायास्तु प्रकृतेर्नेष्यते' इति, तदुभयमाप्तागमेन स्थिरीकर्तुमाह—तथा चोक्तमित्यादि ॥

शताच्च ठन्यतावशते ॥ **कनोऽपवाद इति** । उत्तरसूत्रेण प्राप्तस्य । **श[त]कमिति** । 'तदस्य परिमाणम्' इति वर्त्तमाने 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति सङ्घे प्रत्ययार्थे विवक्षित उत्तरसूत्रेण कन्नेव भवति ।

प्रत्ययार्थोऽत्र सङ्घ इति । शतमध्यायानां परिमाणं यस्य निदानाख्यग्रन्थस्य, स चेह प्रत्ययार्थः । स च शतसंख्यान्यवच्छिन्नाध्यायसमुदायात्मक इति सङ्घ एव

शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतम्, शतिकं शाटकशतमिति । वाक्येन ह्यत्र प्रत्ययार्थस्य तत्त्वं गम्यते, न श्रुत्या । तथा चोक्तम्—'शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेधः' इति ।

पदमञ्जरी

नेह प्रकृत्यर्थात्प्रत्ययार्थस्य भेदः । एतेन यत्राव्यतिरिक्तः प्रत्ययार्थात्प्रकृत्यर्थस्तत्र प्रतिषेधो भवति, न व्यतिरिक्त इत्येतदाख्यातम् । ननु च 'संघे चानौत्तराधर्ये', 'सङ्ख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' इत्यत्र च प्राणिसमूहे संघशब्दो गृह्यते, तत्कथमत्र ग्रन्थविषयो गृह्यते ? उपचारेणेत्यदोषः । यदि वा संज्ञासंघसूत्रे शब्दसाहचर्याद्विशिष्टः संघो गृह्यते, 'संघे चानौत्तराधर्ये' इत्यत्रापि 'छन्दोनाम्नि' इत्यतश्छन्दोग्रहणानुवृत्तेः प्राणी गृह्यते । इह तु यत्नान्तराभावाद्ग्रन्थस्यापि ग्रहणमित्यदोषः । ननु च शतेऽभिधेये न भवितव्यम्, इह च शत्यं शाटकशतम्, शतिकं शाटकशतमित्युक्ते शतं प्रतीयत एव तत्किमिति प्रतिषेधो न भवति ? इत्यत आह—*वाक्येनेत्यादि* । शत्यशतिकशब्दौ सामान्यशब्दौ, सामान्यशब्दाश्च प्रकरणादिकमन्तरेण न विशेषे वर्त्तन्ते । न यावच्छाटकशतमित्येतत्पदान्तरं प्रयुज्यते तावत्प्रत्ययार्थस्य शतत्वं नावसीयते । तस्मात्पदान्तरसन्निधौ गम्यमानत्वाद्वाक्यार्थोऽसौ भवति । न *श्रुत्येति* । गम्यते इति सम्बन्धः । यत्र प्रत्ययान्तेन पदान्तरनिरपेक्षेण प्रत्ययार्थस्य शतत्वमाख्यायते, तत्र श्रुत्या प्रत्यया-

न्यासः

प्रत्ययार्थो भवति । शतमेव वस्तुत इति । अध्यायशतस्यानन्यार्थत्वात् ततश्च प्रकृत्यर्थात् न भिद्यते । तदेव ह्यध्यायानां शतं प्रकृत्याभिधीयते, प्रत्ययान्तेनापि तदेवेति नेह प्रकृत्यर्थात् प्रत्ययार्थभेदः । तदेतेन यत्र चाव्यतिरिक्तः प्रकृत्यर्थात् प्रत्ययार्थस्तत्र प्रतिषेधो भविष्यति । न च व्यतिरिक्त इत्येतदाख्यातम् । ननु च 'सङ्घे चानौत्तराधर्ये', 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इत्यत्र च प्राणिसमूहे सङ्घशब्दो गृह्यते, तत्र कथं ग्रन्थविषयो गृह्यते ? उपचारेणेत्यदोषः । यदि वा संख्यासूत्रे संज्ञाशब्दसाहचर्याद् विशिष्टः सङ्घो गृह्यते । 'संघे चानौत्तराधर्ये' इत्यत्रापि 'छन्दोनाम्नि च' इत्यतो नामग्रहणानुवृत्तेः प्राणिसङ्घो गृह्यते । इह तु यत्नाभावाद् ग्रन्थस्यापि ग्रहणमित्यविशेषः । इह त्वित्यादि । ननु च शतेऽभिधेये प्रतिषेधेन भवितव्यम्, इह च शत्यं शाटकशतम्, शतिकं शाटकशतमित्युक्ते शतं प्रतीयत एव, तत् किमिति प्रतिषेधो न भवति ? इत्याह—वाक्येनेत्यादि । शत्यशतिकशब्दौ हि सामान्यशब्दौ, सामान्यशब्दाश्च न प्रकरणादिकमन्तरेण विशेषे वर्त्तन्ते । तेन यावच्छाटकशतमित्येतत्पदान्तरं न प्रयुज्यते, तावत् प्रत्ययार्थस्य शतत्वं नावसीयते । तस्मात् पदान्तरसन्निधौ गम्यमानत्वात् पदान्तरार्थो भवति, न प्रत्ययार्थः । न श्रुत्येति ।

चकारोऽसमास इत्यनुकर्षणार्थः । द्वौ च शतं च द्विशतम्, द्विशतेन क्रीतं द्विशतकम् । त्रिशतकम् ।

'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इत्यनया इष्टया समासादपि प्राप्नोति ॥

संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ॥ २२ ॥

'आर्हात्' इत्येव । संख्याया अत्यन्ताया अशदन्तायाश्च कन्प्रत्ययो

पदमञ्जरी

न्तश्रवणमात्रेणैव गम्यते, यथा प्रत्युदाहरणे शतं परिमाणमस्य शतकमित्युक्ते गम्यते—एतत्प्रत्ययार्थोऽपि शतमेवेति । इह तु वाक्याच्छतत्वं प्रतीयते । न च पदसंस्कारकाले वाक्यार्थस्याङ्गभावोऽस्ति, तदा तस्यानुपस्थानात् । प्रकृत्यर्थाद्-व्यतिरिक्ते प्रत्ययार्थे प्रतिषेधो भवति, न ह्यतिरिक्ते वाक्यगम्य इत्येतदाप्त-वचनेन द्रढयितुमाह—*तथा चोक्तमित्यादि* । शतप्रतिषेधे कर्त्तव्ये प्रकृत्यर्था-दन्यस्य च प्रत्ययार्थस्य शतत्वे सत्यप्रतिषेधः । एतदुक्तं भवति—यत्रान्यत् प्रकृत्यर्थं शतम्, अन्यत्प्रत्ययार्थंशतम्, तत्र विधिरेव भवति न प्रतिषेधः ।

केन पुनः समासे प्राप्नोति यतस्तत्प्रतिषेधार्थमसमासानुकर्षणार्थश्चकारः क्रियते ? इत्याह—*प्राग्वतेरित्यादि* ॥

संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ॥ *पञ्चकः पट इति* । लौकिक्याः संख्याया उदाहरणम् । *बहुक इति* । पारिभाषिक्याः । *चात्वारिंशत्क इति* । 'इसुसुक्तान्तात्कः' ।

न्यासः

गम्यत इति सम्बन्धः । यत्र प्रत्ययान्तेन पदान्तरनिरपेक्षेण प्रत्ययार्थस्य शतताऽऽख्या-यते, तत्र श्रुत्या प्रत्ययान्तश्रवणमात्रेणैव गम्यते, यथा—प्रत्युदाहरणे शतं परिमाणमस्य शतकमित्युक्ते गम्यत एवैतत्—प्रत्ययार्थोऽपि शतमेवेति । इह तु वाक्याच्छतत्वं प्रतीयते । न च पदसंस्कारकाले वाक्यार्थस्याङ्गभावोऽस्ति । तदा तस्योपसर्जनत्वात् प्रकृत्यार्थादतिरिक्ते प्रत्ययार्थे प्रतिषेधो भवति, न तु व्यतिरिक्तवाक्यगम्य इति । तदाप्तवचनेन द्रढयितुमाह—**तथा चोक्तमित्यादि** । शतप्रतिषेधे कर्त्तव्ये प्रकृत्यर्था-दन्यस्य प्रत्ययार्थस्य शतत्वेऽप्रतिषेध इत्येतदुक्तं भवति । तत्रान्यत् प्रकृत्यर्थः शतम्, अन्यत् प्रत्ययार्थः शतम् । तत्र विधिरेव भवति, न प्रतिषेध इति ।

केन पुनः समासे प्राप्नोति, यतस्तत्प्रतिषेधार्थोऽसमासानुकर्षणार्थश्चकारः क्रियते ? इत्याह—**प्राग्वतेरित्यादि** ॥

संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ॥ **पञ्चकः पट इति** । लौकिक्याः संख्याया उदा-हरणम् । **बहुक इत्यादि** । परिभाषितायाः । **चात्वारिंशत्क इति** । 'इसुसुक्तान्तात् कः' ।

भवति आर्हीयेष्वर्थेषु । ठञोऽपवादः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः पटः । बहुकः । गणकः ।

अतिशदन्ताया इति किम् ? साप्ततिकः । चात्वारिंशत्कः ।

अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणाड्डतेः पर्युदासो न भवति—कतिकः ॥

पदमञ्जरी

अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणादिति । अर्थवद्ग्रहणपरिभषया । *डतेरिति* । डत्यवयवस्य तिशब्दस्येत्यर्थः । *पर्युदासो न भवतीति* । न ह्यसावर्थवान् । *कतिक इति* । का संख्या परिमाणं येषामिति 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इति डतिः । सप्ततिशब्दे तु सप्तदशदर्थाभिधायिनः सप्तशब्दात्परिमाणोपाधिकादस्येति षष्ठ्यर्थे तिप्रत्ययो भवतीति तिशब्दोऽर्थवान् । एवं नवतिशब्दे । अशीतिशब्दे तु यद्यप्यशीशब्दस्याष्टस्वन्यत्र न दृष्टः प्रयोगः । शास्त्रे त्वेषा व्यवस्था—अष्टानामशीभावस्तिश्च प्रत्यय इति । विंशतिशब्दे तु द्वयोर्दशतोर्विन्भावः शतिश्च प्रत्यय इति तिशब्दोऽनर्थक एव, ततश्च ततः कन् भवत्येव—विंशतिकः । एवं च कृत्वा 'विंशतिकात्खः शतमानविंशतिकः' इति निर्देश उपपद्यते; किन्तु 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम्' इत्यसंज्ञायां ड्वुन्विधानात्संज्ञायामेव कन् भवति । 'अतिशदन्तायाः' इत्यत्रान्तग्रहणमेकसप्तत्या क्रीतमित्यत्रापि पर्युदासार्थम्, अन्यथा प्रत्ययग्रहणपरिभाषया न स्यात् ॥

न्यासः

अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणादिति । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया । **डतेः पर्युदासो न भवतीति** । शब्दापेक्षयावयवषष्ठीति । प्रत्ययस्य य एकदेशस्तिशब्दस्तस्य पर्युदासो न भवति, न ह्ययमर्थवान् । **कतिक इति** । किं परिमाणमेषामिति 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इति डतिः, 'टेः' इति टिलोपः । कतिभिः क्रीतमिति विगृह्य कन् । यद्यर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणम्, नवतेर्यस्तिशब्दस्तस्यापि पर्युदासो न प्राप्नोति; नवतिशब्द एव हि समुदायः संख्याविशेषेणार्थवान्, न तदेकदेशस्तिशब्दः ? नैष दोषः; नवतिशब्दे यो नवशब्दः सोऽनेकार्थः । तथा च संख्याविशेषावगतिमतो नवशब्दात् परो यस्तिशब्दस्तत एव विज्ञायते; तद्भावे भावात् । अशीतिशब्दस्य तर्हि तिशब्दस्य पर्युदासो न प्राप्नोति, नासावर्थवान् ? नापि ततः पूर्वो योऽशीशब्दस्तस्य कश्चिदर्थोऽस्ति, समुदाय एव तु संख्याविशेषेणार्थवान् ? नैतदस्ति; यद्यप्यशी-इतिशब्दस्य न कश्चनार्थः प्रकाशते, तथापि प्रतिज्ञायते । अशीतिशब्दो ह्येवं व्युत्पाद्यते—अष्टानां दशानामशीभावः, तिशब्दश्च प्रत्ययः । य एवाष्टानां दशानामर्थः सोऽशीशब्दस्य, यस्तु संख्याविशेषः सोऽयं तिशब्दस्यैवेति, ततस्तस्य नानर्थक्यम् । एवमपि विंशतेः प्रतिषेधो न सिध्यति ? स ह्येवं व्युत्पाद्यते—द्वयोर्दशतोर्विन्भावः,

वतोरिड् वा ॥ २३ ॥

वत्वन्तस्य संख्यात्वात् कन् सिद्ध एव, तस्य त्वनेन वा इडागमो विधीयते। वतोः परस्य कनो वा इडागमो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु। तावतिकः, तावत्कः। यावतिकः, यावत्कः ॥

पदमञ्जरी

वतोरिड् वा ॥ *तस्य त्वनेनेति*। 'चरेष्टः' इत्यादिवत्प्रत्ययान्तरं त्विन्न भवति; टित्करणसामर्थ्यात्। अस्त्यन्यट्टित्करणस्य प्रयोजनं टित इति ङीब्यथा स्यात्? अत इत्यधिकारे ङीप्, न चैषोऽकारान्तः, टित्करणसामर्थ्यादनदन्तादपि ङीप् स्यात्, यथा—डित्यभस्याप्यनुबन्धकरणसामर्थ्यात् सरज इत्यत्र टिलोपः। एवं तर्हि स्वरितत्वप्रतिज्ञानेन कनोऽनुकर्षणसामर्थ्यादागमो भविष्यति? अस्त्यन्यदनुवृत्तेः प्रयोजनम्—इटा बाधो मा भूत् कनोऽपि विधिर्यथा स्यादिति? वावचनादेव कन् भविष्यति? इदं तर्हि प्रयोजनं स्यात्-इट्कनौ वा भवतः, पक्षे सामन्यविहितष्ठन्निति? तस्माद्व्याख्यानमेव शरणम्। ननु नेह कन्ग्रहणमस्ति, यदपि प्रकृतम्, तदपि प्रथमानिर्दिष्टम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः, वतोरिति पञ्चमी कनिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति—'तस्मादित्युत्तरस्य' इति। *तावत्क इति*। तत्परिमाणमस्य 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्', 'आ सर्वनाम्नः' ॥

न्यासः

शतिश्च प्रत्ययः। तत्र शतिप्रत्ययात् पूर्वस्य भागस्य द्वयोर्दशतोर्योऽर्थः स एव प्रतिज्ञायते शतिप्रत्ययस्य, संख्याविशेषः, तिशब्दस्य न कश्चित्। इष्टमेव तत्। संग्राहितः कन् विंशतेः—'तद्विंशतिकम्' इति। अथ 'अतिशदन्तायाः' इत्यत्रान्तग्रहणं किमर्थम्, अतिशच्छब्दस्य न प्राग्वतीयत्वात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषयैव तदन्तविधिर्भविष्यति? एतदेव तर्हि प्रयोजनम्—अनया परिभाषया तदन्तविधिर्मा भूदिति। किञ्च स्यात्? इहैकसप्तत्या क्रीत इति प्रतिषेधो न स्यात्; एकसप्तदशतस्तिप्रत्ययस्याविधानात्। अन्तग्रहणे तु क्रियमाणे सति समुदायस्यान्ते तिशब्दः श्रूयत इत्यत्रापि प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥

वतोरिड् वा ॥ **वत्वन्तस्य संख्यात्वादिति**। बहुगणसूत्रेण संख्यासंज्ञाविधानात्। **तस्येत्यादि**। कथं पुनस्तस्यानेनागमः शक्यो विज्ञातुम्, यावता नेह कन्ग्रहणम्? यदपि प्रकृतं तदपि प्रथमानिर्दिष्टम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः? नैष दोषः; 'वतोः' इति पञ्चमी 'कन्' इति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति। **तावत्क इति**। तत्परिमाणमस्येति 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्', 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वम् ॥

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् ॥ २४ ॥

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन् प्रत्ययो भवति, असंज्ञायां विषये, आर्हीयेष्वर्थेषु । विंशकः । त्रिंशकः । 'ति विंशतेर्डिति' इति तिलोपः ।

असंज्ञायामिति किम् ? विंशतिकः । त्रिंशत्कः ।

कथं पुनरत्र कन्, यावता 'अतिशदन्तायाः' इति पर्युदासेन भवितव्यम् ? योगविभागः करिष्यते—'विंशतित्रिंशद्भ्याम् कन्' प्रत्ययो भवति, ततः 'ड्वुनसंज्ञायाम्' इति ॥

कंसाट्टिठन् ॥ २५ ॥

पदमञ्जरी

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् ॥ *विंशक इति* । 'ति विंशतेर्डिति' इति तिशब्दस्य लोपः, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वम् । यस्येति लोपस्तु न भवति, 'असिद्धवदत्राभात्' इति तिलोपस्यासिद्धत्वात् । ननु सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिः, ततश्चान्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञा भवति, तत्कथं पररूपत्वम्; या तु ड्वुनमपेक्ष्य भसंज्ञा, सा येन नाप्राप्तिन्यायेन 'स्वादिषु' इति या पदसंज्ञा तामेव बाधते, न 'सुप्तिङन्तं पदम्' इत्येतामपि ? एतामपि बाधते । कथम् ? परत्वात् । अत एव 'सामन्यः' इत्यादौ नलोपाद्यभावः ।

कथं पुनरत्रेति । त्रिंशत्कमधिकृत्य प्रश्नप्रतिवचने । विंशतिशब्दात्तु कनः सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता । यदा तु द्वयोर्दशतोर्विंशिभावस्तिश्च प्रत्यय इति पक्षः, तदा विंशतिकमप्यधिकृत्य भवतः ॥

कंसाट्टिठन् ॥ कंसशब्दोऽयं कांस्यपात्रवाची परिमाणशब्दो गृह्यते, पूर्वोक्तैः परिमाणशब्दैः साहचर्यात्, न लोहविशेषवचनः, नाप्युग्रसेनसुतवचन इति

न्यासः

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम् ॥ **विंशक इति** । 'ति विंशतेर्डिति' इति तिशब्दस्य लोपः, अतो गुणे पररूपत्वम् । यस्येति लोपो न भवति; 'असिद्धवदत्राभात्' इति लोपस्यासिद्धत्वात् । नन्विहान्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञा, तत् कथं पररूपत्वम् ? एवं तर्ह्यसिद्धत्वस्यानित्यत्वाद् यस्येति लोपो भविष्यतीत्यदोषः ।

कथं पुनरत्र कन्निति । त्रिंशत्क इत्यधिकृत्य प्रश्नः । विंशतिक इत्यत्रार्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणात् पर्युदासो न प्रवर्त्तत इति तमधिकृत्यास्य प्रश्नस्योपन्यासो नोपपद्यते । **योगविभागः करिष्यत इति** । त्रिंशदर्थमित्यभिप्रायः ॥

कंसाट्टिठन् ॥ **ठञोऽपवाद इति** । न ठकः; कंसशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् ॥

कंसाट्टिठन् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु । ठञोऽपवादः । टकारो ङीबर्थः । इकार उच्चारणार्थः । नकारः स्वरार्थः । कंसिकः । कंसिकी ।

❀ अर्द्धाच्चेति वक्तव्यम् ❀ । अर्द्धिकः । अर्द्धिकी ।

❀ कार्षापणाट्टिठन्वक्तव्यः ❀ । कार्षापणिकः । कार्षापणिकी ॥

❀ प्रतिशब्दश्चास्यादेशो वा वक्तव्यः ❀ । प्रतिकः । प्रतिकी ॥

शूर्पादञन्यतरस्याम् ॥ २६ ॥

शूर्पशब्दादन्यतरस्यामञ् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु । ठञोऽपवादः । पक्षे सोऽपि भवति । शूर्पेण क्रीतं शौर्पम्, शौर्पिकम् ॥

शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ॥ २७ ॥

शतमानादिभ्यः शब्देभ्योऽण् प्रत्ययो भवति आर्हीयेष्वर्थेषु । ठक्ठञोरपवादः । शतमानेन क्रीतं शातमानं शतम् । वैंशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ॥

पदमञ्जरी

दर्शयति । *ठञोऽपवाद इति* । *इकार उच्चारणार्थ इति* । एवं च प्रक्रियालाघवाय टिकनेव वक्तव्यः ? तथा तु न कृतमित्येव ।

अर्धिक इति । अर्धशब्दः कार्षापणस्यार्धे निरूढ इति भागवदपेक्षयार्धेऽसामर्थ्यं नाशङ्कनीयम् ।

अपर आह—प्रकरणादिवशेन भागवद्विशेषे निश्चिते सति नासामर्थ्यमिति ॥

शूर्पादञन्यतरस्याम् ॥ ठञोऽपवाद इति । शूर्पशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् । यद्यपि परिपवनविशेषः शूर्पम्, तथापि विशिष्टसंस्थानं धान्यादेः परिमाणमपि । शूर्पपरिमितो वा व्रीह्यादिः शूर्पशब्देनोच्यते ॥

शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ॥ ठक्ठञोरपवाद इति । शतमानं परिमाणम्, सहस्रं संख्या; ताभ्यां ठञोऽपवादः । विंशत्या क्रीतं विंशतिकं संज्ञाशब्दोऽयम्, असंज्ञायाम् 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम्' इति ड्वुना भवितव्यम्, सा

न्यासः

शूर्पादञन्यतरस्याम् ॥ ठञोऽपवाद इति । न ठकः; शूर्पशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् ॥

शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ॥ ठञोऽपवाद इति । शतमानं परिमाणम्, सहस्रं संख्या, तेनैताभ्यां ठञ् प्राप्नोतीति ठञोऽपवादः । विंशत्या क्रीतं विंशतिकमिति । तच्च परिमाणमपि सम्भवति । तत्र परिमाणाट्ठञोऽपवादः, अपरिमाणाट्ठकः, वसनशब्दाट्ठगपवादः ॥

अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ॥ २८ ॥

'आर्हात्' इत्येव। अध्यर्धशब्दः पूर्वो यस्मिंस्तस्मादध्यर्धपूर्वात्प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च परस्य आर्हीयस्य लुग् भवति, असंज्ञायां विषये। अध्यर्धकंसम्। द्विकंसम्। त्रिकंसम्। अध्यर्धशूर्पम्। द्विशूर्पम्। त्रिशूर्पम्।

पदमञ्जरी

यदि परिमाणस्य संज्ञा? तदा ततोऽपि ठञोऽपवादः। अथ त्वर्थान्तरस्य, ततष्ठकः। वसनशब्दात्तु ठक एव॥

अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसञ्ज्ञायाम् ॥ अध्यारूढमर्द्धमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, प्रादिभ्यो धातुजस्येति बहुव्रीहिः। अध्यर्धपूर्वद्विगोरिति समाहारद्वन्द्वः, सौत्रः पुंल्लिङ्गनिर्देशः। *तस्मादध्यर्धपूर्वात्प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च परस्येति*। तेन 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः' इति पञ्चम्याश्रितेति लक्ष्यते। यद्येवम्, द्विगोर्लुकि तन्निमित्तग्रहणम्, द्विगोर्निमित्तं यस्तद्धितस्तस्य लुग् भवतीति वक्तव्यम्, द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पम्, द्विशूर्पेण क्रीतं द्विशौर्पिकमित्यत्र द्वितीयस्य मा भूत्। तथार्थविशेषासंप्रत्यये तन्निमित्तादपि यत्र तद्धितार्थद्विगुना सहार्थो न भिद्यते, तत्रातन्निमित्तादपि। स तद्धितो यस्य निमित्तं न भवति तस्मादपि द्विगोः परस्य लुग्भवतीति वक्तव्यम्—द्वयोः शूर्पयोः समाहारो द्विशूर्पी, द्वशूर्प्या क्रीतमित्यपि विग्रहे द्विशूर्पमित्येव यथा स्यात्। तस्माद् द्विगोरिति नैषा पञ्चमी, का तर्हि? षष्ठी—द्विगोर्यस्तद्धितः। कश्च द्विगोस्तद्धितः? यस्तस्य निमित्तं यस्मिन् द्विगुर्भवति। द्विशूर्प्या क्रीतमित्यत्र त्वनभिधानात्प्रत्ययो न भविष्यति। त्र्यैशब्द्यं हि नः साध्यम्—द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विशूर्पम्, द्विशूर्प्या क्रीतमिति; तत्र द्वयोः शब्दयोः

न्यासः

अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ॥ अध्यर्धकंसमिति। अध्यर्धेन कंसेन क्रीतमिति तद्धितार्थे समासः। 'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरलुकि' इति 'कंसाट् टिठन्' इति टिठन्, तस्य लुक्। द्विकंसमिति। अध्यर्धशूर्पमिति। 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' इत्यञ्, ठञन्यतरस्याम्, तस्य लुक्। यद्यत्र द्विगोः परस्यार्हीयस्य लुग् विधीयते, विशेषानुपादानात् तद्धितलुगन्तादपि द्विगोः परस्य प्राप्नोति—द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतः पटो द्विशूर्पः पटः, द्विशूर्पेण पटेन क्रीतमिति द्विशौर्पिकमिति? नैष दोषः; वक्ष्यमाणं विभाषाग्रहणं पूर्वेणापि सम्बध्यते। व्यवस्थितविभाषा सा। तेन तद्धितलुगन्ताद् द्विगोः परस्य न भविष्यति—द्विशौर्पिकमिति। प्राग्वतीये ठञि कृते 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' इत्युत्तरपदवृद्धिः।

असंज्ञायामिति किम् ? पाञ्चलौहितिकम् । पाञ्चकलापिकम् । लोहिनीशब्दस्य 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावः ।

प्रत्ययान्तस्य विशेषणमसंज्ञाग्रहणम्—न चेत्प्रत्ययान्तं संज्ञेति ।

अद्धचर्द्धशब्दः संख्यैव, किमर्थं भेदेनोपादीयते ? ज्ञापकार्थम्—

पदमञ्जरी

समानार्थयोरेकेन विग्रह एव द्विशूर्प्या क्रीतमिति, न तु वृत्तिः, अनभिधानात् । अपरेण विग्रहश्च वृत्तिश्च—द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतं द्विशूर्पमिति, अव्यविकन्यायेन । व्याख्यातोऽव्यविकन्यायः । इदं तावदर्थतत्त्वम्, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यत्र च वृत्तिकारेणाप्येवमेव व्याख्यातम्, इह तु तदनुसारेण गम्यमानत्वान्नैवं विविच्य व्याख्यातम्, यस्य तद्धितस्य लुगिष्यते सोऽपि द्विगोः पर इत्येतावता द्विगोः परस्येत्युक्तम् । *पाञ्चलोहितिकम्, पाञ्चकलापिकमिति* । पञ्च लोहिन्यः परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्येति विगृह्य तद्धितार्थे समासः, 'तदस्य परिमाणम्' इति ठञ्, 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावाल्लोहिनीशब्दस्येकारनकारयोर्निवृत्तिः, परिमाणविशेषस्य नामधेये एते ।

प्रत्ययान्तस्य विशेषणमसंज्ञाग्रहणमिति । न तु सन्निहितस्यापि द्विगोः; असंज्ञायामिति सप्तमीनिर्देशात् । *वार्तिककारस्तु* मन्यते—'द्विगुविशेषणमसंज्ञाग्रहणं पञ्चलोहित-पञ्चकलापशब्दावपि द्विगू कृततद्धितलुकावेव संज्ञे, ततो नार्थोऽसंज्ञायामिति प्रतिषेधेन' इति, तदाह—'संज्ञाप्रतिषेधानर्थक्यं च तन्निमित्तत्वाल्लोपस्य' इति । तस्याः संज्ञायाः लोप एव निमित्तमित्यर्थः ।

अध्यर्द्धशब्दः संख्यैवेति । संख्यावाच्येवेत्यर्थः । अध्यर्द्धस्याप्येकादिवत् परिच्छेदहेतुत्वात् । अत एवाध्यर्द्धेन क्रीतमध्यर्द्धकमिति संख्यालक्षणः कन् भवति, अध्यर्द्धकंसमित्यादौ तद्धितार्थे द्विगुश्च । *क्वचिदिति* । कन्समासोत्तर-

न्यासः

पाञ्चलोहितिकम्, पाञ्चकलापिकमिति । कस्यचित् परिमाणविशेषस्य नामधेये एते । पञ्चलोहिन्यः परिमाणमस्येति, पञ्च कलापाः परिमाणमस्येति विगृह्य तद्धितार्थे समासः, 'तदस्य परिमाणम्' इति ठञ्, 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावाल्लोहिनीशब्दस्येकारनकारनिवृत्तिः ।

अध्यर्धशब्दः संख्यैवेति । अभिधानेऽभिधेयोपचारं कृत्वा, 'अध्यर्धशब्दः संख्यैव' इत्युक्तम् । यथैव ह्येकादिका लौकिकसंख्या, एवमध्यर्धशब्दोऽपि । **स किमर्थं भेदेनोपादीयत इति** । संख्याया इति शेषः । इह हि द्विगोरध्यर्धपूर्वस्य भेदेनोपादानादध्यर्धपूर्वस्य भेदेन संख्याया उपादानं भवतीति । अतस्तस्याध्यर्धशब्दस्य भेदेनोपादा-

क्वचिदस्य संख्याकार्यं न भवति, 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति ॥

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ॥ २९ ॥

अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च कार्षापणसहस्रान्तादुत्तरस्यार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति । पूर्वेण लुकि नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते । अध्यर्धकार्षापणम्, अध्यर्धकार्षापणिकम् । द्विकार्षापणम्, द्विकार्षापणिकम् । औपसंख्यानिकस्य टिठनो लुक् । अलुक्पक्षे च प्रतिरादेशो विकल्पितः । अध्यर्धप्रतिकम् । द्विप्रतिकम् । त्रिप्रतिकम् । सहस्रात्— अध्यर्धसहस्रम्, अध्यर्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम्, द्विसाहस्रम् । अलुक्पक्षे 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

❀ सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानम् ❀ । अध्यर्धसुवर्णम्, अध्यर्धसौवर्णिकम् । द्विसुवर्णम्, द्विसौवर्णिकम् । अध्यर्धशतमानम्, अध्यर्ध-

पदमञ्जरी

पदवृद्धिभ्योऽन्यत्र । *संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने इति* । यदा सकृत्फलां तां क्रियामभिनिर्वर्त्त्य तामेव कुर्वन्नर्धे निवर्त्तते, तदा कृत्वसुचोऽभावादध्यर्धं करोतीत्येव भवति ॥

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ॥ *अध्यर्धसहस्रमिति* । 'शतमानविंशतिक' इति विहितस्याणो लुक्, अलुक्पक्षे 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः, इदानीमेव ह्युक्तम्—'अध्यर्धशब्दः संख्यैव' इति ।

अध्यर्धसुवर्णमिति । ठञो लुग्, न तु ठकः, आर्हादित्यत्र क्रियानिमित्तकस्य परिमाणस्य ग्रहणाद् । येषां तु रूढिपरिमाणस्य तत्र ग्रहणम्, तन्मते

न्यासः

नस्य प्रयोजनं दर्शयितुं पृच्छति । ज्ञापकार्थमित्यादिना प्रयोजनमाचष्टे । किं पुनरस्य संख्याकार्यं न भवतीत्याह–संख्याया इत्यादि ॥

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ॥ **अध्यर्धसहस्रमिति** । 'शतमानविंशतिक' इत्यादिना विहितस्याणो लुक् । **अध्यर्धसाहस्रमिति** । 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः ।

सुवर्णशतमानयोरुपसंख्यानमिति । उपसंख्यानं प्रतिपादनमित्यर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम्—'विस्ताच्च' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेन चकारोऽत्रोपतिष्ठते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः, तेन सुवर्णशतमानयोरपि भविष्यति । **अध्यर्धसुवर्णमिति** । ठञो लुक् । **अध्यर्धशतमानमिति** । 'शतमान' इत्यादिविहितस्याणः । **अध्यर्धशातमानमिति** । 'परि-

शातमानम् । द्विशतमानम्, द्विशातमानम् । 'परिमाणान्तरस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः ॥

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ॥ ३० ॥

'द्विगोः' इत्येव । द्वित्रिपूर्वाद्द्विगोर्निष्कान्तादार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् ।

❀ बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम् ❀ । बहुनिष्कम्, बहुनैष्किकम् । 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः ॥

पदमञ्जरी

ठको लुक् । *अध्यर्द्धसौवर्णिकमिति* । परिमाणान्तस्येत्युत्तरपदवृद्धिः, तत्र ह्युन्मानस्यापि ग्रहणम्; शाणप्रतिषेधात् । अध्यर्द्धे कार्षापणस्य, द्विगौ सहस्रस्येत्येवमत्र यथासंख्यं नेष्यते ॥

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ॥ अध्यर्द्धपूर्वग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तते, इह तु न सम्बध्यते । द्विगुग्रहणं तु सम्बध्यते, द्वयोर्निष्कं त्रयाणां निष्कमिति षष्ठीसमासे मा भूत् । अत्र च व्याख्यानमेव शरणम्; अन्यथा 'अध्यर्धपूर्वाद् द्वित्रिपूर्वाच्च निष्कात्' इति समुच्चयो विज्ञायेत । *द्विनैष्किकमिति* । 'प्राग्वतेष्ठञ्', 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः । द्वित्रिभ्यां निष्कादित्येव सिद्धे पूर्वग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ॥

न्यासः

माणान्तस्य' इत्यादिनोत्तरपदवृद्धिः । ननु च सुवर्णमुन्मानम्, न परिमाणम्, तत् कुतस्तस्य वृद्धिः ? नैष दोषः; उत्तरपदवृद्धौ ह्युन्मानमपि परिमाणमिति गृह्यते । कुतो ज्ञायते ? 'असंज्ञाशाणयोः' इति शाणशब्दस्य प्रतिषेधात् । यदि तर्हि तत्रोन्मानं न गृह्येत, तदा शाणस्योन्मानार्थस्य प्राप्तिरेव नास्तीति प्रतिषेधं न कुर्यात् । अध्यर्धपूर्वद्विगुभ्यां कार्षापणसहस्रयोर्यथासंख्यं कस्मान्न भवति ? लक्षणव्यभिचारेण तदभावस्य सूचितत्वात् ।

इह तावद् 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः' इति निर्देशोऽल्पाच्तरत्वाद् घ्यन्तत्वाच्च द्विगुशब्दस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति, 'कार्षापणसहस्राभ्याम्' इत्यत्राप्यल्पाच्तरत्वात् सहस्रशब्दस्य ? तावेतौ निर्देशौ लक्षणान्तरनिरपेक्षतां बोधयन्तौ यथासंख्यपरिभाषाया अप्यभावं बोधयत इति न भवति यथासंख्यपरिभाषा ॥

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ॥ अध्यपूर्वग्रहणमस्वरितत्वान्नोपतिष्ठते । द्विनिष्कमिति । द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतमिति असमासे ठको विधानादत्र ठञ्, तस्य लुक् । द्विनैष्किकमिति । 'परिमाणान्तस्य' इत्यादिनोत्तरपदवृद्धिः । बहुपूर्वाच्चेति । बहुपूर्वाद् द्विगोर्निष्कशब्दान्तादार्हीयस्य प्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—'द्वित्रिभ्यां निष्कात्' इत्येव सिद्धे पूर्वग्रहणमधिकं कुर्वतैतत् सूचितम्—'अन्यदप्यधिकं किञ्चिदस्ति' इति । तेन बहुपूर्वादपि भवति ॥

बिस्ताच्च ॥ ३१ ॥

'द्वित्रिपूर्वात्' इति चकारेणानुकृष्यते। द्वित्रिपूर्वाद्बिस्तान्ताद् द्विगोः परस्यार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुग्भवति। द्विबिस्तम्, द्विबैस्तिकम्। त्रिबिस्तम्, त्रिबैस्तिकम्। बहुबिस्तम्, बहुबैस्तिकम्'॥

विंशतिकात्खः ॥ ३२ ॥

अध्यर्धपूर्वात्प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च विंशतिकशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। अध्यर्धविंशतिकीनम्। द्विविंशतिकीनम्। त्रिविंशतिकीनम्। विधानसामर्थ्यादस्य लुग्न भवति॥

खार्या ईकन् ॥ ३३ ॥

'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोः' इत्येव। अध्यर्धपूर्वात्प्रातिपदिकाद् द्विगोश्च खारीशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु ईकन् प्रत्ययो भवति। अध्यर्धखारीकम्। द्विखारीकम्।

पदमञ्जरी

बिस्ताच्च ॥ *चकारेणानुकृष्यत इति*। तेन चानुकृष्टमुत्तरत्र नानुवर्त्तते इत्युत्तरत्रानुवृत्त्यभाव इति भावः। बिस्तशब्दः परिमाणवाची॥

विंशतिकात्खः ॥ 'शतमानविंशतिक' इत्यणि प्राप्ते तस्य च लुकि खोऽत्र विधीयते।

खार्या ईकन् ॥ खारी परिमाणमिति ठञि प्राप्ते तस्य च लुकि ईकन्विधीयते।

न्यासः

बिस्ताच्च ॥ **द्वित्रिपूर्वादिति चकारेणानुकृष्यत इति**। ननु च स्वरितत्वादेव द्वित्रिग्रहणमनुवर्त्तिष्यते, स्वरितत्वे सत्यधिकारपरिमाणं न ज्ञायत इति चेद्? वार्त्तमेतत्। व्याख्यानतोऽधिकारपरिमाणं विज्ञास्यते? एवं तर्हि स्वरितत्वादेव द्वित्रिपूर्वग्रहणस्यानुवृत्तौ सिद्धायां यत् तदनुकर्षणार्थं चकारमधिकं करोति, तेनैतत् सूचयति—अन्यदप्यत्र किञ्चिदधिकं भवतीति। तेन बहुपूर्वादपि विभाषा लुक् सिद्धो भवति। **बहुबिस्तमिति**। **द्विबिस्तमिति**। द्वौ बिस्तौ परिमाणमस्येति ठञ्, तस्य लुक्। **द्विबैस्तिकमिति**। उत्तरपदवृद्धिः॥

विंशतिकात् खः ॥ द्वित्रिपूर्वग्रहणं निवृत्तम्; पूर्वत्र चानुकृष्टत्वात्, अस्वरितत्वाद्वा। शतमानादिसूत्रेणाणि प्राप्ते तस्य लुकि खो विधीयते। **विधानसामर्थ्यादस्य लुग्न भवतीति**। यदि लुक् स्यात्, खविधानमनर्थकं स्यात्। न ह्यणः खस्य च लुकि सति कश्चिद्विशेषोऽस्ति॥

खार्या ईकन् ॥ खारीशब्दस्य परिमाणवाचित्वाट् ठञि प्राप्ते तस्येकन् विधीयते।

---

१ अत्र—'योगविभाग उत्तरार्थः' इत्यधिकं क्वचित्।

❀ केवलायाश्चेति वक्तव्यम् ❀ । खारीकम् ।

❀ काकिण्याश्चोपसंख्यानम् ❀ । अध्यर्धकाकिणीकम् । द्विकाकिणीकम् । त्रिकाकिणीकम् ॥

❀ केवलायाश्च ❀ । काकिणीकम् ॥

पणपादमाषशताद्यत् ॥ ३४ ॥

'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोः' इत्येव । अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च पणपादमाषशतशब्दान्तादार्हीयेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति । अध्यर्धपण्यम्, द्विपण्यम्, त्रिपण्यम् । पाद—अध्यर्धपाद्यम्, द्विपाद्यम्, त्रिपाद्यम् । पद्भावो न भवति—'पद्यत्यतदर्थे' इति; प्राण्यङ्गस्य स इष्यते, इदं तु

पदमञ्जरी

केवलायाश्चेति । 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः' इत्यधिकारात्केवलाया न प्राप्नोतीति वचनम् । अथाध्यर्धपूर्वेति न सम्बध्येत, ततः केवलायामीकनश्चरितार्थत्वादध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुक् प्राप्नोति, दीर्घोच्चारणं किमर्थं नेकनेवोच्येत, सवर्णदीर्घत्वे सति सिद्धम् ? यस्येतिलोपः प्राप्नोति, इकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति, अन्यथा कनमेव विदध्यात्, 'केऽणः' इति ह्रस्वत्वे कृते सति सिद्धम् । अवग्रहः प्राप्नोति ? न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम् ॥

पणपादमाषशताद्यत् ॥ *पद्भावोऽत्र न भवतीति* । 'पद्यत्यतदर्थे' इत्यनेन । किं कारणमित्याह—*प्राण्यङ्गस्येति* । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इत्यत्र तावत्

न्यासः

केवलायाश्चेति वक्तव्यमिति । केवलो योऽसमस्तः खारीशब्दस्ततश्चेकन् भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—इकन्निति वक्तव्ये यदीकनो मात्राधिकस्य विधानं तदन्यदप्यत्र किञ्चिद् भवतीति सूचयति, तेन केवलादपि खारीशब्दादीकन् भवतीति । कथं पुनरिकनि रूपं सिध्यति ? सवर्णदीर्घत्वेन । ननु च यस्येति लोपः प्राप्नोति ? नैतदस्ति; यदि हि यस्येति लोपः स्यात्, ठनमेव ब्रूयात् ।

काकिण्याश्चोपसंख्यानमिति । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । प्रतिपादनं तु तस्यैवाधिकसूचनार्थस्येकनो विधानमाश्रित्य कर्त्तव्यम् ।

केवलायाश्चेत्युपसंख्यानमिति । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । पूर्ववत् प्रकृतेन सम्बद्धः ॥

पणपादमाषशताद् यत् ॥ पणपदमाषेभ्यः 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति असमासे ठको विधानाट् ठञि प्राप्ते तस्य लुकि शतशब्दादप्यसमासे 'शताच्च ठन्यतावशते' इति ठन्यतोर्विधानात् समासे संख्यालक्षणे कनि यद् विधीयते । द्विपाद्यमित्यादि । ननु पद्भावः कस्मान्न भवति 'पद्यत्यतदर्थे' इति ? सत्यम्; 'पादस्य पदाज्याति' इत्यत्र

परिमाणम् । माष–अध्यर्धमाष्यम्, द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम् । शत–अध्यर्धशत्यम्, द्विशत्यम्, त्रिशत्यम् ॥

शाणाद्वा ॥ ३५ ॥

'अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोः' इत्येव । शाणशब्दादध्यर्धपूर्वाद् द्विगोरार्हीयेष्वर्थेषु वा यत् प्रत्ययो भवति । ठञोऽपवादः । पक्षे सोऽपि भवति, तस्य च लुक् । अध्यर्धशाण्यम् । अध्यर्धशाणम् । द्विशाण्यम् । द्विशाणम् । त्रिशाण्यम् । त्रिशाणम् ।

❀ शताच्चेति वक्तव्यम् ❀ । अध्यर्धशत्यम्, अध्यर्धशतम् । द्विशत्यम्, द्विशतम् । त्रिशत्यम्, त्रिशतम् ॥

पदमञ्जरी

प्राण्यङ्गस्य पादस्य ग्रहणं तस्यैवाज्यादिभिर्गतिवचनैः सबन्धसद्भावात् पद्यतीत्यादावपि तस्यैवानुवृत्तिः । इह तु *परिमाणमिति* । गृह्यते इति शेषः । पणमाषाभ्यां साहचर्यादिति भावः ॥

शाणाद्वा ॥ *ठञोऽपवाद इति* । यद्यप्युन्मानवचनः शाणशब्दः, तथाप्यार्हादित्यत्र क्रियापरिमाणस्य ग्रहणादस्यापि पर्युदासाट्ठञ एव प्रसङ्ग इति भावः ।

शताच्चेति वक्तव्यमिति । पूर्वेण नित्ये यति प्राप्ते वचनम् । यदभावपक्षे सङ्ख्यालक्षणस्य कनो लुक् ॥

न्यासः

प्राण्यङ्गस्यैव पद्भावविधानात् । कुत एतत् ? 'आज्याति' इत्यादिना गतिवचनेन सम्बन्धस्तस्यैवोपपद्यते, न परिमाणशब्दस्य । स एव प्राण्यङ्गवाच्युत्तरसूत्रेऽप्यनुवर्त्तिष्यत इति तस्यैव पद्भाव इष्यते । स्यादेतत्—अयमपीह पादशब्दः प्राण्यङ्गवाची, अतो भवितव्यमेवेह पद्भावेन ? इत्यत आह—**पद्भावो न भवतीति** । 'पद्यत्यतदर्थे' इति पद्भावः प्राप्नोति, स न भवति । किं कारणमित्याह—**प्राण्यङ्गस्येत्यादि** । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इत्यत्र प्राण्यङ्गस्य पादस्य ग्रहणम् । **इदं तु परिमाणग्रहणमिति** । पणादिभिः परिमाणैः साहचर्यात् परिमाणं पादो गृह्यते, न प्राण्यङ्गमिति पद्भावस्याप्रसङ्गः ॥

शाणाद्वा ॥ **ठञोऽपवाद इति** । न ठकः; शाणस्य परिमाणत्वात् ।

शताच्चेति वक्तव्यमिति । शताच्चाध्यर्द्धपूर्वाद द्विगोश्च यत्प्रत्ययो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—पूर्वसूत्रादिह शतशब्दोऽनुवर्त्तते, तेन तदन्तादपि यद्भवतीति । यद्येवम्, पूर्वसूत्रे तस्य पाठोऽनर्थक इति, इहैव शत-

द्वित्रिपूर्वादण्च ॥ ३६ ॥

'शाणाद्वा' इत्येव । द्वित्रिपूर्वाच्छाणान्तात्प्रातिपदिकादार्हीयेष्वर्थेषु अण् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च वा । तेन त्रैरूप्यं सम्पद्यते—द्वैशाणम्, द्विशाणम्, द्विशाण्यम् । त्रैशाणम्, त्रिशाण्यम्, त्रिशाणम् । 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' इति पर्युदासादादिवृद्धिरेव भवति ॥

तेन क्रीतम् ॥ ३७ ॥

ठञादयस्त्रयोदश प्रत्ययाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति समर्थविभक्तयः प्रत्ययार्थश्च निर्दिश्यन्ते । 'तेन' इति तृतीयासमर्थात् 'क्रीतम्' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । आशीतिकम् । नैष्किकम् । पाणिकम् । पादिकम् । माषिकम् । शत्यम् । शतिकम् । द्विकम् । त्रिकम् ।

पदमञ्जरी

द्वित्रिपूर्वादण् च ॥ वार्त्तिके दर्शनात्सूत्रेष्वेतत्प्रक्षिप्तम् । *त्रैरूप्यं भवतीति* । अण्येकम्, यति द्वितीयम्, ठञो लुकि तृतीयम् ॥

तेन क्रीतम् ॥ *तेषामिति* । अस्य समर्थविभक्तय इत्यनेनैव सम्बन्धः, न प्रत्ययार्थ इत्यनेन । न हि तेषां प्रत्ययानां प्रत्ययार्था निर्दिश्यन्त इत्यन्वयो घटते । ओदनपाकं पचतीतिवद्वा कथञ्चिदन्वयः ।

न्यासः

शाणाभ्यश्चेति वक्तव्यम्? नैवं शक्यम्; एवं ह्युच्यमाने 'द्वित्रिपूर्वादण्च' इत्यनेनापि शतात् प्रसज्येत । पूर्वसूत्रे तु पाठसामर्थ्यादण्विधो नानुवर्त्तते । शतशब्दः स्वरितत्वाच्चेहानुवर्त्तमानो वा यतमुत्पादयति ॥

द्वित्रिपूर्वादण्च ॥ तेन त्रैरूप्यं सम्पद्यत इति । एकं रूपं सूत्रनिर्दिष्टेऽणि, द्वितीयं चकारसमुच्चित्ते यति, तृतीयं वाशब्दप्रापितस्य ठञो लुकि । **द्विशाणमिति ।** ठञो लुक् ॥

तेन क्रीतम् ॥ साप्ततिकम्, आशीतिकमिति । 'प्राग्वतेष्ठञ्' । **नैष्किकम्, पाणिकमिति ।** 'असमासे निष्कादिभ्यः' इति ठक् । **शत्यम्, शतिकमिति ।** 'शताच्च ठन्यतावशते' इति । **द्विकम्, त्रिकमिति ।** 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' ।

सामान्यार्थाभिधाने तेनेति तृतीयोपादानादिह कस्मान्न भवति—देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम्? इत्यत आह—तेनेत्यादि । करणे तृतीया । परिमूल्यात् ततः प्रत्ययेन भवितव्यम् । **अन्यत्रेति ।** अन्यत्र मूल्यात् करणे तृतीया भवति । **अनभिधानादिति ।**

'तेन' इति मूल्यात्करणे तृतीया समर्थविभक्तिः। अन्यत्रानभिधानान्न भवति—देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतमिति।

द्विवचनबहुवचनान्तात्प्रत्ययो न भवति—प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतमिति; अनभिधानादेव।

पदमञ्जरी

तेनेति मूल्यादिति। मूल्यभूतार्थाभिधायिनः करणे या तृतीया सा चेह समर्थविभक्तिरित्यर्थः। मूलेनानाम्यं मूल्यम्=लाभ इत्युक्तम्। *अन्यत्रेति*। अमूल्यादकरणे वा या तृतीया तत्रेत्यर्थः। *अनभिधानादेवेति*। एवकारः पौनर्वचनिकः। किञ्च—प्रस्थादयः शब्दा नियतपरिमाणानामर्थानां वाचका न मात्रयापि न्यूनाधिकभावे प्रवर्त्तन्ते, न हि यथा जलमिति प्रस्थेऽपि भवति, कुडवेऽपि भवति, यथा वाग्निरिति ध्राष्ट्राग्नावपि भवति, दावाग्नावपि भवति; यथा वा एको व्रीहिः सम्पन्न इत्यादौ जात्यात्मना सर्वासां व्यक्तीनामैक्यं प्रतीयते, तथा प्रस्थादिषु भवति। तस्मात्तेषु विभक्त्यभावे यावतस्ते वाचकास्तावदेव गम्यते। वाक्ये तु प्रस्थाभ्याम्, प्रस्थैरिति द्विवचनबहुवचनबलात्तावतोऽनेकस्यावगतिर्भवति।

न्यासः

न हि या कर्त्तरि तृतीया याप्यमूल्यात् करणे तृतीयोत्पाद्यते, तदन्तादुत्पन्नः प्रत्ययो विवक्षितं वस्तु प्रतिपादयितुमलं सम्भवति। तथा हि—दैवदत्तिकं पाणिकमिति चोक्ते, देवदत्तेन कर्त्रा क्रीतम् पाणिना करणेन क्रीतमित्येषोऽर्थो नावसीयते। देवदत्तेनेति कर्त्तरि तृतीया, पाणिनेति करणे। तदेतदुक्तं भवति—प्रत्यासन्नविनिमयद्रव्यसम्बन्धानभिधानादिति।

अनभिधानादेवेति। न हि प्रास्थिकमित्युक्ते, प्रस्थाभ्यां क्रीतं प्रस्थैर्वा क्रीतमित्येषोऽर्थोऽवगम्यते। तत्र पुनरभिधाने को हेतुः? शब्दशक्तिरीदृशी, किमत्रान्येन हेतुना! अपि च प्रस्थादयः शब्दा अर्थतस्तु परिमाणानामर्थानां वाचका इति तेषामभिधेयस्य प्रचये प्रवृत्तिसम्भवे को हेतुः? नन्वेवं वाक्येऽपि प्रचयो नोपपद्येत? नैष दोषः; वाक्ये हि प्रचयस्य वाचिका विभक्तिरस्तीति प्रचयाभिधानं न विरुध्यते। वृत्तौ तु न कश्चित् प्रचयमाचष्ट इति नासौ वृत्तिविषये युज्यते।

यदि तर्हि द्विवचनबहुवचनान्तात् प्रत्ययेन न भवितव्यम्, एवं सति द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिभिः क्रीतं त्रिकमित्येवमादि न सिध्यतीत्यत आह—यत्र त्वित्यादि। अनभिधानं द्विवचनान्तात् प्रत्ययानुत्पत्तेर्हेतुः। तच्चाभिधानं क्व न भवति? यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगमो नास्तीति; प्रमाणाभावात्। इह तु प्रमाणमस्त्येव किञ्चित्। द्व्यादय एव शब्दाः प्रकृतित्वेनोपात्ताः। ते हि स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतयैव संख्ययावच्छिन्नं वस्तु प्रतिपादयन्ति। अतः स्वार्थस्य संख्याविशेषावगमे प्रमाणम्। तेनात्रान-

यत्र तु प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगमे प्रमाणमस्ति, तत्र द्विवचन-बहुवचनान्तादपि प्रत्ययो भवति—द्वाभ्यां क्रीतं द्विकम्, त्रिकम्, पञ्चकम्। तथा—मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषिकम्; न ह्येकेन मुद्गेन क्रयः संभवति ॥

तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ॥ ३८ ॥

'तस्य' इति षष्ठीसमर्थात् 'निमित्तम्' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तन्निमित्तं संयोगश्चेत्स भवति उत्पातो वा। संयोग=सम्बन्धः प्राणिनां शुभाशुभसूचकः। महाभूतपरिणामः= उत्पातः। शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोगः शत्यः, शतिकः। साहस्रः। उत्पातः खल्वपि—शतस्य निमित्तमुत्पातो दक्षिणाक्षि-स्पन्दनम् शत्यम्, शतिकम्। साहस्रम्।

पदमञ्जरी

द्विकम्, त्रिकमिति। अत्र हि प्रकृतेरेव वाच्ये द्वित्वबहुत्वे विभक्तिस्तु करणत्वमात्रमाचष्टे, सा च प्रकृतिवृत्तावपि विद्यते। न *ह्येकेन मुद्गेनेति*। एकया मुद्गव्यक्त्येत्यर्थः। जात्याख्यायां त्वेकवचनान्तादपि भवत्येव। ननु यद् निष्केण क्रीतं तस्य निष्को वस्नो भवति, ततश्च 'सोऽस्यांशवस्नभृतयः' इत्येव सिद्धः प्रत्ययः, नार्थ एतेन? एवं तर्हि यस्य शतं मूल्यं न भवत्यथ च तेन क्रीतं कार्यवशात्तदर्थमिदम् ॥

तस्य निमित्त संयोगोत्पातौ। *शुभाशुभसूचक इति*। तत्प्रयोजक इतिवत्षष्ठी-समासः। *महाभूतानामिति*। पृथिव्यादीनाम्। *दक्षिणाक्षिस्पन्दनमिति*। पाञ्च-भौतिकशरीरे द्रव्यमेव च क्रियारूपेण परिणमते इति दक्षिणाक्षिस्पन्दनं महा-भूतपरिणामः, तस्य च शुभस्य प्रति निमित्तत्वम्; ज्ञापकहेतुत्वाद्, न तु

न्यासः

भिधानादित्येष हेतुर्नास्तीति भवति प्रत्ययः। तथेत्यादि। यथा त्रिकमित्यादौ प्रकृत्यर्थ-संख्यानभावोपगमे प्रमाणसम्भवाद् बहुवचनान्तादपि प्रत्ययो भवति, तथा मौद्गिक-मित्यादावपि मुद्गादिशब्दप्रकृतिरत्र स्वार्थस्य संख्यावगमे प्रमाणमित्येतद् दर्शयितु-माह—न ह्येकेनेत्यादि। मुद्गादिनैकया व्यक्तया क्रयो न भवतीति विनापि विभक्त्या मुद्गादिशब्दानुवृत्तौ बहुत्वं गम्यते। तत्र प्रमाणं भवति। एकग्रहणञ्च त्रयानुपयोगि-नोर्द्वयोरप्युपलक्षणं वेदितव्यम् ॥

तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ॥ **महाभूतानामिति**। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानाम्। **साहस्रमिति**। सहस्रात् शतमानादिसूत्रेणाण्।

❀ तस्य निमित्तप्रकरणे वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम् ❀ । वातस्य शमनं कोपनं वा वातिकम् । पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् ।

❀ सन्निपाताच्चेति वक्तव्यम् ❀ । सान्निपातिकम् ॥

गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ॥ ३९ ॥

गोशब्दाद् द्व्यचश्च प्रातिपदिकात्संख्यापरिमाणाश्वादिविवर्जिताद्यत् प्रत्ययो भवति 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' इत्येतस्मिन्नर्थे । ठञादीनामपवादः । गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः । द्व्यचः खल्वपि—धन्यम् । स्वर्ग्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् ।

असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं पञ्चकम् । सप्तकम् । अष्टकम् । परिमाण—प्रास्थिकम् । खारीकम् । अश्वादि—आश्विकः ।

❀ ब्रह्मवर्चसादुपसंख्यानम् ❀ । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं गुरुणा संयोगः ब्रह्मवर्चस्यम् ।

अश्व । अश्मन् । गण । ऊर्णा । उमा । वसु । वर्ष । भङ्ग । अश्वादिः ॥

पदमञ्जरी

कारकहेतुत्वात् । *वातिकमिति* । शमनकोपने एवात्र प्रत्ययार्थौ, न तु निमित्तं ताभ्यां विशेष्यते । प्रकरणादिना च तयोरन्यतरावसायः ।

सन्निपातः=वातादीनां युगपदुद्भवः ॥

गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ॥ *ठञादीनामिति* । आदिशब्देन ठको ग्रहणम् । अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, बहुवचनं तु ठक एवैकस्य विषयबहुत्वमाश्रित्य कृतम्, ठकोऽपवाद इत्यर्थः । किं पुनः कारणमेवं व्याख्यायते ? संख्यापरिमाणाश्वादिवर्जिताद्गोद्व्यचष्ठक एव प्राप्तत्वात् । *ब्रह्मवर्चसादिति* । ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसं वृत्तस्वाध्यायसंपत्, 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच् समासान्तः ॥

न्यासः

गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ॥ ठञादीनामपवाद इति । आदिशब्देन ठगादीनां ग्रहणम् । ननु च संख्यापरिमाणयोः पर्युदासात् कनष्ठकोऽपवाद इति वक्तुं शक्यते, तत् कस्मात् ठञादीनामित्युच्यते ? ठञादीनामित्ययमतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिर्द्रष्टव्यः । अनयैवापेक्षयोक्तम्—अश्वस्य निमित्तमाश्विकमिति । ठक् प्रत्युदाहृतः । सर्वप्रत्ययसम्भवः, तद्बाधनार्थमिदमुक्तम् । **पञ्चकम्, अष्टकमिति** । संख्यालक्षणः कन् । **प्रास्थिक इति** । प्राग्वतीयष्ठञ् ॥

पुत्राच्छ च ॥ ४० ॥

पुत्रशब्दाच्छः प्रत्ययो भवति चकाराद्यच्च 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' इत्येतस्मिन्विषये। 'द्व्यचः' इति नित्ये यति प्राप्ते वचनम्। पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा पुत्रीयम्। पुत्र्यम्॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ॥ ४१ ॥

सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यां यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतः 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' इत्येतस्मिन्विषये। ठकोऽपवादौ। सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा सार्वभौमः। पार्थिवः। सर्वभूमेरनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धिः॥

तस्येश्वरः ॥ ४२ ॥

'तस्य' इति षष्ठीसमर्थाभ्यां सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यामणञौ प्रत्ययौ भवतः 'ईश्वरः' इत्येतस्मिन्विषये। सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पार्थिवः।

षष्ठीप्रकरणे पुनः षष्ठीसमर्थविभक्तिनिर्देशः प्रत्ययार्थस्य निवृत्तये; अन्यथा संयोगोत्पाताविव ईश्वरोऽपि प्रत्ययार्थस्य निमित्तस्य विशेषणं सम्भाव्येत॥

पदमञ्जरी

पुत्राच्छ च ॥ कथं पुत्रीयः क्रतुरिति, न हि क्रतुः संयोग उत्पातो वा भवति? संयुज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या क्रतुरपि संयोग एव। येन यागादिकरणेन पुरुषः फलेन संयुज्यते स यागादिरपि संयोगः, न केवलं सम्बन्ध एवेत्यर्थः। एतेन 'पुरोडाशसं लोक्यम्' इत्यादिव्याख्यातम्॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ॥ संयोगोत्पातौ प्रति यथासंख्यं न भवति, तयोः प्रत्ययार्थविशेषणत्वेन प्रकृतिभ्यां प्रत्ययाभ्यां चासम्बन्धात्॥

न्यासः

पुत्राच्छ च ॥ **सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ** ॥ **तस्येश्वरः** ॥ 'तस्य निमित्तम्' इत्यतस्तस्यग्रहणमनुवर्त्तते, तत् किमर्थं पुनस्तस्य निर्देशः? इत्याह—**षष्ठीप्रकरणे पुनः षष्ठीसमर्थविभक्तिनिर्देश इत्यादि**। **प्रत्ययार्थस्येति**। निमित्तस्य। **अन्यथेति**। यदि षष्ठीनिर्देशः प्रत्ययार्थे निवृत्त्यर्थो न क्रियते, ततो यथा संयोग उत्पातश्च प्रत्ययार्थविशेषणम्, तथेश्वरोऽपि, तस्यैव विशेषणं सम्भाव्येत। तथा चेश्वरविशिष्टे निमित्त एव प्रत्ययः स्यात्।

तत्र विदित इति च ॥ ४३ ॥

'तत्र' इति सप्तमीसमर्थाभ्यां सर्वभूमि-पृथिवीशब्दाभ्यां यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतः 'विदितः' इत्येतस्मिन्नर्थे । विदितः=ज्ञातः, प्रकाशित इत्यर्थः । सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः । पार्थिवः ॥

लोकसर्वलोकाट्ठञ् ॥ ४४ ॥

लोक-सर्वलोक-शब्दाभ्यां तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्यां 'विदितः' इत्येतस्मिन्विषये ठञ् प्रत्ययो भवति । लोके विदितः लौकिकः । सार्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः ॥

तस्य वापः ॥ ४५ ॥

'तस्य' इति सप्तमीसमर्थाद् 'वापः' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं षष्ठी प्रत्ययो भवति । उप्यतेऽस्मिन्वापः, क्षेत्रमुच्यते । प्रस्थस्य वापः क्षेत्रं प्रास्थिकम् । द्रौणिकम् । खारीकम् ॥

पात्रात्ष्ठन् ॥ ४६ ॥

पात्रशब्दात् ष्ठन् प्रत्ययो भवति 'तस्य वापः' इत्येतस्मिन्विषये । ठञोऽपवादः । नकारः स्वरार्थः । षकारो ङीषर्थः । पात्रशब्दः परिमाणवाची । पात्रस्य वापः पात्रिकं क्षेत्रम् । पात्रिकी क्षेत्रभक्तिः ॥

तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥ ४७ ॥

पदमञ्जरी

तत्र विदित इति च ॥ योगविभागो यथासङ्ख्यनिरासार्थः, उत्तरार्थश्च ॥

तस्य वापः ॥ तस्येति वापापेक्षया कर्मणि षष्ठी, न तु कर्त्तरि, तेन देवदत्तस्य वापः क्षेत्रमित्यादौ न भवति ॥

न्यासः

तत्र विदित इति च ॥ ईश्वरानुकर्षणार्थश्चकारः । इतिकरणो विवक्षार्थः ॥

लोकसर्वलोकाट्ठञ् ॥ सर्वत्र ठञ्ग्रहणं ठको निवृत्त्यर्थम्, अन्यथा हि प्रकृतिमात्रनिर्देशे क्रियमाणे आर्हादिति ठक्प्रसज्येत ॥

तस्य वापः ॥ उप्यतेऽस्मिन् वाप इति । अधिकरणसाधनः 'हलश्च' इति घञ् ।

पात्रात् ष्ठन् ॥ पात्रशब्दः परिमाणवाचीति । ठञोऽपवाद इति । अत्रेयं युक्तिः— यदि ह्यपरिमाणवाची स्यात् तदार्हीयस्य ठकोऽपवादः, न ठञः । पात्रिकीति । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् ॥

'तत्' इति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं वृद्ध्यादि चेत्तद्दीयते । 'दीयते' इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्र यदधमर्णेन उत्तमर्णाय मूलधनातिरिक्तं देयं तद् वृद्धिः । ग्रामादिषु स्वामिग्राह्यो भागः=आयः । पटादीनामुपादानमूलादतिरिक्तं द्रव्यं=लाभः । रक्षानिर्वेशो राजभागः=शुल्कः । उत्कोचः=उपदा । पञ्चास्मिन्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते पञ्चकः । सप्तकः । शत्यः । शतिकः । साहस्रः ।

पदमञ्जरी

तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥ *दीयत इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यत इति* । तेन वृद्ध्यादीनां बहुत्वेऽपि बहुवचनं न भवतीति भावः । प्रत्येकं सम्बन्धस्तु द्वन्द्ववर्त्तिनां पदानां बुद्ध्या निष्कर्षाल्लभ्यते, एतच्च दीयत इत्यस्य विशेषणस्य वृद्ध्युपक्रमत्व उक्तम्, यदा तु यत्तत्प्रथमासमर्थं दीयते चेत्तद्भवतीत्येवमुपक्रम्यते, पश्चात्तु किं पुनस्तद्दीयत इत्यपेक्षायां वृद्ध्यादयः संबध्यन्ते तदा न किञ्चिदयत्नसाध्यम् । *उत्तमर्णधनातिरिक्तमिति* । उत्तमर्णेन यद्दत्तम् धनं तस्मादधिकमित्यर्थः, संज्ञा वृद्धिस्तु न गृह्यते; आयादिभिः साहचर्यात् । *उपादानमूलातिरिक्तमिति* । पटादीनामुपादानं तन्त्वादि, तस्य मूलमुत्पत्तिकारणं द्रव्यम्, तस्मादधिकं पटादि विक्रयेण यल्लभ्यते स लाभः, निर्वेशो भृतिः, रक्षानिमित्तको निर्वेशो रक्षानिर्वेशः, सम्बन्धषष्ठ्या समासः । शुल्कग्रहणं प्रपञ्चार्थम्, तस्याप्यायविशेषत्वात्, तथा च 'ठगायस्थानेभ्यः' इति शुल्कस्थानादपि भवति शौल्कशालिक इति । यत्र ग्रामादौ वृद्ध्यादि दीयते तत्र प्रत्ययो विधीय-

न्यासः

तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥ ननु च वृद्ध्यादीनां बहुत्वाख्यानेनैव बहुवचनं तेन भवितव्यमिति कथं दीयत इत्येकवचनान्तेन तस्य निर्देशः ? इत्याह—**दीयत इत्येकवचनमित्यादि** । यदि समुदितैर्वृद्ध्यादिभिः सम्बन्धः क्रियते तर्हि स्याद् बहुवचनम् । न च तैः समुदितैः क्रियते, किं तर्हि ? प्रत्येकम्, अत एकवचनमेव । वृद्धिशब्द इह लौकिको धनविशेषवाची गृह्यते, न च संज्ञापदम्; आयादिभिर्धनविशेषवाचिभिः सह निर्देशात् । अत एवाह—**तत्रेत्यादि** । उत्तमर्णस्य यद्धनं तस्मादतिरिक्तमधिकं धनमधमर्णेन यद् दातव्यं तद् वृद्धिः । **ग्रामादिष्विति** । आदिशब्देन क्षेत्रादि । **पटादीनामित्यादि** । पटादीनां व्यवह्रियमाणानामुपादानं सूत्रादि । तस्य यन्मूल्यं तस्मादतिरिक्तं द्रव्यं पटादिविक्रयेण यल्लभ्यते स लाभः । **रक्षानिर्वेश इति** । वणिजां रक्षाकारी राज्ञो भागो रक्षानिर्वेश इत्युच्यते । ननु

चतुर्थ्यर्थ उपसंख्यानम् ॐ ।। पञ्चास्मै वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते पञ्चको देवदत्तः ।

सिद्धं त्वधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् । सममब्राह्मणे दानमिति यथा ।।

पूरणार्धाट्ठन् ।। ४८ ।।

पूरणवाचिनः शब्दादर्धशब्दाच्च ठन् प्रत्ययो भवति, 'तदस्मिन्नवृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते' इत्येतस्मिन्नर्थे । यथायथं ठक्टिठ-

पदमञ्जरी

मानः संप्रदाने न प्राप्नोतीत्यत आह—*चतुर्थ्यर्थ उपसंख्यानमिति* । *सिद्धं त्विति* । विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति संप्रदानस्यैवाधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात्सिद्धमिष्टमित्यर्थः । क यथेत्याह—*सममिति* ॥

पूरणार्द्धाट्ठन् ।। *पूरणवाचिन इति* । पूर्यते येनार्थः स पूरणः, तद्वाचिन इत्यर्थः । एतेन 'पूरण' इत्यर्थस्येदं ग्रहणम्, न तु प्रत्ययस्येति दर्शयति । यदि तु पूरणग्रहणं स्वर्येत ततः स्वरितेनाधिकारगतिर्भवतीति 'तस्य पूरणे डट्' इति पूरणाधिकारविहिता डटादयः प्रत्यया गृह्येरन्, यथा–गोस्त्रियोरित्यत्र स्त्र्यधिकारविहिताष्टाबादयः, ततश्च 'पूरणाद्भागे तीयादन्' इत्यनन्तान्न स्यात्, अर्थग्रहणे ततोऽपि भवति, तदन्तमपि हि पूरण एवार्थे वर्त्तते, स्वार्थिकत्वादनः । तस्मादर्थग्रहणमेव न्याय्यम् । *ठक्टिठनोरपवाद इति* । पूरणादार्हीयस्य ठकोऽपवादः । अर्द्धादपि-

न्यासः

चासावप्यायः, तदपार्थकं शुल्कस्य पृथगुपादानम् ? नैतदस्ति; पञ्चास्मिन् ग्राम आय इत्यायं प्रति ग्रामस्याधिकरणभावः; उत्पाद्यमानस्यायस्याधेयभावात् । शुल्के तु न सम्भवति । पञ्चास्मिन् शते शुल्का इति शतं न शुल्कस्याधिकरणम्, किं तर्हि ? इयत्तापरिच्छेदः शतेन शुल्कस्य क्रियते । तस्मादस्य भिन्नत्वाद् शुल्कः पृथगुक्तः ।

सिद्धं त्वित्यादि । विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति सम्प्रदानाख्ये चाधिकरणत्वेन विवक्षेत्याह—समेत्यादि । गतार्थम् ।।

पूरणार्द्धाट्ठन् ।। पूरणवाचिन इति । पूर्यते येनार्थेन स पूरणः, तद्वाचिनः प्रातिपदिकात् । एतेन 'पूरण' इत्यर्थस्य ग्रहणम्, न प्रत्ययस्येति दर्शयति । कथञ्च प्रत्ययस्य ग्रहणं स्यात् ? यदि पूरणग्रहणं स्वर्येत । तस्मिन् हि स्वर्यमाणे 'तस्य पूरणे डट्' इत्यधिकृत्य ये प्रत्यया विहितास्ते गृह्येरन् । किञ्च स्यात् ? 'पूरणाद् भागे तीयादन्' इत्यन्नन्ताट् ठन् न स्यात्; अपूरणप्रत्ययान्तत्वात् । तस्याग्रहणे तु सति स्वार्थिकः स्यादन् । तस्मिन्नप्युत्पन्ने पूरण एवार्थे तदन्तमपि वर्त्तत इति ततोऽपि ठन् सिद्धो भवति । ठक्टिठनोरपवाद इति । पूरणादार्हीयस्य ठकोऽपवादः । अर्धादपि 'अर्द्धा-

नोरपवादः । द्वितीयो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते द्वितीयिकः । तृतीयिकः । पञ्चमिकः । सप्तमिकः । अर्धिकः । अर्धशब्दो रूपकार्धस्य रूढिः ॥

भागाद्यच्च ॥ ४९ ॥

भागशब्दाद्यत् प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठँश्च, 'तदस्मिन्वृद्ध्याय-लाभशुल्कोपदा दीयते' इत्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । भागो वृद्ध्या-दिरस्मिन्दीयते भाग्यम्, भागिकं शतम् । भाग्या, भागिका विंशतिः । भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः ॥

तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः ॥ ५० ॥

'तत्' इति द्वितीयासमर्थाद्धरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति । प्रकृतिविशेषणम्—'भाराद्वंशादिभ्यः' इति। वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तात्प्रातिपदिकादिति । वंशभारं हरति वहत्या-

पदमञ्जरी

अर्द्धाच्चेति वक्तव्यमिति टिठनः । स्त्रियां च विशेषः, टिठिनि हि सति ङीप् स्यात्, ठनि तु टाप् भवति । *अर्द्धशब्दो रूपकार्द्धस्य रूढिरिति* । रूपकम्=कार्षा-पणम्, तदीयस्य भागस्यार्द्धशब्दो वाचकत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः । तेनार्द्धिक इति भागवत्सापेक्षत्वेनासामर्थ्यं नोद्भावनीयमिति भावः ॥

भागाद्यच्च ॥ *भागशब्दोऽपीति* । न केवलमर्द्धशब्द एवेत्यपिशब्दार्थः ॥

तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः ॥ *प्रकृतिविशेषणमिति* । प्रकृतिः प्रातिपदिकम्, तस्य विशेषणम् । विशेषणप्रकारमेव दर्शयति—*वंशादिभ्य इत्यादि* ।

न्यासः

च्चेति वक्तव्यम्' इत्यौपसंख्यानिकस्य टिठनः । ठकि टिठनि च सति ङीप् स्यात्, ठनि तु टाब् भवति । द्वितीयिक इति । द्वयोः पूरण इति 'द्वेस्तीयः' इति तीयप्रत्ययः । तृतीयिक इति । 'त्रेः सम्प्रसारणञ्च' । पञ्चमिकः, सप्तमिक इति । 'तस्य पूरणे डट्' इति डट् प्रत्ययः, तस्य 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' इति मडागमः ॥

भागाद्यच्च ॥ ठञोऽपवाद इति । न ठकः; भागशब्दस्य परिमाणत्वात् । ननु चाङ्गमात्रवचनोऽपि भागशब्दोऽस्ति ? सत्यमस्ति; न तु तस्येह ग्रहणम् । तस्य हि ग्रहणे वृद्ध्यादिभिः सम्बन्धो नोपपद्यते । परिमाणवचनस्तु प्रसिद्धो रूपकांशे वर्त्तत इति वृद्ध्यादिभिः सम्बन्धः उपपद्यते ॥

तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः ॥ प्रकृतिविशेषणमित्यादि । प्रकृतेः प्राति-पदिकस्य । भाराद् वंशादिभ्य इत्यर्थ इति । अत्रार्थे वंशादय एव शब्दाः प्रत्यय-मुत्पादयन्ति ।

वहति वा वांशभारिकः । कौटजभारिकः । बाल्वजभारिकः ।

भारादिति किम् ? वंशं हरति । वंशादिभ्य इति किम् ? व्रीहिभारं हरति ।

अपरा वृत्तिः—भाराद्वंशादिभ्य इति, भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इत्यर्थः । भारशब्दोऽर्थद्वारेण वंशादीनां विशेषणम् । भारभूतान्वंशान् हरति वांशिकः । कौटजिकः । बाल्वजिकः । भारादिति किम् ? वंशं हरति । वंशादिभ्य इति किम् ? भारभूतान् व्रीहीन् वहति ।

सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, तदुभयमपि ग्राह्यम् । हरति देशान्तरं प्रापयति चोरयति वा । वहत्युत्क्षिप्य धारयतीत्यर्थः । आवहति उत्पादयतीत्यर्थः ।

वंश । कुटज । बल्वज । मूल । अक्ष । स्थूणा । अश्मन् । अश्व । इक्षु । खट्वा । वंशादिः ॥

वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ॥ ५१ ॥

वस्न-द्रव्यशब्दाभ्यां द्वितीयासमर्थाभ्यां यथासंख्यं ठन्, कन्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो हरत्यादिष्वर्थेषु । वस्नं हरति वहति वा वस्निकः । द्रव्यकः ॥

पदमञ्जरी

वंशादिभ्य इति किमिति । भारान्तादिति कस्मान्नोक्तमिति भावः । अत एव तदन्तं प्रत्युदाहरति—*व्रीहिभारं वहतीति* । *भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इति* । ननु वंशादयः शब्दास्ते कथं भारभूता इत्यत आह—*भारशब्दोऽर्थद्वारेण वंशादीनां विशेषणमिति* । भारभूतार्थाभिधायित्वाद्भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इत्युक्तमित्यर्थः । सूत्रे तु प्रत्येकं सम्बन्धादेकवचनम् ॥

वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ॥ वस्नशब्देन मूल्यमुच्यते ॥

न्यासः

ननु च वंशादयः शब्दाः, भार इत्यपि शब्द एव; न च शब्दः शब्दान्तरस्य समानाधिकरणं विशेषणमुपपद्यते, तत् कथं भारभूतेभ्यो वंशादिभ्य इत्येषोऽर्थो भवति ? इत्याह—**भारशब्दोऽर्थद्वारेणेत्यादि** । वंशादीनामर्थस्य भारशब्दस्यार्थो मुख्यं विशेषणम्, अर्थद्वारेण तु वंशादीनां भारशब्दस्य चोपचरितम् । अर्थधर्मेण शब्दोऽपि तथा व्यपदिश्यत इत्यर्थः ॥

वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ॥ पूर्वेण ठकि प्राप्ते तदपवादौ ठन्कनौ विधीयेते ॥

संभवत्यवहरति पचति ॥ ५२ ॥

'तत्' इति द्वितीया समर्थविभक्तिरनुवर्तते। तदिति द्वितीया-समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति। तत्राधेयस्य प्रमाणानतिरेकः=सम्भवः। उपसंहरणम्=अवहारः। विक्लेदनम्=पाकः। प्रस्थं संभवति अवहरति पचति वा प्रास्थिकः। कौडविकः। खारीकः।

ननु च पाके च सम्भवोऽस्ति ? नास्त्यत्र नियोगः—प्रस्थं पचति ब्राह्मणी प्रास्थिकी।

* तत्पचतीति द्रोणादण्च *। द्रोणं पचति द्रौणी। द्रौणिकी॥

आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतरस्याम् ॥ ५३ ॥

आढकाचितपात्रशब्देभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्योऽन्यतरस्यां संभवादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। आढकं संभवत्यवहरति पचति वा आढकीना, आढकिकी। आचितीना, आचितिकी। पात्रीणा, पात्रिकी॥

पदमञ्जरी

संभवत्यवहरति पचति ॥ *प्रमाणानतिरेक इति*। आधारप्रमाणादाधेयप्रमाणस्यानाधिक्यमित्यर्थः। तदुपसर्जने च धारणे संभवतेर्वृत्तिरिति सकर्मकत्वम्। *उपसंहरणमवहार इति*। आधारप्रमाणादाधेयप्रमाणस्य न्यूनतेत्यर्थः, तदुपसर्जने च धारणेऽवहरतेर्वृत्तेः सकर्मकत्वम्, सूत्रे स्पष्ट उपसर्गः। *नास्त्यत्र नियोग इति*। नियोगः=अवश्यम्भावः। *तत्पचतीति द्रोणादण् चेति*। पचतिग्रहणं सम्भवत्यवहरतीति निवृत्त्यर्थम्, द्रोणपरिमिते च व्रीह्यादौ द्रोणशब्दस्तस्य पाकसम्भवात्॥

आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतरस्याम् ॥ *ठञोऽपवाद इति*। न ठकः, आढकादीनां परिमाणत्वात्। पात्रं भाजनमप्यस्ति, तस्य तु सम्भवत्यादिभिः सम्बन्धानुपपत्तेः, आढकाचितसाहचर्याच्च परिमाणस्यैव ग्रहणम्॥

न्यासः

सम्भवत्यवहरति पचति ॥ **प्रमाणानतिरेक इति**। प्रमाणादनाधिक्यमित्यर्थः। ननु चेत्यादि। तथा हि—स्थालीप्रस्थं पचति तत्रावश्यं प्रस्थस्य सम्भवेन भवितव्यम्; न ह्यन्यथा शक्यते पक्तुमित्यभिप्रायः। नास्त्यत्र नियोग इति। व्यभिचारमाह—प्रस्थं पचति ब्रह्माणीति। अत्र हि पाक एव गम्यते, न सम्भवः॥

आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ॥ **ठञोऽपवाद इति**। आढकादीनां परिमाणत्वात् पूर्वेण प्राप्तस्य॥

द्विगोष्ठँश्च ॥ ५४ ॥

'आढकाचितपात्रात्' इत्येव । आढकाचितपात्रान्ताद् द्विगोः संभवत्यादिष्वर्थेषु ष्ठन् प्रत्ययो भवति चकारात्खः, अन्यतरस्याम् । विधानसामर्थ्यादनयोर्लुग्न भवति । ठञस्तु पक्षेऽनुज्ञातस्य 'अध्यर्धपूर्वद्विगोः' इति लुग्भवत्येव । नकारः स्वरार्थः । षकारो ङीषर्थः । द्व्याढकी, द्व्याढकीना, द्व्याढकी |द्व्याचितिकी, द्व्याचितीना, द्व्याचिता । 'अपरिमाणबिस्ताचित' इति ङीषः प्रतिषेधः । द्विपात्रिकी, द्विपात्रीणा, द्विपात्री ॥

कुलिजाल्लुक्खौ च ॥ ५५ ॥

'द्विगोः' इत्येव । कुलिजशब्दान्ताद् द्विगोः संभवत्यादिष्वर्थेषु लुक्खौ भवतः । चकारात्ष्ठँश्च । 'अन्यतरस्याम्' ग्रहणानुवृत्त्या लुगपि विकल्प्यते, ठञः पक्षे श्रवणं भवति । तेन चातूरूप्यं संपद्यते—द्वे कुलिजे संभवत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजा, द्वैकुलिजिकी ॥

पदमञ्जरी

द्विगोष्ठँश्च ॥ *द्व्याचितेति* । ठञो लुक्, 'अपरिमाणबिस्ताचित' इति ङीपः प्रतिषेधः ॥

कुलिजाल्लुक्खौ च ॥ *अन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्त्या लुगपि विकल्प्यत इति* । तच्च लुक्खग्रहणाद्विज्ञायते, अन्यथा कुलिजाच्चेत्येव वक्तव्यम्, द्विगोश्चेत्येव खोऽन्यतरस्यामिति च तत्र ठन्खाभ्यां मुक्ते पक्षे ठञ्, तस्य 'अध्यर्द्धपूर्व' इति लुक् । एवं रूपत्रये सिद्धे लुक्खग्रहणं कुर्वतः सूत्रकारस्य 'लुकोऽपि विकल्प इष्ट इति लक्ष्यते' इति मन्यते । *वा*.त्तिककारस्तु ठञो नित्यं लुकं मन्यमानः पूर्वसूत्रवत्

न्यासः

द्विगोः ष्ठंश्च ॥ पूर्वेण ठन्खयोः प्राप्तयोस्ततश्च लुकीदमुच्यते । विधानसामर्थ्यादनयोर्लुग्न भवतीति । यदि ह्यत्रापि लुक् स्याद् विधानमनर्थकं स्यात् । ठञस्तु पक्षेऽनुज्ञातस्येति । अन्यतरस्यांग्रहणेन । द्व्याढकीति । ठञो लुक्पक्षे 'द्विगोः' इति ङीप् । द्व्याचितेति । 'अपरिमाण' इत्यादिना ङीप्प्रतिषेधे टाप् ॥

कुलिजाल्लुक्खौ च ॥ चातूरूप्यमिति । एकं खे रूपम्, ष्ठनि द्वितीयम्, लुकोऽपि विकल्पितत्वाट्ठञोऽलुकि तृतीयम्, लुकि चतुर्थम् ।

'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' इत्यत्र कुलिजग्रहणमपीष्यते, तेनोत्तरपदवृद्धिरपि न भवति ॥

सोऽस्यांशवस्नभृतयः ॥ ५६ ॥

'स' इति प्रथमासमर्थात् 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तात् प्रथमासमर्थमंशवस्नभृतयश्चेत्ता भवन्ति। अंशः=भागः। वस्नम्=मूल्यम्। भृतिः=वेतनम्। पञ्च अंशो वस्नो वा भृतिर्वास्य पञ्चकः। सप्तकः। साहस्रः ॥

तदस्य परिमाणम् ॥ ५७ ॥

'तत्' इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत् प्रथमासमर्थं परिमाणं चेत्तद्भवति। प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः। खारशतिकः। शत्यः, शतिकः। साहस्रः। द्रौणिकः। कौडविकः। वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकः। वार्षसहस्रिकः। षष्टिर्जीवितपरिमाणमस्येति षाष्टिकः। साप्ततिकः।

पदमञ्जरी

त्रैरूप्यमेवेच्छन् लुक्खग्रहणं प्रत्याचष्टे, 'कुलिजाच्च' इति सिद्धे लुक्खग्रहणानर्थक्यम्, पूर्वस्मिन् त्रिकभावादिति ॥

सोऽस्यांशवस्नभृतयः ॥ इह च शतं यस्य वस्नो भवति स तेन क्रीतो भवति, तत्र तेन क्रीतमित्येव सिद्धम् नार्थो वस्नग्रहणेन ? नैतदस्ति; योग्यतामात्रेऽप्यस्येदं मूल्यमिति व्यवहारात् ॥

तदस्य परिमाणम् ॥ इह परिच्छेदहेतुमात्रं परिमाणम्, न सर्वतो मानमेव; उत्तरसूत्रे संख्यायाः परिमाणेन विशेषणात्। *खारशतिक इति*। खारशब्दोऽकारान्तो वार्तिककारवचनात्साधुः, तेन हि 'तदस्य परिमाणम्' इत्यत्र योगविभागः कर्त्तव्य इति दर्शयितुमुक्तम्—'अन्येभ्योऽपि दृश्यते खारशताद्यर्थम्' इति। *वार्षशतिक इति*। यज्ञादौ परिमाणिनि प्रत्ययः। *षष्टि जीवितपरिमाणस्येति*। संवत्-

न्यासः

ननु च कुलिजशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् 'परिमाणान्तस्य' इत्युत्तरपदवृद्धिः कस्मान्न भवति ? इत्यत आह—परिमाणान्तस्येति। 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणकुलिजात्' इत्येवैतत् सूत्रं प्रत्येतव्यमिति दर्शयति ॥

सोऽस्यांशवस्नभृतयः ॥ 'वस्नद्रव्याभ्याम्' इत्यत्रापि वस्नशब्देन मूल्यमुच्यते ॥

तदस्य परिमाणम् ॥ प्रास्थिको राशिरित्यादौ सर्वत्र ठञ्। द्विषाष्टिक इत्यादि। 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः।

समर्थविभक्तिः प्रत्ययार्थश्च पूर्वसूत्रादेवानुवर्त्तिष्यते, किमर्थं पुनरनयोरुपादानम् ? पुनर्विधानार्थम् । द्वे षष्टी जीवितपरिमाणमस्य द्विषाष्टिकः । द्विसाप्ततिकः । पुनर्विधानसामर्थ्याद् 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुक्' न भवति ॥

संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु ॥ ५८ ॥

'तदस्य परिमाणम्' इति वर्त्तते । संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् परिमाणोपाधिकात्प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । 'संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति प्रत्ययार्थविशेषणम् ।

पदमञ्जरी

सरेषु षष्टिशब्दः, संवत्सरसंख्यया हि जीवितं प्रायेण परिच्छिद्यते, जीवितपरिच्छेदद्वारेण तद्वतोऽपि षष्टिः संवत्सराः परिमाणमिति । तदस्मिन्परिमाणिनि प्रत्ययः । ननु यस्य षष्टिर्जीवितपरिमाणं षष्टिमसौ भृतो भवति तत्र तमधीष्टो भृतो भूतो भावीत्येव सिद्धम् । एवं च द्विषाष्टिक इत्यादौ नैवाध्यर्द्धपूर्वेति लुक्प्रसङ्गः, तस्यानार्हीयत्वात्, ततश्च समर्थविभक्तेः प्रत्ययार्थस्य च पुनरुपादानेन विधानमपि न कर्त्तव्यम्, न च जीवितपरिमाणादन्यत्र पुनर्विधानेन लुगभाव इष्यते ? एवं मन्यते—तमधीष्ट इत्यत्र कालादिति वर्त्तते, न च षष्ट्यादयः कालशब्दाः । अथ काले संख्येये वर्त्तमानत्वात्तेऽपि कालशब्दाः ? रमणीयादिष्वतिप्रसङ्गः, रमणीयं कालं भूत इति । तस्माद्यः कालं न व्यभिचरति स एव कालशब्द इति । *द्विषाष्टिक इति* । 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः ॥

संख्याः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु॥ परिमाणोपाधिकादिति । नात्र रूढिपरिमाणं गृह्यते, किं तर्हि ? क्रियाशब्दः—परिमीयते येन तत्परिमाणम् । संख्ययापि च परिमीयत इति नासम्भवि विशेषणम्, नन्वेवमप्यव्यभिचारादविशेषणम्, न ह्यप-

न्यासः

पुनर्विधानसामर्थ्यादित्यादिना पुनर्विधानफलं दर्शयति । 'द्विषाष्टिकः' इत्यादौ द्विः प्रत्ययविधानम्, तत्र पूर्वसूत्रात् समर्थविभक्तेः प्रत्ययार्थस्यानुवृत्तेः प्रथमं प्रत्ययो विधीयते, तस्य 'अध्यर्द्धपूर्व' सूत्रेण लुग्भवति । नन्विह च यः सूत्रे समर्थविभक्तेः प्रत्ययार्थस्य चोपादानात् पुनर्विधीयते तस्यापि पुनविधानमनर्थकं स्यात् ॥

संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु ॥ परिमाणोपाधिकादिति । परिमाणमुपाधिर्विशेषणं न सम्भवति, न हि शब्दः परिमाणं शब्दस्य सम्भवतीति ? तदर्थस्य विशेषणं विज्ञास्यत इत्यदोषः । ननु चार्थस्यापि न सम्भवति, संख्या हि नैव परिमाणम् ? नैष

तत्र संज्ञायां स्वार्थे प्रत्ययो वाच्यः—पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः। त्रिकाः शालङ्कायनाः।

सङ्घ—पञ्च परिमाणमस्य, पञ्चकः सङ्घः। अष्टकः।

सूत्र—अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकं पाणिनीयम्। दशकं वैयाघ्रपदीयम्। त्रिकं काशकृत्स्नम्। ननु चाध्यायसमूहः सूत्र-सङ्घ एव भवति? नैतदस्ति; प्राणिसमूहे सङ्घशब्दो रूढः।

अध्ययन—पञ्चकोऽधीतः। सप्तकोऽधीतः। अष्टकः। नवकः।

पदमञ्जरी

रिच्छेदिका संख्यास्ति, सत्यम्; इह तु प्रत्ययार्थस्य संघादेर्यदा परिच्छेदिका संख्या तदा प्रत्ययो यथा स्यात्—पञ्च गावः परिमाणमस्य पञ्चको गोसङ्घ इति; इह मा भूत्—पञ्च गावः स्वभूता अस्य ब्राह्मणसङ्घस्येति, न ह्यत्र सङ्घस्येयत्तागम्यते, तस्मात्प्रत्ययार्थस्य यदा परिच्छेदिका संख्या तदा यथा स्यादिति विशेषणमर्थवद्भवति।

तत्रेत्यादि। इहादशभ्यः संख्याः संख्येये वर्तन्ते, न तु संख्यानमात्रे। तत्र य एव शकुनयः पञ्चत्वसंख्यायुक्ताः पञ्चन्शब्दवाच्यास्त एव पञ्चकशब्दस्यापि, ततश्च परिमाणपरिमाणिभावाभावात्स्वार्थ एव प्रत्ययो वक्तव्यः। यदा तु वृत्ति-विषये संख्यानमात्रवृत्तित्वं पञ्चादीनामाश्रीयते, यथा—'द्व्येकयोः' इत्यत्र, तदा सम्भवत्येव परिमाणी प्रत्ययार्थः—पञ्चत्वसंख्या परिमाणमेषां पञ्चकाः शकुनय इति। *पञ्चकमध्ययनमिति।* पूर्वं तु पञ्चकोऽधीते इति सम्पाठापेक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, 'अधीते' इति च कृत इत्यर्थः। यथा—ओदनपाकं पचत्योदन-पाकं करोतीत्यर्थः।

न्यासः

दोषः; नात्र रूढः परिमाणशब्दो गृह्यते, किं तर्हि? क्रियाशब्दः—परिमीयते येन तत् परिमाणमिति। संख्ययापि च परिमीयत इति सापि परिमाणम्। नन्वेवमपि विशेषण-मनर्थकम्; न ह्यपरिच्छेदिका संख्यास्ति, सङ्ख्यानलक्षणा हि संख्योच्यते? सत्यम्; परिच्छेदि-कैव संख्या, सा तु स्वस्याभिधेयं परिच्छिनत्तीति षष्ठ्यर्थमवश्यं न परिच्छिनत्ति। पञ्चास्य सङ्घस्य पुत्रा इति नात्र सङ्घस्येयत्ता प्रतीयते। इह तु पञ्चसंख्या परिमाणमस्य सङ्घस्येति भवतीयत्ताप्रतीतिः सङ्घस्य। तस्मादुपपन्नं संख्यायाः परिमाणं विशेषणम्।

तत्रेत्यादि। पञ्चशब्दोऽयं संख्येय एव वर्त्तते, न कदाचिदपि संख्यानमात्रे। ततश्च य एव संख्येयाः पञ्चत्वसंख्ययावच्छिन्नाः पञ्चशब्देनोच्यन्ते, प्रत्ययान्तेनापि त एव। न हि तेषां भिन्नानामत्र संख्येयान्तरं परिमाणं प्रत्ययवाक्यं सम्भवति। तस्मात् संज्ञायां स्वार्थ एव प्रत्ययो वाच्यः। तथा चाह वार्त्तिककारः—'संज्ञायां स्वार्थे उत्पद्यते' इति।

अधीतिः=अध्ययनम्, तस्य संख्यापरिमाणं पञ्चावृत्तयः=पञ्च वाराः, पञ्चरूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम् ।

❀ स्तोमे डविधिः पञ्चदशाद्यर्थः ❀ । पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । एकविंशः ।

❀ शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि ❀ । पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः । त्रिंशिनो मासाः ।

❀ विंशतेश्चेति वक्तव्यम् ❀ । विंशिनोऽङ्गिरसः ॥

पदमञ्जरी

स्तोमे डविधिरिति । सोमयागेषु छन्दोगैः क्रियमाणा पृष्टादिस्तुतिः स्तोमः । *पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्येति* । साम्ना स्तुवीत, एकं साम तृचे क्रियते इति स्तुतिविधिः । तत्र त्रिकस्य पञ्चकृत्व आवृत्त्या पञ्चदश मन्त्रा भवन्ति, सप्तदशस्तोमे अन्त्यायाः सप्तकृत्व आवृत्तिः, एकविंशे तृचस्य । डित्करणमेकविंशे तिलोपार्थम्, त्रयस्त्रिंशादौ टिलोपार्थं च । पञ्चदशः, सप्तदश इत्यत्र तु 'नस्तद्धिते' इत्यनेनैव टिलोपः सिद्धः ।

शन्शतोर्डिनिरिति । 'स्तोमे' इति न सम्बध्यते । अत्रापि डित्करणं शदन्तस्य टिलोपार्थम् । *पञ्चदशिन इति* । पञ्चदशाहानि परिमाणमेषामिति डिनिः । एतेन त्रिंशिनो व्याख्याताः ।

विंशिनोऽङ्गिरस इति । 'आङ्गिरसायास्य गौतम' इत्यादिप्रवरभेदेन भिन्नानि विंशतिरवान्तरगोत्राणि परिमाणमेषामित्यर्थः ।

योगश्चायं पूर्वस्यैव प्रपञ्चः ॥

न्यासः

पञ्चकोऽधीत इति पाठापेक्षया पुंल्लिङ्गः । **अधीतिरध्ययनमिति** । अनेन भावसाधनमध्ययनशब्दं दर्शयति । यद्यधीयत इत्यध्ययनं कर्मसाधनोऽध्ययनशब्दः स्यात्, सूत्रग्रहणं पृथग्वक्तव्यं न स्यात्; अध्ययनग्रहणेनैव सिद्धत्वात्, सूत्रमप्यधीयत एव । **पञ्चावृत्तय इति** पाठे पुनः क्रियात्मिकाः पञ्च वारा इत्यादिना पर्यायान्तरेण पञ्चावृत्तय इत्यस्यैवार्थं व्यक्तीकरोति ।

स्तोमे डविधिरिति । अत्रापि च्छन्दसीति सम्बध्यते । मन्त्रसमुदायः=स्तोमः । **एकविंश इति** । 'अतो गुणे' पररूपत्वञ्च, 'ति विंशतेर्डिति' इति तिशब्दलोपः ।

शन्शतोरित्यादि । शन्नित्येवमन्ताच्छन्दसि डिनिर्वक्तव्यः ॥

पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टि-सप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥ ५६ ॥

'तदस्य परिमाणम्' इति वर्त्तते। पंक्त्यादयः शब्दा निपात्यन्ते। यदिह लक्षणेनानुपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्। पञ्चानां टिलोपः, तिः प्रत्ययश्चः। पञ्च परिमाणमस्य पंक्तिश्छन्दः। द्वयोर्दशतोर्विन्भावः शतिश्च प्रत्ययः—द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्य विंशतिः। त्रयाणां दशतां त्रिन्भावः शच्च प्रत्ययः—त्रयो दशतः परिमाणमस्य त्रिंशत्। चतुर्णां दशतां चत्वारिन्भावः शच्च प्रत्ययः—चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत्। पञ्चानां दशतां पञ्चाभावः शच्च प्रत्ययः—पञ्च दशतः परिमाणमस्य पञ्चाशत्। षण्णां दशतां षड्भावः, तिः प्रत्ययः, अपदत्वं च—षड् दशतः परिमाणमस्य षष्टिः। सप्तानां दशतां सप्तभावः तिः प्रत्ययश्च—सप्तदशतः परिमाणमस्य सप्ततिः। अष्टानां दशतामशीभावस्तिः प्रत्ययश्च—अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः। नवानां दशतां नवभावस्तिः प्रत्ययश्च—नवदशतः परिमाणमस्य नवतिः। दशानां दशतां शभावः तश्च प्रत्ययः—दश दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्य शतम्।

पदमञ्जरी

पंक्तिविंशतित्रिंशचत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥ *पंक्त्यादयः शब्दा निपात्यन्त इति*। प्रकृतिनिर्देशस्त्वयं न भवति; पंक्त्यादिभ्यः प्रकृतेऽर्थेऽधिकृतः प्रत्ययो भवतीति पञ्चम्या अनुपादानात्, पूर्वेणैव च सिद्धत्वात्, उत्तरेण निपातनेन साहचर्याच्च। प्रत्ययनिर्देशोऽपि न भवति—ङ्याप्प्रातिपदिकात्प्रकृतेऽर्थे पंक्त्यादयः प्रत्यया भवन्तीति, लोके शास्त्रे च 'शताच्च ठन्यतावशते' इत्यादौ केवलानां प्रयोगदर्शनाद्। यत्र समुदायः श्रूयते, अवयवा अनुमीयन्ते तन्निपातनम्, विपरीतो विधिः। *पञ्चानामिति*। अर्थगतस्य बहुत्वस्य

न्यासः

पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥ अपदत्वं चेति। पदनिबन्धनस्य जश्त्वादेः कार्यस्य प्रतिषेधार्थमिहैते विंशत्यादयः परिमाणे निपात्यन्ते। 'तदस्य परिमाणम्' इत्यधिकारे निपातनात्। एवञ्च गवां विंशतिरिति षष्ठी व्यतिरेकनिबन्धना न प्राप्नोति।

पदमञ्जरी

शब्दे समारोपाद् बहुवचनम्, पञ्चशब्दस्येत्यर्थः। *टिलोपस्तिच प्रत्यय इति*। निपात्यत इत्यर्थः। अवयवनिपातननान्तरीयकत्वात्समुदायनिपातनस्य। यद्वा—'निपातनात्सिद्धम्' इत्यस्य पुंल्लिङ्गविपरिणामेनान्वयः, कुत्वं तु चकारञकारयोर्न निपात्यम्, 'चोः कुः' इत्येव सिद्धम्। *पञ्च पदानीति*। पदशब्दः पादपर्यायः। *पंक्तिश्छन्द इति*। तत्पुनः पदपंक्तिः, यस्य पञ्चाक्षराः पञ्च पादा भवन्ति। *द्वयोर्दशतोरिति*। दशद्वयरूपसंख्येयमाचक्षाणस्य द्विशब्दस्येत्ययमत्रार्थो विवक्षितः। एवं त्रयाणाम् दशतामित्यादावपि द्रष्टव्यम्। *शतिच्च प्रत्यय इति*। चित्करणमन्तोदात्तार्थम्। *अपदत्वं चेति*। तेन जश्त्वचर्त्वे न भवतः। अत्र 'तदस्य परिमाणमिति वर्त्तते' इत्युक्तम्, द्वौ दशतौ परिमाणमस्येत्यादिश्च विग्रहो दर्शितः। यदा तु नानुवर्त्तते तदा द्विशदादेर्दशदर्थाभिधायिनः स्वार्थे प्रत्ययो निपात्यः—द्वौ दशतौ विंशतिः, त्रयोदशतस्त्रिंशद् इति; ततश्च स्वार्थिकानां प्रकृतितो लिङ्गवचनानुवृत्तेर्द्विशब्दादेरिव द्विवचनबहुवचनप्रसङ्गः। विंशत्यादिभिश्च दशतामभिधानमिति गवादिभिर्वैयधिकरण्यमेव स्याद्—गवां विंशतिरिति, न तु विंशतिर्गाव इति सामानाधिकरण्यम्, नापि द्विगुः—विंशतिगवमिति, तस्मादनुवर्त्त्यम्।

अथास्येत्यनेन कः प्रतिनिर्दिश्यते? परिमाणी। कः पुनरसौ? भिन्नानि द्रव्याणि—द्वौ दशतौ परिमाणमेषां विंशतिरिति। यद्येवम्, विंशत्यादिभिर्द्रव्याणामभिधानमिति बहुवचनप्रसङ्गाद्विंशतिर्गाव इति न स्यात्, गवां विंशतिर्गोविंशतिरिति च न स्याद्, व्यतिरेकाभावात्? अथास्मिन् पक्षे किञ्चिदिष्टमपि सिद्धम्, आहोस्विद्दोषान्तमेवास्ति? इत्याह—इह विंशतिगवं त्रिंशत्पूलीति समानाधिकरणलक्षणो द्विगुः सिद्धः; तस्मान्न भिन्नानि द्रव्याणि परिमाणीनि, एतच्च सर्वेष्वेव विग्रहवाक्येष्वस्येत्येकवचनेन दर्शितम्। कस्तर्हि परिमाणी? सङ्घः—द्वौ दशतौ परिमाणमस्य गोसङ्घस्य विंशतिरिति। एवमपि सिद्धं गवां विंशतिर्गोविंशतिरिति, विंशतिर्गावः विंशतिगवमिति तु न सिध्यति; तथा विंशतिशब्देन सङ्घस्याभिधानाद्विंशतिः परिमाणमस्य गोसङ्घस्य 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्' विंशकः सङ्घ इति न स्यात्; सङ्घान्तरस्य परिमाणिनोऽसम्भवात्। अथोभयं परिमाणिभिन्ना द्रव्याणि तत्संघश्च, तत्र सङ्घपरिमाणिनि व्यधिकरणप्रयोगाः, द्रव्येषु तु परिमाणिषु समानाधिकरणप्रयोगाः, तत्रैव विंशतिर्गावः परिमाणमस्य विंशको गोसङ्घ इति भविष्यतीत्युच्येत? एवमपि विंशतिर्गाव इत्यत्र बहुवचनप्रसङ्गः, तथा सङ्घस्य परिमाणत्वे विंशतिर्गोसङ्घ इति प्राप्नोति, न चेष्यते, विंशक इत्येव हि तत्रेष्यते। एवं तर्हि द्वावत्र सङ्घौ स्तः—द्रव्याणामेकः, द्रव्यवर्गयोर्दशतोश्चापरः; तत्र निपातनसामर्थ्याद्दशत्संघे परिमाणिनि प्रत्ययः, सङ्घश्च समुदायमात्रं न प्राणिनामेव, किं हि निपातनादलभ्यम्, तत्र

दशत्सङ्घस्य विंशतिशब्देनाभिधानाद् गोसंघे विवक्षिते विंशतिः परिमाणमस्य विंशको गोसङ्घ इति च भविष्यति, विंशतिर्गोसङ्घ इति च न भविष्यति, गवां विंशतिर्गोविंशतिरिति च भविष्यति। ननु दशत्सङ्घस्य दशतौ गुणिनौ न गावः, तेन दशतोर्विंशतिरिति प्राप्नोति, गवां विंशतिरिति तु न सिद्ध्यति ? उच्यते; द्रव्याणां द्रव्यसङ्घस्य दशतां दशत्सङ्घस्य च न पारमार्थिको भेदोऽस्ति, केवलं बुद्ध्या परिकल्प्यते, ततश्च गवां दशतोश्च तात्त्विकभेदाभावद्दशत्सङ्घमपि प्रतिगवामपि गुणित्वमुपपद्यते। व्यभिचाराभावात्तु दशद्भ्यां विंशतिर्न विशेष्यते गवादिभिरेव तु विशेष्यते, यथा—पटस्य शौक्ल्यमिति भवति, न शुक्लस्य शौक्ल्यमिति व्यभिचाराभावात्, तद्वदत्रापि। एवं तावद्व्यधिकरणप्रयोगा उपपादिताः, विंशतिर्गाव इत्यादिकास्तु समानाधिकरणप्रयोगा उपपादनीयाः, धर्मवचना एते विंशत्यादयो गुणवचना इति शुक्लादिवद्भविष्यति। यथा हि—पटस्य शुक्लो गुण इति गुणमात्रे दृष्टः शुक्लशब्दो गुणगुणिनोरव्यतिरेकविवक्षायां मतुब्लोपाद्वा समानाधिकरणो भवति शुक्लः पट इति। एवं विंशत्यादयोऽपि।

यद्येवम्, यथान्ये गुणवचना द्रव्यस्य लिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्ते, यथा—शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः, शुक्लौ, शुक्ला इति, एवं विंशत्यादयोऽप्यनुवर्त्तेरन् ? इह पुनर्विंशतिर्गावः विंशतिर्बलीवर्दाः विंशतिर्गोकुलानीति नित्यमेकवचनं स्त्रीलिङ्गं च भवति, शतशब्दात्तु नपुंसकत्वम्, विंशती विंशतयः शते शतानीति तु प्रचयभेदविवक्षायामेकशेषः ? अत्रोच्यते—यस्य धर्मस्य धर्मिणा सहाभेदः प्रतिपाद्यते, स चेत्तेषु प्रत्येकपरिसमाप्तः तदा तस्यापि धर्मिवद्भिन्नत्वाद् द्विवचनबहुवचने भवतः, यथा—शुक्लौ, शुक्ला इति। शौक्ल्यं हि कम्बलेषु प्रत्येकपरिसमाप्तम्, कोऽर्थः ? एकैकस्मिन्नपि कम्बले शुक्लशब्दार्थः पुष्कलः, न मात्रयापि न्यून इत्यर्थः। विंशतिर्गाव इत्यत्र तु त्रिंशतिसंख्या न प्रत्येकपरिसमाप्ता, किं तर्हि ? बहुष्विति। तद्रूपभेदाभावादेकवचनमेव भवति, यथा—गावो धनम्, इन्द्राग्नी देवता, वेदाः प्रमाणमिति। धिनोतेर्धनं प्रीतिहेतुः, समुदितानां च गवां प्रीतिहेतुत्वं विवक्षितम्, नैकैकस्या इति धनमेकं गोभिर्विशेष्यते, तत्र धनाकारे भेदाभावाद् बहुवचनाभावः। इन्द्राग्नी देवतेति दिवेरैश्वर्यकर्मणोर्देवतासङ्घस्य च देवतात्वमेकं हविः प्रतीति द्विवचनाभावः। देवते इति तूच्यमाने प्रत्यकमैश्वर्यं प्रतीयेत, ततश्च व्रीहियवयोरिव विकल्पः स्यात्। वेदाः प्रमाणमिति चतुर्णां समुदितानां वेदानामेकं प्रमाणत्वं विवक्षितमिति तस्मिन्नाकारे भेदाभावाद् बहुवचनाभावः, प्रत्येकं तु प्रामाण्ये वेदाः प्रमाणानीति भवत्येव। यद्येवम्, त्रयश्चत्वारः पञ्च षट् सप्तेत्यत्राप्येकवचनप्रसङ्गः, न हि त्रित्वादिकमपि प्रत्येकपरिसमाप्तम् ? उच्यते; त्र्यादयो नित्यं संख्येयवचनाः, न तु कदाचिदपि संख्यानमात्रवचना इत्येकेन धर्मेण व्यासज्यवृत्तिना सहानेकस्य धर्मिणो भेदप्रति-

विंशत्यादयो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्याः । नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम्; तथा हि—पंक्तिरिति क्रमसन्निवेशेऽपि वर्तते— ब्राह्मण पंक्तिः, पिपीलिकापंक्तिरिति । न चात्रावयवार्थः कश्चिदस्ति ।

पदमञ्जरी

पादनाभावाद्धर्मिभेदाश्रयं बहुवचनमेव भवति । यद्यपि त्रित्वमित्यादौ संख्यानमात्रमपि निष्कृष्टं प्रतीयते, त्र्यादिभिस्तु न प्रतीयते । देवताशब्दस्तु यद्यपि निष्कृष्टदेवतात्वमाचष्टे, तथाप्यग्निर्देवतेत्येकेनापि स भिन्नदेवतात्वमाचष्टे, नानेकेनैव सर्वदा । त्र्यादयस्तु न क्वचिदप्येवमिति विशेषः । लिङ्गमपि लोकाश्रयत्वाद्यथादर्शितं व्यवतिष्ठते, न तद्धितान्तत्वेनाभिधेयवदिति सर्वमनाकुलम् ।

एवं *भाष्यकारमतेन* व्याख्याय संप्रति *वार्तिककारमतं* दर्शयति—'*विंशत्यादय इति* । *गुणशब्दा इति* । रूढिरूपा इति भावः । *यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्या इति* । स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थम्, न त्ववयवार्थप्रदर्शनाय, तदाह—*नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यमिति* । अवयवार्थविषयोऽभिनिवेशो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । स तु प्रतीतिपथं नारोहतीति परित्यज्यते ।

न्यासः

विंशतिशब्देन हि तान्येव गोद्रव्याणि गृह्यन्ते, न तदधिकं किञ्चिदर्थान्तरम् बहुवचनं प्रसजति तेषां बहुत्वादिति यश्चोदयेत्, तं प्रत्याह—**विंशत्यादय इत्यादि** । यथाकथञ्चित् प्रकारेण । विनाप्यवयवार्थेनेति यावत् । रूपमात्रं प्रधानम्, नावयवार्थः । यस्त्वेषामर्थः स लोकत एव व्यवतिष्ठत इत्यभिप्रायः । **नात्राभिनिवेष्टव्यमिति** । संख्यापरिमाणोपाधिकः प्रकृत्यर्थः । 'परिमाणमात्रं प्रत्ययाः' इति नायमत्राभिनिवेशः कर्त्तव्य इत्यर्थः । अनभिनिवेशस्य कारणमाह—**तथा हीत्यादि** । स्यादेतत्—'अत्राप्यवयवार्थोऽस्ति' इत्यत आह—**न चेत्यादि** । ब्राह्मणानां पंक्तिरित्युक्ते संख्यापरिमाणोपाधिकः प्रकृत्यर्थः, परिमाणो वा कश्चित्; प्रत्ययार्थो हि न गम्यते, किं तर्हि ? सन्निवेशविशेषः संस्थानात्मको गुण एव प्रतीयते । तथा हि—तस्य सन्निवेशविशेषस्यानवगमे तावत्स्वेव ब्राह्मणेषु पंक्तिरिति न प्रयुज्यते । तदेवं गुणशब्दत्वाद् विंशत्यादीनां गवां विंशतिरिति सिध्यति षष्ठी; विंशतिशब्दस्य संख्यानवृत्तित्वात् ।

यदि तर्हि गुणशब्दा एते, विंशतिर्गाव इति द्रव्यशब्देन सामानाधिकरण्यं न प्राप्नोति ? गुणिन्यत्र वृत्तिः, गुणमात्रे न, ततोऽयमदोष इति । वक्तव्यः स हेतुः यत एतेषां क्वचिद् गुणमात्रे वृत्तिर्भवति, क्वचिद् गुणिनि । बहुवचनप्रसङ्गाच्च गुणिनि वृत्तिरित्येतदेव दुःस्थम्; बहुत्वाद् गुणिनाम् । इह च विंशतिः कुण्डानीति नपुंसकलिङ्गं प्राप्नोति, विंशतिर्ब्राह्मणा इति पुंल्लिङ्गम्, गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति, यथा—शुक्लः कम्बलः, शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटीति ।

या चैषां विषयभेदेन गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तिः, स्वलिङ्गसंख्यानुविधानं च, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव ।

सहस्रादयोऽप्येवञ्जातीयकास्तद्वदेव द्रष्टव्याः । उदाहरणमात्रमेतदिति ॥

पदमञ्जरी

या चैषामित्यादि । दर्शिता च गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तिः, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेवेति दर्शितामुपपत्तिं स्थिरां मन्यते ।

सहस्रादयोऽप्येवञ्जातीयका इति । गुणमात्रे गुणिनि च वर्तन्ते, स्वलिङ्गसंख्यानुविधायिनश्चेत्यर्थः । *तद्वदेव द्रष्टव्या इति* । स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं विंशत्यादिवद्व्युत्पाद्या इत्यर्थः । तद्यथा–शतस्य दशतां सहभावः स्रच्च प्रत्ययः । क्व पुनरेते व्युत्पाद्याः ? पृषोदरादिषु । *उदाहरणमात्रम्* प्रदर्शनमात्रमेतद्विंशत्यादीनामुपादानम् । *इतिशब्दः* समाप्तौ । अत्र वार्त्तिकम्–'अनारम्भो वा प्रातिपदिकविज्ञानाद्यथा सहस्रादिषु' इति ॥

न्यासः

यदासौ द्रव्यमाश्रित्य भवति गुणः, तस्य लिङ्गवचनं यत् तद् गुणवचनस्यापि भवति, यथा—गुणशब्दत्वेऽप्येषामाश्रीयमाणे न भवत्येव दोषप्रसङ्गान्मुक्तिः ? इत्यत आह—या चैषामित्यादि । न केवलमर्थाभिधानं स्वाभाविकम्, किन्त्वेतदपीत्यपिशब्देन दर्शयति । यत्र द्रव्येण गुणिनैषामभिधेयो गुणो विशेष्यते, तत्र स्वभावादेव गुणमात्रे वृत्तिः । यत्र त्वेत उपसर्जनीभूतस्वार्थास्तेन स्वार्थेन द्रव्यं विशेषयन्ति तत्रैषां स्वभावत एव गुणिनि वृत्तिः ।

स्वलिङ्गसंख्यानुविधानं चेति । गुणिन्यपि वर्त्तमानानां यथोर्लिङ्गसंख्ययोर्यदनुविधानमनुवर्त्तमानमेतदपि सर्वं स्वाभाविकम् । अन्येषामपि, गुणशब्दानामपि क्वचित् स्वभावत एव गुणिनि वृत्तिर्भवति, तद्यथा—शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लशब्दस्य । क्वचिद् गुणमात्रे, यथा—अस्यैव शुक्लो गुणः पटस्येत्यत्र । अन्येषामपि केषाञ्चित् शब्दानां स्वाभाविकं स्वलिङ्गसंख्यानुविधानं दृश्यत एव, तद्यथा—वेदाः प्रमाणम्, श्रुतयः प्रमाणमिति । तस्मात् स्वाभाविकत्वाद् गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तेः स्वलिङ्गसंख्यानुविधानस्य च न भवति यथोक्तदोषप्रसङ्गः । यदा हि स्वभावत एव संख्यानमात्रे गुणे गुणमात्रे वृत्तिः, तदा व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी भवति । यदा तु गुणिनि, तदा तयोरपि च द्रव्यशब्दत्वात् सामानाधिकरण्यमपि भवति । द्रव्येऽपि वर्त्तमानानां स्वाभाविकं स्वलिङ्गसंख्यानुविधानम् ।

अथ सहस्रादयोऽपि कस्मान्न व्युत्पाद्यन्ते ? इत्याह—सहस्रादयोऽपीत्यादि । एवञ्जातीयका एवम्प्रकारा विंशत्यादिभिः सदृशा इत्यर्थः । तेषामपि गुणवत्त्वात् तद्वदेव विंशत्यादिवदेव द्रष्टव्याः । विंशत्यादय इव तेऽपि प्रकृत्यादिविभागेन व्युत्पाद्यन्त

पञ्चद्दशतौ वर्गे वा ॥ ६० ॥

'पञ्चत्', 'दशत्'–इत्येतौ वा निपात्येते 'तदस्य परिमाणम्' इत्येतस्मिन्विषये वर्गेऽभिधेये। 'संख्यायाः' इति कनि प्राप्ते डति-र्निपात्यते । वावचनात्पक्षे सोऽपि भवति । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद् वर्गः, दशद्वर्गः । पञ्चको वर्गः, दशको वर्गः ॥

सप्तनोऽञ् छन्दसि ॥ ६१ ॥

'वर्गे' इत्येव । 'तदस्य परिमाणम्' इति च । सप्तन्-शब्दा-च्छन्दसि विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति वर्गेऽभिधेये । सप्त साप्तान्यसृजन् ॥

त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् ॥ ६२ ॥

'तदस्य परिमाणम्' इत्येव । 'वर्गे' इति निवृत्तम् । त्रिंशत्-चत्वारिंशच्छब्दाभ्यां संज्ञायां विषये डण्प्रत्ययो भवति 'तदस्य परिमा-णम्' इत्येतस्मिन्विषये ब्राह्मणेऽभिधेये । अभिधेये सप्तम्येषा, न विषय-

पदमञ्जरी

पञ्चद्दशतौ वर्गे वा ॥ सङ्घग्रहणे प्रकृते वर्गग्रहणं सूत्राध्ययनयोरनुवृत्तिर्मा भूदिति, अप्राण्यर्थं च; सङ्घशब्दस्य प्राणिविषयत्वात् ॥

त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्[1] ॥ *न विषयसप्तमीति* । ब्राह्मणविषय-श्चेत्प्रयोगो भवतीति नैवमत्रार्थः, तथा हि सति मन्त्रे भाषायां च प्रयोगो न स्यात्, ब्राह्मणादन्यस्य च संज्ञायां शङ्केत, एवं च 'ब्राह्मणसंज्ञायाम्' इति

न्यासः

इत्यर्थः । यद्येवम्, किमर्थं विंशत्यादय एव सूत्रे उपात्ताः ? इत्याह—उदाहरण-मात्रमित्यादि । उदाहरणमात्रं विंशत्यादिग्रहणम्, अन्येऽप्येवञ्जातीयाः सहस्रादय-स्तथैव व्युत्पाद्याः ॥

पञ्चद्दशतौ वर्गे वा ॥ ननु च 'सङ्घ' इत्यनुवर्त्तिष्यते, किं वर्गग्रहणेन ? नैतदस्ति; सङ्घशब्दो हि प्राणिसमुदाये रूढः । वर्गशब्दस्तु समूहमात्र इति वर्गग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

सप्तनोऽञ्छन्दसि ॥ संख्यालक्षणे कनि प्राप्ते सप्तन्शब्दाच्छन्दस्यञ्विधानम् ॥

त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् ॥ त्रिंशच्छब्दाद् 'विंशतित्रिंशद्भ्याम्' इति योगविभागेन कनि प्राप्ते चत्वारिंशच्छब्दादपि 'प्राग्वतेष्ठञ्' इति ठञि प्राप्तेऽ-यमारभ्यते । अभिधेये सप्तम्येषेत्यादि । विषयसप्तम्यामस्यां ब्राह्मणविषयश्चेत् प्रयोगो

1. 'ड्वुन्' इति मुद्रितपदमञ्जर्यां प्रमादपाठः ।

सप्तमी । तेन मन्त्रभाषयोरपि भवति । त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि ब्राह्मणानि । चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि । कानि-चिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते ॥

तदर्हति ॥ ६३ ॥

'तत्' इति द्वितीयासमर्थात् 'अर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः । वास्त्रयुग्मिकः । शत्यः । शतिकः । साहस्रः ॥

छेदादिभ्यो नित्यम् ॥ ६४ ॥

नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम् । छेदादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यो

पदमञ्जरी

षष्ठीसमासेन निर्देष्टव्यम्, तथा तु न कृतमित्येव । सूत्रे च ये ओकारादनन्तरं रेफमधीयते तेषां पञ्चम्यर्थे षष्ठीद्विवचनम् । ये तु न, तेषां समाहारद्वन्द्वे पञ्च-म्येकवचनम् ॥

तदर्हति ॥ अर्हति लब्धुं योग्यो भवतीत्यर्थः ॥

छेदादिभ्यो नित्यम् ॥ *नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणमिति* । अथ यथा 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इत्यत्र महाविभाषया प्राप्तस्य वाक्यस्य निवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम्, तथेहापि कस्मान्न भवति ? इष्टत्वात्, दृष्टत्वाच्च । इष्यते च दृश्यते च छेदमर्हतीति । न च वाक्यनिवृत्त्यर्थमेव नित्यग्रहणं कर्तव्यम्, 'छेदादिभ्यः' इत्येवास्तु, पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थो भविष्यति । यथा तर्हि 'त्रेर्मम्नित्यम्' इत्यत्र स्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम्, तथेह कस्मान्न भवति ? इष्टत्वात्, दृष्टत्वाच्च । इष्यते च स्वातन्त्र्यम्, दृश्यते च छेदादिषु पठितस्य सम्प्रश्न-शब्दस्य स्वतन्त्रस्य प्रयोगः, विधिनिमन्त्रणादिसूत्रे यथा । तर्ह्येकगोपूर्वादित्यत्र

न्यासः

भवतीत्ययेषोऽर्थः स्यात्, तथा चान्यत्र प्रत्ययान्तस्य प्रयोगो न स्यात्, तस्मान्न विषय-सप्तम्येषा । एतच्च संज्ञाग्रहणादेव विज्ञायते । न हि ब्राह्मणग्रहणात् त्रिंशच्चत्वारिं-शतौ डण्णन्तौ कस्यचित् पदार्थस्य संज्ञिनौ स्तः; ब्राह्मणानां तु विद्यते ॥

तदर्हति ॥ श्वैतच्छत्रिकः, वास्त्रयुग्मिक इत्यादिषु ठक् । 'आर्हात्' इत्यभिविधौ चायमाकार इति ॥

छेदादिभ्यो नित्यम् ॥ नित्यग्रहणमिति । अथ विभाषाया निवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणेन कस्मान्न विज्ञायते ? अशक्यं तन्निवृत्त्यर्थं विज्ञातुम् । विनापि नित्यग्रहणेन महा-विभाषानिवृत्तिः शक्यते विज्ञातुम् । तथा हि—छेदादिभ्यः पूर्वेणैव ठकि सिद्धे पुन-

'नित्यमर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । छेदं नित्यमर्हति छैदिकः । भैदिकः ।

छेद । भेद । द्रोह । दोह । वर्त्त । कर्ष । सम्प्रयोग । विप्रयोग । प्रेषण । सम्प्रश्न । विप्रकर्ष । ❀ विराग विरङ्गं च ❀ । (वैरङ्गिकः ।) छेदादिः ॥

शीर्षच्छेदाद्यच्च ॥ ६५ ॥

शीर्षच्छेदशब्दाद् द्वितीयासमर्थात् 'नित्यमर्हति' इत्यस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति, चकाराद्यथाविहितञ्च । शिरश्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेद्यः, शैर्षच्छेदिकः । प्रत्ययसन्नियोगेन शिरसः शीर्षभावो निपात्यते ॥

पदमञ्जरी

प्रत्ययान्तरस्य मतुपो निवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम्, तदेह कस्मान्न भवति ? अप्राप्तत्वात् । न ह्यत्र कस्यचित्प्रत्ययान्तरस्य प्राप्तिः । यथा तर्हि 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इत्यत्रार्थान्तरनिवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणम्—गतिवचनाद्धातोः कौटिल्य एव, न क्रियासमभिहार इति, तथेह कस्मान्न भवति ? इष्टत्वाद्, इष्यते ह्यर्थान्तरेऽपि यथायोगं छेदादिभ्य आर्हीयः प्रत्ययः । तस्माद्यथोक्तमेव प्रयोजनं नित्यग्रहणस्य । छेदं *नित्यमर्हतीति* । ननु न कश्चिन् पदार्थो नित्यं छेदमर्हति, योऽपि चेतसादिश्छिन्नश्छिन्नः प्ररोहति सोऽपि न सदैवच्छेदनार्हः; प्ररूढस्तु भवति । यस्तर्हि दस्युवंशादिर्नित्यं छेदनार्हः स प्रत्ययार्थः । अपर आह—आभीक्ष्ण्ये नित्यशब्दः, यथा—नित्यप्रहसितादाविति ।

विराग विरङ्गं चेति । विरागशब्दः प्रत्ययमुत्पादयति, तत्सन्नियोगेन विरङ्गमादेशमापद्यते—विरागं नित्यमर्हति वैरङ्गिकः ॥

शीर्षच्छेदाद्यच्च ॥ *प्रत्ययसन्नियोगेनेति* । तथा च शिरःशब्देन विग्रहो दर्शितः । कथं तर्हि पूर्वमुक्तम्–शीर्षच्छेदशब्दाद् द्वितीयासमर्थादिति ? न प्रयोगार्हे वाक्ये द्वितीयासमर्थता, किं तर्हि ? यदुपमर्देनेन वृत्तिर्भवति तत्र प्रक्रियावाक्ये प्रत्ययौ द्वौ–यच्च, ठक्च, एवं च प्रत्ययाभ्यां सन्नियोग इति द्विवचनान्तेन समासः ॥

न्यासः

वचनादेव नित्यविधिर्भविष्यति, किं नित्यग्रहणेन ? ततो नित्यग्रहणमहन्यहन्यर्हत्वात् 'तदर्हति' इत्यस्यार्थस्य विशेषणं विज्ञास्यते । तथा च जातमारम्भस्य प्रयोजनमिति वाक्यं न निवर्तते ।

विरागो विरङ्गञ्चेति । विरागशब्दष्ठकमुत्पादयति विरङ्गादेशं चापद्यते । नित्यं विरागमर्हति वैरङ्गिकः । प्रत्ययसन्नियोगेन चायमादेश इति प्रत्ययाभावाद्वाक्ये न भवति ॥

शीर्षच्छेदाद् यच्च ॥ प्रत्ययसन्नियोगेन शीर्षभावः, तेन वाक्ये प्रत्ययाभावान्न भवतीति भावः ॥

दण्डादिभ्यो यः ॥ ६६ ॥

'नित्यम्' इति निवृत्तम् । दण्डादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः 'अर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति । ठकोऽपवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । मुसल्यः ।

दण्ड । मुसल । मधुपर्क । कशा । अर्घ । मेधा । मेघ । युग । उदक । वध । गुहा । भाग । इभ । दण्डादिः ॥

छन्दसि च ॥ ६७ ॥

प्रातिपदिकमात्राच्छन्दसि विषये 'तदर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे यत्प्रत्ययो भवति । ठञादीनामपवादः । उदक्या वृत्तयः । यूप्यः पलाशः । गर्त्यो देशः ॥

पात्राद् घँश्च ॥ ६८ ॥

पदमञ्जरी

दण्डादिभ्यो यः ॥ उपायविशेषः=दण्डः, हस्तालम्बश्च । इह 'दण्डादिभ्यः' इत्येतावत्सूत्रम्, अनन्तरश्च यत्प्रत्ययो विधीयते[१] । तथा च वध्यशब्दव्युत्पादनाय क्यब्विधावुक्तम्—'हनो वध च तद्धितो वा' इति, यदि चात्र यद्विधीयते तत एव तदुपपद्यते तद्धितो वेति । कथम् ? क्यप्याद्युदात्तत्वम्, यत्यपि तद्धिते 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वमेव । यदि त्वत्र यो विधीयेत ततः स्वरे विशेषादनुपपन्नमेतत्स्यात् । उत्तरसूत्रे चास्य यस्यैवानुवृत्तिः स्यात्, न यतः । अथापि स्वरितत्वाद्यत एवानुवृत्तिरुच्यते ? एवमपि वृत्तिकारस्यैतद्वक्तुमापद्येत—'यदनुवर्त्तते नानन्तरो यः' इति । ये त्विभ-वध-मेधशब्दानां यदन्तानामाद्युदात्तानां छन्दसि प्रयोगाः— 'इभ्यान्न राजा वनान्यत्ति, तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति, अपां मेध्यं यज्ञियम्' इत्याद्याः, ते दण्डादिभ्यो यविधानेऽप्युपपद्यन्ते । कथम् ? दण्डादिभ्यो यः' इत्यस्यावकाशो भाषायाम्, 'छन्दसि यत्' इत्यस्य तु दण्डादिभ्योऽन्योऽवकाशः; दण्डादिभ्यश्छन्दस्युभयप्रसङ्गे परत्वाद्यद्भविष्यति । तस्मादेते प्रयोगाः 'दण्डादिभ्यो यद्विधीयते' इत्यत्रार्थे प्रमाणत्वेन नोपन्यसनीयाः ॥

न्यासः

दण्डादिभ्यो यः ॥ दण्डशब्दोऽयमस्ति क्रियावचनः—दण्डनं दण्ड इति, अस्ति द्रव्यवचनः; विशेषाभावाद् द्वयोरपि ग्रहणम् ॥

छन्दसि च ॥ यदनुवर्त्तते, नानन्तरो यः; यत एव स्वरितत्वात् ॥

१. दीक्षित-नागेशयोरप्येतदेव सम्मतम् । केचित्पुनः 'दण्डादिभ्यो यत्' इति पठन्ति ।

पात्रशब्दाद् घन् प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च, 'तदर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे । ठक्ठञोरपवादः । पात्रं परिमाणमप्यस्ति । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ॥

[1]कडङ्गरदक्षिणाच्छ च ॥ ६९ ॥

कडङ्गर-दक्षिणाशब्दाभ्यां छः प्रत्ययो भवति, चकाराद्यच्च 'तदर्हति' इत्येतस्मिन्विषये । ठकोऽपवादः । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गौः । कडङ्गर्यः । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो भिक्षुः । दक्षिण्यो ब्राह्मणः ।

पदमञ्जरी

पात्राद्घँश्च ॥ *ठक्ठञोरपवाद इति* । तत्र ठकोऽपवादत्वमुपपादयति—*पात्रं परिमाणमप्यस्तीति* । भाजनविशेषस्तु प्रसिद्ध एव, तत्र ठकोऽपवादः, परिमाणवचने तु ठञ इत्यर्थः । *पात्रिय इति* । पात्रपरिमितं तण्डुलादिकं यः स्थाल्यादिरर्हति, सम्भवनधारणक्षमत्वात्, स एवमुच्यते । येन वा भुक्ते भोजनभाजनं संस्कारेण न शुद्धयति ॥

कडङ्करदक्षिणाच्छ च ॥ 'कड मदे', कडतीति कडः, कडं करोतीत्यत एव निपातनात्खच्, कडङ्करं माषमुद्गादिकाष्ठमुच्यते । दक्षेरुत्साहकर्मणः करणे 'दुदक्षिभ्यामिनन्' इतीनन्प्रत्ययः—दक्षिणा । *चकाराद्यच्चेति* । घँस्त्वनन्तरोऽपि न समुच्चीयते, य एव; स्वरितत्वात् । *कडङ्करीय इति* । यो बलीवर्दो दुर्जरमपि कडङ्करं जरयितुं प्रभवति स तदर्हतीत्युच्यते ।

न्यासः

पात्राद् घँश्च ॥ ठक्ठञोरपवाद इति । ननु च पात्रं भाजनम्, न परिमाणम्, अतस्तद्वाचिनष्ठक् प्राप्नोति, तस्यैवापवादो युक्तः, तत् किमुच्यते ठक्ठञोरपवादः ? इत्याह—**पात्रं परिमाणमप्यस्तीति** । न केवलं भाजनमित्यपिशब्देन दर्शयति । तत्र यदा परिमाणे पात्रशब्दो वर्त्तते, तदा ठञोऽपवादः; यदा भाजने, तदा ठकः । पात्रम्=स्थाल्यादि । कोऽर्थः ? चण्डालादिर्बाह्यश्च पात्रं परिमाणमर्हति । येन भुक्ते पुनर्न संस्कारेण भाजनं शुध्यति स पात्रियः, पात्र्य इति चोच्यते ॥

कडङ्गरदक्षिणाच्छ च ॥ चकाराद् यच्चेति । अथानन्तरस्य घनः समुच्चयः कस्मान्न भवति ? एवं मन्यते—स्वरितत्वं प्रतिज्ञातमिति, अनन्तराच्च स्वरित आसन्नतरः । स च प्रतियोगमुपतिष्ठमानो वाक्यशेष एव भवति । तस्माद् यत एव समुच्चयो युक्त इति यो गौर्निर्गुणत्वात् खलकणाद्यनर्हः स कडङ्गर्यः, कडङ्गरीय इति चोच्यते । माषादीनां खलेष्ववस्करनालकाष्ठमतिदुर्जरं बुसाद्यपि कडङ्गरमुच्यते ।

---

१. 'कडङ्कर'-इत्यपि पाठः । 'कडङ्गरो बुसं क्लीबे' इत्यमरः (२.९.२२) । गिरतीति गरः, कडस्य गरः इति विग्रहः ।

दक्षिणशब्दस्य अल्पाच्तरस्य पूर्वनिपातेन लक्षणव्यभिचार-चिह्नेन यथासंख्याभावं सूचयति ॥

स्थालीबिलात् ॥ ७० ॥

छयतावनुवर्त्तेते । स्थालीबिलशब्दाच्छयतौ प्रत्ययौ भवतः 'तदर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे । ठकोऽपवादौ । स्थालीबिलमर्हन्ति स्थालीबिलीयास्तण्डुलाः । स्थालीबिल्याः । पाकयोग्या इत्यर्थः ॥

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ॥ ७१ ॥

यज्ञशब्दाद्, ऋत्विक्शब्दाच्च यथासंख्यं घखञौ प्रत्ययौ भवतः

पदमञ्जरी

अल्पाच्तरस्येत्यादि । यद्वा—यथासंख्येऽभिप्रेते यस्माद्यदिष्टः, तं दण्डादिषु पठेत् ॥

स्थालीबिलात् ॥ *छयतावनुवर्त्तेते इति* । पूर्वसूत्रेऽपि न यच्चकारेणानुकृष्टः, तथा सति घन एव प्रसङ्गात् । किं तर्हि ? स्वरितत्वात् । अतो न तस्यानुवृत्तिर्दुर्लभेति भावः । *पाकयोग्या इत्यर्थ इति* । त्रिफलीकृता इति यावत् ॥

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ॥ *यज्ञमर्हतीति* । स पुनर्यस्य विदुषोऽर्थिनः शास्त्रेणापर्युदस्तस्य द्रव्यवतो यज्ञेऽधिकारः, स वेदितव्यः । देशस्यानैवंविधत्वाद्वचनम् ।

न्यासः

अथात्र यथासंख्यं कस्मान्न भवति, अस्ति हि तस्य प्राप्तिः, प्रकृतिप्रत्ययानां साम्यात्; तथा हि द्वे प्रकृती, द्वे प्रत्ययौ ? इत्यत आह—**अल्पाच्तरस्येत्यादि** । दक्षिणशब्दस्याल्पाच्तरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते योऽयमिह परनिपातः स लक्षणानपेक्षतां निर्देशस्य दर्शयन् लक्षणव्यभिचारस्य चिह्नं भवति । अतस्तेन चिह्नेन यथासंख्याभावं सूचयति सूत्रकारः । तेन न भवति यथासंख्यम् ॥

स्थालीबिलात् ॥ छयतावनुवर्त्तेते इति । ननु चानुकृष्टमुत्तरत्र नानुवर्त्तत इति चानुकृष्टस्य यतः पुनरिह चकारेणानुवृत्तिर्नोपपद्यते ? नैष दोषः; अनित्या ह्येषा परिभाषा । कथं ज्ञायते ? 'एकाजुत्तरपदे णः' इत्यत्र णे प्रकृते पुनर्णग्रहणात् । तद्धि 'वा भावकरणयोः' इत्यनुवर्त्तमानस्य विकल्पस्य निवृत्त्यर्थं क्रियते । यदि चेयं नित्या स्यात्, पूर्वसूत्रे चानुकृष्टत्वादेव हि तस्यानुवृत्तिर्न भवति । अथ वा—चकारोऽप्यत्रानुवर्त्तते यतोऽनुकर्षणार्थः । तेन पूर्वत्र चानुकृष्टस्यापि तस्य पुनरिह चकारेणानुकृष्यमाणस्यानुवृत्तिर्भविष्यति । 'स्थालीबिलकडङ्करदक्षिणाच्छ च' इत्येकयोगे कर्त्तव्ये यदिदं योगविभागकरणं तत्स्थालीबिलाद् विशेषे वर्त्तमानात् प्रत्ययो यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेन स्थालीमुख एव वर्त्तमानः स्थालीबिलशब्दः प्रत्ययमुत्पादयति । न तु स्थालीसम्बन्धिनि च्छिद्रमात्रे वर्त्तमानः ॥

'तदर्हति' इत्येतस्मिन्विषये । ठकोऽपवादः । यज्ञियो ब्राह्मणः । आर्त्विजीनो ब्राह्मणः ।

❀ यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम् ❀ । यज्ञकर्मार्हति यज्ञियो देशः । ऋत्विक्कर्मार्हति आर्त्विजीनं ब्राम्हणकुलम् ।

आर्हीयाणां ठगादीनां पूर्णोऽवधिः । अतः परं प्राग्वतीयष्ठञेव भवति ।।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ।। ७२ ।।

समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते । 'अर्हति' इति निवृत्तम् । पारायणादिभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः 'वर्त्तयति' इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ्प्रत्ययो भवति । पारायणं वर्त्तयत्यधीते पारायणिकश्छात्रः । तौरायणिको यजमानः । चान्द्रायणिकस्तपस्वी ।।

संशयमापन्नः ।। ७३ ।।

पदमञ्जरी

यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानमिति । *यज्ञकर्मार्हतीति* । यज्ञकर्मानुष्ठानयोग्य इत्यर्थः । *ऋत्विक्कर्मार्हतीति* । ऋत्विग्भवितुमर्हतीत्यर्थः ।।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ।। पारायणम्=आदित आरभ्यान्तादविच्छेदेन वेदाध्ययनम्, तुरायणम्=संवत्सरसाध्यो हविर्यज्ञविशेषः, चान्द्रायणम्=तपोविशेषः, वर्तनम्=निष्पादनम् । तत्र पारायणं गुरुणा शिष्येण च निर्वर्त्त्यते; अन्यतरासन्निधावध्ययनक्रियाया अनिष्पादनात्; शिष्य एव त्विष्यते । तथा तुरायणमुभौ वर्तयतः—ऋत्विग्यजमानश्च; ऋत्विक् चरुपुरोडाशादि निर्वर्त्तयति, यजमानो देवतोद्देशेन द्रव्यं त्यजति; यजमान एव त्विष्यते । उभयत्र कस्मान्न भवति ? अनभिधानात् ।।

न्यासः

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ।। पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति ।। द्वितीयाप्रकरणे पुनर्द्वितीयोच्चारणमिष्टविषये द्वितीयान्ताद् यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेन यद्यपि पारायणं गुरुणा शिष्येण च गम्यते तथापि शिष्य एव प्रत्ययो भवति, न गुरौ । तथा तुरायणो यागो यद्यपि यजमानेन याजकैश्च वर्त्त्यते तथापि यजमान एव प्रत्ययो भवति, न याजके ।।

संशयमापन्नः ।। अत्रापि द्वितीयाप्रकरणे पुनर्द्वितीयोच्चारणमिष्टविषये द्वितीयान्ताद् यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेन यद्यपि द्वे अपि कर्तृकर्मणी संशयमापन्ने, तथापि

संशयशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् 'आपन्नः' इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति । संशयमापन्नः प्राप्तः सांशयिकः स्थाणुः ॥

योजनं गच्छति ॥ ७४ ॥

योजनशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् 'गच्छति' इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति । योजनं गच्छति यौजनिकः ॥

❀ क्रोशशत-योजनशतयोरुपसंख्यानम् ❀ । क्रोशशतं गच्छति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः ।

ततोऽभिगमनमर्हतीति च क्रोशशत-योजनशतयोरुपसंख्यानम् ❀ । क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिको भिक्षुः । यौजनशतिक आचार्यः ॥

पथः ष्कन् ॥ ७५ ॥

पथिन्शब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् 'गच्छति' इत्येतस्मिन्नर्थे ष्कन्प्रत्ययो

पदमञ्जरी

संशयमापन्नः ॥ सांशयिकः स्थाणुरिति । स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येवंरूपस्य संशयस्य विषय इत्यर्थः । अनेनैतद्दर्शयति—यद्यपि द्वे अपि कर्तृकर्मणी संशयमापन्ने, तथापि यद्विषयकः संशयस्तत्रैव प्रत्ययो भवति, न कर्तरि पुरुषे; अनभिधानादिति ॥

योजनं गच्छति ॥ क्रोशशतयोजनशतयोरिति । गुणेन नेति प्रतिषेधः संख्याया न भवति; अत एव निर्देशात्, 'शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्' इति वचनाच्च ।
ततोऽभिगमनमिति । अत्र पञ्चम्यन्तात्प्रत्ययः ॥

पन्थो ण नित्यम् ॥ नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणमिति । वाक्यनिवृत्त्यर्थं तु न भवति; पन्थादेशो हि प्रत्ययसन्नियोगेन विधीयमानो नैव वाक्ये सम्भवति;

न्यासः

यद्विषयः संशय उत्पद्यते तत्रैव कर्मणि स्थाण्वादौ प्रत्ययो भवति, न तु संशयस्य कर्त्तरि पुरुषे; अनभिधानात् ।

योजनं गच्छति ॥ क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानमिति । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । तथा ततोऽभिगमनमर्हतीति चेत्यादावपि वाक्ये । तत्रेदं प्रतिपादनम्—इह द्वितीयाधिकारे पुनर्द्वितीयोच्चारणमधिकं तु कुर्वतैतत् सूचितम्—अन्यदप्यत्र किञ्चिदधिकं भवति । तेन सर्वमेतद् गदितं कार्यमुपपन्नं भवति ॥

पथः ष्कन् ॥ पन्थो ण नित्यम् ॥ नित्यग्रहणमित्यादि । अथ वाक्यनिवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? पन्थशब्दस्य वाक्यासमवायित्वात् । स हि प्रत्ययसन्नियोगेन विधी-

भवति । नकारः स्वरार्थः । षकारो ङीषर्थः । पन्थानं गच्छति पथिकः । पथिकी ॥

पन्थो ण नित्यम् ॥ ७६ ॥

नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थविशेषणम् । पथः पन्थ इत्ययमादेशो भवति भवति, णश्च प्रत्ययः, 'नित्यं गच्छति' इत्येतस्मिन्विषये । पन्थानं नित्यं गच्छति पान्थो भिक्षां याचते ।

नित्यमिति किम् ? पथिकः ॥

उत्तरपथेनाहृतं च ॥ ७७ ॥

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । उत्तरपथशब्दात्तृतीयासमर्थाद् 'आहृतम्' इत्येतस्मिन्विषये ठञ् प्रत्ययो भवति । चकारः प्रत्ययार्थसमुच्चये, गच्छतीति च । अत्रापि तृतीयैव समर्थविभक्तिः । उतरपथेनाहृतम् औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति औत्तरपथिकः ।

पदमञ्जरी

पथिन्शब्देन तु वाक्येऽनभिप्रेते पूर्वसूत्र एव नित्यग्रहणं कुर्यात् । यत्र पथिन्शब्दः श्रूयते, प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थमपि न भवति; पथः कनो विधानसामर्थ्यात्, प्रत्ययान्तरस्य प्राप्त्यभावात् । *पन्थानं नित्यं गच्छतीति* । नन्वयमर्थो न सम्भवति, विश्रमस्यावश्यम्भावित्वात्; सम्भवतु वा कथञ्चिदादित्यादौ, तथापि न तत्रैवेष्यते, उदाहृतं हि—पान्थो भिक्षां याचते इति ? तस्मादाभीक्ष्ण्यम्=नित्यम्, परित्यागाभावो वा ॥

उत्तरपथेनाहृतं च ॥ *चकारः प्रत्ययार्थसमुच्चय इति* । प्रत्ययार्थमात्रसमुच्चये, न तु समर्थविभक्तियुक्तस्य वाक्यार्थस्येत्यर्थः । 'तस्य व्याख्यान इति च' इतिवद् वाक्यार्थपरामशिन इतिशब्दस्याभावादिति भावः । तेन किं सिद्धं भवति ?

न्यासः

यते, न वाक्येन समवैति । ननु च पथिन्शब्देन वाक्यं मा भूदित्येवमर्थं नित्यग्रहणं स्यात् ? नैतदस्ति; यदि तदेवमर्थं स्यात् पूर्वसूत्र एव कृतं स्याद्—यत्र पथिन्शब्दः श्रूयते । इह तु करणे प्रत्ययार्थविशेषणं विज्ञायते ॥

उत्तरपथेनाहृतञ्च ॥ **चकारः प्रत्ययार्थ इति** । प्रत्ययार्थसमीपे श्रूयमाणत्वात् । गच्छतीत्यत्र पूर्वं द्वितीयान्तात् प्रत्यय उत्पन्नः । तदिहापि तत एव प्रत्ययेन भवितव्यमिति भ्रान्तिः स्यात् । अतस्तां निराकर्तुमाह—अत्रापीत्यादि । चकारो ह्यर्थात् परः श्रूयमाणोऽत्रार्थमात्रस्यैव गच्छतीत्यस्यानुकर्षकः प्रतीयते, न तु विभक्तेरपि;

❀ आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तारपूर्वपदादुपसंख्यानम् ❀।

वारिपथेनाहृतं वारिपथिकम्। वारिपथेन गच्छति वारिपथिकः। जङ्गलपथेनाहृतं जाङ्गलपथिकम्। जङ्गलपथेन गच्छति जाङ्गलपथिकः। स्थलपथेनाहृतं स्थालपथिकम्। स्थलपथेन गच्छति स्थालपथिकः। कान्तारपथेनाहृतं कान्तारपथिकम्। कान्तारपथेन गच्छति कान्तारपथिकः।

❀ अजपथशंकुपथाभ्यां चोपसंख्यानम् ❀। अजपथेनाहृतं गच्छति वा आजपथिकः। शंकुपथेनाहृतं गच्छति वा शांकुपथिकः।

❀ मधुकमरिचयोरण् स्थलात् ❀। स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकम्। स्थालपथं मरिचम्॥

कालात्॥ ७८॥

पदमञ्जरी

इत्याह—*अत्रापीति*। द्वितीयपक्षे चाक्रान्तेऽनाक्रान्ते च प्रकृत्यर्थे प्रत्ययः स्यात्, आक्रान्त एव तु भवति।

वारिजङ्गलेत्यादि। वार्यादीनि पूर्वपदानि यस्मिन्प्रातिपदिके तस्मात्पथिन्शब्दान्तादित्यर्थः।

अजपथशंकुपथाभ्यां चेति। पूर्वस्मिन्नेव वाक्येऽजशंकुशब्दौ पठितव्यौ, तथा तु न कृतमित्येव।

मधुमरिचयोरण् स्थलादिति। स्थलशब्दोत्तरो यः पथिन्-शब्दः, तदन्तान्मधुमरिचयोरभिधेययोरण् भवति। *स्थलपथेनाहृतमिति*। गच्छत्यर्थे तु प्रत्ययो न दर्शितः; मुख्यगमनासम्भवात्। *स्थालपथं मधुकमिति*। मधुमरिचयोरन्यतरनिर्णयायानुप्रयोगो न विरुद्धः॥

न्यासः

सम्बन्धाभावात्। तस्मात् स इहानुवृत्तः सन्निहितया समर्थविभक्त्या सम्बध्यमानस्तृतीयासमर्थादेव प्रत्ययमुत्पादयतीति भावः।

वारिजङ्गलेत्यादि। वार्यादयः पूर्वपदं यस्य तत् तथोक्तम्। एतयोरेवार्थयोरुपसंख्यानम्।

मधुमकरिचयोरित्यादि। मधुकमरिचयोरभिधेययोः स्थलात् परो यः पथिन्शब्दः, तदन्तादाहृते वक्तव्यः॥

'कालात्' इत्यधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कालादित्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति—'तेन निर्वृत्तम् । मासेन निर्वृत्तं मासिकम् । आर्द्धमासिकम् । सांवत्सरिकम्' ।

'कालात्' इत्यधिकारः 'व्युष्टादिभ्योऽण्' इति यावत् ॥

तेन निर्वृत्तम् ॥ ७९ ॥

'तेन' इति तृतीयासमर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकात् 'निर्वृत्तम्' इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति । अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् । आर्द्धमासिकम् । सांवत्सरिकम् ॥

तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ॥ ८० ॥

'तम्' इति द्वितीयासमर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकात् 'अधीष्टो भृतो भूतो वा भावी' इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । अधीष्टः=

पदमञ्जरी

कालात् ॥ स्वरूपग्रहणमिह न भवति, 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीयानिर्देशात् 'मासाद्वयसि' इत्यादौ मासादीनां कालग्रहणेन विशेषणाच्च ॥

तेन निर्वृत्तम् ॥ तेनेति करणे तृतीया । निवृत्तम्=निष्पादितम् । अन्तर्भावितण्यर्थे वृत्तिः ॥

तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ॥ *भावीति तादृश एवानागत इति* । स्वसत्तया व्याप्यमानकाल इत्यर्थः । ननु *चेति* । यद्यपि कचित्कदाचिन्मासमप्यध्येषणं भरणं च क्रियते, तथापि यावन्तं कालं क्रियते, न तावतः प्रत्यय इष्यते, अपि तु फलभूतक्रियाव्याप्यकालादिष्यते । स चाध्येषणभरणाभ्यामव्याप्त इति द्वितीया-

न्यासः

कालात् ॥ कालादिति स्वरूपग्रहणं न भवति, कुतः ? पृथगस्य योगस्यारम्भात् । कालशब्दस्यापि यदि स्वरूपग्रहणमभीष्टं स्यादिमं पृथग्योगमकृत्वोत्तरसूत्रे कालशब्दादेव तृतीयामुच्चारयेत्—कालेन निर्वृत्तमिति । एवं हि निर्देशादेव तृतीयासमर्थात् प्रत्ययो विज्ञायते । उत्तरसूत्रे च कालशब्दः स्वरितत्वादनुवर्त्तिष्यत इति सिद्धमिष्टम् । अतो न कर्त्तव्य एवायं पृथग् योगः । स एव क्रियतेऽर्थग्रहणं तदिति दर्शयितुम् ॥

तेन निर्वृत्तम् ॥ आह्निक इति । 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपः । टिलोपस्तु 'अह्नष्टखोरेव' इति नियमादिह न भवति ॥

तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ॥ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । तमधीष्ट

सत्कृत्य व्यापारितः । भृतः=वेतनेन क्रीतः । भूतः=स्वसत्तया व्याप्त-कालः । भावी=तादृश एवानागतः । 'कालाध्वनोः' इति द्वितीया । मासमधीष्टो मासिकोऽध्यापकः । मासं भृतो मासिकः कर्मकरः । मासं भूतो मासिको व्याधिः । मासं भावी मासिक उत्सवः ।

ननु चाध्येषणं भरणं च मूहूर्तं क्रियते, तेन कथं मासो व्याप्यते ? अध्येषणभरणे क्रियार्थे, तत्र फलभूतया क्रियया मासो व्याप्यमान-स्ताभ्यामेव व्याप्त इत्युच्यते ॥

मासाद्वयसि यत्खञौ ॥ ८१ ॥

मासशब्दाद्वयस्यभिधेये यत्खञौ प्रत्ययौ भवतः । ठञोऽपवादः । अधीष्टादीनां चतुर्णामधिकारेऽपि सामर्थ्याद् 'भूतः' इत्येवाभिसम्बध्यते । मासं भूतो मास्यः, मासीनः ।

पदमञ्जरी

नुपपत्तिरिति भावः । *अध्येषणभरणे क्रियार्थे इति* । अध्यापनादिक्रियार्थं हि तयोः करणम् । *फलभूतया क्रिययेति* । अध्यापनादिकया ।

ताभ्यामेव व्याप्त इत्युच्यत इति । यथा चौरैराहृतेनाग्निना दग्धे ग्रामे वक्तारो भवन्ति—चौरैर्दग्धो ग्राम इति ॥

मासाद्वयसि यत्खञौ ॥ *वयस्यभिधेय इति* । प्रत्ययार्थस्य तस्य विशेषणं वयः, तत्र विशिष्टाभिधाने विशेषणभूतं वयोऽप्यभिधेयमिति भावः । *सामर्थ्यादिति* ।

न्यासः

इत्यादौ कर्मणि द्वितीया नोपपद्यते; अध्येष्यमाणादि हि पुरुषादिकर्मानयानिष्ट्याभि-हितम्, न चान्या क्रियास्ति यस्यां मासादि कर्म स्यात् ।

ननु चेत्यादिना, यदुक्तम्–'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' द्वितीयेति, तद्विघटयति । तेन कथं मासो व्याप्यत इति ? न कथञ्चित् । विघटत इत्यर्थः । यद्धि मूहूर्त्तं क्रियते, तेन मुहूर्त्तेन मासैकदेशो व्याप्यते, न तु सकलो मासः । क्रियार्थे इति । अध्ययनादि-क्रियार्थे । तदर्थं हि ते क्रियेते । फलभूतया क्रिययेति । अध्ययनादिकया । ताभ्यामेव व्याप्त इत्युच्यत इति । तदन्यव्यापारस्य तत्रोपचारात् । यथा 'चौरेण ग्रामो दग्धः' इत्युक्ते न चौरेण ग्रामो दह्यते, अपि तु तदाहृतेनाग्निना । उपचारेण तु तथा व्यपदेशः ॥

मासाद् वयसि यत्खञौ ॥ सामर्थ्याद् भूत एवात्राभिसम्बध्यत इति । वयसि भूता-र्थस्यैव सम्भवादिति भावः । भाव्यर्थोऽपि तत्र सम्भवतीति चिन्त्यमेतत् । अथ तु

वयसीति किम् ? मासिकम् ॥

द्विगोर्यप् ॥ ८२ ॥

'मासाद्वयसि' इति वर्तते । मासान्ताद् द्विगोर्यप् प्रत्ययो भवति वयस्यभिधेये । द्वौ मासौ भूतः द्विमास्यः । त्रिमास्यः ॥

षण्मासाण्ण्यच्च ॥ ८३ ॥

'वयसि' इत्येव । षण्मासशब्दाद्वयस्यभिधेये ण्यत्प्रत्ययो भवति, यप् च । औत्सर्गिकष्ठञपीष्यते, स चकारेण समुच्चेतव्यः । स्वरितत्वाच्चानन्तरोऽनुवर्त्तिष्यते । तेन त्रैरूप्यं भवति—षाण्मास्यः, षण्मास्यः, षाण्मासिकः ॥

पदमञ्जरी

न हि मासमधीष्टो भृतो वेत्युक्ते काचित्कालकृता शरीरावस्था गम्यते, भाविन्यपि नाञ्जसा गम्यते । जातः कुमारो मासं भावीत्यत्रापि पूर्णे मासे याऽवस्था सैव वयः, ततश्च तत्रापि भूत एव मासो वयःप्रतीतेर्हेतुरित्येतत्सामर्थ्यम् । खञो ञित्करणं स्वरार्थम्, पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च—मासीनाभार्यः ॥

द्विगोर्यप् ॥ प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधेरभ्युपगमात्पूर्वेण यत्खञोः प्राप्तयोर्यब्विधीयते । यपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्, तेन कालान्ते द्विगाविति पूर्वपदप्रकृतिस्वर एवावतिष्ठते ॥

षण्मासाण्ण्यच्च ॥ *औत्सर्गिकोऽपि ठञिष्यते इति* । स कथमिष्यमाणोऽपि लभ्य इत्याह—*स इति* । यदि चकारष्ठञः समुच्चयार्थः । कथं तर्हि यब्भवति ? इत्याह—*स्वरितत्वाच्चेति* । एतच्च व्याख्यानादेव लभ्यते ॥

न्यासः

नेष्यते, पुनरभिधानं शरणमाश्रयितव्यम् । खञो ञित्करणं स्वरार्थम्, वृद्ध्यर्थञ्च । ननु च वृद्ध एव मासशब्दः ? सत्यं वृद्धोऽयम्; तथापि वृद्धस्यापि वृद्धिरेषितव्या । मासीनाभार्य इति 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' इति पुंवद्भावप्रतिषेधो यथा स्यात् ॥

द्विगोर्यप् ॥ प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकीति तदन्तविधेरभ्यनुज्ञानाद् द्विगोरपि मासान्तात् पूर्वेण यत्खञोरेव प्राप्तयोरयमारभ्यते । यपः पित्करणमनुदात्तार्थम्, अन्यथा मासशब्दान्तात् प्रत्यये विहिते सति शिष्टत्वाद् 'इगन्तकाल' इति द्विगावेवेति स्वरबाधनात् प्रत्ययस्वरः स्यात्, ततश्च वर्ज्यमानस्वरेणानुदात्तादि स्यात् । प्रत्ययेऽनुदात्तार्थे पिति 'इगन्त' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः सिद्धो भवति ।

षण्मासाण्ण्यच्च ॥ षण्मासशब्दो द्विगुः । तस्मात् पूर्वेण यपि प्राप्ते वचनम् । स चकारेण समुच्चेतव्य इति । यद्येवम् कथमन्तरो यब् भवति ? इत्याह—स्वरितत्वाच्चानुवर्त्स्यत इति । तेनानुवृत्तिसामर्थ्यादनन्तरो यब्भवतीति मन्यते ॥

अवयसि ठँश्च ॥ ८४ ॥

षण्मासशब्दादवयस्यभिधेये ठन् प्रत्ययो भवति। चकारेणानन्तरस्य ण्यस्य समुच्चयः क्रियते। षण्मासिको रोगः। षाण्मास्यः ॥

समायाः खः ॥ ८५ ॥

अधीष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्तन्ते। समाशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् अधीष्टादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादः। समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीनः।

'केचित्तु 'तेन निर्वृत्तम्' इति सर्वत्रानुवर्तयन्ति। समया निर्वृत्तः समीनः ॥

द्विगोर्वा ॥ ८६ ॥

'समायाः खः' इत्येव। समाशब्दान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु पञ्चसु वा खः प्रत्ययो भवति। पूर्वेण नित्यः प्राप्तो विकल्प्यते। 'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इति प्राप्तिरस्त्येव। खेन मुक्ते पक्षे ठञपि भवति। द्विसमीनः, द्वैसमिकः। त्रिसमीनः, त्रैसमिकः ॥

रात्र्यहस्संवत्सराच्च ॥ ८७ ॥

'द्विगोः' इत्येव [1]। रात्रि, अहः, संवत्सर—इत्येवमन्ताद् द्विगो-

पदमञ्जरी

अवयसि ठँश्च ॥ *चकारोऽनन्तरस्य ण्यतः समुच्चयार्थ इति*। न तु पूर्ववत् ठञः समुच्चयार्थः। तथा च वार्त्तिकम्—'अवयसि ठंश्चेत्यनन्तरस्यानुकर्षः' इति ॥

समायाः खः ॥ *सर्वत्रेति*। पूर्वत्र, अत्र, परत्र च। तेन परिजय्य-लभ्य-कार्य-सुकरमिति यावत् ॥

रात्र्यहस्संवत्सराच्च ॥ *द्वैयह्निक इति*। 'अह्नष्टखोरेव' इति नियमादसति टिलोपे 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपः। नन्वत्र 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति

न्यासः

अवयसि ठँश्च ॥ **समायाः खः** ॥ **द्विगोर्वा** ॥ पूर्वेणेत्यादि। कथं पुनः समाशब्दाद् विधीयमानः प्रत्ययस्तदन्ताद् द्विगोः प्राप्नोति? इत्यत आह—प्राग्वतेरित्यादि। गतार्थम् ॥

रात्र्यहस्संवत्सराच्च ॥ द्व्यह्नीन इति। 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोपः विभाषानु-

---

1. 'द्विगोरित्येव' इति बहुत्र नास्ति।

र्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति। खेन मुक्ते पक्षे ठञपि भवति। द्विरात्रीणः, द्वैरात्रिकः। त्रिरात्रीणः, त्रैरात्रिकः। द्व्यहीनः, द्वैयह्निकः। त्र्यहीणः, त्रैयह्निकः। द्विसंवत्सरीणः, द्विसांवत्सरिकः। त्रिसंवत्सरीणः, त्रिसांवत्सरिकः। 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' इत्युत्तरपदवृद्धिः॥

वर्षाल्लुक् च॥ ८८॥

'द्विगोः' इत्येव। वर्षान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति। पक्षे ठञ्। तयोश्च वा लुग्भवति। एवं त्रीणि रूपाणि भवन्ति—द्विवर्षीणो व्याधिः, द्विवार्षिकः, द्विवर्षः। त्रिवर्षीणः, त्रिवार्षिकः; त्रिवर्षः। 'वर्षस्याभविष्यति' इत्युत्तरपदवृद्धिः। भाविनि तु त्रैवर्षिकः॥

चित्तवति नित्यम्॥ ८९॥

चित्तवति प्रत्ययार्थेऽभिधेये वर्षशब्दान्ताद् द्विगोर्निर्वृत्तादिष्वर्थेषू-

पदमञ्जरी

परत्वाट्टचा भवितव्यम्, न च महाविभाषया टचो विकल्पः, बृहतीजात्यन्ताः समासान्ताश्चेति नित्येषु परिगणनात्? एवं तर्हि समासान्तविधेरनित्यत्वादत्र न भविष्यति॥

चित्तवति नित्यम्॥ यदि चित्तवति नित्यं लुग्भवति, कथं 'वर्षस्याभविष्यति' इत्यत्र वक्ष्यति—द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति, न हि नित्ये लुकि अधीष्टभृतयोरुत्पन्नस्य चित्तवति श्रवणमुपपद्यते? एवं तर्हि भूत एवोत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुगिष्यते, न सर्वत्र। एतच्च नित्यग्रहणाल्लभ्यते।

न्यासः

वर्त्तते, तेन व्यवस्थितविभाषात्वान्न टज् भविष्यति। द्वैयह्निकः, त्रैयह्निक इति। 'न य्वाभ्याम्' इत्यादिनैजागमः, वृद्धिप्रतिषेधश्च॥

वर्षाल्लुक् च॥ भाविनि तु त्रैवर्षिक इति। तत्र हि 'अभविष्यति' इति वचनात्। इहादिवृद्धिरेव भवति।

चित्तवति नित्यम्॥ यदि चित्तवति प्रत्ययार्थे नित्यं लुग्भवति, 'वर्षस्याभविष्यति' इत्यत्र यद्वक्ष्यति—'द्वे वर्षे अधीष्टो भूतो वा कर्म करिष्यतीति द्विवार्षिको मनुष्यः' इति, तद्विरुध्यते; न हि नित्ये लुक्यधीष्टभृतयोरुत्पन्नस्य प्रत्ययस्य चित्तवत्यभिधेय एवं रूपमुपपद्यते? नैष दोषः; भूत एवास्योत्पन्नस्य प्रत्ययस्य चित्तवति

त्पन्नस्य प्रत्ययस्य[1] नित्यं लुग्भवति । पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते वचनम् । द्विवर्षो दारकः ।

चित्तवतीति किम् ? द्विवर्षीणो व्याधिः ॥

षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ॥ ९० ॥

षष्टिकशब्दो निपात्यते । बहुवचनमतन्त्रम् । षष्टिरात्रशब्दात्तृतीयासमर्थात्कन् प्रत्ययो निपात्यते 'पच्यन्ते' इत्येतस्मिन्नर्थे, रात्रिशब्दस्य च लोपः । षष्टिरात्रेण पच्यन्ते षष्टिकाः । संज्ञैषा धान्यविशेषस्य । तेन मुद्गादिष्वतिप्रसङ्गो न भवति ॥

पदमञ्जरी

आरम्भसामर्थ्यादेव हि नित्यो लुक् सिद्धः, तत्र नित्यग्रहणं विशिष्टेऽर्थे नित्यं लुग् यथा स्यात् । स पुनर्विशिष्टोऽर्थो भूत एव; व्याख्यानात् । तेनाधीष्टादौ पूर्वेण विभाषयैव लुग्भविष्यति ॥

षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ॥ लघुत्वात्प्रथमातिक्रमे कारणाभावाच्च एकवचनेनैव निर्देशाद्विवक्षितं तदिति मन्यमानं प्रत्याह—*बहुवचनमतन्त्रमिति* । तथा च वार्त्तिके—'षष्टिके संज्ञाग्रहणं कर्तव्यम्' इत्येकवचनं प्रयुक्तम् । प्रयोगबाहुल्यात्तु सूत्रे बहुवचनप्रयोगः, षष्टिरात्रेण पच्यन्त इत्यत्रार्थे निपात्यमानस्य षष्टिकशब्दस्य धान्यविशेष एव प्रयोगो यथा स्यात्, मुद्गादिषु मा भूदित्येवमर्थं संज्ञाग्रहणं कर्त्तव्यमिति *वार्त्तिककारेणोक्तम्* । तदेतन्निपातनादेव सिद्धमित्यभिप्रायेणाह—*संज्ञैषेत्यादि* ॥

न्यासः

नित्यं लुगिष्यते, न सर्वत्र । कुत एतत् ? नित्यग्रहणात् । इह नित्यग्रहणमनर्थकमेव । आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यो लुग्भविष्यतीति किं नित्यग्रहणेन ? तत् क्रियते—विशिष्टेऽर्थे नित्यो लुग्यथा स्यादित्येवमर्थम् । स पुनर्विशिष्टो भूत एव ॥

षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ॥ 'बहुवचनान्तस्य निर्देशाद् बहुवचन एव षष्टिकशब्दस्य साधुत्वम्, नान्यत्र' इति यश्चोदयेत्, तं प्रत्याह–बहुवचनमतन्त्रमिति । अप्रधानमित्यर्थः । अप्रधानत्वं तु तस्य नान्तरीयकत्वाद् । अवश्यं हि येन केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्त्तव्यः । यद्येवम्, एकवचनेन निर्देशः कस्मान्न कृतः, एवं हि लघुर्भवति ? सत्यम् ; वैचित्र्यार्थं बहुवचनेन कृतः । यदि 'षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' इत्यस्मिन्नर्थे एतन्निपातनम् मुद्गादिष्वतिप्रसङ्गः, तेऽपि हि षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ? इत्यत आह—संज्ञैषेत्यादि । धान्यविशेष एव हि षष्टिकशब्दः संज्ञात्वेन रूढः । तेनानभिधानाद् मुद्गादिष्वतिप्रसङ्गो न भवति ॥

---

1. 'निवृत्तादिष्वर्थेषूत्पन्नस्य प्रत्ययस्य' इति पाठो बहुषु पुस्तकेषु नास्ति ।

वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि ॥ ९१ ॥

वत्सरान्तात्प्रातिपदिकान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु छन्दसि विषये छः प्रत्ययो भवति । ठञोऽपवादः । इद्वत्सरीयः, इदावत्सरीयः ॥

संपरिपूर्वात्ख च ॥ ९२ ॥

संपरिपूर्वाद्वत्सरान्तात्प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये निर्वृत्तादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति, चकाराच्छश्च । संवत्सरीणः, परिवत्सरीणः । संवत्सरीयः । परिवत्सरीयः ॥

तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥ ९३ ॥

'तेन' इति तृतीयासमर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकात् 'परिजय्य, लभ्य, कार्य, सुकर' इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् प्रत्ययो भवति । मासेन परिजय्यः, शक्यते जेतुं मासिको व्याधिः। सांवत्सरिकः। मासेन लभ्यो मासिकःपटः। मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः ॥

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥ ९४ ॥

'तत्' इति द्वितीया समर्थविभक्तिः, सा चात्यन्तसंयोगे । अस्येति

पदमञ्जरी

वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि ॥ इद्वत्सर-इदावत्सरशब्दौ पञ्चवर्षे युगे द्वयोर्वर्षयोः संज्ञे । एवं संवत्सर-परिवत्सरशब्दावपि ॥

तेन परिजय्यलभ्यकार्य्यसुकरम् ॥ परिजय्य इत्यस्य विवरणम्—*शक्यते परिजेतुमिति* । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इत्ययादेशः ॥

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥ *मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्येति* । यद्यप्यत्रात्यन्तसंयोगो गम्यते, तथापि द्वितीया न भवति; मासस्य प्रधानत्वात्, षष्ठीविषये च द्वितीया विधानात् ।

न्यासः

वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि ॥ संपरिपूर्वात् ख च ॥ तेन परिजय्यलभ्यकार्य्यसुकरम् ॥ परिजय इति । परिः सर्वतोभावे । शक्यार्थे कृत्यः । सर्वतः शक्यो जेतुं परिजय्यः । लभ्य इति, कार्य्य इति । अत्रापि शक्यार्थ एव कृत्यौ । मासेन शक्यो लभ्यो मासिकः पटः । मासेन शक्यं कर्तुं सुकरं वा मासिकं चान्द्रायणम् । 'तेन निर्वृत्तम्' 'तमधीष्टः' इति विभक्तिद्वये प्रकृते पुनस्तेनेति तृतीयोपादानं द्वितीयानिवृत्त्यर्थम् ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥ द्वाभ्यामपि सम्बध्यत इति । समर्थविभक्तया, प्रत्ययार्थेन च । कथं सम्बध्यते ? इत्याह—कालस्येत्यादि । इह हि द्वितीयाऽत्यन्तसंयोगे । सा हि

प्रत्ययार्थः। 'ब्रह्मचर्यम्' इति द्वाभ्यामपि सम्बध्यते। कालस्य व्यापकम्, प्रत्ययार्थस्य च स्वमिति। तदिति द्वितीयासमर्थात्कालवाचिनःप्रातिपदिकात् 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थे ठञ्प्रत्ययो भवति, ब्रह्मचर्यं चेद् गम्यते। मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी। आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः।

अपरा वृत्तिः—

तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति, यत्तदस्येति निर्दिष्टं ब्रह्मचर्यं चेत्तद्भवति। मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम्। आर्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्।

पूर्वत्र ब्रह्मचारी प्रत्ययार्थः, उत्तरत्र ब्रह्मचर्यमेव। उभयमपि प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

❀ महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्य उपसंख्यानम् ❀। माहानामिकम्। गौदानिकम्। आदित्यव्रतिकम्।

पदमञ्जरी

उभयथा हि सूत्रप्रणयनादिति। उभयोरप्यर्थयोः सूत्रकारेणैव सूत्रस्य व्याख्यातत्वादित्यर्थः। *महानाम्न्यादिभ्य इति*। ब्रह्मचर्यस्य प्रत्ययार्थत्वात्सामर्थ्यात् षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रत्ययः।

महानाम्न्यो नाम ऋच इति। महन्नाम यासां ता महानाम्न्यः, विदामघवन्नित्याद्याः, 'नित्यं संज्ञाछन्दसोः' इति ङीप्। *महानाम्नीश्चरतीति*। चरण-

न्यासः

यः कालस्य व्यापकस्तमपेक्षते, नान्तरीयकत्वात्। न हि तेन विनाऽत्यन्तसंयोग उपपद्यते। ब्रह्मचर्यं च कालस्य व्यापकमिति। व्यापकमिति व्यापकमेक्षमाणायां विभक्तौ ब्रह्मचर्यसम्बन्धो भवति। कथं प्रत्ययार्थेन सम्बध्यते ? इत्यत आह—प्रत्ययार्थस्य च स्वमिति। प्रत्ययार्थः प्रतियोगि वस्तु स्वमपेक्षते। प्रकृतत्वाच्च ब्रह्मचर्यस्यैव प्रतियोगित्वं विज्ञायते, तद्धि तस्य स्वं भवति। अतः प्रतियोग्यपेक्षायां प्रत्ययार्थस्यापि ब्रह्मचर्येण सम्बन्धो भवति।

पूर्वत्रेत्यादिना पूर्वोत्तरयोर्वृत्त्योर्विशेषं दर्शयति। किं पुनरत्र प्रमाणमित्याह—**द्वयमपीत्यादि**। कथं पुनर्द्वयमपि प्रमाणमित्याह—**उभयथेत्यादि**। उभयस्मिन्नपि ह्यत्रार्थे सूत्रमेतदाचार्येण प्रणीतम्। द्वयमपि प्रमाणम्।

महानाम्न्यादिभ्य इति। ब्रह्मचर्य एवार्थ इदमुपसंख्यानम्। **तच्चरतीत्यादि**। तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यो महानाम्न्यादिभ्यः शब्देभ्यः 'चरति' इत्येतस्मिन्नर्थे इदं ठञ् उप-

❀ तच्चरतीति च[1] ❀। महानाम्न्य ऋचः, तत्सहचरितं व्रतं तच्छब्देनोच्यते। महानाम्नीश्चरति माहानामिकः। आदित्यव्रतिकः, गौदानिकः। 'भस्याढे' इति पुंवद्भावेन ङीपि निवृत्ते 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः।

❀ अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिनिर्वक्तव्यः ❀। अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षी। तिलव्रती।

❀ अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुंश्च डिनिश्च वक्तव्यः ❀। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं चरति, अष्टाचत्वारिंशकः। अष्टाचत्वारिंशी।

❀ चतुर्मास्यानां यलोपश्च ड्वुँश्च डिनिश्च वक्तव्यः ❀। चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासकः। चातुर्मासी॥

❀ चातुर्मासाण्यो यज्ञे तत्र भवे ❀। चतुर्षु मासेषु भवानि चातुर्मास्यानि॥

पदमञ्जरी

मनुष्ठानम्, तच्च क्रियाविषयमिति तत्सहचरितं व्रतं तच्छब्देनोच्यते। तत्र च स्व लिङ्गसंख्यापरित्यागेनैव महानाम्नीशब्दो व्रते वर्त्तत इति महानाम्नीश्चरतीति विग्रहः। *माहानामिक इति*। 'भस्याढे तद्धिते पुंवद्भाव' इति ङीपि निवृत्ते टिलोपः।

अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिनिरिति। डित्करणमष्टाचत्वारिंशतष्टिलोपार्थम्। अन्यत्र यस्येति लोपेन सिद्धम्।

अष्टाचत्वारिंशक इति। वृत्तिविषये वर्षेषु संख्येयेषु अष्टचत्वारिंशच्छब्दो वर्त्तते—प्रतिवेदं द्वादशवर्षाणि व्रतचरणाच्चतुर्षु वेदेष्वष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणि व्रतं चरति।

चातुर्मास्यानामिति। अभिधेयबहुत्वाद्बहुवचनम्।

किमिदं चातुर्मास्यानामिति? तत्राह—*चतुर्मासाण्यो यज्ञे तत्र भव इति*।

न्यासः

संख्यानम्। तत्सहचरितं व्रतं तच्छब्देनोच्यत इति। भवति हि साहचर्यात् ताच्छब्द्यम्, यथा—यष्टीः प्रवेशयेति। अथ ऋच एवोच्यन्त इत्येवं कस्मान्न विज्ञायते? चरणार्थस्यायोगात्। ब्रह्मचर्यं हि चर्यते। चतुर्मासाण्यो यज्ञ इत्यादि। चतुर्मास-

[1] 'तच्चरतीतिमहानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानम्'—इति पाठा०।

॥ संज्ञायामण्वक्तव्यः ॥ । चतुर्षु मासेषु भवा चातुर्मासी पौर्णमासी । आषाढी । कार्तिकी । फाल्गुनी ॥

तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ॥ ९५ ॥

'तस्य' इति षष्ठीसमर्थेभ्यो यज्ञाख्येभ्यः 'दक्षिणा' इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी । वाजपेयिकी । राजसूयिकी ।

पदमञ्जरी

चातुर्मास्यानीति । संवत्सरसाध्यो हविर्यज्ञविशेषस्तस्य चत्वार्यवान्तरपर्वाणि तदपेक्षं बहुवचनम् । *चातुर्मासीति* । 'तत्र भवः' इत्येवाणिसद्धः, तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुकि प्राप्ते पुनरण् विधीयते । 'कालाट्ठञ्' इत्यस्य त्वप्राप्तिः समुदायस्याकालवाचित्वात्तदन्तविध्यभावाच्च । अपर आह—यथाकथञ्चित्कालवृत्तिभ्योऽपि ठञ इष्टत्वाट्ठञ्येव प्राप्ते तस्य लुकीदमण्विधानमिति ॥

तस्य च दक्षिणायज्ञाख्येभ्यः ।। यज्ञमाचक्षते यज्ञाख्याः सोपसर्गादपि मूलविभुजादित्वादस्मादेव निपातनाद्वा कः ।

आख्याग्रहणमिति । आङ्पूर्वस्य 'ख्या' इत्यस्य धातोर्ग्रहणमित्यर्थः । *आख्याग्रहणमिति* । ह्रस्वान्तपाठस्तु युक्तः । *अकालवाचिनोऽपि यथा स्यादिति* । स्वरूपग्रहणं तु बहुवचननिर्देशादपि शक्यं निराकर्तुमिति भावः । नन्वेकाहादयः

न्यासः

शब्दात् तत्रेति सप्तमीसमर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यज्ञे विषये ण्यो वक्तव्यः ।

संज्ञायामण् वक्तव्य इति । चतुर्मासाद्भव इत्येतदपेक्षते । इदञ्च यज्ञादन्यत्रोपसंख्यानम् ? ननु च 'तत्र भवः' इत्यनेनाण्भवत्येव, किमर्थमुपसंख्यायते ? सत्यमस्ति; तस्य तु 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्प्राप्नोति । अतो लुग्बाधनार्थं तस्योपसंख्यानम् ॥

तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः ।। अथाख्याग्रहणं किमर्थम्, न यज्ञेभ्य इत्युच्येत ? इत्यत आह—आख्याग्रहणमित्यादि । यज्ञनामधेयमात्रादकालवाचिनोऽपि प्रत्ययो यथा स्यादित्येवमर्थमाख्याग्रहणमिति । **इतरथा हीत्यादि** । यद्याख्याग्रहणं न क्रियेतेत्यर्थः । ननु चैकाहद्वादशाहादयो नैव कालशब्दाः, तत् कुतस्तेषामेवात्र ग्रहणप्रसङ्गः ? अथाकालवाचिनामप्येषां ग्रहणं सम्भवति ? एवं सत्यग्निष्टोमादीनामपि भविष्यतीत्यपार्थकमाख्याग्रहणम् ? इत्यत आह—**प्राग्वतेरित्यादि** । यद्यप्येते कालशब्दा न भवन्ति, तथापि प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिरभ्यनुज्ञातः । तेन सत्यपि कालाधिकारेऽप्यस्ति तेषु ग्रहणप्रसङ्गः । तथा च तत्र वचनस्य चरितार्थत्वादग्निष्टोमादिभ्यो न स्यात्, तेभ्योऽपि यथा स्यादित्याख्याग्रहणम् ।

आख्याग्रहणमकालादपि यज्ञवाचिनो यथा स्यादिति; इतरथा हि कालाधिकारादेकाहद्वादशाहप्रभृतय एव यज्ञा गृह्येरन् । 'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इति कालाधिकारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः ॥

तत्र च दीयते कार्यं भववत् ॥ ९६ ॥

'तत्र' इति सप्तमीसमर्थात्कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् दीयते, कार्यम्—इत्येतयोरर्थयोर्भववत्प्रत्ययो भवति । यथा—मासे भवं मासि-

पदमञ्जरी

क्रतुशब्दाः ? तत्राह–शब्दः कालवाची न समुदायः, कथं ते एव गृह्येरन् ? अत आह—*प्राग्वतेरिति* । ननु याऽग्निष्टोमस्य दक्षिणा साग्निष्टोमे भवति, तत्र 'बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्', 'क्रतुयज्ञेभ्यश्च' इति ठञ् सिद्ध्यति ? न सिद्ध्यति; 'व्याख्यातव्यनाम्नः' इति तत्र वर्त्तते, नामग्रहणाच्च व्याख्यातव्यतया लोके प्रसिद्धस्य ग्रन्थस्य ग्रहणम् । किञ्च—द्वयोर्वाजपेययोर्भवा द्वैवाजपेयिकी—अत्र न प्राप्नोति; तदन्तविधेरभावात् । सत्यपि वा तदन्तविधौ 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक् प्राप्नोति । इह तु 'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानाम्' इति तदन्तविधिश्चास्ति, लुक्च न प्राप्नोति; अप्राग्दीव्यतीयत्वात्, अनार्हीयत्वाच्च ।

तत्र च दीयते कार्यं भववत् ॥ *हैमनमिति* । यद्यपि भववत्प्रत्यया भवन्तीत्युक्तम्, तथापि 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यण्प्रत्ययेऽतिदिष्टे तत्सन्नियोगशिष्टस्तलोपोऽपि भवति । *वतिः सर्वसादृश्यार्थ इति* । 'कालेभ्यो भववत्' इत्यत्रैतद्

न्यासः

ननु चैवमपि सूत्रमनर्थकम्, या ह्यग्निष्टोमस्य दक्षिणा साप्यग्निष्टोमे भवति, तत्र 'बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्' 'क्रतुयज्ञेभ्यश्च' इत्यैव ठञ् सिद्धः, इदमपि सूत्रं ठञर्थमेवारभ्यते ? सत्यमेतत्; किन्तु भवार्थे 'तस्येदम्' इति विवक्षिते तदा परत्वादणादयः स्युरिति युक्तं विधानम् । अपि च यज्ञाख्येभ्यस्तेन ठञिष्यते । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविध्यभावात् संख्यापूर्वपदेभ्यष्ठञ् न लभ्येत—द्वयोर्वाजपेययोर्भवा दक्षिणा द्वैवाजपेयिकीति । अनेन च विधानेन 'प्राग्वतेः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमलुकि' इति ठञ् सिद्धो भवति । अथापि कथञ्चित् तदन्तविधिर्भवार्थे लभ्यते, तथापि 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्प्रसज्येत । तस्माद्युक्तः सूत्रारम्भः ॥

तत्र च दीयते कार्यं भववत् ॥ यथा मासे भवं मासिकमित्यादि । 'कालाट् ठञ्' इति । प्रावृषेण्यमिति । 'प्रावृष एण्यः' । वासन्तं शारदमिति । सन्धिवेलादिसूत्रेणाण् । हैमनमिति । 'हेमन्ताच्च' इति, 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इति । वतिः सर्वसादृश्यार्थः । 'कालेभ्यो भववत्' इत्यत्रैतद्व्याख्यातम् । तत एवानुगन्तव्यम् ।

कम् । सांवत्सरिकम् । प्रावृषेण्यम् । वासन्तिकम्, वासन्तम् । हैमनम् । हैमन्तम् । हैमन्तिकम् । शरदम् । वतिः सर्वसादृश्यार्थः ।

योगविभागश्चात्र कर्त्तव्यः—'तत्र च दीयते', 'यज्ञाख्येभ्यः' इति । आग्निष्टोमिकं भक्तम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् ।

कालाधिकारस्य पूर्णोऽवधिः । अतः परं सामान्येन प्रत्ययविधानम् ।

व्युष्टादिभ्योऽण् ॥ ९७ ॥

पदमञ्जरी

व्याख्यातम् । *अग्निष्टोमे दीयते आग्निष्टोमिकं भक्तमिति* । यद्येवम्, अग्निष्टोमस्य या दक्षिणा साग्निष्टोमे दीयते तत्र 'यज्ञाख्येभ्यो दीयते' इत्यनेनैव सिद्धम्, तथा यन्मासे कार्यं तन्मासे भवं भवति, ततश्च कार्यग्रहणमनर्थकम्, तत्र भवेन कृतत्वात् ? अत्राहुः—"द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकमित्यत्रापि प्रत्ययो भवति, अत्र तदन्तविधेरभ्युपगमात् । 'कालाट्ठञ्' इत्यत्र तु न तदन्तविधिरस्ति, सत्यपि वा तदन्तविधौ 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक् प्राप्नोति । अथानेनापि प्रत्यये सति लुक्कस्मान्न भवति, यावता 'वतिः सर्वसादृश्यार्थे' इत्युक्तम् ? सत्यम्; प्रत्ययमात्रस्यातिदेशो न लुकः", इति । तदपरे न सहन्ते—वतिः सर्वसादृश्यार्थः, तत्र यथा भवे तदन्तविधिर्न भवति, एवमत्रापि न भवितव्यम् । एवं च कृत्वा 'तत्र च दीयते' इत्यत्रापि तदन्तविधिर्न भवति । विभक्ते तु योगे भवत्येव, तत्र भववदित्यस्याभावात्-द्वयोर्वाजपेययोर्दीयते द्वैवाजपेयिकी । सूक्ष्मदृशामेष सन्थाः॥

व्युष्टादिभ्योऽण् ॥ व्युष्टशब्दः कालवाची दिवसमुखे वर्त्तते, तत्साहचर्यान्नित्यशब्दस्यापि कालवाचिनो ग्रहणम्, नाकाशादिवृत्तेः । तत्र चात्यन्तसंयोगे

न्यासः

चकारः कालादित्यनुकर्षणार्थः, तेन चानुकृष्टत्वादुत्तरत्र नानुवर्त्तते, अत आह—**कालाधिकारस्य पूर्णोऽवधिरित्यादि** । ननु च यन्मासे दीयते कार्यं च तन्मासे भवति; मासाधारत्वात् तत्सत्तायाः । ततः 'तत्र भवः' इत्यनेनाणैव सिद्धमिति किमतिदेशेन ? एवं तेन सत्यपि भवत्यर्थे कार्यदीयमानयोः कार्यतां दीयमानताञ्च कालान्तात् तैः प्रत्ययैरपि ख्यापयितुमतिदेशः । किञ्चानेन च तत्र भवानामपि न । तेन सति तस्मिन् तदन्तविधेरिष्टत्वाद् द्वयोर्मासयोर्दीयते कार्यं वा—द्वैमासिकमिति । अथापि कथञ्चिद् भवार्थेऽपि तदन्तविधिर्गृह्यते, एवमपि 'द्विगोः' इति लुक् स्यात् । ननु चात्रापि विधाने सत्यतिदेशादेव लुक् प्राप्नोति ? वचनसामर्थ्यात् प्रत्ययमात्रस्यातिदेशो विज्ञास्यते, न सर्वकार्याणमित्यदोषः ॥

व्युष्टादिभ्योऽण् ॥ व्युष्टशब्दोऽयं कालशब्दः । यत्साहचर्यान्नित्यशब्दोऽपि कालशब्द एव गृह्यते, नाकाशादिवचनः । तेन तत्र सप्तम्यपवादः 'कालाध्वनोरत्यन्त-

'तत्र' इति सप्तमीसमर्थेभ्यो व्युष्टादिभ्यो दीयते, कार्यम्—इत्येतयोरण् प्रत्ययो भवति। व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्। नैत्यम्॥

ॐ अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम् ॐ आग्निपदम्[1]। पैलुमूलम्। किं वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्[1]; अत्रैव ते पठितव्याः।

व्युष्ट। नित्य। निष्क्रमण। प्रवेशन। तीर्थ। सम्भ्रम। आस्तरण। संग्राम। संघात। अग्निपद। पीलूमूल। प्रवास। उपसंक्रमण। व्युष्टादिः[2]॥

पदमञ्जरी

द्वितीया भवतीति सप्तम्यधिकारेऽपि द्वितीयान्तात्प्रत्ययः। नित्यं दीयते कार्यं वा नैत्यम्।

'अण्प्रकरणेऽग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्येतत्प्रत्याचष्टे—*न वक्तव्यमिति*। न कर्त्तव्यमित्यर्थः। कथमित्याह—*अत्रैव पठितव्यास्त इति*। आदिशब्दः प्रकारवाच्याश्रयणीय इत्युक्तं भवति; अन्यथा तत्रैव पठ्येरन्, उपसंख्यानं वा क्रियेत, को विशेषः? अण्ग्रहणमनर्थकं भववदित्यनुवर्त्तिष्यते, तेनाणेव भविष्यति। न चैवं व्युष्टनित्यशब्दाभ्याम् 'कालाट्ठञ्' इत्यस्य प्रसङ्गः, पूर्वेणैव ठञः सिद्धत्वात्? सत्यम्; 'आदिशब्दः प्रकारवाची' इत्युक्तम्, तत्र यदि वृद्धेष्वप्येतत्कदाचित्प्रवर्तते, तदा छः स्यात्। पठितेषु तु नास्ति दोषः॥

न्यासः

संयोगे' इति द्वितीया भवति। तेन सप्तम्यधिकारेऽपि नित्यशब्दाद् द्वितीयासमर्थादेव प्रत्ययः। नित्यं दीयते नैत्यम्। सर्वकाले दीयत इत्यर्थः।

अण्प्रकरण इत्यादि। यदेतत् कात्यायनेनोक्तम् 'अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्येतन्न वक्तव्यम्। कथं तर्ह्यण् स्यात्? व्युष्टादिष्वेवाग्निपदादयः पठितव्याः। अथाण्ग्रहणं किमर्थम्, यावता 'भववत्' इत्येतदिहानुवर्त्तते, तेनैवात्राणपि भविष्यति? नैवं शक्यम्; एवं हि सति व्युष्ट-नित्यशब्दाभ्याम् 'कालाट् ठञ्' इति ठञ् स्यात्, नैष दोषः; तत्र पुनरारम्भसामर्थ्याद् यष्ठञा बाधितः स एव भविष्यति। कः पुनरसौ? अणेव। एवमपि तीर्थशब्दाद् द्वयजृद्ब्राह्मणादिसूत्रेण ठग् विहित इति ततष्ठगेव स्यात्। ये चात्र प्रवेशनादयोऽन्तोदात्ताः; तेभ्यष्ठञ् स्याद्—'बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्' इति; तेभ्यो भवार्थे ठञो विहितत्वात्। तस्मादण्ग्रहणं कर्त्तव्यम्॥

१-१. पाठोऽयं बहुषु पुस्तकेषु नास्ति।

२. दीर्घ, उपवास—इत्येतौ शब्दावधिकौ कुत्रचित्।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ॥ ९८ ॥

'दीयते, कार्यम्' इति वर्त्तते । तेनेति तृतीयासमर्थाभ्यां यथाकथाच–हस्तशब्दाभ्यां यथासंख्यं णयतौ प्रत्ययौ भवतः । दीयते, कार्यमित्येतयोरर्थयोः प्रत्येकमभिसम्बन्धः, यथासंख्यं नेष्यते । यथाकथाचशब्दोऽव्ययसमुदायोऽनादरेवर्त्तते । तृतीयार्थमात्रं चात्र सम्भवति, न तु तृतीया समर्थविभक्तिः । यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम् । हस्तेन दीयते कार्यं वा हस्त्यम् ॥

सम्पादिनि ॥ ९९ ॥

'तेन' इत्येव । तृतीयासमर्थात्सम्पादिन्यभिधेये ठञ् प्रत्ययो भवति । गुणोत्कर्षः=सम्पत्तिः । आवश्यके णिनिः । कर्णवेष्टकाभ्यां

पदमञ्जरी

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ॥ *तृतीयासमर्थाभ्यामिति* । तृतीयार्थयुक्ताभ्यामित्यर्थः । तथा च यथाकथाचशब्दं प्रति वक्ष्यति—*तृतीयार्थमात्रं च सम्भवतीति* । हस्तशब्दे तु तृतीयान्तत्वमेव सम्भवतीति प्रत्येकमर्थसम्बन्ध इति । ननु यथासंख्यं प्राप्नोति ? तत्राह—*यथासंख्यमत्र नेष्यते इति* । प्रत्ययौ तु प्रति यथासंख्यं भवत्येव, अत्र च व्याख्यानमेव शरणम् । *तृतीयार्थमात्रं च सम्भवतीति* । अर्थस्तावत्सम्भवति—यथाकथाच दत्तमित्युक्ते, अनादरेण दत्तमिति प्रतीतेस्तावन्मात्रमेव सम्भवति । मात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—*न त्विति* । यथाकथाचशब्दस्य वाक्यत्वात् । प्रत्ययस्तु वचनसामर्थ्याद्वाक्यादपि भवति ॥

सम्पादिनि ॥ सम्पादिनीत्यत्र सम्पदेरर्थमाह—*गुणोत्कर्षः सम्पत्तिरिति* । कर्णवेष्टकम्=कर्णाभरणम् । *वस्त्रयुगेणेति* । 'कुमति च' इति णत्वम् ॥

न्यासः

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयतौ ॥ **यथासंख्यं नेष्यत इति** । अल्पाच्तरस्य हस्तशब्दस्य परनिपातो लक्षणव्यभिचारस्य वचनहेतुः । **तृतीयार्थमात्रञ्चात्र सम्भवतीति** । तृतीयार्थस्य गम्यमानत्वात् । तथा हि—यथाकथाच दत्तमित्युक्ते, अनादरेण दत्तमिति गम्यते । **न तु तृतीया समर्थविभक्तिरिति** । यथाकथाचशब्दस्य वाक्यत्वात् । प्रत्ययस्तु वचनसामर्थ्याद् वाक्यादपि भवत्येव ॥

सम्पादिनिः ॥ **गुणोत्कर्षः सम्पत्तिरिति** । सम्पादिनीत्यत्र प्रकृतिभागस्यार्थमाचष्टे । पूर्वावस्थाया गुणातिरेको गुणोत्कर्षः । **आवश्यके णिनिरिति** । अवश्यं सम्पद्यत इति 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' । **विशेषतः शोभत इति** । शोभनाख्यस्य गुणस्य पूर्वावस्थाया उत्कर्षादतिरिच्यमानत्वात् ॥

संपादि मुखं कार्णवेष्टकिकं मुखम् । वास्त्रयुगिकं शरीरम् । वस्त्रयुगेण विशेषतः शोभते इत्यर्थः ॥

कर्मवेषाद्यत् ॥ १०० ॥

कर्मन्, वेष-शब्दाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्यां यत्प्रत्ययो भवति 'सम्पादिनि' इत्येतस्मिन्विषये । ठञोऽपवादः । कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शरीरम् । वेषेण संपद्यते वेष्यो नटः ॥

तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः ॥ १०१ ॥

'तस्मै' इति चतुर्थीसमर्थेभ्यः 'सन्तापादिभ्यः प्रभवति' इत्यस्मिन्विषये ठञ् प्रत्ययो भवति । समर्थः, शक्तः=प्रभवतीत्युच्यते । अलमर्थे चतुर्थी । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सान्नाहिकः ।

सन्ताप । संनाह । संग्राम । संयोग । संपराय । संपेष । निष्पेष । निसर्ग । असर्ग । विसर्ग । उपसर्ग । उपवास । प्रवास । संघात । संमोदन । सक्तुमांसौदनाद्विगृहीतादपि[1] ॥

योगाद्यच्च ॥ १०२ ॥

योगशब्दाद्यत्प्रत्ययो भवति, चकाराद् ठञ् 'तस्मै प्रभवति' इत्येतस्मिन्विषये । योगाय प्रभवति योग्यः, यौगिकः ॥

कर्मण उकञ् ॥ १०३ ॥

पदमञ्जरी

कर्मवेषाद्यत् ॥ कर्म=व्यायामः, वेषः=कृत्रिम आकारः ॥

तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः ॥ *अलमर्थे चतुर्थीति* । अलमर्थे 'प्रभवति' इत्यस्मिन्नुपपदे शेषविषये चतुर्थीत्यर्थः । *सक्तुमांसौदनाद्विगृहीतादपीति* । अपिशब्दात्सङ्घातादपि—साक्तुमांसिकः; औदनिकः, साक्तुमांसौदनिकः ॥

न्यासः

कर्मवेषाद् यत् ॥ कर्मण्यमिति । 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः ॥

तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः ॥ सक्तुमांसौदनाद् विगृहीतादपीति । अपिशब्दात् सङ्घातादपि । साक्तुमांसौदनिकः । साक्तुकः । मांसिकः । औदनिकः ॥

योगाद् यच्च ॥ कर्मण उकञ् ॥ समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥ अथ किमर्थं तदिति

---

[1] निर्घोष, सर्ग, संपात, संवाद, संवेशन—इत्येते शब्दा अत्र गणेऽधिका बहुषु पुस्तकेषु । तत्रैकस्मिन्पुस्तके संवेशनेत्यत्र संवेशेति ।

कर्मन्शब्दादुकञ् प्रत्ययो भवति 'तस्मै प्रभवति' इत्येतस्मिन्नर्थे। ठञोऽपवादः। कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः।

धनुषोऽन्यत्र[1] न भवति, अनभिधानात्[1]॥

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥ १०४ ॥

समयशब्दात् तदिति प्रथमासमर्थाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्राप्तं चेत्तद्भवति। समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकं कार्यम्। उपनतकालमित्यर्थः।

समर्थविभक्तिनिर्देश उत्तरार्थः।

ऋतोरण् ॥ १०५ ॥

'तदस्य प्राप्तम्' इत्यनुवर्त्तते। ऋतुशब्दात्तदिति प्रथमासमर्थाद् 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्राप्तम्' इत्येतस्मिन् विषये[2]। ऋतुः प्राप्तोऽस्य आर्त्तवं पुष्पम्।

❀ तदस्य प्रकरणे उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम् ❀। उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम्। प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशित्रम्॥

पदमञ्जरी

कर्मण उकञ्॥ *कार्मुकं धनुरिति*। अन्यत्र तु न भवति; अनभिधानात्॥

समयस्तदस्य प्राप्तम्॥ *समर्थविभक्तिनिर्देश उत्तरार्थ इति*। इह तु समय इति निर्देशादेव प्रथमासमर्थविभक्तिर्लभ्यते, उत्तरार्थत्वादेव च समयशब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वेऽपि तदिति नपुंसकनिर्देशः, तदपेक्षया च प्राप्तशब्दस्यापि नपुंसकत्वम्, इह तु वाक्यभेदेन सम्बन्धः, यदाह—'*यत्तप्रथमासमर्थं प्राप्तं चेत्तद्भवतीति*॥

ऋतोरण्॥ *उपवस्ता प्राप्तोऽस्येति*। उपवस्ता=उपवासस्य कर्त्ता स प्राप्तोऽस्य *औपवस्त्रम्*=उपवासः, *प्राशित्रम्*=ब्रह्मभागः॥

न्यासः

समर्थविभक्तिर्निर्दिश्यते, यावता समय इति निर्देशादेव सा दृश्यते? इत्यत्राह—समर्थविभक्तिनिर्देश उत्तरार्थ इति। 'ऋतोरण्' इत्येवमादौ प्रथमासमर्थाद् यथा स्यादिति। उत्तरार्थश्च क्रियमाणोऽत्रापि विस्पष्टार्थो भविष्यतीत्यत्रैव कृतः, नोत्तरत्र॥

ऋतोरण्॥ वसन्तोऽस्य पुष्पादेर्ऋतुः प्राप्तः, स तस्य जनकत्वात् प्रयोजको भवतीति 'प्रयोजनम्' इति ठञि प्राप्ते सत्ययमणारभ्यते॥

१—१. अयं पाठो बहुत्र नास्ति।

२. 'ऋतुशब्दात्प्रथमासमर्थात्प्राप्तोपाधिकादस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति' इति पा०, अयमेव च पाठो युक्तः।

छन्दसि घस् ॥ १०६ ॥

ऋतुशब्दाच्छन्दसि विषये घस् प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्राप्तम्' इत्येतस्मिन्विषये । अणोऽपवादः । अयं ते योनिर्ऋत्वियः ॥

कालाद्यत् ॥ १०७ ॥

कालशब्दाद्यत्प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्राप्तम्' इत्यस्मिन्विषये । कालः प्राप्तोस्य काल्यस्तापः । काल्यं शीतम्[1] ॥

प्रकृष्टे ठञ् ॥ १०८ ॥

'कालात्' इत्येव, 'तदस्य' इति च । प्राप्तम्' इति निवृत्तम् । प्रकर्षेण कालो विशेष्यते । प्रकर्षे वर्तमानात्कालात्प्रथमासमर्थादस्येति ठञ् प्रत्ययो भवति । प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य कालिकमृणम् । कालिकं वैरम् ।

ठञ्ग्रहणं विस्पष्टार्थम् ॥

पदमञ्जरी

छन्दसि घस् ॥ *ऋत्विय इति* । 'सिति च' इति पदत्वेन भत्वे निरस्ते 'ओर्गुणः' न भवति ॥

कालाद्यत् ॥ *काल्यस्ताप इति* । प्रातःकाले काल्यशब्दस्य व्युत्पत्त्यन्तरं मृग्यम् ॥

प्रकृष्टे ठञ् ॥ *प्रकर्षेणेति* । प्रकृष्टशब्दे प्रकृत्यर्थस्य निष्कृष्य कथनमेतत्, एवं प्रकृष्टे=प्रकर्षे । *वर्त्तमानादिति* । प्रकर्षविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानादित्यर्थः । न त्वत्र 'नपुंसके भावे क्तः' दर्शितः, कर्मणि क्तान्तोऽयं प्रकृष्यते, स प्रकृष्ट इति; अन्यथा प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्येति विग्रहो न घटेत । *ठञ्ग्रहणं विस्पष्टार्थमिति* । अन्यथानन्तरस्य यतोऽनुवृत्तिराशङ्क्येत ॥

न्यासः

छन्दसि घस् ॥ घसः चकारः 'सिति च' इति पदसंज्ञार्थः । तेन पदत्वेन भत्वे निरस्ते ऋत्विय इति । अत्र 'ओर्गुणः' इति गुणो न भवति ॥

कालाद् यत् ॥ प्रकृष्टे ठञ् ॥ प्रकृष्टमिति । 'नपुंसके भावे क्तः' । कालस्य दीर्घत्वमिह प्रकृष्टशब्देनोच्यते । अथ ठञ्ग्रहणं किमर्थम्, यावता प्रकृत एव ठञ्, तत्र प्रकृष्टमित्येतावदेव वक्तव्यम् ? इत्याह— ठञ्ग्रहणं विस्पष्टार्थमिति । असति हि ठञ्ग्रहणे यतोऽनन्तरत्वात् स एव विधीयत इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात् । तस्मान्मन्दबुद्धिं प्रवक्तारं प्रति विस्पष्टार्थं ग्रहणम् ॥

---

१. 'गीतम्'—इति पाठः ।

प्रयोजनम् ॥ १०६ ॥

'तदस्य' इत्येव । तदिति प्रथमासमर्थाद् 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रयोजनं चेत्तद्भवति । इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य ऐन्द्रमहिकम् । गाङ्गामहिकम् ॥

विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः ॥ ११० ॥

विशाखाषाढाशब्दाभ्यामण् प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्रयोजनम्' इत्येतस्मिन्विषये यथासंख्यं मन्थदण्डयोरभिधेययोः । विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढो दण्डः ।

❀ चूडादिभ्य उपसंख्यानम् ❀ । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् । श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् ॥

अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ॥ १११ ॥

अनुप्रवचनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्रयोजनम्' इत्येतस्मिन्विषये । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम् । उत्थापनीयम् ॥

❀ विशिपूरिपतिरुहि[1]प्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसंख्यानम् ❀ । गृह-

पदमञ्जरी

प्रयोजनम् ॥ प्रयुज्यतेऽनेनेति प्रयोजनम्, करणे ल्युट् । किं पुनस्तत्फलम् ? यथाहुः—यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनमिति । *इन्द्रमहः*=इन्द्रोत्सवः ॥

विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः ॥ *विशाखा प्रयोजनमस्येति* । विशाखाषाढशब्दौ रूढिरूपेण मन्थदण्डयोर्वर्तेते, तयोर्यथाकथञ्चिद्व्युत्पत्तिः क्रियते । *मन्थः*=विलोडनदण्डः । तस्यैवाधारभूतोऽवक्षाराख्यः काष्ठविशेष इत्यन्ये । उभयं मिलितमित्यपरे । *आषाढः*=व्रतिनां दण्डः ।

श्रद्धा प्रयोजनमस्येति । अत्र करणं प्रयोजनम् ॥

अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ॥ *विशिपूरीत्यादि* । 'विश प्रवेशने', 'पूरी अप्यायने',

न्यासः

प्रयोजनम् ॥ प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्त्तरि ल्युट् ॥

विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः ॥ ठञपवादो योगः । मन्थोऽवक्षारो विलोडनदण्डो वा ॥

अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ॥ विशिपूरीत्यादि । 'विश प्रवेशने', 'पूरी आप्यायने',

---

1. रुहीत्यस्याग्रे 'पदि' इत्यधिकम्, प्रपदनीयमित्युदाहरणं चैकस्मिन्पुस्तके ।

प्रवेशनं प्रयोजनमस्य गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अश्वप्रपतनीयम् । प्रासादारोहणीयम् ।

❀ स्वर्गादिभ्यो यद्वक्तयः ❀ । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । धन्यम् ।

❀ पुण्याहवाचनादिभ्यो लुग्वक्तव्यः ❀ । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । स्वस्तिवाचनम् । शान्तिवाचनम् ।

अनुप्रवचन । उत्थापन । प्रवेशन । अनुप्रवेशन । उपस्थापन । संवेशन । अनुवेशन । अनुवचन । अनुवादन । अनुवासन । आरम्भण । आरोहण । प्ररोहण । अन्वारोहण । अनुप्रवचनादिः ॥

समापनात्सपूर्वपदात् ॥ ११२ ॥

समापनशब्दात् सपूर्वपदाद् विद्यमानपूर्वपदाच्छः प्रत्ययो भवति 'तदस्य प्रयोजनम्' इत्येतस्मिन्विषये । ठञोऽपवादः । छन्दस्समापनं

पदमञ्जरी

'पत्लृ गतौ', 'रुह बीजजन्मनि'—एताः प्रकृतयो यस्यानस्य 'युवोरनाकौ' इति विहितस्य तस्माद्विद्यमानपूर्वपदाच्छ उपसंख्येयः, केवलस्यानस्य सपूर्वपदत्वासम्भवत्सामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । *गृहप्रवेशनीयमिति* । एवं चानुप्रवचनादिषु संवेशनानुप्रवेशनान्वारोहणशब्दानां प्रपञ्चार्थः पाठः । *स्वर्ग्यमिति* । ठञि प्राप्ते यद्विधिः । *पुण्याहवाचनादिभ्य इति* । साहचर्यादभिधाने सिद्धे भेदविवक्षायां प्रत्ययश्रवणं मा भूदिति लुग्वचनम् ॥

न्यासः

'पत्लृ गतौ' 'रुह बीजजन्मनि'—एताः प्रकृतयो यस्यानस्य 'युवोरनाकौ' इति युस्थाने विहितस्यानः, तस्माद् विद्यमानपूर्वपदाच्छ उपसंख्येयः । केवलस्यानस्य सपूर्वपदत्वं न सम्भवतीति तस्य शब्दस्येदं विशेषणं विज्ञायते । गृहप्रवेशनं प्रयोजनं यस्य तत्र गृहप्रवेशनशब्दो विशिप्रकृत्यनन्तः, गृहशब्देन च सपूर्वपदः । यदि तर्हि विश्यादिप्रकृत्यनन्ताच्छब्दाच्छ उपसंख्यायते, अनुप्रवचनादिषु संवेशनारोहणादीनां पाठोऽनर्थकः; तस्यैव प्रपञ्चार्थत्वात् ।

समापनात् सपूर्वपदात् ॥ अथ पदग्रहणं किमर्थम्, सपूर्वादित्येवोच्येत ? इत्यत आह—**पदग्रहणमित्यादि** । असति हि पदग्रहणे, ईषदसमाप्तं समापनं बहुसमापनं तत् प्रयोजनमस्येति तत्रापि प्राप्नोति; भवति ह्ययं समापनशब्दः सपूर्वः । पदग्रहणे तु सति न भवति; बहुच्प्रत्ययस्यापदत्वात् ॥

प्रयोजनमस्य छन्दःसमापनीयम् । व्याकरणसमापनीयम् ।
पदग्रहणं बहुच्पूर्वनिरासार्थम् ॥

ऐकागारिकट् चौरे ॥ ११३ ॥

'ऐकागारिकट्' इति निपात्यते चौरेऽभिधेये । एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकः चौरः । ऐकागारिकी ।

किमर्थमिदं निपात्यते, यावता 'प्रयोजनम्' इत्येव सिद्धष्ठञ् ? चौरे नियमार्थं वचनम् । इह मा भूत्—एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति ।

टकारः कार्यावधारणार्थः—ङीबेव भवति, न ञित्स्वर इति ।
अपरे पुनरिकट् प्रत्ययं वृद्धिं च निपातयन्ति ॥

पदमञ्जरी

ऐकागारिकट् चौरे ॥ *एकागारं प्रयोजनमस्येति* । एकशब्दोऽसहायवचनः, असहायं हि गृहं मुमूषिषतश्चोरस्य प्रयोजनम । ससहाये तु गृहे मोषितुं न शक्यते । *एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति* । 'एकागारं चरेद् भैक्ष्यं तत्पुराणमुनेर्व्रतम्' इति शास्त्रादेकामेव यो भिक्षां गृह्णाति न द्वितीयां स एवमुच्यते । नन्वेवमप्येकागाराच्चोरे ठञेव नियमार्थं वक्तव्यः, किं निपातनेन, टकारेण वा प्रयोजनम् ? अत आह—*टकारः कार्यावधारणार्थ इति* । अवधारणमेव दर्शयति—*ङीबेव भवति, न ञित्स्वर इति* । वृद्धिस्तु निपातनाद्भवत्येव । नन्वेवं ञित्स्वरनिवृत्तिरेव निपातनस्य । मा भूद्वा नियमः; भिक्षौ कस्मान्न भवति ? अनभिधानात् ।

यथा तु भाष्यं तथा ञित्स्वर एवेष्यते । तत्र हि सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम्—'एकागारान्निपातनानर्थक्यं ठञ्प्रकरणात्' इति,प्रयोजनमित्यत्र ठञ्प्रकृतः, तेनैवैकागारिकशब्दः सिद्ध इत्यर्थः । *इकट्प्रत्ययमिति* । इदमपि प्रत्याख्यानेन विरुद्धम् ॥

न्यासः

ऐकागारिकट् चौरे ॥ चौरे नियमार्थमिति । प्रकृतत्वाच्च ठञ एव । एवं ब्रुवता ठञन्तमेतन्निपात्यत इत्युक्तं भवति ।

ननु च टकारानुबन्ध एवमर्थमासज्यते, ङीब् यथा स्यादिति, स चात्र, ठञन्तत्वादेव सिद्धः, तत् किमर्थं टकारः ? इत्यत आह—टकार इत्यादि । असति हि टकारे, यथा ङीब् भवति तथा ञित्स्वरोऽपि—आद्युदात्तत्वं स्यात् । कार्यावधारणार्थष्टकारः क्रियते, तेन ङीबेव भवति, न ञित्स्वरः । अपर इकट्प्रत्ययं वृद्धिञ्च निपातयन्तीति । तेषां ङीबर्थ एव टकारः । एकशब्दोऽसहायार्थः, स चासहायवाची द्रष्टव्यः । असहायग्रहणं चौरस्य स्वार्थे, न तूपलक्षणं प्रयोजनम् ॥

आकालिकडाद्यन्तवचने ॥ ११४ ॥

'आकालिकट्' इति निपात्यते आद्यन्तवचने। समानकालशब्दस्याकालशब्द आदेशः। आद्यन्तयोश्चैतद्विशेषणम्। इकट् प्रत्ययश्च निपात्यते। समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः। आकालिकी विद्युत्। जन्मना तुल्यकालविनाशा। उत्पादानन्तरं विनाशिनीत्यर्थः।

❀ आकालाट् ठँश्च ❀। चात् ठञ्च। आकालिका विद्युत्। ठञः पूर्णोऽवधिः॥

पदमञ्जरी

आकालिकडाद्यन्तवचने॥ *आकालिकडिति निपात्यते इति*। समुदायविषयमुक्त्वा तत्रैव विभज्य निपातनं दर्शयति—*समानकालशब्दस्येत्यादि*। सर्वेषामेव वाक्यानां निपात्यत इति वक्ष्यमाणेनैव सम्बन्धः। *आद्यन्तयोश्चैतद्विशेषणमिति*। एतत्समानकालत्वमाद्यन्तयोर्विशेषणं निपात्यते 'आद्यन्तवचने' इति सूत्रे श्रुतत्वादित्यर्थः। *इकट् च प्रत्यय इति*। कार्थे? अस्येत्यधिकारात्षष्ठ्यर्थे। तदाह—*समानकालावाद्यन्तावस्येति*। समानकालौ एककालावित्यर्थः। आदिः=जन्म, अन्तः=विनाशः, न चोत्पादविनाशयोरेककालत्वसम्भव इत्यव्यवहितकालत्वमेककालत्वम्। निरन्तरे हिं काले भेदाग्रहणात्स एव काल इति भवति प्रतिपत्तिः। तदाह—*उत्पन्नानन्तरं विनाशीत्यर्थं इति*।

आकालाट्ठँश्चेति। वार्त्तिककारो मन्यते। न समानकालशब्दस्याकालशब्द आदेशो निपात्यः, नापीकट् प्रत्ययः, किं तर्हि? आकालाट्ठंश्चेति सूत्रं कर्त्तव्यम्। चकारः प्रकृतस्यैव ठञः समुच्चायार्थः। किमिदमाकालादिति? आवृतः कालोऽस्येत्याकालः। न च कालस्यावृत्तिः सम्भवतीत्ययमर्थो भवति—उत्पत्तिकालेन समानो निरन्तरो यस्य विनाशकाल इति। एवं ह्युत्पत्तिकाल एव

न्यासः

आकालिकडाद्यन्तवचने॥ आदिः=जन्म, अन्तः=विनाशः, तयोर्वचनमाद्यन्तवचनम्। तस्मिन् सत्येतन्निपातनम्। **समानकालावाद्यन्तावस्येति**। ननु चोत्पादनविनाशयोरयौगपद्यात् समानकालत्वं न सम्भवति, न ह्यनेन जन्मनाशयोरेककालता प्रतिपद्यते, किं तर्हि? विद्युदादेरनवस्थायित्वप्रदर्शनपरत्वादस्येत्यत आह—**उत्पादानान्तरं विनाशात्यर्थं इति**।

आकालाट् ठंश्चेति। यदा ठन् तदा—आकालिका। यदा ठञ् तदा—आका-

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥ ११५ ॥

तेनेति तृतीयासमर्थात्तुल्यमित्येतस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययो भवति यत्तुल्यंक्रिया चेत्सा भवति। ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तते ब्राह्मणवत्। राजवत्।

क्रियाग्रहणं किम्? गुणतुल्ये[1] मा भूत्। पुत्रेण तुल्यः स्थूलः। पुत्रेण[2] तुल्यो गोमान् ॥

पदमञ्जरी

विनाशोऽस्यावृत्त इति भवति प्रत्ययः। ततः स्वार्थे ठन्विधेय आद्यन्तवचने विषय इति। तत्र ठञ्पक्षे ङीबाद्युदात्तत्वं च भवति, प्रत्ययान्तरनिपातने तु नाद्युदात्तत्वं सिद्ध्यति, तदाह—'आकालनिपातनानर्थक्यं ठञ्प्रकरणादिति।

वृत्तिकारस्तु ठकारोच्चारणात्प्रत्ययान्तरस्यैव निपातनं मन्यमानो ञित्स्वरं नेच्छति, तन्मते निपातनापेक्षयां समुच्चयार्थश्चशब्दः, निपातनं च कर्त्तव्यम्। आकालशब्दाच्च ठनपि विधेय इति। आकालशब्दस्य चोक्त एवार्थः स्वार्थिकश्च ठन्। आद्यन्तविषया चावृत्तकालता।

अपर आह—आवृत्तः काल इति तत्पुरुषोऽयम्, ततोऽस्येत्यधिकारात् षष्ठ्यर्थे प्रत्यय इति। सर्वथा निपातनस्य ठनश्चैक एवार्थः—समानकालावाद्यन्तावस्येति।

अन्ये वर्णयन्ति—येषां वर्षादीनां यस्मिन्नेव काले मध्याह्नादावुत्पत्तिः, तस्मिन्नेव द्वितीयदिवससम्बन्धिनि विनाशश्च तान्याकालिकानि, तस्मात्कालादनुवर्त्तन्त इति कृत्वा। तेषां ह्याद्यन्तयोरेक एव कालो भवति मध्याह्नादिरिति ॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥ *यत्तत्तुल्यं क्रिया चेत्सा भवतीति*। एतेन समानविभक्तिकत्वात्प्राधान्याच्च प्रत्ययार्थस्य विशेषणं क्रियाग्रहणमिति दर्शयति। निर्देशानुरोधे तु प्रथमनिर्दिष्टस्य प्रकृत्यर्थस्य विशेषणे भिन्नविभक्तिकत्वाद्वाक्यशेषोऽध्याहार्यः स्यात्—यत्तत् तृतीयासमर्थं क्रिया चेत्सा भवतीति। तुल्यमित्येतच्च प्रथमान्तम्, न क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तम्, यदाह—*तुल्यमित्येतस्मि-*

न्यासः

लिकी। आकालशब्दश्चायम् 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। आ कालादाकालम्—'कुगतिप्रादयः' इति, तत्पुरुषो वा—आवृत्तः काल आकाल इति ॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ॥ तुल्यमिति। कर्मपदमेतत्, क्रियाविशेषणत्वात्। प्रतिपादितं हि प्राक् क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम् 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति सूत्रे। **ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तते ब्राह्मणवदिति**। का पुनरत्र क्रिया? ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तते क्षत्रियादिगता अध्ययनादिका। ननु च तस्या ब्राह्मणनिष्ठयाऽध्ययनादिक्रिय-

१. 'गुणद्रव्य०'—इति बहुषु पुस्तकेषु। २—२. पाठोऽयं बहुषु पुस्तकेषु नास्ति।

पदमञ्जरी

र्थे इति। तस्य विशेषणं क्रियाग्रहणम्। सामान्योपक्रमत्वात्तु 'हितं भक्षाः' इतिवत्तुल्यमिति नपुंसकनिर्देशः। *ब्राह्मणेन तुल्यं वर्त्तत इति*। ननु ब्राह्मणशब्देन जातिर्द्रव्यं वोच्येत, न ताभ्यां क्रियायास्तुल्यत्वम्; अत्यन्तभेदात्। यत्र तु किञ्चित्सामान्यम्, कश्चिच्च विशेषः, स एव विषयस्तुल्यतायाः। स्यादेतत्—ब्राह्मणसहचरितायामध्ययनादिकायां क्रियायां ब्राह्मणशब्दस्य वृत्तिः—ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते, कोऽर्थः? यथा ब्राह्मणो वर्त्तते तथा वर्त्तत इत्यर्थः। वर्त्तनम्=अध्ययनादिक्रियानुष्ठानम्, तेन युक्तमेव तुल्यत्वमिति। एवमपि मुख्ये सम्भवति गौणस्य ग्रहणं युक्तम्। कः पुनर्मुख्यः? क्रियावाची। पचत्यादीनां तावत्क्रियावाचिनामप्रातिपदिकत्वादसत्त्वभूतार्थाभिधायित्वाच्च तृतीयासमर्थत्वं न सम्भवति। अव्ययकृतानां तु—कृत्वा, हृत्वा, कर्तुम्, हर्तुमित्येवमादीनां यद्यपि क्रियावाचित्वम्, तथा पञ्चकृत्वः कृत्वेति कृत्वोऽर्थोत्पत्तिर्भवति; तथाप्यसत्त्वभूतार्थाभिधायित्वात्तृतीयान्तत्वाभावः। घञादयश्च धात्वर्थस्य सिद्धतायां भवन्तः सत्त्वभूतार्थाभिधायिनो न क्रियावचनाः। अत एव हि तत्र कृत्वोऽर्थप्रत्ययाभावः। न हि भवति पञ्चकृत्वः पाक इति, भवति तु पञ्चपाका इति। यथा पञ्चघटा इति भवति, न तु भवति पञ्चकृत्वो घट इति। भोक्तुं पाक इत्यादौ धातुवाच्यक्रियापेक्षस्तुमुन्प्रत्ययः। घृतपाकेन तुल्यस्तैलपाक इत्यादिरपि विषयो न भवति।

ननु पञ्चकृत्वः शयितव्यमिति कृत्वसुचो दर्शनाच्छयितव्यादयः क्रियावचनाः, ततः किम्? राजशयितव्येन तुल्यं देवदत्तशयितव्यमित्यादिरवकाशः स्यात्, तथा स्थातव्येन तुल्यं गमनं मन्दत्वात्, तथा नर्तितव्येन तुल्यं गमनं बहुविकारत्वादिति, तथा भोक्तुं पाक इत्यादौ यथा प्रकृतिवाच्यक्रियापेक्षस्तुमुन् भवति, तथा घृतपाकेन तुल्यस्तैलपाक इत्यादौ वतिरपि स्यादिति सोऽप्यवकाशः; तदेवं प्रत्ययार्थविशेषणेऽपि क्रियाग्रहणे सामर्थ्यात्प्रकृत्यर्थोऽपि क्रियैव भवति, न ह्यक्रियया क्रिया तुल्या भवतीति क्रियावाचिभ्य एव वतिना भवितव्यं प्रकृत्यर्थ-

न्यासः

यैव तुल्यता, न च तां ब्राह्मणशब्द आह, किं तर्हि? जातिं द्रव्यं वा। न च ताभ्यां क्रियया तुल्यत्वम्; स्वभावभेदात्। यत्र हि किञ्चित् सामान्यम्, कश्चिद् विशेषः, स विषयस्तुल्यतायाः, इह त्वत्यन्तभेद एव? नैष दोषः; यद्यपि ब्राह्मणादिशब्दैः क्रिया नोच्यते, तथाप्यभिधेयसम्बन्धेन प्रतीयते, यथा—'गुडः' इत्युक्ते गुडेनानभिधीयमाना अपि माधुर्यादयः। तत्र ब्राह्मणादिशब्देन योऽर्थ उच्यते तेन तुल्यत्वं क्रियाया न सम्भवति। उच्यते चेदं वचनसामर्थ्यात्। यासावभिधेयेन ब्राह्मणेन क्रिया गम्यते तया तुल्यता विज्ञास्यते। ननु च तृतीयासमर्थविभक्तिवाच्यया क्रिययैव प्रत्ययार्थक्रियायास्तुल्यता, तस्याश्च घञन्तोऽवकाशः—तैलपाकेन तुल्यो घृतपाक इत्यादि? नैषोऽस्त्यवकाशः; धात्वर्थो हि क्रिया, सा च पूर्वापरीभूता। अथवा—असत्त्वभूता।

पदमञ्जरी

विशेषणे सुतरामिति कथं क्लेशेन क्रियायां वर्तितेभ्यस्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः प्रत्ययः ? उच्यते; येनोपमीयते, यश्चोपमीयते, यश्च तयोः साधारणो धर्मः—एतत्त्रयमप्यपेक्ष्योपमानोपमेयभावः प्रवर्त्तते । तत्र यदा क्रियोपमानत्वेन विवक्ष्यते, तदा सावश्यापेक्ष्यसाधारणधर्माधारत्वात्क्रियारूपतां हित्वा सत्त्वरूपतां प्रपद्यते, ततश्च सामर्थ्याद् भूतपूर्वगत्याश्रयणम्—यस्यार्थस्य क्रियारूपतापूर्वमभूत् सम्प्रति क्रियारूपातिक्रमेण सत्त्वभावापन्नोऽपि तृतीयान्तवाच्यः परिगृह्यते । तदेवं सम्प्रति मुख्यक्रियावाच्यसम्भवाद् भूतपूर्वक्रियारूपार्थवाचिनः शयितव्यादयोऽपि गौणा एव । गौणं च क्रियावाचित्वं ब्राह्मणादीनामपि सम्भवतीति तेभ्योऽपि भवति प्रत्ययः । तेषां तु न कस्याञ्चिदपि दशायां मुख्यक्रियावाचित्वमित्येतावाँस्तु विशेषः । यदि तर्हि क्रिययोस्तुल्यत्वे प्रत्ययः ब्राह्मणाध्ययनेन तुल्यमध्ययनं करोति ब्राह्मणवदधीत इत्यन्यः साधारणो धर्मोऽपेक्षणीयः स्यात् । तस्माद् द्रव्ययोरेव तुल्यत्वे प्रत्ययः, क्रिया तु साधारणो धर्म इति युक्तम् । न युक्तम्; एवं हि यथा ब्राह्मणेन तुल्यः क्षत्त्रियोऽध्ययनेनेति द्रव्यनिष्ठमभिधानं तथा वत्यन्तेऽपि स्यात्, ततः किम् ? अव्ययसंज्ञा न प्राप्नोति, द्रव्यस्य लिङ्गसंख्यायोगित्वात् । स्वरादिषु पाठाद्भविष्यति ? इहापि तर्हि प्राप्नोति–उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे य उद्वतो निवतो यासि ।

किञ्च पाठाद्भवतु संज्ञा, लिङ्गसंख्याकारकशक्तियोगस्तु केन वार्यते—स्वः पश्येत्यादिवत् ! लौकिके च प्रयोगे क्रिययोरेव सादृश्यं प्रतीयते, न तद्वतोर्द्रव्ययोः । यत्पुनरुक्तम्—साधारणो धर्मोऽपेक्षणीयः स्यादिति ? नैष दोषः; चन्द्र इव मुखमस्या इत्यादौ यथा शब्दानुपात्ता अपि कान्त्यादयः प्रतीयन्ते, तथात्रापि सौष्ठवादयः प्रत्येष्यन्ते । तस्मात्सुष्ठूक्तम्—यत्तत्तुल्यं क्रिया चेत्सा भवतीति । *गुणतुल्य इति* । गुणैस्तुल्य इति ? 'पूर्वसदृश' इति तृतीयासमासः । *पुत्रेण तुल्यः स्थूल इति* । पुत्रस्य यादृशं स्थौल्यं पितुरपि तादृशमित्यर्थः ॥

न्यासः

न च तस्यां घञादयो भवन्ति, क तर्हि ? तस्यैव धात्वर्थस्य धर्मे सिद्धतायामेव । धात्वर्थस्यापि घञादिस्थाया भिद्यते । तत् कथं घञादीनामर्थः क्रियेति शक्यते वक्तुम् ? न च तया घञादिवाच्यसिद्धतया द्रव्यगतायास्तुल्यता । न हि द्रव्यभूतेनासत्त्वभूतस्य वस्तुतुल्यतोपपद्यत इत्यतो नास्ति वचनस्यावकाशः । यदि तर्हि क्रिया घञादिभिर्नाभिधीयते—कर्तुं गमनम्, भोक्तुं पाकः, कारकस्य व्रजतीति 'तुमुण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति तुमुण्ण्वुलौ न प्राप्नुतः ? नैष दोषः; यदत्र प्रकृतिरूपं तस्य क्रियैवार्थ इति तदाश्रयौ तुमुण्ण्वुलौ भविष्यतः, यथा–आख्यातपद उपपदे, तस्य हि क्रिया कर्त्रादयश्चार्थाः । तत्र या क्रियार्था तामाश्रित्य तुमुण्ण्वुलौ भविष्यत इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥

तत्र तस्येव ॥ ११६ ॥

तत्रेति सप्तमीसमर्थात् 'तस्य' इति षष्ठीसमर्थाच्च इवार्थे वतिः प्रत्ययो भवति। मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः[1]। पाटलिपुत्रवत्साकेते परिखा। षष्ठीसमर्थात्—देवदत्तस्येव देवदत्तवद् यज्ञदत्तस्य गावः। यज्ञदत्तस्येव देवदत्तस्य दन्ताः यज्ञदत्तवत्[2] ॥

तदर्हम् ॥ ११७ ॥

तदिति द्वितीयासमर्थात् 'अर्हम्' इत्येतस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययो

पदमञ्जरी

तत्र तस्येव ॥ किमर्थमिदमुच्यते न पूर्वेणैव सिद्धम्, न सिद्ध्यति, तृतीयासमर्थात्तत्र प्रत्ययः, इह तु सप्तमीषष्ठीसमर्थात्? एवं तर्हि तुल्यार्थैरिति या तृतीया तयेवशब्दयोगे सर्वे विभक्त्यर्था व्याप्ताः, तद्यथा—ब्राह्मण इवाधीते, ब्राह्मणेन तुल्यमधीते; ब्राह्मणमिव पश्यति, ब्राह्मणेन तुल्यं पश्यति; ब्राह्मणेनेवाधीतम्, ब्राह्मणेन तुल्यमधीतम्; ब्राह्मणायेव ददाति, ब्राह्मणेन तुल्यं ददाति; ब्राह्मणादिवाधीते, ब्राह्मणेन तुल्यमधीते; ब्राह्मणस्येव क्षत्रियस्य स्वम्, ब्राह्मणेन तुल्यं क्षत्रियस्य स्वम्; ब्राह्मण इव क्षत्रिये वर्त्तते, ब्राह्मणेन तुल्यं क्षत्रिये वर्त्तत इति—ततश्च तृतीयान्तादेव पूर्वसूत्रेण प्रत्ययो भविष्यति। तथा च 'पूर्ववत्सनः' इति पञ्चम्यन्ताद्वतिर्दृश्यते। एवमपि न सिद्ध्यति, किं कारणम्? पूर्वत्र क्रियातुल्यत्वे प्रत्ययः, तच्चावश्यं क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्, गवा तुल्यो गवय इत्यादौ मा भूदित्येवमर्थः; ततश्च द्रव्यगुणयोस्तुल्यत्वे वतिर्न स्यादिति षष्ठीसप्तम्यन्तादिवार्थेऽनेन विधीयते ॥

तदर्हम् ॥ *तदिति द्वितीयासमर्थादिति*। अर्हशब्दः पचाद्यजन्तस्तद्योगे कर्मणि षष्ठ्या भवितव्यम्, निपातनात्तु द्वितीया। अपर आह—विग्रह-

न्यासः

तत्र तस्येव ॥ अथ किमर्थमिवेत्युच्यते, न वत्यर्थे सादृश्ये भविष्यति? नैतदस्ति; न हि तुल्यग्रहणं शक्यमिहानुवर्त्तयितुम्। तद्धि क्रियाविशेषणत्वात् कर्म, तत्र यदीह तस्यानुवृत्तिः स्यात् तथाभूतस्यैव स्यात्। ततश्च कर्मण्येव तुल्ये प्रत्ययः स्यात्, तथा च—मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्रासाद इत्यादि न सिध्येत्। तस्मादिवेति वक्तव्यम्। अक्रियार्थश्चायमारम्भः ॥

तदर्हम् ॥ अर्हतीत्यर्हः। क्रियाग्रहणमिहानुवर्त्तते, ततोऽस्यामेवार्हणक्रियायां कर्तृ-

---

१. 'प्रासादः' इति पाठा०।

२. 'देवदत्तवद्यज्ञदत्तस्य दन्ताः' इति पाठा०।

भवति । राजानमर्हति राजवत्पालनम् । ब्राह्मणवत् । ऋषिवत् । क्षत्रियवत् ॥

उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ॥ ११८ ॥

पदमञ्जरी

वाक्याभिप्रायमेतत्; यदा राजानमर्हतीत्येवं तिङन्तेन विगृह्यते तदा द्वितीया समर्थमिति । सूत्रे त्वर्हमिति कर्मोपपदादच्प्रत्ययः कृत इति । इह क्रियाग्रहणमनुवर्त्तते—यत्तदर्हं क्रिया चेत्सा भवतीति, राजानमर्हति वृत्तं राजवद्वर्त्तते, इह न भवति—राजानमर्हति छत्रम्, ब्राह्मणमर्हति दधीति । यद्येवम्, राज्ञा तुल्यं वर्तते इति विग्रहाश्रयणेन पूर्वेणैव वतिः सिद्धः ? इह तर्हि राजवद्वर्त्तते राजेति भेदाभावेन तन्निबन्धनस्य सादृश्यस्याभावादप्राप्तो वतिरनेन विधीयते । अत्रापि राजत्वेन ये प्रसिद्धा भरतादयस्त उपमानानीदानीन्तनानामिति सिद्धो वतिः । यदा तर्हि राजशब्दः सामान्यवचनः प्रसिद्धविशेषविषयो वा—राजवदयं वर्त्तते भरत इति, तदा सादृश्याभावादप्राप्तिः[१] । विनीतवदुपस्थितं चिच्छेद कृतहस्तवदिति विनीतानामिदं योग्यमुपस्थानम् कृतहस्तानामिदं योग्यं छेदनमिति गम्यते, न तु सादृश्यम् । उक्तं च—

'युक्तमौपयिकं राज्ञ इत्यर्थस्य निदर्शनम् ।
उपमानविवक्षायां तदर्हमिति पठ्यते' ॥ इति ।

यदा त्वेकमेव वस्तु अवस्थाभेदपरिकल्पितभेदमुपमानोपमेयत्वेन विवक्ष्यते, तदा नार्थोऽनेन । तथा चेवशब्दस्य प्रयोगो दृश्यते—राजेवायं राजा युध्यते, वैय्याकरण इव वैय्याकरणो ब्रूते, रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिवेति । उक्तम्—

'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे ।
सम्भवत्युपमात्रापि भेदस्य परिकल्पनात्' ॥ इति ।

न्यासः

भूतायां प्रत्ययो विधीयत इति । यत्रासौ प्रत्ययार्थत्वेन विवक्ष्यते, तत्र वाक्यमेव भवति—ब्राह्मणमर्हतीति ॥

---

१ 'एवमपि न सिध्यति, किं कारणम् ? पूर्वसूत्रे तुल्यस्य प्रतियोगिनि प्रत्ययः, अत एव च तत्र ब्राह्मणादिशब्दानां तद्गतायां क्रियायां वृत्तिर्दर्शिता । इह तु मथुरया तुल्यः पाटलिपुत्रे प्राकार इति न मथुरा प्रतियोगिनी, किं तर्हि ? तद्गतः प्राकारः । इह च देवदत्तेन तुल्या यज्ञदत्तस्य दन्ता इति न देवदत्तः प्रतियोगी, किं तर्हि ? तदीया दन्ता इति न पूर्वेण प्राप्तिः । नन्वत्रापि मथुरादेवदत्तशब्दाभ्यां तत्प्राकारो दन्ताश्च लक्षिष्यन्ते' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे ।

उपसर्गात्ससाधने धात्वर्थे वर्त्तमानात्स्वार्थे वतिः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। यदुद्वतो निवतो यासि वप्सद्, उद्वतानि निगतानि च॥

तस्य भावस्त्वतलौ ॥ ११९ ॥

पदमञ्जरी

उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ॥ *ससाधने धात्वर्थे इति*। क्रियामात्रं धात्वर्थः, स्तत्कथं ससाधन इति लभ्यते? उच्यते; इहार्थग्रहणं न कर्त्तव्यम्, धातावित्येव सिद्धम्, कथं पुनर्धातौ नामोपसर्गो वर्तेत, शब्दे शब्दासम्भवात्? अर्थे वृत्तिर्विज्ञास्यते। यथा—धातुसम्बन्धे' इत्यत्र तत् क्रियते बहुव्रीहिर्यथा विज्ञायेत—धातुर्धात्वर्थः क्रिया, अर्थः प्रयोजनं यस्य साधनस्य तस्मिन्वर्त्तमानादिति। 'ससाधने धात्वर्थे' इत्यस्याप्ययमेवार्थः—धात्वर्थविशिष्टे साधन इति, न पुनः साधनविशिष्टे धात्वर्थ इति। उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः यदुत श्रुतायां क्रियायां तामेव विशिंषन्ति, यथा—आगच्छतीति। यत्र तु न श्रूयते तत्र क्रियाविशिष्टं साधनमाहुः—निष्कौशाम्बिरिति, तत्र यत्र क्रिया न श्रूयते तत्र यथा स्यादित्येवमर्थं धात्वर्थ इत्युक्तम्। *उद्वतानि निगतानीति*। वनानां विशेष्यत्वान्नपुंसकत्वम्। उद्वतो निवत इति तु छान्दसं पुंस्त्वमिति मन्यते। यच्चास्माभिरुक्तम्—'क्रिया गुणभूता साधनं प्रधानभूतं तत्रोपसर्गस्य वृत्तिः' इति तदप्यनेन दर्शितम्। साधनशब्देन शक्तिमद् द्रव्यमुच्यते, न शक्तिमात्रमिति लिङ्गसङ्ख्यायोगादन्वर्थाव्ययसंज्ञा न भवति॥

तस्य भावस्त्वतलौ ॥ 'तस्येदम्' इत्यस्यापवादोऽयम्। भावशब्दोऽयम् 'भवतेश्चेति वक्तव्यम्' इति णप्रत्ययान्तोऽस्त्येवाभिप्राये, यथा—अयं भावः' इति;

न्यासः

उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ॥ उपसर्गाः प्रादयः, ते चैवमात्मकाः। यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते, तत्र क्रियाया विशेषका भवन्ति—आगच्छति, प्रगच्छतीति। यत्र न प्रयुज्यते, तत्र ससाधनक्रियावाचकाः—सङ्कटः, उत्कट इति। क्रियावाची शब्दः प्रादीनां वत्यन्तानां प्रयोगे न प्रयुज्यते। तेन साधनो धात्वर्थः स्वार्थः। तेन साधने धात्वर्थे वर्त्तमानादुपसर्गात् प्रत्ययो विज्ञायत इत्याह—**ससाधने धात्वर्थ इति**। यदि ह्येवमात्मका उपसर्गाः, धात्वर्थग्रहणं न कर्त्तव्यम्? सत्यमेतत्; तत् क्रियते विस्पष्टार्थम्। **उद्वतः, निवत इति**। उच्छब्दात् निशब्दात् ससाधने धात्वर्थे वतिः। ननु च वतेरव्ययसंज्ञकत्वाद् विभक्तेर्लुक् प्राप्नोति, स कस्मान्न भवति? अव्ययसंज्ञाया अनित्यत्वात्। अनित्यत्वं तु तस्याः 'सर्वमिदं काण्डं स्वरादावपि पठ्यते' इत्यादिना अव्ययसंज्ञाप्रकरण एव प्रतिपादितम्॥

तस्य भावस्त्वतलौ ॥ भवतेरनेकार्थत्वाद् भावशब्दोऽयमभिप्रायादिष्वनेकेषु वर्त्तते। तत्र न ज्ञायते—कोऽत्रार्थो भावशब्देन विवक्षितः? इत्यतस्तत्परिज्ञानार्थमाह—

तस्येति षष्ठीसमर्थाद् 'भावः' इत्येतस्मिन्नर्थे त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः। भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययाविति भावः। शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भावशब्देनोच्यते। अश्वस्य भावः अश्वत्वम्, अश्वता। गोत्वम्, गोता॥

पदमञ्जरी

अस्ति च पदार्थमात्रवचनः, यथा—'विचित्रा हि भावशक्तयः' इति; अस्ति च शृङ्गारादिषु—स्थायीभावः सञ्चारीभाव इति; घञन्तस्तु भवत्यर्थे कर्तृवर्जिते च कारके वर्त्तते। भवतिश्चानेकार्थः, तद्यथा—'तत्र भवः' इति सत्तार्थः; 'धान्यानां भवने' इत्युत्पत्त्यर्थः; 'इत्थम्भूते' इति प्राप्त्यर्थः; 'भूष्णुर्भूतिकामः' इति समृद्ध्यर्थः; 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इत्यादौ धात्वर्थमात्रवचनः; वृत्तिकारोपदर्शितश्चापरः, ततश्च 'तस्य भावः' इत्यभिप्रायादिष्वतिप्रसङ्गः ? इत्यत आह—*भवतोऽस्मादित्यादि*। यस्माद् गोत्वादेर्हेतोर्गवादौ गौरित्येवमादिकमभिधानं प्रवर्त्तते, गौर्गौरित्येवमादिश्चाभिन्नाकारः प्रत्ययो भवति, सोऽर्थो गवादेः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिह भावशब्देनोच्यते।

तत्र भवतोऽस्मादित्यर्थप्रदर्शनमेतत्, न तु हेतौ केनचिद् घञ्विहितः। तस्मात् 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति करणे घञ् द्रष्टव्यः। अभिप्रायादीनां चानभिधानान्न ग्रहणम्। उक्तं च—'यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' इति। गुणशब्देन यावान्कश्चित्पराश्रयो भेदको जात्यादिरर्थः स सर्व इह गृह्यते। 'यस्य भावात्' इत्येतावत्युच्यमाने पुत्रस्य भावात्पितृशब्दस्य निवेश इति पितृत्वमिति पुत्रे प्रत्ययः स्यात्, पुत्रत्वमिति च पितरीति गुणग्रहणम्; भावाद् विद्यमानत्वात्। द्रव्यमिति विशेष्यभूतः सत्त्वभावापन्नोऽर्थ उच्यते, तस्मिन् शब्दनिवेशः=शब्दस्य प्रवृत्तिः, सत्वतलोरभिधेय इत्यर्थः। तत्र ये रूपादयः शब्दा गुणमात्रवृत्तयस्तेभ्यो गुणसमवायिनि सामान्यविशेषे भावप्रत्ययो रूपत्वमिति। ये तु शुक्लादयो गुणगुणिवृत्तयो गुणगुणिनोरभेदोपचारात्, मतुब्लोपाद्वा, तेभ्यो गुणवृत्तिभ्यो गुणसमवायिनि सामान्ये भावप्रत्ययः; गुणि-

न्यासः

भवतोऽस्मादिति। यस्माद् गोत्वादेर्विशेषणत्वाद्विशेष्ये गवादौ गौरित्येवमादिकः शब्दो भवति, गोत्वाकारवती च बुद्धिः, तेन योऽर्थो गवादेः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं स भावशब्देनोच्यते। तथा चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' इति। गुण इति विशेषणमिहोच्यते, द्रव्यं विशेष्यम्। यस्य विशेषणस्य भावाद्विद्यमानत्वाद् विशेष्ये शब्दस्य निवेशः प्रवृत्तिर्भवति, तदभिधाने त्वतलादयः प्रत्यया भवन्ति। तत् पुनः शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमनेकप्रकारम्; जातिशब्दानां जातिः—

पदमञ्जरी

वृत्तिभ्यस्तु गुणे। अणुमहद्दीर्घादयो नित्यं परिमाणिनि वर्त्तन्ते, तेभ्यः परिमाणे गुणे भावप्रत्ययः, षत्वं णत्वमिति भिन्नवर्णव्यक्तिसमवेते सामान्यविशेषे प्रत्ययः। गवादयो यदा जातिमात्रवाचिनस्तदा तेभ्यः शब्दस्वरूपे प्रत्ययः, तथा ह्यर्थे जातौ शब्दस्वरूपमध्यस्यते—यो गोशब्दः स शब्दार्थ इति। शब्दस्वरूपमेव तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्, नान्यत्। द्रव्यवाचिभ्यस्तु गवादिभ्यो जातौ प्रत्ययः, समासकृत्तद्धितास्तु यद्यपि केवलं सम्बन्धं नाभिदधति, तथापि सम्बन्धिनि वर्त्तमानाः सम्बन्धं प्रवृत्तिनिमित्तमपेक्षन्त इति तेभ्यः सम्बन्धे भावप्रत्ययः। तथा च राजपुरुषत्वमिति स्वस्वामिभावः सम्बन्धः प्रतीयते, पाचकत्वमिति क्रियाकारकसम्बन्धः, औपगवत्वमित्यादावपत्यापत्यिसम्बन्धः।

केचिदौपगवत्वमित्यपत्यप्रत्ययस्य जातिमभिधेयामिच्छन्ति; तन्मते, अर्थान्तरवृत्तिस्तद्धित उदाहार्यः—'समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्नरूपाव्यभिचरितसम्बन्धेभ्यः' इति, रूढिशब्दा गौरखरसप्तपर्णलोहितशाल्यादयो जातिविशेषावच्छिन्नद्रव्यवाचिन इति तेभ्यो जातावेव भावप्रत्ययः। एवं कुम्भकारत्वम्, हस्तित्वमिति अभिन्नरूपाः। शुक्लादयो मतुब्लुकि विज्ञायमाने यद्यपि तद्धितान्ताः, तथापि तेभ्यो भावप्रत्ययो गुण एव भवति; न तु सम्बन्धे गुणगुणिनोर्जातितद्वतोरिव सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन लोकनिरूढेन भेदसम्बन्धस्य न्यग्भावात्। 'गुणवचनेभ्यो लुक्' इति लुग्विधानद्वारेणाभेदेनैव गुणिनामभिधानम्, न तु भेदाश्रया मत्वर्थीयोत्पत्तिरित्याख्यायते। अव्यभिचारिसम्बन्धात् सतो भावः सत्तेति जातावेव भावप्रत्ययः। न हि सद्वस्तु सत्तासम्बन्धं व्यभिचरतीति सत्तासम्बन्धानपेक्षणाद् न सम्बन्धे प्रत्ययः। राजपुरुषयोस्तु सम्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्तदपेक्षो राजपुरुषशब्दः स्वार्थमभिधत्ते इति ततः सम्बन्धे प्रत्ययो युक्तः। तस्मात्सत्सु पदार्थेषु नित्यसमवायिनि शब्दप्रवृत्तिहेतुः सत्तैव भावप्रत्ययवाच्या, न तु सत्सत्तयोः सम्बन्धः समवायाख्यः। धवखदिरत्वमिति जातिद्वन्द्वाज्जातिसमुदायः। कुत्वमित्यादौ संज्ञास्वरूपे संज्ञिष्वध्यस्ते प्रत्ययः। अन्ये तु 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः' इत्याहुः। उक्तं च—

जातिगुणाज्जातिगुणे समासकृत्तद्धिताच्च सम्बन्धे।
डित्थादेः स्वे रूपे धवखदिराज्जातिसङ्घाते॥ इति।

न्यासः

अश्वत्वमिति, गुणशब्दानां गुणः—शुक्लत्वमिति, क्रियाशब्दानां क्रिया—पाचकत्वमिति। केचित्तु क्रियाकारकसम्बन्धं क्रियाशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमिच्छन्ति। यदृच्छाशब्दानां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धित्वमिति संक्षेपेणैतदुक्तम्। विस्तरेण तु भाष्यादावुक्तमिति

आ च त्वात् ॥ १२० ॥

'ब्रह्मणस्त्वः' इति वक्ष्यति । आ एतस्मात्त्वसंशब्दनाद् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र त्वतलौ प्रत्ययावधिकृतौ वेदितव्यौ । वक्ष्यति—'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति । प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । म्रदिमा, मार्दवम्, मृदुत्वम्, मृदुता ।

पदमञ्जरी

इह तु नानात्वम्, सहत्वम्, यौगपद्यमित्यादौ वृत्तिविषये नानाशब्दोऽसहभूतेऽर्थे वर्तते, सहशब्दश्च सहभूते, युगपच्छशब्दोऽपि युगपद्भूते, ततोऽसहभावादौ भावप्रत्ययः । एवमन्यत्रापि यथासम्भवं द्रष्टव्यम् । इह न ब्राह्मणस्य भाव इति युगपद्भावेन नञर्थेन च सम्बन्धे विवक्षिते पूर्वं नञ्समासः, पश्चात्त्वतलौ, तेनाब्राह्मणत्वमब्राह्मणतेति सतिशिष्टत्वात्त्वप्रत्यये प्रत्ययस्वरः तलि लित्स्वरेण मध्योदात्तत्वं भवति, नाव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । ननु परत्वात्त्वतलौ प्राप्नुतः, न वा सापेक्षत्वाद्ब्राह्मणार्थो यत्र नञर्थमपेक्षते । नञ्समासोऽपि तर्हि न प्राप्नोति, ब्राह्मणस्य भावापेक्षत्वात्? नैवम्; प्रधानमत्र ब्राह्मणपदम्, उत्तरपदार्थप्रधानो हि नञ्समासः । भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः, यथा—राजपुरुषोऽभिरूप इति । 'वा छन्दसि' छन्दसि विषये क्वचित्पूर्वं त्वतलौ पश्चान्नञ्समासः—अयोनित्वाय, अशिथिलत्वाय । अत्र नञ्स्वर एव भवति, क्वचिद्विपर्ययः । त्वतल्व्यतिरिक्ते भावप्रत्यये पूर्वं स एवेष्यते, पश्चान्नञ्समासः, तेनाप्रथिमेत्यादौ सति शिष्टत्वान्नञ्स्वर एव भवति । अशौक्ल्यमित्यादौ च नञः प्रकृतावनन्तर्भावाच्छुक्लशब्दादौ वृद्धिः पूर्वं नञ्समासे 'न नञ्पूर्वात्' इति प्रतिषेधात् ष्यञेव न स्यात्, सत्यपि वा ष्यञि नञो वृद्धिः स्यात्? ज्ञापकात्सिद्धम्, यदयं युवादिषु पुरुषासे, हृदयासे इति नञ्समासे विषयभूते भावप्रत्ययप्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयति—त्वतलापवादप्रत्ययो नञर्थापेक्षादपि परत्वान्नञ्समासं बाधित्वा भवतीति ॥

आ च त्वात् ॥ *प्रथिमेति* । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' 'टेः' इति टिलोपः, 'र

न्यासः

तत एवानुगन्तव्यम् । अथ नानात्वमित्यादौ कथं प्रत्ययो भवति ? कथङ्कारं न भवितव्यम् ? षष्ठीसमर्थात् प्रत्ययविधानात्, नानेत्येवमादीनाञ्चाव्ययानां षष्ठ्यर्थेनायोगात्, अयोगस्तु तेषामसत्त्ववाचित्वात् ? नैष दोषः; ससत्त्वभूतोऽप्यर्थः शब्दान्तरेण प्रत्यवमृष्टः षष्ठ्यर्थेन प्रयुज्यते—नानेत्यस्य भाव इति । तञ्च प्रत्यवमृष्टार्थं वृत्तिरेव गमयतीति नानुपपन्ना षष्ठीसमर्थता ॥

अपवादैः सह समावेशार्थं वचनम्। कर्मणि च विधानार्थम् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि

पदमञ्जरी

ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रादेशः। *पार्थवमिति*। 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण्।

अपवादैरित्यादि। इमनिजादींस्त्वतलोरपवादान्वक्ष्यति, तैः सह समावेशो यथा स्यादित्येवमर्थमिदम्। ननु स्वरितत्वादेव त्वतलावनुवर्त्तिष्येते तेनापवादविषये भविष्यतः? तन्न; इत उत्तरवाक्यानां प्रत्ययनिर्देशेन निराकांक्षत्वात्त्वतलोरपि पूर्वसूत्रे विधानादाकांक्षाया अभावान्नैतच्छक्यं विज्ञातुम्–अनुवर्त्तेते त्वतलाविति। *कर्मणि च विधानार्थमिति*। येभ्य एव कर्मणि ष्यञादिविधिस्तेभ्य एव त्वतलावपि कर्मणि भवतः, न तु ङ्याप्प्रातिपदिकमात्रात्। *चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थ इति*। अन्यथा 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इत्यस्य विधित्वपक्षे प्राग्भवनाद्येऽर्थास्तानपेक्ष्य तत्रैव प्रदेशे नञ्स्नञोर्विधानादत्र प्रकरणे सन्निधानाभावान्नेमनिजादिवत्समावेशसिद्धिः। परिभाषात्वेऽपि यथोद्देशपक्षे 'स्त्रीपुंसाभ्याम्' इत्यत्रैव प्रकरणे नञ्स्नञोः सन्निधिः। न पुनरिमनिजादिमध्ये कार्यकालपक्षेऽपि प्राग्भवनाद्येऽर्थाः, तत्र नञ्स्नञ्भ्यामुपस्थातव्यम्। तत्र यदि तावद्भावे इत्यर्थविज्ञानमात्र एव नञ्स्नञोरुपस्थानम्—'तस्य भावस्त्वतलौ' 'स्त्रीपुंसाभ्यां भावे नञ्स्नञौ' इति, तदस्मिन्प्रदेशे सन्निधानेऽपि 'आ च त्वात्' इत्यस्मात्पूर्वौ भवतः। अथ तूत्सर्गापवादविधानोपयोगविज्ञानानन्तरं नञ्स्न-

न्यासः

आ च त्वात्॥ प्रथिमेति। 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति 'टेः' इति टिलोपः, 'र ऋतोहलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफः, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घः। **पार्थवमिति**। 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यण्।

अपवादैरित्यादि। इमनिच्प्रभृतीनपवादाँस्त्वतलोर्वक्ष्यति, तैः सह तयोः समावेशः। एकविषयता यथा स्यादित्येवमर्थमिदम्। ननु च स्वरितत्वादनुवर्त्तमानावनुवृत्तिसामर्थ्यादेवापवादविषयेऽपि भविष्यतः? नैतदस्ति; अस्ति ह्यनुवृत्तेः प्रयोजनम्, किम्? 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति कर्मण्यपि यथा स्याताम्; इतरथा हि भावे विधीयमानौ कर्मणि न स्याताम्। **कर्मणि चेत्यादि**। ननु चानुवृत्तिसामर्थ्यादेव कर्मण्यपि भविष्यतः? नैतदस्ति; अस्ति ह्यन्यदनुवृत्तेः प्रयोजनम्, किम्? अपवादविषयेऽपि यथा स्याताम्। तस्मिंस्त्वसति न स्याताम्, अस्मिंस्तु सत्येतदुभयमपि लभ्यते। **चकार इत्यादि**। यदि चकारो न क्रियेत ततोऽत्रैव प्रकारणे येऽपवादा-

समावेशार्थः । स्त्रियाः भावः स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पुंसो भावः पुंस्त्वम्, पुंस्ता, पौंस्नम् ॥

न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटबुध[1]-
कतरसलसेभ्यः ॥ १२१ ॥

इत उत्तरे ये भावप्रत्ययास्ते नञ्पूर्वात्तत्पुरुषान्न भवन्ति चतुरादीन्वर्जयित्वा । वक्ष्यति—'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति ।

पदमञ्जरी

ञोरुपस्थानम्, तदा ब्रह्मणस्त्व इत्यस्मात्परौ नञ्स्नञौ भवतः । सर्वथा 'आ च त्वात्' इत्यस्मिन्प्रदेशे नाभ्यन्तरौ । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इत्यत्र कर्मणि नञ्स्नञोरुपस्थानं नाशङ्कनीयम्; प्रकृतिविशेषसम्बद्धस्य कर्मार्थस्योपादानात् प्रकृत्यन्तरेण तस्यासम्बन्धात् । अधिकारपक्षे तु प्रतिसूत्रमुपस्थानान्नञ्स्नञोरिमनिजादिष्वन्तर्भावाद् 'आ च त्वात्' इत्येव नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशः सिध्यति । अथ तत्राप्यर्थस्यैवावधित्वादर्थेष्वेवोपस्थानम्, ततोऽधिकारपक्षेऽपि नाभ्यन्तरत्वमिति सर्वथा चकारेणैव नञ्स्नञ्भ्यां समावेशो वाच्यः ॥

न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः ॥ 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति त्वतलोरयं प्रतिषेध इति भ्रान्तिं वारयति । *इत उत्तरे ये प्रत्यया इति* । एतच्च 'आ च त्वात्' इति सम्बन्धाल्लभ्यते । *चतुरादीनीति* । चतुराद्यन्तांस्तत्पुरुषान्नञ्पूर्वानित्यर्थः । ननु 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इत्यादिभिः परिगणिताभ्यः प्रकृतिभ्य उत्तरो भावप्रत्ययो विधीयते । न च तत्र काचिन्नञ्पूर्वा प्रकृतिर्गृह्यते । तदन्तविधिश्च ग्रहणवता प्रातिपदिकेन प्रतिषिद्धः । यत्र तर्हि स्वरूपग्रहणं नास्ति पत्यन्ताद्यग्भवति, हायनान्तादण् भवति, 'इगन्ताच्च

न्यासः

स्तैरेव समावेशः स्यात्, न नञ्स्नञ्भ्याम्; ततोऽन्यत्र विहितत्वात् । चकारे त्वपवादसमुच्चयार्थे सति सर्वापवादविषये त्वतलौ लभ्येते । तेन स्त्रीपुंसाभ्यामपि सिद्धौ भवतः । यद्येवम्, अन्येष्वर्थेषु सावकाशौ नञ्स्नञौ भावे न सिध्यतः, त्वतल्भ्यां बाध्यमानत्वात् ? नैष दोषः; 'भवनात्' इत्यवध्युपादानसामर्थ्याद् भावेऽपि भविष्यतः; इतरथा हि भावमेव विधित्वेनोपाददीत ॥

न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसङ्गतलवणवटबुधकतरसलसेभ्यः ॥ अधिकारोऽयम्, तेनोत्तरेषां भावप्रत्ययानां प्रतिषेधो विज्ञायते, न त्वतलोरिति मत्वाऽऽह—**इत उत्तरे ये भावप्रत्यया** इत्यादि । न तु 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इत्येवमादिभिर्योगैः परिगणिताभ्य एव प्रकृतिभ्यः प्रत्ययो विधीयते । न च तत्र काचित् प्रकृतिर्नञ्पूर्वा गृह्यते, न च

---

१. 'बुध'—इति पाठः ।

अपतित्वम्, अपतिता । अपटुत्वम्, अपटुता । अरमणीयत्वम्, अरमणीयता ।

नञ्पूर्वादिति किम् ? बार्हस्पत्यम् । प्राजापत्यम् । तत्पुरुषादिति किम् ? नास्य पटवः सन्तीत्यपटुः, तस्य भाव आपटवम् । आलघवम् । अचतुरादिभ्य इति किम् ? आचतुर्यम् । आसङ्गत्यम् । आलवण्यम् । आवटयम् । आबुध्यम् । आकत्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् ॥

पदमञ्जरी

लघुपूर्वात्', 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति,तत्र नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादस्त्येव प्रसङ्गस्तद्दर्शयति—*वक्ष्यति पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यगिति । अपतित्वमपतितेति* । तत्तु 'आ च त्वात्' इत्यधिकार इत्युक्तम्, ततश्च पत्यन्तेत्यनेनैव त्वतलोरप्यधिकृतयोर्विधानम् । ततः किम् ? यक इव त्वतलोरप्ययं प्रतिषेधः प्राप्नोति । अस्त्वेवमधिकृतयोस्त्वतलोः प्रतिषेधः, 'तस्य भावः' इत्यनेन पुनस्त्वतलौ भविष्यतः; बाधकाभावात् । यदि पत्यन्तादिष्वेवास्योपयोगः, पत्यन्तेत्यस्यैव पुरस्तादिदं पठितव्यम्, तदेवोत्तरत्राप्यनुवर्त्तिष्यते । एवं तर्ह्यत्र प्रदेशे प्रतिषेधाधिकारस्योपादानादिमनिजादीनामपि प्रतिषेधो विज्ञायते । ननु चोक्तम्-'तदन्तविध्यभावादप्रसङ्गः' इति ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति-अस्त्युत्तरत्र तदन्तविधिरिति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? नञ्पूर्वाद्बहुव्रीहेरन्यपूर्वाच्च तत्पुरुषात्पृथ्वाद्यन्तादिमनिजादिः सिद्धो भवति—न विद्यन्ते पृथ्वो यस्य अपृथुः, परमपृथुः, तस्य भाव इति । नात्रेमनिजादिरिष्यते, अत एव *वृत्तिकारेणापि* नास्य पटवःसन्तीत्यपटुरित्यादि व्यावर्त्य दर्शितम्, तस्मादिहास्य करणे प्रयोजनं चिन्त्यम् । आचतुर्यमित्यादौ ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् ॥

न्यासः

तदन्तविधिरस्ति; ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तस्मात् तत्र नञ्पूर्वात् प्राप्तिर्नास्तीति नास्त्यस्योपयोगः ? सत्यम्; यत्र त्वन्तग्रहणम्—'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इत्येवमादिषु योगेष्वस्ति, यत्र च स्वरूपग्रहणं नास्ति—'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इत्येवमादिषु, तत्र नञ्पूर्वादपि प्राप्तिरस्तीति प्रतिषेधः क्रियते । **अपतित्वमिति** नञ्समासे कृत उत्तरकालं पत्यन्ताद् भावविवक्षायाम् 'पत्यन्त' इत्यादिना यग् न भवति । **अपटुत्वमिति** । 'इगन्त' इत्यण् न भवति । **अरमणीयत्वमिति** । 'योपधात्' इत्यादिना वुञ् न भवति । नास्य पटवः सन्तीत्यपटुरिति बहुव्रीहिरयम्, तेनास्मादिगन्तलक्षणोऽण् भवति—**आपटवमिति** ।

आचतुर्यमिति । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । ननु च नञ्समासा ब्राह्मणादिषु न पठ्यन्ते, तत् कुतस्तेन ष्यञ् ? नैष दोषः; आकृतिगणो हि ब्राह्मणादिरिष्यते । अचतुरादिप्रतिषेध एवाकृतिग्रहणस्य ज्ञापकम् ॥

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ॥ १२२ ॥

'पृथु'-इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इमनिच्प्रत्ययो भवति वा 'तस्य भावः' इत्येतस्मिन्नर्थे । वावचनमणादेः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः प्रथिमा, पार्थवम् । म्रदिमा, मार्दवम् । 'तुरिष्ठेमेयस्सु'[1] 'टेः' इति टिलोपः । 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति रेफादेशः[1] । त्वतलौ सर्वत्र भवत एव—पृथुत्वम्, पृथुता । मृदुत्वम्, मृदुता ।

पृथु । मृदु । महत् । पटु । तनु । लघु । बहु । साधु । वेणु । आसु । बहुल । गुरु । दण्ड । ऊरु । खण्ड । चण्ड । बाल । अकिञ्चन । होड । पाक[2] । वत्स । मन्द । स्वादु । ह्रस्व । दीर्घ । प्रिय । वृष । ऋजु । क्षिप्र । क्षुप्र । क्षुद्र । पृथ्वादिः ॥

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ॥ १२३ ॥

वर्णविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दृढादिभ्यश्च ष्यञ् प्रत्ययो

पदमञ्जरी

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ॥ वावचनमणादिसमावेशार्थमिति । इह ये इगन्ता लघुपूर्वाः पृथुमृदुप्रभृतयस्तेष्वणः समावेशः । चण्डखण्डादिषु गुणवचनेषु ष्यञः, बालवत्सादिषु वयोवचनलक्षणस्याञः । त्वतलोस्तु समावेशः 'आ च त्वात्' इत्येव सिद्धः ? इत्याह—*त्वतलौ तु सर्वत्र भवत एवेति ॥*

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ॥ वर्णविशेषवाचिभ्य इति । स्वरूपग्रहणं तु न भवति । यदि स्याद्, दृढादिष्वेव वर्णशब्दं पठेत् । वर्णशब्दश्च रूपस्य वाचको न ब्राह्मणादीनाम्; दृढादिभिर्गुणवचनैः साहचर्यात् । अत एव साहचर्याद्वर्णग्रहणा-

न्यासः

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ॥ पृथ्वादिषु य इगन्ता लघुपूर्वाः पृथुमृदुप्रभृतयः, तेषामणि प्राप्ते; ये गुणशब्दाः खण्ड-चण्ड—इत्येवमादयः, तेषां ष्यञि; ये वयोवचनाः—बाल-वत्स—इत्येवमादयः, तेषाम् 'प्राणभृज्जाति' इत्यादिनाञि सर्वेषामपवाद इमनिज्विधीयते । वावचनमित्यादि । आदिशब्देन ष्यञादीनामुपसंग्रहः । वाक्यार्थं तु वावचनं न भवति; महाविभाषयैव वाक्यस्य सिद्धत्वात् ॥

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ॥ बहुवचनं प्रत्येकमभिसम्बध्यते – वर्णेभ्यो दृढादिभ्यश्चेति; तेन बहुवचननिर्देशाद् वर्णशब्देन वर्णवाचिनां ग्रहणमिति विज्ञायते, न स्वरूपस्य । स्वरूपग्रहणे तु वर्णशब्दमपि दृढादिषु एवाधीयीत । वर्णशब्दश्च गुणविशेषस्य वाचकः,

---

१–१. अयं पाठो बहुषु पुस्तकेषु नास्ति ।   २ 'पाक' इति पाठा० ।

भवति, चकारादिमनिच्च, 'तस्य भावः' इत्येतस्मिन्विषये। शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता। कार्ष्ण्यम्, कृष्णिमा, कृष्णत्वम्, कृष्णता। दृढादिभ्यः—दार्ढ्यम्, दृढिमा, दृढत्वम्, दृढता।

षकारो ङीषर्थः—औचिती, याथाकामी।

दृढ। परिवृढ। भृश। कृश। चक्र। आम्र। लवण। ताम्र। अम्ल। शीत। उष्ण। जड। बधिर। पण्डित। मधुर। मूर्ख। मूक। वेर्यातलाभमतिमनःशारदानाम्। समो मतिमनसोर्जवने[1]। दृढादिः[2]॥

पदमञ्जरी

त्पर्यायाणां ग्रहणं न भवति। कथम्? दृढादयो हि गुणोपसर्जने द्रव्ये वर्त्तन्ते, अतस्तत्साहचर्याद्वर्णशब्दा अपि तादृशा एव गृह्यन्ते। एवञ्च वर्णदृढादीनां गुणवचनत्वादेव सिद्धे पुनर्वचनमनिजर्थम्।

औचिती, याथाकामीति। ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात्ष्यञ्, ङीष्, 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः।

वेर्यातलाभमतिमनःशारदानामिति। विशब्दादुत्तरे ये यातादयस्तदन्तानां

न्यासः

न ब्राह्मणादीनाम्। कुतः? दृढादिभिर्गुणवचनैः साहचर्य्यात्। अत एवाह—दृढादिभिः साहचर्य्याद् रूपविशेषा एव शुक्लादयः प्रत्ययमुत्पादयन्ति, न तु स्वरूपशब्दाः, नापि तत्पर्यायाः। कथम्? दृढादयो हि गुणा उपसर्जनं द्रव्ये वर्त्तन्ते। तत्साहचर्य्याद् वर्णशब्दा अपि तत्सदृशा एव गृह्यन्ते। न वर्णशब्दस्य तत्पर्यायाणां वा तादृशा वृत्तिरस्ति; गुणमात्रवचनत्वात्। वर्णदृढादीनां गुणवचनत्वादेव सिद्धे पुनर्वचनमिमनिजर्थम्। यद्येवम्, ष्यञ्ग्रहणमनर्थकम्, इमनिजेव विधेयः, स च विभाषयैव प्रकृतः? तदुच्यते; अवश्यं ष्यञ्ग्रहणमुत्तरार्थं कर्त्तव्यम्। तत्र वा क्रियत इह वेति नास्ति विशेषः। **शुक्लिमेति**। पूर्ववट्टिलोपः। **द्रढिमेति**। पूर्ववदृकारस्य रभावः।

औचिती, याथाकामीति। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः।

वेर्यातलाभमतिमनःशारदानामिति पठ्यते। तस्यायमर्थः—विशब्दादुत्तरेषां यातादीनां प्रत्यया भवन्तीति। वियातत्वम्, वियातता, वियातिमा, वैयात्यम्। विलाभता, विलाभत्वम्, वैलाभ्यम्, विलाभिमा। विमतित्वम्, विमातता, वैमत्यम्, विमतिमा,

---

१. 'जवन' इति बहुषु पुस्तकेषु नास्ति।

२. बाल, तरुण, मन्द, स्थिर, बहुल, दीर्घ, मूढ, आकृष्ट—अत्रैते शब्दा अधिकाः।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥ १२४ ॥

गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः । गुणवचनेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः कर्मण्यभिधेये ष्यञ्प्रत्ययो भवति । चकाराद् भावे च । कर्मन्शब्दः क्रियावचनः । जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् । ब्राह्मणादिभ्यः खल्वपि—ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । आ पादपरिसमाप्ते-र्भावकर्माधिकारः । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दः प्रकारवचनः ।

पदमञ्जरी

समासानामनन्तरः ष्यञ् भवतीत्यर्थः । वियातत्वम्, वियातता, वियातिमा, वैयात्यम् । विलाभत्वम्, विलाभवता, विलाभिमा, वैलाभ्यम् । विमतित्वम्, विमतिता, विमतिमा, वैमत्यम्; इगन्तत्वादणपि भवति, वैमतम्, । विमनस्त्वम्, विमनस्ता, विमनिमा, वैमनस्यम् । विशारदत्वम्, विशारदता, विशारदिमा, वैशारद्यम् । *समो मतिमनसोरिति* । सम उत्तरे ये मतिमनसी तयोः समासयोरनन्तरः ष्यञ्—संमतित्वम्, संमतिता, संमतिमा, साम्मत्यम्; पूर्ववदण्—सांमतम् । संमनस्त्वम्, संमनस्ता, संमनिमा, सांमनस्यम् ॥

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥ *कर्मशब्दः क्रियावचन इति* । न साधनकर्मवचनः; क्रियाया हि साधनं सम्भवति । सत्त्वशब्दाश्च गुणवचनब्राह्मणादयः, अतस्तेषां नास्ति साधनकर्मणा सम्बन्धः । क्रिया त्वात्मलाभाय तैर्युज्यते । कथं तर्हि कवेः कर्म काव्यम्, न हि तत्र क्रियाभिधीयते, किं तर्हि, तत्कृतो ग्रन्थः ? अत्राहुः—क्रियाकर्मण्येव प्रत्ययविधानम्, औपचारिकस्तु तत्कृते प्रयोग इति । अपर आह—सूत्रे यः कर्मशब्दो यश्च वृत्तौ क्रियाशब्दः, तदुभयमपि कर्मसाधनं कर्म, क्रियाकार्यमित्यर्थः, तेन कृतिव्याप्ये साधनकर्मण्येव प्रत्यय इति । *ब्राह्मणा-*

न्यासः

'इगन्तात्' इत्यण्, वैमतम् । विमनस्त्वम्, विमनस्ता, विमनिमा, वैमनस्यम् । विशारदत्वम्, विशारदता, वैशारद्यम्, विशारदिमा । **समो मतिमनसोरिति** । सम उत्तरयोर्मतिमनसोः प्रत्ययो भवति । संमतिता, संमतित्वम्, संमतिमा, सांमत्यम् । संमनस्त्वम्, संमनस्ता, संमनिमा, सांमनस्यम् ॥

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥ 'तस्येदम्' इति शैषिकेषु प्राप्तेषु कर्मणि ष्यञ्विधानम्, चकाराद् भावे च । **कर्मशब्दः क्रियावचन इति** । साधनकर्मवचनशङ्कामपाकरोति । ये हि जडादिशब्दाः, गुणशब्दाः, गुणवचनाः, ब्राह्मणादयश्च तेषां साधनकर्मणा सम्बन्धो न सम्भवति; क्रियावाचकत्वाभावात् । तस्मात् क्रियाशब्द एव कर्मशब्दः । **ब्राह्मणादिराकृतिगण इति** । अवृत्कृतत्वात् । **आदिशब्दः प्रकार इति** ।

चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् ॐ । चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम् । चातुराश्रम्यम् । त्रैलोक्यम् । त्रैस्वर्यम् । षाड्गुण्यम् । सैन्यम् । सान्निध्यम् । सामीप्यम् । औपम्यम् । सौख्यम् ।

ब्राह्मण । वाडव । माणव । चोर । मूक । आराधय । विराधय । अपराधय । उपराधय । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । समस्थ । विषमस्थ । परमस्थ । मध्यमस्थ । अनीश्वर ।

पदमञ्जरी

दिराकृतिगण इति । अवृत्कृतत्वात् । एतदेवोपपादयति—*आदिशब्दः प्रकारवचन इति* ।

किमर्थं तर्हि गुणवचनग्रहणम्, ब्राह्मणादीनां चानुक्रमणम्? केषाञ्चित्प्रपञ्चार्थम्; केषाञ्चित्स्वार्थे प्रत्ययविधानार्थम्, केषाञ्चिद् बाधकबाधनार्थम् । तत्र ब्राह्मणशब्दात्प्राणभृज्जातिलक्षणेऽञि प्राप्ते, 'माणववाडवाभ्यां गोत्रलक्षणे' वुञि । 'अर्हतो नुम् च' इति नुमर्थः पाठः; 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः—आर्हन्त्यम् । चोरधूर्तयोर्मनोज्ञादित्वाद्वुञिप्राप्ते सोऽपि भवत्येव । आराधयादीनां चतुर्णां जनपदवाचित्वादञि कृते, तस्य च 'कम्बोजादिभ्यो लुग्वचनम्' इति लुकि गोत्रवुञि प्राप्ते पाठः । एकभावादीनामन्यभावपर्यन्तानां स्वार्थे विधानार्थम् । तथा च वार्त्तिके प्रयोगः—'आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात्'

न्यासः

एवं प्रकारेभ्यः ष्यञ् भवतीत्येवमर्थमादिशब्दः प्रकारवचनत्वं बोधयति । यद्येवम्, गुणवचनग्रहणं प्रातिपदिकेषु च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणमनर्थकं स्यात्? नानर्थकम्; प्रपञ्चार्थं हि तत्, स्वार्थे विधानार्थञ्च । तत्र ब्राह्मणशब्दात् 'प्राणभृज्जाति' इति जातिवचनत्वादञि प्राप्ते तद्बाधनार्थं ष्यञ्विधीयते । माणववाडवाभ्यां गोत्रलक्षणे वुञि ।

अर्हतो नुम् चेति । अस्य नुमर्थः पाठः—**आर्हन्त्यम्** । चोरधूर्त्ताभ्यां मनोज्ञादित्वाद्वुञि प्राप्ते । आराधय, विराधय, अपराधय—इत्येतेभ्योऽपत्यविवक्षायाम् 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्', तस्य 'कम्बोजाल्लुक्' इति लुक् । ततो गोत्रवुञि प्राप्ते पाठः । एकभावादीनामन्यभावपर्यन्तानां स्वार्थे विधानार्थम् । **अक्षेत्रज्ञशब्दस्य** 'न नञ्पूर्वात्' इति प्रतिषेधे प्राप्ते । प्राग् बालिशशब्दात् कुशलादीनां युवादित्वादणि प्राप्ते । **बालिशशब्दो** वयोवचनः, तस्माद् वयोलक्षणेऽञि प्राप्ते । **अनीश्वरशब्दस्य** 'न नञ्पूर्वात्' इति प्रतिषेधे प्राप्ते । **अलस इति** बहुव्रीहिः ष्यञमुत्पादयति, तत्पुरुषात् तु 'न नञ्पूर्वात्' इति प्रतिषेधेन भवितव्यम्; तस्य प्रपञ्चार्थः पाठः । राजन्-

कुशल । कपि । चपल । अक्षेत्रज्ञ । निपुण । ❀ अर्हतो नुम् च ❀ आर्हन्त्यम् । संवादिन् । संवेशिन् । बहुभाषिन् । बालिश । दुष्पुरुष । कापुरुष । दायाद । विशसि । धूर्त्त । राजन् । सम्भाषिन् । शीर्षपातिन् । अधिपति । अलस । पिशाच । पिशुन । विशाल । गणपति । धनपति । नरपति । गडुल । निव । निधान । विष । ❀ सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे ❀ । ❀ चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च ❀ । चातुर्वैद्यम्[1] । ब्राह्मणादिः ॥

पदमञ्जरी

इति । अक्षेत्रज्ञानीश्वरशब्दयोः 'न नञ्पूर्वात्' इति निषेधे प्राप्ते, कुशलादीनां युवादित्वादणि प्राप्ते, बालिशशब्दाद्द्वयोलक्षणेऽञि प्राप्ते, राजशब्दस्य पुरोहितादित्वाद्यकि प्राप्ते, गणपत्यधिपत्योः पत्यन्तलक्षणे यकि । शेषाणामलसादीनां पाठः प्रपञ्चार्थः ।

सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे इति । सर्वे वेदाः सर्ववेदाः, पूर्वकालेति समासः, सर्ववेदानधीत इत्यण्, 'सर्वसादेर्द्विगोश्च लः' इति लुक्, सर्ववेद एव सार्ववैद्यः । *चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्चेति* । चतुरो वेदानधीते इति तद्धितार्थे द्विगुः, अणो लुक्, चतुर्वेद एव चातुर्वैद्यः । क्वचित्तु *चातुर्वैद्यस्येति* पाठः, तत्र सिद्धय इति शेषः, चतस्रो विद्या अधीत इत्यादि पूर्ववद् विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादिति ठक्, पूर्ववल्लुक्, चतुर्विद्य एव चातुर्वैद्यः ॥

न्यासः

शब्दस्य पुरोहितादित्वाद् यकि प्राप्ते । संवादिन्, संवेशिन्, बहुभाषिन्, शीर्षघातिन्, समस्थ, परमस्थ, दुष्पुरुष—इत्येवमादीनां नञ्पूर्वार्थः पाठः । गणपति, अधिपति—इत्येतयोः पत्यन्तलक्षणे यकि प्राप्ते । गडुल, दायाद, विशस्ति—इत्येतेषां त्वतलोर्निवृत्त्यर्थः । शेषाणां प्रपञ्चार्थः । गुणवचना एको राशिः, ब्राह्मणादयो द्वितीयः, ताभ्यां भावे कर्मणि यथासंख्यं प्राप्नोति, तत् कस्मान्न भवति ? ब्राह्मणादिशब्दस्याल्पाच्तरस्य परनिपातात् । स हि लक्षणे निरपेक्षतां निर्देशस्य ज्ञापयन् यथासंख्यलक्षणानपेक्षतामपि बोधयति, तेन यथासंख्यं न भवति ॥

---

१. स्वभाव । निघातिन् । विघातिन् । राजपुरुष । विशस्ति । विशाय । विशात । विजात । नयात । सुहित । दीन । विदग्ध । उचित । समग्र । शील । तत्पर । इदम्पर । यथा । तथा । पुरस् । पुनःपुनर् । अभीक्ष्ण । तरतम । प्रकाम । यथाकाम । निष्कुल । स्वराज । महाराज । युवराज । सम्राज् । अविदूर । अपिशुन । अनृशंस । अयथातथ । अयथापुर । स्वधर्म । अनुकूल । परिमण्डल । विश्वरूप । ऋत्विज् । उदासीन । ईश्वर । प्रतिभू । साक्षि । मानुष । आस्तिक । नास्तिक । युगपत् । पूर्वापर । उत्तराधर—एते शब्दा अत्र गणेऽधिकाः पुस्तकान्तरे ।

स्तेनाद्यन्नलोपश्च ॥ १२५ ॥

स्तेनशब्दात्षष्ठीसमर्थाद्भावकर्मणोर्यत्प्रत्ययो भवति, नशब्दस्य लोपश्च भवति। स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्।

'स्तेनात्' इति केचिद् योगविभागं कुर्वन्ति। स्तेनात्ष्यञ् भवति–स्तैन्यम्। ततः 'यन्नलोपश्च'। स्तेनादित्येव—स्तेयम्॥

सख्युर्यः ॥ १२६ ॥

सखिशब्दाद् यः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्।

❀ दूतवणिग्भ्यां चेति वक्तव्यम् ❀। दूत्यम्। वाणिज्यम्। कथं वाणिज्यम्? ब्राह्मणादित्वात्॥

कपिज्ञात्योर्ढक् ॥ १२७ ॥

कपि, ज्ञाति–शब्दाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्। ज्ञातेयम्।

यथासंख्यमर्थयोः सर्वत्रैवात्र प्रकरणे नेष्यते॥

पदमञ्जरी

स्तेनाद्यन्नलोपश्च ॥ 'स्तेन चौर्ये', पचाद्यच्, स्तेनः। *नशब्दस्येति*। एतेन सङ्घातस्येदं ग्रहणमिति दर्शयति। वर्णग्रहणे तु नकारलोपे कृतेऽकारस्य यस्येति लोपः। तस्य पूर्वविधौ स्थानिवद्भावादयादेशः प्राप्नोति। ननु सङ्घातग्रहणेऽपि 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति? सिद्धोऽन्त्यलोपः 'यस्येति च' इति; तत्रारम्भसामर्थ्यात्सर्वस्य भविष्यति, 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारेषु' इति च परिभाषां पठन्ति। *स्तेनादिति योगविभागं कुर्वन्तीति*। भाष्येऽनुक्तमपि स्तैन्यशब्दस्य प्रयोगबाहुल्यादिदमुक्तम्॥

कपिज्ञात्योर्ढक् ॥ इह कपिज्ञाती द्वौ, भावकर्मणी चार्थौ द्वावेवेति संख्यातानुदेशः प्राप्नोति, एवम् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्', 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्'

न्यासः

स्तेनाद्यन्नलोपश्च ॥ सख्युर्यः ॥ दूतवणिग्भ्याञ्चेत्यादि। दूतवणिग्भ्यां यो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—पूर्वसूत्रादिह चकारोऽनुवर्त्तते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः—दूतवणिग्भ्याञ्चेत्यादि। दूतवणिग्भ्यामपि भवति॥

कपिज्ञात्योर्ढक् ॥ कपिशब्दात् 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणि प्राप्त इदं विधीयते। यथासंख्यमित्यादि। तत्र 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इत्यत्र यथासंख्याभावः प्रतिपादितः, इहापि प्रतिपाद्यते। तत्रेदं प्रतिपादनम्—अत्र चकारोऽनुवर्त्तते, स चैकस्याः

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ॥ १२८ ॥

पत्यन्तात्प्रातिपदिकात्पुरोहितादिभ्यश्च यक् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम् । गार्हपत्यम् । प्राजापत्यम् । पौरोहित्यम् । राज्यम् ।

पुरोहित । राजन् । संग्रामिक । एषिक । वर्मित । खण्डिक । दण्डिक । छत्त्रिक । मिलिक । पिण्डिक । बाल । मन्द । स्तनिक । चूडितिक । कृषिक । पूतिक । पत्त्रिक । प्रतिक । अजानिक । सलनिक । सूचिक । शाक्वर । सूचक । पक्षिक । सारथिक । जलिक । सूतिक । अञ्जलिक । ❀ राजासे ❀ । सूचक[1] । पुरोहितादिः ॥

पदमञ्जरी

इत्यत्रेत्याशङ्कयाह—*यथासंख्यं सर्वत्रैवात्र प्रकरणे नेष्यत इति* । तदर्थस्य स्वरितत्वस्याप्रतिज्ञानादिति भावः ॥

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ॥ राजासे इति । राजशब्दोऽसेऽसमासे यकमुत्पादयति—राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । 'असे' इति किम् ? आधिराज्यम्, ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । यद्यपि तत्र राजशब्दः पठ्यते, तथाप्ययमेवासे इति प्रतिषेधो ज्ञापयति—'अस्त्यत्र राजशब्दे तदन्तविधिः' इति । एवं च ब्राह्मणादिपाठस्य समासे चरितार्थत्वादसमासे विशेषविहितो यगेव भवति ।

अपर आह–'ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वादेव तदन्तात् ष्यञि सिद्धे राजशब्दस्य तत्र पाठो यका सह समावेशार्थः' इति, तथा चावेष्ट्यधिकरणे *शाबरभाष्ये* उक्तम्—'तस्य कर्मणि ष्यञ्' इति ॥

न्यासः

प्रकृतेर्भावे कर्मणि च ढग्विधिं समुच्चिनोति । तेन यथासंख्यं न भवति; अन्यथा हि समुच्चयो नोपपद्यते । अस्वरितत्वाद्वा यथासंख्यं न भविष्यति, प्रतिपादितं हि पूर्वम्—'स्वरितत्वेन यथासंख्यं भवति' इति । न चेह यथासंख्यार्थं स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते ॥

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ॥ पत्यन्तात् पूर्ववदणि प्राप्ते, पुरोहितादिषु राजशब्दाद् ब्राह्मणादिपाठात् ष्यञि, शेषेभ्यस्त्वतलोर्यग् विधीयते । **राजासे इति ।** राजशब्दादसे=असमासे यग् भवति—राज्यमिति । समासे तु ब्राह्मणादित्वात् ष्यञेव भवति—आधिराज्यमिति । ननु च केवलो राजशब्दो ब्राह्मणादिषु पठ्यते, तत् कथमधिराजशब्दात् ? तदन्तविधिना; एतदेव ज्ञापकमसे इति वचने—अस्तीह प्रकरणे

1. शर्मिक । चर्मिक । कर्मिक । शीलिक । मूलिक । तिलिका । तिष्विक । अञ्जतिका । ऋषिक । पुत्रक । पथिका । प्रचिक । प्रविक । परिक्षक । पूजनिक । मूचिक । स्वरिक । चूडिक—एते शब्दा अत्र गणे पुस्तकान्तरेऽधिकाः ।

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ १२९ ॥

प्राणभृज्जातिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वयोवचनेभ्य उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम् । औष्ट्रम् । वयोवचनेभ्यः—कौमारम् । कैशोरम् । उद्गात्रादिभ्यः—औद्गात्रम् । औन्नेत्रम् ।

उद्गातृ । उन्नेतृ । प्रतिहर्तृ । रथगणक । पक्षिगणक[1] । सुष्ठु । दुष्ठु । अध्वर्यु । वधू । ❀ सुभग मन्त्रे[2] ❀ । उद्गात्रादिः ॥

पदमञ्जरी

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ प्राणभृतः=प्राणिनः, प्राणिग्रहणमेव न कृतं वैचित्र्यार्थम् । प्राणभृद्ग्रहणात्तृणत्वं तृणतेत्यादौ न भवति, जातिग्रहणाद्देवदत्तत्वमित्यादौ न भवति । यत्त्विहेगन्तं लघुपूर्वं तस्मात्परत्वादण् भवति—तैत्तिरम् । उद्गात्रादिषु य ऋत्विग्वचनास्तेभ्यः 'होत्राभ्यश्छः' इति छे प्राप्तेऽञ् विधीयते । सुष्ठुदुष्ठुभ्यां गुणवचनलक्षणे ष्यञि, वधूशब्दादिगन्तलक्षणेऽणि, शेषेभ्यस्त्वतलोः प्राप्तयोः । *सुभगं मन्त्रे इति* । सुभगमित्येतच्छब्दरूपं मन्त्रविषये प्रयोगेऽञमुत्पादयति—'महते सौभगाय', सर्वेविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वात् 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते' इत्युत्तरपदवृद्धिर्न भवति । अत एव मन्त्रे क्वचिदञ् न भवति—सौभाग्यमस्यै दत्वाय ॥

न्यासः

राजशब्देन तदन्तविधिरिति । इह पत्यन्तपुरोहितादी इति द्वौ राशी, अर्थावपि भावकर्मणी द्वावेवेति साम्याद्यथासंख्यं प्राप्नोति; तदस्वरितत्वात् पूर्ववन्न भवति ॥

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ प्राणभृतः प्राणिन उच्यन्ते, तेषां जातिः प्राणभृज्जातिरित्यर्थः । तद्वाचिनो यथासम्भवं त्वतलादिष्वञ्विधीयते । प्राणभृद्ग्रहणात् तृणादिशब्देभ्यो न भवति—तृणत्वम्, तृणतेति । जातिग्रहणाद् देवदत्तादिशब्देभ्यो न भवति—देवदत्तत्वम्, देवदत्तता । यदिगन्तं लघुपूर्वं च तस्मात् परत्वादण् भवति । तैत्तिरमिति । वयोवचनादपि यथायोगं त्वतलादिष्वेव प्राप्तेष्वञ्विधानम् ।

वचनग्रहणं स्वरूपविधिनिरासार्थम्; अन्यथा वयःशब्दादेव स्यात् । तत्रोद्गात्रादिषु उद्गातृ, उन्नेतृ, अध्वर्य्यु—इत्येतेषामृत्विग्वचनत्वाद् 'होत्राभ्यश्छः' इति च्छे प्राप्ते सत्यनर्थः पाठः । सुष्ठु, दुष्ठु, वधू—इत्येतेषां लघुपूर्वलक्षणेऽणि प्राप्ते । **सुभग मन्त्र इति** । सुभगशब्दो मन्त्रविषयेऽञमुत्पादयति—महते सौभगाय । 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति 'हृद्भगसिन्धवन्ते' इत्युत्तरपदवृद्धिर्न भवति । मन्त्र इति किम् ? सौभाग्यम्, ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । शेषाणामिह पाठस्त्वतलोः प्राप्तयोः ॥

---

१. 'पत्रिगणक'—इति पाठा० ।

२. प्रशास्तृ, होतृ, पोतृ, कर्तृ—एतेऽत्र गणेऽधिकाः शब्दाः कुत्रचित् ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥ १३० ॥

हायनान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो: युवादिभ्यश्चाण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। द्विहायनस्य भावः कर्म वा द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। युवादिभ्यः—यौवनम्। स्थाविरम्।

❀ श्रोत्रियस्य यलोपश्च वाच्यः ❀। श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्।

युवन्। स्थविर। होतृ। यजमान। कमण्डलु। ❀ पुरुषासे ❀। सुहृत्। यातृ। श्रवण। कुस्त्री। सुस्त्री। सुहृदय। सुभ्रातृ। वृषल।

पदमञ्जरी

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥ हायनान्तात्त्वतलोः प्राप्तयोरण्विधानम्। *यौवनमिति*। 'अन्' इति प्रकृतिभावः, मनोज्ञादित्वाद्वुञपि भवति। स्थविरशब्दस्य वयोलक्षणेऽञि प्राप्ते पाठः, होतृशब्दस्याप्युद्गात्रादित्वादञ्येव। *पुरुषास इति*। पुरुषशब्दोऽसमासेऽणमुत्पादयति, पौरुषम्, प्राणभृज्जातिवाचित्वादञ् प्राप्तः, मनुष्यजातिवचनो ह्यसौ न पुंस्शब्दपर्यायः पुंल्लिङ्गवचनः; स्त्रियामपि दर्शनात्—तस्यामस्यां च पुरुषीश्च धेनुके दद्युरिति। अस इति किम्? राजपुरुषत्वम्। कमण्डलुशब्दस्येगन्तत्वादेवाणि सिद्धे त्वतल्निवृत्त्यर्थः पाठः। *हृदयास इति*। हृदयशब्दोऽसमासेऽणमुत्पादयति–हृदयस्य भावो हार्दम्, 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृद्भावः। असे इति किम्? अहृदयत्वम्। ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधादेव सिद्धे समासप्रतिषेधश्चिन्त्यप्रयोजनः। कुशलादीनां क्षेत्रज्ञान्तानां ब्राह्मणादित्वात्ष्यञपि भवति।

श्रोत्रियस्य घलोपश्चेति। यदा 'श्रोत्रियँश्छन्दोधीते' इत्यत्र छन्दसः श्रोतृभावो घश्च प्रत्यय इति पक्षः, तदा घलोपः; यदा तु 'वाक्यार्थे पदवचनम्' इति पक्षः,

न्यासः

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥ हायनान्तात् त्वतलोः प्राप्तयोरण्विधानम्। ननु च 'तस्येदम्' इत्यनेन हायनान्तादण् सिद्धः? न सिध्यति; परत्वात् त्वतल्भ्यां बाध्यते—आषाढहायणस्य भावः कर्म वा आषाढहायण इति 'वृद्धाच्छः' प्रसज्येत। तस्माद् युक्तं हायनान्तादण्विधानम्। यौवनमिति। 'अन्' इति प्रकृतिभावः। युवादिषु युवशब्दस्य वयोलक्षणं बाधित्वा मनोज्ञादित्वाद्वुञि प्राप्ते पाठः। स्थविरशब्दस्य वयोलक्षणेऽञि होतृशब्दस्याप्युद्गात्रादित्वादञेव।

पुरुषास इति। पुरुषशब्दादसमासेऽण् भवति—पौरुषम्। अस इति किम्? राजपुरुषत्वम्। अस्य 'प्राणभृज्जाति' इत्यप्राप्ते पाठः। कमण्डलुशब्दस्येगन्तत्वादेवाणि

दुर्भ्रातृ । ❀ हृदयासे ❀ । क्षेत्रज्ञ । कृतक । परिव्राजक । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । सब्रह्मचारिन् । कुतूहल । अनृशंस । युवादिः[1] ॥

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ॥ १३१ ॥

इगन्ताच्च लघुपूर्वादण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । लघुपूर्वग्रहणेन प्रातिपदिकसमुदायो विशेष्यते । लघुः पूर्वोऽवयवोऽस्येति लघुपूर्वः । कुतः पुनरसौ लघुः पूर्वः ? इक्सन्निधानादिक इति विज्ञायते । लघुपूर्वो यस्मादिकस्तदन्तात्प्रातिपदिकादित्ययमर्थो विवक्षितः ।

पदमञ्जरी

तदा घशब्देन य इति रूपं लक्ष्यते । क्वचित्तु *यलोपश्चेति* पाठः; तत्र यलोपे सङ्घातग्रहणम्, वर्णग्रहणे त्वकारस्य यस्येतिलोपे सति इकारस्य यणादेशप्रसङ्गः, सङ्घातलोपे त्विकारस्य यस्येति लोपः—सर्वथा श्रोत्रियस्य भावः श्रौत्रमिति ॥

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ॥ *लघुपूर्वग्रहणेन प्रातिपदिकसमुदायो विशेष्यते इति* । यद्येवम्, पूर्वशब्दोऽवयववचनः, व्यवस्थावचनो वा, तत्राद्ये पक्षे यस्य सर्वपूर्वो वर्णो लघुस्तस्माद्देवेष्वणुप्रभृतेः स्यात्, द्वितीये तु पाण्डुप्रभृतिभ्योऽपि स्यात् । यदा

न्यासः

सिद्धे त्वतलोर्बाधनार्थः पाठः । हृदयास इति । हृदयशब्दादसमासेऽण् भवति—हार्दम्, 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृद्भावः । अस इति किम् ? परमहृदयत्वम् । कुशलादीनां क्षेत्रज्ञपर्यन्ताणां ब्राह्मणादित्वात् ष्यञि प्राप्ते पाठः, शेषाणां तु त्वतलोः । ननु च ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधेरभावात् समासादणप्राप्तिरेव नास्ति, तदपार्थकः 'पुरुषासे', 'हृदयासे' इति च प्रतिषेधः ? नापार्थकः; एषा हि विषयसप्तमी—समासे चिकीर्षिते विषयभूत एव पुरुषशब्दहृदयशब्दान्निति । यदि प्रतिषेधो नोच्येत, ततो नञ्समासस्य भावप्रत्ययस्य चाणो युगपत्प्रसङ्गे परत्वादणेव स्यात् । प्रतिषेधात्तु समास एव तावद्भवति । ततो यस्य भावप्रत्ययस्य निमित्तमस्ति स उत्पद्यते । कश्चासौ ? त्वतलौ—अपुरुषत्वम्, अपुरुषता; अहृदयत्वम्, अहृदयता । इह हायनान्त एकराशिः, युवादिर्द्वितीयः; अर्थावपि द्वावेव—भावकर्मणी, तेन सामर्थ्याद्यथासंख्यं प्राप्नोति; तदल्पाच्तरस्य युवादिशब्दस्य परनिपातलक्षणव्यभिचारचिह्नान्न भवति । अस्वरितत्वाद्वा ॥

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ॥ इगन्तादिति । इक् अन्तो यस्येति बहुव्रीहिः । प्रातिपदिकमन्यपदार्थः । लघुपूर्वग्रहणेत्यादि । अथेगेव कस्मान्न विशेष्यते ? तस्य बहुव्रीह्यर्थे गुणभूतत्वाद् विशेषणेन सम्बन्धस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । पूर्वशब्दोऽयं व्यवस्था-

---

१. भ्रातृ, कुचुक, कन्दुक, दुःस्त्री, दुर्हृदय, दुर्हृत, मिथुन, कुलली, महस्, कतक, कितव, पोत—एतेऽत्र गणेऽधिकाः शब्दाः पुस्तकान्तरे ।

अपरे तत्पुरुषकर्मधारयं वर्णयन्ति—इक्चासावन्तश्चेतीगन्तः । लघुपूर्वग्रहणेन स एव विशेष्यते, पश्चात्तेन प्रातिपदिकस्य तदन्तविधिरिति । अस्मिन्व्याख्याने—अन्तग्रहणमतिरिच्यते । 'लघुपूर्वादिकः' इत्येतावदेव वाच्यं स्यात् । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । मौनम् । नागरम् । हारीतकम् । पाटवम् । लाघवम् ।

इगन्तादिति किम् ? घटत्वम् । पटत्वम् । लघुपूर्वादिति किम् ? कण्डूत्वम् । पाण्डुत्वम् ।

कथं काव्यमिति ? ब्राह्मणादिषु कविशब्दो द्रष्टव्यः ।

योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् ॥ १३२ ॥

त्रिप्रभृतीनामन्तस्य समीपमुपोत्तम् । गुरुरुपोत्तमं यस्य तद् गुरु-

पदमञ्जरी

लघुः पूर्वो भवतीत्याशङ्क्यावयववचन एव पूर्वशब्दः, सोऽप्यवध्यपेक्ष एव प्रवर्त्तते, तत्र कस्यचिदनिर्देशे सर्वपूर्वः प्रतीयते, इह तु सन्निधानादिक एवेति ? दर्शयति—*लघुः पूर्वो यस्येत्यादि* । *तेनेति* । लघुपूर्वेणेगन्तेन । अस्मिन्व्याख्याने, अन्तग्रहणमतिरिच्यत इति लघुपूर्वेणेका प्रातिपदिकस्य विशेषणात्तदन्तविधेः सिद्धत्वात् ।

कथं काव्यमिति । कावमिति भवितव्यमिति प्रश्नः ॥

योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् ॥ *त्रिप्रभृतीनामित्यादि* । एतच्च 'अणिञोरनार्षयोः'

न्यासः

शब्दत्वादपरमपेक्षते । इह चापरस्यानिर्दिष्टत्वान् न ज्ञायते—कुतो लघुः पूर्वः ? तत्परिज्ञानाय पृच्छति—**कुतः पुनरसौ लघुः पूर्व इति** । प्रत्यासत्तिन्यायमाश्रित्याह—**सन्निधानादित्यादि** । सन्निधानं त्विह सूत्रे इकः; श्रुतत्वात् ।

तेनेति । अन्तभूतेन लघुपूर्वेणेकान्तग्रहणमतिरिच्यत इति; निष्फलत्वात् । यतो हि 'लघुपूर्वात्' इत्युक्ते च प्रातिपदिकस्य तदन्तविधौ सति सामर्थ्यादेव तस्यान्तत्वं लभ्यत इत्यपार्थकमन्तग्रहणमस्मिन् व्याख्याने । पूर्वके तु विधाने, अन्तग्रहणेऽसति 'लघुपूर्वेग्वतः' इत्येव विधिनिर्देशो विज्ञायते, ततश्चानन्तस्यापीको विधित्वं स्यात् । तदा लशुन-लकुट-प्रभृतिभ्योऽपि प्रत्ययप्रसङ्ग इत्येवमर्थमन्तग्रहणम् ।

कथं काव्यमिति । अन्यथा भवितव्यम्; कविशब्दस्य लघुपूर्वेगन्तत्वादित्यभिप्रायः ॥

योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ् ॥ त्वतलादिषु प्राप्तेषु वुञ् विधीयते । उत्तमशब्दोऽयमिहाव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं गृह्यते, तत् स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमाहेति मत्वाऽऽह—

पोत्तमम् । यकारोपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । रमणीयस्य भावः कर्म वा रामणीयकम् । वासनीयकम् ।

योपधादिति किम् ? विमानत्वम्[1] । गुरूपोत्तमादिति किम् ? क्षत्रियत्वम् ।

❁ सहायाद्वेति वक्तव्यम् ❁ । साहायकम् । साहाय्यम् ॥

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ॥ १३३ ॥

द्वन्द्वसंज्ञकेभ्यो मनोज्ञादिभ्यश्च वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका । शैष्योपाध्यायिका । कौत्सकुशिकिका । मनोज्ञादिभ्यः—मानोज्ञकम्, काल्याणकम् ।

मनोज्ञ । कल्याण । प्रियरूप । छान्दस । छात्त्र । मेधाविन् । अभिरूप । आढ्य । कुलपुत्र । श्रोत्रिय । चोर । धूर्त्त । वैश्वदेव ।

पदमञ्जरी

इत्यत्र व्याख्यातम् । *सहायाद्वेति वक्तव्यमिति* । सूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः ॥

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ॥ यः पत्यन्तो द्वन्द्वस्तस्माद्यक् प्राप्तः, यस्तु हायनान्तस्तस्मादण्प्राप्तः, अन्यस्मात्त्वतलौ, मनोज्ञादिष्वपि गुणवचनात् ष्यञ् प्राप्तः, चोरधूर्त्ताभ्यामपि ब्राह्मणादित्वात्ष्यञेव, युवशब्दाद्युवादित्वादण्, शेषेभ्यस्त्वतलौ । *अमुष्यपुत्रेति* । निपातनात्षष्ठ्या अलुक् ॥

न्यासः

त्रिप्रभृतीनामन्त्यमित्यादि । तमप्रत्ययान्तस्य तु ग्रहणे सति 'अणिञोरनार्षयोः' इत्यादौ सूत्रे यो दोष उक्तः, स इहापि तदनुसारेण वेदितव्यः । उत्तमस्य समीपमुपोत्तमम्, 'अव्ययं विभक्तिसमीप' इत्यव्ययीभावः ॥

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ॥ द्वन्द्वात् त्वतलादिषु प्राप्तेषु वुञ् विधीयते । मनोज्ञादिषु यो गुणवचनस्तस्मात् ष्यञि, चौर-धूर्त्तशब्दाभ्यामपि ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्येव, युवन्शब्दाद युवादित्वादणि, शेषेभ्यस्त्वतलोः । अमुष्यपुत्र इति । निपातनाद् विभक्तेरलुक् । इह द्वन्द्वमनोज्ञादी द्वौ राशी, प्रत्ययार्थावपि भावकर्मणी द्वावेव—इति यथासंख्यं प्राप्नोति, तत् पूर्ववदस्वरितत्वान्न भवति ।

अथ वा—चकारोऽत्र समुच्चयार्थः क्रियते । तस्य चान्यत्समुच्चेतव्यं नास्तीति वुञ्विधिमेव प्रत्येकं भावकर्मणोः समुच्चिनोति । तेनैकस्माद्राशेर्भावे कर्मणि च वुञ् भवति, न तु यथासंख्यम्; अन्यथा हि समुच्चयो नोपपद्यते ॥

---

१. 'कुलीनत्वम्'—इति पाठः ।

युवन् । ग्रामपुत्र । ग्रामखण्ड । ग्रामकुमार । अमुष्यपुत्र । अमुष्यकुल । शतपुत्र । कुशल । मनोज्ञादि:[1] ॥

गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु ॥ १३४ ॥

गोत्रवाचिनश्चरणवाचिनश्च प्रातिपदिकाद् वुञ् प्रत्ययो भवति, प्रत्येकं भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु । तत्र श्लाघा= विकत्थनम् । अत्याकारः=पराधिक्षेपः, तदवेतः=तत्प्राप्तः, तज्ज्ञो वा । तदिति गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी निर्दिश्येते । तत्प्राप्तस्तदवगतवान् 'तदवेतः' इत्युच्यते । श्लाघायां तावत्—गार्गिकया श्लाघते । काठि-

पदमञ्जरी

गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु ॥ गोत्रवाचिन इति । अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रं गृह्यते, अपत्यवाचिन इत्यर्थः । अपत्यप्रत्ययान्तादिति यावत् । अपर आह—प्रवराध्याये पठितानां गोत्राणामिह ग्रहणमिति । *चरणवाचिनश्चेति* । चरणशब्दः शाखाध्यायिषु पुरुषेषु रूढः । अनयोश्च गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वात् 'प्राणभृज्जाति' इत्यञ्प्राप्तः । *प्रत्येकं भावकर्मणोरर्थयोरिति* । 'यथासंख्यं तु सर्वत्रैवात्र प्रकरणे नेष्यते' इति पूर्वमेवोक्तम् । *श्लाघादिषु विषयभूतेष्विति* । प्रत्ययार्थत्वं श्लाघादीनां न भवति, भावकर्मणोः प्रत्ययार्थयोरधिकृतत्वात् नापि प्रत्ययार्थविशेषणम्—ये ते भावकर्मणी श्लाघादयश्चेत्ते भवत इति; असम्भवात् । शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं हि भावः, न च गोत्रचरणशब्दानां श्लाघा-

न्यासः

गोत्रचरणाच् श्लाघात्याकारतदवेतेषु ॥ अपत्यनिमित्ता समाख्या गोत्राख्या, सा च प्रवराध्याये पठ्यते । या च वेदाध्ययनप्रयुक्तान् पुरुषानाचष्टे सा चरणशब्दस्याख्या । 'गोत्रञ्च चरणैः सह' इति पारिभाषिकं गोत्रचरणयोर्जातित्वमिति 'प्राणभृज्जाति' इत्यादिनाऽञि प्राप्ते वुञो विधानम् । इह गोत्रचरणवाचिनी द्वे प्रातिपदिके, अर्थावपि द्वावेव—तत्र यथासंख्यं प्राप्नोति, तत् पूर्वपदस्वरितत्वान्न भवति । अत एवाह—प्रत्येकं भावकर्मणोरर्थयोरिति । श्लाघादिषु विषयभूतेष्विति । प्रत्ययार्थतां प्रत्ययार्थविशेषणताञ्च श्लाघादीनां निरस्यति । न तावत् प्रत्ययार्थता श्लाघादेर्युज्यते; भावकर्मणोः प्रत्ययार्थयोरधिकृतत्वात् । नापि प्रत्ययार्थविशेषणम्—ये भावकर्मणोः श्लाघादयस्ते भवत इति । तथा हि न भावः श्लाघादीनामन्यतमोऽपि भवितुमर्हति । शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं भावः । न च गोत्रचरणशब्दानां श्लाघादयः प्रवृत्तिनिमित्तं

---

1. बहुल, अवश्य, अहोपुरुष—एते शब्दा अत्र गणेऽधिकाः क्वचित् ।

कया श्लाघते । गार्ग्यत्वेन कठत्वेन च विकत्थत इत्यर्थः । अत्याकारे—गार्गिकयात्याकुरुते । काठिकयात्याकुरुते । गार्ग्यत्वेन कठत्वेन च परानधिक्षिपतीत्यर्थः । तदवेतः—गार्गिकामवेतः । काठिकामवेतः । गार्ग्यत्वं कठत्वं च प्राप्त इत्यर्थः । तद्वाऽवगतवानित्यर्थः ।

श्लाघादिष्विति किम् ? गार्ग्यत्वम् । कठत्वम् ॥

होत्राभ्यश्छः ॥ १३५ ॥

होत्राशब्द ऋत्विग्विशेषवचनः । ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यश्छः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम् । मित्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छंसीयम् । आग्नीध्रीयम् । प्रतिप्रस्थात्रीयम् । त्वष्ट्रीयम् । पोत्रीयम् ।

वहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम् ॥

पदमञ्जरी

दयः प्रवृत्तिनिमित्तम्, नापि गोत्रचरणशब्दानां श्लाघादिकर्मत्वेन प्रसिद्धिः । तस्मात् श्लाघादिषु भावकर्मणोः साध्यतया विषयभूतेष्वित्येवार्थः । *तदवेतस्तत्प्राप्त इति* । इणः प्राप्त्यर्थत्वात् । *तज्ज्ञो वेति* । अवपूर्वस्येणो ज्ञाने प्रसिद्धत्वात् । तच्छब्देन चेह गोत्रचरणयोर्भावकर्मणी प्रतिनिर्दिश्येते । *गार्गिकयेति* । 'आपत्यस्य च' इति यलोपः ॥

होत्राभ्यश्छः ॥ *होत्राशब्द ऋत्विजां वाचक इति* । जुहोतेस्त्रन्, स्वभावतश्चायमृत्विक्ष्वपि स्त्रीलिङ्गः । *अच्छावाकीयम् ब्राह्मणाच्छंसीयमिति* । वेदे स्त्रीलिङ्गतापि दृश्यते 'सोऽस्याच्छावाकीयां कुर्यात्' इति ॥

न्यासः

भवति । कर्मापि नैव श्लाघादिस्वभावं भवति । न हि गोत्रचरणानां श्लाघादयः कर्मतया रूढाः, यथा—अग्नेस्तापादयः; क्रियारूपत्वात्तेषाम् । साध्यतया व्यवस्थितानां सत्त्वधर्मौ भावकर्मणी प्रतिविषयाभावे उपपद्येते । तस्माच् श्लाघादिषु साध्यतया भावकर्मणोः प्रत्ययार्थतया विषयभूतेषु वुञ् भवति । **तदवेतस्तत्प्राप्त इति** । इणोऽत्र गत्यर्थत्वात् । **तज्ज्ञातो वेति** । अवपूर्वस्येणो ज्ञानेऽपि वृत्तिसम्भवात् । तच्छब्देन चेह गोत्रचरणयोः सम्बन्धिनो भावकर्मणी प्रतिनिर्दिश्येते । **गार्गिकयेति** । 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' इति यलोपः ॥

होत्राभ्यश्छः ॥ त्वतलोः प्राप्तयोश्छो विधीयते ॥

ब्रह्मणस्त्वः ॥ १३६ ॥

'होत्राभ्यः' इत्यनुवर्त्तते । ब्रह्मन्शब्दाद्धोत्रावाचिनस्त्वः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोः । छस्यापवादः । ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम् ।

'न' इति वक्तव्ये त्ववचनं तलो बाधनार्थम् । यस्तु जातिशब्दो ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मन्शब्दः, ततस्त्वतलौ भवत एव—ब्रह्मत्वम्, ब्रह्मता ।

भवनावधिकयोर्नञ्स्नञोरधिकारः समाप्तः ॥

❀ इति काशिकावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ❀

पदमञ्जरी

ब्रह्मणस्त्वः ॥ *नेति वक्तव्ये इति* । छप्रत्यये प्रतिषिद्धे 'तस्य भावस्त्वतलौ' इत्येव प्रत्ययः सिद्धः, विभक्तेरनुच्चारणाल्लाघवं भवतीति भावः । *यस्तु जातिशब्द इति* । 'होत्राभ्यः' इत्यनुवृत्तेः फलं दर्शयति ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां पदमञ्जर्यां
पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

न्यासः

ब्रह्मणस्त्वः ॥ **नेति वक्तव्य इति** । छप्रत्ययेऽप्यपवादे प्रतिषिद्धे त्वप्रत्ययः । 'तस्य भावस्त्वतलौ' इत्येव सिध्यति । तस्मान्नेत्येव वक्तव्ये यदेतद्वचनं तत्त्वेन तलो बाधनं यथा स्यादित्येवमर्थम् । यदि नेत्युच्यते; तदा च्छे प्रतिषिद्धे यथा त्वो भवति तथा तलपि स्यात् । त्ववचने तु तलो बाधा सिद्धा भवति ॥

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां पञ्चमाध्यायस्य
प्रथमः पादः समाप्तः

—❀❀❀—

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयः पादः

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥ १ ॥

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यो भवनेऽभिधेये खञ् प्रत्ययो भवति, तच्चेद्भवनं क्षेत्रं भवति। भवनमिति-भवन्ति जायन्तेऽस्मिन्निति भवनम्। मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम्। कौद्रवीणम्। कौलत्थीनम्।

धान्यानामिति किम्? तृणानां भवनं क्षेत्रमित्यत्र न भवति। क्षेत्रमिति किम्? मुद्गानां भवनं कुशूलम्।

पदमञ्जरी

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥ धिनोतेः 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्तरि ण्यत्, अस्मादेव निपातनादन्त्यस्य लोपः, इकारस्य चात्वम्। धिनोतीति धान्यम्। 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इति हि दृश्यते। धान्यानामिति भवनापेक्षया कर्त्तरि षष्ठी। भवनमित्यधिकरणे ल्युट्। क्षियष्ट्रन्, क्षेत्रम्। *भवति जायतेऽस्मिन्निति भवनमिति*। एतेनोत्पत्तिवचनोऽत्र भवतिर्गृह्यते, न सत्तावचन इति दर्शयति। एतच्च क्षेत्रग्रहणाल्लभ्यते। क्षेत्रशब्दो हि तृणानां धान्यानां चोत्पत्त्याधारमाचष्टे। न हि धान्यानां सत्तां प्रति भूमिः क्षेत्रव्यपदेशमासादयति। *मुद्गानां भवनं कुसूलमिति*। असति क्षेत्रग्रहणे सत्तावचनस्यापि भवतेर्ग्रहणं स्यादिति भावः। किञ्च—भवनशब्दो गृहे रूढ इति मुद्गानां गृहमित्यत्रैव प्रसङ्ग इत्यपि शक्यते वक्तुम्।

न्यासः

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥ **भवन्ति जायन्तेऽस्मिन्निति भवनमिति**। अधिकरणे ल्युट्। जायन्त उत्पद्यन्त इत्यर्थः। एतेनोत्पत्तिवचनो भवतिरत्र गृह्यते, न सत्तावचनः। तस्य हि ग्रहणे सत्यन्यत्र चोत्पन्नानां यत्र स्थापनं पश्चाद् यत्र स्थाप्यन्ते तत्रापि प्रसज्येत। यदि तद्व्युत्पत्तिवचनो भवतिर्गृह्यते, क्षेत्रग्रहणमनर्थकं स्यात्। तत्र मुद्गानां भवनं कुसूल इत्यत्र मा भूदित्येवमर्थं क्रियते। न चोत्पत्तिवचनस्य भवतेर्ग्रहणे सति कुसूले प्रसङ्गः, न ह्यसौ मुद्गादीनामुत्पत्तेरधिकरणम्, किं तर्हि, सत्तायाः? नैतदस्ति; सति हि क्षेत्रग्रहणे भवतिरत्रोत्पत्तिवचनो भवति। कथम्? क्षेत्रशब्दो ह्ययं धान्यानामुत्पत्त्याधारमाचष्टे। तेन तस्य ग्रहणे सति सत्तां प्रति न भूमिः क्षेत्रव्यपदेशमासादयतीति युक्तं तदुत्पत्तौ भवतिर्वर्त्तत इति। क्षेत्रग्रहणे त्वसति, भवतिः सत्तावचनोऽपि गृह्यते। तथा कुसूलेऽपि प्रसज्येत। अपि च—भवनशब्दो रूढ्या गृहवचनोऽप्यस्ति, सोऽपि क्षेत्रशब्देन निवर्त्यत इति। अथ कथं षष्ठी समर्थविभक्ति-

बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम् ॥

व्रीहिशाल्योर्ढक् ॥ २ ॥

व्रीहि, शालि-शब्दाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञोऽपवादः । व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् । शालेयम् ॥

यवयवकषष्टिकाद्यत् ॥ ३ ॥

यवादिभ्यः शब्देभ्यो यत्प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञोऽपवादः । यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ॥

विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ॥ ४ ॥

तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु—इत्येतेभ्यो[1] विभाषा यत्प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये । खञि प्राप्ते वचनम्, पक्षे सोऽपि भवति ।

पदमञ्जरी

यदि तर्हीह क्षेत्रग्रहणमवश्यं कर्त्तव्यम्, तदेवास्तु, किं भवनग्रहणेन ? धान्यानामिति शेषलक्षणषष्ठी, क्षेत्रं प्रत्ययार्थः । न चैवं क्षेत्रशब्दस्यापि शरीरभार्याद्यनेकार्थत्वादतिप्रसङ्गः; धान्यसम्बन्धादुत्पत्तिभूमिरेव प्रत्येष्यते । तदेतद्भवनग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ॥

व्रीहिशाल्योर्ढक् ॥ अत्रापि निर्देशादेव षष्ठी समर्थविभक्तिः, *वृत्तिकारेण* तु पूर्वानुसारेण गम्यमानत्वान्नोक्तम् ॥

यवयवकषष्टिकाद्यत् ॥ अत्र प्रत्ययार्थसामर्थ्यलभ्या षष्ठी समर्थविभक्तिः ॥

विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ॥ *खञि प्राप्ते वचनं पक्षे सोऽपि भवतीति* । युक्तं यदणुतिलमाषेभ्यः पक्षे खञपि भवतीति, तेषां धान्यत्वात्; उमाभङ्गयोस्त्वधान्यत्वादयुक्तम्, धान्यान्येव हि चमकानुवाकेषु पठ्यन्ते 'व्रीहयश्च मे' इत्यादीनि, तान्येव धान्यानि, न चोमाभङ्गावत्र पठ्येते ? अत आह—*उमाभङ्ग-*

न्यासः

रुपादीयते, यावता 'तस्य भावस्त्वतलौ' इत्यतः षष्ठीसमर्थविभक्तिरनुवर्त्तत इति तथैव सिद्धम् । एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति—पूर्वे प्रत्यया नावश्यं षष्ठीसमर्थाद् भवन्तीति । तेन 'होत्राभ्यश्छः' इति । होत्रायाः प्रथमासमर्थायाः स्वार्थे छः सिद्धो भवति—होत्रैव होत्रीयमिति । एवञ्च चतुर्वर्णादिभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः स्वार्थे ष्यञ् सिद्धो भवति ॥

व्रीहिशाल्योर्ढक् ॥ यवयवकषष्टिकाद् यत् ॥ विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ॥ खञ् प्राप्ते वचनं पक्षे सोऽपि भवतीति । युक्तं यत् पक्षे तिलमाषाणुभ्यः खञ् भवतीति; तेषां धान्यत्वात् । उमाभङ्गयोस्त्वधान्यत्वात् खञ पाक्षिको न युक्तः । यदेव

1. 'तिलादिभ्यः शब्देभ्यः'—इति पाठ० ।

उमाभङ्गयोरपि धान्यत्वमाश्रितमेव। तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु—एषां भवनं क्षेत्रं[1] तिल्यम्, तैलीनम्। माष्यम्, माषीणम्। उम्यम्, औमीनम्। भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्। अणव्यम्, आणवीनम्।

सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ॥ ५ ॥

सर्वचर्मन्शब्दात्तृतीयासमर्थात् 'कृतः' इत्यस्मिन्नर्थे खखञौ प्रत्ययौ भवतः। सर्वशब्दश्चात्र प्रत्ययार्थेन कृतेन सम्बध्यते, न चर्मणा।

पदमञ्जरी

योरपि धान्यत्वमाश्रितमेवेति। न चमकानुवाको धान्यपरिगणनार्थः, तत्राधान्यानामप्यश्मादीनां पाठाद्, धान्यानामपि केषाञ्चित् कोद्रवादीनामपाठात्। तस्मादन्यत एव धान्यनिर्णयः, तत्र 'शणसप्तदशानि धान्यानि' इति स्मृतिः, तत्र चोमाभङ्गे अपि पठिते। तस्माद्युक्तमेव यत्ताभ्यामपि पक्षे खञ् भवतीति ॥

सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ॥ *तृतीयासमर्थादिति*। कृत इति प्रत्ययार्थे चर्मणः करणत्वात्सामर्थ्यलभ्या तृतीया समर्थविभक्तिः। सर्वशब्दस्य चर्मशब्देन समासं कृत्वायं निर्देशः। सर्वचर्मण इति समासश्च सामर्थ्ये सति भवति, ततश्चर्मशब्देनास्य सम्बन्ध इति कश्चिद्भ्राम्येत्तं प्रत्याह—*सर्वशब्दश्चात्रेति*। कथं तर्हि

न्यासः

हि 'तिलाश्च मे यवाश्च मे' इत्यादिषु वेदवाक्येषु पठ्यते तदेव धान्यम्। यवादय एव मन्त्रे पठ्यन्ते, नोमाभङ्गे। यदि तयोरपि धान्यत्वं स्यात् ते अपि पठ्येयाताम्, ततोऽवगम्यते न तयोर्धान्यत्वम्, एवञ्च न खञस्ताभ्यां प्राप्तिरस्ति, यतः सोऽपि पक्षे स्यादित्येवाह—**उमाभङ्गयोरित्यादि**। शणसप्तदशमुद्गानि धान्यानीति स्मृतिः। तत्र शणादिषु मध्य उमाभंगे अपि धान्यत्वेन संख्यायेते इति तयोर्धान्यत्वमाश्रितमेव। यस्तु पुनर्वेदे तयोःपाठः; स वैदिककर्मण्यनुपयोगात्। अतो न तत्रापाठादधान्यत्वमित्यभिप्रायः ॥

सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ॥ इह कृतः प्रत्ययार्थः। तत्र चर्मणः करणत्वं स्यात्, कर्तृत्वं वा। तत्र यदि करणत्वं तदा नियतं करणलक्षणया तृतीयया भवितव्यम्। अथ कर्तृत्वमेव 'न लोक' इत्यादिना षष्ठ्यां प्रतिषिद्धायां कर्तृलक्षणा तृतीयैव। तस्मात् प्रत्ययार्थसामर्थ्यलभ्या तृतीया समर्थविभक्तिरिति मत्वाऽऽह—**तृतीयासमर्थादिति**। स च सर्वचर्मण इति निर्देशः सर्वशब्दस्य चर्मशब्देन समासं कृत्वा कृतः। ततः 'चर्मणैवास्य सम्बन्धो न ह्यन्यथा समास उपपद्यते' इति यो मन्यते, तं प्रत्याह—**सर्वशब्दश्चात्रेत्यादि**। यद्येवम्, असामर्थ्यात् समासो न प्राप्नोति? इत्यत आह—

१ 'तिलानां भवनं क्षेत्रम्'—इति पाठा०।

२ आचार्यपारम्पर्योपदेशः स्मृतिः।

तत्रायमसमर्थसमासो द्रष्टव्यः। सर्वश्चर्मणा कृत इत्येतस्मिन्वाक्यार्थे वृत्तिः। सर्वचर्मीणः, सार्वचर्मीणः॥

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः॥ ६॥

यथामुखशब्दात्सम्मुखशब्दात्षष्ठीसमर्थाद् 'दर्शनः' इत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनः=आदर्शादिः, प्रतिबिम्बाश्रय उच्यते। निपातनात्सादृश्येऽव्ययीभावः। यथामुखं दर्शनः यथा-

पदमञ्जरी

समासः? इत्याह—*तत्रायमिति*। अस्मादेव निपातनादिति भावः। किं पुनः कारणं सर्वशब्दः कृतेन सम्बध्यते न चर्मणा? इत्याह—*सर्वश्चर्मणेत्यादि*। सर्वश्चर्मणा कृत इति योऽयं वाक्यार्थः, अस्मिंस्तद्धितवृत्तिरिष्यते, यदि चर्मणा सम्बध्येत, ततो यदि सर्वचर्मेति षष्ठीसमासः, ततः सर्वसम्बन्धिना चर्मणा कृत इत्यर्थः स्यात्। अथ कर्मधारयः, ततः सर्वेण चर्मणा कृत इति, न तु कृतस्य सर्वत्वमुभयथापि लभ्यते। तस्मात्कृतेनैव सम्बन्धो न्याय्य इति भावः॥

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः॥ *दृश्यतेऽस्मिन्दर्शन इति*। अधिकरणे। ल्युट्, कः पुनरसौ? इत्याह—*आदर्शादिरिति*। आदिशब्देन जलादिकं गृह्यते। *प्रतिबिम्बाश्रय इति*। यो हि मुखादिप्रतिबिम्बस्याश्रयस्तत्र मुखादिकं दृश्यते। मुखस्य सदृशं यथामुखं प्रतिबिम्बम्, सादृश्यप्रतिषेधात्कथमत्र समासः? तत्राह—*निपातनादिति*। *भट्टिकाव्ये* तु पदार्थानतिवृत्तौ यथाशब्द आश्रितः, तथा च मायामृगं प्रकृत्य भवति श्लोकः—'यथामुखीनः सीतायाः पुप्लुवे बहुलो भवन्' इति, यथा-

न्यासः

तत्रायमित्यादि। अस्मादेव निपातनादित्यभिप्रायः। अथ चर्मणैवाभिसम्बन्धः कस्मान्न विज्ञायते? इत्याह—**सर्वश्चर्मणा कृत इति**। अत्र हि वाक्यार्थे तद्धितवृत्तिरिष्यते। तथा ह्ययमेव वाक्यार्थस्तद्धितानुगतः प्रतीयते। अस्मिंश्चार्थे वाक्यार्थ एवं तद्धितवृत्तिर्लभ्यते, यदि सर्वशब्दः कृतेन सम्बध्यते न चर्मणा। यदि सर्वशब्दश्चर्मणा सम्बध्यते, सर्वचर्मणा इति षष्ठीसमासो वा स्यात्, कर्मधारयो वा; तत्र षष्ठीसमासे तद्धितान्तात् सर्वसम्बन्धिना चर्मणा कृत इत्येषोऽर्थः प्रतीयते। कर्मधारये तु सर्वचर्मणा कृत इत्येषोऽर्थः। न चायं द्विप्रकारो यस्तद्धितान्तादवसीयते, अपि तु सर्वचर्मणा कृत इत्यमेव। तस्मादशक्यः सर्वशब्दस्य चर्मणा सम्बन्धो विज्ञातुमिति कृतेनैव सम्बन्धो युक्तः॥

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः॥ **दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शन इति**। अधिकरणे ल्युट्। **यथामुखमिति**। 'यथासादृश्ये' इत्यव्ययीभावः। मुखस्य सदृशं यथामुखम्। किं पुनस्तत्? आदर्शाश्रयं प्रतिबिम्बम्। ननु च 'असादृश्ये' इति प्रतिषेधान्नात्र समासेन भवितव्यम्? इत्यत आह—**निपातनादित्यादि**। समासश्चायं पूर्वपदार्थप्रधानः।

मुखीनः । सर्वस्य मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः ॥

तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥ ७ ॥

'तत्' इति द्वितीया समर्थविभक्तिः । 'व्याप्नोति' इति प्रत्ययार्थः । परिशिष्टं प्रकृतिविशेषणम् । सर्वादेः प्रातिपदिकात् पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्त्र, पात्र–इत्येवमन्ताद् द्वितीयासमर्थात् 'व्याप्नोति'

पदमञ्जरी

मुखं दर्शन इत्यव्ययीभावस्यापि यथामुखशब्दस्योन्मत्तगङ्गादिवत् सत्त्ववचनत्वात्कर्मशक्तियोगे सति दर्शनशब्दयोगे कृद्योगलक्षणा कर्मणि षष्ठी, तस्याः 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्भावः । अत एव पूर्वमुक्तम्—'यथामुखशब्दात्संमुखशब्दाच्च षष्ठीसमर्थात्' इति । समं मुखं संमुखमिति समशब्दः सर्वशब्दपर्यायः । निपातनादन्त्यलोपः, संमुखस्येति कर्मणि षष्ठी । प्रत्ययसन्नियोगेनान्त्यलोपनिपातनान्नेदं प्रयोगार्हम्, किं तर्हि? प्रक्रियावाक्यम्। संशब्दस्तु न समशब्दस्यार्थें दृश्यते । *सम्मुखीन इति* । यत्रादर्शादौ सर्वं मुखं दृश्यते तदेवमुच्यते । कथं तर्हि 'संयुगे संमुखीनं तमुद्यन्तं प्रसहेत कः' इति? अभिमुखावस्थानात्साधर्म्याद्भविष्यति ॥

तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥ *परिशिष्टं प्रकृतिविशेषणमिति* । तत्र केवलानां पथ्यादीनां सर्वादित्वासम्भवात्प्रातिपदिकैरपि तैस्तदन्तविधिः, पञ्चम्यर्थे च प्रथमा द्वितीया वेत्याह—*पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रान्तादिति* । *सर्वपथीन इति* ।

न्यासः

पूर्वपदं चासत्त्ववचनमिति प्रथमासमर्थादेव प्रत्यय उपपद्यते । अथ वा–'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति ज्ञापकादव्ययीभावाद् द्वितीयादयो भवन्तीत्यतो द्वितीयासामर्थ्यात् प्रत्यय उपपद्यते । यथामुखं दर्शनो यथामुखीन इति । मुखसदृशं प्रतिबिम्बं यत्राऽऽदर्शादौ दृश्यते स एवमुच्यते । सम्मुखीन इति । समं मुखं सम्मुखम्, समानाधिकरणसमासः, पूर्वपदान्तलोपश्च निपातनात् । सर्वस्य मुखस्य दर्शन इति । कर्मणि षष्ठी । यत्राऽऽदर्शादौ सर्वं मुखं दृश्यते स एवमुच्यते ॥

तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥ अथ सूत्रे द्वितीयान्तप्रकृत्युच्चारणं किमर्थम्? तदिति द्वितीयासामर्थ्यात् प्रत्ययो यथा स्यात् । अथ वा—पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रमिति नैवेयं द्वितीया, न हि व्याप्नोतिक्रियया पथ्यादयः सम्बध्यन्ते, किं तर्हि? सर्वादि । तस्मात् तस्यैव कर्मत्वम्, न पथ्यादीनां तदवयवानाम् । तत् कुतः? न सा द्वितीया, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्याः स्थाने प्रथमा त्वेषा । तस्मात् समाहारद्वन्द्वस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् 'अतोऽम्' इत्यम्भावः कृतः । परिशिष्टमिति । 'सर्वादेः पथ्यङ्ग-

इत्यस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति । सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः । सर्वाङ्गीणस्तापः । सर्वकर्मीणः पुरुषः । सर्वपत्त्रीणः सारथिः । सर्वपात्रीण ओदनः ॥

आप्रपदं प्राप्नोति ॥ ८ ॥

'प्रपदम्' इति पादस्याग्रमुच्यते, आङ् मर्यादायाम्, तयोरव्ययीभावः । आप्रपदशब्दात्तदिति द्वितीयासमर्थात् 'प्राप्नोति' इत्यस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति । आप्रपदं प्राप्नोति आप्रपदीनः पटः । शरीरेणासम्बद्धस्यापि पटस्य प्रमाणमाख्यायते ॥

पदमञ्जरी

'पूर्वकाल' इत्यादिना समासः, 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यकारः समासान्तः, तस्य पथ्यन्तसमासग्रहणेन ग्रहणात्पथ्यन्तमेव प्रातिपदिकमिति खप्रत्ययः ॥

आप्रपदं प्राप्नोति ॥ *प्रपदमिति पादस्याग्रमुच्यत इति* । प्रारम्भः पदस्येति कृत्वा । *तयोरव्ययीभाव इति* । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यनेन । *द्वितीयासमर्थादिति* । क्रियाविशेषणे 'कर्मणि द्वितीया' । आप्रपदं यथा तथा सर्वशरीरं प्राप्नोतीत्यर्थः । *शरीरेणासम्बद्धस्यापि पटस्य प्रमाणमाख्यायत इति* । योग्यत्वात्, योग्यो ह्यसावाप्रपदं शरीरं प्राप्तुम् । व्याप्नोतीति प्रकृते प्राप्नोतीति वचनमर्थभेदात्—सम्बन्धमात्रम्=प्राप्तिः, सम्बन्धः साकल्योपाधिकः=व्याप्तिः । 'आप्रपदम्' इत्यत्र त्वभिविधौ व्याप्तिर्गम्यते, न मर्यादायाम् ॥

न्यासः

कर्मपत्त्रपात्रम्' इत्येतच्च । सर्वादेः प्रातिपदिकस्य पथ्यादयश्चादौ न भवन्ति । ततः सामर्थ्यात् तदन्तविधिर्विज्ञायत इत्याह—पथ्यङ्गकर्मपत्त्रपात्रान्तादिति । सर्वपथीन इति । सर्वश्चासौ पन्थाश्चेति 'पूर्वकाल' इत्यादिना समासः, 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यकारः समासान्तस्ततः । ननु च समासान्ते कृते पथ्यन्तमेव न भवति ? यदत्र पथ्यन्तं तदाश्रयो विधिर्भवतीत्यदोषः । ननु च व्यवधानान्न प्राप्नोति ? अन्तग्रहणात् समासान्ताः समासग्रहणेन गृह्यन्त इति नास्ति व्यवधानम् ॥

आप्रपदं प्राप्नोति ॥ तयोरव्ययीभाव इति । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यनेन । शरीरेणासम्बद्धस्यापि पटस्य प्रमाणमाख्यातमिति । प्राप्तियोग्यतामुपादाय हि योग्योऽसावाप्रपदाच्छरीरं प्राप्तुम् । अथ व्याप्तिप्राप्त्योः को विशेषः, येन व्याप्नोतीति कृते प्राप्नोतीत्युक्तम् ? सम्बन्धमात्रम्=प्राप्तिः, सम्बन्ध एव साकल्येन=व्याप्तिरित्येव विशेषः ।

अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु ॥ ९ ॥

अनुपदादिभ्यः शब्देभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यो यथासंख्यम् 'बद्धा', 'भक्षयति', 'नेय'–इत्येतेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति। अनुरायामे, सादृश्ये वा। अनुपदं बद्धा उपानत् अनुपदीना। पदप्रमाणेत्यर्थः। सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षुः। अयः=प्रदक्षिणम्। अनयः= प्रसव्यम्। प्रदक्षिणप्रसव्यगामिनां शाराणां यस्मिन्परशारैः पदानाम-

पदमञ्जरी

अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु॥ अनुरायाम इति। 'यस्य चायामः' इति वा, 'यथार्थे यदव्ययम्' इति वाऽव्ययीभाव इत्यर्थः। *पदप्रमाणेत्यर्थ इति।* आयामे तावदयमेवार्थः, सादृश्येऽपि तुल्यपरिमाणतया सादृश्यमित्ययमेवार्थो भवति। *सर्वान्नीनो भिक्षुरिति।* प्रकारकात्स्न्र्ये सर्वशब्दः, यान्यन्नानि लभ्यन्ते उष्णानि शीतानि सरसानि विरसानि तानि सर्वाणि भक्षयतीत्यर्थः। अयनमय इति गमनमात्रमयशब्देनोच्यते, तत्प्रतिषेधस्त्वनयशब्देनेत्याशङ्कामपनयति–*अयः प्रदक्षिणमिति।* प्रदक्षिणं गमनमित्यर्थः। एवम् *अनयः प्रसव्यम्।* वामपर्यायगमनम्। एतच्च रूढिवशाल्लभ्यते। रूढो ह्ययमयानयशब्दः शाराणां प्रदक्षिणप्रसव्यगमने—श्रृणन्त्येभिर्द्यूतकाराः परस्परमिति शाराः, द्यूतसाधनविशेषाः, श्वान इति येषां प्रसिद्धिः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति करणे घञ्। तत्राभिमुखयोः क्रीडतोः कितवयोर्यदैकैकं प्रति प्रदक्षिणं गमनं तदेवेतरं प्रति प्रसव्यमित्ययश्चासावनयश्च अयानय इति कर्मधारयः।

अथ वा—एकमेव प्रत्ययानयत्वम्, कथम्? वीथीभेदेन। चतस्रो वीथयः, तत्रात्मीयाः शाराः परपार्श्वे स्थिताः प्रथमायां वीथ्यामात्मनः प्रदक्षिणं गच्छन्ति, द्वितीयस्यां प्रसव्यम्, एवमुत्तरयोः; तत्र समाहारद्वन्द्वे लोकाश्रयत्वेन पुंल्लिङ्गता।

अपर आह—एकदेशद्वारेण गमनसमुदायस्यायानयव्यपदेशः, कृताकृतादिवत्समानाधिकरणसमास एवायमिति। प्रदक्षिणप्रसव्यगमनमात्रेऽपि नेष्यते, किन्तु विशेष इत्याह—*प्रदक्षिणप्रसव्यगामिनामित्यदि।* यस्मिन् गतिविशेषे सति

न्यासः

अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु ॥ अनुरायाम इत्यादि। यदायामे तदा 'यस्य चायामः' इति समासः। यदा सादृश्ये तदा 'यथार्थे यदव्ययम्', तेन 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना। यथा पदमायतं तथा च बद्धोपानदनुपदीना। सादृश्ये यथानुपदं तथा बद्धाऽनुपदीना। पदप्रमाणेत्यर्थं इति। यदाप्यनु सादृश्ये, तदाप्ययमर्थो वेदितव्यः, तुल्यप्रमाणतयैव सादृश्यम्। अयः प्रदक्षिणमिति। अयनमयः, गमनमित्यर्थः। प्रदक्षिणं गमनमय इत्युच्यते। अनयः प्रसव्यमिति। अयविपरीतं प्रसव्यमनय इत्युच्यते। एवमवयवार्थं दर्शयित्वा समुदायार्थं दर्शयितुमाह—प्रदक्षिणप्रसव्य-

समावेशः सोऽयानयः। अयानयं नेयः अयानयीनः शारः। फलकशिरसि स्थित इत्यर्थः ॥

पदमञ्जरी

परैर्द्यूतकारसम्बन्धिभिः पादानां स्थानापरपर्यायाणामसमावेशः=अनाक्रमणम्, अनध्यासनम्। एतदुक्तं भवति—प्रदक्षिणाप्रत्ययगामिनामात्मीयानां शाराणां सम्बन्धीनि यानि पदानि तानि परकीयैः शारैर्नाक्रम्यन्ते, यस्मिन् गतिविशेषे सोऽयानय इति।

ससहायस्य शारस्य परैर्नाक्रम्यते पदम्।
असहायस्तु शारेण परकीयेण वाध्यते ॥

अयानयं नेया इति। नयतेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि द्वितीया, प्रधाने कृत्यप्रत्ययः। *फलकशिरसि स्थिता इत्यर्थ इति*। आरम्भकाले यत्र स्थाने शाराः स्थाप्यन्ते तच्छिरः, तत्र स्थितः शारः परपार्श्वादात्मपार्श्वं नेतव्यः, तत्रायश्चा-

न्यासः

गामिनामित्यादि। बहुवचनमयानयनिमित्तप्रदर्शनार्थम्। यदि शाराः प्रदक्षिणं प्रसव्यं च गच्छन्त्येवमयानयौ भवतः, नान्यथा। तत्रात्मीयाः शाराः प्रदक्षिणं गच्छन्ति, परकीयाः प्रसव्यम्। तेषामेवङ्गामिनां यानि स्थानानि तेषां यस्मिन् प्रदक्षिणप्रसव्यगमनात्मके गतिविशेषे सति परैर्विपक्षभूतैः शारैरसमावेशः=अनध्यासनमनाक्रमणं सोऽयानय इत्युच्यते, न तु प्रदक्षिणप्रसव्यगमनमात्रे स एवायम्। एवंरूपोऽयानयो यदा ससहायैः शारैः पदान्यधिष्ठीयन्ते तदा वेदितव्यः। ससहायानामेव हि शाराणां पदानि परैर्न शक्यन्तेऽध्यासितुम्। असहायानां तु शक्यत एव। **फलकशिरसि स्थित इति**। यत्र फलकेऽक्षैर्दीव्यन्ति तस्य शिरोभूतं यत्र स्थानं कितवानां प्रसिद्धं तत्र स्थितः शारः 'अयानयीनः' इत्युच्यते; तत्रैवायानयीनशब्दस्य रूढत्वात्।

अपरे तु—नेयो नेतव्यः, न नीतस्ततः। तत्र 'शिरसि स्थितः' इत्यर्थानुपपत्तेः 'फलकशिरसि स्थाप्यते' इत्यर्थ इति ग्रन्थेन भवितव्यमित्याहुः। नीतो वा नेयः; तदुपलक्षणत्वात्। भाविन्यावस्थयोक्तः। अयानयसम्बद्धित्वेऽपि सर्वेषां विशेष्यादेव प्रत्ययोत्पत्तिरुक्तैव। सत्यपि द्वितीयाधिकारे पुनर्द्वितीयोच्चारणं दृष्टाद् द्वितीयान्ताद् यथा स्यादित्येवमर्थम्। तेन विशिष्टार्थनेयवचनादयानयशब्दाद् द्वितीयान्ताद् प्रत्ययो भवति, न नेयवचनमात्रात्। स एव विशिष्टो यो नयः प्रदक्षिणप्रसव्यगामीत्यादिना ग्रन्थेन दर्शितः।

अथायानय इति कोऽयं शब्दः, यदि ह्ययं समाहारे द्वन्द्वः, तस्य नपुंसकत्वादयानयमिति भवितव्यम्? अथेतरेतरयोगे, द्व्यर्थत्वादयानयाविति भवितव्यम्? नायं द्वन्द्वः, किं तर्हि? मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषः—अयसहितोऽनयोऽयानय इति। अथ बद्धाभक्षयतिनेयेष्विति कथं तिङन्तस्य द्वन्द्वः? कः पुनराहायं द्वन्द्व इति? यदि न द्वन्द्वः, कथं नेयेष्विति बहुवचनम्? सौत्रत्वान्निर्देशस्य। सुब्व्यत्ययेन वा छन्दस्येकवचनस्य स्थाने बहुवचनमुपपन्नम्। ननु छन्दसि सुब्व्यत्यय उक्तः, नेदं छन्दः?

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥ १० ॥

परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र—इत्येतेभ्यस्तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यः 'अनुभवति' इत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। परोवरेति परस्योत्वं प्रत्ययसन्नियोगेन निपात्यते। परांश्चावरांश्चानुभवति परोवरीणः।

परपरतराणां च परम्परभावो निपात्यते। परांश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः। पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः।

परम्परशब्दो विनापि प्रत्ययेन दृश्यते—मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीति। तच्छब्दान्तरमेव द्रष्टव्यम् ॥

अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ॥ ११ ॥

अवारपार, अत्यन्त, अनुकाम—इत्येतेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः

पदमञ्जरी

नयश्च भवति, तेनासावयानयं नेयः। 'बद्धाभक्षयतिनेयेषु' इति निपातनात्तिङ्न्तस्य द्वन्द्वः। असमासपक्षे तु बद्धेत्यत्र प्रथमैकवचनम्, नेयेष्विति सप्तमीबहुवचनमित्यसमञ्जसमापद्येत ॥

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥ *परस्योत्ववचनमिति*। परस्य शब्दरूपस्यादेरुत्वं निपात्यत इत्यर्थः, तत्र 'आद्गुणः'। अथ वा—परशब्दस्य ओत्वं निपात्यतेऽन्त्यस्यालः, ततः 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपैकादेशः, परस्यौत्वमिति प्राप्नोति 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्' इति पररूपेण निर्देशः। *परपरतराणां चेति*। चकारः पूर्वनिपातनापेक्षया समुच्चयार्थः। अर्थगतस्य बहुत्वस्य शब्दे समारोपाद् बहुवचनम्। *तच्छब्दान्तरमेव द्रष्टव्यमिति*। अव्युत्पन्नमेव प्रबन्धस्य वाचकम्। अत एव स्त्रीलिङ्गमेकवचनं च। पारम्पर्यमित्यपि तस्मादेव स्वार्थे ष्यञ्भवति। कथं परोवर्यवदिति? असाधुरेवायम्; खप्रत्ययसन्नियोगेन परोवरेति निपातनात् ॥

अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ॥ *गामीति*। 'गमेरिनिः', 'आङि णिच्च' इति

न्यासः

'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इत्यदोषः। अथवा—द्वन्द्व एवायम्, न तु तिङन्तस्य। न हि भक्षयतिशब्दोऽयं तिङन्तः। किं तर्हि? तिङन्तप्रतिरूपको निपातस्तिङन्तेन समानार्थः, यथा—अस्तिक्षीरा ब्राह्मणीत्यत्रास्तिशब्दः।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥ कथं पुनरप्रत्ययसन्नियोगेन निपातनस्य विना प्रत्ययेन दर्शनमुपपद्यते? इत्याह—**तच्छब्दान्तरमेव द्रष्टव्यमिति** ॥

अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ॥ **गामीति**। 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याव-

'गामी' इत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति । गमिष्यतीति गामी । 'भविष्यति गम्यादयः' इति । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधः । अवारपारं गामी अवारपारीणः ।

❀ विगृहीतादपीष्यते ❀ । ❀ विपरीताच्च ❀ । अवारीणः । पारावारीणः ।

अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । भृशं गन्तेत्यर्थः । अनुकामं गामी अनुकामीनः । यथेष्टं गन्तेत्यर्थः ॥

पदमञ्जरी

बहुलवचनात्केवलादपि णिनिर्भविष्यति । *गम्यादय इति ।* यद्यप्याङ्पूर्वो गमिर्गम्यादिषु पठ्यते, तथापि बहुलवचनादेव णिनिरिव भविष्यत्कालत्वमपि भविष्यतीति भावः । *अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति षष्ठीप्रतिषेध इति ।* 'गत्यर्थकर्मणि' इत्यत्र यदुक्तम्—'द्वितीयाग्रहणमपवादविषये विधानार्थं तेन कृत्प्रत्ययप्रयोगे षष्ठी न भवति—ग्रामं गन्ता' इति, तन्नाश्रितम्; प्रतिषेधे षष्ठीप्रसङ्गस्यैवाभावात् । *अवारपारीण इति ।* द्वन्द्वात्प्रत्ययः । अवारपारे तीरे आहिताग्न्यादिषु प्रक्षेपादुभयं भवति—अवारपारे, पारावारे इति । *अत्यन्तमिति ।* क्रियाविशेषणम् । एवम्—*अनुकाममिति ।* कामः=इच्छा, तस्य सदृशमनुकामम्=कामानुरूपम्, 'यथार्थे यदव्ययम्' इति समासः ॥

न्यासः

श्यकार्थे णिनिः । भविष्यति चायं काले गामिशब्दो वर्त्तते, यदाह—**गमिष्यतीति गामी** । सा च भविष्यति वृत्तिः 'भविष्यति गम्यादयः' इति वचनाल्लभ्यते, इत्याह—**भविष्यतीत्यादि । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति षष्ठीप्रतिषेध इति ।** तेन द्वितीयासमर्थतोपपद्यत इत्यभिप्रायः । कृद्योगा हि षष्ठी द्वितीयाया अपवादः, तेन षष्ठीप्रतिषेधे हि सति द्वितीययैव भवितव्यम् । **अवारपारमिति ।** अवारस्य पारमिति षष्ठीसमासोऽयम् । वा च षष्ठ्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः । तेन पक्षे पारावारमित्यपि भवति ।

विगृहीतादपि भवति । विपरीताच्चेति । कथं पुनरधिकारादेव द्वितीयासमर्थविभक्तौ लब्धायामिहाधिकं द्वितीयोपादानं कृतम् ? एतेन तदधिकस्य विधिर्भवतीति सूचितम् । तेन विगृहीताद् विपरीताच्च प्रत्यय उपपद्यते । **अत्यन्तमिति ।** अन्तस्याभावोऽत्ययो वेति । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽव्ययीभावः । अथवा—अन्तमतिक्रान्तमिति 'कुगति' इत्यादिना तत्पुरुषः । क्रियाविशेषणञ्चैतत् । **भृशं गन्तेत्यर्थ इति ।** भृशार्थत्वेन लोकेऽत्यन्तशब्दस्य प्रसिद्धत्वात् । **अनुकाममिति ।** कामसदृशमनुकामम्, कामानुरूपमित्यर्थः । यथार्थेऽव्ययीभावः । इदमपि क्रियाविशेषणमेव ॥

समांसमां विजायते ॥ १२ ॥

'समांसमाम्' इति वीप्सा, सुबन्तसमुदायः प्रकृतिः, विजायते गर्भं धारयतीति प्रत्ययार्थः । गर्भधारणेन सकलापि समा व्याप्यत इति अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । समांसमां विजायते समांसमीना गौः । समांसमीना वडवा ।

❀ पूर्वपदे सुपोऽलुग्वक्तव्यः ❀ ।

केचित्तु 'समायां समायां विजायते' इति विगृह्णन्ति, 'गर्भमोचने विजनिर्वर्त्तते' इत्याहुः, तेषां पूर्वपदे यलोपमात्रं निपात्यते, परिशिष्टस्यालुग्वक्तव्यः ।

पदमञ्जरी

समांसमां विजायते ॥ *समांसमामिति वीप्सेति* । द्रष्टव्येति शेषः । अत्र निर्देशे वीप्सा द्रष्टव्या, तेन द्विवचनमित्यर्थः । अथ वा—वीप्सावाची समुदायो वीप्सा, वीप्सावाचीत्यर्थः । *सुबन्तसमुदायः प्रकृतिरिति* । प्रातिपदिकाधिकारेऽपि वचनसामर्थ्यात् । *गर्भं धारयतीत्यर्थ इति* । दृश्यते च विजनिर्गर्भधारणे, 'स विजायमानो गर्भेणाताम्यत्' इति ।

पूर्वपदे सुपोऽलुग्वक्तव्य इति । अन्यथा तद्धिते उत्पन्ने यथोत्तरपदे लुग्भवति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति, तथा पूर्वपदेऽपि स्यात् ।

केचित्त्वित्यादि । नन्वत्यन्तसंयोगे द्वितीयया भवितव्यम् ? तत्राह—*गर्भविमोचने त्विति* । तत्र विमोचनेन कृत्स्नायाः समाया व्याप्त्यभावाद् द्वितीयाभाव इति भावः । *यलोपमात्रमिति* । यकारमात्रलोपो न सर्वस्या विभक्तेरिति मात्रशब्दस्यार्थः । *परिशिष्टस्येति* । आम्शब्दस्यालुग्वक्तव्यः । ननु याटः सुब्भक्तत्वा-

न्यासः

समांसमां विजायते ॥ समां समामिति 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । अत आह— **समांसमामिति वीप्सेति** । **सुबन्तसमुदायः प्रकृतिरिति** । प्रातिपदिकाधिकारे वचनसामर्थ्यात् । **गर्भं धारयतीत्यर्थ इति** । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् ।

पूर्वपदे सुपोऽलुग्वक्तव्य इति । तद्धित उत्पन्ने 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्याम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुक् प्राप्नोति, तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

गर्भविमोचनेऽपि विजनिर्वर्त्तत इत्याहुरिति । तदेवं मन्यते—यदा गर्भधारणे वर्त्तते तदात्यन्तसंयोगे द्वितीयैवात्र, न सप्तमी । गर्भविमोचने विजनावुपपद्यते सप्तमी । **यलोपमात्रमिति** । न हि गर्भविमोचनेन सकला समा व्याप्यत इति मात्रशब्देन सर्वस्या विभक्तेर्लोपो न भवतीति दर्शयति । **परिशिष्टस्येति** । आम्शब्दस्य ।

❀ अनुत्पत्तावुत्तरपदस्य च वा यलोपो वक्तव्यः ❀ । समांसमां विजायते । समायांसमायां विजायत इति वा ॥

अद्यश्वीनावष्टब्धे ॥ १३ ॥

'विजायते' इति वर्त्तते । 'अद्यश्वीनः' इति निपात्यते अवष्टब्धे विजने=आसन्ने प्रसवे । आविदूर्ये हि मूर्धन्यो विधीयते—'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' इति । अद्य वा श्वो वा विजायते अद्यश्वीना गौः । अद्यश्वीना वडवा ।

केचित्तु—'विजायते इति नानुवर्त्तते, अवष्टब्धमात्रे निपातनम्' इत्याहुः । अद्यश्वीनं मरणम् । अद्यश्वीनो वियोग इति ॥

पदमञ्जरी

त्सुब्लुकैव लोपः सिद्धः तत्र यलोपवचनं नियमार्थं भविष्यति—यकारस्यैव लोपो न तु सर्वस्य प्रत्ययस्येति, तत्किमुच्यते 'अलुग्वक्तव्यः' इति ? एवं मन्यते—यथैव निपातनात्पूर्वपदपरिशिष्टस्य लोपो न भवति एवमुत्तरपदेऽपि न स्यादिति ।

अनुत्पत्ताविति । वाक्ये पूर्वोत्तरपदयोरपि पक्षे यलोपो वक्तव्यः, तेन द्वैरूप्यं सिद्धं भवति ॥

अद्यश्वीनावष्टब्धे ॥ अवष्टब्ध, विजन—इत्येतयोर्यथाक्रमं विवरणम्—आसन्ने प्रसव इति । कथं पुनरवष्टब्धशब्दस्यासन्नमर्थः ? इत्याह—*आविदूर्ये हीति* । यद्यप्यालम्बनेऽपि षत्वं विधीयते; तथापि विजनस्यालम्बनत्वासम्भवादाविदूर्यमेवार्थः । किं पुनरत्र निपात्यते ? अद्य वा विश्वो वेति वार्थे समासः खप्रत्ययः, टिलोपस्त्वव्ययत्वादेव सिद्धः । *अद्यश्वीना वडवेति* । विजायत इत्यस्यानुकूलतया स्त्रीलिङ्गमुदाहृतम्, न पुनः सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । अद्यश्वीनो गोसमूहः, अद्यश्वीनं गोमण्डलमित्यत्रापीष्टत्वात् । तस्मात्सूत्रे ह्रस्वान्तस्याविभिक्तिको निर्देशः ।

केचित्त्विति । तेषां यथाभिधानं क्रियाध्याहारः । *अवष्टब्धमात्रे इति* । भवत्याद्यर्थेऽपीत्यर्थः । *अद्यश्वीनं मरणमिति* । अद्य वा श्वो वा भविष्यतीत्यत्रार्थे प्रत्ययः ॥

न्यासः

अनुत्पत्ताविति । तद्धितस्य । **उत्तरपदस्य चेति** । चकारात् पूर्वपदस्य लोपो वक्तव्य इति यकारस्य प्रत्ययसन्नियोगेन विधीयमानो लोपस्तदभावे न प्राप्नोतीति पक्ष उपसंख्यायते ।

अद्यश्वीनावष्टब्धे ॥ **अवष्टब्धे विजन** आसन्ने प्रसव इति । अत्र पूर्वयोः पदयोरुत्तराभ्यां यथाक्रममर्थाख्यानम् ॥

आगवीनः ॥ १४ ॥

'आगवीनः' इति निपात्यते। गोराङ्पूर्वाद् आ तस्य गोः प्रतिपादनात् कारिणि खः प्रत्ययो निपात्यते। आगवीनः कर्मकरः। यो गवा भृतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात् ॥

अनुग्वलङ्गामी ॥ १५ ॥

गोः पश्चाद् 'अनुगु'। अनुगुशब्दाद् 'अलङ्गामी' इत्यस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। अनुगु पर्याप्तं गच्छति अनुगवीनो गोपालकः ॥

अध्वनो यत्खौ ॥ १६ ॥

तदिति द्वितीया समर्थविभक्तिरनुवर्त्तते, अलङ्गामीति च प्रत्ययार्थः। अध्वन्शब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् 'अलङ्गामी' इत्येतस्मिन्नर्थे यत्खौ प्रत्ययौ भवतः। अध्वानमलङ्गामी अध्वनीनः, अध्वन्यः। 'ये चाभावकर्मणोः', 'आत्माध्वानौ खे' इति प्रकृतिभावः ॥

पदमञ्जरी

आगवीनः ॥ *गोराङ्पूर्वादिति*। गोशब्दान्तादाङ्पूर्वात्प्रातिपदिकादित्यर्थः। *आ तस्य गोः प्रतिदानादिति*। प्रतिदानम्=प्रत्यर्पणम्। एतेन वृत्तिविषये गोशब्दो गोप्रतिदाने वर्त्तत इति दर्शयति। *कारिणीति*। कृञ आवश्यके णिनिः। *आगवीन इति*। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावे उपसर्जनह्रस्वत्वे च कृते खप्रत्ययः, 'ओर्गुणः' ॥

अनुग्वलङ्गामी ॥ *अलङ्गामीति*। 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। *गोः पश्चादनुग्विति*। पश्चादर्थेऽव्ययीभावः, उपसर्जनह्रस्वः। *पर्याप्तमिति*। क्रियाविशेषणमेव। *अनुग्विति*। ततश्च द्वितीयान्तात्प्रत्ययः। कृद्योगलक्षणा तु षष्ठी क्रियाविशेषणान्न भवति, तद्यथा—शोभनं पाचक इति ॥

अध्वनो यत्खौ ॥ *द्वितीयासमर्थादिति*। यदा तिङन्तेन विग्रहः—अध्वानं गच्छतीति, तदा द्वितीयासमर्थत्वम्। यदापि सूत्रोपात्तेन गामीत्यनेन विग्रहः, तदापि द्वितीयैव। कृद्योगलक्षणा षष्ठी न भवति; 'अकेनोः' इति प्रतिषेधात्। इह 'अध्वनो यच्च' इति सिद्धम्, चकारात्खश्च? एवमुच्यमाने उत्तरसूत्रे चकारेणानन्तरो यदेवानुकृष्यते, न चानुकृष्टः खः। अतो यत्खयोर्द्वयोरप्यनुवृत्त्यर्थं यत्खावित्युक्तम् ॥

न्यासः

आगवीनः ॥ अनुग्वलङ्गामी ॥ अध्वनो यत्खौ ॥ अभ्यमित्राच्छ च ॥ अभ्यमि-

अभ्यमित्राच्छ च ॥ १७ ॥

अभ्यमित्रशब्दाद् द्वितीयासमर्थाद् 'अलङ्गामी' इत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति । चकाराद्यत्खौ च । अभ्यमित्रमलङ्गामी अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः । अमित्राभिमुखं सुष्ठु गच्छतीत्यर्थः ॥

गोष्ठात्खञ् भूतपूर्वे ॥ १८ ॥

गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठम् । गोष्ठशब्देन सन्निहितगोसमूहो देश उच्यते । भूतपूर्वग्रहणं तस्यैव विशेषणम् । गोष्ठशब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकात्स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति । गोष्ठोनो देशः[1] ।

भूतपूर्वग्रहणं किम् ? गोष्ठो वर्तते ॥

अश्वस्यैकाहगमः ॥ १९ ॥

पदमञ्जरी

अभ्यमित्राच्छ च ॥ *अभ्यमित्रमिति* । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः, क्रियाविशेषणत्वात्कर्मणि द्वितीया ॥

गोष्ठात्खञ् भूतपूर्वे ॥ *गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठ इति* । घञर्थे कविधानम्, 'स्थास्नापाव्यधिहनि युध्यर्थम्' इत्यधिकरणे कः, 'अम्बाम्बगोभूमि' इति षत्वम् । पूर्वं भूतो भूतपूर्वः, 'सुप्सुपा' इति समासः । *तस्यैवेति* । गोष्ठशब्दस्यार्थद्वारकं च विशेषणत्वम्, न स्वरूपेण, न हि भूतपूर्वाद् गोष्ठशब्दात्प्रत्ययो विधातुं शक्यते । *गोष्ठो वर्त्तत इति* । सम्प्रति गवामवस्थानं दर्शयति ॥

न्यासः

त्रादिति । अमित्रस्याभिमुखमभ्यमित्रम् । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । क्रियाविशेषणञ्चैतत्, तेन द्वितीयैव समर्थविभक्तिर्भवति ॥

गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ॥ 'भूतपूर्वे चरट्' इति प्राप्ते खञ् विधीयते । **गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठमिति** । 'सुपि स्थः' इति कः, 'अम्बाम्बगोभूमि' इत्यादिना मूर्धन्यः ।

भूतपूर्व इति । पूर्वं भूत इति भूतपूर्वः । 'सुप्सुपा' इति समासः । **भूतपूर्वग्रहणं तस्यैव विशेषणमिति** । अर्थद्वारकं वेदितव्यम्, यथा–'धातोः कर्मणः समान' इत्यादिसूत्रे कर्मत्वम्, समानकर्तृकत्वञ्च ॥

---

1. 'लिङ्गविशिष्टगत्या गोष्ठीशब्दस्यापि ग्रहणम्'–इत्यधिकं कुत्रचित् ।

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। अश्वशब्दात्षष्ठीसमर्थाद् 'एकाहगमः' इत्येतदर्थे खञ् प्रत्ययो भवति। एकाहेन गम्यत इत्येकाहगमः। अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा आश्वीनः। आश्वीनानि शतं पतित्वा॥

शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः॥ २०॥

शालीन, कौपीन-शब्दौ निपात्येते यथासंख्यमधृष्टे, अकार्ये चाभिधेये। अधृष्टः=अप्रगल्भः। अकार्यम्=अकरणार्हं विरुद्धम्[1]। शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः पर्यायौ यथाकथञ्चिद् व्युत्पादयितव्यौ।

पदमञ्जरी

अश्वस्यैकाहगमः॥ एकाहेन गम्यत इत्येकाहगमः, 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इत्यपं बाधित्वा 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः' इति घञ् प्राप्नोति। उक्तं हि 'घञनुक्रमणमजपोर्विषयः' इति, अस्ति चात्र परिमाणाख्या, एकाहेन गम्यत इति परिच्छेदावगमाद्, अस्मादेव निपातनादप् द्रष्टव्यः, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। *अश्वस्येति*। कर्त्तरि षष्ठी। *आश्वीनानि शतं पतित्वेति*। यावन्ति योजनान्येकाहेनाश्वेन गम्यते, तावतां शतं गत्वेत्यर्थः॥

शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः॥ *यथाकथञ्चिदिति*। नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यमित्यर्थः। अभिनिवेशे तु यः शालायामधृष्टो भार्याजितत्वादन्यत्र धृष्टः, यच्च कूपे अकार्यं मूत्रणादि, कथं तस्याभिधानं प्राप्नोति, कथं तर्हि विवक्षितार्थः? इत्याह—*शालाप्रवेशमर्हतीति*। अन्यत्राप्रागल्भ्यादासितुमशक्तः शालामेव प्रवेष्टुमर्हतीत्यर्थः। *कूपावतरणमिति*। यदकार्यं तत्प्रच्छादनीयत्वात्कूपावतरणमर्हतीत्यर्थः। *उत्तरपदलोपश्चेति*। वृत्तिविषये शालाकूपशब्दौ तत्कर्मिकायां क्रियायां

न्यासः

अश्वस्यैकाहगमः॥ एकाहेन गम्यत इति एकाहगम इति। 'अकर्त्तरि च' इत्यादिना घञ्, निपातनान्न वृद्धिः। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः। **आश्वीनानि शतं पतित्वेति।** एकाहेन यानि गम्यन्ते योजनानि तेषां शतं गत्वेत्यर्थः। शतं संख्येये वर्तमानं स्वसंख्योपादान एव स्वभावाद् वर्त्तते। तेनाश्वीनानि शतमित्याश्वीनशब्देन बह्वर्थप्रवृत्तिसामानधिकरण्येऽप्येकवचनान्तमेव प्रयुज्यते॥

शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः॥ यथाकथञ्चिदिति। येन केनचित् प्रकारेण। नावयवार्थे प्रत्यभिनिवेशः कर्त्तव्य इति दर्शयति—**उत्तरपदलोपश्चेति।** उत्तरपदं प्रवेशनशब्दोऽवतरणशब्दश्च, तस्य लोपः। **शालीनो जड इति।** स हि जाड्यात् प्रतिवचनमपि दातुं शक्तोऽप्यार्यैराद्रियमाणो न शक्नोति तत्र स्थातुम्—जनता पश्यतीति,

1. विरूपम्'—इति पाठ०।

शालाप्रवेशनमर्हति, कूपावतारमर्हति—इत्यर्थयोः खञ्प्रत्यय उत्तरपद-लोपश्च निपात्यते । शालीनो जडः । कौपीनं पापम् ॥

व्रातेन जीवति ॥ २१ ॥

निर्देशादेव तृतीया समर्थविभक्तिः । व्रातशब्दात्तृतीयासमर्थात् 'जीवति' इत्यस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति । नानाजातीया अनियत-वृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घाः=व्राताः । उत्सेधः=शरीरम्, तदायास्य ये जीवन्ति ते उत्सेधजीविनः, तेषां कर्म व्रातम् । तेन व्रातेन जीवति

पदमञ्जरी

वर्तते इति गम्यमानत्वादप्रयोग एव लोपः । *कौपीनं पापमिति* । पापसाधन-त्वात्तु पुरुषलिङ्गे कौपीनशब्दः, साधार्म्याद्वा; साधर्म्यं गोप्यत्वात् । तत्साह-चर्याच्च तदाच्छादने वासःखण्डे । अपर आह—कार्यशब्दे करोतिः क्रिया-सामान्यवचनः, तेन लज्जाहेतुत्वेनाद्रष्टव्यत्वात्पुरुषलिङ्गं कौपीनम्, अस्पृश्यत्वाच्च तदाच्छादनमिति ॥

व्रातेन जीवति ॥ व्रातशब्दो लोके सङ्घमात्रवचनः, इह तु न तथेति दर्शयितुं भाष्यग्रन्थं पठति । *नानाजातीया इति* । अनेन चैकजातीयक्षत्त्रियादिसङ्घनि-राकरणम् । *अनियतवृत्तय इति* । नियतवृत्त्यायुधजीविसङ्घनिषेधः । *उत्सेध-जीविन* इत्येतद्व्याचष्टे । *उत्सेधः शरीरमिति* । उच्छ्रायत्वात् । *तदायास्येति* । आयासेर्ण्यन्ताल्ल्यप्, तेन सकर्मकत्वम् । अण्यन्तपाठे त्वन्तर्भावितण्यर्थत्वात्स-कर्मकत्वं द्रष्टव्यम् । शरीरायासेन भारवहनादिना जीवन्ति, न तु बुद्धिभावेने-त्यर्थः । *व्राता इति* । सङ्घवचनोऽयमिह सङ्घिषु प्रयुक्तः । एवंभूतानां यः सङ्घ-स्तद्व्रातमित्यर्थः । एवमपि तथाभूतेन सङ्घेन ये जीवन्ति तत्र प्राप्नोति, न चेष्यते ? तत्राह—*तेषां कर्म व्रातमिति* । इदमर्थे छे प्राप्तेऽस्मादेव निपातना-दण् । *यस्त्वन्य इत्यादि* । अनभिधानमत्र हेतुः ॥

न्यासः

अतः शालाप्रवेशनमर्हति । शालाशब्दोऽयमिह कुटीरवचनः । कौपीनं पापमिति । तद्धि लोके निन्द्यत्वादकार्य्यत्वाच्चाकार्य्यम्, तल्लोके कूपेऽवतरणं प्रवेशनमर्हतीत्युच्यते । तत्सामर्थ्याच्च शरीरावयवः कश्चित् कौपीनशब्देनोच्यते । यदपि तस्य शरीरावयवस्या-च्छादनार्थं वासः, तदपि तत्सम्बन्धात् प्रव्रजितादीनां कौपीनमित्युच्यते ॥

व्रातेन जीवति ॥ नानाजातीय इति । अनेकजातीयाः । अनियतवृत्तय इति । अनियतक्रियाः । तेषां कर्म व्रातमिति । व्रातसाहचर्य्यात् तदपि व्रातमित्युच्यते । अथ वा—व्रातानामिदमित्यर्थविवक्षायां छे प्राप्ते, अस्मादेव निपातनादण् भवति ।

व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतम उच्यते । यस्त्वन्यस्तदीयेन जीवति तत्र नेष्यते ॥

साप्तपदीनं सख्यम् ॥ २२ ॥

'साप्तपदीनम्' इति निपात्यते सख्येऽभिधेये । सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनम् । 'सख्यं जनाः साप्तपदीनमाहुः' ।

कथं साप्तपदीनः सखा, साप्तपदीनं मित्रमिति ? यदा गुणप्रधानः साप्तपदीनशब्दः सखिभावे सत्कर्मणि च वर्तते तदा सख्यशब्देन सामानाधिकण्यं भवति, यदा तु लक्षणया वर्तते तदा पुरुषेण सामानाधिकरण्यं भवति ॥

पदमञ्जरी

साप्तपदीनं सख्यम् ॥ साप्तपदीनमिति निपात्यत इति । किं पुनरत्र निपात्यते ? समर्थविभक्तिस्तृतीया । अवाप्यत इति प्रत्ययार्थः, सप्तभिः पदैरवाप्यत इति तद्धितार्थे द्विगुः समासः, सप्तपदशब्दात्खञ् । *कथमिति* । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्, तत्र व्युत्पादितस्य न सखिशब्देन प्रश्नः, उपचारेणेत्युत्तरम् । *गुणप्रधान इति* । गुणो भावः, कर्म च भावः, प्रवृत्तिनिमित्तत्वाद्गुणः । यस्य हि गुणस्य भावादिति कर्मापि हि सख्यशब्दवाच्यत्वाद्गुण इत्युक्तम् ॥

न्यासः

तत्पुनः कर्म भारवहनादि । तत्र नेष्यत इति । कथं पुनरिष्यमाणोऽपि न भवति ? प्रकृतायां महाविभाषायां व्यवस्थितविभाषात्वात् ।

साप्तपदीनं सख्यम् ॥ साप्तपदीनमिति निपात्यत इति । किं पुनरत्र निपात्यते ? प्रत्ययः प्रत्ययार्थश्च प्रकृतः । खञ्प्रत्ययार्थश्चावाप्तिः । सप्तभिः पदैरवाप्यत इति तद्धितार्थे समासः । ततः सप्तपदशब्दात् खञ् ।

कथमित्यादि । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । तत्र यदि साप्तपदीनमिति निपात्यते, सखिशब्देन सामानाधिकरण्यं न प्राप्नोति, न हि सख्यमेव सखा भवतीति प्रष्टुरभिप्रायः । **गुणप्रधान इत्यादि** । गुणो भावः कर्म वा प्रधानं यस्य स तथोक्तः । स यदा च गुणमात्रे मुख्यया वृत्त्या वर्त्तते तदा गुणप्रधानो वेदितव्यः । **तदा सख्यशब्देन सामानाधिकरण्यं भवतीति** । द्वयोरप्येकार्थवृत्तित्वात् । **यदा त्वित्यादि** । लक्षणा= उपचारः । धर्मधर्मिणोरभेदेनोपचारेण गौण्या वृत्त्या यदा तद्वति संख्यावति पुरुषे वर्त्तते तदानेनैव समानाधिकरणो भवति । यथा यदा शुक्लशब्दो गुणमात्रे वर्त्तते तदा द्रव्यशब्देन समानाधिकरणे न भवति—पटस्य शुक्ल इति, यदा त्वसौ त्वमित्यभिसम्बन्धात् पटे वर्त्तते तदा सामनाधिकरण्यं भवति—शुक्लः पट इति; तथेहापि वेदितव्यम् ॥

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ॥ २३ ॥

'हैयङ्गवीनम्' इति निपात्यते संज्ञायां विषये। ह्योगोदोहस्य हियङ्ग्वादेशः, तस्य विकारे खञ् प्रत्ययो भवति संज्ञायाम्। ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम्, घृतस्य संज्ञा। तेनेह न भवति–ह्योगोदोहस्य विकार उदश्वित् ॥

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ॥ २४ ॥

'तस्य' इति षष्ठीसमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुणब्, जाहच्–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। पीलूनां पाकः पीलुकुणः। कर्कन्धुकुणः। कर्णादिभ्यः–कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्।

पीलु। कर्कन्धु। शमी। करीर। कवल। बदर। अश्वत्थ। खदिर। पील्वादिः।

कर्ण। अक्षि। नख। मुख। मख। केश। पाद। गुल्फ। भ्रूभङ्ग। दन्त। ओष्ठ। पृष्ठ। अङ्गुष्ठ। कर्णादिः ॥

पदमञ्जरी

हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ॥ *ह्योगोदोहस्य विकार इति*। दुह्यत इति दोहः=क्षीरम्, गोर्दोहो गोदोह इति षष्ठीसमासः, ह्यःशब्दस्य तेन 'सुप्सुपा' इति समासः, ततो विकारेऽनुदात्तलक्षणस्याञोऽपवादः, खञ्। *घृतस्यैषा संज्ञेति*। घृतस्यापि न सर्वस्य, किं तर्हि? तस्यैवाविकृतगन्धरूपस्य। ह्यःशब्देन कालप्रत्यासत्तिप्रतिपादनाद् नवनीतं हैयङ्गवीनमुच्यते, घृतशब्दोऽपि तत्रैव प्रयुक्तः ॥

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ॥ पाकः=परिणामः, मूलः=उपक्रमः। 'तस्येदम्' इत्यणादिषु प्राप्तेष्वयमारम्भः, जकारस्य प्रयोजनाभावादित्संज्ञाभावः ॥

न्यासः

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ॥ **ह्योगोदोहस्य हियङ्ग्वादेश इति**। ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गशब्द आदेश इत्यर्थः। ह्यो गोदोहनं ह्योगोदोहः, 'सुप्सुपा' इति समासः। **विकारे खञ्प्रत्यय इति**। 'तस्य विकारः' इति प्राप्तस्याणोऽपवाद इति ॥

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ॥ अणोऽपवादौ। 'तस्येदम्' इत्यणि प्राप्ते कुणबादयो विधीयन्ते। जकारस्य प्रयोजनाभावात् 'चुटू' इतीत्संज्ञा न भवति[1] ॥

1. प्रयोजनाभावान्नेत्संज्ञेति व्यवस्था। न हि प्रयोजनाभावे कस्यापीत्संज्ञा भवति, 'इदर्थाभावात् सिद्धम्' इति वार्त्तिककारवचनात्।

पक्षात्तिः ॥ २५ ॥

'तस्य' इत्येव। तस्येति षष्ठीसमर्थात्पक्षशब्दाद् मूलेऽभिधेये तिः प्रत्ययो भवति। मूलग्रहणमनुवर्त्तते, न पाकग्रहणम्; 'एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशोऽनुवर्तते' इति। पक्षस्य मूलं पक्षतिः=प्रतिपत्॥

तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ॥ २६ ॥

'तेन' इति तृतीयासमर्थाद् 'वित्त' इत्येतस्मिन्नर्थे चुञ्चुप्, चणप्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। वित्तः=प्रतीतः, ज्ञात इत्यर्थः। विद्यया वित्तः विद्याचुञ्चुः। विद्याचणः॥

विनञ्भ्यां नानाञौ नसह ॥ २७ ॥

वि, नञ्—इत्येताभ्यां यथासंख्यं ना, नाञ्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः।

पदमञ्जरी

पक्षात्तिः ॥ एकयोगशिष्टानामपि शब्दानां शब्दाधिकारपक्षे यस्यैव शब्दस्य स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते, तस्यैवानुवृत्तिर्भवति। तथा च 'दामहायनान्ताच्च' इत्यत्र सङ्ख्याग्रहणमनुवर्त्तते, नाव्ययग्रहणम्। अर्थाधिकारपक्षे तु युगपदन्योऽन्यार्थाभिधायिनां द्वन्द्वविधानाद् द्वन्द्वार्थविच्छेदान्न स्यादेकदेशानुवृत्तिः। पक्षस्य मूलं पक्षतिः=प्रतिपदि, पक्षिणश्च पक्षमूले प्रयुज्यते॥

तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ॥ वित्तः प्रतीत इति। 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' इति निपातनात्, चुञ्चुप्चणपोश्चकारस्य यथेत्संज्ञा न भवति, तथा 'चुटू' इत्यत्रैव वृत्तिकारेणोक्तम्॥

विनञ्भ्यां नानाञौ नसह ॥ नसहेति प्रकृत्यर्थविशेषणमिति। यदि प्रत्ययार्थः स्यात्ततो द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमेवार्थं गमयत इति सहार्थ एव गम्येत, न नसह, अपि तु सहैवेति। तस्मात्प्रकृत्यर्थ एव भवति। एतच्च व्याख्यानाल्लभ्यते। यद्येवम्,

न्यासः

पक्षात्तिः ॥ एकयोगनिर्दिष्टानामिति। स्वरितत्वेनादिशब्दानामनुवृत्तिर्भवति। स्वरितत्वप्रतिज्ञाप्रतिबद्धत्वात्। एकयोगनिर्दिष्टानामपि यत्र प्रतिज्ञायते स्वरितत्वम्, तत्रैव भवति, नान्यत्र। तेनैकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशस्यानुवृत्तिरुपपद्यते॥

तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ॥ विद्याचुञ्चुः, विद्याचण इति। अथ 'चुटू' इति चकारस्येत्संज्ञा कस्मान्न भवति? उक्तोऽस्य हेतुस्तत्रैव—पृथग्योगकरणमस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनार्थमिति॥

'नसह' इति प्रकृतिविशेषणम् । असहार्थे पृथग्भावे वर्त्तमानाभ्यां विनञ्भ्यां स्वार्थे नानाञौ प्रत्ययौ भवतः । विना । नाना ॥

वेः शालच्छङ्कटचौ ॥ २८ ॥

विशब्दात् शालच्, शङ्कटच्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । ससाधनक्रियावचनादुपसर्गात्स्वार्थे प्रत्ययौ भवतः । विगते शृङ्गे विशाले । विशङ्कटे । तद्योगाद् गौरपि विशालः, विशङ्कट इत्युच्यते ।

पदमञ्जरी

सहेत्येव प्रत्ययार्थोऽस्तु, विनञोः प्रतिषेधार्थत्वात्, विगर्दभरथक इत्यादौ विशब्दस्यापि प्रतिषेधे वृत्तिर्दृष्टैव ? सत्यम्; क्रियावाचिनो विशब्दात्सहार्थे प्रत्ययो विज्ञायेत—विगतौ सह विकृतौ सहेति, नाञो ञकारो वृद्ध्यर्थः, स्वरार्थश्च ॥

वेः *शालच्छङ्कटचौ* ॥ क्व पुनरेते शालजादयो भवन्ति ? इत्याह—*ससाधनक्रियावचनादिति* । क्रियाविशिष्टसाधनवचनादित्यर्थः । एतच्च 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इत्यत्र प्रत्यपादि । *उपसर्गादिति* । अन्यत्रोपसर्गसंज्ञादर्शनाद्विषयान्तरेऽपि प्रादीनामभिधानम् । *स्वार्थ इति* । अनिर्दिष्टार्थत्वात् । *विगते इति* । विगमनक्रियाकर्त्तरि वेर्वृत्तिं दर्शयति । *तद्योगादिति* । विशालावयवयोगात्, व्युत्पत्तिपक्षे नान्या गतिरिति भावः ।

न्यासः

विनञ्भ्यां नानाञौ नसह ॥ **स्वार्थे नानाञौ प्रत्ययौ भवत इति** । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' इति कृत्वा । ञकारस्त्वाद्युदात्तार्थः ।

वेः शालच्छङ्कटचौ ॥ **ससाधनक्रियावचनादित्यादि** । उक्तमेतत्—उपसर्गा ह्येवमात्मका भवन्ति यत्र कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषणमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनक्रियामिति । इह न कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते, तस्मात् ससाधनक्रियावाचिन उपसर्गात् प्रत्ययो भवति । स च भवन् 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति' इत्यनिर्दिष्टार्थत्वात् स्वार्थे भवति । **विगते शृङ्गे इति** । एतेन विगमनक्रियायां शृङ्गसाधनायां विशब्दो वर्त्तत इति दर्शयति ।

यदि ससाधनायां क्रियायां प्रत्ययः, विशालो गौर्विशङ्कटो गौरिति न सिध्यति, न हि गौरिह विगमनस्य साधनम्, किं तर्हि ? शृङ्गे ? इत्यत आह—**तद्योगादित्यादि** । यथा सास्नाद्यवयवयोगादवयवधर्मेण गौः सास्नेत्युच्यते, तथा विशालविशङ्कटशृङ्गयोगाद् गौस्तथेत्युच्यते । **परमार्थतस्त्वित्यादि** । समुदायो व्युत्पत्त्यर्थः । अतोऽत्र न केवलं ससाधनक्रिया नास्ति, अपि च साधनमपि नास्ति । तस्माद् गुणशब्दा विशालादयः परमार्थतो लोके प्रसिद्धाः, यथा—शुक्लादयः शब्दाः । तेन नात्र विशालादिषु

परमार्थतस्तु गुणशब्दा एते यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्यन्ते । नात्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभिनिवेशः ॥

संप्रोदश्च कटच् ॥ २९ ॥

सम्, प्र, उद्—इत्येतेभ्यः कटच् प्रत्ययो भवति । चकाराद्वेश्च । सङ्कटः । प्रकटः । उत्कटः । विकटः ।

❀ कटच्प्रकरणेऽलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम् ❀ । अलाबूनां रजः अलाबूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

पदमञ्जरी

वस्तुगतिमाह—*परमार्थतस्त्विति* । विशालत्वम्=विस्तीर्णत्वं नाम गुणः, तस्माद्गुणवचना एते । वक्ष्यमाणप्रत्ययापेक्षया बहुवचनम्; ततश्च यद्गुणयोगाच्छृङ्गे वृत्तिस्तद्गुणयोगादेव गव्यपि वृत्तिः सिद्धेति भावः । तथा च—विशालो देशं इत्यपि दृश्यते ॥

संप्रोदश्च कटच् ॥ *कटच्प्रत्ययो भवतीति* । पूर्ववत्ससाधनक्रियावचनेभ्य स्वार्थे । *सङ्कटः*=संहतः, संबाध इत्यर्थः । *प्रकटः*=प्रज्ञातः, प्रकाश इत्यर्थः । उत्कटः=उद्भूतः । *विकटः*=विकृतः ।

अलाबूतिलेत्यादि । *भङ्गाभ्य* इति पाठः, भङ्गाशब्दष्टावन्तः । अथालाबूप्रभृतिभ्यो रजस्यभिधेये कटच्प्रत्ययो भवति, रजसो विकारत्वाद्विकारप्रत्ययानामपवादः । तत्रालाबूशब्दादोरञ्, 'मयड् वैतयोः' इति मयटश्चापवादः । तिलोमाशब्दाभ्यां घृतादित्वादन्तोदात्ताभ्याम् 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञो मयटश्च । 'उमोर्णयोर्वा' इति वुञश्च, 'असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्' इति मयटश्च । भङ्गायाः 'तृणधान्यानां च द्व्यषाम्' इत्याद्युदात्तत्वादणो मयटश्च ।

न्यासः

प्रकृतिप्रत्ययार्थयोरभिनिवेशः कर्त्तव्यः । तदेवं परमार्थतोऽनर्थकाः । वेः शालच्छङ्कटचावप्यनर्थकावेव विधीयेते इत्युक्तं भवति । एते इति । व्युत्पादयिष्यमाणान् संकटादीन् बुद्धौ कृत्वा बहुवचनं कृतम् , तेऽपि हि गुणशब्दा एव ॥

संप्रोदश्च कटच् ॥ ससाधनक्रियावचनादुपसर्गात् वार्थे प्रत्यय इति सर्वं पूर्वदेव वेदितव्यम् ।

अलाबूतिलोमेत्यादि । अलाबूप्रभृतिभ्यो रजस्यभिधेये कटच्प्रत्ययस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम् । विकारप्रत्ययानामवादः; अलाबूप्रभृतीनां यद्रजस्तस्य तद्विकारत्वात् ।

गोष्ठादय इत्यादि । आदिशब्दः प्रकारे । पशुनामानि गोशब्दादीनि, तेभ्यः स्थानादिष्वभिधेयेषु गोष्ठजादयः प्रत्यया वक्तव्याः । 'तस्येदम्' इत्यर्थविवक्षायां स्थानादिषु गोष्ठजादयो विधीयन्दे । ननु 'तद्धिताः' इति बहुवचनेनैव संगृहीतं सङ्घाते कट-

❀ गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनामादिभ्य उपसंख्यानम् ❀। गवां स्थानं गोगोष्ठम् । महिषीगोष्ठम् ।

❀ सङ्घाते कटच् वक्तव्यः ❀। अवीनां सङ्घातः अविकटम् ।

❀ विस्तारे पटच् वक्तव्यः ❀। अविपटम् ।

❀ द्वित्वे गोयुगच् ❀। उष्ट्रगोयुगम् । अश्वगोयुगम् ।

❀ प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवच् ❀। हस्तिषड्गवम् । अश्वषड्गवम् ।

पदमञ्जरी

गोष्ठादय इति । प्रयोगसमवायिप्रत्ययरूपं निर्दिष्टम् । चकारस्तु स्वरार्थेऽनुबन्धव्यः । तथा हि—समासाश्रयेण *भाष्ये* एतत्प्रत्याख्यातम्, समासे चान्तोदात्तत्वं भवति । सर्वत्रादिशब्दः प्रकारे । *गवां स्थानमिति* । 'तस्येदम्' इत्यत्रार्थे 'सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत्' इति यति प्राप्ते गोष्ठच्प्रत्ययः; अप्रसृतावयवः समूहः=सङ्घातः, प्रसृतावयवस्तु=विस्तारः, उभावपि सामूहिकानामपवादौ ।

द्वित्व इति । प्रकृत्यर्थस्य द्वित्वे द्योत्य इत्यर्थः । *उष्ट्रगोयुगमिति* । द्वयं युगमित्यादिवद् द्वयवयवसङ्घाभिधायित्वादेकवचनम् । एवं *हस्तिषड्गवमित्यादावपि* द्रष्टव्यम् ।

स्नेह इति । स्निह्यन्त्यनेनेति स्नेहः=द्रवरूप इङ्गुदादीनां विकारः । तत्र इङ्गुदशब्दः 'लघावन्ते' इत्याद्युदात्तः, ततः 'तस्य विकारः' इत्यण्प्रत्ययः प्राप्तः; तिलशब्दाद् 'अनुदात्तादेश्च' इत्यञ् प्राप्त, सोऽपि त्विष्यते–तिलानां विकारस्तैलमिति, तत्तर्हीदं बहु वक्तव्यम् ? नेत्याह; उपमानात्सिद्धम् । कथम् ? गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठम्, तत्साधर्म्यादुष्ट्रादिस्थानमपि गोष्ठमित्युच्यते । तत्र विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुष्ट्रादिभिर्विशेष्यते—उष्ट्रगोष्ठम्, महिषगोष्ठम्; मुख्यार्थप्रतिपत्तये गोभिरपि गोगोष्ठमिति । यथा गोपतिशब्दे स्वामिमात्रपरतया प्रयुक्ते गोभिरपि विशेषणम्—'गवामसि गोपतिरेक इन्द्रः', 'विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्' इति, तथा नानाद्रव्याणां रज्जुवीरणादीनां सङ्घातः कटः, तत्साधर्म्यादन्योऽपि सङ्घातः कटशब्देनोच्यते, स चाविप्रभृतिभिर्विशेषयिष्यते, एवं पटवद्विस्तीर्णोऽविसङ्घोऽविपट इति । तथा युगशब्देन द्वयमुच्यते—गवोर्युगं गोयुगम्, द्वयात्मत्व-

न्यासः

जित्यादि सर्वम् ? सत्यम्; अनन्तरोक्तस्यैव वाक्यस्य प्रपञ्चोऽयम् । अविकट इति । अत्र 'तस्य समूहः' इति सामूहिके प्रत्यये प्राप्ते कटच् ।

अविपटमिति । प्रकीर्णानामवीनां विस्तार उच्यते ।

❀ विकारे स्नेहे[1] तैलच् ❀। एरण्डतैलम्। इङ्गुदतैलम्। तिलतैलम्।

❀ भवने क्षेत्रे इक्ष्वादिभ्यः शाकटशाकिनौ ❀। इक्षुशाकटम्। इक्षुशाकिनम्। मूलशाकटम्। मूलशाकिनम्॥

अवात्कुटारच्च ॥ ३० ॥

अवशब्दात् कुटारच्प्रत्ययो भवति / चकारात् कटच्। अवकुटारम्। अवकटम्॥

नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ॥ ३१ ॥

'अवात्' इत्येव। नमनम्=नतम्। नासिकायाः सम्बन्धिनि

पदमञ्जरी

सामान्यादन्यदपि युगलं गोयुगमित्युच्यते, तत उष्ट्रादिभिर्विशेष्यते, मुख्यगोयुगप्रतिपत्तये गवापि। तथा षड् गावः समाहृताः षड्गवम्, 'गोरतद्धितलुकि' इति टच्, पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम्। तत्साधर्म्यादित्यादि पूर्ववत्। तथा तिलविकारो मुख्यं तैलं तत्सादृश्याद् द्रवरूपं विकारमात्रं तैलम्, तत इङ्गुदादिभिस्तिलैश्च विशेषणम्। एवं च कृत्वा तिलानां विकारस्तैलमित्यपि भवति, वाक्यप्रारम्भे तु तैलचा बाधितत्वादन स्यात्।

अपर आह—'यथा प्रकृष्टो वीणायां प्रवीण इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते, कौशलमेव त्वस्य निमित्तम्, तथा च वीणायां प्रवीण इत्यपि भवति; तथा तिलानां विकारस्तैलमिति व्युत्पत्तिमात्रम्, द्रवरूपो विकारस्त्वस्यार्थः। तथा चेङ्गुदादिभिर्विशेषणसिद्धिः' इति; तत्तु न रोचयामहे; न हि तैलमित्युक्ते द्रवरूपं विकारमात्रं प्रतियन्ति। शाकटच्शाकिनौ तु वक्तव्यावेव॥

अवात् कुटारच्च ॥ *अवकुटारम्, अवकटमिति*। अवाचीनम्, अप्रसिद्धमित्यर्थः॥

नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ॥ *नमनं नतमिति*। 'नपुंसके

न्यासः

द्वावुष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम्। षड् हस्तिनो हस्तिषड्गवम्।

इङ्गुदस्य स्नेह इङ्गुदतैलम्। तिलस्य रसस्तिलतैलम्।

भवने क्षेत्र इत्यादि। इक्षुणां भवनं क्षेत्रमिक्षुशाकटम्। इक्षुशाकिनम्। मूलस्य भवनं क्षेत्रं मूलशाकटम्। मूलशाकिनम्॥

अवात् कुटारच्च ॥ नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ॥ नमनं नतमिति।

---

१. 'स्नेहने'—इति पाठ०।

नतेऽभिधेये टीटच्, नाटच्, भ्रटच्—प्रत्यया भवन्ति संज्ञायां विषये । नासिकाया नतम् अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । तद्योगान्नासिकापि । पुरुषोऽपि तथोच्यते—अवटीटः, अवनाटः, अवभ्रट इति ॥

नेर्बिडज्बिरीसचौ ॥ ३२ ॥

'नते नासिकायाः' इत्यनुवर्त्तते, 'संज्ञायाम्' इति च । निशब्दान्नासिकाया नतेऽभिधेये बिडच्, बिरीसच्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । निबिडम् । निबिरीसम् । तद्योगान्नासिकापि । पुरुषोऽपि—निबिडः, निबिरीसः ।

कथं निबिडाः केशाः, निबिडं वस्त्रम् ? उपमानाद्भविष्यति[1] ॥

इनच्पिटच्चिकचि च ॥ ३३ ॥

'नेः' इत्येव, 'नते नासिकायाः' इति च । निशब्दान्नासिकाया नतेऽभिधेये इनच् , पिटच्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, तत्संनियोगेन च निशब्दस्य यथासंख्यं चिक,चि—इत्येतावादेशौ भवतः । चिकिनः । चिपिटः ।

पदमञ्जरी

भावे क्तः', नीचैस्त्वमित्यर्थः । *नासिकायाः सम्बन्धिनीति* । सम्बन्धश्च नमने कर्तृत्वेन, सूत्रे तु 'नपुंसके भाव उपसंख्यानाम्' इति कर्त्तरि षष्ठी । यद्वा—शेषविज्ञानात्सिद्धमिति शेषलक्षणैव । अवटीटादिषु नासिकासाधने नमने वर्त्तमानादुपसर्गात्स्वार्थे प्रत्ययः । कथं तर्हि नासिका पुरुषश्च तथोच्यते ? इत्याह—*तद्योगादिति* । टीटच्ष्टकारस्येत्संज्ञाभावः 'चुटू' इत्यत्रैव व्याख्यातः ॥

इनच्पिटच्चिक चि च ॥ *ककारः प्रत्यय इति* । अकारो विवक्षितः; चकारः,

न्यासः

भावे निष्ठां दर्शयति । **नासिकायाः सम्बन्धिनीति** । अनेनापि नासिकाया इत्यपि सम्बन्धलक्षणा षष्ठी । यदि नासिकायाः सम्बन्धिनि नते वाच्य एते प्रत्ययाः, कथं तदेतेन नासिका पुरुषश्चाभिधीयते ? इत्याह—तद्योगादिति ॥

नेर्बिडज्बिरीसचौ ॥ **कथं निबिडा इति** । तद्योगोऽत्र नास्ति । अतस्तद्योगाभावात् तथाभिधानं नोपपद्यत इत्यभिप्रायः । **उपमानाद् भविष्यतीति** । निबिडतया नासिकया तुल्याः केशा वस्त्राणि च निबिडतया । तेनोपमानात् तदुभयं निबिडशब्दवाच्यं भविष्यति ॥

इनच्पिटच्चिक चि च ॥ **ककारः प्रत्ययो वक्तव्य** इत्यादि । वक्तव्यो व्याख्येय

1. 'घनत्वसाधर्म्यात्'—इत्यधिकं कुत्रचित् ।

❀ ककारः प्रत्ययो वक्तव्यश्चिक्च प्रकृत्याऽऽदेशः ❀ । चिक्कः । तथा चोक्तम्—'इनच्पिटच्काश्चिकचिचिकादेशाश्च वक्तव्याः' इति ॥

❀ क्लिन्नस्य चिल् पिल्लश्चास्य चक्षुषी ❀ । क्लिन्नस्य चिल्, पिल्—इत्येतावादेशौ भवतो लश्च प्रत्ययः 'अस्य चक्षुषी' इत्येतस्मिन्नर्थे । क्लिन्ने अस्य चक्षुषी चिल्लः । पिल्लः ॥

❀ चुलादेशो वक्तव्यः ❀ । चुल्लः ।

अस्येत्यनेन नार्थः । चक्षुषोरेवाभिधाने प्रत्यय इष्यते । क्लिन्ने चक्षुषी चिल्ले । पिल्ले । चुल्ले । तद्योगात्तु पुरुषस्तथोच्यते ॥

उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ॥ ३४ ॥

उप, अधि—इत्येताभ्यां यथासंख्यमासन्नारूढयोर्वर्त्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यकन्प्रत्ययो भवति । संज्ञाधिकाराच्च नियतविषयमासन्ना-

पदमञ्जरी

एवकार इत्यादिवत् कारशब्दः, कप्रत्यय इत्यर्थः । *तथा चोक्तमिति*। सूत्रे निशब्दस्य द्वावादेशौ द्वौ च प्रत्ययौ विहितावित्यादेशप्रत्ययत्रयविधानार्थमेतद् वार्त्तिककारेणोक्तम् । *अस्य चक्षुषी इत्येतस्मिन्नर्थ इति* । यद्यपि चक्षुषी प्रकृत्यर्थविशेषणम्, अस्येति षष्ठ्यर्थे प्रत्ययः, तथापि क्लिन्नत्वस्य चक्षुर्गतत्वं प्रत्ययस्यैव द्योत्यमिति मत्वैवमुक्तम् ।

अस्येत्यनेनेति। वाक्यैकदेशं प्रत्याचष्टे, कस्मात् ? *नार्थः*, इत्याह । *चक्षुषोरेवाभिधान इति* । चक्षुषोर्वर्त्तमानात्क्लिन्नशब्दात्स्वार्थे प्रत्यय इत्यर्थः । कथं तर्हि पुरुषस्याभिधानम् ? इत्याह—*तद्योगादित्यादि* । अर्शआदिषु 'स्वाङ्गाद्धीनात्' इति पठ्यते, तेन मत्वर्थेऽकारः ॥

उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ॥ *नियतविषयमिति* । पर्वतविषयम् । आस-

न्यासः

इत्यर्थः । व्याख्यानं तु चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वमाश्रित्य कर्त्तव्यम् । **तथा चोक्तमिति** । वार्त्तिककारेण । **अस्येत्यनेन नार्थ इति** । वाक्यैकदेशं प्रत्याचष्टे । यदि चक्षुषोरेवाभिधाने प्रत्ययः पुरुषस्य तथाभिधानं न प्राप्नोतीत्यत आह—**तद्योगादित्यादि** ॥

उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ॥ **संज्ञाधिकाराच्चेति** । 'नते नासिकायाः' इत्यादिसूत्रात् संज्ञाधिकारानुवृत्तेः । **नियतविषयमिति** । पर्वतविषयमेत्रासन्नारूढं गृह्यते ।

रूढं गम्यते। पर्वतस्यासन्नम्=उपत्यका। तस्यैवाऽऽरूढम्=अधित्यका। 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य' इतीत्वमत्र न भवति, संज्ञाधिकारादेव[1]॥

कर्मणि घटोऽठच्॥ ३५॥

निर्देशादेव समर्थविभक्तिः। कर्मशब्दात्सप्तमीसमर्थाद् 'घटः' इत्येतस्मिन्नर्थेऽठच् प्रत्ययो भवति। घटत इति घटः। कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः॥

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्॥ ३६॥

तदिति प्रथमासमर्थेभ्यस्तारकादिभ्यः शब्देभ्यः 'अस्य' इति

पदमञ्जरी

न्नारूढमिति समाहारद्वन्द्वः, आसन्नम्=समीपम्। आरूढम्=उच्चस्थानम्। *संज्ञाधिकारादेवेति*। तेन 'इत्त्वप्रतिषेधे त्यकन उपसङ्ख्यानम्' इति न वक्तव्यं भवति॥

कर्मणि घटोऽठच्॥ *कर्मशब्दादिति*। पारिभाषिकस्य कर्मणो ग्रहणं न भवति; घटतेरकर्मकत्वात्, मासं घटत इत्यादौ कालादिकर्मणां सम्भव एवेति चेद्? एवमपीह समर्थविभक्तेः सप्तम्या असम्भवः। *घटत इति घट इति*। पचाद्यच्। *कर्मठ इति*। अकारोच्चारणाट्ठकारमात्रस्याप्रत्ययत्वादङ्गसंज्ञां प्रति निमित्तत्वाभावात् ठस्येकादेशो न भवति॥

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्॥ तारकादिषु बुभुक्षापिपासाशब्दयोः किमर्थः पाठः, यावता सन्नन्तावेतौ, तथा च निष्ठायामिटि च कृते सिद्धम्—बुभुक्षितः,

न्यासः

तेन वृक्षस्यासन्नम्, प्लक्षस्यारूढमित्यत्र न भवतीति भावः। अथोपत्यका, अधित्यकेत्यत्र 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य' इत्यनेनेत्त्वं कस्मान्न भवति? इत्यत आह—**प्रत्ययस्थात् कादिति**। यद्यत्रेत्त्वं स्यात् संज्ञारूपं न सिध्येत्; नोपत्यिकाधित्यिकेत्येवंरूपा संज्ञा। तस्मात् संज्ञाधिकारादित्त्वं न भवति॥

कर्मणि घटोऽठच्॥ 'कर्मणि' इत्यनेन कर्मणीति स्वरूपग्रहणं दर्शयति। अथ पारिभाषिकस्य कर्मणो ग्रहणं कस्मान्न भवति? असम्भवात्। असम्भवस्तु घटतेरकर्मकत्वात्। अठच्प्रत्ययेऽकारोच्चारणं ठस्येकादेशनिवृत्त्यर्थम्॥

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्॥ तारकादिषु बुभुक्षा-पिपासाशब्दौ पठ्येते, तयोः किमर्थः पाठः, यावता सन्नन्ताभ्यां निष्ठायामिटि च कृते बुभुक्षितः, पिपासितो

---

1. 'न हि कृते इत्वे संज्ञा प्रतीयते'—इत्यधिकं कुत्रचित्।

षष्ठयर्थे इतच् प्रत्ययो भवति। सञ्जातग्रहणं प्रकृतिविशेषणम्। तारकाः सञ्जाता अस्य नभसः तारकितं नभः। पुष्पितो वृक्षः।

तारका। पुष्प। मुकुल। कण्टक। पिपासा। सुख। दुःख। ऋजीष। कुड्मल। सूचक। रोग। विचार। व्याधि। निष्क्रमण। मूत्र। पुरीष। किसलय। कुसुम। प्रचार। तन्द्रा। वेग। पुक्षा। श्रद्धा। उत्कण्ठ। भर.। द्रोह। ❀ गर्भादप्राणिनि[1] ॥ तारकादिराकृतिगणः ॥

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ॥ ३७ ॥

'तदस्य' इत्यनुवर्त्तते। तदिति प्रथमासमर्थाद् 'अस्य' इति षष्ठयर्थे

पदमञ्जरी

पिपासित इति? सत्यं कर्मणि सिद्धम्—बुभुक्षित ओदनः, पिपासितमुदकमिति; कर्त्तरि तु न प्राप्नोति—बुभुक्षितो देवदत्तः, पिपासितो देवदत इति। अनेन तु यस्य बुभुक्षापिपासे सञ्जाते तत्र प्रत्यय उत्पद्यते।

पुष्पादीनां तर्हि किमर्थः पाठः, 'पुष्प विकसने,' 'मूत्र प्रस्रवणे,' 'द्रै स्वप्ने,' निपूर्वः, 'कठि शोके' उत्पूर्वः, 'सुख दुःख तत्क्रियायाम्,' 'व्रण गात्रविचूर्णने'—एभ्योऽकर्मकत्वात्कर्तरि क्ते—पुष्पितः, मूत्रित इत्यादि सिद्धम्? सत्यम् भूते सिद्धम्; वर्त्तमाने तु न सिद्ध्यति, अतो वर्त्तमानार्थस्तेषां पाठः। कथं पुनरनेन वर्तमाने भवति, यावताऽत्रापि 'सञ्जात' इति भूते निष्ठा? एवं तर्हि गणे पुष्पादीनां पाठसामर्थ्यात्सञ्जातमित्यत्र भूतकालो न विवक्ष्यते। *गर्भादप्राणिनीति*। गर्भशब्दादप्राणिन्यभिधेये इतज्भवति—गर्भिताः शालयः, प्राणिनि तु गर्भिणी गौः ॥

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ॥ यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रमाणं चेत्तद्भवतीति। अनेन प्रकृत्यर्थविशेषणत्वं प्रमाणस्य दर्शयति। यदि तु प्रत्ययार्थविशेषणं स्यात्—यत्त-

न्यासः

देवदत्त इति भवति? सत्यम्; भूते विधानाद् वर्त्तमाने न सिध्यति। अनेन तु वर्त्तमानेऽपि सिध्यति। तस्माद् युक्तस्तयोः पाठः। गर्भादप्राणिनीति। गर्भशब्दादप्राणिन्यभिधेय इतच्प्रतययो भवति। गर्भिताः शालयः। अप्राणिनीति किम्? गर्भः सञ्जातोऽस्या गर्भिणी गौः ॥

प्रमाणे द्वयसच्दघ्नञ्मात्रचः ॥ प्रमाणशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात्प्रत्ययार्थो विज्ञायते।

---

१. फल, उच्चार, स्तबक, पल्लव, खण्ड, धेनुष्या, अभ्र, अङ्गारक, अङ्गार, वर्णक, पुलक, कुवलय, शैवल, गर्व, तरङ्ग, कल्लोल, पण्डा, चन्द्र, स्रवक, मुद्रा, राग, कण्टक, हस्त, कर, सीमन्त, कर्दम, कज्जल, कलङ्क, कुतूहल, कन्दल, आन्दोल, अन्धकार, कोरक, अङ्कुर, रोमाञ्च, हर्ष, उत्कर्ष, क्षुधा, ज्वर, गोर, दोह, शास्त्र, मुकुर, तिलक, बुभुक्षा, निद्रा—अत्रैते शब्दाः पुस्तकान्तरेऽधिकाः।

द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्-इत्येते प्रत्यया भवन्ति यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रमाणं चेत्तद्भवति। ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्। जानुमात्रम्, जानुद्वयसम्, जानुदघ्नम्॥

प्रथमश्च द्वितीयश्च उर्ध्वमाने मतौ मम।

ऊरुद्वयसमुदकम्। ऊरुदघ्नमुदकम्। मात्रच्पुनरविशेषेण, प्रस्थमात्रमित्यपि भवति।

❀ प्रमाणे लो वक्तव्यः ❀। प्रमाणशब्दा इति ये प्रसिद्धास्तेभ्य उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग्भवति। शमः प्रमाणमस्य शमः। दिष्टिः। वितस्तिः।

पदमञ्जरी

दस्येति निर्दिष्टं प्रमाणं चेत्तद्भवतीति; तदा प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयं प्रकृत्यर्थः स्यात्, यथा प्रकृत्यर्थविशेषणत्वे प्रमेयं प्रत्ययार्थः,ततश्चेह प्राप्नोति—उदकं प्रमेयमस्योरोरिति,एतच्चायुक्तम्; अनियतप्रमेयविषयत्वात्प्रमाणानामेकेन विशेषणस्यान्याय्यत्वात्, प्रमेयस्य तु नियतप्रमाणत्वप्रतिपादनायोरुमात्रादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते।

प्रथमश्च द्वितीयश्चेति। उर्ध्वावस्थितेन येन मीयते तदूर्ध्वमानम्, ऊर्वादि। तत्र केचिदाहुः—'आयाममानमेव प्रमाणं सूत्रे गृह्यते, तिर्यङ्मानमेव चायाममानम्, ततश्चोर्ध्वमानेऽप्राप्तौ द्वयसज्दघ्नचौ प्रमाणादपकृष्येह विधीयेते' इति। अपर आह—'ऊर्ध्वावस्थितेनापि येनायामः परिच्छिद्यते तदप्यायाममानत्वात् प्रमाणमिति सूत्रे गृह्यते। वचनं तूर्ध्वमान एव यथा स्यातां तिर्यङ्माने मा भूतामिति नियमार्थम्' इति। अन्यस्त्वाह—'परिच्छेदकमात्रं प्रमाणमिह गृह्यते' इति; तत्रापि नियमार्थमेतत्। *मात्रच्पुनरविशेषेणेति*। यद्यायाममानवाच्येवायं सूत्रे प्रमाणशब्दः, तदोन्मानपरिमाणयोरप्राप्तो मात्रज् विधीयते; अथ तु परिच्छेदकमात्रं प्रमाणम्, ततो न्यायप्राप्तानुवादोऽयम्। *प्रस्थमात्रमित्यपीति*। अपि शब्दादूरुमात्रमित्यपि भवति।

प्रमाणे ल इति। लुक एषा पूर्वाचार्यसंज्ञा। *प्रमाणमिति ये प्रसिद्धा इति*। 'प्रमाणशब्दा एते' इति ये प्रसिद्धाः—दिष्टिवितस्त्यादय इत्यर्थः। *शमः, दिष्टिः,*

न्यासः

प्रथमश्च द्वितीयश्चेत्यादि। द्वयसज्दघ्नचौ ऊर्ध्वमान इष्येते। उपरि निक्षिप्य यत्र मीयते, न तिर्य्यक् समन्ततो वा, तदूर्ध्वमानम्। **अविशेषेणेति**। प्रमाणे परिमाण उन्माने वाऽविशेषेण सर्वत्र मात्रज् भवतीति। **प्रस्थमात्रमित्यपि भवतीति**। अपिशब्दाद् वितस्तिमात्रमित्यपि भवतीति।

प्रमाणे लोरिति। लुकश्चायं पूर्वाचार्यविहिता संज्ञा। अयं मात्रच उत्पन्नस्य लुगुच्यते, न द्वयसज्दघ्नयोः; तयोरूर्ध्वमाने विधानात्। अस्मिन्नर्थ उत्पत्तिरपि नास्ति।

❀ द्विगोर्नित्यम् ❀। द्वौ शमौ प्रमाणमस्य द्विशमः। त्रिशमः। द्विवितस्तिः। नित्यग्रहणं किम्? संशये श्राविणं वक्ष्यति, तत्रापि द्विगोर्लुगेव यथा स्यात्। द्वे दिष्टी स्यातां वा न वा, द्विदिष्टिः।

❀ डट् स्तोमे वक्तव्य ❀। पञ्चदशस्तोमः। पञ्चदशी रात्रिः। टित्वाद् ङीप्।

❀ शन्शतोर्डिनिर्वक्तव्यः ❀। पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः। त्रिंशिनो मासाः।

पदमञ्जरी

वितस्तिरिति। अत्र मात्रचो लुग्; इतरयोरसम्भवात्। शमादीनामनूर्ध्वमानत्वाद्।

द्विगोर्नित्यमिति। द्विगोरप्रमाणत्वात्तदन्तविध्यभावाच्च पूर्वेणाप्राप्तो लुग्विधीयते। *नित्यग्रहणं किमिति*। नात्र विकल्पः प्रकृत इति प्रश्नः। *संशये श्राविणं वक्ष्यतीति*। श्रवणं श्रावः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्', इति घञ्, सोऽस्यास्तीति श्रावी, 'प्रमाणपरिमाणाभ्यां सङ्ख्यायाश्चापि संशये' इति वक्ष्यमाणस्य मात्रचः 'प्रमाणे लः' इत्यनेन लुग्न भवति, परत्वाद्; अतोऽसौ श्रावी। अस्य द्विगावपि श्रवणे प्राप्ते लुग्विधीयत इत्यर्थः। द्वौ शमौ प्रमाणमस्य द्विशमः। कथं पुनरत्र संशये मात्रच उत्पत्तिः? तदन्तविधिना। एतदेव लुग्वचनं ज्ञापकम्—अस्त्यत्र तदन्तविधिरिति। प्रकरणादिवशादस्य निश्चयसंशयविषयता प्रयोगस्यावसेया।

स्तोमे डड्वक्तव्य इति। अत्रायाममानस्यासम्भवात्परिच्छेदोपाधिकायाः सङ्ख्यायाः स्तोमेऽभिधेये डट्प्रत्ययः। डित्करणमेकविंश इत्यत्र ति शब्दस्य लोपार्थम्, त्रयस्त्रिंशादौ टिलोपार्थं च। पञ्चदशादौ 'नस्तद्धिते' इत्येव सिद्धम्—पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः स्तोमः, सप्तदशी रात्रिरिति। स्तोमसाहचर्याद्रात्र्यादौ स्त्रियां वृत्तिः, टित्त्वान्ङीप्। 'तदस्य परिमाणम्' 'सङ्ख्यायाः संज्ञा' इत्यत्र तु स्तोमे डो विहितः, तत्र टाब् भवति यद्यस्ति प्रयोगः, अथ तु नास्ति ततोऽस्यैव स प्रपञ्चः।

शन्शतोर्डिनिर्वक्तव्य इति। एवं च छन्दसि च भाषायां च डिनेर्विधानात् 'सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घ' इत्यत्र 'शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि' इति वचनं प्रपञ्चार्थमेव।

न्यासः

द्विगोर्नित्यमिति। द्विगोरप्रमाणत्वात्। सत्यपि च प्रमाणान्तत्वे तदन्तविधेरभावात्; पूर्वेण प्राप्त एव लुगुच्यते। नित्यग्रहणं किमिति। न हि विकल्पः प्रकृतो यन्निवृत्त्यर्थं नित्यग्रहणं क्रियते। न च पूर्वस्य विधेर्विकल्पेन प्रवृत्तिं ज्ञापयितुमिह नित्यग्रहणं कर्तुं युक्तम्। न ह्यसौ विभाषयेष्यत इत्यभिप्रायः। **संशय इत्यादिना** नित्यग्रहणस्य प्रयोजनमाह। श्रवणं श्रावः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति भावे घञ्। श्रावोऽस्यास्तीति श्रावी, स पुनर्वक्ष्यमाणो मात्रच्प्रत्ययः प्रमाणसम्बन्धेनोच्यते।

❀ विंशतेश्चेति वक्तव्यम् ❀ । विंशिनोऽङ्गिरसः ।

❀ प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रज्वक्तव्यः ❀ । शममात्रम् । दिष्टिमात्रम् । प्रस्थमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्चमात्रम् । दशमात्रा गावः ।

❀ वत्वन्तात्स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम् ❀ । तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । एतावद्द्वयसम् । एतावन्मात्रम् । यावद्द्वयसम् । यावन्मात्रम् ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण्च ॥ ३८ ॥

'तदस्य' इत्येव, 'प्रमाणे' इति च । पुरुषहस्तिभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यां प्रमाणोपाधिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, चकाराद् द्वयसजादयश्च । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्, पुरुषद्वयसम्, पुरुषदघ्नम्,

पदमञ्जरी

विंशिनोऽङ्गिरस इति । प्रवरभेदेन विंशतिर्भेदा उच्यन्ते, तत्र विंशतिशब्दात्सङ्ख्यानमात्रवाचिनः संख्येये प्रमेये डिनिः, 'ति विंशतेर्डिति' इति लोपः, यस्येतिलोपश्च ।

प्रमाणपरिमाणाभ्यामिति । रूढिशब्दावेतौ; भेदेनोपादानात् । *शममात्रमिति* । शमः प्रमाणमस्य स्यान्न वेत्यत्रार्थे मात्रच् । *पञ्चमात्रा इति* । पञ्च स्युर्न वेति संशय्यमानार्थवाचिनः स्वार्थे प्रत्ययः । यद्वा—वृत्तिविषये 'द्व्येकयोः' इत्यादिवत्सङ्ख्यानमात्रवाचिनः षष्ठ्यर्थे प्रत्ययः । पञ्चत्वसङ्ख्या प्रमाणमेषां स्याद्वा न वेति पञ्चमात्राः । *तावदेवेति* । तत्परिमाणमस्य धान्यादिस्तावत्, ततः स्वार्थे प्रत्ययः । उत्तरसूत्रे तु 'भावः सिद्धश्च डावतोः' इत्यर्थान्तरे वक्ष्यते ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च ॥ *हास्तिनमिति* । 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः ।

न्यासः

स्तोमे डविरित्यादि । पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः । पञ्चदशीति । टित्वान् ङीप् ।

शन्शतोर्डिनिरिति । स्तोमे चान्यत्राविशेषेणायं विधिः । विंशिन इति । डिनिः, 'ति विंशतेर्डिति' इति तिलोपः, यस्येतिलोपश्च । शममात्रं दिष्टिमात्रमिति । प्रमाणस्योदाहरणद्वयम्—प्रस्थमात्रं कुडवमात्रमिति । परिमाणस्य—पञ्चमात्रम् । दशमात्रा इति—संख्यायाः । यत्रैतन्न निर्णीयते शमं स्याद्वा न वेति तत्र शममात्रमिति प्रयुज्यते । एवमन्यत्रापि यथायोगं वेदितव्यम् ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च ॥ हास्तिनमिति । 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः ।

पुरुषमात्रम्। हास्तिनम् , हस्तिद्वयसम्, हस्तिदघ्नम्, हस्तिमात्रम् ।

द्विगोर्नित्यं लुक्—द्विपुरुषमुदकम्, त्रिपुरुषमुदकम् । द्विहस्ति, त्रिहस्ति । द्विपुरुषी, त्रिपुरुषी । द्विहस्तिनी, त्रिहस्तिनी ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥ ३९ ॥

'तदस्य' इत्येव । यत्तदेतेभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः परिमाणोपाधिकेभ्यः 'अस्य' इति षष्ठ्यर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावन् । एतावान् ।

प्रमाणग्रहणेऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं प्रमाणपरिमाणयोर्भेदात् ॥

पदमञ्जरी

द्विगोर्नित्यं लुगिति । नायम् 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इत्यस्यानुवादः; पुरुषहस्तिनोः शमादिवत्प्रमाणत्वेनाप्रसिद्धत्वात् । अत एव पुरुषद्वयसमित्यादौ 'प्रमाणे लः' इति लुग्न भवति; अन्यथाणो विधानसामर्थ्याल्लुगभावेऽपि द्वयसजादीनां स्यादेव । तस्माद् पूर्वोऽत्र लुग्विधीयते । स च द्वयसजादीनां नाणः, ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधाद् द्विगोरणः प्राप्त्यभावात् । *द्विपुरुषीति* । 'पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम्' इति ङीप् ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥ *यावानिति* । 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वम् । 'उगिदचाम्' इति नुम्, 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । प्रमाणपरिमाणयोरेकत्वं मत्वा यश्चोदयेत्—परिमाणग्रहणमनर्थकम् प्रमाणाधिकारादिति ? तं प्रत्याह—*प्रमाण इति वर्तमाने* इत्यादि । स पुनरनयोर्भेदः 'परिमाणं तु सर्वतः, आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति पूर्वमेव व्याख्यातः ।

न्यासः

द्विपुरुषीति । 'पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्' इति ङीप् । **द्विहस्तिनीति** । अत्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥ **यावानिति** । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारः । 'उगिदचाम्' इति नुम्, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घः, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । प्रमाणपरिमाणशब्दौ पर्यायाविति मन्यमानो यश्चोदयेद्—अथ कस्मात् परिमाणग्रहणं क्रियते, यावता प्रमाणग्रहणमनुवर्त्तत एवेति ? तं प्रत्याह—**प्रमाण इति वर्त्तमान** इत्यादि । स पुनरनयोः प्रमाणपरिमाणयोर्भेदः 'परिमाणं तु सर्वतः, आयामस्तु प्रमाणं स्यात्'—इति प्रागेव व्याख्यातः ।

डावतावर्थवैशेष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते ।
मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः ॥

पदमञ्जरी

डावताविति । इहास्माभिर्वतुपं विधाय 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वं विहितम् । *पूर्वाचार्यास्तु* डावतुं विदधिरे, तदपेक्षोऽयं निर्देशः । विशिष्यत इति विशेषः, तस्य भावो वैशेष्यम्, अर्थवैशेष्यादर्थभेदात्परिमाणस्य प्रमाणात् पृथग्निर्देशः, उच्यते क्रियत इत्यर्थः । स्यादेतत्—'यद्यपि प्रमाणपरिमाणशब्दयोरर्थौ भिद्यते, तथापि प्रमाणग्रहणमेवानुवर्त्त्य तदुपाधिकेभ्य एव वतुब्विधेयः । तत्रायमप्यर्थः— इदमपि सिद्धं भवति—यावानध्वा, यावती रज्जुरिति, अत्र ह्यायाममानं गम्यते । ये तु परिमाणे प्रयोगाः—यावान् धान्यराशिरित्यादयः, तेऽप्युपमानाद्भविष्यन्ति । यथा सिद्धान्ते यावानध्वा यावती रज्जुः यावत्कृत्वो भुङ्क्त इत्यादयः' इति, तत्राह—*मात्राद्यप्रतिघातायेति* । यदि यथोक्तं क्रियेत ततो डावतुर्विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितान्मात्रजादीन्बाधेत । परिमाणग्रहणे तु सति भिन्नोपाधिकत्वाद् बाध्यबाधकभावाभावः, तेन तन्मात्रं यन्मात्रमित्यादि प्रमाणे सिद्धं भवतीति । *भावः सिद्धश्चेति* । तत्परिमाणमस्य तावद्धान्यं राशीकृतं तावत्प्रमाणमस्य कुड्यादेस्तावन्मात्रं यावद्राशीकृतस्य धान्यस्य दैर्घ्यं तादृगस्यापीत्यर्थः । तदेवं भिन्नविषयत्वे सति वत्वन्तान्मात्रादयः सिद्ध्यन्ति । एकविषयत्वे तु वतुपैव विशिष्टस्य प्रमेयस्योक्तत्वात्तदन्तान्मात्रादयो न स्युः, । यस्य हि तावत्प्र-

न्यासः

डावतावर्थवैशेष्यादिति । 'डावतौ' इति पूर्वाचार्यसंज्ञाप्रतिपादितापेक्षोऽयं निर्देशः, ते हि यत्तदेतेभ्यो डावतुमेव प्रत्ययं कृतवन्तः । विशिष्यत इति विशेषः, विशेषस्य भावो वैशेष्यम् । अर्थस्य वैशेष्यमर्थस्य विशिष्टत्वमित्यर्थः । प्रमाणशब्दस्यान्योऽर्थः, परिमाणशब्दस्य चान्योऽर्थ इति भिन्नार्थत्वमनयोः; तस्मादर्थवैशेष्याड्डावतौ विधातव्ये परिमाणशब्दस्य निर्देशः **पृथगुच्यते** । उच्यत इति क्रियत इत्यर्थः । किमर्थः पृथग्निर्देशः क्रियते ? इत्याह—**मात्राद्यप्रतिघातायेति** । पृथग्निर्देशेनार्थभेदे सिद्धे सति मात्रजादीनां बाधा मा भूदित्येवमर्थः पृथग्निर्देशः क्रियत इत्याह । अर्थैकत्वे तु प्रकृतिसामान्ये मात्रजादयो विधीयमाना उत्सर्गा भवन्ति, प्रकृतिविशेषात् तु वतुब् विधीयमानोऽपवादो भवति, 'अपवादेनोत्सर्गो बाध्यते' इति यत्तदेतेभ्यो मात्रजादयो न स्युः, ततश्च तत्प्रमाणमस्य तन्मात्रमित्यादि न सिध्येत्, अर्थभेदे्युत्सर्गापवादभावो नास्तीति न भवत्येष दोषप्रसङ्गः । किञ्च—**भावः सिद्धश्च डावतोरिति** । 'डावतोः' इति पञ्चमी । अर्थभेदे सति वतुप्प्रत्ययान्तात् मात्रजादीनामुत्पत्तिश्च सिद्धा भवति । परिमाणे वतुब् भवति—यत् परिमाणमस्य यावानिति । तदन्तात् परिमाणे मात्रजादयो भवन्ति—यावत् परिमाणमस्य यावन्मात्रम् । अर्थैकत्वे तु 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति वतुपाऽभिहितत्वादस्यार्थस्य तदन्तान्मात्रजादयो न स्युः ।

❀ वतुप्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् ❀। 'न त्वा वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। त्वावतः पुरूवसो यज्ञं विप्रस्य मावतः। त्वत्सदृशस्य, मत्सदृशस्येत्यर्थः ॥

किमिदम्भ्यां वो घः ॥ ४० ॥

किमिदम्भ्यामुत्तरस्य वतुपो वकारस्य घकारादेशो भवति। क्रियान्। इयान्।

एतदेव चादेशविधानं ज्ञापकम्—किमिदम्भ्यां वतुप्प्रत्ययो भवतीति। अथ वा—योगविभागेन वतुपं विधाय पश्चाद्वो घो विधीयते ॥

किमः संख्यापरिमाणे डति च ॥ ४१ ॥

पदमञ्जरी

माणं तस्य तत्प्रमाणमिति तावच्छब्दस्यैव तत्रापि प्रयोगः स्याद्; अन्यथा हि मात्रजादिप्रत्ययमालाप्रसङ्गः।

सादृश्य इति। विषयनिर्देशोऽयम्, सदृशस्तु प्रत्ययार्थः ॥

किमिदम्भ्यां वो घः ॥ कियान्, इयानिति। 'इदं किमोरीश्की', यस्येतिलोपः। *एतदेवेति*। आदेशविधानान्यथानुपपत्त्या प्रत्ययोऽनुमीयते। *योगविभागेन वेति*। एवं प्रतिपादिते लाघवं भवति। 'आदेः परस्य' इत्येव सिद्धे 'वः' इति वचनमादेशप्रतिपत्त्यर्थम्; इतरथा हि घः प्रत्ययान्तरं विज्ञायेत ॥

न्यासः

त्वावतः। मावत इति। मपर्यन्तयोर्युष्मदस्मदोः 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वमादेशौ, पूर्ववदात्त्वम् ॥

किमिदम्भ्यां वो घः ॥ कियान्। इयानिति। 'इदंकिमोरीश्की' इति किमः की। 'इदम ईश्' इति, यस्येतिलोपः। केन पुनः किमिदंम्भ्यां विहितस्य वतुपो वकारस्य घत्वं विधीयते? इत्याह—**अथ वेत्यादि**। **योगविभागेन वेति**। 'किमिदम्भ्याम्' इत्येतावता योगेन वतुपं विधाय ततः 'वो घः' इत्यनेन वतुपो वकारस्य घत्वं विधीयते।

अथ वग्रहणं किमर्थम्, यावता 'आदेः परस्य' इति वकारस्यैव घो विज्ञायते, ननु चानेकाल्त्वात् सर्वादेशः प्राप्नोति? नैष दोषः, अकारो ह्यत्रोच्चारणार्थो वर्णमात्रमेव, न त्वादेशः। कुतः पुनरेतद् विज्ञेयम्? व्याख्यानात्। तर्हि वकार एव लघीयानिति युक्तं तस्य स्थानित्वेनोपादानम्। वकारे त्वस्थानिन्युपात्ते यद्यपि समुदायादेशः, तथापि न दोषः; द्वयोरकारयोः पररूपं भविष्यति ॥

संख्यायाः परिमाणम्, संख्यापरिच्छेद इत्यर्थः। संख्यापरिमाणे वर्त्तमानात् किमः प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे डतिः प्रत्ययो भवति। चकाराद्वतुप् च। तस्य च वकारस्य घादेशो भवति। पृच्छ्यमानत्वात् परिच्छेदोपाधिकायां संख्यायां वर्त्तमानात्किमः प्रत्ययो विज्ञायते। का संख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां कति ब्राह्मणाः। कियन्तो ब्राह्मणाः।

पदमञ्जरी

किमः सङ्ख्यापरिमाणे इति च॥ सङ्ख्यायाः परिमाणमिति। करणस्य कर्तृत्वविवक्षया कृद्योगलक्षणा कर्त्तरि षष्ठी। परिमितिः=परिमाणम्। *सङ्ख्या परिच्छेद इति॥* सङ्ख्या यं परिच्छेदं करोति तत्रेत्यर्थः। *तस्य च वकारस्य घकार इति।* 'वो घः' इत्यनुवृत्तेः। ननु का संख्या परिमाणमेषामित्यत्र किंशब्दः परिच्छेदिकायां सङ्ख्यायां वर्त्तते, न पुनः परिच्छेदे? तत्राह—*पृच्छ्यमानत्वादिति।* परिच्छेदकत्वविशिष्टा संख्या पृच्छ्यते—का संख्या परिच्छेदिकैषामिति, तत्र परिच्छेदस्यापि पृच्छ्यमानाकारान्तर्भावात्संख्यापरिच्छेदे वर्त्तमानादित्युक्तमित्यर्थः। अपर आह—"'संख्यायाः' इति कर्मणि षष्ठी, संख्यापरिच्छेदार्थप्रश्ने वर्त्तमानः संख्यापरिच्छेदे वर्तत इत्युच्यते। संख्यायां परिच्छेत्तुमिष्टायां यः प्रश्नस्तत्र वर्तमानादित्यर्थः:" इति। कति। 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुक्। अथैकवचनद्विवचने कस्मान्नोदाहृते? उच्यते; संख्याप्रश्ने वर्त्तमानात्किमः प्रत्ययः, प्रश्नश्चानिर्ज्ञाते; अनिर्ज्ञानं च बहुष्विति वृत्तौ बहुवचनमेव भवति। उक्तं च—'अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्' इति। कथं तर्हि कियान्, कियन्ताविति? नात्र संख्याप्रश्ने किंशब्दः, किं तर्हि? परिमाणमात्रप्रश्ने। संख्याप्रश्ने तु तत्रापि बहुवचनमेव भवति—कियन्तो ब्राह्मणा इति। यदीया च संख्या पृच्छ्यते तत्र प्रत्ययाः, तेन का संख्या परिमाणस्य वर्गात्रयवगतसंख्याप्रश्ने कति वर्ग इति न भवति। अवयवेष्वेव हि तदा प्रत्ययेन भाव्यम्—कति गावोऽस्मिन्वर्ग इति। सङ्घसङ्घिनोरभेदविवक्षायां तु—कति गावोऽयं वर्ग इति, न तु व्यवस्थितसंख्यासम्बन्धे वर्गे। वर्गसंख्याप्रश्ने तु कति वर्गा इति भवति।

न्यासः

किमः संख्यापरिमाणे इति च॥ संख्यायाः परिमाणमिति। कृद्योगलक्षणा कर्मणि षष्ठी। परिमितिः=परिमाणम्। संख्यापरिच्छेद इत्यर्थः। परिच्छेद इति भावे घञ्। **संख्यापरिच्छेदे वर्त्तमानादिति।** परिच्छेदोपाधिकायां संख्यायां वर्त्तमानादित्येषोऽर्थो विवक्षितः। यथा ह्ययमेवार्थोऽस्य वचनस्योत्तरत्र तथा व्यक्तीकरिष्यते। तस्य वकारस्य घत्वमिति, 'वो घः' इत्यनुवृत्तेः। पृच्छ्यमानत्वादिति। यदा संख्यायाः परिच्छेदे किंशब्दो वर्तते। कदा च वर्त्तते? यदा संख्या परिपृच्छ्यमाना भवति। न ह्यपरि-

अथ वा—संख्यैव परिमाणात्मिका परिच्छेदस्वभावा गृह्यते—का संख्या परिमाणं येषामिति ।

ननु च संख्या एवमात्मिकैव परिच्छेदस्वभावा, सा किमर्थं परिमाणेन विशेष्यते ? यत्रापरिच्छेदकत्वेन विवक्ष्यते तत्र मा भूदिति । क्षेपे हि परिच्छेदो नास्ति—केयमेषां संख्या दशानामिति ॥

संख्याया अवयवे तयप् ॥ ४२ ॥

पदमञ्जरी

अथ वेत्यादि । अस्मिन्पक्षे संख्यापरिमाण इति कर्मधारयः, निपातनाच्च विशेषणस्य परनिपातः, करणसाधनश्च परिमाणशब्दः । *एवमात्मिकेत्यस्य* विवरणम्—*परिच्छेदस्वभावेति* । *यत्रापरिच्छेदकत्वेन विवक्ष्यते इति* । परिच्छेदकत्वेन न विवक्ष्यत इत्यर्थः । तथैव वा पाठः । क्व पुनरेवं न विवक्ष्यते ? इत्याह—*क्षेपे हीति* । *केयमेषामिति* । केयमीदृशानां दशत्वसंख्या येषाम् ।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ इति ।

एवं संख्येयद्वारेण संख्यायां क्षेपः । प्रकृतः परिमाणशब्दो रूढिशब्दत्वात् संख्यया परिसम्बन्द्धुं नार्हतीति परिच्छित्तिमात्रवचनः पुनरिहोपात्तः ॥

न्यासः

पृच्छ्यमानायाः परिच्छेद उपपद्यते । यदा च परिपृच्छ्यमाना भवति, तदा च किंशब्दः परिच्छेदविशिष्टायां वर्त्तत इति पृच्छ्यमानत्वात् परिच्छेदोपाधिकायां संख्यायां वर्त्तमानात् किमः प्रत्ययो भवतीति विज्ञायते । परिच्छेद उपाधिविशेषणभूतो यस्याः सा परिच्छेदोपाधिका । परिच्छेदविशेषणेति यावत् । तदनेन संख्यापरिच्छेदे वर्त्तमानात् किम इत्यस्य योऽर्थोऽभिमतः स व्यक्तीकृतः । **कतीति** । जसः 'षड्भ्यो लुक्' इति लुक् ।

अथ वेत्यादि। अत्र च व्याख्याने 'संख्यापरिमाणे' इति कर्मधारयः, निपातनादुपसर्जनस्यायं परनिपातः । परिमाणशब्दश्च परिमीयतेऽनेनेति करणसाधनः । **एवमात्मिकैवेति** । अस्यार्थं परिच्छेदस्वभावेत्यनेन विस्पष्टीकरोति । परिच्छिद्यतेऽनेनेति परिच्छेदः, स स्वभावो यस्याः सा तथोक्ता । **यत्रेत्यादिना** यदर्थं परिमाणग्रहणेन संख्या विशेष्यते तद्दर्शयति । स्यादेतत्—नास्त्येव स विशेषो यत्र संख्यायाः परिच्छेदस्वभावो नास्ति, तदपार्थकं विशेषणमिति ? अत आह—**क्षेपे हीत्यादि** । **केयमेषां संख्या दशानामिति** । नात्र संख्या परिच्छेदकत्वेन विवक्षिता । न ह्यत्र परिच्छेदोऽस्ति; क्षेपपरत्वाद् वाक्यस्य । किंशब्दोऽत्र क्षेपे वर्त्तते, न प्रश्ने ॥

'तदस्य' इत्येव। संख्याया अवयवे वर्त्तमानाया अस्येति षष्ठ्यर्थे तयप् प्रत्ययो भवति। अवयवा अवयविनः सम्बन्धिन इति सामर्थ्या-दवयवी प्रत्ययार्थो विज्ञायते। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयम्। दश-तयम्। चतुष्टयम्। चतुष्टयी॥

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा॥ ४३॥

पूर्वेण विहितस्य तयस्य द्वित्रिभ्यां परस्य वाऽयजादेशो भवति। द्वाववयवावस्य द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम्, त्रितयम्।

तयग्रहणं स्थानिनिर्देशार्थम्; अन्यथा प्रत्ययान्तरमयज्विज्ञायेत।

पदमञ्जरी

संख्याया अवयवे तयप्॥ इहास्येत्यधिकारात्संख्याया अवयवे वर्त्तमानायाः स्वार्थे तावत्प्रत्ययो न भवति; अवयवस्वामिनि तु प्राप्नोति—पञ्च अवयवा अस्य देवदत्तस्येति। तत्राह—*अवयवावयविनः सम्बन्धिन इति।* अवयवशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वाद्यं प्रत्यवयवत्वं तत्रैवावयविनि प्रत्यय इत्यर्थः। यथा द्वय-सजादिषु प्रमाणे प्रकृत्यर्थे प्रमेयः प्रत्ययार्थः, तद्वत्। *चतुष्टयीति।* रेफस्य विसर्ज-नीये तस्य सत्वे 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति षत्वम्, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्॥

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा॥ ननु तयः प्रकृतः सोऽनुवर्त्तिष्यते, 'द्वित्रिभ्याम्' इति पञ्चमी, 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति तस्य षष्ठ्यन्ततां सम्पादयिष्यति; तत्किं 'तयस्य' इत्यनेन? तत्राह—*तयब्ग्रहणमित्यादि।* असत्यामपेक्षायामनुवृत्तिः षष्ठी-प्रकृतिश्च दुर्ज्ञानेति भावः। अथ प्रत्ययान्तरे को दोषः? त्रयी गतिरिति

न्यासः

संख्याया अवयवे तयप्॥ **चतुष्टय इति।** चतुरो रेफस्य 'विसर्जनीयस्य सः' इति सः; तस्यापि 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति मूर्धन्यः, 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप्॥

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज् वा॥ तयप्रत्ययग्रहणं किमर्थम्, यावता प्रकृत एवासावनु-वर्त्तिष्यते? इत्याह—तयग्रहणमित्यादि। यदि तयब्ग्रहणं न क्रियते, तदा तयप्रत्यया-दन्य एवायमयच् प्रत्ययो विज्ञायेत, न तयबादेशः। किं पुनः स्याद् यदि प्रत्ययान्तरं स्यात्? तयप्कार्य्यमयचो न स्यात्। किं तत्? 'प्रथमचरम' इत्यादिना जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञा—द्वये, द्वयाः; 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्—द्वयी। ननु च पूर्वसूत्रेणैव विहितस्य तयप इह चादेशार्थानुवृत्तिर्विज्ञायते; प्रयोजनान्तराभावात्, 'द्वित्रिभ्याम्' इति पञ्चमीनिर्देशः 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति षष्ठ्यन्तं सम्पादयिष्यते, अतोऽनेनान्तरेणापि

तत्र को दोषः ? त्रयी गतिरिति तयनिबन्धन ईकारो न स्यात्, 'प्रथमचरमतय' इत्येष विधिश्च न स्यात्। द्वये, द्वयाः। चकारः स्वरार्थः।

उभादुदात्तो नित्यम् ॥ ४४ ॥

उभशब्दात्परस्य तयपो नित्यमयजादेशो भवति स चोदात्तः। वचनसामर्थ्यादादेरुदात्तत्वं विज्ञायते।

उभशब्दो यदि लौकिकी संख्या, ततः पूर्वेणैव विहितस्य तयप आदेशविधानार्थं वचनम्। अथ न संख्या, ततो योगविभागेन तयपं विधाय तस्य नित्यमयजादेशो विधीयते। उभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः ॥

पदमञ्जरी

तयब्निबन्धन ईकारो न स्यात्, 'प्रथमचरमतय' इति चैष विधिर्न स्याद्—द्वये, द्वया इति। क्वचित् *तत्र को दोष* इत्यादि वृत्तावेव पठ्यते। *चकारः स्वरार्थ इति*। तेन स्थानिवद्भावेनानुदात्तत्वं न भवति ॥

उभादुदात्तो नित्यम् ॥ *उदात्तवचनसामर्थ्यादिति*। अन्तोदात्तत्वस्य चित्स्वरेणैव सिद्धत्वात्। सर्वोदात्तत्वं तु न भवति, 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति वचनात्। नापि हे उभयेत्यत्रामन्त्रितानुदात्तत्वम्, उभयेत्यत्र चामन्त्रिताद्युदात्तत्वं बाधितुमुदात्तवचनम्; पुरस्तादपवादन्यायेन चित्स्वरस्यैव बाधनात्।

उभशब्दो यदि लौकिकी संख्येति। उभावित्युक्ते द्वाविति प्रतीतेः। *अथ न संख्येति*। कृत्वसुजादिसंख्याकार्यादर्शनात्; एकः, उभौ, त्रय इत्येवं लोके गणनाऽदर्शनाच्च। *तस्य नित्यमयजादेश इति*। अथ प्रत्ययान्तरमेवायः कस्मान्नाश्रितः,

न्यासः

तयब्ग्रहणं तयप्स्थानित्वं लभ्यत एव ? नैतदस्ति; यद्यनुवृत्तिस्तयपोऽन्यार्था न स्यात्, ततोऽनुवृत्तिसामर्थ्यात् तयपः स्थानित्वं विज्ञायेत। तस्य त्वनुवृत्तिरुत्तरार्थापि भवति। 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र योगविभागेन तयब्विधातव्यः। न चानुवर्तमानः शक्यते विधातुम्। अत उत्तरार्थायामनुवृत्तौ सत्यां तयप्स्थानित्वमयुक्तमिति तयब्ग्रहणं क्रियते ॥

उभादुदात्तो नित्यम् ॥ **वचनसामर्थ्यादित्यादि**। यद्यन्तोदात्तः स्याद् उदात्तवचनमनर्थकं स्यात्। अयचि च कृते चित्स्वरेणैव 'सतिशिष्टस्वरो बलीयान्' इत्यन्तोदात्तत्वस्य सिद्धत्वात्। आद्युदात्तत्वं ह्यन्यथा न सिध्यतीति तदर्थं क्रियमाणमर्थवद् वचनं भवतीति। **यदि लौकिकी संख्येति**। द्वित्रादिवत्। पूर्वेण योगेन तयपो विधानम्, तस्यापरेण योगेन नित्यमयजादेशो विधीयते। **उभये देवमनुष्या इति**। उभावव-

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥ ४५ ॥

तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे दशान्तात्प्रातिपदिकाद् डः प्रत्यय भवति यत्तत्प्रथमासमर्थमधिकं चेत्तद्भवति । इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा । एकादश अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम् । एकादशं सहस्रम् । द्वादशं शतम् । द्वादशं सहस्रम् ।

दशान्तादिति किम् ? पञ्चाधिका अस्मिन् शते । अन्तग्रहणं किम् ? दशाधिका अस्मिन् शते ।

प्रत्ययार्थेन च समानजातीये प्रकृत्यर्थे सति प्रत्यय इष्यते—

पदमञ्जरी

तत्रायमप्यर्थः—उदात्त इति न वक्तव्यं भवति, प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धम्; यच्च सर्वनामसंज्ञायामुक्तमुभयशब्दस्य जसि सर्वादिपाठान्नित्या संज्ञा भवति, न 'प्रथमचरमतय' इति विभाषा; व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्पूर्वविप्रतिषेधाद्वेति, तदप्ययत्नसिद्धं भवति, कथम्, न ह्ययं तयप आदेशः ? सत्यम्; उभयीत्यत्र तु तयब्निबन्धन ईकारो न स्यात्। यदि तु ङीब्विधौ मात्रजित्ययचश्चकारेण प्रत्याहारग्रहणम्, ततः प्रत्ययान्तरत्वेऽप्ययचः सिद्ध ईकारः ।

उदात्तग्रहणं नित्यग्रहणं च शक्यमकर्तुम्, ङीब्विधौ च तयपो ग्रहणम् ।

अथ वा—दघ्नञ्मात्रचोरपि तत्र ग्रहणं शक्यमकर्तुम्, द्वयसजित्येवायचश्चकारेण प्रत्याहारोऽस्तु; तत्तु तथा नाश्रितमित्येव ।

उभयो मणिरिति । उभौ पीतलोहितावयवावस्येत्यवयवद्विनिबन्धनोऽवयविनो व्यपदेशः । *उभये देवमनुष्या इति* । वर्गद्वयापेक्षमतिरोहितभेदानां वर्गिणामिदमभिधानम् ॥

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥ अस्मिन्नधिकम्, यस्मादधिकमिति च निर्देशादधिकशब्दयोगे सप्तमीपञ्चम्यौ भवतः । अधिका खारी द्रोणेनेति कर्त्तरि तृतीयापि भवति । *एकादश अधिका अस्मिन् शत इति* । व्यपदेशिवद्भावोऽपि प्रातिपदिकेन प्रतिषिद्धः । *प्रत्ययार्थेन चेत्यादि* । प्रकृतिप्रत्ययार्थयोस्तुल्यजातीयत्वे

न्यासः

यवौ येषामित्युभये । कथं बहुत्वे देवमनुष्याणां द्वाववयवौ भवतः ? यद्यप्यत्र बहुत्वमस्ति, द्वित्वमपि तु प्रातिपदिकयोरस्त्येव; अत्र हि द्वौ राशी समुदायस्यावयवौ—एको देवानां राशिः, अपरो मनुष्याणामित्यदोषः ॥

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥ **प्रत्ययार्थेन चेत्यादि** । यथाजातीयः प्रत्ययार्थस्तथाजातीय एव यदि प्रकृत्यर्थो भवति एवं प्रत्यय इष्यते, नान्यथा । प्रत्ययार्थेन प्रकृत्यर्थस्य तुल्यजातीयत्वं दर्शयितुमुदाहरणमुपन्यस्यति—**एकादश कार्षापणा इति** ।

एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते एकादशं कार्षापणशतमिति ।

इह तु न भवति—एकादश माषा अधिका अस्मिन्कार्षापणशत इति ।

शतसहस्रयोश्चेष्यते । इह न भवति—एकादशाधिका अस्यां त्रिशतीति ।

'इतिकरणो विवक्षार्थः' इत्युक्तम्, तत इदं सर्वं लभ्यते ।

पदमञ्जरी

प्रत्यय इत्यर्थः । न्यायसिद्धश्चायमर्थः । तथा हि—वाक्ये तावदेकादश अधिका अस्मिन् गोशते इति शतविशेषणत्वेनाप्युपात्ता गावः सन्निधानात्प्रकृत्यर्थमपि स्पृशन्ति । वृत्तावप्येकादशं गोशतमित्युक्ते प्रकृत्यर्थतया गावः सन्निहिता एव प्रतीयन्ते । यत्र तु विजातीयसंख्येयवाची शब्दः प्रयुज्यते, तत्र शब्दसन्निहितेन तेनान्यदर्थं सन्निहितं बाध्यते । न च वृत्तौ तादृशेन शब्देन प्रकृत्यर्थः शक्यो विशेषयितुम्; प्रत्ययार्थेनैकार्थीभूतत्वात्, यथा—वृद्धस्यौपगव इति ।

शतसहस्रयोश्चेष्यत इति । इयमिष्टिरेव ।

इतिकरणो विवक्षार्थस्ततः, इदं सर्वं लभ्यत इति । यद्यपि पूर्वार्थौ न्यायादेव लभ्यते, तथापि 'शतसहस्रयोश्चेष्यते' इत्ययमर्थ इतिकरणादेव लभ्यते इति लाघवाय साधारणो हेतुरुपदिष्टः ।

न्यासः

प्रकृत्यर्थोऽप्येकादश कार्षापणा एवेति प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थेन समानजातीयः । **इह तु नेत्यादि** । अत्र हि कार्षापणशतं प्रत्ययार्थः । प्रकृत्यर्थस्त्वेकादश माषाः । ते च कार्षापणेभ्यो विजातीया इति न भवति प्रत्ययः । **शतसहस्रयोश्चैवेष्यत इति** । यत् 'तदस्मिन्' इत्युच्यते, तस्मिंश्च शते सहस्रे वा प्रत्यय इष्यते; नान्यत्र त्रिशत्यादौ ।

कथं पुनरनुपात्तमेव सूत्रे लभ्यते ? इत्याह—**इतिकरणो विवक्षार्थ इत्यादि । कथमित्यादि** । यदि शते सहस्रे वाधिकिनि प्रत्ययेन भवितव्यम्, इह प्रत्ययो न प्राप्नोति—एकादशं शतसहस्रमिति । अत्र हि शतसहस्रं संख्यान्तरञ्चाधिकम्, न शतं नापि सहस्रमित्यभिप्रायः । **शतानामित्यादि** । अनेन शतसहस्रस्य संख्यान्तरं निरस्यति । यदा शतशब्दः षष्ठ्यन्तः सहस्रशब्देन समस्यते तदा शतानां सहस्रं शतसहस्रशब्देनोच्यते । यदा तु सहस्रशब्दः षष्ठ्यन्तशब्देन समस्यते, तदा सहस्राणां शतं शतसहस्रशब्देनोच्यते । ननु च सहस्रशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य समासे सहस्रशतमिति भवितव्यम् ? राजदन्तादिषु दर्शनात् तस्य परनिपातो भविष्यतीत्यदोषः । **तत्र शतसहस्रयोरित्येव सिद्धमिति** । शतसहस्रवाच्यस्यार्थस्य शतसहस्रयोरेवान्तर्भावात् ।

कथमेकादशं शतसहस्रमिति ? शतानां सहस्रम्, सहस्राणां वा शतमिति शतसहस्रमित्युच्यते । तत्र 'शतसहस्रयोः' इत्येव सिद्धम् ।

अधिके समानजाताविष्टं शतसहस्रयोः ।
यस्य संख्या तदाधिक्ये डः कर्तव्यो मतो मम ॥

पदमञ्जरी

कथमित्यादि । शते सहस्रे चाभिधेये प्रत्ययो भवन्नत्र न प्राप्नोति, अत्र हि संख्यान्तरमधिकं शतसहस्रं नाम, न शतं सहस्रं वेति भावः । अत्रापि शतसहस्रयोरेवान्यतरस्य प्रत्ययार्थत्वं न संख्यान्तरस्येत्याह—*शतानामिति* । *सहस्राणां वा शतमिति* । अत्रापि पक्षे 'संख्याया अल्पीयस्याः' इति द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च स्मरणाच्छतस्यैव पूर्वनिपातः । तत्र पूर्वस्मिन्विग्रहे शतानि संख्यायन्त इति तान्येव प्रकृत्यर्थः—एकादश शतान्यधिकान्यस्मिन्नेकादशं शतसहस्रमिति, उत्तरत्र तु सहस्राणां संख्येयत्वात्तान्येव प्रकृत्यर्थः—एकादशसहस्राण्यधिकान्यस्मिन्नेकादशं शतसहस्रमिति । प्रकरणादिवशाच्च शतानां वा संख्येयत्वावसायः ।

उक्तमेवार्थं श्लोकेन दर्शयति—*अधिके समानजाताविति* । प्रत्ययार्थसम्बन्धिन्या जात्या प्रकृत्यर्थस्य जातौ समानायां सत्यामधिकेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रत्यय इत्यर्थः । यद्वा—'समानजातौ' इति बहुव्रीहिः । जात्यन्तलक्षणस्तु छो न भवति; भाष्यप्रयोगात् । प्रत्ययार्थेन समानजातीयेऽर्थे वर्त्तमानादित्यर्थः । *इष्टमिति* । प्रत्ययाख्यं कार्यम् । एकादशं शतसहस्रमित्यत्र निर्वाहार्थमाह—*यस्य संख्येति* । 'शतानि सहस्राणि संख्यायन्ते', इत्युक्तम्, 'अधिके समानजातौ' इति च, तेन यस्य संख्या यज्जातीयं संख्यायते। सामान्यापेक्षमेकवचनम् । तदा-

न्यासः

अधिक इत्यादि । लोके प्रत्ययार्थेन समानजातावधिके शतसहस्रयोरेव प्रत्ययाख्यं कार्यमिष्टम् । यदा त्वसमानजात्यधिकं भवति, न च शतं सहस्रं वा प्रत्ययार्थेन विवक्षितम्, तदा नेष्यते । अथैकादशं शतसहस्रमित्यत्र कस्याधिक्ये सति डः कर्त्तव्यः ? इत्याह—यस्येत्यादि । संख्या=संख्यानम्, गणनमित्यर्थः । यस्य संख्या, तस्याधिक्ये डः कर्त्तव्यः । कस्य च संख्या भवति ? अधिकत्वं संख्यायते यस्य । यदा शतानि संख्यायते तदा—शतानां सहस्रमिति शतसहस्रम्, तदा शताधिक्ये डः कर्त्तव्यः । एकादशाधिकान्यस्मिन् सहस्र एकादशं शतसहस्रमिति । यदा तु सहस्राणि संख्यायते—सहस्राणां शतं सहस्रशतमिति, तदर सहस्राण्यधिकान्यस्मिन्नेकादशं शतसहस्रमिति । अथ किमर्थं तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिरुपादीयते, यावता 'तदस्य सञ्जातम्' इत्यनुवर्त्तत एव, तत्र प्रत्ययार्थ एवास्मिन्निति निर्देष्टव्यः ? नैवं शक्यम्; तदनुवृत्तौ हि तत्सम्बन्धस्यास्येति प्रत्ययार्थस्याप्यनुवृत्तिः प्रसज्येत । न च षष्ठीसप्तम्यर्थयोर्विरोधः; ततोऽस्मिन्निति निर्देशात् पूर्वः प्रत्ययार्थो न निवर्त्तते, तस्यां त्वनुवृत्तौ

शदन्तविंशतेश्च ॥ ४६ ॥

'तदस्मिन्नधिकम्' इत्यनुवर्तते, 'डः' इति च। शदन्तात्प्रातिपदिकाद्विंशतेश्च डः प्रत्ययो भवति 'तदस्मिन्नधिकम्' इत्येतस्मिन् विषये। त्रिंशदधिका अस्मिन् शते त्रिंशं शतम्।

शद्ग्रहणेऽन्तग्रहणं प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स तदादेरधिकार्थम्। एकत्रिंशं शतम्। एकचत्वारिंशं शतम्। संख्याग्रहणं च कर्त्तव्यम्। इह मा भूद्—गोत्रिंशदधिका अस्मिन् गोशते इति।

पदमञ्जरी

धिक्ये स कर्त्तव्यो मतो मम। एतच्चोदाहरण एव व्यक्तीकृतम्, नात्र किञ्चिदपूर्वमुक्तम्॥

शदन्तविंशतेश्च॥ अन्तग्रहणमनर्थकम्, केवलस्य शतः प्रातिपदिकस्याभावात्; प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधिर्भविष्यति, पङ्क्त्यादिसूत्रे त्रिंशदादीनां शत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितत्वात्तत्राह—*शद्ग्रहणेऽन्तग्रहणमिति*। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तविधौ सति तदादिनियमः स्यात्, अस्मिंस्त्वन्तग्रहणे सति यावतः समुदायस्यान्ते शच्छब्दस्तावतो ग्रहणं भवति। *संख्याग्रहणं चेति*। 'संख्याया अवयवे तयप्' इत्यतः संख्याग्रहणमनुवर्त्तनीयमित्यर्थः। तेन संख्यावाचिनः शदन्तात्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। एकत्रिंशदादयश्च संख्यान्तरस्य वाचकाः,

न्यासः

षष्ठ्यर्थेऽपि प्रत्ययः स्यात्। तस्मादस्येति निवृत्त्यर्थं पुनस्तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिरुपादीयते। यद्येवम्, अस्येति प्रत्ययार्थस्य निवृत्तत्वात् 'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे प्रत्ययो न प्राप्नोति। इह निवृत्तस्यापि मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवृत्तिर्भविष्यतीत्यदोषः। अन्ये तु ज्ञापकं तदित्यस्य वर्णयन्ति। तदिति प्रकृते यत् तदित्याह, तज् ज्ञापयति—'तदस्य सञ्जातम्' इत्यादौ सूत्रे यन्निर्दिष्टं तदिहानुवर्त्तमानमप्यङ्गभावं न यातीति षष्ठ्यर्थे प्रत्ययो न भवति॥

शदन्तविंशतेश्च॥ ननु च 'पङ्क्ति' इत्यादौ सूत्रे त्रिंशदादयः शब्दाः शत्प्रत्ययान्ता निपातिताः, ततश्च प्रत्ययग्रहणपरिभाषयैव तदन्तात् प्रत्ययो लभ्यते, तत् किमन्तग्रहणेन? इत्याह—**शद्ग्रहणेऽन्तग्रहणमित्यादि**। यद्यन्तग्रहणं न क्रियेत, तदा प्रत्ययग्रहणपरिभाषया यस्मात् स विहितस्तदादेरेव स्यात्; नाधिकात्। अतोऽधिकादपि यथा स्यादित्येवमर्थमन्तग्रहणम्। यदि तर्हि यस्मात् प्रत्ययो विहितस्तदादेरधिकार्थमन्तग्रहणं केवलान्न प्राप्नोति? नैष दोषः; चकारोऽत्र क्रियते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः, तेन केवलादपि भविष्यति। **संख्याग्रहणञ्च कर्त्तव्यमिति**। संख्या गृह्यते येन तत् संख्याग्रहणं कर्त्तव्यम्। किं पुनः कर्त्तव्यम्? व्याख्यानम्। तत्रेदं व्याख्या-

❀ विंशतेश्च ❀। विंशं शतम्।

❀ तदन्तादपीति वक्तव्यम् ❀। एकविंशं शतम्।

❀ संख्याग्रहणं च कर्त्तव्यम् ❀। इह मा भूत्—गोविंशतिरधिकाऽस्मिन्गोशतते इति ॥

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥ ४७ ॥

'तदस्य' इत्यनुवर्तते 'तदस्य सञ्जातम्' इत्यतः। तदिति प्रथमासमर्थात्संख्यावाचिनः प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे मयट् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं गुणस्य निमाने चेत्तद् वर्तते। गुणः=भागः। निमानम्=

पदमञ्जरी

न तु समुदायस्य; तेन तेषामपि ग्रहणम्। गोत्रिंशदादयश्च न संख्यावचना इति तेषामग्रहणम्।

विंशतेश्चेति। विंशतिशब्दानन्तरमन्तशब्दः पठितव्य इत्यर्थः; अन्यथा 'ग्रहणवता' इति निषेधात्तदन्तान्न स्यात् ॥

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥ *तदस्य सञ्जातमित्यत इति*। तत्र तावत् 'तदस्य' इति समुदायस्य स्वरितत्वं प्रतिज्ञातम्, अनुवृत्तं च बहुषु योगेषु। 'तदस्मिन्नधिकम्' इत्यत्र तु पुनस्तच्छब्दोपादानान्न सम्बद्ध्यत इत्येतावत्। इह तु प्रतिबन्धाभावात्स एव समुदायोऽनुवर्तत इत्यर्थः, तेन 'तदस्मिन्' इत्यस्यैव तच्छब्दस्यानन्तर्यादनुवृत्तिर्युक्ता। 'अस्मिन्' इत्यनेन विच्छिन्नत्वादस्येत्यनुवृत्तिश्चायुक्तेति न चोदनीयम्। *निमानं मूल्यमिति*। 'मेङ् प्रणिदाने' इत्य-

न्यासः

नम्—'संख्याया अवयवे तयप्' इत्यतः संख्याया इत्यनुवर्त्तते, तेन संख्याधिकादेव भविष्यति, नान्याधिकात्।

विंशतेश्चेत्यादि। विंशतिशब्दाच्च तदन्ताच्च प्रातिपदिकाड् डप्रत्ययो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—विंशतिशब्दात् तावत् साक्षात् सूत्रोपात्तात् प्रत्ययो भवति, तदन्तादपि; चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादिति।

संख्याग्रहणं चेत्यादौ पूर्व एवार्थः। व्याख्यानमपि पूर्वकमेव ॥

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥ **गुणो येन निमीयत इति**। परिवर्त्त्यते, विक्रीयत **सोऽर्पात्यादि**। न हि तस्य भागत्वमन्तरेण निमेयस्य गुण इत्येव निर्दिष्टस्य भागत्वमध्यवसातुं शक्यम्। यदा हि मूलस्य भागत्वं नास्ति, भागव्यपदेशो न प्रवर्त्तत एव। तेन यद्यपि निमानस्य भागता नोक्ता, तथापि सामर्थ्यात् सा प्रतीयते। **यवानां द्वौ भागौ निमानमस्येति**। ननु चोभयत्रापि परिवर्त्तनम्, तथापि मूल्य एव निमानशब्दो रूढ इति यन्मूल्यत्वेन विवक्षितं तदेव निमानं भवति, नेतरत्। **यवानामिति**। भागापेक्षया षष्ठी। यद्येवम्, परापेक्ष उदश्विच्छब्दे तद्धितस्य वृत्तिर्विरुध्यते। ननूदश्विद्-

मूल्यम् । गुणो येन निमीयते मूल्यभूतेन सोऽपि सामर्थ्याद्भाग एव विज्ञायते । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्भागस्य द्विमयमुदश्विद्यवानाम् । त्रिमयम् । चतुर्मयम् । भागेऽपि तु विधीयमानः प्रत्ययः प्राधान्येन भागवन्तमाचष्टे । तेन सामानाधिकरण्यं भवति––द्विमयमुदश्विदिति । गुणस्येति चैकत्वं विवक्षितम्, तेनेह न भवति––द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वित इति ।

पदमञ्जरी

स्मान्निपूर्वात्करणे ल्युट्, निमीयते=क्रीयत इत्यर्थः । *गुणस्येति* । कर्मणि षष्ठी । *सोऽपि सामर्थ्यादिति* । गुणशब्दोऽपि सापेक्षं रूपमाचष्टे, तथा हि—द्विगुणम्, त्रिगुणमित्युक्ते किञ्चिदपेक्ष्येति गम्यते; तत्र निमेयस्य गुणत्वं सन्निहितं निमानमपेक्ष्येत्येतत्सामर्थ्यम् । *यवानां द्वौ भागाविति* । यद्यपि तुल्यमुभयत्रापि स्वत्यागः परकीयस्य ग्रहणम्, तथापि क्वचित्काचित्प्रसृततरा गतिः, तद्यथा—समाने त्यागे धान्यं विक्रीणीत इत्युच्यते, न कश्चिदाह–कार्षापणी विक्रीणीत इति, तेन यवभागयोरेव निमानत्वम्, नोदश्विद्भागस्य । देशकालापेक्षो वा निमाननिमेयभावः । निमानस्य च निमेयापेक्षत्वान्निमेयं प्रत्ययार्थः, एकगुणस्योदश्वितो द्विगुणा यवा मूल्यमित्यर्थः । तद्यथा—प्रस्थस्योदश्वितो द्वौ प्रस्थौ यवाः, द्विमयमुदश्विद्यवानामिति । भागविशेषप्रतिपत्त्यथ प्रकृत्यर्थविशेषणस्य यवादेः प्रयोगः । द्विशब्दश्च वृत्तिविषये भागयोरेव संख्येययोर्वर्तत इति सम्बन्धिशब्दत्वेन नित्यसापेक्षत्वात्तद्धितवृत्तिरविरुद्धा । कथं पुनः प्रत्ययान्तस्योदश्वि-

न्यासः

भागे प्रत्ययः, नोदश्विति, तत् कथं द्विमयमुदश्विदिति प्रत्ययान्तस्योदश्विच्छब्देन सामानाधिकरण्यम् ? इत्यत आह—भागेऽपि त्वित्यादि । अत्र पुनरभिधानशक्तिस्वाभाव्यं हेतुः । यथैवाणादयोऽपत्यापत्यवत्सम्बन्धेऽपि विधीयमाना अभिधानशक्तिस्वाभाव्यात् प्राधान्येन सम्बन्धिनमाचक्षते—औपगवी दाक्षिरिति, तथायमपि भागे विधीयमानो भागवन्तमुदश्विदादिकमाचष्टे । गुणस्येति चैकत्व विवक्षितमिति । गुणस्येति यैकसंख्या सा विवक्षिता । ननु च 'तद्धिता इति निर्देशेऽपि बहुवचनमप्रमाणम्, तस्याविवक्षितत्वात्' इत्युक्तम्, तत् कथमिहैकत्वविवक्षा युज्यते ? नैष दोषः; इह हि षष्ठीसमासं कृत्वा गुणनिमान एव कर्त्तव्यम्, एवं हि लघु सूत्रं भवति । सोऽयमेवं वक्तव्ये सति यद् गुणस्येत्येकवचनमुच्चारयति, तेनैतत् सूचयति—विवक्षितमत्रैकत्वमिति । तेनेत्यादिनैकत्वविक्षायाः फलं दर्शयति । एकत्वविवक्षायां ह्येतत् प्रयोजनम्—एकस्य गुणस्य निमाने वर्त्तमानाद् यथा स्यात् । द्वौ भागो यवानां त्रय उदश्वित इति । अत्र त्रयाणां भागाणां निमाने द्विशब्दो वर्त्तत इति न भवति प्रत्ययः ।

भूयसश्च वाचिकायाः संख्यायाः प्रत्यय इष्यते । इह न भवति—एको भागो निमानमस्येति । भूयस इति च प्रत्ययार्थात्प्रकृत्यर्थस्याधिक्यमात्रं विवक्षितम् । बहुत्वमतन्त्रम्, तेन द्विशब्दादपि भवति ।

गुणशब्दः समानावयववचनः । तेनेह न भवति—द्वौ भागौ यवानामध्यर्द्धं उदश्वित इति ।

पदमञ्जरी

च्छब्देन सामानाधिकरण्यम्, यावतोदश्विद्भागे प्रत्ययो विहितः, नोदश्विति ? तत्राह—*भागेऽपि तु विधीयमान इति* । अत्र चाभिधानस्वाभाव्यं हेतुः । अपर आह—यत्रोदश्वितो भागो द्विगुणैर्यवैः क्रीयते, तत्रार्थात्समुदायोऽपि द्विगुणैर्यवैः क्रीतो भवति बहुभिरेकेन वा, तदपेक्षं सामानाधिकरण्यमिति । गुणस्येति चैकत्वं विवक्षितमित्येतदर्थमेव हि 'गुणनिमाने' इति लघुरपि निर्देशो न कृतः । *द्वौ भागौ यवानां त्रय उदश्वित इति* । न तावद् 'भूयसश्च वाचिकायाः' इत्युक्तमिति मत्वेदमुदाहृतम्, न त्वत्र द्विशब्दो भूयसो वाचकः । यद्वा उदाहरणदिगियं दर्शिता, त्रयो यवानां द्वावुदश्वित इति दर्शयितव्यम्, निमाननिमेयभावस्य विपर्ययो वा प्रष्टव्यः । *भूयसश्चेति* । प्रत्ययार्थात्प्रकृत्यर्थस्य भूयसो या वाचिका संख्या ततः प्रत्यय इत्यर्थः । इह न *भवतीति* । निमाननिमेययोः साम्यविषये न भवतीत्यर्थः; अन्यथा गुणस्येत्येकत्वविवक्षायामपि स्यादेव प्रसङ्गः । कुतस्तर्हि न भवति ? अनभिधानात् ।

'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति भूयःशब्दस्य व्युत्पादितत्वात्प्रकृत्यर्थस्य बहुतरत्वे सति प्रत्ययेन भाव्यम्, ततश्च द्विशब्दान्न स्यादित्याशङ्क्याह—*भूयस इति चेति* । *गुणशब्द इत्यादि* । न ह्ययं भागमात्रवचनः, किं तर्हि ? समानतामपि तस्य भागस्य ब्रूते ।

न्यासः

ननु च सत्यामप्येकत्वविवक्षायां नैवात्र प्रत्ययेन भवितव्यम्, यतः 'भूयसश्च वाचिकायाः संख्यायाः प्रत्यय इष्यते' इति वचनम्, न ह्यत्र द्विशब्दो भूयसो वाचकः ? एवं तर्हि यवानां यौ द्वौ भागौ, ताविह निमेयत्वेन विवक्ष्येते । ये त्रय उदश्वितो भागास्ते निमानत्वेन । तत्र यद्येकत्वविवक्षा न स्यात् तदा त्रिषूदश्विद्गुणेषु वर्त्तमानात् प्रत्ययः स्यात् । भूयसश्चेत्यपि प्रत्ययार्थात् प्रकृत्यर्थस्य भूयसो वाचिकायाः प्रत्यय इत्यते, नान्यतः । इह न भवतीति । अनभिधानात् । 'तदस्मिन्नधिकम्' इत्यादेः सूत्रादितिकरणनुवृत्तेर्वा । यदि भूयसो वाचिकायाः संख्याया इष्यते यवानां द्वौ भागौ निमानमस्येत्यत्र न प्राप्नोति ? इत्यत आह—**भूयस इति चेत्यादि** ।

एवमपि हि प्राप्नोति—द्वौ यवानामध्यर्द्धं उदश्वित इति, अस्ति ह्यत्र प्रत्ययार्थात् प्रकृत्यर्थस्याधिक्यम् ? इत्यत आह—**गुणशब्द इत्यादि** । गुणशब्दो ह्ययं भागवचनोऽपि समतामपि तस्य भागस्य ब्रूते, न चाध्यर्द्धशब्देन समभाग उच्यते ।

❀ निमेये चापि दृश्यते ❀। निमेये वर्त्तमानायाः संख्याया निमाने प्रत्ययो दृश्यते। उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयमस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः। त्रिमया यवा उदश्वितः। चतुर्मयाः।

गुणस्येति किम् ? द्वौ व्रीहियवौ निमानमस्योदश्वितः। निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ क्षीरस्यैकस्तैलस्य द्विगुणं तैलं पच्यते क्षीरेणोत्यत्र मा भूत्॥

पदमञ्जरी

निमेये चापि दृश्यते इति। कथं तल्लभ्यते ? तन्त्रावृत्त्येकशेषाणामन्यतमाश्रयणेन। द्वे अत्र वाक्ये; तत्रैकं व्याख्यातम्, द्वितीये निमानमिति, कृत्यल्युटो 'बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्।

गुणस्येति। करणस्य कर्तृत्वविवक्षायां कर्तरि षष्ठी, निमेयस्य निमानापेक्षत्वान्निमानं प्रत्ययार्थः, परिशिष्टं सर्वं पूर्ववत्। संख्याया इति किम् ? यवभागौ निमानमुदश्विद्भागस्य द्विवचनान्ताद्यवभागशब्दात्प्रत्ययो न भवति। *व्रीहियवाविति*। अत्रोदश्वित एव निमानं द्वौ न तद्भागस्य, तेन द्विमयमुश्विद् व्रीहियवाविति न भवति। *द्विगुणं तैलं पच्यते क्षीरेणेति*। क्षीरसम्बन्धिनौ द्वौ गुणावस्मिंस्तैले तत्तेनैव सुभगं सह क्षीरेण पच्यत इत्युच्यत इति॥

न्यासः

निमेये चापि दृश्यत इति। केन पुनर्विहितो दृश्यते ? अनेनैव। कथम् ? द्वे अत्र वाक्ये निमानशब्दः करणसाधनः—निमीयतेऽनेनेति निमानम्; द्वितीये तु कर्मसाधनो निमीयत इति निमानम्, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। यदा करणसाधनस्तदा गुणस्येति कर्मणि षष्ठी, यदा तु कर्मसाधनस्तदा कर्त्तरि। गुणो निमानक्रियाकरणमिति कर्तृत्वेन विवक्ष्यते। भवति हि करणस्य कर्तृत्वेन विवक्षा, यथा—साध्वसिश्छिनत्तीति। तत्रैकेन वाक्येन निमाने वर्त्तमानायाः संख्याया निमेयेऽभिधेये प्रत्ययो विधीयते, अपरेण निमेये वर्त्तमानाया निमानेऽभिधेयेऽपि प्रत्ययोऽभिधीयते। वाक्यभेदस्य च संख्याग्रहणं निबन्धनम्—'संख्याया अवयवे तयप्' इत्यतः। एवञ्च संख्याग्रहणमनुवर्त्तते। इदमिह द्वितीयम्। तत्र यद्यत्रैकं वाक्यं स्याद् द्वितीयं संख्याग्रहणमनर्थकं स्यात्, सौत्रानुमिताभ्यां तु द्वे वाक्ये क्रियमाणे तदर्थवद्भवति। तस्माद् द्वे अत्र वाक्ये।

द्वौ व्रीहियवावित्यादि। अत्र नोदश्विद्भागस्य द्वौ व्रीहियवौ निमानत्वेन विवक्षितौ, किं तर्हि ? उदश्वितः। एवं द्वौ गुणावित्यादि। अत्र प्रथमासमर्थो गुणस्य निमानेन वर्त्तते। न हि क्षीरस्य भागद्वयेन तैलस्य भागो निमीयते। मयटष्टित्करणं ङीबर्थम्—द्वौ गुडस्यैको द्राक्षाया द्विमयी द्राक्षेति॥

तस्य पूरणे डट् ॥ ४८ ॥

तस्येति षष्ठीसमर्थात्संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् 'पूरणे' इत्यस्मिन्नर्थे डट् प्रत्ययो भवति। पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्। येन संख्या संख्यानं पूर्यते सम्पद्यते स तस्याः पूरणः। एकादशानां पूरण एकादशः। त्रयोदशः। यस्मिन्नुपसञ्जातेऽन्या संख्या सम्पद्यते स प्रत्ययार्थः। इह न भवति--पञ्चानां मुष्टिकानां पूरणो घट इति ॥

पदमञ्जरी

तस्य पूरणे डट् ॥ तस्येत्येकत्वमविवक्षितम्। एकस्य पूरणासम्भवात्, तेन द्व्यादिभ्यो द्विवचनबहुवचनान्तेभ्यः प्रत्ययः। *पूर्यतेऽनेनेति पूरणमिति।* करणे ल्युट्। *पूर्यते इति।* ण्यन्तात्कर्मणि यक्, न प्रकृत्यन्तरात्, कर्तरि श्यन्। यदि संख्यावाचिनः शब्दात्पूरणे प्रत्ययो भवति, इहापि प्राप्नोति-पञ्चानामन्यतो लब्धपञ्चसंख्यानामुष्टिकाणां पूरणो घट इति? तत्राह-*येनेति।* संख्येत्यस्य विवरणम्—*संख्यानमिति।* इह संख्यावाचिनः प्रत्ययो विधीयते, तत्र प्रत्यासत्त्या यस्य संख्यावाचिनो यत्प्रवृत्तिनिमित्तं संख्यानं पञ्चत्वादि, तस्य पूरण इति विज्ञायते; न तु विप्रकृष्टे पञ्चादिशब्दवाच्यानन्तर्भूतम्, यथा 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' कुत्सित इत्यादाविति भावः। *एकादशानां पूरण इति।* तथा वैयाकरणपाश इत्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामपि याप्यो वैयाकरण इति विग्रहः, न तु याप्यं वैयाकरणत्वमिति; तथेहापि संख्यानपूरणे विवक्षिते संख्येयवाचिनापि विग्रहो न विरुध्यते। *एकादश इति।* पुनर्गणनायां क्रियमाणायां चरमबुद्धिस्थेन येनैकादशत्वसंख्या पूर्यते स इति वेदितव्यः। एवं च व्युत्क्रमेणाष्टाध्यायेषु गण्यमानेषु 'समर्थः पदविधिः' इत्यध्यायो यदा चरमं गण्यते तदा निर्माणद्वितीयस्यापि गणनाक्रमेणाष्टमत्वव्यपदेशो भवत्येव। ननु प्रकृत्यर्थव्यतिरिक्तेन प्रत्ययार्थेन भवितव्यम्, इह त्वेकादश-

न्यासः

तस्य पूरणे डट् ॥ इह द्वे संख्याग्रहणे अनुवर्त्तेते, तत्र चैकेन संख्यावाचिनः प्रातिपदिकादिति ब्रुवता प्रकृतिर्विशेषिता। द्वितीयेन तु प्रत्ययार्थं विशेषयितुमाह—येनेत्यादि। संख्यानशब्दं समुच्चारयन् संख्यावचनः संख्यानशब्देन प्रत्ययार्थो विशेष्यते इति दर्शयति। द्विविधो हि संख्याशब्दः—संख्यानवचनः, संख्येयवचनश्च। तत्र यदि संख्येयवचनेन प्रत्ययार्थो विशेष्यते, तदायमर्थः स्यात्—संख्येयं मुष्ट्यादिकं येन पूर्यते द्रव्यान्तरेणातिरिक्तं क्रियते स च पूरण इति, ततश्च पञ्चानां मुष्टिकाणां घट इत्यत्रापि स्यात्। तस्मात् संख्यानवचनेनैव प्रत्ययार्थो विशेषयितुं युक्तः। **सम्पद्यत इति।** पूर्यत इत्यस्यर्थमाचष्टे। एतेनैतद्दर्शयति—संख्यानवचनेन प्रत्ययार्थो विशेष्यते। न मुष्टिकाणामिव द्रव्याणां द्रव्यान्तरेणातिरिक्तकरणं संख्यायाः पूरणम्, किं तर्हि? सम्पत्ति-

नान्तादसंख्यादेर्मट् ॥ ४९ ॥

'डट्' इति वर्तते । नकारान्तात्संख्यावाचिनः प्रातिपदिकादसंख्यादेः परस्य डटो मडागमो भवति । नान्तादिति पञ्चमी डट आगमसम्बन्धे षष्ठीं प्रकल्पयति । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः । सप्तमः ।

पदमञ्जरी

स्वन्तर्भूत एकादशानीयन्तामित्युक्ते एकादशस्याप्यानयनात् ? सत्यम्, समुदायावयवयोस्तु भेदासमुदायः प्रकृत्यर्थोऽवयवः प्रत्ययार्थः, यथा—वृक्षस्यावयवो वार्क्षी शाखेति ॥

नान्तादसंख्यादेर्मट् ॥ *डटो मडागमो भवतीति* । कथं पुनरयमागमः शक्यो विज्ञातुम्, नात्रागमी निर्दिष्टः, यदपि प्रकृतं तदपि प्रथमान्तम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ? अत आह—*नान्तादिति* । पञ्चमीग्रहणं तावदनुवर्तते, न च तस्य विधानार्थानुवृत्तिः, पूर्वमेव विहितत्वात् । न च विशेषविहितेन मटा बाधप्रसङ्गे विधानार्था डटोऽनुवृत्तिः, एवं हि प्रकृतस्य समुच्चयार्थश्चकारः क्रियेत, मट् चेति ; यथान्यत्र । ततोऽनुवृत्तिसामर्थ्यात्षष्ठीप्रक्लृप्तावागमित्वमेव विज्ञायते । कः पुनर्मटः प्रत्ययत्वे आगमत्वे वा विशेषः, यावता तदेव रूपं स एव स्वरः ? सत्यम्; डटि मटि च नास्ति विशेषः, 'विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्' इत्ययं तु तमड्यदि प्रत्ययः स्यादाद्युदात्तः स्याद्, आगमत्वेनागमानुदात्तत्वं भवति, न तु प्रत्ययस्वर इति विंशतितम इत्यस्यान्तोदात्तत्वं भवति ।

न्यासः

रेवेति । इह न भवतीत्यादि । न हि घट उपजाते पञ्चत्वसंख्या मुष्टिकाणां सम्पद्यते । किं तर्हि ? तत्र पञ्चसंख्यकानामेव द्रव्यान्तरेणातिरिक्तता ॥

नान्तादसंख्यादेर्मट् ॥ डटो मडागमो भवतीति । अथ प्रत्यय एव नान्तात् मट् कस्मान्न भवति ? नार्हति प्रत्ययो भवितुम् । प्रत्यये हि तस्मिन् सति डटोऽनुवृत्तिरपार्थिका स्यात्, स हि पूर्वमेव विहितः, न च विहितस्यानुवृत्तिर्विधानार्थोपपद्यत इति । आगमार्थे च सा विज्ञायते । ननु च पञ्चम इत्यादौ न कश्चिद् विशेषः—मट आगमत्वे, प्रत्ययत्वे वा; तदेव हि रूपम्, स एव हि स्वरः, किञ्चानुवृत्तेन, मट एव प्रत्ययत्वमस्तु ? सत्यम् इह नास्ति विशेषः; विंशतितम इत्यादौ तु विद्यते । तथा हि 'विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्' इति मयट्प्रत्ययः स्यात् । विंशतितमप्रभृतयः शब्दाः प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्ताः स्युः । डटि तु प्रत्यये सति तस्याद्युदात्तत्वे कृते ततश्चागमानुदात्तत्वे चान्तोदात्ता भवन्ति । तस्मादुत्तरार्थोऽनुवर्तमानस्येहापि डट एव प्रत्ययत्वं विज्ञायते । कथं पुनर्डटो मडागमः शक्यो विधातुम्, यावता प्रथमानिर्दिष्टं प्रकृतं डड्ग्रहणम्, षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ? इत्याह—नान्तादित्यादि । यद्यपि प्रथमान्तं डड्ग्रहणं प्रकृतम्, तथापि डट आगमसम्बन्धेन 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति नान्तादित्येषा पञ्चमी

नान्तादिति किम् ? विंशतेः पूरणो विंशः । असंख्यादेरिति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ॥

थट् चच्छन्दसि ॥ ५० ॥

नान्तादसंख्यादेः परस्य डटश्छन्दसि विषये थडागमो भवति । चकारात्पक्षे मडपि भवति । पर्णमयानि पञ्चथानि भवन्ति । पञ्चथः । सप्तथः । मट्—पञ्चममिन्द्रियमस्यापाक्रामन् ॥

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥ ५१ ॥

'डट्' इत्यनुवर्तते, तदिह सप्तम्या विपरिणम्यते । षट्, कति, कतिपय, चतुर्—इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । कतिपयशब्दो न

पदमञ्जरी

एकादश इति । नायं संख्यासमुदायः, किं तर्हि ? संख्यान्तरमेव । अत एवात्र डड्भवति; अन्यथा सोऽपि न स्यात् । न हि संख्यासमुदायः संख्याग्रहणेन गृह्यते, यथा जनपदसमुदायो जनपदग्रहणेन—काशिकोशलीयाः । अथाप्ययं संख्यासमुदायः; तथापि संख्याग्रहणेन तत्समुदायो गृह्यत इति ज्ञापनार्थमेव 'असंख्यादेः' इति वक्तव्यम्; तेन सर्वमेव संख्याकार्यमेकादशादीनामपि भवति ॥

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥ *तदिह सप्तम्या विपरिणम्यत इति* । यदि पूर्ववत् षष्ठ्या विपरिणाम इष्टः स्यात्,पञ्चम्या निर्दिशेत्; षष्ठ्या निर्देशात्तु षषादीनामेवागमित्वं विज्ञायते । ततश्चानुवृत्तस्य डटोऽर्थात्सप्तम्या विपरिणाम इत्यर्थः । एवं च कृत्वा षष्ठाष्टमाभ्यां द्वितीयतृतीयचतुर्थेति निर्देश उपपद्यते । *कतिपयशब्दो न संख्येति* । यद्यप्यसावतिप्रचयरहितं बहुत्वमाचष्टे, तथापि लोके संख्यात्वेन न

न्यासः

डडिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयतीत्यदोषः । **पञ्चम इति** । टिलोपोऽत्र न भवति; मटि कृते सत्यभसंज्ञकत्वात् । ननु च परत्वाट् टिलोपेनैव तावद् भवितव्यम् ? नैतदस्ति; अन्तरङ्गो ह्यागमः, स हि प्रत्ययसन्नियोगेनोच्यते । टिलोपस्तूत्पन्ने प्रत्यये भसंज्ञायां सत्यां प्रकृतिप्रत्ययावाश्रित्य भवतीति बहिरङ्गो भवति ।

एकादशानां पूरण एकादश इति । कथं पुनरस्मात् प्राप्तिः, यावता संख्याग्रहणमनुवर्त्तते, संख्यासमुदायोऽपि हि संख्याग्रहणेन गृह्यते—संख्यायतेऽनयेति कृत्वा । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् ; अन्यथाऽदशतया न स्यात् ॥

थट् च छन्दसि ॥ **षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्** ॥ **तदिह सप्तम्येत्यादि** । पूरणाधिकारे ह्ययं विधीयमानो डट्सन्नियोगेन विधीयते । तत्र यद्यपि सप्तमी नास्ति, तथापि डटि परतो विज्ञायते । तेनार्थाद् विभक्तिविपरिणामो भवतीति डडिति यद् वर्त्तते

संख्या। तस्यास्मादेव ज्ञापकाद् डट् प्रत्ययो विज्ञायते। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयथः। चतुर्थः।

❀ चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च ❀। चतुर्णां पूरणः तुरीयः, तुर्यः॥

बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्॥ ५२॥

'डटि' इत्येव। बहु, पूग, गण, सङ्घ—इत्येतेषां डटि परतस्ति-

पदमञ्जरी

प्रसिद्धः, यथा—द्वित्राः पञ्चषा इति। शास्त्रेऽपि नैवास्य संख्यासंज्ञा विहिता, कथं तर्हि डट्प्रत्ययः? इत्याह—*तस्येति*। किं पुनस्थुग्विधीयते, न पञ्चमीनिर्देशेन प्रकृतस्थडेव विधीयेत? नैवं शक्यम्; इह षष्ठ इति जश्त्वं प्राप्नोति, चतुर्थ इति रेफस्य विसर्जनीयस्तस्य च सत्वं प्राप्नोति; थटः परादित्वेन पूर्वस्य पदत्वात्। यदि पुनः पूर्वसूत्रे थुगेव विधीयेत? नैवं शक्यम्; पञ्चथः, सप्तथः—नलोपो न स्यात्। इह लिङ्गविशिष्टपरिभाषया कतिपयशब्दादाबन्तादपि थुग्भवति, तत्र 'भस्याढे तद्धिते' इति डटि विषयभूत एव पुंवद्भावः, कतिपयानां पूरणी कतिपयथीति भवति।

चतुरश्छयताविति। छयद्भ्यां डट् न बाध्यते; डटि परतस्थुग्विधानात्। *आद्यक्षरलोपश्चेति*। अच्सहितं व्यञ्जनमक्षरशब्देनोच्यते, अच्सहितस्यादेर्व्यञ्जनस्येत्यर्थः। व्यञ्जनसहिताज्वचने त्वक्षरशब्दे द्विर्वचनन्यायेन तकारस्यापि लोपः स्यात्॥

बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्॥ अत्रापि षष्ठीनिर्देशाद् बह्वादीनामेवागमित्वम्। *पूगसङ्घयोरित्यादि*रेक एव ग्रन्थः। इह बह्वीनां पूरणीति पूर्ववड्डट् प्रत्ययः पुंवद्भावश्च॥

न्यासः

तदिह सप्तम्या विपरिणम्यते। **कतिपयशब्दो न संख्येति**। लौकिकत्वाभावात् संख्या न भवति; लोकेऽस्य संख्यात्वेनाप्रसिद्धत्वात्। शास्त्रीयोऽपि न भवति; शास्त्रे संख्यासंज्ञाऽविधानात्। यदि न संख्या, कथमस्य डट्, यत्र परतस्थुग् विधीयते? इत्याह—**तस्येत्यादि**। यदेतदड् डटि परतः कतिपयशब्दस्य थुग्विधानं तत एव ज्ञापकाड् डट्प्रत्ययोऽस्य भवतीत्यवसीयते। **षष्ठ इति**। ष्टुत्वम्। टिलोपोऽत्र न भवति; थुग्विधानसामर्थ्यात्। आगमस्य पूर्वान्तकरणं भसंज्ञार्थम्। यदि परादिः क्रियते ततो भसंज्ञा न स्यात्, तथा चासत्याम्, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञा स्यात्। ततश्च षष्ठ इत्यत्र जश्त्वं प्रसज्येत। **चतुर्थ इति**। अत्र रेफस्य 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वम्। पूर्वान्ते तु संज्ञायां सत्यां न भवति॥

बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्॥ **पूगसङ्घयोरसंख्यात्वादिति**। अत्र कथं प्रत्यय इति, पूगसङ्घशब्दौ हि न लौकिकी संख्या, नापि शास्त्रीया, तत् कथं ताभ्यां डट्प्रत्ययः,

थुगागमो भवति । पूगसङ्घशब्दयोरसंख्यात्वादिदमेव ज्ञापकं डटो भावस्य । बहूनां पूरणो बहुतिथः । पूगतिथः । गणतिथः । सङ्घतिथः ॥

वतोरिथुक् ॥ ५३ ॥

'डटि' इत्येव । वतोर्डटि परत इथुगागमो भवति । वत्वन्तस्य संख्यात्वात्पूर्वेण डड्विहितस्तस्मिन्नयमागमो विधीयते । यावतां पूरणो यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ॥

द्वेस्तीयः ॥ ५४ ॥

द्विशब्दात्तीयः प्रत्ययो भवति 'तस्य पूरणे' इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणो द्वितीयः ॥

पदमञ्जरी

वतोरिथुक् ॥ अत्रापि पूर्ववद्वत्वन्तस्यैवागमित्वम् । इह तावतीनां पूरणी तावतिथीति लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्रत्ययः, पुंवद्भावश्च । कथं पुनरत्र लिङ्गविशिष्टपरिभाषा, यावता प्रातिपदिकस्वरूपग्रहणे सा भवतीत्युक्तम् ? यत्रापि प्रातिपदिकविशेषणं स्वरूपेणोपादीयते, तत्रापि सा भवति, यथा—'तृजकाभ्यां कर्त्तरि'—अपां स्रष्ट्रीति । इहापि वतोरिति विशेषणं स्वरूपेणोपादीयते, तेन भवत्येव लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । उक्तं च—बहुकतिपयवस्तूनां लिङ्गविशिष्टादुत्पत्तिः; प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादिति ॥

द्वेस्तीयः ॥ *तीयप्रत्ययो भवतीति* । डटो द्विशब्दस्य चादेशो न भवति; द्वितीयेति निर्देशात् । यद्येवम्, तस्मादेव निर्देशान्न सिद्धमस्य साधुत्वम् ? सिद्ध्यतु साधुत्वम् , पूरणार्थस्तु कथं लभ्यते ! किञ्च तदाश्रयणे प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावात्प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वं स्यात् , 'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इति पक्षे डटः प्रसङ्गश्च ॥

न्यासः

यत्र परतस्तयोस्तिथुग् विधीयते, डटि च विधानम् ? अथात्रोत्तरमाह—इदमेवेत्यादि । यदेतड् डटि परतस्तयोस्तिथुको विधानमेतदेव ज्ञापयति—भवति ताभ्यां डट्प्रत्यय इति । न ह्यसतस्तिथुगागमं प्रति निमित्तभाव उपपद्यते ॥

वतोरिथुक् ॥ यावतिथ इति । 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्', 'आ सर्वनाम्नः' ॥

द्वेस्तीयः ॥ द्विशब्दात् तीयप्रत्ययो भवतीति । अथ द्विशब्दादुत्तरस्य डटस्तीयादेशः कस्मादेव न भवति ? ज्ञापकत्वात् । यदयम् 'कर्मणि द्वितीया' इति टापा निर्देशं करोति, तज्ज्ञापयति—नायमादेश इति । यद्येवमनेनैव सिद्धत्वात् प्रत्ययविधानमनर्थकम् ? न; स्वरार्थत्वात् । निपातनाद्धि प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः स्यात् । तीयप्रत्यये तु प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तो भवति । किञ्च—यदि प्रत्ययो न विधीयते 'बाधकान्यपि

त्रेः संप्रसारणं च ।। ५५ ।।

त्रिशब्दात्तीयः प्रत्ययो भवति 'तस्य पूरणे' इत्येतद्विषये। तत्सन्नियोगेन त्रेः संप्रसारणं च भवति। डटोऽपवादः। त्रयाणां पूरणस्तृतीयः। 'हलः' इति संप्रसारणस्य दीर्घत्वं न भवति। 'अणः' इति तत्रानुवर्त्तते—'ढ्रलोपे' इत्यतः, पूर्वेण च णकारेणाण्ग्रहणम् ।।

विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ।। ५६ ।।

विंशत्यादिभ्यः परस्य डटस्तमडागमो भवत्यन्यतरस्याम्। पूरणाधिकाराद् डट् प्रत्यय आगमी विज्ञायते। विंशतेः पूरणः विंशतितमः, विंशः। एकविंशतितमः, एकविंशः। त्रिविंशतितमः, त्रिविंशः। त्रिंशत्तमः, त्रिंशः। एकत्रिंशत्तमः, एकत्रिंशः।

पदमञ्जरी

त्रेः सम्प्रसारणं च ।। *अण इति तत्रानुवर्त्तत इति*। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यतः। एवमपि यदि परेण णकारेण प्रत्याहारः स्यात्पुनरपि स्यादेव दीर्घः, स तु न तथा? इत्याह—*पूर्वेणेति*। एतच्च 'लण्' इत्यत्रैव प्रतिपादितम्।

'त्रेस्तृ च' इति नोक्तम्, प्रत्ययो मा विज्ञायीति ।।

विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ।। *विंशत्यादिभ्यः परस्येति*। कथं पुनः 'द्वेस्तीयः' इति तीयप्रत्ययेन विच्छिन्नस्य डट आगमित्वं शक्यं विज्ञातुम्? तत्राह—*पूरणाधिकारादिति*। सत्यं डट्प्रत्ययो विच्छिन्नः; पूरणार्थस्तु न विच्छिन्नः, सोऽनुवर्त्तते, तेन पूरणे यो विहितः स आगमी विज्ञायते। न च डटोऽन्यो विंशत्यादिभ्यः पूरणे विहितोऽस्ति।

न्यासः

निपातनानि भवन्ति, इति डडपि स्यात्। यदि पुनरयं डडादेशः स्यात्, तर्हि किं स्यात्? डट्स्वरेण तीयशब्दोऽन्तोदात्तः स्यात्, स्त्रियां च टित्वान्ङीप्, ततश्च द्वितीयेति निर्देशो नोपपद्यते ।।

त्रेः संप्रसारणञ्च ।। **अण इति तत्र वर्त्तत इति**। 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यतः। ननु च परेण णकारेणाण्ग्रहण ऋकारोऽप्यण् भविष्यति? इत्यत आह—**पूर्वेण** चेत्यादि।

अत्र 'त्रेस्तृ च' इत्येवं कस्मान्नोक्तम्? अशक्यमेवं वक्तुम्, एवं ह्युच्यमाने सन्देहः स्यात्—किमयमादेशः, उत प्रत्ययः? इति ।।

विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ।। **विंशत्यादिभ्यः परस्येत्यादि**। ननु च तीयप्रत्ययेन डड् व्यवहितः, तत् कथं तमडागमः शक्यो विज्ञातुम्? अत आह—**पूरणाधिकारादिति**। पूरणार्थे यो विहितस्तस्य विंशत्यादिभ्यः परस्य तमड् विधीयते, स नान्यो डटः सम्भवतीति डडेव विज्ञायते।

विंशत्यादयो लौकिकाः संख्याशब्दा गृह्यन्ते, न पङ्क्त्यादिसूत्र-सन्निविष्टाः। तद्ग्रहणे ह्येकविंशतिप्रभृतिभ्यो न स्यात् ; ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात्। एवं च सति 'षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः' इति पर्युदासो युज्यत एव ॥

पदमञ्जरी

कः पुनः पङ्क्त्यादिसूत्रनिर्दिष्टानां ग्रहणे सति दोषः ? तत्राह—*तद्ग्रहणे हीति*। स्यादेतत्—तदन्तविधिना एकविंशतिप्रभृतिभ्योऽपि भविष्यतीति ? तत्राह—*ग्रहणवतेति*। ननु यदयं 'षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः' इत्याह, तज्ज्ञापयति—भवति पूरणप्रकरणे तदन्तविधिरिति। तेनैकविंशतिप्रभृतिभ्योऽपि भविष्यति। अस्त्वेतत्, केवलेभ्यस्तु न स्यात्, अतदन्तत्वात्। व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति, 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन'। *एवं चेत्यादि*। लौकिकानां विंशत्यादीनां यदीदं ग्रहणम्, तदा 'षष्ट्यादेश्च' इत्यत्रापि लौकिकानामेव षष्ट्यादीनां ग्रहणम्, ततश्चैकषष्टिप्रभृतिभ्यो नित्यस्य तमटः प्रसङ्गे 'असंख्यादेः' इति पर्युदासो युज्यत एव, न कथञ्चिन्न युज्यते; अनिष्टलेशस्याभावात्। सूत्रसन्निविष्टानां तु ग्रहणे तदन्तविधिज्ञापनार्थं पर्युदासो युज्यते। केवलं न तु युज्यत एव, केवलानामप्रसङ्गादिति तावद्वृत्तेरर्थः। यथा तु भाष्यं तथा सूत्रसंनिविष्टानां ग्रहणम्, ज्ञापनाच्च तदन्तविधिरिति स्थितम्। न च केवलानामप्रसङ्गस्तदन्तानामपि भवतीति ज्ञापनशरीरम्, न तु तदन्तानामेव भवतीति। यदि वा यत्र प्रातिपदिकस्य श्रुतिरस्ति—'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन', व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति, तदुभयमपि न प्रवर्त्तते इति सामान्येन ज्ञापनम्। एवं च कृत्वेदमपि सिद्धं भवति—एकान्नविंशतेः पूरणः एकान्नविंशतितम इति। भवति ह्येतत्सूत्रसन्निविष्टविंशत्यन्तं संख्यादि संख्यावाचि च। लौकिकानां तु ग्रहणे नैतत्सिध्यति; विंशतेः प्राग्भावित्वादस्यास्संख्यायाः ॥

न्यासः

विंशत्यादयो लौकिकाः संख्याशब्दा गृह्यन्त इति। व्याप्तेर्न्यायात्। ते पुनर्विंशत्येकविंशतिप्रभृतयः संगृहीता भवन्ति। किं पुनः स्याद् यदि पङ्क्त्यादिसूत्रे सन्निविष्टा गृह्येरन् ? इत्याह—**तत्र ग्रहणे ह्येकविंशतिप्रभृतिभ्यो न स्यादिति**। पङ्क्त्यादिसूत्रेण तेषामसन्निविष्टत्वात्। स्यादेतत्। तदन्तविधिना तेभ्योऽपि भविष्यति ? इत्यत आह—**ग्रहणवतेत्यादि**। ननु च 'असंख्यादेः' इति प्रतिषेधात् तदन्तविधिरिति विज्ञायते ? नैवं शक्यम्; 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति केवलेभ्यो न स्यात्। **एवञ्चेत्यादि**। लौकिकानां ग्रहणे सति विंशत्यादिभ्यः प्राप्तौ सत्याम्। **षष्ट्यादेश्चासंख्यादेरिति पर्युदासो युज्यत इति**। अन्यथा कथञ्चिन्न प्रयुज्यते। सूत्रसन्निविष्टानां तु ग्रहणे तदन्तविधिज्ञापनार्थः पर्युदासो न प्रयुज्यत एव; केवलानामप्राप्तिप्रसङ्गात् ॥

नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ॥ ५७ ॥

शतादयः संख्याशब्दा लौकिका गृह्यन्ते । शतादिभ्यो मासार्धमाससंवत्सरशब्देभ्यश्च परस्य डटो नित्यं तमडागमो भवति । मासादयः संख्याशब्दा न भवन्ति, तेभ्योऽस्मादेव ज्ञापकाद् डट्प्रत्ययो विज्ञायते । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।

'षष्टयादेश्चासंख्यादेः' इति वक्ष्यमाणेन सिद्धे शतादिग्रहणं संख्याद्यर्थम् । एकशततमः । द्विशततमः ॥

षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ॥ ५८ ॥

षष्टयादेः संख्याशब्दादसंख्यादेः परस्य डटो नित्यं तमडागमो भवति । 'विंशत्यादिभ्यः' इति विकल्पेन प्राप्ते नित्यार्थम् । षष्टितमः । सप्ततितमः[1] ?

पदमञ्जरी

नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ॥ मासादय इत्यादिर्विज्ञायत इत्यन्त एको ग्रन्थः ।

अथ शतादिग्रहणं किमर्थम्, यावता 'षष्ट्यादेश्च' इति वक्ष्यमाणेनैव सिद्धम् ? तत्राह--*षष्ट्यादेरित्यनेनैवेति* । यदि तेन स्याद्, एकशतादिभ्यो न स्याद्; असंख्यादेरिति प्रतिषेधात् ॥

षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ॥ संख्यादेस्तु विकल्प एव भवतीति । न ह्ययं विकल्पस्यापि प्रतिषेधः । पर्युदासो ह्ययं संख्यादेः, न विधिर्न प्रतिषेधः, यदि केनचित् प्राप्नोति भवत्येव, पूर्वेण च प्राप्नोति, प्रसज्यप्रतिषेधेऽप्यनन्तरा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते, न व्यवहिता ॥

न्यासः

नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ॥ शतादिग्रहणमित्यादि । संख्यादिभ्यः शतादिभ्यो यथा स्यादित्येवमर्थं शतादिग्रहणम् । अथ नित्यग्रहणं किमर्थम्, यावताऽऽरम्भसामर्थ्यादेव नित्यो विधिर्भविष्यति ? भवेच्छतादिभ्य आरम्भसामर्थ्यादित्येवम् । मासादिभ्यस्त्वन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तेर्विभाषा स्यात् । ननु चास्वरितत्वादेव निवर्त्तिष्यतेऽन्यतरस्यांग्रहणम् ? विस्पष्टार्थं तर्हि नित्यग्रहणम् ॥

षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ॥ प्राक्शतात् षष्ट्यादयो विज्ञेयाः । शतादीनां स्वशब्देन तमटो विधानात् ॥

---

१. 'अशीतितमः, नवतितमः'—इत्यधिकं पुस्तकान्तरे ।

असंख्यादेरिति किम् ? एकषष्टः । एकषष्टितमः । एकसप्तः । एकसप्ततितमः ॥

मतौ छः सूक्तसाम्नोः ॥ ५९ ॥

'मतौ' इति मत्वर्थ उच्यते । प्रातिपदिकान्मत्वर्थे छः प्रत्ययो भवति सूक्ते सामनि चाभिधेये । मत्वर्थग्रहणेन समर्थविभक्तिः, प्रकृतिविशेषणम्, प्रत्ययार्थ इति सर्वमाक्षिप्यते । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्निति अच्छावाकीयं सूक्तम् । मित्त्रावरुणीयम् । यज्ञायज्ञीयं साम । वारवन्तीयम् ।

पदमञ्जरी

मतौ छः सूक्तसाम्नोः ॥ मताविति मत्वर्थ उच्यत इति । साहचर्याद् मुख्यस्य ग्रहणं न भवति । कथं हि मतुरभिधेयः स्याच्छब्दस्य शब्दः ? *मत्वर्थग्रहणेनेत्यादि ।* समर्थविभक्तिः प्रथमा, प्रकृतेरर्थद्वारकं विशेषणम् अस्तित्वम्, प्रत्ययार्थः—अस्यास्मिन्निति च । तत्र यद्यपि प्रत्ययार्थो मतोरभिधेयम्, इतरदनभिधेयम्; तथापि साहचर्यमविशिष्टमिति सर्वमेतदाक्षिप्यते=सन्निधाप्यते, उपस्थाप्यत इत्यर्थः । अथ वा—प्रधानवशवर्तित्वाद् गुणानां प्रधाने प्रत्ययार्थे उपस्थापिते समर्थविभक्त्यादिकमपि गुणभूतमुपस्थाप्यते एव, आचमनादिवत्, यथा—ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्युक्तेऽनुक्ता अप्याचमनादयोऽङ्गभूता आक्षिप्यन्ते ।

इहास्यवाम इत्यस्मिन्नस्तीति षष्ठीप्रथमयोरुपलम्भादनेकपदसमुदायोऽयम्, ततश्चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति प्रातिपदिकसंज्ञाया अभावादेवंविधेभ्यः प्रत्ययो न प्राप्नोतीत्यत आह—*अनुकरणशब्दाश्चेति । स्वरूपमात्रप्रधान इति ।* नात्र तदानीमुच्चरितमनुकरणस्वरूपं विवक्षितम्, किं तर्हि ? अनुकार्यस्वरूपम् । मात्रशब्दो बाह्यार्थव्यवच्छेदार्थः, एतदुक्तं भवति—यथा गवादयः शब्दाः सास्नादिमदाकृतिमर्थं प्रत्याययन्तस्तेनार्थेन तद्वति मतुपमुत्पादयन्ति–गोमान्, वृक्षवानिति; तथानुकरणशब्दाः प्रथमासमर्थाः स्वेनानुकार्येण

न्यासः

मतौ छः सूक्तसाम्नोः ॥ मताविति मत्वर्थ उच्यते; साहचर्यात् । मत्वर्थेनेत्यादि । समर्थविभक्तिः प्रथमा, प्रकृतिविशेषणम्–अस्तित्वम्, प्रत्ययार्थः–अस्यास्मिन्निति च, सर्वमेतद् मत्वर्थग्रहणेन आक्षिप्यत इति । सन्निधाप्यते, उपस्थाप्यत इत्यर्थः । युक्तं यन्मतुब्ग्रहणे प्रत्ययार्थ आक्षिप्यते; तस्य तद्विषयत्वात् । समर्थविभक्त्यादि कथमाक्षिप्यते ? अर्थसाहचर्य्यात् ।

अथ वा–प्रधानानुवृत्तित्वाद् गुणानाम्, प्राधान्येन प्रत्ययार्थ उपस्थापिते प्रत्ययसामर्थ्यात् तदपि गुणभूतमुपस्थाप्यत एव । इहास्यवामादिशब्दोऽनेकपदान्तत्वाद् वाक्यम् । वाक्यस्य चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति प्रातिपदिक-

अनुकरणशब्दाश्च स्वरूपमात्रप्रधानाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति, तेनानेकपदादपि सिद्धम्—अस्यवामीयम्, कयाशुभीयम् ॥

पदमञ्जरी

तद्वति छप्रत्ययमिति। तत्र 'अनुकरणशब्दाः' इत्यनेन पदसमुदायत्वं निरस्यति। अनुकार्यो हि पदसमुदायः, न त्वनुकरणम्। किं पुनरन्यदनुकार्यमनुकरणं च, ननु रूपभेदो नोपलभ्यते ? यद्यप्येवम् , तथाप्यर्थभेदाद् भेदः, अनुकार्यस्य बाह्योऽर्थः,अनुकरणस्य तु तदेवानुकार्यम्। अत एवास्यवामीयमित्यादौ विभक्त्यर्थाप्रतिपादनात्सुप्त्वाभावात्स्यशब्दादीनां लुग्न भवति। ये चाम्नायशब्दानां नियमाः— 'श्मशाने नाध्येयम्', 'चतुर्दश्यां नाध्येयम्', 'शूद्रस्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणम्' इत्येवमादयः, तेऽप्यनुकरणेषु न भवन्ति। अस्यवामीयमिति हि सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां च सकाशे प्रयुज्यते। तस्मादन्येऽनुकरणशब्दाः। अनुकार्यशब्दाश्च स्वरूपमात्रप्रधाना इत्यनेन त्वर्थवत्त्वमाह।

अनेकपदादपीति। अनेकं पदं यत्र समुदाये तस्मादपीत्यर्थः। परप्रसिद्धया चैवमुच्यते, यम्भवाननेकपदसमुदायं मन्यते तस्मादपीत्यर्थः। न त्वत्र वस्तुतोऽनेकपदत्वमस्ति—अस्यवामीयमिति, अस्य वामस्येति वेदे यत्पदद्वयं पठितं तदेकदेशस्यास्यवामशब्दस्य छप्रत्ययप्रकृतिरस्यवामशब्दः प्रतिपादक इत्यर्थवत्त्वम्, पदसमुदायत्वाभावाच्च प्रातिपदिकत्वे सति प्रत्ययः। किं पुनरत्र छप्रत्ययप्रकृतेरनुकरणत्वे प्रमाणम् ? छप्रत्यय एव। न ह्यसावनुकरणत्वमन्तरेण सम्भवति। तस्मादितिशब्दवच्छप्रत्ययोऽप्यनुकरणत्वे प्रमाणम् ॥

न्यासः

संज्ञा नास्ति, अतस्तेभ्यो न प्राप्नोति; अप्रातिपदिकत्वादिति यश्चोदयेत् , तं प्रत्याह—**अनुकरणशब्दाश्चेत्यादि**। अनुकरणग्रहणेन च वाक्यत्वमस्यवामप्रभृतीनां निरस्यति। न ह्यनुकरणशब्दानामवयवभूतानि पदानि सन्ति, तत् कुतस्तेषां वाक्यत्वम् ? यतः प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यात्। स्वरूपमात्रप्रधाना इत्यनेनार्थवत्त्वं तेषां दर्शयति। अनर्थकत्वे ह्यर्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञाविधानात् प्रातिपदिकत्वं न स्यात्। तथा च स एव प्रत्ययाभावः प्रसज्येत। मात्रशब्दोऽर्थान्तरव्यवच्छेदाय। स्वरूपमात्रं प्रधानमभिधेयं येषां ते तथोक्ताः। चशब्दो यस्मादर्थे। यस्मादनुकरणशब्दाः स्वरूपमात्रप्रधानाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति, तेनानेकपदादपि प्रत्ययाख्यं कार्यं सिद्धम्; तस्य प्रातिपदिकत्वात्। अप्रातिपदिकत्वञ्च वाक्यत्वादनर्थकत्वाद्वा भवेत्। न चास्यवामप्रभृतीनां वाक्यत्वम्; अनुकरणशब्दत्वात्। नाप्यनर्थकत्वम्; स्वरूपमात्रेणार्थवत्त्वात्। यदि ह्यस्यवामेत्यादावनुकरणशब्देनानेकानि पदान्यस्यावयवभूतानि सन्ति तत् कथं तेनानेकपदादपि सिद्धमित्युक्तम् ? परप्रसिद्धया पदस्य। अस्यवामादयोऽप्येवम्, एषामनेकावयवाः प्रसिद्धाः; तस्मात् तत्प्रसिद्धयैवमुक्तम्; न तु विद्यमानानेकपदत्वाद्।

अध्यायानुवाकयोर्लुक् ॥ ६० ॥

'मतौ' इत्येव । मत्वर्थ उत्पन्नस्य छस्य लुग्भवति, अध्यायानुवाकयोरभिधेययोः । केन पुनरध्यायानुवाकयोः प्रत्ययः ? इदमेव लुग्वचनं ज्ञापकं तद्विधानस्य । विकल्पेन लुगयमिष्यते । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डोऽध्यायः, अनुवाको वा; गर्दभाण्डीयः । दीर्घजीवितः, दीर्घजीवितीयः । पलितस्तम्भः, पलितस्तम्भीयः ॥

पदमञ्जरी

अध्यायानुवाकयोर्लुक् ॥ *केन पुनरिति* । सूक्तसाम्नोरेव छो विहित इति प्रश्नः । *इदमेवेति* । न ह्यसतो लुग्विधानमुपपद्यते । *विकल्पेन चेति* । तत्कथं

न्यासः

अथ कथमनुकरणशब्दाः स्वरूपमात्रप्रधाना भवन्ति, यावतानुकार्यमेव तेषामभिधेयम्, अतस्तदेव प्रधानस्वरूपम् ? नैतदस्ति; इह हि प्रथमासमर्थादस्तिना समानाधिकरणात् प्रत्ययो विधीयते । अनुकरणशब्दाश्चानुक्रियमाणेनार्थेनार्थवन्तोऽपि प्रत्यवमृष्टा इतिकरणेन शब्दशब्देन वा प्रथमासमर्थास्तिसमानाधिकरणा भवन्ति । अर्थे हि गुणीभूतानां प्रथमासमर्थत्वमस्त्युपाधिकत्वञ्च नोपपद्यते । तथा ह्यस्यवामोऽस्मिन्नस्तीत्युक्तेऽनुकरणप्रत्यायितस्यानुकार्यस्यैव शब्दस्य प्रथमासमर्थत्वमस्त्युपाधिकत्वञ्च गम्यते, न त्वनुकरणशब्दस्य । तस्मादितिकरणेन शब्दशब्देन वाऽवश्यम्भावी प्रत्यवमर्शः । अस्यवाम इत्यस्मिन्नस्त्यस्यवामशब्दो वास्मिन्नस्तीति भेदानुक्रियमाणपदार्थता निवर्त्तते, स्वरूपपदार्थतैवानुजायते । नन्वेवं सति मत्वर्थो नोपपद्यते, अनुकार्या ह्याम्नायशब्दाः सूक्तसाम्नोः सन्ति, न तु तदनुकरणशब्दा लौकिकादयः ? नैष दोषः; वाक्ये स्वातन्त्र्यहेतोरिति करणादेः सन्निधौ तेन प्रत्यवमृश्यमाना अनुकरणशब्दाः स्वरूपेणार्थवन्तो भवन्ति, वृत्तौ त्वनुकार्येणैव; तत्र स्वातन्त्र्यहेतोरितिकरणादेरभावात् । वृत्तावेव सूक्तसामनी मत्वर्थवत्तया वक्तुमिष्टे, न वाक्य इति किमत्र नोपपद्यते ! अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभाशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् । योगश्चायं मत्वर्थीयानामपवादः ॥

अध्यायानुवाकयोर्लुक् ॥ अनन्तरसूत्रे सूक्तसाम्नोरेव छस्य विहितत्वात् प्रकरणान्तरे च क्वचिदध्यायानुवाकयोश्छस्याविधानात् पृच्छति—**केन पुनरित्यादि** । न ह्यसतस्तस्य लुगुपपद्यते, आह एवायं लुकम्, अत एतदेव लुग्ववचनं ज्ञापयति—अध्यायानुवाकयोश्छस्य विधानमस्तीति । **विकल्पेन चेत्यादि** । चशब्दोऽवधारणे, विकल्पेनैवेत्यर्थः । कथं पुनर्विकल्पेन लभ्यते ? 'विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्' इत्यन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तेः । यद्येवम्, पूर्वत्रापि विकल्पेन विधिः प्राप्नोति ? मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवृत्तिर्भविष्यतीत्यदोषः ॥

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥ ६१ ॥

'मतौ' इत्येव, 'अध्यायानुवाकयोः' इति च। विमुक्तादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, अध्यायानुवाकयोरभिधेययोः। विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायः, अनुवाको वा। दैवासुरः।

विमुक्त। देवासुर। वसुमत्। सत्वत्। उपसत्। दशार्हपयस्। हविर्द्धान। मित्री। सोमापूषन्। अग्नाविष्णू। वृत्रहति। इडा। रक्षोसुर। सदसत्। परिषादक्। वसु। मरुत्वत्। पत्नीवत्। महीयल। दशार्ह। वयस्। पतत्रि। सोम। महित्री। हेतु[1]। विमुक्तादिः॥

गोषदादिभ्यो वुन् ॥ ६२ ॥

'मतौ' इत्येव, 'अध्यायानुवाकयोः' इति च। गोषदादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वुन्प्रत्ययो भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोः। गोषदशब्दोऽस्मिन्नस्ति गोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा। इषेत्वकः। मातरिश्वकः।

गोषद। इषेत्व। मातरिश्वन्। देवस्यत्वा। देवीरापः। कृष्णोस्याखरेष्टः। दैवींधियम्। रक्षोहण। अञ्जन। प्रभूत। प्रतूर्त। कृशानु[2]। गोषदादिः॥

पदमञ्जरी

मतुप्प्रकरणे एवास्मिन्सूत्रे कर्तव्ये तदत्र छस्य लुग्विधानम्? तस्मात्पाक्षिको लुगनुमीयते। अत्र केचिदाहुः—अनुवाकसाहचर्याद्वैदिकोऽध्यायो गृह्यत इति। अन्ये पुनः—पौरुषेयग्रन्थविशेषस्याप्यध्यायस्य ग्रहणमिच्छन्ति। तथा च 'दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः' इत्यादिवैद्यकग्रन्थेषु दृश्यते॥

न्यासः

विमुक्तादिभ्योऽण्॥ पूर्वेणच्छे तस्य च पक्षे लुकि प्राप्ते विमुक्तादिभ्योऽण्विधीयते॥

गोषदादिभ्यो वुन्॥ 'अध्यायानुवाकयोर्लुक्' इति च्छस्य च लुकि प्राप्ते गोषदादिभ्यो वुनारभ्यते॥

---

१. अस्यहत्य, दशार्ण, उर्वशी, सुपर्ण—एते शब्दाः पुस्तकान्तरेऽत्र गणेऽधिकाः।

२. युञ्जान, सहस्रशीर्षा, वातस्यते, कृशाश्व, स्वाहाप्राण, प्रसुप्त—एते शब्दा अत्र गणेऽधिकाः पुस्तकान्तरे।

तत्र कुशलः पथः ॥ ६३ ॥

'वुन्' इत्येव । तत्रेति सप्तमीसमर्थात्पथिन्शब्दात् 'कुशलः' इत्यस्मिन्नर्थे वुन्प्रत्ययो भवति । पथि कुशलः पथकः ॥

आकर्षादिभ्यः कन् ॥ ६४ ॥

'तत्र' इत्येव, 'कुशलः' इति च । आकर्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः 'कुशलः' इत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । त्सरुकः ।

आकर्ष । त्सरु । पिपासा । पिचण्ड । अशनि । अश्मन् । विचय । चय । जय । आचय । अय । नय । निपाद । गद्गद । दीप । ह्रद । ह्राद । ह्लाद । शकुनि[1] । आकर्षादिः ॥

पदमञ्जरी

तत्र कुशलः पथः ॥ *पथि कुशल इति* । 'आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्' इति सप्तमी, कौशलस्य क्रियाविषयत्वात्पथिन्शब्देन गमनादिका तद्विषया क्रिया लक्ष्यते । योगश्चायम् 'कृतलब्धक्रीतकुशलाः' इत्यणोऽपवादः ॥

आकषादिभ्यः कन् ॥ आकषत्यस्मिन्सुवर्णादिकमित्याकषः, 'पुंसि संज्ञायाम्' इति घः । 'हलश्च' इति घञ् तु न भवति; प्रायग्रहणानुवृत्तेः, यथा निकष इति । ये तु *आकर्षादिभ्य* इति सरेफं पठन्ति, तेषामाकृष्यतेऽस्मिन्निति घञि रूपम् । *त्सरुक इति* । 'त्सर छद्मगतौ', 'भृमृशृ' इत्यादिनौणादिक उप्रत्ययः । त्सरुः= खड्गग्रहणप्रदेशः । एतदर्थं प्रत्ययान्तरकरणमिवर्णान्तार्थं च । अकारान्तेष्वाकर्षादिषु प्रकृतेन वुनापि सिद्धम् ॥

न्यासः

तत्र कुशलः पथः ॥ 'कृतलब्धक्रीतकुशलाः' इत्यणि प्राप्ते वुन् विधीयते ॥

आकर्षादिभ्यः कन् ॥ आकर्षादिषु यद्वृद्धं ततश्छे प्राप्ते शेषेभ्यस्त्वणि कन्विधीयते । प्रत्ययान्तरकरणम्—यदत्रोकारान्तं तस्यात्र गुणो मा भूत्, यच्चेकारान्तं तस्य यस्येतिलोपो मा भूदित्येवमर्थम् । वुनि तु सति तदुभयं प्रसज्येत । तत् पुनरिहाशिष्टं प्रसज्येत । तस्य पुनर्वुनि कनि वा सति न कश्चिद् विशेष इति न तत्प्रत्ययान्तरं प्रयोजयति ॥

---

1. पिशाच, पिण्ड—एतौ शब्दौ पुस्तकान्तरेऽत्र गणेऽधिकौ ।

धनहिरण्यात्कामे ॥ ६५ ॥

'तत्र' इत्येव, 'कन्' इति च। धनहिरण्यशब्दाभ्यां तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्याम् 'कामे' इत्यस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति। कामः= इच्छा, अभिलाषः। धने कामः धनको देवदत्तस्य। हिरण्यको देवदत्तस्य ॥

स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ॥ ६६ ॥

'तत्र' इत्येव, 'कन्' इति च। स्वाङ्गवाचिभ्यः शब्देभ्यस्तत्रेति सप्तमीसमर्थेभ्यः 'प्रसिते' इत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति। प्रसितः= प्रसक्तः, तत्पर इत्यर्थः। केशेषु प्रसितः केशकः। केशादिरचनायां प्रसक्त एवमुच्यते।

बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायशब्दादपि यथा स्यात्—दन्तौष्ठकः। केशनखकः ॥

पदमञ्जरी

धनहिरण्यात् कामे ॥ *काम इच्छेति*। कामयिता तु न गृह्यते; अनभिधानात् ॥

स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ॥ *प्रसितः प्रसक्त इति*। 'षिञ् बन्धने' कर्मणि क्तः, यो यत्र प्रसक्तः स तत्र प्रकर्षेण बद्ध इव भवतीत्युपमानादिदमभिधानम्। *केशेषु प्रसित इति*। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तमी। *केशादिरचनायामिति*। केशादिस्थायां रचनायां केशादिशब्दस्य वृत्तिं दर्शयति। एतच्च क्रियाविषयत्वात् प्रसक्तेर्लभ्यते।

बहुवचनमित्यादि। स्वरूपविधिनिरासार्थं तु बहुवचनं न भवति, 'अद्रवम्' इत्यादिना स्वाङ्गस्य परिभाषितत्वेन स्वरूपग्रहणासम्भवात् ॥

न्यासः

धनहिरण्यात् कामे ॥ धने काम इति। धनविषय इच्छेत्यर्थः ॥

स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ॥ प्रसित इति। यद्यपि सिनोतिरयम् 'षिञ् बन्धने' इति बन्धने पठ्यते, तथाप्यनेकार्थत्वादिहासक्तौ वर्त्तते। केशेषु प्रसित इति। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया' इति सप्तमी। आसक्तिश्च क्रियाविषयो धर्म इति केशादिस्थानबला क्रिया केशादिशब्देनोच्यते। अत एवाह—केशादिरचनायां प्रसक्त एवमुच्यत इति।

बहुवचनं स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यादिति। असति हि तस्मिन्, यथा जनपद-समुदायो जनपदग्रहणेन न गृह्यते, तथा स्वाङ्गसमुदायोऽपि स्वाङ्गग्रहणेन नेति स्वा-ङ्गसमुदायान्न स्यात्, तस्मिंस्तु सति भवति; अन्यथा तस्य प्रयोजनाभावात्। स्वरूप-विधिनिरासस्तस्य प्रयोजनमिति चेत्? न; 'अद्रवम्' इत्यादिना स्वाङ्गस्य परिभाषि-तत्वेन स्वरूपविधेरसम्भवात्।

उदराट्ठगाद्यूने ॥ ६७ ॥

'तत्र' इत्येव, 'प्रसिते' इति च। उदरशब्दात्सप्तमीसमर्थात् 'प्रसिते' इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। 'आद्यूने' इति प्रत्ययार्थ-विशेषणम्। उदरेऽविजिगीषुर्भण्यते। यो बुभुक्षयाऽत्यन्तं पीड्यते स एवमुच्यते। उदरे प्रसित औदरिक आद्यूनः।

आद्यून इति किम्? उदरकः॥

सस्येन परिजातः ॥ ६८ ॥

कन्प्रत्यय इत्येव स्वर्यते, न ठक्। निर्देशादेव तृतीया समर्थ-विभक्तिः। सस्यशब्दात्तृतीयासमर्थात् 'परिजातः' इत्यस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति। सस्यशब्दोऽयं गुणवाची। परिः सर्वतो भावे वर्त्तते। यो गुणैः सम्बद्धो जायते, यस्य किञ्चिदपि वैगुण्यं नास्ति, तस्येदमभिधानम्। सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः। सस्यकः साधुः। सस्यको मणिः। आकरशुद्ध इत्यर्थः॥

पदमञ्जरी

उदराट्ठगाद्यूने॥ *आद्यूनो विजिगीषुरिति*। 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति तत्र निष्ठानत्वविधानात्। *उदरक इति*। उदरपरिमार्जनादौ प्रसित उच्यते॥

सस्येन परिजातः॥ सस्यशब्दो गुणवाचीति। न धान्यवाची; अनभिधानात्। केचित्तु 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' इति क्यबन्तं शस्यशब्दं पठन्ति। सस्येनेति कर्त्तरि तृतीया। परिगतो जातः *परिजातः*, 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इति समासः। समन्तात्सम्बद्धः परिगतः, तत्र सस्यस्य कर्तृत्वम्, तदाह—*यो गुणैः सम्बद्धो जात इति*॥

न्यासः

उदराट्ठगाद्यूने॥ पूर्वेण कनि प्राप्ते ठग् विधीयते। **आद्यूनोऽविजिगीषुरिति**। 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इत्यविजिगीषायामेव दिवो निष्ठातकारस्य नत्वविधानात्। **उदरक इति**। पूर्वेण कनेव भवति॥

सस्येन परिजातः॥ **सस्येनेति** सहयोगलक्षणे तृतीया, इत्थम्भूतलक्षणे वा। **सस्य-शब्दोऽयं गुणवाचीति**। सस्यशब्दो ह्ययं धान्यवचनोऽप्यस्ति, यथा—शालिः सस्यम्, यवाः सस्यमिति; तस्य ग्रहणं मा विज्ञायीत्येवमर्थमिदमुक्तम्—**इदमभिधानमिति**। **सस्यक इत्येतत्** कन्प्रत्ययान्तम्॥

अंशं हारी ॥ ६९ ॥

अंशशब्दान्निर्देशादेव द्वितीयासमर्थाद् 'हारी' इत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति । अंशं हारी अंशको दायादः । अंशकः पुत्रः ।

'हारी' इत्यावश्यके णिनिः, तत्र षष्ठीप्रतिषेधाद् कर्मणि द्वितीयैव भवति ॥

तन्त्रादचिरापहृते ॥ ७० ॥

तन्त्रशब्दान्निर्देशादेव पञ्चमीसमर्थाद् 'अचिरापहृते' इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति । अचिरापहृतः=स्तोककालापहृत इत्यर्थः । तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः । तन्त्रकः प्रावारः । प्रत्यग्रो नव उच्यते ॥

ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ॥ ७१ ॥

ब्राह्मणक, उष्णिक—इत्येतौ शब्दौ कन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते संज्ञायां विषये । ब्राह्मणको देशः । उष्णिका यवागूः ।

पदमञ्जरी

अंशं हारी ॥ *तत्र षष्ठीप्रतिषेधादिति* । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इत्यनेन । ननु तत्र भविष्यदधिकारविहितस्याकस्य ग्रहणम्? सत्यम्; इनस्त्वविशेषेण ग्रहणम्, अस्मादेव द्वितीयानिर्देशात् ॥

तन्त्रादचिरापहृते ॥ तन्यन्ते तन्तवोऽस्मिन्निति तन्त्रम्=तन्तुवायशलाका, तन्त्रयतेर्वा एरचि णिलोपः । *अचिरापहृत इति* । अचिरः कालोऽपहृतस्येति 'कालाः परिमाणिना' इति समासः । *पञ्चमीसमर्थादिति* । अपहृतयोगे 'अपादाने पञ्चमी' ॥

ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ॥ *कन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते इति* । किं पुनरत्र निपा-

न्यासः

अंशं हारी ॥ कर्मणि द्वितीयैव भवतीति । कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां कृद्योगलक्षणा तदपवादा षष्ठ्यारभ्यते, तस्याश्चावश्यके णिनि प्रत्यये 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति प्रतिषेधः । तेन निरपवादाद् द्वितीयैव भवति ॥

तन्त्रादचिरापहृते ॥ अचिरापहृतमिति । अचिरशब्दोऽल्पकालवचनः, तस्यापहृतशब्देनापहृतो गतः कालोऽस्येति 'कालाः परिमाणिना' इति समासः । **पञ्चमीसमर्थादिति । निर्देशादेव** । न हीह काचित् प्रकृता विभक्तिरनुवर्त्तते, पञ्चमीनिर्देशश्च श्रूयते, तस्माद् निर्देशादेव पञ्चमीसमर्थात् प्रत्ययो विज्ञायते । सा पुनः पञ्चम्यपहरतेरपायवचनत्वात् तद्योगेन तन्त्रमपादानमेव भवतीत्यपादानलक्षणा वेदितव्या ॥

यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणाः सन्ति तत्र 'ब्राह्मणक' इति संज्ञा । अल्पान्ना यवागूः 'उष्णिका' इत्युच्यते ॥

शीतोष्णाभ्यां कारिणि ॥ ७२ ॥

शीतोष्णशब्दाभ्यां कारिण्यभिधेये कन्प्रत्ययो भवति । क्रियाविशेषणाद् द्वितीयासमर्थादयं प्रत्ययः । शीतं करोति शीतकः=अलसः, जड उच्यते । उष्णं करोति उष्णकः=शीघ्रकारी, दक्ष उच्यते ॥

पदमञ्जरी

त्यते, ब्राह्मणशब्दादायुधजीव्युपाधिकात्प्रथमान्तात्सप्तम्यर्थे कन्प्रत्ययः, अन्नशब्दादल्पत्वोपाधिकात्सप्तम्यर्थ एव कन्प्रत्ययः, अन्नशब्दस्योष्ण्यादेशः? तदाह–*यत्रायुधजीविन इत्यादि* ॥

शीतोष्णाभ्यां कारिणि ॥ शीतं करोति स शीतकः, यश्चोष्णं करोति स उष्णकः । किं चातः ? तुषारे आदित्ये च प्राप्नोति, शीतोष्णशब्दयोर्हि स्पर्शविशेषो मुख्योऽर्थः, तं च तावदवश्यं कुरुत एवेति मुख्यार्थग्रहे दोषं दृष्ट्वा गौणार्थयोर्ग्रहणमिति दर्शयन्नाह—*क्रियाविशेषणादिति* । तत्र शीतोष्णशब्दयोरुपमानाद् वृत्तिः—शीतमिव शीतम्, मन्दकरणमित्यर्थः । शीतं हि मन्दतायुक्तम्; सति शीते कार्यकरणे पाटवाभावात् । एवमुष्णमिवोष्णम्=पटुकरम्, शीघ्रकरणमित्यर्थः । एवं क्रियाविशेषणाभ्यां प्रत्ययः । *द्वितीयासमर्थादिति* । 'कृद्योगलक्षणा तु षष्ठी क्रियाविशेषणान्न भवति' इति प्रागेवोक्तम् । मुख्यार्थवृत्तिभ्यां तु प्रत्ययो न भवति; अनभिधनात् ॥

न्यासः

ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ॥ किमर्थं पुनरिदम्, यावता संज्ञायां व्युत्पाद्यते, संज्ञायामेव तु ब्राह्मणकोष्णिके ? न; विषयान्तरेऽपि । तमेव विषयं दर्शयितुमाह–यत्रेत्यादि । गतार्थम् ॥

शीतोष्णाभ्यां कारिणि ॥ क्रियाविशेषणादिति । क्रियाविशेषणस्य हि कर्मत्वं प्रतिपादितम् । कारिणीति । ताच्छील्ये णिनिः । तस्य च प्रयोगे षष्ठी प्रतिषिद्धा, तस्मात् कर्मणि द्वितीययैव भवितव्यम् । क्रियाविशेषणाच्छीतादिशब्दाद् द्वितीयासमर्थात्प्रत्ययो विज्ञायते । तेन नेह शीतोष्णशब्दौ स्पर्शविशेषे वर्त्तमानौ प्रत्ययमुत्पादयतः । क्व तर्हि ? मान्द्ये, शैघ्र्ये च; यस्मादावश्यके णिनिः । न स पदार्थोऽस्ति यः शीतोष्णस्पर्शौ नियोगतः करोति । तुषारातपावपि हि नावश्यं कुरुतः; प्रतिबन्धसम्भवात् । कर्तृशक्तिस्तु पदार्थानां नियतेति सा शक्तिः कर्तृत्वे कश्चिन्नियोगतो मन्दं करोति, कश्चित् शीघ्रमिति युज्यत एवावश्यकत्वम् ।

अधिकम् ॥ ७३ ॥

'अधिकम्' इति निपात्यते । अध्यारूढस्योत्तरपदलोपः कँश्च प्रत्ययः । अधिको द्रोणः खार्याम् । अधिका खारी द्रोणेन ।

कर्त्तरि कर्मणि चाऽध्यारूढशब्दः ॥

अनुकाभिकाभीकः कमिता ॥ ७४ ॥

पदमञ्जरी

अधिकम् ॥ *अध्यारूढशब्दस्येति* । यदि पुनरधिशब्दात्ससाधनक्रियावचनात् कन्निपात्यते, तदा कर्तृकर्मणोरन्यतरस्यैवाभिधानं प्राप्नोति । अध्यारूढशब्द-स्तूभयार्थ इति तस्यैवेदमङ्गीकृतसाधनभेदं निपातनमुचितमिति भावः । *अधिको द्रोणः खार्याम्, अधिका खारी द्रोणेनेति* । यथैतत्प्रयोगद्वयमुपपद्यते तथा दर्शयति—*कर्त्तरि कर्मणि चाध्यारूढशब्द इति* । 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना रुहेः कर्त्तरि कर्मणि च क्तो विहितः । निपातनसामर्थ्याच्च सकृदुपात्तोऽप्यङ्गीकृतसाधनभेदः संगृह्यते । तत्र यदा कर्तरि तदा तत्राभिहितत्वात्प्रथमैव भवति, न तृतीया; यदा तु कर्मणि तदा कर्तुरनभिहितत्वात्तृतीया, कर्मणस्त्वभिहितत्वात्प्रथमा । यदा च कर्त्तरि क्तस्तदा कर्मणोऽनभिधानादध्यारूढयोगे यथा द्वितीया भवति—अध्यारूढो द्रोणः खारीमिति, ग्रामं गत इतिवत्, तथाधिकशब्देनापि योगे द्वितीयायां प्राप्तायाम् 'यस्मादधिकम्' 'तदस्मिन्नधिकम्' इति च निर्देशात् पञ्चमीसप्तम्यौ भवतः ॥

न्यासः

अधिकम् ॥ अध्यारूढशब्दस्योत्तरपदलोप इति । उत्तरपदमारूढशब्दस्तस्य लोपो निपात्यते । कथं पुनरधिको द्रोणः खार्यामित्यस्य प्रथमान्तस्य द्रोणशब्दस्य प्रयोगः, अधिका खारी द्रोणेनेति तृतीयान्तस्य च ? इत्यत आह—**कर्त्तरि कर्मणि चेत्यादि** । 'गत्यर्थाकर्मकश्लिष' इत्यादिना सूत्रेण रुहेः कर्त्तरि कर्मणि च क्तो विहितः, तेन कर्त्तरि कर्मणि चाध्यारूढशब्दो वर्त्तते, ततश्च तस्यार्थे व्युत्पाद्यमानोऽधिकशब्दोऽपि तत्पर्यायो भवँस्तयोरेवार्थयोर्भवति । तत्र यदा कर्त्तरि वर्त्तते तदा द्रोणशब्दात् प्रथमा भवति, न तृतीया । यदा कर्मणि वर्तते तदा कर्त्तुरनभिहितत्वादधिकशब्देन द्रोण-शब्दात् तृतीया भवति । कर्मणस्त्वभिहितत्वात् खारीशब्दात् प्रथमैव भवति, न द्वितीया । **अधिका खारी द्रोणेनेति** । ननु चाधिको द्रोणः खार्यामस्यामित्यत्र कर्म-णोऽनभिहितत्वात् खारीशब्दाद् द्वितीया प्राप्नोति ? नैष दोषः; यदयम् 'यस्मादधि-कम्' 'तदस्मिन्नधिकम्' इति च निर्देशं करोति, तज्ज्ञापयति—अधिकशब्देन योगे पञ्चमीसप्तम्यावेव विभक्ती भवत इति ॥

अनुक, अभिक, अभीक—इत्येते शब्दाः कन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते 'कमिता' इत्येतस्मिन्नर्थे। अभेः पक्षे दीर्घत्वं च निपात्यते। अनुकामयते अनुकः। अभिकः। अभीकः॥

पार्श्वेनान्विच्छति॥ ७५॥

पार्श्वशब्दात्तृतीयासमर्थाद् 'अन्विच्छति' इत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवति। अनृजुरुपायः=पार्श्वम्, तेनार्थानन्विच्छति पार्श्वकः=मायावी। कौसृतिकः, जालिक उच्यते॥

अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ॥ ७६॥

'अन्विच्छति' इत्येव। अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां तृतीयासमर्थाभ्याम् 'अन्विच्छति' इत्येतस्मिन्नर्थे ठक्ठञौ प्रत्ययौ भवतः। तीक्ष्ण उपायः=अयःशूलमुच्यते, तेनान्विच्छति आयःशूलिकः। साहसिक इत्यर्थः। दम्भः=दण्डाजिनम्, तेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः। दाम्भिक इत्यर्थः॥

पदमञ्जरी

अनुकाभिकाभीकः कमिता॥ सूत्रे समाहारद्वन्द्वे लिङ्गव्यत्ययः, अनुशब्दादभिशब्दाच्च ससाधनक्रियावचनात्स्वार्थे कन्निपात्यत इत्याह—*अनुकामयतेऽनुक इति*। 'अभिकामयते' इत्येतद् गम्यमानत्वान्नोक्तम्॥

पार्श्वेनान्विच्छति॥ *अनृजुरुपायः पार्श्वमिति*। तिर्यगवस्थानात्पार्श्वं तावदनृजु, तद्वदन्योऽप्यनृजुरुपाय एवमुच्यत इत्यर्थः। य ऋजुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थाननृजुनाऽन्विच्छति स *पार्श्वकः*। कुत्सितो मार्गः=कुसृतिः, जालम्=आनायः, ताभ्यां चरतीति *कौसृतिको जालिकः*॥

अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ॥ *तृतीयासमर्थाभ्यामिति*। निर्देशादेव तृतीया हीयम्, न पञ्चमी; पूर्वेण साहचर्यात्। *तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलमिति*। यथायःशूलं तीक्ष्णं तथान्योऽपि तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलमित्युपचारादुच्यत इत्यर्थः। दम्भो

न्यासः

अनुकाभिकाभीकः कमिता॥ अनुक इति। अनुशब्दात् कन्। अभिकोऽभीक इति। अत्राप्यभिशब्दात्॥

पार्श्वेनान्विच्छति॥ निर्देशादेव तृतीया समर्थविभक्तिर्लभ्यत इत्याह—पार्श्वशब्दात् तृतीयासमर्थादिति॥

अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ॥ अयःशूलदण्डाजिनाभ्यामिति। तृतीयान्तनिर्देशादेवार्थात् तृतीया समर्थविभक्तिर्लभ्यत इत्याह—तृतीयासमर्थाभ्यामिति॥

तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ॥ ७७ ॥

तावतां पूरणं तावतिथम्। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्। प्रकृतिविशेषणं चैतत्। पूरणप्रत्ययान्तात्प्रातिपदिकाद् ग्रहणोपाधिकात्स्वार्थे कन्प्रत्ययो भवति। पूरणस्य प्रत्ययस्य वा लुक्। द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति द्विकं ग्रहणम्, द्वितीयकम्। त्रिकम्, तृतीयकम्। चतुष्कम्, चतुर्थकम्।

पदमञ्जरी

दण्डाजिनमिति। दम्भसाधनत्वात्। दम्भवन्तो हि प्रायेण दण्डमजिनं च धारयन्ति। *तेनेति*। दम्भेन दण्डाजिनं तु धारयतु मा वाऽदीधरदित्यर्थः, सर्वत्र मुख्यार्थाग्रहणेऽनभिधानमेव हेतुः ॥

तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ॥ यथा 'तस्यापत्यम्' इत्यत्र तस्येति षष्ठ्यन्तानां सामान्यनिर्देशः, तथा तावतिथमिति पूरणप्रत्ययान्तानां सामान्यनिर्देशः। *पूरणप्रत्ययस्य चेति*। न तु कनः लुक्; वाग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गात्, महाविभाषाधिकाराद्विकल्पेन कन उत्पत्तेः पञ्चमं ग्रहणम्, पञ्चमकं ग्रहणमिति रूपद्वयस्य सिद्धत्वात्। तथा च वार्त्तिकम्—'तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वचनानर्थक्यं विभाषाप्रकरणात्' इति। अतो लुग्वाग्रहणं कुर्वतः सूत्रकारस्य पूरणप्रत्ययस्य वा लुग्विधीयत इति पक्षो लक्ष्यते। *द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णातीति*। अत्र ग्रहणे द्वितीयस्य करणत्वं प्रदर्शयितुमिदं वाक्यम्। वस्तुतस्तु द्वितीयं ग्रहणं देवदत्तस्येति विग्रहीतव्यम्। *द्विकं ग्रहणमिति*। ग्रहीतर्यपि प्रत्ययो वक्ष्यते, तेन प्रकृत्युपाधिभूतस्य ग्रहणस्य नियमेनाप्रतीतेर्ग्रहणशब्दप्रयोगः। द्विकं रूपं देवदत्तस्येत्येव तु नोदाहृतम्, स्वच्छन्दतो हि वचसां प्रवृत्तिः। *चतुष्क इति*। सन्नियोगशिष्टपरिभाषया डटि निवृत्ते थुकोऽपि निवृत्तिः, रेफस्य विसर्जनीयः, 'इदुदुपधस्य' इति षत्वम्।

न्यासः

तावतिथं ग्रहणमिति लुग् वा ॥ पूरणप्रत्ययान्तानां सामान्यनिर्देशोऽयम्। अथ स्वरूपग्रहणं कस्मान्न भवति ? अर्थप्रधानत्वान्निर्देशस्य। शब्दप्रधाने हि निर्देशे स्वरूपग्रहणं भवतीत्युक्तम्। कथं प्रत्ययः स्वार्थे भवतीति ? अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति कृत्वा। द्विकं त्रिकमिति। तीयस्य लुक्। चतुष्कमिति। पूरणः प्रत्ययस्य डटः सथुकश्च लुक्, चतूरेफस्य 'विसर्जनीयस्य सः', तस्य 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति षत्वम्।

❀ तावतिथेन गृह्णातीति कन्वक्तव्यः, पूरणप्रत्ययस्य च नित्यं लुक् ❀। षष्ठेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति षट्को देवदत्तः। पञ्चकः। चतुष्कः।

इतिकरणो विवक्षार्थः। तेन ग्रन्थविषयमेव ग्रहणं विज्ञायते, नान्यविषयम्।

स एषां ग्रामणीः ॥ ७८ ॥

'स' इति प्रथमासमर्थादेषामिति षष्ठ्यर्थे कन्प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति। ग्रामणीः=प्रधानः, मुख्यः, इत्यर्थः। देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः। यज्ञदत्तकाः।

ग्रामणीरिति किम्? देवदत्तः शत्रुरेषाम् ॥

शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे ॥ ७९ ॥

शृङ्खलशब्दात्प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे कन्प्रत्ययो भवति। यत्तत्प्रथमासमर्थं बन्धनं चेत्तद्भवति, यत्तदस्येति निर्दिष्टं करभश्चेत्स

पदमञ्जरी

तावतिथेनेति। स्वार्थे प्रत्ययो विधीयमानो ग्रहीतरि न प्राप्नोतीति वचनम्। *नित्यं च लुकं वक्ष्यामीति*। *षट्क इति*। रूपशब्दस्य वाक्ये प्रयुक्तस्यापि वृत्तौ गम्यमानत्वादप्रयोगः, पदत्वाज्जश्त्वचर्त्वे। इह यः षष्ठेन रूपेण गृह्णाति षड्भिरसौ रूपैर्गृह्णाति, ततः किं सङ्ख्यायाः, तेन गृह्णातीत्येव वक्तव्यम्, एवं हि लुग्वेति न वक्तव्यं भवति? नैवं शक्यम्; एवं ह्युच्यमाने इहापि प्राप्नोति—एकेन रूपेण गृह्णातीति। पूरणप्रत्ययस्त्वेकशब्दान्नास्ति, तेन ग्रन्थविषयमेव ग्रहणं विज्ञायत इति। तेनेह न भवति—द्वितीयो हस्तो ग्रहणो दण्डस्येति ॥

स एषां ग्रामणीः। इह त्वत्को मत्को वा विजय इत्यादावनेन कन्। त्वं ग्रामणीरस्य त्वत्कः, अहं ग्रामणीरस्य मत्कः। प्रायेण त्विदमर्थमात्रे प्रयुज्यते ॥

शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे ॥ ननु न शृङ्खलमात्रेण करभो बद्ध्यते, किं तर्हि?

न्यासः

तावतिथेनेत्यादि। पूरणप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् तृतीयासमर्थाद् गृह्णातीत्येतस्मिन्नर्थे कन्प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम्। पूरणप्रत्ययस्य च नित्यं लुक्। षट्क इति। षकारस्य जश्त्वं डकारः, तस्यापि चर्त्वं टकारः। अत्र च डटः सथुको लुक्। पञ्चक इति। अत्रापि डटः। अथेह कस्मान्न भवतीति—द्वितीयेन हस्तेन दण्डं गृह्णाति? इत्याह—इतिकरणो विवक्षार्थ इत्यादि। सुबोधम् ॥

स एषां ग्रामणीः ॥ **शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे** ॥ ननु च न शृङ्खलमात्रेण करभो

भवति । शृङ्खलं बन्धनमस्य करभस्य शृङ्खलकः । उष्ट्राणां बालकाः=करभाः, तेषां काष्ठमयं पाशकं पादे व्यतिषच्यते, तदुच्यते शृङ्खलमिति ।

यद्यपि रज्ज्वादिकमपि तत्रास्ति तथापि शृङ्खलमस्यास्वतन्त्रीकरणे भवति साधनमिति बन्धनमित्युच्यते ॥

उत्क उन्मनाः ॥ ८० ॥

'उत्कः' इति निपात्यते, उन्मनाश्चेत्स भवति । उद्गतं मनो यस्य स उन्मनाः । उच्छब्दात्ससाधनक्रियावचनात् तद्वति कन्प्रत्ययो निपात्यते । उत्को देवदत्तः । उत्कः प्रवासी । उत्सुक इत्यर्थः ॥

कालप्रयोजनाद्रोगे ॥ ८१ ॥

पदमञ्जरी

रज्ज्वा, कीलेन च, तस्माच्छृङ्खलमस्य बन्धनमिति न युक्तं वक्तुम्, एवं तु वक्तव्यम्—'शृङ्खलवदस्य सम्बन्धनं करभे लुक्च मतोः' इति ? तत्राह—*यद्यपीति* । अस्तु रज्ज्वादेरपि करणत्वम्, शृङ्खलस्यापि करणत्वमस्त्येव; तदन्तरेण बन्धनस्यानिर्वृत्तेरित्यर्थः ॥

उत्क उन्मनाः ॥ *उच्छब्दात्ससाधनक्रियावचनादिति* । साधनम्=मनः, क्रिया=गमनम्, उद्गते मनसि वर्त्तमानादित्यर्थः । *तद्वतीति* । उद्गतं मनो यस्य तस्मिन्नित्यर्थः । उत्सुकः=उत्कण्ठितः ॥

न्यासः

बध्यते, किं तर्हि ? रज्ज्वादिकेन च, तत् कथं शृङ्खलं बन्धनमुच्यते ? इत्याह—यद्यपीत्यादि । यद्यपि तत्र रज्ज्वादिकमप्यपरमस्ति, तथापि शृङ्खलमस्य तन्त्रीकरणं प्रति साधनं भवत्येव, न हि तेन तद् भवति । ततः शृङ्खलं बन्धनमुच्यते । रज्ज्वादिकमपि यदि बन्धनं भवति, भवतु ! न ह्यत्रावधार्यते—शृङ्खलमेवेति ॥

उत्क उन्मनाः ॥ ससाधनक्रियावचनादिति । साधनम् = मनः । क्रिया = गमनम्, सह तेन गमनक्रिया । तद्वचनात् ससाधने गमने वर्त्तमानादित्यर्थः । तद्वतीति । तच्छब्देन क्रिया प्रत्यवमृश्यते । ससाधनक्रियावतीत्यर्थः । उत्सुक इति । उत्कण्ठित इत्यर्थः ॥

कालप्रयोजनाद् रोगे ॥ अर्थलभ्येत्यादि । अर्थोऽधिकरणादिः । तेनात्र सप्तमीप्रभृतिरनुक्तापि समर्थविभक्तिर्लभ्यते । प्रयोजनं कारणमिति । यदि तर्हि प्रयोजनं कारणशब्देनोच्यते कालग्रहणं पृथग् न कर्त्तव्यम्, कालोऽपि रोगस्य कारणं भवति ? नैतदस्ति; न ह्यवश्यं कालो रोगस्य कारणं भवति । तत्र यदा ह्यसौ रोगस्य कारणं न भवति, तथापि ततो यथा स्यादित्येवमर्थं कालग्रहणम् । द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयक

अर्थलभ्या समर्थविभक्तिः । कालात्प्रयोजनाच्च यथायोगं समर्थविभक्तियुक्ताद्रोगेऽभिधेये कन्प्रत्ययो भवति । कालः=दिवसादिः, प्रयोजनम्=कारणम्, रोगस्य फलं वा । द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वरः । चतुर्थकः । प्रयोजनात्—विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पको ज्वरः । काशपुष्पकः । उष्णं कार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

उत्तरसूत्रादिह संज्ञाग्रहणमपकृष्यते । तेनायं प्रकारनियमः सर्वो लभ्यते ॥

पदमञ्जरी

कालप्रयोजनाद्रोगे ॥ *अर्थलभ्येति* । अर्थः=सामर्थ्यम्, तेन लभ्या । तत्र काले सप्तमी समर्थविभक्तिः, भवो हि तत्र प्रत्ययार्थः । प्रयोजने तृतीया, जनितो हि तत्र प्रत्ययार्थः । फले तु प्रयोजने प्रथमा । *प्रयोजनं कारणं रोगस्य फलं चेति* । उभयमपि प्रयोजयतीति प्रयोजनमुच्यते । यदि तर्हि कारणमपि प्रयोजनमुच्यते, कालग्रहणमनर्थकम्, कथम्? योऽसौ द्वितीयेऽह्नि भवो ज्वरस्तस्य द्वितीयमप्यहः कारणम्; अहरन्तरे तदनुत्पत्तेः? सत्यम्; सदपि कारणत्वं यदा न विवक्ष्यते 'तत्र भवः' इत्येव तु विवक्ष्यते, तदापि यथा स्यादित्येवमर्थं कालग्रहणम् । *द्वितीयेऽह्नि भव इति* । सामान्यशब्दस्यापि द्वितीयशब्दस्यार्थप्रकरणादिना वृत्तिविषये कालेऽपि वृत्तेः कालशब्दत्वम् । किं पुनः कारणं साक्षात्कालवाचिभ्यो मासादिभ्यः प्रत्ययो न भवति द्वितीयादिभ्यश्च भवति, तत्रापि सप्तमीसमर्थेभ्यो भवार्थ एव भवति कारणवाचिनस्तृतीयासमर्थात्, फलवाचिनस्तु प्रथमासमर्थात्, न ह्येतत्सर्वं सूत्राक्षरैरुपात्तम्? तत्राह—*उत्तरसूत्रात्संज्ञाग्रहणमिहानुकृष्यत इति* ।

न्यासः

इति । तत्र कारणान्तराद् वातादेः कुतश्चिद् भवतो ज्वरस्य कालः केवलमधिकरणभावेन विवक्षितः, न तु हेतुभावेन । कथं पुनः कालादन्यतः प्रत्ययो द्वितीयादिभ्यः शब्देभ्यो भवति, न ह्येते कालशब्दाः प्रसिद्धाः, सामान्यशब्दा ह्येते, शब्दान्तरसन्निधानात् तु काले वृत्तिरेषां गम्यते? नैष दोषः; वाक्ये ह्येषां शब्दान्तरसन्निधौ काले वृत्तिः, वृत्तिगतश्च प्रकृत्यर्थः प्रत्ययानां विशेषणम्; सन्निहितत्वात् । न वाक्यगतः; विप्रकर्षात् । विषपुष्पैर्जनित इति । तृतीया । **उष्णं कार्यमस्येति** । अत्र कार्यकारणसम्बन्धो विवक्षितः । स चेदंशब्दादेवोत्पन्नया षष्ठ्याभिहित इत्युष्णशब्दात् प्रथमैव भवति । इह कालप्रयोजनविशेषवाचिभ्यः प्रत्ययोऽभिहितः, न कालप्रयोजनशब्दाभ्याम्; कालविशेषवाचिभ्यो भवन् क्रियायाः कर्त्तरि ज्वरे प्रयोजनविशेषवाचिभ्यः प्रयोजनमिति; कार्यकारणविवक्षायाञ्च कार्यसम्बन्धिनि । न चायं प्रकारनियमः सूत्रे उक्तः, तत् कथं लभ्यते? इत्यत आह—**उत्तरसूत्रादिह संज्ञाग्रहणमपकृष्यते** ।

तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ॥ ८२ ॥

तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमन्नं चेत्प्रायविषयं तद् भवति । प्रायः=बाहुल्यम् । संज्ञाग्रहणं तदन्तोपाधिः । गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां गुडापूपिका । तिलापूपिका पौर्णमासी[1] ।

❀ वटकेभ्य इनिर्वक्तव्यः ❀ । वटकिनी पौर्णमासी ॥

पदमञ्जरी

सिंहावलोकितन्यायेन, यथा सिंहा धावन्तः पृष्ठतोऽवलोकयन्ते । अपर आह— उत्तरसूत्रे योगविभागः, 'तदस्मिन्नन्नं प्राये', ततः 'संज्ञायाम्', यदेतदनुक्रान्तं तत्संज्ञायां द्रष्टव्यमित्यर्थः । संज्ञाग्रहणमुभयोः शेषः, एतदेव चानुकर्षणं विवक्षितम् ॥

तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ॥ अन्नम्=अभ्यवहार्यम्, अद्यते स्मेति कृत्वा । गुडामिश्रा अपूपा *गुडापूपाः*=कृसरस्तिलौदनः, तिलक्षोद इत्यन्ये । त्रिबिलोऽपूपस्त्रिपुटः । *वटकेभ्य इनि रिति* । कनि प्राप्ते वचनम् । ननु संज्ञाग्रहणात्कन्न भविष्यति, तस्मिंश्चासति मत्वर्थीय इनिर्भविष्यति ? न सिद्ध्यति; 'सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति वचनात् ॥

न्यासः

तेन तस्मिन् सत्ययमर्थो भवति—प्रत्ययान्तश्चेत् संज्ञा भवति, तस्मिंश्चार्थे सति प्रत्ययान्तं यदि संज्ञा भवत्येवं प्रत्यय उत्पद्यते, नान्यथेति । संज्ञाग्रहणसन्निधानादिह सर्वप्रकारोऽयं नियमो लभ्यते । न हि विना तेन प्रकारेण प्रत्ययान्तं संज्ञा भवति । ननु चोत्तरसूत्रे संज्ञाग्रहणं तस्यैव शेषभूतम्, तत् कथं ततोऽपकृष्टुं शक्यते ? नैष दोषः; उभयोरपि योगयोस्तच्छेषभूतम् । कथम् ? योगविभागः करिष्यते— 'तदस्मिन्नन्नं प्राये', ततः 'संज्ञायाम्' इति, तेन संज्ञाग्रहणमुभयेषां शेषो विज्ञास्यते ॥

तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ॥ अन्नञ्चेत् प्रायविषयमिति । प्रायो विषयो यस्य तत् तथोक्तम् । विषयग्रहणेन 'प्राये' इति सप्तम्या विषयसप्तमीत्वं दर्शयति । **प्रत्ययो भवतीति** । अन्यथा गुडापूपाः प्रायेणान्नमिति विवक्षायाः कारकाणि भवन्तीति प्रायस्य विषयभूतस्य करणत्वेन विवक्षितत्वात् तृतीया । गुडापूपिकेति । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यातः' इतीत्त्वम् ।

वटकेभ्य इनिर्वक्तव्य इति । व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—इह संज्ञा-

---

१ 'कृशरिका, त्रिपुटिका'—इत्युदाहरणद्वयमधिकं पुस्तकान्तरे ।

कुल्माषादञ् ॥ ८३ ॥

कुल्माषशब्दाञ् प्रत्ययो भवति 'तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्' इत्येतस्मिन्नर्थे । ञकारो वृद्धिस्वरार्थः । कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्णमासी ॥

श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते ॥ ८४ ॥

'श्रोत्रियन्' इति निपात्यते 'छन्दोऽधीते' इत्यस्मिन्नर्थे । नकारः स्वरार्थः । श्रोत्रियो ब्राह्मणः । 'श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते' इति वाक्यार्थे पदवचनम् । छन्दसो वा श्रोत्रभावः 'तदधीते' इति घँश्च प्रत्ययः ।

पदमञ्जरी

कुल्माषादञ् ॥ कुल्माषाः=मुद्गाः ॥

श्रोत्रियँश्छन्दोधीते ॥ *वाक्यार्थ इति* । वाक्यार्थग्रहणेन तदाश्रयश्छन्दोऽध्यायी पुरुष उपचारादुच्यते, कुतः ? मुख्यो हि वाक्यार्थः क्रियारूपः, सम्बन्धरूपो वा, स चासत्त्वभूतः । श्रोत्रियशब्दस्तु सत्त्वभूतार्थाभिधायी, तस्मिन्वाक्यार्थेऽविद्यमानप्रकृतिप्रत्ययविभागः श्रोत्रियशब्दो निपात्यत इत्यर्थः । अथ कथमस्मिन् पक्षे स्वरसिद्धिः, यावता नकार इद्यस्य तत्र परतः स्वरो विधीयते, न चात्रैवं व्यपवर्गोऽस्ति ? मा भूद्व्यपवर्गे, नित्करणसामर्थ्यात्तदभावेऽपि भविष्यति । यद्वा, नितीति कर्मधारयोऽयम्—नश्चासाविच्च नित्, तत्र परत इति ।

न्यासः

ग्रहणस्य प्रत्ययान्तोपाधिकत्वाद् यत्र प्रत्ययान्तं संज्ञा भवति तत्र प्रत्ययेन भवितव्यम् । न च वटकशब्दः कन्प्रत्ययान्तः कस्यचित् संज्ञा, तेन ततः कन् न भविष्यति, तस्मिंश्चासति मत्वर्थीय इनिर्भविष्यतीति । वटकिनीति । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ॥

कुल्माषादञ् ॥ संज्ञाग्रहणेन पूर्वेण कनः प्राप्तावसत्यां वाक्येनाभिधाने प्राप्ते मत्वर्थीये मतुबादाविदमुच्यते । कौल्माषीति । 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ॥

श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते ॥ नकार स्वरार्थ इति । ननु च नकार इद् यस्य तस्मिन्निति परतः स्वर उच्यते, न च समुदायानुबन्धे नकारे नित्परत्वमस्ति ? नैष दोषः; न एवेत् नित्, तत्पुरुषोऽयम् । तेन नकार इत्संज्ञे परतः पूर्वस्य स्वरो भविष्यति । किं पुनरत्र निपात्यते ? इत्याह–छन्दोऽधीते इति । अस्य वाक्यस्यार्थे श्रोत्रियन्निति निपात्यते । छन्दसो वेत्यादि । पूर्वत्र वाक्यार्थे पदमविद्यमानप्रकृतिप्रत्ययविभागं निपातितम्, इदानीं तु प्रकृतिप्रत्ययौ निपात्येते तदधीत इत्यस्मिन्नर्थे । अत्र यद्यपि निदिति बहुव्रीहिः, तथापि स्वरः सिध्यत्येव; घन्प्रत्ययस्य नितः परस्य विद्यमानत्वात् ।

कथं छन्दोऽधीते छान्दसः ? वाग्रहणमनुवर्त्तते, 'तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा' इत्यतः ॥

श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ॥ ८५ ॥

'श्राद्धम्' इति प्रकृतिः, 'अनेन' इति प्रत्ययार्थः, 'भुक्तम्' इति प्रकृतिविशेषणम्। श्राद्धशब्दाद् भुक्तोपाधिकादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिठनौ प्रत्ययौ भवतः। श्राद्धशब्दः कर्मनामधेयं तत्साधने द्रव्ये वर्तित्वा प्रत्ययमुत्पादयति। श्राद्धं भुक्तमनेन श्राद्धी, श्राद्धिकः।

इनिठनोः समानकालग्रहणम्—अद्य भुक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिक इति प्रयोगो मा भूत् ॥

पदमञ्जरी

कथमित्यादि। छन्दसः श्रोत्रभावो घन् च प्रत्ययः, छान्दस इति न सिद्धयति; घनाऽणो बाधितत्वात्, श्रोत्रभावेन च छन्दःशब्दस्य निवर्तितत्वादिति प्रश्नः। *वाग्रहणमनुवर्तत इति*। अपर आह—यश्छन्दोऽधीते तदर्थं चानुतिष्ठति तत्र श्रोत्रियशब्दः, अध्येतृमात्रे तु छान्दसशब्द इत्यर्थभेदान्नास्ति बाध्यबाधकत्वमिति। 'एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति' इति *धर्मशास्त्रम्* ॥

श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ॥ *श्राद्धशब्दः कर्मनामधेयमिति*। श्रद्धया निष्पाद्यस्य पित्र्यस्य कर्मणः श्राद्धशब्दः संज्ञा, श्रद्धास्मिन्नस्तीति 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' इति णः। *तत्साधने द्रव्य इति*। मुख्यश्राद्धस्य भोजनासम्भवात्। *समानकालग्रहणमिति*। भुजिना समाने काले प्रत्ययान्तस्य प्रयोगो यथा स्यात्, यद्यपि भुजिक्रिया कतिपयक्षणसाध्या, तथापि यावन्तं कालं तदाशिनस्तृप्तिशेषस्तल्लिङ्गं चानुवर्तते तावत्समानकालः, स च प्रायोवृत्त्याऽद्यतन एवेति तस्मिन्नेव प्रत्ययान्तस्य प्रयोगः। यदा तु कस्यचिद्दुर्बलस्य द्वितीयेऽप्यह्नि भुक्तमपरिणतं तदा प्रयोगाभावः। तदिदमाह—*अद्य भुक्ते श्वः श्राद्धिक इति प्रयोगो मा भूदिति* ॥

न्यासः

कथमित्यादि। यदि च्छन्दःशब्दस्य श्रोत्रशब्द आदेशो घंश्च प्रत्ययः 'तदधीते' इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यते, निपातनेन बाधितत्वादत्रार्थे च्छान्दस इति न सिध्यतीत्यभिप्रायः ॥

श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ॥ श्राद्धशब्द इत्यादि। शास्त्रोक्तेन विधिना निष्पाद्यस्य कस्यचिदेव क्रियाविशेषस्य श्राद्धशब्दः संज्ञा। कर्मशब्दोऽयं क्रियावाची। श्रद्धा यत्र कर्मण्यस्ति तच्छ्राद्धम्, 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' इति णप्रत्ययः। तत्साधन इत्यादि। भुक्तत्वं कर्मणो विशेषणं न सम्भवतीति तत्साधने भक्तादौ वर्तित्वा श्राद्धं प्रत्ययमुत्पादयतीति विज्ञायते। तत्साधने तु तस्य वृत्तिः, तादर्थ्याद्; यथा—प्रदीपार्थायां मल्लिकायां प्रदीपशब्दस्य। समानकालग्रहणमिति। समानः कालो गृह्यते येन तत्समानकालग्रहणम्। व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। किमर्थम्? इत्याह—अद्य भुक्त

पूर्वादिनिः ॥ ८६ ॥

'अनेन' इति प्रत्ययार्थः कर्ताऽनुवर्त्तते। न च क्रियामन्तरेण कर्त्ता सम्भवतीति यां काञ्चित्क्रियामध्याहृत्य प्रत्ययो विधेयः। पूर्वाद् 'अनेन' इत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। पूर्वं गतमनेन पीतं भुक्तं वा पूर्वी, पूर्विणौ, पूर्विणः ॥

सपूर्वाच्च ॥ ८७ ॥

विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति सपूर्वं प्रातिपदिकम्, तस्य पूर्वशब्देन तदन्तविधिः। सपूर्वात्प्रातिपदिकात्पूर्वशब्दान्तादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम्। भुक्तपूर्वी ओदनम्। 'सुप्सुपा' इति समासं कृत्वा तद्धित उत्पाद्यते।

पदमञ्जरी

पूर्वादिनिः ॥ *पूर्वं गतमनेनेत्यादि*। क्रियाविशेषणाद् द्वितीयान्तात्प्रत्ययः ॥

सपूर्वाच्च ॥ *विद्यमानं पूर्वमस्मिन्निति सपूर्वमिति*। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इत्युपाधिवचनस्य प्रायिकत्वाद्विद्यमानवचनस्यापि समासः। पूर्वशब्दोऽवयववचनः। न च शब्दान्तरं पूर्वशब्दस्यावयव उपपद्यते। पकारस्त्वव्यभिचारी, तेन प्रातिपदिकस्यैतद्विशेषणम्—सपूर्वं यत्प्रातिपदिकमिति। एवं च पूर्वशब्दोऽपि तस्यैव विशेषणम्, विशेषणेन च तदन्तविधिरित्याह—*तस्य पूर्वशब्देन तदन्तविधिरिति*। *सपूर्वादित्यादि*। यद्यपि पूर्वशब्दान्तं प्रातिपदिकं सपूर्वमेव, तथापि असति सपूर्वग्रहणे तदन्तविधिर्न लभ्यत इति 'सपूर्वात्' इत्युक्तम्। कृत-

न्यासः

इत्यादि। यस्मिन्नहनि श्राद्धमनेन भुक्तं तस्मिन्नेव श्राद्धिक इति स्यात्, अद्य भुक्ते श्वो मा भूदित्येवमर्थम्। तत्रेदं व्याख्यानम्—इहापि वेत्यनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेन यस्मिन्नेवाहनि श्राद्धं भुक्तं तस्मिन्नेवेष्यते; नान्यत्रेति ॥

पूर्वादिनिः ॥ पूर्वं गतं पीतं भुक्तमिति। पूर्वशब्दोऽत्र क्रियाविशेषणत्वात् कर्म भवतीति द्वितीयासमर्थात् प्रत्ययो विज्ञायते। पूर्वीति। 'सौ च' इति दीर्घः ॥

सपूर्वाच्च ॥ सहशब्दो विद्यमानवचनः। अत एवाह—विद्यमानं पूर्वमिति। 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सभावः। कृतपूर्वी कटमिति। ननु च निष्ठया कर्मणोऽभिहितत्वाद् द्वितीयात्र न प्राप्नोति? नैष दोषः; नेयं कर्मणि निष्ठा, किं तर्हि? भावे। यदापि कर्मणि तदापि न दोषः; निष्ठया हि सामान्यं कर्माभिहितम्, न विशेषकर्म। तस्माद् विशेषकर्मणोऽनभिहितत्वाद् द्वितीया भविष्यति। ननु च पूर्वं कृतमित्यनेकपदावयवत्वाच्च वाक्यमिदम्। वाक्यस्य चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं निय-

योगद्वयेन चानेन—'पूर्वादिनिः' 'सपूर्वाच्च' इति, परिभाषाद्वयं ज्ञाप्यते—'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन', 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति ॥

इष्टादिभ्यश्च ॥ ८८ ॥

'अनेन' इत्येव। इष्टादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनेनेत्यस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति। इष्टमनेन इष्टी यज्ञे। पूर्त्ती श्राद्धे। 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मणि' इति सप्तम्युपसंख्यायते।

इष्ट। पूर्त। उपसादित। निगदित। परिवादित। निकथित। परिकथित। सङ्कलित। निपठित। सङ्कल्पित। अर्नाचत। विकलित। संरक्षित। निपतित। पठित। परिकलित। अर्चित। परिरक्षित। पूजित। परिगणित। उपगणित। अवकीर्ण। परित। उपकृत। उपाकृत। आयुक्त। आम्नात। श्रुत। अधीत। आसेवित।

पदमञ्जरी

पूर्वी कटमिति। 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यत्रायं प्रयोग उपपादितः।

योगद्वयेनेत्यादि। यदि 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इत्येषा परिभाषा न स्यात् 'पूर्वादिनिः सपूर्वात्' इत्येकमेव योगं कुर्यात्, व्यपदेशिवद्भावात्केवलादपि भविष्यति, किं योगद्वयकरणेन! अत्र चकारः कर्त्तव्यो न भवति। यदि च 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' इत्येषा परिभाषा न स्यात्, 'पूर्वादिनिः' इत्येतावदेव

न्यासः

मार्थमिति प्रातिपदिकसंज्ञा नास्ति। तत् कथमतः प्रत्ययः? इत्याह—सुप्सुपेत्यादि।

योगद्वयेन चेत्यादि। यदि 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इत्येषा परिभाषा न स्यात्, तदा 'सपूर्वात्पूर्वादिनिः' इत्येकयोगं कुर्यात्, किं योगविभागेन! एकयोगे हि सति केवलादपि व्यपदेशिवद्भावेन प्रत्ययो भविष्यति। तदेवमेकयोगेन सिद्धे यत् 'पूर्वादिनिः' इति पृथग्योगं करोति, तज्ज्ञापयति—अस्तीयं परिभाषा 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति। यदि वा 'ग्रहणवता' इत्यादिका परिभाषा न स्यात् 'सपूर्वाच्च' इतीमं योगं न कुर्यात्। 'पूर्वादिनिः' इत्यनेनैव हि कृतपूर्वीत्यादावपि भविष्यति तदन्तविधिना। तदेवं पूर्वयोगेणैव पूर्वशब्दान्तादपि सिद्धे प्रत्यये यत् 'सपूर्वाच्च' इतीम योगं करोति, तज् ज्ञापयति—अस्तीयं परिभाषा 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न भवति' इति ॥

अपवारित । अवकल्पित । निराकृत । अनुयुक्त । उपनत । अनुगुणित । अनुपठित । व्याकुलित । निगृहीत[1] । इष्टादिः ।।

छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ।। ८९ ।।

परिपन्थिन्, परिपरिन्—इत्येतौ शब्दौ छन्दसि विषये निपात्येते पर्यवस्थातरि वाच्ये । पर्यवस्थाता=सम्पन्नप्रतिपक्ष उच्यते । मा त्वा परिपन्थिनो विदन् । मा त्वा परिपरिणो विदन् ।।

अनुपद्यन्वेष्टा ।। ९० ।।

'अनुपदी' इति निपात्यतेऽन्वेष्टा चेत्स भवति । पदस्य पश्चादनुपदम् । अनुपदी गवाम् । अनुपदी उष्ट्राणाम् ।।

पदमञ्जरी

ब्रूयात्, तदन्तविधिना सपूर्वादपि भविष्यतीति किं द्वितीयेन योगेन ! तदिह योगद्वयेन परिभाषाद्वयं ज्ञाप्यते ।।

छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ।। अत्र पर्यवस्थातृशब्दात्स्वार्थे इनिप्रत्ययोऽवस्थातृशब्दस्य च पन्थि, परि—इत्येतावादेशौ निपात्येते । भाषायां तु परिपन्थिशब्दस्यासाधुः प्रयोगः ।।

अनुपद्यन्वेष्टा ।। पदस्य पश्चादनुपदम्, पश्चादर्थेऽव्ययीभावः, अन्वेष्टरीनिप्रत्ययो निपात्यते । *अनुपदी गवामिति* । पदापेक्षया षष्ठी, गोपदस्य पश्चादन्वेषणं गवामेव, हिरण्यादावन्वेष्ये न भवति; पदाभावात् । यदि त्वन्वेष्टशब्दात्स्वार्थे इनिप्रत्ययः, एष्टृशब्दस्य च पदशब्द आदेशो निपात्येत; यदि वा—श्रोत्रियवदविद्यमानप्रकृतिप्रत्ययमन्वेष्टरि निपात्येत, ततो गवामिति षष्ठी न प्राप्नोति—कृतपूर्वी कटम्, अनुको भार्यामभिको दासीमितिवत् द्वितीया प्राप्नोति; हिरण्यादौ चान्वेष्ये—अनुपदी हिरण्यमिति । तस्माद्यथोक्तमेव साधीयः ।।

न्यासः

इष्टादिभ्यश्च ।। इष्टी यज्ञ इति । कथं पुनरत्र सप्तमी; यावता यज्ञस्य कर्मतायां द्वितीयया भवितव्यम् ? इत्याह—क्तस्येन्विषयस्येत्यादि ।।

छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ।। किं पुनरत्रेदं निपात्यते ? पर्यवस्थातृशब्दं व्यवस्थाप्य तदवयवस्यावस्थातृशब्दस्य पन्थ आदेश एकत्र क्रियते, अपरत्र तस्यैव परिशब्दः, पश्चादिनिप्रत्ययः ।।

अनुपद्यन्वेष्टा ।। अनुपदीति । पश्चात् पदस्यानुपदम्, पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । तस्मादिनप्रत्ययो निपात्यते ।।

---

1. 'अवधारित, अपचित'—एतौ शब्दावत्र गणे पुस्तकान्तरेऽधिकौ ।

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ॥ ९१ ॥

साक्षाच्छब्दोऽव्ययम् । तस्मादिनिः प्रत्ययो भवति द्रष्टरि वाच्ये । संज्ञाग्रहणमभिधेयनियमार्थम् । साक्षाद् द्रष्टा साक्षी, साक्षिणो साक्षिणः । संज्ञाग्रहणादुपद्रष्टैवोच्यते; न दाता, ग्रहीता वा ॥

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ॥ ९२ ॥

क्षेत्रियज़िति निपात्यते । 'परक्षेत्रे चिकित्स्यः' इत्येतस्मिन् वाक्यार्थे पदवचनम् । परक्षेत्राद्वा तत्रेति सप्तमीसमर्थात् 'चिकित्स्यः' इत्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययः परशब्दलोपश्च निपात्यते । परक्षेत्रे चिकित्स्यः

पदमञ्जरी

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ॥ *साक्षाच्छब्दोऽव्ययमिति* । तेन प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति सूत्रे पञ्चम्या अलुक्, उदाहरणे च 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोप इति भावः । *संज्ञाग्रहणादित्यादि* । त्रिभिः साक्षाद् दृष्टं भवति—यश्च ददाति, यस्मै च दीयते, यश्च पार्श्वे स्थितः पश्यति, तत्र सर्वत्र प्रत्ययः प्राप्नोति । संज्ञाग्रहणाद्धनिकाधमर्णयोर्न भवतीत्यर्थः ॥

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ॥ 'क्षि निवासगत्योः' इत्यस्माद्यथायोगमधिकरणादौ ष्ट्रन्, क्षेत्रम् । *परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरमिति* । आत्मनो निवासस्थानत्वात्क्षेत्रम्, परं च तत्क्षेत्रं चेति कर्मधारयः । तत्र चिकित्स्यः=प्रतिकार्योपनेय इत्यर्थः, न तु तत्र भिषजितव्य इति । यदाह—*नामृतस्येति* ।

न्यासः

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ॥ संज्ञाग्रहणमित्यादि । विशिष्ट एवाभिधेये प्रत्ययान्तस्य वृत्तिरभिधेय नियमः, स यथा स्यादित्येवमर्थं संज्ञाग्रहणम् । साक्षीति । 'अव्ययानां भमात्रेटिलोपः सायंप्रातिकाद्यर्थम्' इति टिलोपः । संज्ञाग्रहणादित्यादि । असति हि संज्ञाग्रहणे यथोपद्रष्टा साक्षिशब्देनोच्यते, तथा दाता ग्रहीता चोच्येयाताम्, एतावपि हि द्रष्टारौ भवत एव । संज्ञाग्रहणादुपद्रष्टैवोच्यते । दातृग्रहीतृभ्यां योऽन्यो द्रष्टा समीपे स उपद्रष्टा । ननु च 'स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षि' इति निपातनादेव साक्षिशब्दः साधुर्भविष्यति, अभिधेयनियमोऽपि लौकिकत्वादस्य पदस्य लोकोक्त एव विज्ञास्यते, तदपार्थकमिदम्? नैतदस्ति; न हि तस्मिन् निपातने साक्षिशब्दस्य नकारान्तता शक्यते व्यवसातुम्, प्रमाणाभावात् । लोके न स्वाभिधेये प्रतीयमाने प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । तस्मान्नकारान्तताप्रतिपत्तिगौरवपरिहारार्थं चेदमुच्यते ॥

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ॥ चिकित्स्य इति शक्यार्थे कृत्यः । वाक्यार्थ इत्यादि । 'परक्षेत्रे चिकित्स्यः' इत्यस्य वाक्यस्यार्थे क्षेत्रिय इत्येतत् पदवचनमविद्यमानप्रकृतिप्रत्ययविभागं निपात्यते । चकारोऽन्तोदात्तार्थः । परक्षेत्राद्वेत्यादि । वाशब्दः

क्षेत्रियो व्याधिः। क्षेत्रियं कुष्ठम्। परक्षेत्रम्=जन्मान्तरशरीरम्, तत्र चिकित्स्यः क्षेत्रियः। असाध्योऽप्रत्याख्येयो व्याधिरुच्यते। नामृतस्य निवर्तत इत्यर्थः।

अथ वा—क्षेत्रियं विषम्। यत्परक्षेत्रे परशरीरे संक्रमय्य चिकित्स्यते।

अथ वा—क्षेत्रियाणि तृणानि। यानि सस्यार्थे क्षेत्रे जातानि चिकित्स्यानि नाशयितव्यानि।

अथ वा—क्षेत्रियः पारदारिकः। परदाराः परक्षेत्रम्, तत्र चिकित्स्यः निग्रहीतव्यः। सर्वं चैतत्प्रमाणम्॥

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा॥ ९३॥

इन्द्रियमित्यन्तोदात्तं शब्दरूपं निपात्यते। रूढिरेषा चक्षुरादीनां करणानाम्। तथा च व्युत्पत्तेरनियमं दर्शयति। इन्द्रशब्दात्षष्ठी-

पदमञ्जरी

अथ वेति। समुच्चय एवात्र विवक्षितः, न तु विकल्पः। वक्ष्यति—'सर्वं चैतत्प्रमाणम्' इति। अत्र परस्य क्षेत्रमिति षष्ठीसमासः, एवमुत्तरयोः। *चिकित्स्य इति।* कृत्यः शक्यार्थे, पूर्वत्र तु कर्ममात्रे, उत्तरयोरर्हार्थे। *सस्यार्थ इति।* अनेन क्षेत्रस्य परकीयत्वमाह—*परदाराः परक्षेत्रमिति।* कर्मणि ष्ट्रन्, क्षेतव्याः=गन्तव्याः, उपगमनार्हा दाराः=क्षेत्रम्। *तत्रेति।* तस्मिन्विषये। *निगृहीतव्य इति।* दण्डादिना॥

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा॥ अन्तोदात्त इति। 'क्षेत्रियच्' इत्येतत्साहचर्यात्। *रूढिरेवेति।* किमत्र प्रमाणम्? इत्याह—*तथा चेति।* न हि यौगिकेषु व्युत्पत्तेरनियमो भवति। इन्द्र *आत्मेति।* कार्य-

न्यासः

प्रकारान्तरं द्योतयति। अथ वा—परक्षेत्रशब्दात् तत्रेति सप्तमीसमर्थात् चिकित्स्य इत्यत्रार्थे प्रत्ययो निपात्यते, परशब्दस्य च लोपः। **परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरमिति।** इहत्याच्छरीरादन्यत्वादसाध्य इत्यनेन परशब्दस्यार्थं दर्शयति।

सस्यार्थं हि यत् क्षेत्रं संस्कृतं तदनुत्पाद्यत्वात् तृणानां परक्षेत्रं भवति।

सर्वं चैतत् प्रमाणमिति। सर्वस्याचार्येण प्रतिपादितत्वात्॥

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा॥ रूढिरेषेत्यनेनावयवार्थं त्याजयति। कथं पुनर्ज्ञायते रूढिरेषा? इत्याह—**तथा चेत्यादि।** यद्येषा रूढिर्न स्याद्, व्युत्पत्तेरनियमो न स्यात्; अरूढिशब्देषु नियतत्वादेव तदर्थस्य। रूढिशब्दे

समर्थात् 'लिङ्गम्' इत्येतस्मिन्नर्थे घच्प्रत्ययो भवति। इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्रः=आत्मा, स चक्षुरादिना करणेनानुमीयते, नाकर्तृकं करणमस्ति। इन्द्रेण दृष्टम्, तृतीयासमर्थात्प्रत्ययः। आत्मना दृष्टमित्यर्थः। इन्द्रेण सृष्टम्। आत्मना सृष्टम्, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा। इन्द्रेण जुष्टम्, आत्मना जुष्टम्=सेवितम्; तद्द्वारेण विज्ञानोत्पादनाद्। इन्द्रेण दत्तम्, आत्मना विषयेभ्यो दत्तं यथायथं ग्रहणाय।

इतिकरणः प्रकारार्थः। सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्तव्या; रूढेरनियमादिति।

पदमञ्जरी

कारणसङ्घातं प्रतीश्वरत्वात्। विज्ञायते च तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेति। *करणेनेति*। हेतुगर्भविशेषणम्। यथा पुनरयं हेतुस्तथा दर्शयति—*नाकर्तृकमिति*। इतिकरणो हेतौ। न हि वाश्यादिकरणमनधिष्ठितं कर्त्रा प्रवर्तते। *इन्द्रेण दृष्टमिति*। दृष्टम्=ज्ञातम्, तथा च कार्यकारणसङ्घातं प्रस्तुत्य भवति वादः—'स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततमपश्यत्', 'इदमदर्शम्' इत्यादि। कथं पुनश्चक्षुरादिकमात्मना सृष्टम्? इत्याह—*तत्कृतेनेति*। शुभं कर्म=विहितम्, प्रतिषिद्धम्=अशुभम्—तदुभयं मिलितं कारणानामुत्पादकम्; इष्टानिष्टानां रूपादीनां चक्षुरादिभिरुपलम्भात्। *यथायथमिति*। यो यस्य विषयः—चक्षुषो रूपम्, घ्राणस्य गन्ध इत्यादि, तद्ग्रहणायेत्यर्थः।

न्यासः

त्वस्मिन् युज्यते व्युत्पत्तेरनियमः। रूढिशब्दानां हि यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्तिः क्रियते परिकल्पितेनावयवार्थेन। कथं पुनरात्मा चक्षुरादिना करणेन शक्योऽनुमातुम्? इत्याह—**नाकर्तृकमित्यादि**। अनेनाविनाभावं दर्शयति। इतिकरणो हेतौ। यस्मात् करणादीनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा कर्त्रधीना, तस्माद् यत्र तानि तत्रावश्यं कर्त्रा भवितव्यम्। चक्षुरादिना करणेनाविनाभावेनालिङ्गेनात्मानुमीयते। कथं पुनस्तदात्मना सेवितम्? इत्याह—**तद्द्वारेणेत्यादि**। द्वारेण हि विषयेष्वात्मनो ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माद् विषयान् ज्ञातुमात्मा चक्षुरादीन्द्रियं सेवते। **यथायथमिति**। यथास्वम्। यो यस्येन्द्रियस्य विषयस्तत् तस्मै दत्तम्।

इतिकरणः प्रकारार्थ इति। एवं प्रकारान्तरेणापि व्युत्पत्तिः कर्त्तव्येत्येतदितिकरणः प्रकारार्थं द्योतयति। अत एवाह—**सति सम्भव इत्यादि**। इन्द्रेण विषया नीयन्ते सम्बध्यन्त इतीन्द्रियमित्येवमादिका सति सम्भवे तथा व्युत्पत्तिः कर्त्तव्या।

वाशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यमानो विकल्पानां स्वातन्त्र्यं दर्शयति ॥

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ९४ ॥

तदिति प्रथमा समर्थाविभक्तिः । अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थौ ।

पदमञ्जरी

अन्यथापि कर्त्तव्येति । तद्यथा–इन्द्रेण दुर्जयमिति । *प्रत्येकमभिसम्बध्यमान इति* । हेतुगर्भविशेषणम्; यस्मात्प्रत्येकमभिसम्बध्यते तस्मादित्यर्थः ॥

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ *अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थाविति* । ननु च यद्यस्य भवति तस्मिन्नपि तद्भवति, यच्च यस्मिन् भवति तस्यापि तद्भवति; यथा—वृक्षस्य शाखा, वृक्षे शाखेति; तत्रान्यतरनिर्देशेनैव सिद्धम्, किमर्थमुभावर्थौ निर्दिश्येते ? नैतयोरवश्यम्भावी समावेशः; तथा हि—षष्ठ्यर्थमात्रनिर्देशे यत्राधिकरणं तेनैव रूपेण विवक्ष्यते, न तज्जन्यः शेषसम्बन्धः, यथा—वृक्षा अस्मिन्पर्वते सन्तीति न तत्र प्रत्ययः स्यात् । न ह्यत्र क्रियाकारकपूर्वकः शेषसम्बन्धो दृश्यते; वृक्षैः पर्वतस्यानारम्भात् नावयवावयविभावः । आनन्तर्यादिसम्बन्धस्तु सम्भवति । न तु तत्र मत्वर्थीयो भवति; अनभिधानात् । तथा केवलसप्तम्यर्थनिर्देशे कारकान्तरपूर्वः सम्बन्धो न गृहीतः स्यात्; ततश्च पुत्रवान्, गोमानित्यादौ न स्याद् । उत्पादनप्रतिग्रहादिक्रियाविषयकर्तृत्वजन्यो ह्यत्र सम्बन्धः,नाधारपूर्वकः; देशान्तरगतेऽपि पुत्रादौ तद्वानिति व्यपदेश्यस्य भावात् । सामीपिकस्याप्यधिकरणस्यासम्भवः । स्यादेतत्—पुत्रस्य पित्रधीनत्वाद्गवां च स्वाम्यधीनत्वाद्गुरौ वसतीतिवदधिकरणं भविष्यति, करणसंज्ञायां हि तमब्ग्रहणेन कारकप्रकरणे प्रकर्षस्यानाश्रयणाद्गौणस्याप्याधारस्याधिकरणसंज्ञा भवत्येवेति ? भवत्वेवमधिकरणसंज्ञा, मत्वर्थीयस्तु मुख्य एवाधिकरणे स्यात्—वृक्षवान् पर्वतः, गोमाञ्जनपद इत्यादौ; न गौणे—पुत्रवान् गोमान्देवदत्त इत्यादौ, न ह्यत्र

न्यासः

वाशब्द इत्यादि । असति हि वाशब्दे 'इन्द्रलिङ्गम्' इत्येवमादीनां विकल्पप्रकाराणां पारतन्त्र्यं विज्ञायेत । परस्परापेक्षया समुच्चिततया एव व्युत्पत्तेः कारणमिति । वाशब्दस्त्विन्द्रलिङ्गमितीन्द्रदृष्टमिति चेत्येवं प्रत्येकं सम्बध्यमानस्तेषां स्वातन्त्र्यं दर्शयति । तेनैकैकः प्रकारः प्रकारान्तरनिरपेक्षो व्युत्पत्तावङ्गभावमुपयाति ॥

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ **प्रत्ययार्थाविति** । ननु च यद् यस्य भवति तत् तस्मिन्नस्ति, यद्यस्मिन्नस्ति तत् तस्य भवति, यथा—वृक्षे शाखा, वृक्षस्य शाखेति; तत्रान्यतरनिर्देशेनैव सिद्धम्, तत् किमर्थं द्वौ निर्दिश्येते ? नैतदस्ति; न हि षष्ठीसप्तम्यर्थयोरवश्यम्भावी समावेशः, तथा हि गावो गङ्गायां भवन्ति, न च ते तस्याः; तथा देशान्तरगतोऽपि पुत्रो देवदत्तस्य च भवति, न चासौ तत्र । तस्मादुभावपि

अस्तीति प्रकृतिविशेषणम् । इतिकरणो विवक्षार्थः । तदिति प्रथमा-

पदमञ्जरी

गौणग्रहणस्य लिङ्गमस्ति । तस्मादुभयोरपि निर्देशः कर्तव्यः । *अस्तीति प्रकृतिविशेषणमिति* । अर्थद्वारेणेति द्रष्टव्यम् ।

ननु सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणविशेष्यभावो भवति नीलोत्पलवत्, न च सत्तां पदार्थो व्यभिचरति, तामन्तरेण पदस्योच्चारयितुमप्यशक्यत्वात्; तथा हि-यावद्बुद्ध्या पदार्थो न विषयीकृतस्तावत्पदस्य प्रयोगाभावः, तेन बुद्धिसत्तासमाविष्टमर्थं शब्दो गोचरयति, तस्यैव बहिस्सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनाय वृक्षोऽस्ति, वृक्षो नास्तीति प्रयोगः। यदि बाह्यसत्तासमाविष्टं वस्तु वाच्यं भवेत्, तदा विरोधपौनरुक्त्याभ्यां प्रयोगो न भवेदयम् । एवमेवात्यन्तासतोऽपि बहिः शशविषाणादीनर्थान्बुद्ध्या विषयीकृत्य तद्वाचिशब्दप्रयोगः । तस्माद् बुद्ध्युपारूढोपचरिता सत्ता शब्दप्रयोगस्य निमित्तमिति न तां पदार्थो व्यभिचरति । तदुक्तम्–'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति' इति । कस्यचित्पदस्यार्थः सन्नेवंविधां सत्तां न व्यभिचरतीत्यर्थः?

इदं तर्हि प्रयोजनम्—या सम्प्रतिसत्ता मुख्या वर्तमानलक्षणा बाह्या तस्यां यथा स्याद्, भूतभविष्यतोर्या सत्तातीतानागतवस्तुपरामर्शिन्या बुद्ध्योत्प्रेक्षितोपचरितरूपा तस्यां मा भूत् । तेन गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य भवितार इत्यत्रार्थे गोमानिति प्रयोगाभावः ।

यद्येवम्, विद्यमान एव देवदत्ते तद्गवीनामतीतानागतत्वप्रतिपादनाय गोमानासीत् गोमान्भवितेति प्रयुज्यते, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सम्प्रतिसत्ताया अभावात्प्रत्ययाप्रसङ्गः? नैष दोषः; नात्र साक्षाद्गवां सत्ता कथ्यते, किं तर्हि? गोमत एषा सत्ता कथ्यते । यदि पुनर्गवां सत्ता कथ्येत; यथेहास्तेः प्रयोगो न भवति—गावोऽस्य सन्ति गोमानिति प्रत्ययेनैव प्रकृत्यर्थोपाधेः प्रतीतत्वात्, तथेहापि न स्यात्—गोमानासीद्, गोमान्भवितेति । सत्यपि वा प्रयोगे यथेह बहुवचनं भवति–गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य भवितार इति; एवमिहापि स्याद्–गोमानासीद्, गोमान्भवितेति । तस्मान्नैषा गवां सत्ता कथ्यते,किं तर्हि ? गोमत्सत्तैषा कथ्यते । तत्र यद्यपि यो गोमान्स विद्यते, गोमत्तारूपं तु तस्यातीतमनागतं वेति भूतभविष्यत्प्रयोगः । यथा–ईश्वरोऽयमासीदरिद्रोऽयं भविष्यतीति । तत्रार्थात्प्रकृत्यर्थस्याप्यतीतानागतत्वप्रतीतिर्भवति, सा वाक्यार्थवशादुपजायमाना बहिरङ्गेति नान्तरङ्गं शब्दसंस्कारं निवर्तयति, यथा—ग्रामं न गच्छतीति । तदेवं सम्प्रति सत्तायां यथा स्याद्, भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूदित्येवमर्थमस्तीत्युच्यत इति स्थितम् ।

न्यासः

निर्देष्टव्यौ । अस्तीति प्रकृतिविशेषणमिति । ननु च सम्भवे व्यभिचारे च विशेष्यविशेषणभावो भवति नीलोत्पलवत्, न चास्तित्वस्य व्यभिचारोऽस्ति, यथोक्तम्—'न

समर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे 'अस्मिन्' इति सप्तम्यर्थे वा मतुप् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमस्ति चेत्तद्भवति । अस्त्यर्थोपाधिकं चेत्तद्भवतीत्यर्थः । इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा । गावोऽस्य सन्ति गोमान् देवदत्तः । वृक्षा अस्मिन्सन्ति वृक्षवान्पर्वतः । यवमान् । प्लक्षवान् ।

पदमञ्जरी

ननु च यत्रान्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽपि गम्यते, ततश्च गावोऽस्य गावोऽस्मिन्नित्युक्ते किमित्यपेक्षायां सन्तीति गंस्यते, नार्थोऽस्तिग्रहणेन ? न सार्वत्रिकमेतत्; यदा खलु गावोऽस्य नान्यस्य, गावोऽस्मिन्नान्यस्मिन्नित्येवं विवक्षा, न तदास्तित्वं प्रतीयते । तस्मादस्तीति वक्तव्यम् ।

अथ क्रियमाणेऽप्यस्तिग्रहणे इह कस्मान्न भवति—गावोऽस्य सन्त्यनन्तरा इति ? सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात् । इह कस्मान्न भवति–चित्रगुः, शबलगुरिति ? बहुव्रीहिणोक्तत्वात् । वाक्ये तु चित्रा गावोऽस्य सन्तीति प्रत्येकमसामर्थ्यान्न भवति, समुदायात्त्वप्रातिपदिकत्वात् । इह तु पञ्च गावोऽस्य सन्ति पञ्चगुः दशगुरिति 'तद्धितार्थ' इति द्विगुश्च प्राप्नोति, बहुव्रीहिश्च; तत्रचित्रगुरित्यादौ सावकाशं बहुव्रीहिं संख्यावाचिषु द्विगुर्बाधेत, ततश्च तद्धितार्थे विषयभूते विहितेन द्विगुनाऽनुक्तस्तद्धितार्थ इति यथेह तद्धितो भवति–द्वैमातुरः, पाञ्चनापितिरिति, 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुगपि प्राग्दीव्यतीयस्य विधीयते, तेन मतुपो लुगलभ्यः । तस्मात् 'तद्धितार्थ' इत्यत्र यदुक्तम् 'सर्वत्र मत्वर्थे प्रतिषेधः' इति, तदेवात्र शरणम् ।

न्यासः

सत्तां पदार्थो व्यभिचरति' इति, तस्या व्यवच्छेद्याभावादपार्थकमिदं विशेषणम् ? नैतदस्ति; विशेषणोपादानसामर्थ्यादेव विशिष्टैव सत्ता विशेषणत्वेनोपात्ता, न सत्तामात्रमिति प्रतीयते । सा पुनर्विशिष्टसत्ता सम्प्रतिसत्तैव । अस्ति च तस्या व्यभिचार इति प्रसज्यत एव विशेष्यविशेषणभावः । किं पुनः सम्प्रतिसत्ता विशेषणत्वेनोपात्ता ? तस्यामेव प्रत्ययो यथा स्यात्, भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूदित्येवमर्थम् । तेन गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य भवितार इत्यत्र न भवति । ननु च गोमानासीद्, गोमान् भवितेति भूतभविष्यत्सत्तायां मतुपं विधाय कथं प्रयुज्यते ? नैष दोषः; धातुसम्बन्धेऽयथाकालोक्तानामपि प्रत्ययानां साधुत्वविधानादेवं प्रयुज्यते; न भूतभविष्यत्सत्तायाम् प्रत्ययविधानात् । अस्त्यर्थोपाधिकं चेद् भवतीत्यर्थ इति । वर्त्तमानसत्ताविशिष्टं यदि तत्र भवतीत्यर्थः । गोमानिति । 'उगिदचाम्' इति नुम् । हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घः । वृक्षवानिति । 'मादुपधायाश्च' इत्यादिना वत्वम् ।

इतिकरणाद्विषयनियमः—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

भूम्नि तावत्—गोमान् । निन्दायाम्—कुष्ठी, ककुदावर्त्तिनी । प्रशंसायाम्—रूपवती कन्या । नित्ययोगे—क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने—उदरिणी कन्या । संसर्गे—दण्डी, छत्त्री । अस्तिविवक्षायाम्—अस्तिमान् ॥

पदमञ्जरी

भूमेत्यादि । अस्तिविवक्षायां ये मतुबादयो विधीयन्ते ते भूमादिषु विषयभूतेषु भवन्तीत्यर्थः ।

बहूनां भावो भूमा, तत्र भूम्नि; गोमान्, यवमान् । बहुत्वं चाभिधानवशाद्विशिष्टमेवाश्रयणीयम्, यदाह—'यावतीभिः खल्वपि गोभिर्वाहदोहप्रसवाः कल्पन्ते तावतीषु सत्ता कथ्यते, कस्यचिच्चतसृभिरपि कल्पन्ते कस्यचिच्छतेनापि न कल्पन्ते' इति । एवं च यवमानिति त्रिप्रभृतिषु बहुत्वसद्भावेऽपि न भवति । इह यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षतीति जातिमात्रसम्बन्धो विवक्षित इति भूमाभावेऽपि भवति । भूमादिग्रहणं त्वभिधानस्वभावप्रदर्शनार्थम् । *निन्दायां ककुदावर्तिनी कन्या, प्रशंसायां रूपवान्, नित्ययोगे क्षीरिणो वृक्षाः, अतिशायने उदरिणी कन्या । संसर्गे*, संसर्गः=संयोगः; दण्डी संसक्तदण्ड उच्यते । गृहावस्थिते तु दण्डे दण्डीति न भवति । क्वचिद् वृत्तौ ग्रन्थः *अस्तिविवक्षायामस्तिमानिति* । तत्र भूमादिष्वस्तिविवक्षायां च भवति मतुबादय इति समुच्चयो व्याख्येयः । अस्तिशब्दो विभक्तिप्रतिरूपको निपातः कर्तृविशिष्टसत्तावाची, नैषोऽस्तेर्लट् । प्रत्ययान्तरमपि दृश्यते—अस्तित्वम्, अस्तितेति । अव्यभिचारादस्तिसामानाधिकरण्यं नास्तीत्यस्तिविवक्षायां प्रत्ययो विधीयते । एतच्च सूत्रे 'अस्ति' इति तन्त्रेण लुप्तपञ्चमीकप्रकृतिनिर्देशाश्रयणाल्लभ्यते । अस्तिमानिति च वृत्तिविषये कर्तृविशेषे धनेऽस्तिशब्दो वर्त्तते । न हि कर्तृसामान्येन प्रत्ययार्थस्य विशेषणं सम्भवति, सर्वस्यैव हि सर्वदा यत्किञ्चिदस्ति ।

न्यासः

विषयनियम इति । विषये प्रत्ययस्य भावो विषयनियमः ।

स पुनर्विशिष्ट विषयो भूमादिरिति दर्शयन्नाह—भूमनिन्देत्यादि । बहोर्भावो भूमा । 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' इतीमनिच्, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति भूभावः, इकारलोपश्च । गावो बहवोऽस्य सन्तीति गोमान् । एकस्य द्वयोर्वा विद्यमानत्वेऽपि गोमानिति न व्यपदिश्यते । निन्दायाम् ककुदावर्त्तीति । निष्कलत्वान्निन्दितः । प्रशंसायाम् प्रशस्तं रूपं यस्यास्ति रूपवानित्युच्यते । नित्ययोगे क्षीरमेषामस्तीति

❀ गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः । ❀ शुक्लो गुणोऽस्यास्ति शुक्लः पटः । कृष्णः । श्वेतः ॥

रसादिभ्यश्च ॥ ९५ ॥

रसादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप् प्रत्ययो भवति, 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इत्येतस्मिन्विषये । रसवान् । रूपवान् ।

किमर्थमिदमुच्यते, न पूर्वसूत्रेणैव मतुप् सिद्धः ? रसादिभ्यः पुनर्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्——अन्ये मत्वर्थीया मा भूवन्निति ।

कथं रूपिणी कन्या, रूपिको दारकः ? प्रायिकमेतद्वचनम् ।

इतिकरणो विवक्षार्थोऽनुवर्तते ।

पदमञ्जरी

गुणवचनेभ्य इति । अत्र शुक्लादय एवाभिन्नरूपा गुणे तद्वति च वर्तमाना गृह्यन्ते, न तु सर्वदा गुणमात्रवचना रूपादयः । तत्र यद्यप्यभेदोपचारादेव शुक्लः पट इत्यादिसिद्धिः, तथापि पटस्य शुक्ल इति भेदविवक्षाया अपि दर्शनात्पक्षे मतुप उत्पन्नस्य श्रवणप्रसङ्गाल्लुग्वक्तव्य इति ॥

रसादिभ्यश्च ॥ *न पूर्वेणैवेति* । नशब्दस्य काका प्रयोगात्सिद्ध एवेत्यर्थः । नन्वर्थे वा नशब्दो द्रष्टव्यः । *अन्ये इति* । 'अत इनिठनौ' इत्यादयः ।

कथमिति । अन्यनिवृत्त्यर्थे पुनर्वचने रूपिणीत्यादि न सिद्ध्यतीति भावः । *प्रायिकमिति* । प्रयोगबाहुल्याबाहुल्येनास्यान्यनिवृत्तिः प्रयोजनमित्यर्थः । ततः किम् ? इत्याह–*क्वचिदिति* । कथं पुनः प्रायिकत्वमित्याह—*इतिकरण इति* । तेन यत्र मतुबन्तादेव लोकस्य विवक्षा भवति, तत्रैवानेनान्यनिवृत्तिः क्रियते, न सर्वत्रेत्ययमर्थो भवति । एतच्च गुणादिति गणपाठमनपेक्ष्योक्तम्, तदपेक्षां मत्वाऽऽह–

न्यासः

क्षीरिणो वृक्षाः । नित्यः क्षीरसम्बन्धो येषां त उच्यन्ते । **अतिशायने उदरिणी कन्येति** । यस्या अतिशयेनोदरमस्ति सैवमुच्यते । **संसर्गे दण्डीति** । दण्डसंसर्ग उच्यते । तेनेह गृहस्थिते विद्यमानेऽपि दण्डे दण्डीति नाभिधीयते ॥

रसादिभ्यश्च । अन्यनिवृत्त्यर्थमिति । अन्यस्येनिप्रभृतेर्मत्वर्थीयस्य निवृत्तिरर्थः प्रयोजनं यस्य तत् तथोक्तम् । **कथमित्यादि** । रसादिभ्यः पुनर्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् । ततो रूपिणी कन्येत्यादि न सिध्यतीति भावः । **प्रायिकमित्यादि** । अन्यनिवृत्तेर्बाहुल्येनार्थः—सोऽस्यास्तीति प्रायिकमेव युक्तं भवतीति ।

बाहुल्येनास्यान्यनिवृत्तित्वेन रूपिणीत्यादौ क्वचिदन्योऽपि भवतीति कथं पुनरस्य प्रायिकत्वं लभ्यते ? इत्याह–**इतिकरण इत्यादि** । इतिकरणश्चेह विवक्षार्थोऽनुवर्त्तते । तेन

अथ वा—'गुणात्' इत्यत्र पठ्यते, तेन ये रसनेन्द्रियादिग्राह्या गुणाः, तेषामेवायं पाठः। इह मा भूत्—रूपिणी, रूपिक इति, शोभायोगः गम्यते। रसिको नट इत्यत्र भावयोगः।

रस। रूप। गन्ध। स्पर्श। शब्द। स्नेह। गुणात्। एकाचः। गुणग्रहणं रसादीनां विशेषणम्। रसादिः॥

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्॥ ९६॥

प्राणिस्थवाचिनः शब्दादाकारान्ताल्लच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यां मत्वर्थे। चूडालः, चूडावान्। कर्णिकालः, कर्णिकावान्।

पदमञ्जरी

अथ वेति। अत्र गणे *गुणादिति* पठ्यते, तच्च रसादीनां सर्वेषां प्रत्येकं विशेषणम्, न स्वतन्त्रम्, नापि 'एकाचः' इत्यनेन समानाधिकरणम्। *तेन ये रसनेन्द्रियादिग्राह्यागुणा इति* आदिशब्देन चक्षुरादिपरिग्रहः। *तेषामेवायं पाठ इति*। तेभ्य एवानेनान्यनिवृत्तिः क्रियते। *रूपिणी, रूपिकः शोभायोग इति*। ननु शोभापि गुणस्तथा भावः? सत्यम्; गुणादिति विशेषणसामर्थ्यात्प्रसिद्धतराणां रसनादीन्द्रियग्राह्याणां गुणानां पाठः। *भावयोग इति*। भावाः=रतिहासादयो नाट्यधर्माः।

भाष्ये तु 'उर्वशी वै रूपिण्यप्सरसां स्पर्शिको वायुः' इति दर्शनाद्यथाभिधानं प्रत्ययान्तरमपि भवति, तेन नियमस्यानिष्टत्वात्सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम्।

एकाच इति। अत्र गुणादिति नापेक्ष्यते—स्ववान्, खवान्॥

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्॥ *चूडाल इति*। चूडा=शिखा, न त्वापीडा-

न्यासः

यत्र तु मतुबन्तादेव लोकस्य विवक्षा भवति, तत्र तेनान्यनिवृत्तिः क्रियते; न सर्वत्र।

अथ वेत्यादि। परिहारान्तरम्। आदिशब्देन चक्षुरादीन्द्रियपरिग्रहः। गुणादिति गणे पठ्यते। न च गुणग्रहणं सर्वेषामेव रसादीनां विशेषणम्। तेन ये रसनादीन्द्रियग्राह्याः। तेषामेवायं पाठ इति। गुणवचनान्तेभ्यो रसनादीन्द्रियग्राह्येभ्योऽन्यनिवृत्तिरनेन क्रियते, नान्येभ्यः। स्यादेतत्—रूपिणीत्यादावपीन्द्रियग्राह्या ये गुणास्तेभ्यो मत्वर्थीय उत्पन्नः? इत्याह—**रूपिणी, रूपिक इत्यादि**। रूपिणी, रूपिक इत्यत्र शोभागुणो गम्यते, न चक्षुर्ग्राह्येण रूपेण। रसिको नट इत्यत्रापि भावगुणो गम्यते, न तु रसनेन्द्रियग्राह्येण गुणेन। भावाः शृङ्गारवीरबीभत्सादयो रचनाधर्माः।

एकाच इति। एकाक्षरादिति। एकोऽज् यस्य तस्मात् मतुबेव भवतीति—धीमान्, स्ववानिति।

प्राणिस्थादिति किम् ? शिखावान्प्रदीपः । आदिति किम् ? हस्तवान् । पादवान् ।

* प्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम् * । इह मा भूत्—चिकीर्षाऽस्यास्ति, जिहीर्षाऽस्यास्ति चिकीर्षावान्, जिहीर्षावान् ।

प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वे सिद्धे चकारः—चूडालोऽस्तीत्यत्र 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' इति स्वरितबाधनार्थः ॥

पदमञ्जरी

ख्योऽलङ्कारः । एवं कर्णिकापि न कर्णालङ्कारः, किं तर्हि ? तत्सदृशः प्राण्यङ्गविशेषः । प्राण्यङ्गादेव हीष्यते ।

शिखावान्दीप इति । प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शिता; शिखाशब्दस्य व्रीह्यादिपाठाल्लचोऽप्रसङ्गात् । चूडावान्वृक्ष इति प्रत्युदाहार्यम् ।

प्राण्यङ्गादिति वक्तव्यमिति । एतच्चेतिकरणानुवृत्तेर्लभ्यते । *चूडालोऽसीति* । असीत्यस्य 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः, चूडालशब्दात्सुः, रुत्वम्, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युकारः, स च हलां स्रंसनधर्मत्वादनुदात्तः, पूर्वेण 'आद्गुणः', 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः,' ततः 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपत्वमेकादेशः, तस्य 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति स्वरितः प्राप्नोति, चित्करणसामर्थ्यान्न भवति । यद्येवम्, चूडालः—आमन्त्रिताद्युदात्तत्वे शेषनिघातो न स्यात्, हे चूडाल—आमन्त्रितनिघातो न स्यात्, चूडालत्वमित्यादौ च प्रत्ययस्वरे शेषनिघातः ? यदीष्यते, वक्तव्योऽत्र परिहारः; अथ नेष्यते, प्रयोजनमेवैतच्चित्स्वरस्य भविष्यति ॥

न्यासः

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ॥ **कर्णिकाल इति** । कर्णिकादिशब्दोऽयं प्राण्यङ्गस्य वाचकः, नालङ्कारविशेषस्य ।

प्राण्यङ्गादेव हीष्यते, अत आह—**प्राण्यङ्गादिति वक्तव्यमिति** । प्राण्यङ्गत्वादेवाकारान्ताल्लज् भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—इतिकरणो विवक्षार्थोऽनुवर्तते । तेन प्राण्यङ्गादेव भविष्यतीति, नान्यस्मात् । अनभिधानाद्वाऽप्राण्यङ्गान्न भविष्यतीति ।

ननु चैकाचो लचः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं सिद्धम्, तत् किमर्थं चकारः ? इत्याह—**प्रत्ययस्वरेणेवेत्यादि** । चूडालशब्दात् प्रथमैकवचनान्तात् परतोऽसिशब्दे व्यवस्थिते तस्य 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः, सोः 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वम्, 'आद्गुणः', तस्य च 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्तत्वम्, 'एङः पदान्तादति' इति पररूपमेकादेशः । असति तु चकारे 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति स्वरितः स्यात् । अतस्तद्बाधनार्थं चकारः क्रियते ॥

सिध्मादिभ्यश्च ॥ ९७ ॥

'लजन्यतरस्याम्' इति वर्त्तते । सिध्मादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो लच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यां मत्वर्थे । सिध्मलः, सिध्मवान् । गडुलः, गडुमान् ।

अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप्समुच्चीयते, न तु प्रत्ययो विकल्प्यते । तस्मादकारान्तेभ्य इनिठनौ प्रत्ययौ न भवतः ।

पदमञ्जरी

सिध्मादिभ्यश्च ॥ *अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप्समुच्चीयत इति* । अनेकार्थत्वान्निपातानाम्, अन्यतरस्यांग्रहणमिह समुच्चये वर्त्तत इत्यर्थः । तथा च वार्त्तिकम्—'लजन्यतरस्यामिति समुच्चयः' इति । *न तु प्रत्ययो विकल्प्यत इति* । यथान्यत्रान्यतरस्यांग्रहणं विकल्पार्थं न तथात्रेत्यर्थः । किमेवं सति सिद्धं भवति ? तत्राह—*तस्मादिति* । विकल्पार्थेऽन्यतरस्यांग्रहणे लचा मुक्ते यथाप्राप्तमेव स्यात्, ततश्चाकारान्तेभ्य इनिठनौ स्याताम्, समुच्चयार्थे प्रकृतो मतुबेव समुच्चीयत इति न दोषः । कथं पुनर्ज्ञायते—समुच्चयोऽत्रार्थः, न विकल्पोऽर्थ इति ? ज्ञापकात् । यदयं पिच्छादीन्, तुन्दादींश्च पृथक् पठति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? इह 'तुन्दादिभ्य इलच्च' इति चत्वारः प्रत्यया इष्यन्ते—इलच्, इनिठनौ, मतुबिति; तत्र यद्यन्यतरस्यांग्रहणं विकल्पार्थं स्यात्पिच्छादिभ्योऽपि प्रत्ययचतुष्टयं स्यात् । कथम् ? इलचो विकल्पितत्वादिनिठनौ, तयोरपि विकल्पितत्वान्मतुबिति; ततश्च तुन्दादिष्वेव पिच्छादयः पाठ्याः, पिच्छादिषु वा तुन्दादयः; पृथक्पाठाद्विज्ञायते—'अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप्समुच्चीयते, न यथाप्राप्तमभ्यनुज्ञायते' इति । एवं हि

न्यासः

सिध्मादिभ्यश्च ॥ यद्यन्यतरस्यांग्रहणेन लज् विकल्प्येत, तेन पक्षे यथाप्राप्तमेव स्यादित्यकारान्तात् सिध्मादेरिनिठनौ स्याताम् । अत इमं दोषं परिहर्तुमाह—**अन्यतरस्यांग्रहणेनेत्यादि** । अनेकार्थत्वान्निपातानामन्यतरस्यामिह समुच्चये वर्त्तते । तथा च वार्त्तिककारेणोक्तम्—'अन्यतरस्यामिति समुच्चयः' इति । मतुबिह स्वरितत्वात् सन्निहित इति स एव समुच्चीयते, न तु यथाप्राप्तं प्रत्ययान्तरमित्येके । अन्ये त्वाहुः—'अन्यतरस्यांग्रहणं विकल्पार्थमेव । न चेनिठनावुभौ क्रियेते; तयोर्महाविभाषयैव सिद्धत्वात् । तर्हि प्रत्ययान्तरं पक्षे विधीयते ? तदपि न; यथाप्राप्तमापादयितुं सन्निहितप्रत्यासत्तेः मतुबेव । तदेवमन्यतरस्यांग्रहणे सति मतुबेव । तदेवमन्यतरस्यांग्रहणे सति मतुबेव विकल्प्यत इत्यभिप्रायेणान्यतरस्यांग्रहणेन समुच्चीयत इत्युक्तम्' इति ।

न तु प्रत्ययो विकल्प्यत इति । ननु च लचो भावाभावौ क्रियेते इत्यर्थः । तस्मा-

सिध्म । गडु । मणि । नाभि । जीव । निष्पाव । पांसु । सक्तु । हनु । मांस । परशु । ❀ पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्च ❀ । पार्ष्णीलः । धमनीलः । पर्ण । उदक । प्रज्ञा । मण्ड । पार्श्व । गण्ड । ग्रन्थि । ❀ वातदन्तबलललाटानामूङ् च ❀ । वातूलः । दन्तूलः । बलूलः । ललाटूलः । ❀ जटाघटाकलाः क्षेपे ❀ । जटालः । घटालः । कलालः । सक्थि । कर्ण । स्नेह । शीत । श्याम । पिङ्ग । पित्त । शुष्क । पृथु । मृदु । मञ्जु । पत्त्र । चटु । कपि । कण्डु । संज्ञा । ❀ क्षुद्रजन्तूपतापयोश्चेष्यते ❀ । क्षुद्रजन्तु—यूकालः । मक्षिकालः । उपतापात्—विचर्चिकालः । विपादिकालः । मूर्छालः । सिध्मादिः ॥

पदमञ्जरी

पिच्छादिभ्यः प्रत्ययद्वयम्—इलच्च, मतुप् च; तुन्दादिभ्यश्चत्वार इति पृथक् पाठोऽर्थवान्भवति । ननु च तुन्दादिभ्योऽनकारान्तेभ्योऽपीनिठनाविष्येते, पिच्छादिभ्यस्त्वकारान्तेभ्य एव; तत्र यदि तुन्दादिषु पिच्छादयः पठेरन्, तदा पिच्छादिभ्योऽप्यनकारान्तेभ्य इनिठनौ स्याताम्? अथ पिच्छादिषु तुन्दादयः पठेरन्, तदा तुन्दादिभ्योऽप्यनकारान्तेभ्य इनिठनौ न स्याताम्? यत्तर्हि कानिचिदकारान्तानि पिच्छादिषु पठति, कानि चित्तुन्दादिषु, तद्यथोक्तस्यार्थस्य ज्ञापकं भविष्यति । तथा 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' इति न वक्तव्यम्; प्रकृतान्यतरस्यांग्रहणानुवृत्त्या इन्ठन्मतुपां सिद्धत्वात् । तदिनिठनोः प्राप्त्यर्थं क्रियमाणं पूर्वस्यान्यतरस्यांग्रहणस्य समुच्चयार्थत्वं ज्ञापयति ।

पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्चेति । पार्ष्णीलः, धमनीलः । *वातदन्तबलललाटानामूङ् चेति* । वातादिभ्यो लज् भवति, तस्य च लच ऊङागमो भवति—वातूलः, दन्तूलः, बलूलः, ललाटूलः । *जटाघटाकलाः क्षेप इति* । एते शब्दाः क्षेपे गम्यमाने लचमुत्पादयन्ति—*जटाल इत्यादि* । क्षेप इति किम्? जटावांस्तापसः । *क्षुद्रजन्तूपतापयोश्चेति* । क्षुद्रजन्तुरानकुलात्, उपतापः=रोगः । *विपादिकाल इति* ।

न्यासः

दित्यादि । यत एवमन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप् समुच्चीयते, न तु प्रत्ययो विकल्प्यते, तस्माद् येऽत्राकारान्ताः पठ्यन्ते तेभ्य इनिठनौ न भवतः ।

पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घश्चेति । पार्ष्णि, धमनि इति शब्दाभ्यां लच् भवति, तयोश्च दीर्घः—पार्ष्णीलः, धमनीलः । **वातदन्तबलललाटानामूङ् चेति** । वातादीनां लज् भवति, तस्य च लच ऊङागमः । वातूलः । दन्तूलः । बलूलः । ललाटूलः । **जटाघटाकलाः क्षेप**

1. अत्र 'गल' इति पदम्, तदुदाहरणम् 'गलूलः' इति च पुस्तकान्तरेऽधिकम् ।

वत्सांसाभ्यां कामबले ॥ ९८ ॥

वत्सांसशब्दाभ्यां लच्प्रत्ययो भवति यथासंख्यं कामवति, बलवति चार्थे । वत्सलः । अंसलः ।

वृत्तिविषये वत्सांसशब्दौ स्वभावात्कामबलयोर्वर्त्तमानौ तद्वति प्रत्ययमुत्पादयतः । न ह्यत्र वत्सार्थः, अंसार्थो वा विद्यते; वत्सल इति स्नेहवानुच्यते—वत्सलः स्वामी, वत्सलः पितेति ।

पदमञ्जरी

'पादस्फोटो विपादिका'[1] । सिध्म–गडुशब्दयोरनुपतापार्थः पाठः ॥

वत्सांसाभ्यां कामबले ॥ कामवति बलवति चेति । मत्वन्तनिर्देशेन कामबल-शब्दयोरर्शआद्यच्प्रत्ययान्ततां दर्शयति ।

ननु च वत्सांसशब्दौ वयोविशेषे प्राण्यङ्गविशेषे च रूढौ, न कामबलयो; तत्कथं ताभ्यां लजन्ताभ्यां कामवान् बलवांश्चोच्यते ? इत्यत आह–*वृत्तिविषय इति* । कुत एतद् ज्ञायते ? इत्याह–*न ह्यत्रेति* । वाक्ये योऽनयोः प्रसिद्धोऽर्थः स वृत्तौ नास्तीत्यर्थः । यस्त्वस्ति तं दर्शयति—*वत्सल इति स्नेहवानुच्यत इति* । स्नेहः=रागः, कामः ।

सर्वत्रैवात्र प्रकरणे मतुप्समुच्चीयत इत्यत्रापि मतुपा भवितव्यमिति शङ्का-मपनयति—*न चेति* । अनेनैव हेतुना वाक्यमपि न भवति । अत्र वत्सां-सशब्दौ द्वौ, अस्यास्मिन्निति च प्रत्ययर्थावपि द्वावेव, तथापि यथासंख्यं न

न्यासः

इति । जटादयः प्रत्ययमुत्पादयन्ति क्षेपे गम्यमाने । जटालः, घटालः, कलालः । क्षेप इति किम् ? जटावान् । क्षुद्रजन्तूपतापाच्चेति । क्षुद्रजन्तुः=नकुलादिः । उपतापः=रोगः ।

वत्सांसाभ्यां कामबले ॥ कामवति बलवति चार्थं इति । मत्वन्तयोर्निर्देशेन कामबलशब्दावर्शआद्यकारान्तावुपात्ताविति दर्शयति ।

ननु च वत्सांसशब्दौ नैव कामबलयोर्वर्तेते, किं तर्हि ? वयोविशेषे प्राण्यङ्गविशेषे च, तत् कथं ताभ्यां कामवान् बलवांश्चोच्यते ? इत्याह—**वृत्तिविषय इत्यादि** । कथ-मेतज् ज्ञायते ? इत्याह–**न ह्यत्रेत्यादि** । वत्सशब्दस्य वाक्ये यो वयोविशेषलक्षणोऽर्थः प्रसिद्धः, असशब्दस्य च यः प्राण्यङ्गलक्षणविषयः स यस्मादत्र वृत्तौ न विद्यते न ज्ञायत इत्यर्थः । अथ वा—न विद्यत इति नास्तीत्यर्थः । अनेन वाक्ये यौ तयोरथौं प्रसिद्धौ वयःप्राण्यङ्गविशेषात्मकौ, तयोर्वृत्तावभावो दर्शितः । इदानीं यौ तयोरभिमतावर्थौ तयोर्भावं दर्शयितुमाह–**वत्सल इत्यादि । स्नेहवानिति** । कामवानित्यर्थः । तदेवं यस्माद्

1. अ. को० (२.६.५२)

अंसल इति चोपचितमांसो बलवानुच्यते । न चायमर्थो मतुपि, सम्भवतीति नित्यं लजेव भवति; अन्यत्रांसवती गौः, अंसवान् दुर्बलः ॥

फेनादिलच्च ॥ ९९ ॥

फेनशब्दादिलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । चकाराल्लच्च । अन्यतरस्यांग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थं सर्वत्रैवानुवर्तते । फेनिलः, फेनलः, फेनवान् ॥

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ॥ १०० ॥

लोमादिभ्यः पामादिभ्यः पिछादिभ्यश्च त्रिभ्यो गणेभ्यो यथासंख्यं श, न, इलच्—इत्येते प्रत्यया भवन्ति मत्वर्थे, मतुप् च । लोमादिभ्यः शो भवति—लोमशः, लोमवान् । पामादिभ्यो नो भवति—पामनः, पामवान् । पिच्छादिभ्य इलच् भवति––पिच्छिलः, पिच्छवान् । उरसिलः, उरस्वान् ।

लोमन् । रोमन् । वल्गु । बभ्रु । हरि । कपि । शुनि । तरु । लोमादिः ।

पामन् । वामन् । हेमन् । श्लेष्मन् । कद्रु । बलि । श्रेष्ठ ।

पदमञ्जरी

भवति, कथम् ? अजाद्यदन्तं लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीत्यंसबलशब्दयोः पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातलक्षणव्यभिचारचिह्नात् । एवं सर्वत्रैवात्र प्रकरणे द्रष्टव्यम् ॥

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ॥ अङ्ग कल्याण इति । 'अङ्ग' इत्येतत् कल्याणविशिष्टेऽर्थे वर्तमानं प्रत्ययमुत्पादयति—कल्याणान्यङ्गान्यस्या अङ्गना, स्त्रिया एवाभिधानम् । कल्याण इति किम् ? अङ्गवती । *शाकीपलालीदद्र्वां*

न्यासः

वत्सांसशब्दयोर्वाक्ये वयःप्राण्यङ्गलक्षणोऽर्थो न विद्यते, ततश्च वत्सलांसशब्दाभ्यां यथोक्तः स्नेहवान् बलवांश्चोच्यते, ततो ज्ञायते—वत्सांसशब्दौ वृत्तिविषये कामबलयोर्वर्तमानौ तद्वति प्रत्ययमुत्पादयत इति ।

अन्यतरस्यांग्रहणं सर्वत्र चात्र प्रकारणे मतुप्समुच्चयार्थं वर्त्तते । ततो मतुपा भवितव्यमिति यो मन्यते, तं प्रत्याह—न चायमित्यादि । अनेनैव च हेतुना वाक्यमपि न भवतीति वेदितव्यम् । वाक्ये हि नैवायमर्थः सम्भवति ॥

पलल । सामन् । ❀ अङ्गात्कल्याणे ❀ । ❀ शाकीपलालीदद्र्वां ह्रस्वत्वं च ❀ । ❀ विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः ❀ । ❀ लक्ष्म्या अच्च ❀ । पामादिः ।

पिच्छ । उरस् । ध्रुवका । क्षुवका । ❀ जटाघटाकलाः क्षेपे ❀ । वर्ण । उदक । पङ्क । प्रज्ञा । पिच्छादिः ॥

पदमञ्जरी

ह्रस्वत्वं चेति । शाक्यादीनां नप्रत्ययो भवति ह्रस्वत्वं च–शाकिनम्, पलालिनम्। महच्छाकं शाकी, नानाजातीय एकसमाहारो वा । पलालक्षोदः=पलाली, भिन्नानि वा शालिकोद्रवादिपललानि । 'दरिद्रातेर्यालोपश्च' इति दरिद्रातेरूकारः प्रत्ययो भवति, रिकाराकारयोश्च लोपः । दद्रूः=त्वग्रोगविशेषः, स यस्यास्ति स दद्रुणः । *विष्वगिति ।* विष्वक्शब्दान्नप्रत्ययो भवति उत्तरपदलोपश्च, स चाकृतसन्धेरकृतसन्धिकार्यस्य, अकृतयणादेशस्येत्यर्थः । विषु नाना अञ्चन्तीति विष्वञ्चि, तान्यस्य सन्तीति विषुणः=विषुवदाख्यः कालः, तस्य हि नानागतीनि दिनानि सन्ति, तदाश्रयत्वाद्दिवसान्तराणां न्यूनाधिकभावस्य । तथा मृत्युः, वयुः, अनवस्थितप्रकृतिर्मनुष्यादिश्च विषुणः, तत्र वृत्तिविषये गमनक्रियान्तर्भावाद्विष्वग्गमनमस्यास्तीत्येवं वाक्यादेरभिधानमिच्छन्ति । यदि तु कृते यणादेशे उत्तरपदलोपः स्याद्, वलि लोपे सति विष्ण इति प्राप्नोति । *लक्ष्म्या अच्चेति ।* लक्ष्मीशब्दान्नप्रत्ययो भवति अकारश्चान्तादेशः, लक्ष्मीरस्यास्ति लक्ष्मणः । *जटाघटाकलाः क्षेप इति ।* जटादयः क्षेपे गम्यमाने इलचमुत्पादयन्ति—जटिलः, घटिलः, कलिलः । क्षेपादन्यत्र जटावान् ॥

न्यासः

फेनादिलच ॥ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ॥ पामादिषु **अङ्गादिति** पठ्यते, तत कल्याणग्रहणमङ्गविशेषणम् । कल्याणानि शोभनान्यङ्गान्यस्याः सन्तीत्यङ्गना । कल्याण इति किम् ? अङ्गवती । **शाकीपलालीदद्र्वां ह्रस्वत्वञ्च ।** शाक्यादीनाञ्च प्रत्ययो भवति ह्रस्वत्वञ्च–शाकिनः, पलालिनः, दद्रुणः । महच्छाकं शाकी, महापलालं पलालीति केचित् । नानाजातीयानां शाकानां समाहारः शाकी, पलालानां समाहारः पलालीति । **विष्वगित्यादि ।** विष्वक्शब्दान्नप्रत्ययो भवति, उत्तरपदलोपश्च । स चाकृतसन्धेः, अकृतयणादेशस्य । विष्वञ्चतीति विषुशब्द उपपदेऽञ्चतेः 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्, अनुनासिकलोपः, ततो विषु+अच् इति स्थिते विष्वञ्चो यस्य सन्तीति नप्रत्ययः, अकृतयणादेशस्योत्तरपदलोपः—विषुण इति भवति । विषुणशब्दोऽयं निपात्यते । नानार्थे वर्तते । **लक्ष्म्या अच्चेति ।** लक्ष्मीशब्दान्नप्रत्ययो भवति, अकारश्चान्तादेशः । लक्ष्मीरस्यास्तीति लक्ष्मणः । **जटाघटेत्यादि ।** जटादिभ्यः क्षेपे गम्यमान इलच्प्रत्ययः । जटिलः, घटिलः, कलिलः । क्षेप इति किम् ? जटावान्, घटावान्, कलावान् ॥

प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः ॥ १०१ ॥

प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा, वृत्ति—इत्येतेभ्यो णः प्रत्ययो भवति मतुबर्थे । मतुप्सर्वत्र समुच्चीयते । प्राज्ञः, प्रज्ञावान् । श्राद्धः, श्रद्धावान् । आर्चः, अर्चावान् । वार्त्तः, वृत्तिमान् ॥

तपःसहस्राभ्यां विनीनी ॥ १०२ ॥

तपःसहस्रशब्दाभ्यां विनि, इनि—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे । प्रत्ययार्थयोस्तु यथासंख्यं सर्वत्रैवास्मिन् प्रकरणे नेष्यते । तपोऽस्यास्मिन् वा विद्यते तपस्वी । सहस्री ।

पदमञ्जरी

प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः ॥ सूत्रे वृत्तिशब्दो वार्तिके दर्शनात्प्रक्षिप्तः—'वृत्तिर्विच्छेदप्रतिविधानात्' इति ।

प्रज्ञाग्रहणं किमर्थम् ? प्राज्ञ इत्येतद्रूपं यथा स्यात् । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यणि कृते सिद्धमेतत्, प्रज्ञ एव प्राज्ञः, यस्य हि प्रज्ञाऽस्ति स प्रजानाति ? सत्यम्; स्त्रियां त्वणि ङीब् भवति—प्राज्ञी, अस्मिंस्तु णे टाबेव भवति—प्राज्ञा । इह तु गुणभूतया क्रियया व्याकरणादीनां सम्बन्धे णाणोरुभयोरपि व्याकरणम्—प्राज्ञ इति भवति, यथा—कृतपूर्वी कटमिति तद्धितप्रयोगे हि षष्ठी न भवतीत्युक्तम् ॥

तपस्सहस्राभ्यां विनीनी ॥ विनीन्योरिकारः—नकारस्येत्संज्ञा मा भूदिति । केचित्तु विनीनावितीकाराकारौ पठन्ति, नकारान्तपाठे त्वित्संज्ञा प्राप्नोति । *प्रत्ययार्थयोस्त्वित्यादि* । यथा त्वनिष्यमाणमपि यथासंख्यं न भवति तथा पूर्वमेवोक्तम् । *असन्तत्वादित्यादि* । तपःशब्दाद् 'अस्मायामेधा' इत्यादिना विनिप्रत्यये सिद्धे सहस्रशब्दादपि 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्यये सिद्धे, यत्पुनरिदं विधानं

न्यासः

प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः ॥ प्रज्ञाशब्दान्मतुपि पिच्छादिपाठादिलचि च प्राप्ते, इतरेभ्यस्तु मतुपि णो विधीयते ॥

तपःसहस्राभ्यां विनीनी ॥ अत्र सूत्रे द्वे प्रकृती उपात्ते, प्रत्ययार्थावपि द्वावेव प्रकृतावनुवर्त्तेते, तथा च 'वत्सांसाभ्यां कामबले', 'सिकताशर्कराभ्याञ्च' इत्येवमादिष्वपि केषुचिद् योगेषु यथासंख्येन भवितव्यमिति यो मन्यते, तं प्रत्याह—प्रत्ययार्थयोस्त्विति । कस्मात् पुनरिष्यमाणमपि न भवति ? 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इत्यत्रांसशब्दस्य परनिपाताल्लक्षणव्यभिचारचिह्नात् । अंसशब्दस्य हि 'अजाद्यदन्तम्' इति पूर्वनिपाते बलशब्दस्यापि 'लघ्वक्षरं पूर्वं निपतति' इत्यस्मिन् प्राप्ते योऽयं परनिपातः स लक्षणान्तरनिरपेक्षतां दर्शयन्निह मतुप्प्रकरणे यथासंख्यं लक्षणस्य व्यभिचारयति । तेन प्रत्ययार्थयोः सर्वत्र मतुप्प्रकरणे यथासंख्यं न भवति ।

असन्तत्वाददन्तत्वाच्च सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनमणा वक्ष्यमाणेन बाधा मा भूदिति । सहस्रात्तु ठनपि बाध्यते ॥

अण् च ॥ १०३ ॥

तपःसहस्राभ्यामण्च प्रत्ययो भवति । तापसः । साहस्रः । योगविभाग उत्तरार्थः, यथासंख्यार्थश्च ।

❀ अण्प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् ❀ । ज्योत्स्ना विद्यतेऽस्मिन्पक्षे ज्यौत्स्नः पक्षः । तामिस्रः कौण्डलः । कौतपः । वैसर्पः । वैपादिकः ॥

पदमञ्जरी

तद्वक्ष्यमाणेनाणा बाधा मा भूदित्येवमर्थम् । *अणेति* । हेतौ तृतीया । कर्तरि तु कृद्योगलक्षणा षष्ठी न प्राप्नोति, उभयप्राप्तौ कर्मण्येवेति नियमात् तृतीया भविष्यति, विनीन्योर्बाधा मा भूदिति कर्मणोऽपि गम्यमानत्वात्, यथा—'येनादर्शनमिच्छति' इति ? नैतदस्ति, अकाकारयोः प्रयोगे नियमस्य प्रतिषेधात्, तस्माद्धेतावेव तृतीया । घञन्तो वा बाधशब्दः पठनीयः । *सहस्रशब्दाट्ठनपि बाध्यत इति* । बाधा तु ठन इनणोः प्रतिपदविधानात् ॥

अण् च ॥ अण्प्रकरणे इत्यादि । प्रकरणम्=प्रस्तावः, काण्डं वा । ज्योत्स्नातमिस्रेत्यादिसूत्रे पठितानां ग्रहणम् । *ज्यौत्स्नः पक्ष इति* । स पुनः पूर्वः पक्षः, तत्र हि पञ्चदशस्वपि तिथिषु ज्योत्स्ना भवतीति कृत्स्नः पक्षो ज्योत्स्नया व्याप्यते । एतेन *तामिस्रो* व्याख्यातः, तमःसमूहस्तामिस्रम्, मत्वर्थीयो रः । तत्र ह्यवयवभूतानि तमांसि विद्यन्ते तद्यस्मिन्नस्ति स तामिस्रोऽपरः पक्षः । तमिस्रा रात्रिर्यस्मिन्विद्यत इति वा तामिस्रः, नरकविशेषस्यैषा संज्ञा । कुण्डलार्हः *कौण्डलः* । तत्र यथाकथञ्चिन्मत्वर्थीय उपपाद्यः । यस्तु संसक्तकुण्डलः स कुण्डली भवति । अयं च नियम इतिकरणानुवृत्तेर्लभ्यते ॥

न्यासः

प्रकरण इत्येतत् कुतः ? प्रकारणापेक्षत्वाल् लक्षणव्यभिचारचिह्नस्य । एतदपि कुतः ? व्याख्यानात् । द्वयोर्लक्षणव्यभिचारचिह्नयोरुपादानाद् वा योगापेक्षतायां त्वन्यतरस्यैवोपादानं कुर्यात् । असन्तत्वादिति । तपःशब्दादसन्तत्वाद् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इत्येवमादिना विनिप्रत्यये सिद्धे सहस्रशब्दाच्चाकारान्तत्वाद् 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्यये सिद्धे, पुनरिदं विधानं वक्ष्यमाणेनाणा बाधा मा भूदित्येवमर्थम् । सहस्रात् त्वित्यादि । 'अत इनिठनौ' इति ठन्नपि प्राप्नोति, सोऽपि बाध्यते । एतेन सहस्रशब्दात् ठनो बाधनमिति पुनर्वचनमिति दर्शयति ॥

अण् च ॥ अण्प्रकरण इत्यादि । ज्योत्स्नादिराकृतिगणः । येभ्यो मतुबर्थेऽण् दृश्यते ते ज्योत्स्नादयो द्रष्टव्याः । उपसंख्यानशब्दश्चायं प्रतिपादने वर्त्तते । तत्रेदं प्रति-

सिकताशर्कराभ्यां च ॥ १०४ ॥

सिकताशर्कराभ्यामण्प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । सैकतो घटः । शार्करं मधु ।

अदेशे इहोदाहरणम् । देशे तु लुबिलचौ भविष्यतः ॥

देशे लुबिलचौ च ॥ १०५ ॥

सिकताशर्कराभ्यां देशेऽभिधेये लुबिलचौ भवतः । चकारादण् च, मतुप् च । कस्य पुनरयं लुप्? मतुबादीनामन्यतमस्य; विशेषाभावात् । सिकता अस्मिन्विद्यन्ते सिकता देशः, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । शर्करा देशः, शर्करिलः, शार्करः, शर्करावान् ।

देश इति किम्? सैकतो घटः । शार्करं मधु ॥

दन्त उन्नत उरच् ॥ १०६ ॥

'उन्नते' इति प्रकृतिविशेषणम् । दन्तशब्दादुन्नतोपाधिकादुरच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । दन्ता उन्नता अस्य सन्ति दन्तुरः ।

उन्नत इति किम्? दन्तवान् ॥

पदमञ्जरी

सिकताशर्कराभ्यां च ॥ *शार्करं मध्विति* । शर्करा माधुर्यम्, न तु गुडः; मधुनि तस्याभावात् ।

अदेश इहोदाहरणमिति । देशे विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥

देशे लुबिलचौ च ॥ *मतुप् चेति* । अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुपः सर्वत्र समुच्चयात् । *सिकता देश इति* । लुपि युक्तवद्भावः ।

देश इति किमिति । एतेन योगविभागोऽपि पर्यनुयुक्त एव भवति, तेन 'सिकताशर्कराभ्यां लुबिलचौ च' इत्येव कस्मान्न कृतमित्यर्थः ॥

दन्त उन्नत उरच् ॥ *दन्तशब्दादुन्नतोपाधिकादिति* । सूत्रे तु पञ्चम्यर्थे प्रथमा, सप्तमी वा । *दन्ता उन्नता अस्य दन्तुर इति* । 'हिमशिलाशर्करादन्तुराणि' इत्यादयो लक्षणाप्रयोगाः ॥

न्यासः

पादनम्—उत्तरसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन ज्योत्स्नादिभ्योऽपि भविष्यतीति । कौण्डल इति । कुण्डले योऽर्हति स एवमुच्यते । अन्यस्तु कुण्डलीत्येव भवति ॥

सिकताशर्कराभ्याञ्च ॥ आदेश इहोदाहरणमिति । देश उत्तरसूत्रेण लुबिलचोर्विधास्यमानत्वात् ।

देशे लुबिलचौ च ॥ दन्त उन्नत उरच् ॥ अकारान्तत्वादिनिठनोः प्राप्तयोः 'तुन्दादिषु 'स्वाङ्गात्' इति पाठादिलचि दन्तशब्दादुरज् विधीयते ॥

ऊषसुषिमुष्कमधो रः ॥ १०७ ॥

ऊष, सुषि, मुष्क, मधु—इत्येतेभ्यो रः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। ऊषरं क्षेत्रम् । सुषिरं काष्ठम् । मुष्करः पशुः । मधुरो गुडः ।

इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिधेयनियमं करोति । इह न भवति—ऊषोऽस्मिन् घटे विद्यते, मध्वस्मिन्घटे विद्यते इति ।

❀ रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् ❀ । खमस्यास्ति कण्ठ-विवरं महत् खरः । मुखमस्यास्तीति सर्वस्मिन्वक्तव्ये मुखरः । कुञ्जावस्य स्तः कुञ्जरः । हस्तिहनू कुञ्जशब्देनोच्यते ।

❀ नगपांशुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् ❀। नगरम्, पांशुरम्, पाण्डुरम् ।

❀ कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च ❀ । कच्छुरम् ॥

पदमञ्जरी

ऊषसुषिमुष्कमधो रः ॥ समाहारद्वन्द्वे सौत्रः पुल्लिङ्ग निर्देशः । सुषिमधुभ्यां मतुपि प्राप्ते इतराभ्यामिनिठनोश्च रो विधीयते । ऊषाः=इरिणपांसवः, सुषिः= छिद्रम्, मुष्कौ=अण्डौ । मधु=माधुर्याख्यो रसविशेषः, न माक्षिकं माध्वीकं वा; अनभिधानात् । एवं च मध्विदं मधुरमिति मधुन्यपि प्रयोगोपपत्तिः । इह च न भवति—मध्वस्मिन् घटे विद्यत इति ।

रप्रकरण इति । प्रकरणम्=प्रस्तावः । *कण्ठविवरं महदिति* । गर्दभे व्युत्पत्तिं दर्शयति । तैक्ष्ण्ये त्वव्युत्पन्नः खरशब्दः । मुखरः=वाचाल; तस्य हि सर्वस्मिन्वक्तव्ये मुखमस्ति; वक्तव्यावक्तव्यविवेकाभावात् । मुखम्=वागिन्द्रियम् । *हस्तिहनुः कुञ्जशब्देनोच्यत इति* । वृत्तिविषये । एतच्च सम्भवन्नवयवार्थः किमिति त्यज्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम् । जातिशब्दस्तु कुञ्जरशब्दो हस्तिशब्दवत् ।

नगरमिति । नगाः=वृक्षाः, पर्वताश्च । अयमपि जातिशब्द एव, तथा च—नगरी, जातिलक्षणो ङीष् भवति । नगशब्दोऽयमश्मादिषु पठ्यते इति वुञ्छणादिसूत्रेणास्य सिद्धत्वात् , तस्माद्रो न वक्तव्यः । *पाण्डुरमिति* । पाण्डुः=शुक्लो वर्णः, तद्वत्पाण्डुरः । पाण्डरशब्दस्त्वव्युत्पन्न एव गुणमात्रे गुणिनि च वर्तते ॥

न्यासः

ऊषसुषिमुष्कमधो रः ॥ यथासम्भवं मतुपीनिठनोश्च प्राप्तयोरूषादिभ्यो रो विधीयते । **मधुर इति** । मधुशब्दोऽत्र रसविशेषे वर्त्तते ।

रप्रकरण इत्यादि । उपसंख्यानशब्दः प्रतिपादने वर्त्तते । तत्रेदं प्रतिपादनम्—'देशे लुबिलचौ च' इत्यतश्चकारोऽत्र वर्त्तते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन मुखप्रभृतिभ्योऽपि रो भवति । **नगपांसुपां इत्यादि** । नगपांशुप्रभृतिभ्यश्च रो भवतीत्यतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । व्याख्यानं तु तामेव चकारस्यानुवृत्तिमाश्रित्य कर्त्तव्यम् ॥

द्युद्रुभ्यां मः ॥ १०८ ॥

द्युद्रुशब्दाभ्यां मः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। द्युमः। द्रुमः। रूढिशब्दावेतौ। रूढिषु च पुनर्मतुब्न विकल्प्यते॥

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ॥ १०९ ॥

केशशब्दाद्वः प्रत्ययो भवति मत्वर्थेऽन्यतरस्याम्।

ननु च प्रकृतमन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तत एव? मतुप्समुच्चयार्थं तदित्युक्तम्, अनेन त्विनिठनौ प्राप्येते। ततश्चातूरूप्यं भवति—केशवः, केशी, केशिकः, केशवानिति॥

❀ वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम् ❀। मणिवः। हिरण्यवः। कुररावः। कुमारावः। राजीवम्। कुञ्जावः। इष्टकावः। बिम्बावः।

पदमञ्जरी

द्युद्रुभ्यां मः ॥ द्युशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमुकारान्तम्। *रूढिषु च मतुब्न विकल्प्यते इति*। तदर्थस्य मतुपाभिधातुमशक्यत्वात्॥

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ॥ *मतुप्समुच्चयार्थं तदित्युक्तमिति*। एतच्च 'सिध्मादिभ्यश्च' इत्यत्रैव व्याख्यातम्।

वप्रकरण इति। प्रकरणम्=प्रस्तावः। मणिवः=नागविशेषः। हिरण्यवः=निधिविशेषः, कुञ्जरविशेष इत्यन्ये। *बिम्बावः, कुरराव इति*। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः। *राजीव इति*। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीषन्तात्प्रत्ययः।

अर्णव इति। अर्णम्=उदकम्, 'अर्त्तेरसुन्नुट् च'। छन्दसीवनिपौ चेति। चकाराद्वश्च, अन्यतरस्यांग्रहणानुवृत्तेस्तु मतुप्, तदाह—

न्यासः

द्युद्रुभ्यां मः ॥ द्यौश्च द्रुश्च द्युद्रू, ताभ्यां मतुपि प्राप्ते मो विधीयते। द्यौरस्यास्तीति द्युमः, 'दिव उत्' इत्युत्त्वम्। केचिद्—'द्युशब्दः प्रकृत्यन्तरमह्नो नामधेयम्, तत इदं प्रत्ययविधानम्' इत्याहुः। रूढिषु मतुप् पुनर्न विकल्प्यत इति। रूढिशब्दार्थस्य मतुपाऽनभिधानात्॥

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ॥ इनिठनोः प्राप्तयोर्मतुपि चेदमारभ्यते। ननु च प्रकृतमन्यतरस्यांग्रहणमस्त्येव, तत् किमर्थं पुनरिदं क्रियते? इत्याह—ननु च प्रकृतमित्यादि। वप्रकरणे इत्यादि। इतिकरणो हेतौ। केशशब्दाद्यथा वप्रत्ययः, एवमन्येभ्योऽपि तथा वप्रत्ययो दृश्यते, तस्माद् वक्तव्यं व्याख्येयम्। तथा व्याख्यानं कर्त्तव्यं यथासावन्येभ्यो भवतीत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—इहापि स एव चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्त्तते, तेनान्येभ्योऽपि भवतीत्यर्थः।

❀ अर्णसो लोपश्च ❀ । अर्णवः ।

❀ छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ ❀ । वश्च मतुप् च । रथीरभून्मुद्गलानी गविष्ठौ । सुमङ्गलीरियं वधूः । वनिप्—मघवानमीमहे । वकारमतुपौ च, उद्वा च, उद्वती च ।

❀ मेधारथाभ्यामिरन्निरचौ वक्तव्यौ ❀ । मेधिरः । रथिरः ॥

गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् ॥ ११ ॥

गाण्डी, अजग—इत्येताभ्यां वः प्रत्ययोः भवति संज्ञायां विषये मत्वर्थे । गाण्डीवं धनुः । अजगवं धनुः । ह्रस्वादपि भवति—गाण्डिवं धनुरिति । तत्र तुल्या हि संहिता दीर्घह्रस्वयोः । उभयथा च सूत्रं प्रणीतम् ॥

पदमञ्जरी

वश्च मतुप् चेति । रथीरिति । रथोऽस्यास्तीत्यर्थः । *सुमङ्गलीरिति ।* सुष्ठु मङ्गलम्, 'सुः पूजायाम्' इति प्रादिसमासः, ततोऽनेन मत्वर्थीय ईकारः, लाघवाद्बहुव्रीहिणा भवितव्यमिति न्यायश्छान्दसत्वादाश्रितः ।

मघवानमिति । मघं धनं तदस्यास्तीति वनिप् । मतुपि तु मघवच्छब्दः, किमर्थं तर्हि 'मघवा बहुलम्' इति ? तत्रैव वक्ष्यामः । *उद्वा चेति ।* उच्छब्दादुद्गताभिधायिना वप्रत्यये टाप् । *उद्वतीति ।* मतुपः 'झयः' इति वत्वम्, ङीप् ।

मेधारथाभ्यामिति । इदमपि छन्दोविषयम् ॥

गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् ॥ गाण्डीवं धनुरिति । अर्जुनस्य । *अजगवं धनुरिति ।* पिनाकमेतत् । *उभयथा सूत्रं प्रणीतमिति ।* तन्त्रन्यायाश्रयेण । प्रयोग-

न्यासः

अर्णसो लोपश्चेति । 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्य वेदितव्यः ।

वक्तव्याविति । व्याख्येयावित्यर्थः । व्याख्यानं तु 'तद्धिताः' इत्यत्रैव कृतम् । **रथीरभूद् मुद्गलानीति ।** रथशब्दादीप्रत्ययः । **सुमङ्गलीरियं वधूरिति ।** ईकारस्योदाहरणम् । **मघवानमिति च वनिपः ।** 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः । **उद्वा चेति ।** उच्छब्दाद्वप्रत्ययः, अदन्तत्वाट्टाप् । **उद्वती चेति ।** उच्छब्दादेव मतुप्, 'उगितश्च' इति ङीप्, 'झयः' वत्वम् ॥

गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् ॥ ह्रस्वादपि भवतीति । कथं पुनर्दीर्घस्य ग्रहणे ह्रस्वादपि भवतीति ? **तत्र तुल्या हीत्यादि ।** यादृशी दीर्घस्येह संहिता ह्रस्वग्रहणेऽपि तादृश्येव दृश्यते । तस्माद् ह्रस्वस्यापि ग्रहणमिह न विरुध्यत इति भावः । तत्र चैतत् स्यात्—यद्यपि तुल्या संहिता, तथापि कृतयणादेशोऽयमेक एव शब्दः, तस्य स्वरूप इत्यन्यतरस्य परिग्रहणेन भवितव्यम् । तत्र यदि दीर्घस्य ग्रहणं ह्रस्वान्न प्राप्नोति, अथ ह्रस्वस्य ग्रहणं दीर्घान्न प्राप्नोतीत्यत आह—**उभयथेति ।** उभयप्रकारं ह्याचार्येण प्रणीतं सूत्रम् । तस्मादुभयोरपि ग्रहणमित्यदोषः ।

काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ॥ १११ ॥

काण्ड, अण्ड—इत्येताभ्यां यथासंख्यमीरन्नीरचौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे । काण्डीरः । अण्डीरः ॥

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ॥ ११२ ॥

रजःप्रभृतिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । रजस्वला स्त्री । कृषीवलः कुटुम्बी । आसुतीवलः शौण्डिकः । परिषद्वलो राजा । 'वलः' इति दीर्घत्वम् । इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र सम्बध्यते । तेनेह न भवति—रजोऽस्मिन् ग्रामे विद्यत इति ।

❀ वलच्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम् ❀ । भ्रातृवलः । पुत्रवलः । उत्साहवलः[1] ॥

पदमञ्जरी

श्चोभयथापि भवति—'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्याम्', 'अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ' इति च । संज्ञाग्रहणस्यैव प्रपञ्चः ॥

रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच् ॥ *आसुतीवल इति* । 'षुञ् अभिषवे,' क्तिन्, आसुतिः=अभिषवः । *परिषद्वल इति* । परितः सीदन्तीति परिषत्, 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप्, 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् । *पर्षच्छब्दमन्ये पठन्ति*, 'शदिभसोऽदिः' । बाहुलकात्पृषेरपि भवति—'पर्षदेषा दशावरा' इति हि दृश्यते; 'पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्' 'सर्ववेदपार्षदं हीदं शास्त्रम्' इति च *भाष्ये* । 'पर्षद्वला महाब्रह्मैरागतैः कठकाश्रमात्' इति च *भट्टिकाव्ये* । परिषच्छब्दस्तु प्रसिद्ध एव—'सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते' इति *मनुः* । अत्र च सूत्रे उभयोरपि उभयथा सूत्रप्रणयनात् ।

भ्रातृवल इति । 'वलः' इत्यत्राण्ग्रहणानुवृत्तेर्दीर्घाभावः । *पुत्रवलः, उत्साहवल इत्यत्र* त्वसंज्ञयां दीर्घाभावः । संज्ञायां तु दीर्घत्वम्, 'वलः' इत्यत्र हि 'वनगिर्योः संज्ञायाम्' इत्यतः 'संज्ञायाम्' इत्यनुवर्त्तते ॥

न्यासः

अथ संज्ञाग्रहणं किम्, यावतेतिकरणस्य चानुवृत्तेरसंज्ञायां न भविष्यति, यथा द्युद्रुभ्यां मप्रत्ययः ? एवं तर्हि तस्यैवेतिकरणस्य प्रपञ्चः संज्ञाग्रहणमिति द्रष्टव्यम् ॥

काण्डाण्डादीरन्नीरचौ । इनिठनोरपवादोऽयम् ॥

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ॥ रजःशब्दाद् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनौ प्राप्ते, इतरेभ्यस्तु मतुपि वलज् विधीयते ।

वलच्प्रकरणे इत्यादि । वप्रत्ययस्य व्याख्यानेनेदमपि व्याख्यातप्रायम् । अत्र 'वलः' इति दीर्घत्वं कस्मान्न भवति ? 'वनगिर्योः संज्ञायाम्' इत्यतः संज्ञाग्रहणानुवृत्तेः ॥

---

१. 'उत्सङ्गवलः' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे ।

दन्तशिखात्संज्ञायाम् ॥ ११३ ॥

दन्त, शिखा-शब्दाभ्यां वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे संज्ञायां विषये। दन्तावलः सैन्यः। दन्तावलो गजः। शिखावलं नगरम्। शिखावला स्थूणा ॥

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः॥ ११४ ॥

ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे संज्ञायां विषये। ज्योतिष उपधालोपो नश्च प्रत्ययो निपात्यते—ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभा। तमस उपधाया इकारो रश्च—तमिस्रा रात्रिः। स्त्रीत्वमतन्त्रम्। अन्यत्रापि दृश्यते—तमिस्रं नभः। शृङ्गादिनच्प्रत्ययो निपात्यते—शृङ्गिणः। ऊर्जोऽसुगागमो निपात्यते विनिवलचौ प्रत्ययौ—ऊर्जस्वी।

पदमञ्जरी

दन्तशिखात्संज्ञायाम् ॥ दन्तावलः=गजः, 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरसिंहः। *शिखावलं नगरमिति*। ननु देशे 'शिखाया वलच्' इति चातुरर्थिकेनैव सिद्धम्, तच्चावश्यं कर्त्तव्यम्—निर्वृत्ताद्यर्थम्? सत्यम्; इहापि शिखाग्रहणमदेशार्थमवश्यं कर्त्तव्यम्, इहापि यथा स्यात्—शिखावला स्थूणेति। यद्येवंविधा संज्ञा भवति, तत्र देशे मत्वर्थे परत्वादनेनैव लब्युक्त इति मत्वा *शिखावलं नगरमित्युदाहृतम्* ॥

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीसाः ॥ *ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभेति*। तत्रावयवभूतं ज्योतिरस्तीति मत्वर्थोपपत्तिः। एतेन तमःसमूहे तमिस्रशब्दो व्याख्यातः। *निघण्टुषु* तु तमः पर्यायस्तमिस्रशब्दः पठितः, तत्र समूहसमूहिनोरभेदोपचारः। *स्त्रीत्वमतन्त्रमिति*। व्याख्यानमत्र शरणम्। *शृङ्गादिनच्प्रत्यय इति*। यद्यपि सूत्रे चकारोऽनुच्चारितः, तथाप्यन्तोदात्तस्योच्चारणादेवं कल्प्यते। *ऊर्जोऽसुगागम इति*। ऊर्जस्वतीः, पयस्वतीः। ऊर्जस्वत्, पयस्वदि-

न्यासः

दन्तशिखात् संज्ञायाम् ॥ दन्तशब्दादिनिठनोः प्राप्तयोर्वलज् विधीयते। शिखाशब्दादिनिप्रत्ययो वक्ष्यते 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इत्यत्र—'शिखादिभ्य इनिर्वाच्यः' इति। अदेशार्थं शिखाग्रहणम्, शिखावला स्थूणेत्यत्र यथा स्यात्। देशे तु 'शिखाया वलच्' इजित्यनेनेव चातुरर्थिक एव सिद्धः। यद्येवम्, इदमेव वक्तव्यम्, किं तेन? नैतदस्ति; तदपि हि वक्तव्यमेव—निर्वृत्तादिष्वर्थेषु यथा स्यात्। अत्रापि संज्ञाग्रहणं तस्यैवार्थस्यानुवादार्थम्। इतिकरणानुवृत्त्यैवाभिधेयनियमसिद्धेः।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः ॥ स्त्रीत्वमतन्त्रमिति। अप्रधानम्, अविवक्षितत्वात्। स्त्रीलिङ्गनिर्देशस्तु वैचित्र्यार्थः ॥

ऊर्जस्वलः । गोर्मिनिप्रत्ययो निपात्यते—गोमी । मलशब्दादिनजीमसचौ प्रत्ययौ निपात्यते—मलिनः, मलीमसः ॥

अत इनिठनौ ॥ ११५ ॥

अकारान्तात्प्रातिपदिकादिनिठनौ प्रत्ययौ भवतः । दण्डी, दण्डिकः । छत्री, छत्त्रिकः ।

अन्यतरस्यामित्यधिकारान्मतुबपि भवति । दण्डवान् । क्षत्रवान् । तपरकरणं किम् ? श्रद्धावान् ।

एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ।

एकाक्षरात्तावत्—स्ववान् । खवान् । कृतः—कारकवान् । जातेः—व्याघ्रवान् । सिंहवान् । सप्तम्याम्—दण्डा अस्यां सन्ति दण्डवती शालेति ।

'इतिकरणो विषयनियमार्थः सर्वत्र सम्बध्यते' इत्युक्तम्, तेन क्वचिद्भवत्यपि—कार्यी, हार्यी, तण्डुली, तण्डुलिक इति ॥

पदमञ्जरी

त्यसुनन्तान्मतुप् दृश्यते, इह त्वनाश्रयणे हेतुर्मृग्यः । सूत्रे ऊर्जस्विन्गोमिन्निति नान्तत्वाभिव्यक्तये नलोपो न कृतः ॥

अत इनिठनौ ॥ *अकारान्तादिति* । स्वरूपग्रहणं तु न भवति, अच्छब्दान्तात्कुर्वत्, पचदित्येवमादेरिति 'रसादिभ्यः' पुनर्वचनात् । तद्धयनेन प्राप्तयोरिनिठनोर्बाधनार्थमित्युक्तम् ।

तपकरणं किमिति । व्रीह्यादिषु मालादीनामाकारान्तानां पाठो नियमार्थो भविष्यतीति प्रश्नः । किमाकारान्तविषयो नियमः ? उत स्त्रीप्रत्ययान्तविषयः ? आहोस्विदाबन्तविषयः ? इति सन्देहसम्भवादवश्यं कर्त्तव्यं तपरकरणमित्युत्तरेऽभिप्रायः । *एकाक्षरादिति* । रसादिभ्यः पुनर्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थमित्युक्तम्, तत्र

न्यासः

अत इनिठनौ ॥ अत इत्यकारस्तपरो गृह्यते । अत एवाह— अकारान्तादित्यादि । अथाच्छब्दस्य स्वरूपग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते—अच्छब्दात् प्रातिपदिकादिति ? अदित्ययुक्तं स्वरूपग्रहणं भवितुम्; स्वरूपग्रहणे हि रसादिभ्यो मतुपो विधानमनर्थकं स्यात् । स हीनिठनोर्बाधनार्थं विधीयते । न चेह स्वरूपग्रहणे तेभ्यस्तौ प्रत्ययौ प्राप्नुत इति किं तद्विधानार्थेन मतुपो विधानेन !

तपरकरणं किम् ? श्रद्धावान् । ननु च व्रीह्यादिषु मालादय आकारान्ताः पठ्यन्ते, ते च नियमार्था भविष्यन्ति—एतेभ्य एवाकारान्तेभ्य इति ? नैतदस्ति; तुल्यजातीयस्यैवं नियमः स्यात्, डाप्चाबन्ताभ्यां स्यातामेवेतीनिठनौ । तस्मादकारस्तपरः कर्तव्यः ।

व्रीह्यादिभ्यश्च ॥ ११६ ॥

व्रीह्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिठनौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे । मतुब्भवत्येव । व्रीही, व्रीहिकः, व्रीहिमान् । मायी, मायिकः, मायावान् ।

न च व्रीह्यादिभ्यः सर्वेभ्यः प्रत्ययद्वयमिष्यते, किं तर्हि ?

शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन्यवखदादिषु ।
परिशिष्टेभ्य उभयम् ।

शिखा, मेखला, संज्ञा, बलाका, माला, वीणा, वडवा, अष्टका, पताका, कर्मन्, चर्मन्, हंसा—इत्येतेभ्य इनिरेवेष्यते । यवखद, कुमारी, नौ—इत्येतेभ्य इकन्नेवेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि प्रत्ययौ भवतः ।

व्रीहिग्रहणं किमर्थम्, यावता तुन्दादिषु व्रीहिशब्दः पठ्यते, तत्र इनिठनौ चकारेण विधीयेते ? एवं तर्हि तुन्दादिषु व्रीहिग्रहणमर्थ-

पदमञ्जरी

च 'एकाचः' इति पठितम्, तेनैतत्सिद्धम् । *कार्यीति* । कार्यशब्दात्कृदन्तात् प्रत्ययः । *तन्दुलीति* । जातेः ॥

व्रीह्यादिभ्यश्च ॥ *शिखादिभ्य इति* । शिखादयोऽत्रैव वक्ष्यन्ते ।

इकन्यवखदादिष्विति । विषयसप्तम्येषा । एतेऽप्यत्रैव वक्ष्यन्ते । *इकन्निति* । ठन्नित्यर्थः । पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षस्त्विकन्निति निर्देशः श्लोकपूरणार्थः । *परिशिष्टेभ्य उभयमिति* । एतच्च सर्वमितिकरणानुवृत्तेर्लभ्यते ।

एवं तर्हीति । विपर्ययस्तु न भवति—तत्र स्वरूपग्रहणम्, इहार्थग्रहणमिति; असञ्जातविरोधित्वेनानैव स्वरूपग्रहणस्य युक्तत्वात् ।

न्यासः

कार्यीति । कृत इनिः । तण्डुली, तण्डुलिक इति । जातेरिनिठनौ ।

व्रीह्यादिभ्यश्च ॥ शिखादिभ्य इत्यादि । उभयत्रादिशब्दः प्रकारे । शिष्टप्रयोगे येभ्य इनिरेव दृश्यते, ते शिखादयो द्रष्टव्याः, ते हि तेभ्यष्ठनं विहितवन्तः । एष तु विषयविभाग इतिकरणानुवृत्तेरेव गृह्यते । वाच्य इति । अस्य तु व्याख्येय इत्यर्थः । यवखदादिष्विति विषयसप्तमी ।

एवं तर्हीत्यादि । तुन्दादिषु व्रीहिशब्दस्य स्वरूपग्रहणे सतीह तस्य ग्रहणमनर्थकं ज्ञायत इति सामर्थ्यात् तत्र व्रीहिग्रहणेनार्थग्रहणं विज्ञायते । अर्थग्रहणे सति यदिष्टं सिध्यति तद् दर्शयितुमाह—शालयोऽस्य सन्ति शालिक इत्यादि ।

ग्रहणं विज्ञायते। शालयोऽस्य सन्ति शालिनः, शाली, शालिकः, शालिमान् इति।

व्रीहिशिखादयः पूर्वं पठिताः। यवखद। कुमारी। नौ। ❀ शीर्षान्नञः ❀। अशीर्षी, अशीर्षिकः॥

तुन्दादिभ्य इलच्च॥ ११७॥

तुन्दादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। चकारादिनिठनौ मतुप् च। तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान्। उदरिलः, उदरी, उदरिकः, उदरवान्।

तुन्द। उदर। पिचण्ड। घट। यव। व्रीहि। ❀ स्वाङ्गाद्विवृद्धौ च ❀। तुन्दादिः॥

एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्॥ ११८॥

एकपूर्वाद्गोपूर्वाच्च प्रातिपदिकान्नित्यं ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे।

पदमञ्जरी

शीर्षान्नञ इति। नञः परो यः शीर्षशब्दस्तस्मादिनिठनौ भवतः—अशीर्षी, अशीर्षिकः। न विद्यते शिरो यस्य स एवमुच्यते। 'अचि शीर्षः' इति शिरसः शीर्षभावः, वाक्येऽपि तस्यैव भाविनो निर्देशः॥

तुन्दादिभ्य इलच्च॥ *स्वाङ्गाद्विवृद्धादिति*। विवृद्धयुपाधिकात्स्वाङ्गवाचिन इलजादयो भवन्ति, विवृद्धौ कर्णावस्य कर्णिलः, कर्णी, कर्णिकः, कर्णवान्॥

एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्॥ *एकशतमस्यास्तीति*। एकं च तच्छतं चेति 'पूर्व-

न्यासः

शीर्षान्नञ इति। नञ उत्तरस्य शीर्षन्नित्येतस्य प्रत्ययो भवति। निपातनाच्छिरसः शीर्षभावः-अशीर्षी, अशीर्षिकः। अन्ये तु शीर्षन्निति शब्दान्तरं पठन्ति। तस्य तु पाठो भाषायामपि यथा स्यादित्येवमर्थः। अन्यथा 'शीर्षश्छन्दसि' इति विधानात् भाषायाम् अशीर्षिकः, अशीर्षवानिति न स्यात्॥

तुन्दादिभ्य इलच्च॥ यथासम्भवं मतुबादिषु प्राप्तेष्विदमारभ्यते। **चकारादिनिठनौ मतुप् चेति**। एतेन प्रत्ययचतुष्टयं तुन्दादिभ्यो भवतीति दर्शयति। अत एव पिच्छादिषु तुन्दादयो न पठिताः। पिच्छादिभ्य इलज्मतुपावेव भवतः। तुन्दादिभ्यस्त्विनिठनावपि।

स्वाङ्गाद्विवृद्धाविति। स्वाङ्गाद्विवृद्धौ वर्त्तमानात् प्रत्ययो भवति। वृद्धौ महान्तौ कर्णावस्य स्तः— कर्णिलः, कर्णिकः, कर्णी, कर्णवान्॥

एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्॥ मतुबादिषु प्राप्तेषु ठञ्विधीयते। स च समानाधिकरण-

एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः । गोपूर्वाच्च—गौशतिकः । गौसहस्रिकः ।

अत इत्येव—एकविंशतिरस्यास्तीति न भवति ।

कथमैकगविकः ? समासान्ते कृते भविष्यति । कथं गौशकटिकः ? शकटीशब्देन समानार्थः शकटशब्दोऽस्ति ततो भविष्यति । अवश्यं च 'अतः' इत्यनुवर्त्यम्, 'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्' इत्येवमाद्यर्थम् ।

नित्यग्रहणं मतुपो बाधनार्थम् । कथमेकद्रव्यवत्त्वादिति ? नैवायं साधुः । एकेन वा द्रव्यवत्त्वादिति समर्थनीयम् ॥

पदमञ्जरी

काले' इत्यादिना कर्मधारयः । षष्ठीतत्पुरुषाद् बहुव्रीहेर्द्वन्द्वाच्च न भवति; अनभिधानात्; इतिकरणानुवृत्तेश्च ।

कथमिति । एकगोशब्दस्याप्यनकारान्तत्वात्प्रश्नः । *समासान्ते कृत इति* । 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि । *कथमिति* । इवर्णान्त एव शकटिशब्दोऽस्तीति मन्यमानस्य प्रश्नः—अनभिधानादेव एकविंशत्यादिभ्यो न भविष्यति, किम् 'अतः' इत्यस्यानुवृत्त्या ? तत्राह–*अवश्यं चेति* । *एवमाद्यर्थमिति* । एवमादि यत्सूत्रं तदर्थमित्यर्थः । ततः परे तु ये योगाः 'वातातीसाराभ्याम्' इत्येवमादयः, तेषु 'अतः' इत्यस्योपयोगो नास्तीति ।

नित्यग्रहणमित्यादि । अन्यथान्यतरस्यांग्रहणेन सर्वत्रैवात्र प्रकरणे मतुप्समुच्चयादत्रापि प्रसङ्गः । *एकेन वेति* । यद्यवश्यं समर्थयितव्यमिति भावः । तत्र 'सुप्सुपा' इति समासः । कथमेकदण्डीति ? 'एकदेशिनैकाधिकरणे' इति निर्देशो ज्ञापयति—इनिरपि क्वचिद्भवतीति ॥

न्यासः

तत्पुरुषादेकपूर्वाद् भवति, न तु सर्वत एकपूर्वात् । एतच्चेतिकरणानुवृत्तेर्लभ्यते । एकञ्च तच्छतं चैकशतम्, तदस्यास्तीति ऐकशतिकः । षष्ठीतत्पुरुषे–एकशतवान् ।

कथमित्यादि । यदि 'अतः' इत्येतदनुवर्त्तते, गोशकटीशब्दान्न सिध्यति, तस्यानकारान्तत्वादिति भावः । ततो भविष्यतीति । तदन्ताद् भविष्यतीत्यभिप्रायः । एषोऽर्थः–एकगोपूर्वाददन्तात् प्रातिपदिकाट् ठञ् विधीयत इति सामर्थ्याल्लभ्यते । अथ वा–ततो हेतोर्भविष्यतीत्यदोषः । **अवश्यं चेत्यादि** । असत्यां ह्यत इत्यनुवृत्तौ द्वन्द्वोपतापगर्ह्यादिषु, योगेषु चित्रकललाटिकादिशब्देभ्योऽपि प्रत्ययः स्यात् ।

नित्यग्रहणमित्यादि । असति हि नित्यग्रहणेऽन्तरस्यांग्रहणं मतुप्समुच्चयार्थं सर्वत्रानुवर्त्तत इति मतुबपि स्यात् । तस्माद् बाधनार्थं नित्यग्रहणम् । **कथमेकद्रव्यवत्त्वा-**

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ॥ ११९ ॥

शतान्तात् सहस्रान्ताच्च प्रातिपदिकाट्ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। तौ चेच्छतसहस्रशब्दौ निष्कात्परौ भवतः। निष्कशतमस्यास्ति नैष्कशतिकः। नैष्कसहस्रिकः।

सुवर्णनिष्कशतमस्यास्तीत्यनभिधानान्न भवति ॥

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ॥ १२० ॥

आहतप्रशंसे प्रकृत्युपाधी। आहतप्रशंसाविशिष्टार्थे वर्त्तमानाद्रूपशब्दाद्यप् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः। रूप्यः केदारः। रूप्यं कार्षापणम्। प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यः पुरुषः। निघातिकाताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पद्यते तदाहतमित्युच्यते।

आहतप्रशंसयोरिति किम्? रूपवान्।

पदमञ्जरी

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ॥ निष्कादित्येतद् गुणभूताभ्यामपि शतसहस्राभ्यां सम्बध्यते, न तदन्तेनेत्याह—*तौ चेदिति*।

सुवर्णनिष्कशतमित्यादि। यत्र निष्कशब्दः पूर्वपदं न भवतीत्यर्थः।

अन्तग्रहणं किम्? 'निष्काच्छतसहस्राभ्याम्' इत्युच्यमाने सन्देहः स्यात्—किं पूर्वपदम्? किमुत्तरपदम्?–इति ॥

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ॥ *रूप्यो दीनार इति*। पुरुषाद्याकारचिह्नितौ सुवर्णपरिमाणविशेषौ व्यवहाराय कल्पितौ दीनारकार्षापणौ। *निघातिकाताडनादिनेति*। तीक्ष्णाग्रा आयसी शलाका=निघातिका, यया पुरुषाद्याकारं सुवर्णादौ सुवर्णकारा उद्भावयन्ति। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति करणे ण्वुल्–निहन्यतेऽनया निघातिका, तया यत्ताडनम्, तदादिना। आदिशब्देन मुद्राप्रतिमुद्रणादि गृह्यते। क्वचिन्निघातिकाताडनेन पुरुषाद्याकार उद्भाव्यते, क्वचिन्मुद्रया प्रतिमुद्र्यते दीनारादिषु। *तदाहतमित्युच्यत इति*। आहननेन निष्पादितत्वात्।

प्रायेण केदारशब्दः पठ्यते, तस्यैवंविधेऽर्थे प्रसिद्धिर्मृग्या।

न्यासः

दिति। यदि नित्यग्रहणं मतुब्बाधनार्थम्, एवम्, न ह्येकद्रव्यवत्त्वादित्यत्रैकपूर्वाद् द्रव्यशब्दान्मतुप् सिध्यतीति मन्यते। एकेनेत्यादि। एकशब्दस्य द्रव्यवत्त्वादित्यनेन 'सुप्सुपा' इति समासं कृत्वा साधुत्वमस्य प्रतिपादनीयमित्यर्थः ॥

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ॥ **रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्** ॥ तदाहतमुच्यत इति। आहतम् = आहननम्, ताडनमित्यर्थः। अतो निष्पन्नं पुरुषादिरूपम्, तदपि कार्ये कारणोपचारादाहतमित्युच्यते।

❀ यप्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यम् ❀। हिम्याः पर्वताः । गुण्या ब्राह्मणाः ॥

अस्मायामेधास्रजो विनिः ॥ १२१ ॥

असन्तात्प्रातिपदिकात्, माया, मेधा, स्रज्—इत्येतेभ्यश्च विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । मतुप् सर्वत्र समुच्चीयत एव । असन्तात्तावत्—यशस्वी, तपस्वी, पयस्वी । मायावी । मेधावी । स्रग्वी ।

मायाशब्दाद् व्रीह्यादिषु पाठादिनिठनावपि भवतः—मायी, मायिकः ॥

बहुलं छन्दसि ॥ १२२ ॥

छन्दसि विषये बहुलं विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । अग्ने तेजस्विन् । न भवति—सूर्यो वर्चस्वान् ।

❀ छन्दसि विनिप्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घत्वं चेति वक्तव्यम् ❀। अष्ट्रावी । मेखलावी । द्वयावी । उभयावी । रुजावी । हृदयावी । द्वयोभयहृदयानि दीर्घत्वं प्रयोजयन्ति ।

पदमञ्जरी

हिम्याः पर्वता इति । हिमवान् तत्पर्यन्तवर्त्तिनश्च भूम्नि यप् । *गुण्याः*= गुणवन्तः । इनिरपि दृश्यते—'गुण्यगुण्य इति न व्यजीगणत्' ॥

अस्मायामेधास्रजो विनिः ॥ मतुप् सर्वत्र समुच्चीयत एवेति । पूर्वं नित्यग्रहणेन अन्यतरस्यांग्रहणं तत्रैव न सम्बध्यते, इह तु सम्बध्यत एवेत्येव शब्दस्यार्थः । तथा च 'तसौ मत्वर्थे' इत्यत्र पयस्वान् यशस्वानिति *भाष्ये* उदाहृतम् । *पयस्वीति* । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वाज्जश्त्वाभावः ॥

बहुलं छन्दसि ॥ *अष्ट्रावीति* । अशेष्ट्रनि अष्ट्रा, दंष्ट्रापर्यायोऽयं मन्त्रेषु प्रयुज्यते—'अष्ट्रां पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत्,' 'शुनमष्ट्रा व्यचरत्कपर्दी' इति, तत्रास्मादेव पाठाट्टाप । *द्वयोभयहृदयानीति* । अन्येषां स्वत एव दीर्घत्वात् ।

न्यासः

यप्प्रकरण इति । यप्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यत इति वक्तव्यमिति । अनेनास्य तु तुल्यत्वात् तद्वदेव व्याख्यानं कर्त्तव्यम् । चकारस्त्विह 'शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्' इत्यतोऽनुवर्त्तते ॥

अस्मायामेधास्रजो विनिः ॥ यशस्वी । तपस्वी । पयस्वी । 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वम्, अतो भत्वाज्जश्त्वं न भवति । जश्त्वेन सकारस्य दकारः प्राप्नोति, स न भवति ॥

बहुलं छन्दसि ॥ द्वयोभयहृदयानीत्यादि । अवधारणमिह द्रष्टव्यम् । द्वयादीन्येव

❀ मर्मणश्चेति वक्तव्यम् ❀ । मर्मावी ।

❀ सर्वत्रामयस्योपसंख्यानम् ❀ । छन्दसि भाषायां च । आमयावी ।

❀ शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्वक्तव्यः ❀ । शृङ्गारकः । वृन्दारकः ।

❀ फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः ❀ । फलिनः । बर्हिणः ।

❀ हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम् ❀ । हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान् ।

❀ शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुज्वक्तव्यः ❀ । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृप्रालुः ।

❀ तन्न सहत इति हिमाच्चेलुः ❀ । हिमं न सहते हिमेलुः ।

❀ बलादूलच् ❀ । बलं न सहते बलूलः ।

❀ वातात्समूहे च ❀ । ❀ वातं न सहत इति च ❀ । वातानां समूहः, वातं न सहत इति वा वातूलः ।

❀ पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः ❀ । पर्वतः । मरुत्तः ।

❀ अर्थात्तदभावे इनिर्वक्तव्यः ❀ । अर्थी । तदभाव इत्येव—अर्थवान् ।

तदेतत्सर्वं बहुलग्रहणेन सम्पद्यते ॥

पदमञ्जरी

हृदयाच्चालुरन्यतरस्यामिति । अन्यतरस्यांग्रहणेनेनिठनौ प्राप्येते, चकारस्य 'चुटू' इतीत्संज्ञा । एवमुत्तरत्रापि । अन्ते तु चकारो नैवास्ति ।

हिमाच्चेलुरिति । एकारादिः प्रत्ययः ।

बलादूलजिति । सिध्मादिषु मत्वर्थे वलूलवाल्लयोः प्रकारान्तरेण व्युत्पत्तिर्दर्शिता ।

पर्वमरुद्भ्यां तन्निति । आद्युदात्तार्थो नकारः । *मरुत्तो* नाम राजा, यत्रेदं श्रूयते—'मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्याऽवसन् गृहे' इति । उपसर्गसंज्ञायां तु मरुच्छब्दस्योपसंख्यानाद् 'अच उपसर्गात्तः' इति तत्त्वमनजन्तत्वेऽपि भवति । 'मरुत एनं देयासुर्मरुत्तः' इति व्युत्पत्तिर्दर्शिता । तत्र 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्राप्नोति । मरुच्छब्दः 'मृग्रोरुतिः' इति उतिप्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तः, तत्र 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इत्याद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॥

न्यासः

दीर्घत्वं प्रयोजयन्ति, नेतराणि; स्वत एव दीर्घत्वात् । **तदेतत् सर्वं बहुलग्रहणेन सम्पद्यत इति** । वक्तव्यशब्दस्तु व्याख्याने वर्त्तत इत्यभिप्रायः ॥

ऊर्णाया युस् ॥ १२३ ॥

उर्णाशब्दाद्युस् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। सकारः पदसंज्ञार्थः। ऊर्णाऽस्य विद्यते ऊर्णायुः।

केचिच्छन्दोग्रहणमनुवर्तयन्ति ॥

वाचो ग्मिनिः ॥ १२४ ॥

वाच्शब्दात् ग्मिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। वाग्ग्मी, वाग्ग्मिनौ, वाग्ग्मिनः ॥

आलजाटचौ बहुभाषिणि ॥ १२५ ॥

वाच्-शब्दात्प्रथमासमर्थादालच्, आटच्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे बहुभाषिण्यभिधेये। ग्मिनेरपवादः। वाचालः। वाचाटः।

* कुत्सित इति वक्तव्यम् *। यो हि सम्यग् बहु भाषते स वाग्ग्मीत्येव भवति ॥

पदमञ्जरी

ऊर्णाया युस् ॥ *ऊर्णायुरिति*। पदत्वाद्यस्येतिलोपो न भवति ॥

वाचो ग्मिनिः ॥ *वाग्ग्मीति*। चकारस्य कुत्वजश्त्वे, द्वयोर्गकारयोः श्रवणं भवति। अथ मिनिरेव कस्मान्नोच्यते, तत्रापि हि कुत्वजश्त्वयोर्वाग्मीति सिद्धयत्येव; ननु चैवमेको गकारः स्यात्, न च 'अनचि च' इति द्विर्वचनम्, 'दीर्घादाचार्याणाम्' इति प्रतिषेधात्। अथापि द्वयोरेकस्य वा श्रवणे विशेषो नास्तीत्युच्येत ? एवमपि 'यरोऽनुनासिके' 'प्रत्यये भाषायां नित्यवचनम्' इति नित्यमनुनासिकः प्राप्नोति, यथा—वाङ्मयम्, त्वङ्मयमिति ॥

आलजाटचौ बहुभाषिणि ॥ *यो हि सम्यग्भाषत इति*। बह्वपीति भावः ॥

न्यासः

ऊर्णाया युस् ॥ ऊर्णायुरिति। पदत्वेन भसंज्ञाभावाद् यस्येतिलोपो न भवति ॥

वाचो ग्मिनिः ॥ अथ मिनिरेव कस्मान्नोच्यते ? जश्त्वे कृते वाग्मीति सिध्यति; ननु च 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यनुनासिकः प्राप्नोति ? नैष दोषः; व्यवस्थितविभाषा विज्ञास्यते। एवं तर्हि गकारमधिकं कुर्वन्नेतत् सूचयति—ग्मिनिरयमिति।

यः सम्यग्बहु भाषते तत्रापि वक्ष्यमाणावालजाटचौ बाधित्वा ग्मिनिरेव भवति। एवं ह्यधिकं भवति यद्यपवादविषयेऽपि क्वचिद्भवति, नान्यथा। एवञ्चालजाटचौ कुत्सितं यो बहु भाषते तत्रैव पारिशेष्याद् भवत इति वेदितव्यम् ॥

आलजाटचौ बहुभाषिणि ॥ **कुत्सित इति**। वक्तव्यशब्दस्तु व्याख्याने वर्त्तत इत्यभिप्रायः। **वक्तव्यमिति**। कुत्सितं यो बहु भाषते तत्रालजाटचौ भवत इत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। व्याख्यानं पूर्वसूत्र एव कृतम् ॥

स्वामिन्नैश्वर्ये ॥ १२६ ॥

'स्वामिन्' इति निपात्यते ऐश्वर्ये गम्यमाने । स्वशब्दादैश्वर्यवाचिनो मत्वर्थे आमिन्प्रत्ययो निपात्यते । स्वमस्यास्तीति=ऐश्वर्यमस्यास्तीति स्वामी, स्वामिनौ, स्वामिनः ।

ऐश्वर्यं इति किम् ? स्ववान् ॥

अर्शआदिभ्योऽच् ॥ १२७ ॥

'अर्शस्' इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽच्प्रत्ययो भवति मत्वर्थे । अर्शांसि अस्य विद्यन्ते अर्शसः । उरसः । आकृतिगणश्चायम् ।

यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह द्रष्टव्यम् ।

अर्शस् । उरस् । तुन्द । चतुर । पलित । जटा । घटा । अभ्र । कर्दम । आम । लवण । ❀ स्वाङ्गाद्धीनात् ❀ । ❀ वर्णात् ❀ । अर्शआदिः ॥

पदमञ्जरी

स्वामिन्नैश्वर्ये ॥ स्वशब्दादैश्वर्यवाचिन इति । अन्यत्रात्मात्मीयज्ञातिधनवाचिनोऽपि स्वशब्दस्यैतद्वृत्तिविषये ऐश्वर्यवाचित्वं स्वभावतो भवति, तेन धनवान्निर्धनो वेशिता स्वामीत्युच्यते, न त्वयं धनवचनः । तथा च धनस्य स्वामीत्यपि भवति; अन्यथा मतुप आमिनचा बाधप्रसङ्गः । अन्यतरस्यांग्रहणेन मतुप्समुच्चयेऽपि धनस्य स्वामीतिवद् धनस्य स्ववानित्यपि प्राप्नोति । तस्मादैश्वर्यवचनः स्वशब्दः, न धनादिवचन इति स्थितम् । धनयोगादैश्वर्यमित्यपि नास्ति; वागादिविषयेऽपि दर्शनात्—वाचस्पतिः, वाचः स्वामीति; न च तत्र धनत्वप्रसिद्धिरस्ति ॥

अर्शआदिभ्योऽच् ॥ स्वाङ्गाद्धीनादिति । हीनम्=विकलम् । हीनस्वाङ्गवाचिनोऽज्भवति । खञ्जः पादोऽस्यास्तीति खञ्जः । काणं चक्षुरस्यास्तीति काणः । कथं कुणिर्हस्तोऽस्यास्ति कुणिरिति ? अभेदोपचारात् । खञ्जादिष्वपि तर्हि तथैव भविष्यति ? इदं तर्हि प्रयोजनम्—भेदविवक्षायां मतुब्मा भूदिति । अथ कुणिशब्दान्मतुप् कस्मान्न भवति ? अनभिधानात् । खञ्जादिभ्योऽपि तर्ह्यनभिधा-

न्यासः

स्वामिन्नैश्वर्ये ॥ 'एकाचः' इति रसादिषु (५. २. ९५) पाठान्मतुपि प्राप्त इदमारभ्यते । ऐश्वर्यवाचिन इति । धनवचनोऽयं स्वशब्द ऐश्वर्यवाची । तथा च—धनयोगादैश्वर्यं तदुच्यते ।

स्ववानिति । आत्मादावर्थान्तरे स्वशब्दो वर्त्तते ॥

अर्शआदिभ्योऽच् ॥ यथासम्भवं मतुबादिष्वज् विधीयते । आकृतिगणश्चायमिति । अपरिगणितत्वात् । आदिशब्दश्चायं प्रकारे । स्वाङ्गाद्धीनादिति । हीनस्वाङ्गवृत्तेः प्राति-

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः ॥ १२८ ॥

द्वन्द्वः=समासः, उपतापः=रोगः, गर्ह्यम्=निन्द्यम्, तद्विषयेभ्यः शब्देभ्यः प्राणिस्थार्थवाचिभ्य इनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। द्वन्द्वात्तावत्–कटकवलयिनी, शङ्खनूपुरिणी। उपतापात्–कुष्ठी, किलासी। गर्ह्यात्—ककुदावर्त्ती, काकतालुकी।

प्राणिस्थादिति किम्? पुष्पफलवान् वृक्षः।

प्राण्यङ्गान्नेष्यते—पाणिपादवती।

अत इत्यनुवर्त्तते, तेनेह न भवति–चित्रललाटिकावती।

सिद्धे प्रत्यये पुनर्वचनं ठनादिबाधनार्थम्॥

पदमञ्जरी

नादेव मतुब्न भविष्यति? अन्तोदात्तार्थं तु। ये आद्युदात्ता हीनस्वाङ्गवाचिनस्तेष्वन्तोदात्तत्वं यथा स्याद्, यदि सम्भवति। *वर्णादिति*। वर्णवाचिनः शुक्लशब्दादच्प्रत्ययो भवति–शुक्लोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः' इति सिद्धम्? अन्तोदात्तार्थं तु। ये आद्युदात्ता वर्णवाचिनस्तेषु तद्वत्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात्। अपर आह—गुणिवचनेभ्योऽयं तद्वति प्रत्ययो विधीयते, तेन शुक्लाः प्रासादा अस्मिन्नगरे शुक्लं नगरमिति भवतीति॥

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः॥ तद्विषयेभ्य इति। तच्छब्देनोपतापो गर्ह्यं च प्रत्यवमृश्यते, न द्वन्द्वः; तस्यैव तद्विषयत्वासम्भवात्। *प्राणिस्थार्थवाचिभ्य इति*। इदं तु सर्वेषां ग्रहणम्। *चित्रललाटिकावतीति*। नियतद्रव्यविवक्षायां

न्यासः

पदिकादज् भवति—खञ्जः पादोऽस्तीति खञ्जः, काणश्चक्षुरस्तीति काणः। वर्णादिति। वर्णवाचिभ्यः शुक्लादिभ्योऽज् भवति—शुक्लोऽस्यास्तीति शुक्लम्। ननु च शुक्लशब्दो गुणवचनः, तत्राभेदोपचारेणाप्येतत् सिध्यति? एवं तर्हि द्रव्यवृत्तेरपि वर्णवाचिनः प्रातिपदिकाद् यथा स्यादित्येवमर्थं वर्णग्रहणं कृतम्। शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादाः शुक्लाः, तेऽस्मिन् सन्ति शुक्लं नगरम्। प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वे सिद्धे चकारोऽर्शोऽस्यास्तीति 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति स्वरितबाधनार्थः॥

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनिः॥ तद्विषयेभ्य इति। तच्छब्देनोपतापगर्ह्यविव परामृश्येते। ते उपतापगर्हे विषयो येषामिति बहुव्रीहिः। प्राणिस्थवाचिनां सर्वेषामेव द्वन्द्वादीनामिदं विशेषणम्।

प्राण्यङ्गान्नेष्यत इति। कथं पुनरिष्यमाणोऽपि न भवति? चकारानुवृत्तेः। **सिद्धे प्रत्यय इति**। 'अत इनिठनौ' इत्यनेनैव। ठनादिबाधनार्थमिति। इनिरेव यथा स्यात्,

वातातिसाराभ्यां कुक् च ॥ १२९ ॥

वातातिसारशब्दाभ्यामिनिः प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च तयोः कुगागमो भवति । वातातिसारयोरुपतापत्वात् पूर्वेणैव सिद्धे प्रत्यये कुगर्थमेवेदं वचनम् । वातकी । अतिसारकी ।

* पिशाचाच्चेति वक्तव्यम् * । पिशाचकी वैश्रवणः ।

रोगे चायमिष्यते । इह न भवति—वातवती गुहेति ॥

वयसि पूरणात् ॥ १३० ॥

इनिरनुवर्तते । पूरणप्रत्ययान्तात्प्रातिपदिकादिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे वयसि द्योत्ये । पञ्चमो मासोऽस्यास्ति संवत्सरो वा पञ्चमी उष्ट्रः । नवमी । दशमी ।

पदमञ्जरी

'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावाभावाट्टापः श्रवणम् । *सिद्धे प्रत्यय इति* । 'अत इनिठनौ' इत्यनेन । *ठनादिबाधनार्थमिति* । आदिशब्देन मतुपो ग्रहणम् ॥

वातातिसाराभ्यां कुक् च ॥ *वातातिसारयोरुपतापत्वादिति* । अतिसारसाहचर्याद्वातस्यापि व्याधेरेव ग्रहणम्, न वायोरिति भावः । *सिद्धे प्रत्यय इति* । इनावेवेत्यर्थः । *रोगे चायमिष्यते इति* क्वचित्पठ्यते, तत्रोक्तो हेतुः ॥

वयसि पूरणात् ॥ *मासः संवत्सरो वेति* । प्रकरणादिवशात्पञ्चमादिशब्दस्य काले वृत्तिः, ततश्च 'वयसि द्योत्ये' इति विशेषणं तत्रोपपन्नमिति भावः ॥

न्यासः

ठनादिर्मा भूदित्येवमर्थं पुनर्वचनम् । आदिशब्देन मतुब् गृह्यते । इत उत्तरे योगा नियमार्था वेदितव्याः ॥

वातातिसाराभ्यां कुक्च ॥ वातातिसाराभ्यामिति । यद्यपि पञ्चमी, तथाप्यर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भवति । आगमसम्बन्धे षष्ठी भावेन विपरिणम्यते । अत एवाह—**तत्सन्नियोगेन च तयोः कुगागम इति** । अथ प्रत्ययस्यैवागमः कस्मान्न भवति ? कुगागमवता प्रत्ययेनार्थस्यानभिधानात् । स्वरूपं न सिध्यतीति च ।

पिशाचाच्चेति वक्तव्यमिति । पिशाचशब्दादिनिप्रत्ययो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—'बहुलं छन्दसि' इत्यतो बहुलग्रहणमनुवर्तते, तेन पिशाचशब्दादपि भविष्यति ॥

वयसि पूरणात् ॥ वयसि द्योत्य इति । कथं पुनर्वयो द्योत्यते, यदि पञ्चमादयः शब्दाः काले वर्त्तमानाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति । अत एव तेषां काले वृत्तिं दर्शयितुमाह—

सिद्धे सति नियमार्थं वचनम्—इनिरेव भवति, ठन्न भवतीति ।
वयसीति किम् ? पञ्चमवान् ग्रामरागः ॥

सुखादिभ्यश्च ॥ १३१ ॥

'सुख'—इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिः प्रत्ययो नियम्यते मत्वर्थे । सुखी । दुःखी ।

'माला क्षेपे' इति पठ्यते, व्रीह्यादिषु च मालाशब्दोऽस्ति, तदिह क्षेपे मतुब्बाधनार्थं वचनम् ।

सुख । दुःख । तृप्र । कृच्छ्र । आस्र । अलीक । करुणा । कृपण । सोढ । प्रमीप । शील । हल । ॐ माला क्षेपे ॐ । प्रणय । सुखादिः ॥

धर्मशीलवर्णान्ताच्च ॥ १३२ ॥

अन्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, धर्माद्यन्तात्प्रातिपदिकादिनिः प्रत्ययो नियम्यते । ब्राह्मणानां धर्मो ब्राह्मणधर्मः, सोऽस्यास्तीति ब्राह्मणधर्मी । ब्राह्मणशीली । ब्राह्मणवर्णी ।

पदमञ्जरी

सुखादिभ्यश्च ॥ इनिः प्रत्ययो नियम्यते इति । पूर्वसूत्रे इनिरेव भवतीति नियमस्वरूपं दर्शितम्, इहापि तथैव नियमः । नन्वेवं यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति सुखादय एव नियता भवन्ति, तत्किमुच्यते—'इनिः प्रत्ययो नियम्यते' इति ? अन्यनिवृत्तिविशिष्टं व्यस्थापनमत्र नियम इत्यदोषः ।

मतुब्बाधनार्थं वचनमिति । न तु ठन्बाधनार्थम्; 'शिखादिभ्य इनिर्वाच्यः' इत्यनेनैव ठनो निवर्त्तितत्वादिति भावः ॥

धर्मशीलवर्णान्ताच्च ॥ ब्राह्मणवर्णीति । ब्राह्मणानां वर्णः=जातिः, तद्वान् ब्राह्मणवर्णी ब्राह्मण एव ॥

न्यासः

पञ्चमो मासोऽस्यास्तीति । सिद्धे सतीत्यादि । पूरणप्रत्ययानामकारान्तत्वादिनिः सिद्ध एव, तस्मिन् सिद्धे पुनरिदं वचनं नियमार्थं ज्ञायत इति। **इनिरेव भवतीति ।** नियमस्य स्वरूपं दर्शयति ॥

सुखादिभ्यश्च ॥ इनिप्रत्ययो नियम्यत इति । पूर्ववन्नियमो वेदितव्यः ।

तदिहेत्यादि । यतो व्रीह्यादिषु मालाशब्दः पठ्यते, तस्माद् यदिह क्षेपे मालाशब्दस्य पुनर्वचनं तन्मतुपो बाधनार्थम्, न तु ठनः । सुखादिभ्य इति नोच्यत इति; अनेनैव निवर्त्तितत्वात् । मालाशब्दो हि शिखादिषु, तत्रान्तर्भाविनः क्षेपादन्यत्रेनिर्भवत्येव । शिखादित्वान्मतुप् च; मतुपस्तस्यान्यतरस्यांग्रहणेन समुच्चितत्वात्—माली, मालावानिति ॥

हस्ताज्जातौ ॥ १३३ ॥

हस्तशब्दादिनिः प्रत्ययो नियम्यते मत्वर्थे, समुदायेन चेज्जातिरभिधीयते। हस्तोऽस्यास्तीति हस्ती, हस्तिनौ, हस्तिनः।

जाताविति किम्? हस्तवान्पुरुषः॥

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ॥ १३४ ॥

वर्णशब्दादिनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे, समुदायेन चेद् ब्रह्मचारी भण्यते। ब्रह्मचारीति त्रैवर्णिकोऽभिप्रेतः, स हि विद्याग्रहणार्थमुपनीतो ब्रह्म चरति, नियममासेवते इत्यर्थः। वर्णी, वर्णिनौ, वर्णिनः।

ब्रह्मचारिणीति किम्? वर्णवान्।

ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यन्ते॥

पदमञ्जरी

हस्ताज्जातौ ॥ इनिः प्रत्ययो नियम्यते इति। मत्वर्थसम्भवमात्रेणात्र प्रकरणे नियमवाचोयुक्तिः। परमार्थतस्तु विधिरयम्, कथम्? गजशब्दवज्जातिशब्दोऽयम्, नात्र मत्वर्थगन्धोऽस्ति। तथा च विहस्तेऽपि गजे हस्तीति भवति; जातिसद्भावात्। हस्तसम्बन्धविवक्षायां च हस्तिन्यपि मतुब्भवति—हस्तवान्, हस्ती; हस्तवान्पुरुष इतिवत्। एवमुत्तरेष्वपि योगेषु द्रष्टव्यम्। हस्तग्रहणं चोपलक्षणार्थं मन्यते, तेन दन्ती, विषाणी, केसरीत्यादि सिद्धं भवति॥

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ॥ ब्रह्मचारीति त्रैवर्णिकोऽभिमत इति। यद्यपि गुरुकुलवासिनि प्रथमाश्रमे ब्रह्मचारिशब्दः प्रसिद्धः, तथापीह लक्ष्यानुरोधात्त्रैवर्णिकमात्रमभिमतः, न त्वाश्रम इत्यर्थः, तस्य कादाचित्कं ब्रह्मचर्ययोगं दर्शयति। *स हीति।* ब्रह्म चरतीति ब्रह्मचारी, ब्रह्म=वेदः। इह तु तदध्ययनार्थो नियमविशेषोऽभिमत इत्याह—*नियममिति।* तत्र ब्रह्मचारीति 'व्रते' इति णिनिः। ब्रह्मचारिशब्दस्य मुख्यार्थपरित्यागेन त्रैवर्णिकमात्रपरत्वे कारणमाह—*ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा इति॥*

न्यासः

धर्मशीलवर्णान्ताच्च ॥ हस्ताज्जातौ ॥ हस्तेन हस्तमात्रं प्रतीयते, न तु जातिः। पुरुषशब्दप्रयोगात् पुरुषजातिर्गम्यते॥

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ॥ समुदायेन चेद् ब्रह्मचारी भण्यत इति। एतेन समुदायोपाधित्वं ब्रह्मचारिणो दर्शयति। विद्याग्रहणार्थं यदोपनीयते ततः सेवितव्यो यो नियमविशेषस्तद् ब्रह्म, तच्चरति ब्रह्मचारी, आवश्यके णिनिः। तत्र नियमविशेषचरणे ब्राह्मणादीनामेव त्रयाणां वर्णानामधिकारः, न शूद्रस्येत्याह—**ब्रह्मचारीति त्रैवर्णिकोऽभिप्रेत इति।** त्रिषु वर्णेषु भवः, तत्रान्तर्भूतत्वात् त्रैवर्णिकः। किं पुनः कारणं स एवाभिप्रेत इत्याह—**स हीत्यादि॥**

पुष्करादिभ्यो देशे ॥ १३५ ॥

'पुष्कर'—इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिः प्रत्ययो भवति समुदायेन चेद्देशोऽभिधीयते । पुष्करिणी । पद्मिनी ।

देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती ।

❀ इनिप्रकरणे बलाद्बाहूरुपूर्वादुपसंख्यानम् ❀ । बाहुबली । ऊरुबली ।

❀ सर्वादेश्चेति वक्तव्यम् ❀ । सर्वधनी । सर्वबीजी । सर्वकेशी नटः ।

❀ अर्थाच्चासन्निहिते ❀ । अर्थी । असन्निहित इति किम् ? अर्थवान् ।

❀ तदन्ताच्चेति वक्तव्यम् ❀ । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी ।

पुष्कर । पद्म । उत्पल । तमाल । कुमुद । नड । कपित्थ । बिस ।

पदमञ्जरी

पुष्करादिभ्यो देशे ॥ *अर्थीति* । असन्निहितोऽर्थोऽस्येत्यर्थः । कालतश्चासन्निधिः, न देशतः । तत्र विरोधादस्तीति न सम्बद्ध्यते, ततश्चाप्राप्त एवेनिर्विधीयते, तक्रकौण्डिन्यन्यायेन च सत्तोपाधिकादिनेरभावः । *अर्थवानिति* । सन्निहितार्थ उच्यते । *तदन्ताच्चेति* । ग्रहणवता प्रातिपादिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधादयमारम्भः । *धान्यार्थीति* । धान्यरूपोऽर्थोऽसन्निहितोऽस्येत्यर्थः, कर्मधारयादिनिः । नन्वर्थयतेर्णिनिनैतत्सिद्धम्—धान्यमर्थयते धान्यार्थी ? एवमपि णिनीति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्राप्नोति । एवं तर्हीदं स्यात्—अर्थनमर्थः=प्रार्थना, सा यस्यास्ति सोऽर्थी, धान्यस्यार्थो धान्यार्थः=धान्यप्रार्थना, सा यस्यास्ति स धान्यार्थीति । एवं च कृत्वेदमपि सिद्धं भवति—अर्थिकः, प्रत्यर्थिक इति ।

न्यासः

पुष्करादिभ्यो देशे ॥ इह कस्मान्न भवति—पुष्कराणि पद्मान्यस्मिन् देशे सन्तीति ? इतिकरणानुवृत्तेः ।

अर्थाच्चासन्निहित इति । असन्निहितग्रहणे तस्य चास्तित्वेन विरोधः । यदि ह्यसन्निहितोऽर्थः, न नाम विद्यते; यदि विद्यते, कथमसन्निहितः ? तस्माद् विशेषणोपादानादस्तीत्येतद् विशेषणमुत्सृज्यासन्निधानोपाधिकादर्थात् प्रत्ययो विधीयते । अभिधानशक्तिस्वाभाव्याच्च । अर्थीति । अभिलाषवानेवोच्यते । न सर्वोऽसन्निहितोऽर्थः प्रत्ययान्तेन तद्विमर्शादसन्निहितवान्, अतः प्रत्ययो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः, कथं पुनरनुच्यमानो लभ्यते ? 'बहुलं छन्दसि' इत्यतो बहुलग्रहणेन यथा 'अष्ट्रामेखलाद्‌द्वयोभयरुजाहृदयादीनां दीर्घश्च' इत्येवमादिकं कार्यं सम्पाद्यते, तथेदमपि ।

तदन्ताच्चेत्यादि । असन्निहितमित्यनुवर्त्तते, असन्निहितोपाधिकादर्थादिनिप्रत्ययो भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । व्याख्यानं तु कृतप्रायम् ॥

मृणाल । कर्दम । शालूक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । प्रवास । हिरण्य[1] । पुष्करसादिः ॥

बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ॥ १३६ ॥

बलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप्प्रत्ययो भवति । अन्यतरस्यांग्रहणेन प्रकृत इनिः समुच्चीयते । बलवान्, बली । उत्साहवान्, उत्साही ।

बल । उत्साह । उद्भाव । उद्वास । उद्वाम । शिखा । पूग । मूल । दंश । कुल । आयाम । व्यायाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिणाह । युद्ध । बलादिः ॥

संज्ञायां मन्माभ्याम् ॥ १३७ ॥

मन्नन्तात्प्रातिपदिकान्मशब्दान्ताच्च इनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे,

पदमञ्जरी

'अर्थाच्चासन्निहिते' इति तूच्यमाने इनेरेव विधानाट्ठन्न स्यात् । 'एकाक्षरात्कृतो जातेः' इति प्रतिषेधोऽनित्यः, तेन कार्यी कार्यिक इतिवद् इनिठनौ भविष्यतः, मतुबनभिधानान्न भविष्यति । न च धनवाचिनोऽर्थशब्दात्सन्निहितादपीनिठनोः प्रसङ्गः; अनभिधानात् । एवम् 'अर्थाच्चासन्निहितात्तदन्ताच्च' इति न वक्तव्यमिति स्थितम् ॥

बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ॥ अन्यतरस्यांग्रहणेनेत्यादि । पूर्ववत्समुच्चये तस्य वृत्तेः ? चकार एव तु न कृतः, किं कुर्मः ! यदि तु विकल्पार्थेनानेन प्रत्ययो विकल्प्येत, ततो मतुपा मुक्ते यथाप्राप्तमिनिठनौ द्वावपि स्याताम् । नन्वेवं सति सूत्रारम्भोऽनर्थकः स्यात्, विनाप्यनेन प्रत्ययत्रयस्य सिद्धत्वात्, तत इनिरेव भविष्यति । कुतो नु खल्वेतद्—इनिरेव भविष्यति न पुनष्ठनेव स्यादिति ? तस्मात्समुच्चयः ॥

संज्ञायां मन्माभ्याम् ॥ प्रथमिनी, दामिनीति । 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च' इति तदन्तविधिः, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः ॥

न्यासः

बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ॥ यद्यन्यतरस्यांग्रहणेन प्रत्ययो विकल्प्यते—बलादिभ्यो मतुब्विकल्पो भवतीति, ततो मतुपा मुक्ते यथाप्राप्तमिनिठनावपि स्याताम्, इनिरेव चेष्यते, स कथमिनिरेव लभ्यते, यद्यन्यतरस्यांग्रहणेनेनिः समुच्चीयते, न मतुबिति विकल्पेन ! इत्येवं चेतसि कृत्वाह—**अन्यतरस्यांग्रहणेनेत्यादि** । ननु यदीनिठनौ द्वावपि स्याताम्, सूत्रारम्भोऽनर्थकः स्यात्; विनाप्यनेन प्रत्ययस्य सिद्धत्वात्, तस्मान्मतुपोऽपि विकल्पस्यानेन दोषः ! नैतदस्ति; आरम्भसामर्थ्यादिनिठनोरन्यतरो भवतीत्येषोऽर्थो लभ्यते, न त्विनिरेव । तस्मादिनिसमुच्चयार्थमेवान्यतरस्यांग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

---

१. कैरव, कल्लोक, तरङ्ग, वयस—एते शब्दा अत्र गणे पुस्तकान्तरेऽधिकाः ।

समुदायेन चेत्संज्ञा गम्यते। प्रथिमिनी। दामिनी। मशब्दान्तात्—होमिनी। सोमिनी।

संज्ञायामिति किम्? सोमवान्। होमवान्॥

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः॥ १३८॥

कम्, शमिति मकारान्तावुदकसुखयोर्वाचकौ; ताभ्यां ब, भ, युस्, ति, तु, त, यस्—इत्येते सप्त प्रत्यया भवन्ति मत्वर्थे। कम्बः, शम्बः। कम्भः, शम्भः। कंयुः, शंयुः। कन्तिः, शन्तिः। कन्तुः, शन्तुः। कन्तः, शन्तः। कंयः, शंयः।

सकारः पदसंज्ञार्थः, तेनानुस्वारपरसवर्णौ सिद्धौ भवतः। संज्ञायां हि असत्याम्—कम्यः, शम्य इति स्यात्।

तुन्दिबलिवटेर्भः॥ १३९॥

तुन्दि, बलि, वटि—इत्येतेभ्यो भः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। तुन्दिरिति वृद्धा नाभिरुच्यते, सास्यास्तीति तुन्दिभः, बलिभः, वटिभः।

पदमञ्जरी

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः॥ कंशमिति मकारान्ताविति। 'कशब्दः सुखवार्युब्रह्ममस्तकवाचकः' इत्यकारान्तः कशब्दो यद्यपि प्रसिद्धः, मकारान्तोऽपि क्वचिदस्तीति प्रदर्शनार्थम् 'मकारान्तौ' इत्युक्तम्। *उदकसुखयोर्वाचकाविति।* न यथासंख्यम्, किं तर्हि? यथासम्भवम्। कमित्युदकसुखयोर्वाचकम्, शमिति सुखस्य। 'अल्पाच्तरम्' इति सुखस्य पूर्वनिपातः प्राप्तः, न कृतः सूत्रकारेणैव;

न्यासः

संज्ञायां मन्माभ्याम्॥ प्रथिमिनी, दामिनीति। प्रथिमिन्, दामिन्—इत्येताभ्यामिनिः, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्। अत्रापि संज्ञाग्रहणमितिकरणस्यैव प्रपञ्चः॥

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः॥ उदकसुखयोर्वाचकाविति। यथासंख्यं कमित्युदकस्य वाचकः, शमिति सुखस्य। शंयुरिति। 'मोऽनुस्वारः', तस्य 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णः, मस्यानुनासिको यकारः।

तेनानुस्वारपरसवर्णौ सिद्धौ भवत इति। तयोः पदाधिकारे विधानात्। यदि पुनः पदसंज्ञा न स्यात्, ततस्तस्यामसत्यां पदनिबन्धनयोरनुस्वारपरसवर्णयोरभावात्—कम्युः, शम्युरित्यनिष्टं रूपं सम्पद्यते॥

तुन्दिबलिवटेर्भः॥ तुन्दिशब्दात् तुन्दादिषु 'स्वाङ्गाद्विवृद्धौ' इति पाठादिलचीनिठनोर्मतुपि प्राप्ते, बलेः पामादिपाठान्ने मतुपि, वटेर्मतुप्येव भो विधीयते॥

बलिशब्दः पामादिषु पठ्यते, तेन बलिन इत्यपि भवति ॥

अहंशुभमोर्युस् ॥ १४० ॥

'अहम्' इति शब्दान्तरमहङ्कारे वर्त्तते, 'शुभम्' इत्यव्ययं शुभपर्यायः; ताभ्यां युस्प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। सकारः पदसंज्ञार्थः। अहंयुः। अहंकारवानित्यार्थः। शुभंयुः। कल्याणवानित्यर्थः।

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकावृत्तौ
पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः

पदमञ्जरी

तत्र व्यभिचरितत्वात्। उदाहरणेष्वनुस्वारपरसवर्णौ, तत्र यकारवकारयोः सानुनासिकौ यकारवकारौ ॥

अहंशुभयोर्युस् ॥ अहमिति शब्दान्तरमेवेति। ननु नात्र कश्चिच्छब्दः प्रकृतो यदपेक्षं शब्दान्तरत्वं स्यात्? सत्यम्; 'त्वाहौ सौ' इत्यस्मदादेशोऽहंशब्दः प्रसिद्धिवशाद् बुद्धिस्थो निर्दिष्टप्रायः, तदपेक्षं शब्दान्तरत्वम्। *अहङ्कारे वर्त्तते इति*। अनेनार्थभेदमाह—'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः[1]'। *अहंयुः, शुभंयुरिति*। पूर्ववदनुस्वारपरसवर्णौ। 'ऊर्णाया युस्' इत्यत्र ये 'छन्दसि' इति नानुवर्तयन्ति तेषामत्रैवोर्णाग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां पदमञ्जर्यां पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः

न्यासः

अहंशुभमोर्युस् ॥ अहमिति शब्दान्तरमिति। अस्मदः 'त्वाहौ सौ' इति, त्यदाद्यत्वे च कृते यच्छब्दरूपं सम्पद्यते, तस्मादन्य एवाहमव्युत्पन्नः शब्दः, न तु तदित्येवं शब्दान्यत्वं दर्शयित्वाऽर्थान्तरं दर्शयितुमाह—अहङ्कारे वर्त्तत इति। अहंयुः, शुभंयुरिति। पूर्ववदनुस्वारपरसवर्णौ।

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां पञ्चमस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः

1, अ० को० (१.७,२२)।

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयः पादः

प्राग्दिशो विभक्तिः ॥ १ ॥

'दिक्शब्देभ्य सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः' इति वक्ष्यति, प्रागेतस्माद्दिक्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो विभक्तिसंज्ञास्ते वेदितव्याः। वक्ष्यति—'पञ्चम्यास्तसिल्। ततः। यतः। कुतः'।

पदमञ्जरी

प्राग्दिशो विभक्तिः॥ विभक्तिसंज्ञास्ते वेदितव्या इति। विभक्तिरिति शब्दः संज्ञा येषां ते तथोक्ताः। ननु विभक्तिशब्दः पूर्वमेव सुप्तिङां संज्ञात्वेन विनियुक्तः, संज्ञा च प्रदेशेषु संज्ञिनं प्रत्याययति न स्वरूपम्, अतः सुप्तिङामेव संज्ञात्वं युक्तम्, न विभक्तिशब्दस्य? सत्यम्; सुप्तिङस्तु संज्ञा भवन्तः प्रत्येकम्, समुदिता वा भवेयुः; न तावत्प्रत्येकम्, अनेकसंज्ञाकरणे प्रयोजनाभावात्; नापि समुदिताः, गौरवादनावृत्तेश्च। आवर्त्तिन्यो हि संज्ञा भवन्ति, न च समुदाय आवर्तते। अपर आह—"यथा 'किकिनौ लिट् च' इति लिड्वद्भावो विधीयते, तथात्रापि विभक्तिवद्भावो विधीयते" इति। सुप्तिङां तु विधानमत्र नाशङ्कनीयम्;

न्यासः

प्राग्दिशो विभक्तिः॥ विभक्तिसंज्ञास्ते वेदितव्या इति। विभक्तिरित्येष शब्दः संज्ञा येषां ते तथोक्ताः। ननु च विभक्तिशब्दः सुप्तिङां संज्ञा, संज्ञा च प्रदेशवाक्येषूच्चारिता संज्ञिनं प्रत्याययतीति सुप्तिङामेव संज्ञात्वं प्राप्नोति, न विभक्तिशब्दस्य स्वाभिधेये गुणीभूतस्य? नैष दोषः; एवं सति सुप्तिङां विभक्तिसंज्ञाविधानमनर्थकं स्यात्। यथा वृद्धिशब्दः स्वाभिधेये लौकिकेऽर्थे गुणीभूतोऽप्यादैच् प्रति संज्ञात्वमनु भवति, तथा विभक्तिशब्दोऽपि तसिलादीन् प्रति संज्ञात्वेन वेदितव्यः। अथ तत्रैव कस्मान्नोच्यते—'सुपो विभक्तिश्च प्राग्दिशश्च' इति, एवं सति पुनर्विभक्तिग्रहणं कर्त्तव्यं न भवति? नैवं शक्यम्; एवं हि न्यासे सति 'कुत आरभ्य प्राग्दिशीयाः?'—इति न ज्ञायते। किञ्च 'दिगादिभ्यो यत्', 'तेनैकदिक्' इति चानेकं शास्त्रे दिग्ग्रहणमित्यवधिरपि सन्दिह्येत। 'किंसर्वनामबहुभ्यः' इत्येवमादेश्च कार्यस्यावधिदर्शनार्थं पुनरिह 'प्राग्दिशः' इति वाच्यमेव स्यात्। तस्माद् यथान्यासमेव साधु। **ततः, यत इति।** 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनुवर्त्तमाने 'त्यदादीनामः' इत्यत्वम्, 'न विभक्तौ तुस्माः' इति सकारस्येत्संज्ञाप्रतिषेधः, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वाद् विभक्तेर्लुक्। **कुत इति।** 'कु तिहोः' इति किमः कुभावः।

त्यदादिविधय इति। त्यदादयोऽत्र विभक्तिनिबन्धनाः। **तत इति।** त्यदादिविधेरत्वस्योदाहरणम्। **इहेति।** इदमो विभक्तिस्वरस्य। इदमः सप्तम्यन्तात् 'इदमो हः'

तसिलादीनां विभक्तित्वे प्रयोजनम्—त्यदादिविधयः इदमो विभक्तिस्वरश्च। इह। 'ऊडिदम्' इति विभक्त्युदात्तत्वं सिद्धं भवति।

अतः परं स्वार्थिकाः प्रत्ययाः, तेषु समर्थाधिकारः प्रथमग्रहणं च

पदमञ्जरी

पूर्वमेव विहितत्वात्। *त्यदादिविधय इति*। त्यदादीनां यानि कार्याणि त्यदादित्वप्रयुक्तानि स्वरूपप्रयुक्तानि वा ते त्यदादिविधयः। उपलक्षणं चैतत्, दानीमो मकारस्य 'न विभक्तौ तुस्माः' इतीत्संज्ञाप्रतिषेधोऽपि प्रयोजनम्। *ततः, यत इति*। 'त्यदादीनामः' इत्यत्वम्। अत्र सकारस्यानन्त्यत्वादेवेत्संज्ञाभावः। *कुत इति*। 'कुति होः' इति कुभावः। कदेति किमः कादेशः। क्वेत्यत्र 'क्वाति' इति क्वभावः। *इहेति*। 'इदमो हः,' 'इदम इश्'। अत्र प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमुदात्तत्वम्। तस्मादित इत्येवोदाहरणं विभक्तिस्वरस्य; अन्यथा 'लिति' इति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात्। ननु च 'मध्येऽपवादाः' इति न्यायाद् 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यस्यैव विभक्तिस्वरोऽपवादः, न लित्स्वरस्य, लित्स्वर एव तु विभक्तिस्वर परत्वाद्बाधेत ? नैष दोषः; नात्राकृते लित्स्वरे विभक्तिस्वरः प्राप्नोति, किं कारणम् ? 'अन्तोदात्तात्' इति वर्त्तते, तत्र निमित्तमेव लित्स्वरो विभक्तिस्वरस्य। यद्यपि 'ऊडिदम्' इत्यत्र 'सावेकाचः' इत्यतस्तृतीयादिग्रहणमनुवर्त्तते, तथाप्या पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्यावान्प्रत्ययो विभक्तिसंज्ञकः सर्वोऽसौ तृतीयादिरिति तसिलादयोऽपि तृतीयादिग्रहणेन गृह्यन्त एव।

अतः परमित्यादि। एतत् 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यत्रैव व्याख्यातम्। *वावचनं*

न्यासः

इति हप्रत्ययः, 'इदम इश्' इतीशादेशः। 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' इति इदमः परस्योदात्तत्वं विभक्तित्वे सति सिद्धं भवति। अत्र तु प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमाद्युदात्तत्वम्। तस्माच्चोदाहरणदिगियम् प्रदर्शिता। इदं त्वत्रोदाहरणं युक्तम्—इत इति। इदमस्तसिल्, पूर्ववदिश्। अत्र ह्यसति विभक्तित्वे लिति प्रत्ययात् पूर्वमाद्युदात्तत्वं स्यात्। तस्मिंस्तु 'ऊडिदम्' इत्यादिनेदमः परस्य तस आद्युदात्तत्वं सिद्धं भवति। ननु च सत्यपि विभक्तित्वे परत्वाल्लित्स्वरेण भवितव्यम्? नैष दोषः; 'लिति' इत्यत्र हि 'ऊडिदम्' इत्यादिकं सूत्रमनुवर्त्तिष्यते लित्स्वरबाधनार्थम्। नन्वेवमपि नैव विभक्तेरुदात्तत्वं सिध्यति? तत्र हि 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' इत्यतस्तृतीयादिग्रहणमनुवर्त्तते, न च तसिलादयस्तृतीयादिग्रहणेन गृह्यन्ते। तृतीयैकवचनमारभ्य आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेर्यावान् प्रत्ययो विभक्तिसंज्ञः सर्वोऽसौ तृतीयादिः।

अतः परमित्यादि। सामर्थ्यं हि नाम सम्बन्धार्थता, सा च प्रतियोगिनमपेक्षत एव येन सहैकार्थीभावो भवति तस्मिन् प्रतियोगिनि सति, नान्यथा। प्राथम्यमपि प्रतियोग्यपेक्षमेव। द्वितीयं हि प्रतियोगिनमपेक्ष्य प्रथममित्युच्यते। इत उत्तरं प्रत्ययाः प्रकृत्यथ-

प्रतियोग्यपेक्षत्वान्नोपयुज्यत इति द्वयमपि निवृत्तम् । वावचनं तु वर्त्तते एव, तेन विकल्पेन तसिलादयो भवन्ति—कुतः, कस्मात्, कुत्र, कस्मिन्निति ।

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ॥ २ ॥

'प्राग्दिशः' इत्येव । किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्च प्राग्दिशः प्रत्यया वेदितव्याः । सर्वनामत्वात्प्राप्ते ग्रहणे द्व्यादिपर्युदासः क्रियते । कुतः, कुत्र । यतः, यत्र । ततः, तत्र । बहुतः । बहुत्र ।

अद्व्यादिभ्य इति किम् ? द्वाभ्याम्, द्वयोः । प्रकृतिपरिसंख्यानं किमर्थम् ? वृक्षात्, वृक्षे ।

प्राग्दिश इत्येव—वैयाकरणपाशः ।

पदमञ्जरी

त्वनुवर्त्तत एवेति । तस्य पृथक्स्वरितत्वात् । अथ 'सुपः, विभक्तिश्च' इत्यत्रैव 'प्राग्दिशश्च' इत्युच्येत ? नैवं शक्यम्; एवं ह्युच्यमाने न ज्ञायते—कुत आरभ्य प्राग्दिशीया ? इति । बह्वश्च दिक्शब्दाः—'दिगादिभ्यो यत्' इत्येवमादयः, ततश्चावधिरपि न निश्चितः स्यात् । 'किंसर्वनामबहुभ्यः' इत्यादेश्च कार्यस्य विषयनियमार्थं पुनरिह 'प्राग्दिशः' इति वाच्यमेव स्यात् । यदि पुनरिहैव 'सुप्तिङौ च' इत्युच्येत ? एवमपि 'तिङस्त्रीणित्रीणि' इत्यत्र तिङ्ग्रहणम् सुप इति च तत्र वक्तव्यं पुरुषवचनसंज्ञार्थम्, तत्र नास्ति विशेषः ॥

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ॥ अधिकारोऽयम्, परिभाषा वेति दर्शयति । *प्रत्ययो वेदितव्य इति* । द्वाभ्याम्, द्वयोरित्यत्र तसिल्त्रलौ न भवतः ।

प्रकृतिपरिसंख्यानम्=प्रकृतिपरिगणनम् । *वैयाकरणपाश इति* । अस्तात्यादयो ग्रहणवद्भ्यो विधीयन्त इति प्रकृतिपरिसंख्यानस्य तत्रासम्भवाद्व्यवहितोऽपि

न्यासः

एव भवन्तीति, न तद्विधौ द्वितीयस्य प्रतियोगिनः सम्भवः; तदभावात् सामर्थ्यप्राथम्ययोरपि नास्त्येव सम्भवः; तयोः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् । यतश्चैतदेवम्, ततः सामर्थ्याधिकारः प्रथमग्रहणञ्च नोपयुज्यत इति द्वयमपि निवृत्तम् । यद्येवम्; वावचनस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति, एकयोगनिर्दिष्टत्वात् ? इत्याह—वावचनं तु वर्त्तत एवेति । तस्य स्वरितत्वादिति भावः । तेन विकल्पेनेत्यादि । तेनोत्तरसूत्रे वाग्रहणानुवृत्तेः फलं दर्शयति ।

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ॥ कुत्रेति । 'सप्तम्यास्त्रल्', पूर्ववत् कुभावः । प्रकृतिपरिसंख्यानमिति । प्रकृतिपरिगणनम् । वैयाकरणपाश इति । 'याप्ये पाशप्' । अयं चावधेः परो वक्ष्यत इत्यन्याभ्योऽपि प्रकृतिभ्यो भवति । सर्वनामत्वादेव सिद्ध इति ।

सर्वनामत्वादेव सिद्धे किमो ग्रहणं द्व्यादिपर्युदासाद् ।

* बहुग्रहणे संख्याग्रहणम् * । इह न भवति—बहोः सूपात्, बहौ सूपे इति ॥

इदम इश् ॥ ३ ॥

'प्राग्दिशः' इत्येव । इदम इश् इत्ययमादेशो भवति प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । इह ॥

पदमञ्जरी

पाशप् प्रत्युदाहृतः । *द्व्यादिपर्युदासादिति* । यदि पुनरयं त्याद्भ्यिः प्राक् किं पठ्येत, नैवं शक्यम्; एकशेषे हि दोषः स्यात्, त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते—त्वं च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ ।

बहुग्रहणे संख्याग्रहणमिति । कथमिह सर्वनामसंज्ञया संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ? तैः साहचर्याद् बहुशब्दस्यापि संज्ञिनो ग्रहणम्, यस्य 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इति संख्यासंज्ञा विहिता, न च तत्र वैपुल्यवाचिनो ग्रहणमिति अत्रापि तस्य ग्रहणाभावः ॥

इदम इश् ॥ शकारः सर्वादेशार्थ इति । अन्यथा विशेषविहितत्वात्त्यदाद्यत्वं बाधित्वा 'अलोऽन्त्यस्य' इति मकारस्येत्वे हलिलोपे च—एतः, एहेत्यनिष्टं रूपं स्यात् ॥

न्यासः

सर्वनामत्वं किमः सर्वादिषु पाठात् । **किमो ग्रहणमित्यादि** । किंशब्दोऽयं द्व्यादिषु पठ्यत इति तस्य 'द्व्यादिभ्यः' इति पर्युदासः क्रियते । तस्मात् सर्वनाम्नोऽपि स्वशब्देनोपादानम् । यद्येवं द्विशब्दात् पूर्वं किंशब्दः पठितव्यः, एवं हि तस्य पृथग्ग्रहणं न कर्त्तव्यमेव भवति ? सत्यमेतत्; न सूत्रकारस्येह गणपाठ इति नासावुपालम्भमर्हति । अपि च त्यदादीनां यद् यत् परं तत् तच्छिष्यत इति किमः सर्वैरेव त्यदादिभिः सह विवक्षायां शेष इष्यते—त्वञ्च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ; स चैवं पाठे न सिध्यतीति यथान्यासमेवास्तु ।

बहुग्रहणे संख्याग्रहणमिति । कथमिह सर्वनामसंज्ञया सर्वादयः संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ? तस्मात् तैः सह निर्देशाद् बहुशब्दस्यापि बहुगणादिसूत्रेण यस्य संख्यासंज्ञा विहिता तस्यैव संज्ञिनो ग्रहणं विज्ञायते । **बहोः सूपादिति** । अत्र वैपुल्यवाची बहुशब्दः ॥

इदम इश् ॥ शकारः सर्वादेशार्थ इति । असति हि तस्मिन् 'अलोऽन्त्यस्य' स्यात् । ततश्चेद्रूपस्य हलिलोपे कृत आद्गुणे चैतः, एहेत्यनिष्टं रूपं स्यात् । ननु चेदमस्त्यदाद्यत्वे कृतेऽतो गुणे पररूपत्वे चेद्रूपलोपे चान्त्यस्याप्यादेश इतः, इहेति सिध्यत्येव ? सिध्येद् यदि प्राक् त्यदाद्यत्वं लभ्येत; न तु तल्लभ्यम्, इत्वमेव हि तावदन्तरङ्गं स्यात् ।

एतेतौ रथोः ॥ ४ ॥

रेफथकारादौ प्राग्दिशीये प्रत्यये परत इदम एतेतावादेशौ भवतः। इशोऽपवादः। रेफेऽकार उच्चारणार्थः। 'इदमो र्हिल्', एतर्हि। 'इदमस्थमुः', इत्थम् ॥

एतदोऽश् ॥ ५ ॥

'प्राग्दिशः' इत्येव। एतदः प्राग्दिशीये परतोऽशित्ययमादेशो भवति। शकारः सर्वादेशार्थः। अतः। अत्र।

पदमञ्जरी

एतेतौ रथोः ॥ इशोऽपवाद इति। भावे घञ्, इशो बाधनमेताभ्यां क्रियत इत्यर्थः। योगापेक्षं त्वेकवचनम्, अयं योग इशोऽपवाद इत्यर्थः। आदेशाभ्यां वा प्रत्येकमभिसम्बन्धादेकवचनम्, यथा 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेः' इति। *इशोऽपवादाविति* वा पठितव्यम्। *रेफेऽकार उच्चारणार्थ इति।* अकारवतो रेफस्य प्राग्दिशीयस्याभावात् ॥

एतदोऽश् ॥ शकारः सर्वादेशार्थ इति। अन्यथा 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्य स्यात्। ननु चान्त्यस्य त्यदाद्यत्वेनैव सिद्धमत्वम्, कृते तर्हि तस्मिन्नकारस्याकारः प्राप्नोति, अकारस्य अकारवचने प्रयोजनाभावात्सर्वादेशो भविष्यति ? अस्त्यन्यदकारस्याप्यकारवचने प्रयोजनम्, किम् ? योऽन्यो विधिः प्राप्नोति स मा भूदिति। कः पुनरसौ ? 'लिति' इति स्वरः। यथा—'मो राजि समः क्वौ' इति मकारस्य मकारवचनमनुस्वारबाधनार्थम्।

न्यासः

इत्वं हि तसिलादिप्रत्ययमात्रमपेक्षत इत्यन्तरङ्गम्, त्यदाद्यत्वमङ्गसंज्ञां परस्य प्रत्ययस्य विभक्तित्वं चापेक्षत इति बहिरङ्गम्। तस्माच्छकारः कर्त्तव्यः॥

एतेतौ रथोः ॥ रथोरिति वर्णयोरिदं ग्रहणम्। तत्र 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति रेफादौ थकारादौ च कार्यं विज्ञायत इत्याह—रेफादावित्यादि। रेफस्याकार उच्चारणार्थ इति कथं ज्ञायते ? इदमः परस्य प्राग्दिशीयस्याकारवतो रेफस्याभावात् ॥

एतदोऽश् ॥ शकारः सर्वादेशार्थ इति। ननु चान्त्यस्य स भवन् यदि तावदकृते त्यदाद्यत्वे भवति ततो दकारस्य भवन्ननर्थकः प्रसज्येत, त्यदाद्यत्वेनापि हि तस्याकारो लभ्यत एव; अथ त्यदाद्यत्वे कृतेऽकारस्य स्थाने भवन्ननर्थक एव प्रसज्यते, न ह्यकारस्याकारवचने प्रयोजनमस्ति, कृतवांश्च; तत्र वचनादसत्यपि शकारे सर्वादेशो भविष्यति ? नैतदस्ति; अस्ति ह्यकारस्याकारवचने प्रयोजनम्। किम् ? अतः, अत्रेत्यत्र योऽन्यः प्राप्नोति स मा भूदिति। कः पुनरसौ ? लिति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तः। तस्माच्छकारः कर्त्तव्यः।

'एतदः' इति योगविभागः कर्त्तव्यः। एतदो रथोः परत एत, इत्-इत्येतावादेशौ भवतः—एर्तार्हि, इत्थम्। रेफादिः 'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' इति विद्यत एव। थमुप्रत्ययः पुनरेतद उपसंख्येयः॥

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि॥ ६॥

सर्वस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परतोऽन्यतरस्याम्। सर्वदा। सदा।

प्राग्दिशीय इत्येव—सर्वं ददातीति सर्वदा ब्राह्मणी॥

पदमञ्जरी

योगविभाग इति। अशो बाधनार्थः। *थमुप्रत्ययः पुनरिति*। अन्यथा य एवासावविशेषविहितस्थकारादिः 'प्रकारवचने थाल्' इति तत्रैव स्यात्। स तर्ह्युपसंख्येयः? नेत्याह, इदमा थकरादिं विशेषयिष्यामः—इदमो यस्थकारादिस्तत्रेति,स च थमुरेव। ततश्चास्मादेव ज्ञापकात्थमुर्भविष्यति, तेन च थाल्बाध्यते।

भाष्ये तु 'एतदोऽन्' इति नकारान्त आदेश इति स्थितम्। स चानेकाल्त्वात्सर्वादेशः, ततः स्थानिवद्भावात्प्रातिपदिकत्वे सति नलोपः—अतः, अत्र॥

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि॥ 'दि' इति दकारादियं सप्तमी, तत्र 'यस्मिन् विधिः' इति तदादेर्ग्रहणं विज्ञायत इत्याह—*दकारादौ प्रत्यये परत इति*।

सर्वदा ब्राह्मणीति। किमर्थं स्त्रीलिङ्गोपन्यासः? यो हि मन्यते—दीति दाशब्दादियं सप्तमी न तु दकारात्, तत्र क्त्वो ल्यप्, 'हलः,' 'श्नः' इत्यादिवदातो लोप इति, तं प्रति दाशब्दः प्रत्युदाहृतः। एवमपि लाक्षणिकत्वादत्र दाशब्दस्य न भविष्यति? एवं तर्हि विजन्तमेतद् द्रष्टव्यम्, एवं च कृत्वा पुंल्लिङ्गमप्युदाहरणं भवत्येव॥

न्यासः

थमुः पुनरुपसंख्येय इति। तस्याविद्यमानत्वात्। उपसंख्येय इति प्रतिपाद्य इत्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—एत एव थकारादावादेशवचनं ज्ञापयति—भवत्येतदस्थमुरिति। कुतो नु खल्वेतद्? ज्ञापकात्। थमुर्भविष्यति, न पुनर्य एवासौ 'प्रकारवचने थाल्' इत्यविशेषविहितस्थकारादिस्तस्मिन्नेवादेशः स्यात्? नैष दोषः; इदमस्थकारादिविशेष्र इष्यते। 'एतदः' इत्यत्रापि हीदम इत्यनुवर्त्तते, तच्च नादेशविधानार्थम्; आदेशस्य पूर्वमेव विहितत्वात्। तस्मात् प्रत्ययविशेषणं विज्ञायते। तत एतेन थकारादिं विशेषयिष्यामः—इदम इत्येवं यो विहित इदंशब्देनैव यो विहितस्थकारादिरिति, थमुरेव चैवं विहितः, न थालिति युक्तमुक्तमादेशवचनं ज्ञापयति–भवत्येवैतदस्थमुरिति॥

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि॥ दीति दकारादियं सप्तमी। तत्र दकारमात्रस्य प्राग्दिशीयस्याभावाद् 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इत्यतो दकारादौ विधिर्ज्ञायत इत्याह–प्राग्दिशीये दकारादित्यादि। सर्वदा ब्राह्मणीति। 'आतोऽनुपसर्गे कः', ततष्टाप्॥

पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ७ ॥

पञ्चम्यन्तेभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यस्तसिल्प्रत्ययो भवति । कुतः । यतः । ततः । बहुतः ॥

पदमञ्जरी

पञ्चम्यास्तसिल् ॥ तसिल्प्रत्ययो भवतीति । यदि पुनः 'पञ्चम्याः' 'सप्तम्याः' इति षष्ठ्याश्रयेण पञ्चम्यादीनां तसिलादय आदेशा विज्ञायेरन्, सुब्लुक्स्वर-गुणदीर्घत्वैत्वौत्वस्मायादिविधिप्रतिषेधः । सुब्लुक्—'अव्ययात्त्यप्', ततस्त्यः, तत्रत्यः, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति तसित्रलोर्लुक् प्राप्नोति । स्वरः—तदा, यदा, 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तत्वं प्राप्नोति । गुणः—कुतः, 'घेर्ङिति' इति गुणः प्राप्नोति । दीर्घत्वम्—तर्हि, 'अतो दीर्घो यञि', 'सुपि च' इति दीर्घत्वं प्राप्नोति । एत्वम्—तेषु, तत्र, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वं प्राप्नोति । औत्वम्–कस्मिन्, कुत्र, 'औत्' 'अच्च घेः' इत्यौत्वं प्राप्नोति । स्मायादि—तस्मात्, तस्मिन्, तत्र, 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' इति स्मात्स्मिनौ प्राप्नुतः । तस्मात् 'पञ्चम्याः सप्तम्या इति पञ्चमी, तसिलादयश्च प्रत्ययाः' इति युक्तम् । अत एव 'इतराभ्यः' इति पञ्चमीनिर्देशः; इतरथा 'इतरासाम्' इति वक्तव्यं स्यात् । यदि तर्हि तसिलादयः प्रत्ययाः, नादेशाः, 'तसेश्च' इति तस्यतेर्धातोरपि पञ्च-म्यन्तात्परस्य प्राप्नोति—तस्मात्तस्यति, यस्मात्तस्यति । आदेशपक्षे तु न दोषः; 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः', 'अपादाने चाहीयरुहोः' इत्यत्राप्यादेशत्वात्पञ्चम्या-देशस्य तसेस्तसिलादेशविधानात् ? प्रत्ययपक्षेऽपि न दोषः; तसेरितीकारो विव-क्षितः, तेन धातोर्न भविष्यति ॥

न्यासः

पञ्चम्यास्तसिल् ॥ तसिल् प्रत्ययो भवतीति । आदेशा एवामी तसिलादयः पञ्चम्यादीनां स्थाने कस्मान्न क्रियन्ते, एवं हि विभक्तिसंज्ञा न कर्त्तव्या भवति ? अशक्या एत आदेशाः कर्तुम् ; आदेशत्वे ह्येषामव्ययात् त्यपि–ततस्त्यः, यतस्त्य इत्यत्र 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुक् । लभन्ते हि स्थानिवद्भावेन सुबादेशाः सुबाश्रयं कार्यम् । तत इति, 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तः । कुत इति, 'घेर्ङिति' इति गुणः । एतर्हीति, 'सुपि च' इति दीर्घः । तत्रेति, 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वम् । कुत्रेति, 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वम् । ततः, तत्रेति, 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' इति स्मात्-स्मिनौ । तस्मान् नादेशा अमी क्रियन्ते । यद्येवम्, 'तसु उपक्षये' इत्यस्मात् तस्यन्नि-त्यत्र धातुरूपस्य पञ्चम्याः परस्य 'तसेश्च' इति तसिलादेशः प्राप्नोति ? नैष दोषः; स्वार्थिकविज्ञानान्न भविष्यति । स्वार्थिका ह्येते तसिलादयः, तन्मध्ये तसिलादेशो विधी-यमानस्तथा विज्ञायते यथा स्वार्थे क्रियमाणःस्वार्थिकत्वं नातिक्रामति । 'अपादाने चाही-यरुहोः' इत्यनेन विहितस्तस्य स्वार्थिकस्य स्थाने भवंस्तसिलपि स्वार्थिक एव भवति । धातुस्तु प्रातिपदिकादर्थान्तरे वर्त्तत इति तदादेशो भवंस्तसिल् स्वार्थिको न भवति ॥

तसेश्च ॥ ८ ॥

'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः', 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति वक्ष्यति। तस्य तसेः किसर्वनामबहुभ्यः परस्य तसिलादेशो भवति। कुत आगतः। यतः। ततः। बहुत आगतः।

तसेस्तसिल्वचनं स्वरार्थं विभक्त्यर्थं च ॥

पर्यभिभ्यां च ॥ ९ ॥

परि, अभि—इत्येताभ्यां तसिल् प्रत्ययो भवति।

सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यां प्रत्यय इष्यते। परितः। सर्वत इत्यर्थः। अभितः। उभयत इत्यर्थः ॥

सप्तम्यास्त्रल् ॥ १० ॥

किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः त्रल् प्रत्ययो भवति। कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

पदमञ्जरी

तसेश्च ॥ तस्य तसेरिति। परत्वात्कृतस्य तसिलोऽवकाशः—कुतोऽवहीयते, कुतोऽवरोहतीति, तसेस्तु ग्रामत आगच्छतीत्यादिः; कुत आगच्छतीत्यादावुभयप्रसङ्गे परत्वात्तसिर्भवति, तस्यानेन तसिलादेशः। *तसेस्तसिल्वचनं स्वरार्थमिति।* लित्करणस्योक्तं प्रयोजनम्। *विभक्त्यर्थं चेति।* विभक्तिसंज्ञार्थं चेत्यर्थः। अन्यथा परत्वात्तसौ कृते तस्याप्राग्दिशीयत्वाद्विभक्तिसंज्ञाया अभावात्त्यदाद्यत्वं न स्यादिति रूपमेव न सिद्ध्येत् ॥

पर्यभिभ्यां च ॥ सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यामिति। अत्र चाभिधानस्वाभाव्यं हेतुः, तेनेह न भवति—परिषिञ्चति, अभियातीति; उपर्यर्थे परिः, आभिमुख्येऽभिः। इह त्वोदनं परिषिञ्चतीति सर्वतोभावेऽपि वावचनानुवृत्तेः पक्षे तसिलभावः। *सर्वतः, उभयत इति।* सप्तम्यन्ताभ्यामाद्यादित्वात्तसिः ॥

न्यासः

तसेश्च ॥ **कुत आगत इति।** 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति परत्वात् तसौ कृते तस्यानेन तसिल्। ननु च कृतेऽपि तसिलि तदेव रूपम्, तत् किमर्थमादिश्यते? इत्याह—**तसेस्तसिल्वचनमित्यादि।**

पर्यभिभ्याञ्च ॥ सर्वोभयार्थे वर्त्तमानाभ्यामिष्यत इति। तेनेह न भवति—परिषिञ्चति, अभियातीति। अत्र चानभिधानं हेतुः। अथ वा—'सर्वस्य' इत्यादेः सूत्रादन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन सर्वोभयार्थ एव वर्त्तमानाभ्यां भवति, नान्यत्र ॥

इदमो हः ॥ ११ ॥

इदमः सप्तम्यन्ताद्धः प्रत्ययो भवति । त्रलोऽपवादः । इह ॥

किमोऽत् ॥ १२ ॥

किमः सप्तम्यन्तादत्प्रत्ययो भवति । त्रलोऽपवादः । क्व भोक्ष्यसे । क्वाध्येष्यसे ।

त्रलमपि केचिदिच्छिन्ति—कुत्र । तत्कथम् ? उत्तरसूत्राद्वावचनं पुरस्तादपकृष्यते ॥

वा ह च च्छन्दसि ॥ १३ ॥

किमः सप्तम्यन्ताद्वा हः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये । यथाप्राप्तं च । क्व । कुह । कुत्रचिदस्य सा दूरे क्व ब्राह्मणस्य चावकाः ॥

इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ १४ ॥

सप्तमीपञ्चम्यपेक्षमितरत्वम् । इतराभ्यो विभक्तिभ्यस्तसिलादयो दृश्यन्ते । दृशिग्रहणं प्रायिकविध्यर्थम्, तेन भवदादिभिर्योग एवैतद्विधानम् ।

पदमञ्जरी

किमोऽत् ॥ तकारस्य 'न विभक्तौ तुस्माः' इतीत्संज्ञाप्रतिषेधो न भवति; अनित्यत्वात् । अनित्यत्वं तु 'इदमस्थमुः' इति थम उकारान्मकारस्येत्संज्ञापरिहाणार्थाज्ज्ञायते । दानीमस्तु मकारस्य भवत्येव प्रतिषेधः । अनित्यत्वं हि ज्ञाप्यते, न पुनस्तद्धितेष्वस्याभावः ।

उत्तरसूत्रादिति । 'किमोऽद्वा' इति सूत्रं पठितव्यम् । 'ह च छन्दसि' इत्यत्र चकारेण त्रतलोः समुच्चयादिष्टसिद्धिरिति तेषां भावः । *भागवृत्तिकारस्तु* भाषायामेतन्नेच्छति ॥

इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ *पञ्चमीसप्तम्यपेक्षमितरत्वमिति* । तयोरनन्तरनिर्दिष्टत्वात् । *प्रायिकविध्यर्थमिति* । प्रायिकोऽयं विधिर्यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः । तेन

न्यासः

सप्तम्यास्त्रल् ॥ **इदमो हः** ॥ **किमोऽत्** ॥ **क्वेति** । 'क्वाति' इति किमः कादेशः । 'न विभक्तौ तुस्माः' इति प्रतिषेधस्य 'इदमस्थमुः' इत्युकारेणानित्यत्वस्य ज्ञापितत्वादित्संज्ञा तकारस्य । दानीमस्तु प्रतिषेधान्नास्तीत्संज्ञा; प्रयोजनाभावाच्च ।

वा ह च च्छन्दसि ॥ **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** ॥ **पञ्चमीसप्तम्यपेक्षमितरत्वमिति** । तदनन्तरमितरशब्दस्य ज्ञातत्वात् । अथ दृशिग्रहणं किमर्थम्, यावता 'इतराभ्योऽपि' इत्येतावतैव सिद्धम् ? इत्याह—**दृशिग्रहणमित्यादि** । प्रायिको विधिर्यथा स्यादित्येवमर्थं

के पुनर्भवदादयः ? भवान्दीर्घायुरायुष्मान् देवानाम्प्रिय इति। स भवान्, ततो भवान्, तत्र भवान्। तं भवन्तम्, तत्र भवन्तम्, ततो भवन्तम्। तेन भवता, तत्र भवता, ततो भवता। तस्मै भवते, ततो भवते, तत्र भवते। तस्माद्भवतः, ततो भवतः, तत्र भवतः। तस्य भवतः, ततो भवतः, तत्र भवतः। तस्मिन् भवति, ततो भवति, तत्र भवति। एवं दीर्घायुःप्रभृतिष्वप्युदाहार्यम् ॥

सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ॥ १५ ॥

'सप्तम्याः' इति वर्त्तते, न तु 'इतराभ्यः' इति। सर्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दा प्रत्ययो भवति। त्रलोऽपवादः। सर्वस्मिन् काले सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। तदा।

काल इति किम् ? सर्वत्र देशे ॥

इदमो र्हिल् ॥ १६ ॥

पदमञ्जरी

किं सिद्धं भवति ? इत्याह–*तेनेति*। *स, भवान् ततो भवानित्यादि*। *अयं भवानिह भवानित्यादि* हस्योदाहरणम्, *को भवान्, क्व भवानित्यादि* अतः। *दीर्घायुःप्रभृतिष्विति*। 'नित्यं समासे' इति सत्वं न भवति; उत्तरपदस्थत्वात्। 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति विकल्पोऽपि न भवति; व्यपेक्षायास्तत्राश्रयणात्।

सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा॥ सप्तम्या इति वर्तत इति। स्वरितत्वात्। न *त्वितराभ्य इति*। विपर्ययात् ॥

न्यासः

दृशिग्रहणम्। तस्मिंस्तु सति शिष्टप्रयोगेऽनुगम्यमाने यत्र दृश्यते तत्र भवति, नान्यत्रेत्येषोऽर्थो लभ्यते। तेन प्राथिकत्वं विधेः सिध्यति। तेनेत्यादि। दृशिग्रहणे तु सति यत्रेतराभ्यः शिष्टप्रयोगो दृश्यते ताभ्य एव तसिलादिभिर्भवितव्यम्। भवदादियोग एवेतराभ्यो दृश्यन्ते, तेनेतरत्रैव तद्विधानम्। यदि ह्यन्येभ्योऽपि तसिलादयो भवन्ति, पूर्वं पञ्चमीसप्तमीभ्यां विधानमनर्थकम् ? नैतदस्ति; नियोगतो हि ताभ्यामिष्यते, इतराभ्यो भवदादियोगे। एतच्च पूर्वस्मिन् विधावस्मिंश्च सत्युभयं लभ्यत इति कुत आनर्थक्यम् ! ॥

सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ॥ सप्तम्या इत्यनुवर्त्तत इति। तस्याः स्वरितत्वात्। न त्वितराभ्य इति। तद्विपर्ययात्। त्रलादेरपवाद इति। यथासम्भवम्। तत्र किम्शब्दात् 'किमोऽत्' इति प्राप्तस्यात्प्रत्ययस्यापवादः। केषाञ्चिन्मतेन त्रलोऽपि। तच्छब्दादपि 'तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि' इति। शेषेभ्यस्तु त्रलः। कदेति। किमः कादेशः।

'सप्तम्याः' इत्येव । 'काले' इति च । इदमः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानाद् र्हिल् प्रत्ययो भवति । हस्यापवादः । लकारः स्वरार्थः । अस्मिन् काले एतर्हि । काले इत्येव—इह देशे ॥

अधुना ॥ १७ ॥

'अधुना' इति निपात्यते । इदमोऽश्भावो धुना च प्रत्ययः । अस्मिन् काले अधुना ॥

दानीं च ॥ १८ ॥

इदमः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानाद्दानीं प्रत्ययो भवति । अस्मिन् काले इदानीम् ॥

तदो दा च ॥ १९ ॥

तदः सप्तम्यन्तात्काले वर्त्तमानाद् दा प्रत्ययो भवति, चकाराद्दानीं च । तस्मिन्काले तदा । तदानीम् ।

पदमञ्जरी

इदमो र्हिल् ॥ *लकारः स्वरार्थ इति* । यथा हीत इत्यत्र 'ऊडिदम्' इत्यादिना स्वरो भवति, तथेह न भवति; लित्त्वस्याचरितार्थत्वात् । तसिलस्तु लित्त्वमिदमोऽन्यत्र चरितार्थम् ॥

अधुना ॥ इदमोऽश् भावो धुना च *प्रत्यय इति* । तत्र 'ऊडिदम्' इत्यादिना विभक्तिस्वरः, स च 'आदेः परस्य' इत्यादेर्भवति । *भाष्ये* त्वधुनाप्रत्यय आश्रितः, तत्रेदम इशो यस्येतिलोपः, निपातनाच्च मध्योदात्तत्वम् ॥

तदो दा च ॥ *दावचनमिति* । अपर आह—'अदाप्रत्ययोऽयं न दाप्रत्ययः' इति, तत्राद्युदात्तत्वं पक्षे भवति ॥

न्यासः

इदमो र्हिल् ॥ हस्यापवाद इति । 'इदमो हः' इति प्राप्तस्य । लकारः स्वरार्थ इति । 'लिति' प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वं यथा स्यात् । ननु च यथा इत इत्यत्र—'ऊडिदम्' इत्यादिना विभक्तिस्वरो भवति, तथेहापि तेनैव भवितव्यम् ? नैतदस्ति; तथा हि युक्तमित इत्यत्र यद् विभक्तिस्वरो भवतीति; तसिलो लित्त्वस्य परितः, अभित इत्यत्र चरितार्थत्वात्, अस्य तु र्हिलो लित्करणमकृतार्थम् । तद् यदि विभक्तिस्वरेण बाध्येत तस्यानर्थक्यं स्यात् । तस्माल्लित्स्वर एव भवति ॥

अधुना ॥ दानीञ्च ॥ दानीञ्चेति योगविभाग उत्तरार्थः—'तदो दा च' इत्यत्र दानीमेव यथा स्यात् , पूर्वसूत्रविहितः प्रत्ययो मा भूदिति ॥

तदो दा च ॥ अनर्थकमिति । वैचित्र्यार्थम् । अन्यस्याभावादनर्थकं वैचित्र्येण सार्थकमेव । विहितत्वादिति । 'सर्वैकान्य' इत्यादिना ॥

तदो दावचनमनर्थकम्; विहितत्वात् ॥

तयोर्दार्हिलौ चच्छन्दसि ॥ २० ॥

'तयोः' इति प्रातिपदिकनिर्देशः। तयोरिदमः तदश्च यथासंख्यं दा-र्हिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये। चकाराद्यथाप्राप्तं च। इदावत्सरीयः। इदं तर्हि। इदानीम्। तदानीम् ॥ काठक संहिता १३।१५।

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ॥ २१ ॥

'छन्दसि' इति न स्वर्यते, सामान्येन विधानम्। किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्योऽनद्यतने कालविशेषे वर्त्तमानेभ्यो र्हिल् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम्। कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा ॥

सद्यः परुत्परार्यैषमः परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ॥ २२ ॥

'सप्तम्याः' इति, 'काले' इति च वर्त्तते। सद्यःप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते। प्रकृतिः, प्रत्ययः, आदेशः, कालविशेष इति सर्वमेतन्निपातनाल्लभ्यते। समानस्य सभावो निपात्यते द्यश्च प्रत्ययः, अहन्यभिधेये। समानेऽहनि सद्यः।

पदमञ्जरी

तयोर्दार्हिलौ चच्छन्दसि ॥ तयोरिति प्रातिपदिकनिर्देशः, व्यत्ययेन पञ्चम्याः स्थाने षष्ठी ॥

सद्यः परुत्परार्यैषमः परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ॥ *अहन्यभिधेय इति*। सप्तम्यन्तस्याहन्शब्दस्यार्थ इत्यर्थः। तद्दर्शयति—*समानेऽह्नि सद्य इति*। एवं *संवत्सरेऽभिधेय* इत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम्।

न्यासः

तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि ॥ इदा। 'इदम इश्'। तथा वर्णव्यत्ययेन दकारस्य धकारः। इदानीं तदानीमिति। दानीम्प्रत्ययस्योदाहरणम् ॥

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ॥ तसिलादिषु प्राप्तेषु र्हिल्प्रत्ययो विधीयते। कर्हीति। 'किमः कः'। कदा, यदा, तदेति। 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' ॥

सद्यः परुत्परार्य्यैषमः परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ॥ समानेऽहनि सद्य इति। निमित्तनिमित्तिनोः समाने साधारणेऽह्नि निपा-

पूर्वपूर्वतरयोः परभावो निपात्यते, उदारी च प्रत्ययौ, संवत्सरेऽभिधेये। पूर्वस्मिन्संवत्सरे परुत्। पूर्वतरे संवत्सरे परारि।

इदम इश्भावः, समसण् प्रत्ययो निपात्यते संवत्सरेऽभिधेये। अस्मिन्संवत्सरे ऐषमः।

परस्मादेद्यविः प्रत्ययोऽहनि। परस्मिन्नहनि परेद्यवि।

इदमोऽश्भावो द्यश्च प्रत्ययोऽहनि। अस्मिन्नहनि अद्य।

पूर्वान्यान्यतरेतरापराधरोभयोत्तरेभ्य एद्युस्-प्रत्ययो निपात्यतेऽहन्यभिधेये। पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः। अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः। अन्यतरस्मिन्नहनि अन्यतरेद्युः। इतरस्मिन्नहनि इतरेद्युः। अपरस्मिन्नहनि अपरेद्युः। अधरस्मिन्नहनि अधरेद्युः। उभयोरह्नोः उभयेद्युः। उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः।

❀ द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः ❀। उभयद्युः॥

प्रकारवचने थाल्॥ २३॥

'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' इति वर्त्तते। 'सप्तम्याः' इति, 'काले' इति च निवृत्तम्। सामान्यस्य विशेषो भेदकः=प्रकारः। प्रकृत्य-

पदमञ्जरी

उभयोरह्नोरुभयेद्युरिति पाठः। प्रायेण तु *उभयस्मिन्नहनीति* पठ्यते, तत्रोभे अहनी अवयवौ यस्य समुदायस्य तदहर्द्वयमुभयमहरित्युक्तम्॥

प्रकारवचने थाल्॥ सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकार इति। यथा ब्राह्मणसामान्यस्य माठरादयः। अनेनैतद्दर्शयति—यद्यपि सादृश्यमपि प्रकारः, यथा 'प्रकारे गुणवचनस्य' इत्यत्र वक्ष्यति—'प्रकारो भेदः सादृश्यं च, तदिह सादृश्यं प्रकारो गृह्यते' इति; तथापि नेह सादृश्यं गृह्यते, अनभिधानादिति। *तेन प्रकारेण तथेति*। प्रथमान्तात्तु न भवति—स प्रकारस्तथेति; अनभिधानादेवेति भावः।

न्यासः

तनमेतत्। तद्यथा—सद्यः प्राणहरणं मर्मणि ताडनमिति। यस्मिन्नेवाहनि मर्मणि ताडनं तस्मिन्नेवाहनि प्राणहरणमित्यर्थः।

उदारी चेति। उच्च आरिश्चेति उदारी।

परस्मादेद्यवीति। परशब्दादेद्यवित्ययो भवत्यहन्यभिधेये॥

प्रकारवचने थाल्॥ सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकार इति। यथा ब्राह्मण इति सामान्यम्, तस्य विशेषा माठरादयः प्रकारा इति।

र्थविशेषणं चैतत् । प्रकारवृत्तिभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति । तेन प्रकारेण तथा । यथा । सर्वथा ।

जातीयरोऽपीदृशमेव लक्षणम्, स तु स्वभावात्प्रकारवति वर्त्तते । थाल्पुनः प्रकारमात्रे ।।

इदमस्थमुः ।। २४ ।।

इदम्-शब्दात्प्रकारवचने थमुः प्रत्ययो भवति । थालोऽपवादः । अनेन प्रकारेण इत्थम् । उकारो मकारपरित्राणार्थः ।।

किमश्च ।। २५ ।।

किंशब्दात् प्रकारवचने थमुः प्रत्ययो भवति[1] । केन प्रकारेण कथम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।।

था हेतौ चच्छन्दसि ।। २६ ।।

किंशब्दाद्धेतौ वर्तमानात्था प्रत्ययो भवति, चकारात्प्रकारवचने छन्दसि विषये । हेतौ तावत्—कथा ग्रामं न पृच्छसि । केन हेतुना न पृच्छसीत्यर्थः । प्रकारवचने—कथा देवा आसन्पुराविदः ।

विभक्तिसंज्ञायाः पूर्णोऽत्रावधिः ।।

पदमञ्जरी

किंसर्वनामबहुभ्यो विशेषविहितेन थाला सामान्यविहितस्य जातीयरो बाधप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याऽऽह—*जातीयरोऽपीति* । सत्यं जातीयरोऽपीदृशमेव लक्षणं 'प्रकारवचने जातीयर्' इति, कथं तर्ह्यबाधः ? अत आह—*स त्विति* । अर्थभेदाद् भेद इत्यर्थः । एवं च कृत्वा प्रकारमात्रे थालं विधाय तदन्तात्प्रकारवति जातीयरं प्रयुञ्जते—तथाजातीयः, यथाजातीय इति ।।

किमश्च ।। *योगविभाग* उत्तरत्र किम एवानुवृत्तिर्यथा स्यादिदमो मा भूदिति ।।

न्यासः

ईदृशमेव लक्षणमिति । तत् पुनः 'प्रकारवचने जातीयर्' इत्येतत् । **स तु स्वभा**वादित्यादिना तुल्यलक्षणविहितयोर्विशेषं दर्शयति । अत एव विषयभेदाद् विशेषविहितेनापि थाला सामान्यविहितो जातीयर्न बाध्यते । तेन किञ्जातीयः इत्यादि सिद्धं भवति ।।

इदमस्थमुः ।। **किमश्च** ।। **योगविभाग उत्तरार्थं** इति । 'था हेतौ च' इति वक्ष्यति, स किम एव यथा स्यात्, इदमो मा भूदिति ।।

---

1. 'थालोऽपवादः'—इत्यधिकं पुस्तकान्तरे ।

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ॥ २७ ॥

दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, तेभ्यो दिक्शब्देभ्यो दिग्देशकालेषु वर्तमानेभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्योऽस्तातिः प्रत्ययो भवति स्वार्थे। यथासंख्यमत्र नेष्यते। पुरस्ताद्वसति, पुरस्तादागतः, पुरस्ताद्रमणीयम्। अधस्ताद्वसति, अधस्तादागतः, अधस्ताद्रमणीयम्।

पदमञ्जरी

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ॥ दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, षष्ठीसमासः। *दिशां ये वाचकास्ते दिक्शब्दा इति*। दिशां ये वाचकत्वेन दृष्टाः, त इह दिक्शब्दा विवक्षिता इति, न तु दिशमभिदधाना एवेत्यर्थः। *तेभ्य इति*। यद्यपि पूर्वादिशब्दा दिशि वर्तमानाष्टाबन्ताः, देशकालयोस्तु प्रकृत्यन्ता इति रूपभेदः, तथापि टापः स्वार्थिकत्वाद्वाचकरूपे भेदाभावात् त एव दिक्शब्दा देशकालयोर्वर्त्तन्त इति वाचोयुक्तेर्नास्ति विरोधः। ये त्वर्थभेदं मन्यन्ते, तेषां सादृश्यनिबन्धनस्तेभ्य इति व्यपदेशः। कथं पुनर्दिक्शब्दा देशकालयोर्वर्त्तन्ते? स्वभावात्। पूर्वादयो हि दिशामिव देशकालयोरपि स्वभावादेव वाचकाः। कथं तर्हि त्रिषु वर्त्तमाना दिशैकया व्यपदिश्यन्ते—दिक्शब्देभ्य इति? को दोषः; अन्वयेन ह्ययं व्यपदेशः, न तु दिशामेव ये शब्दाः—इत्यवधारणेन।

अथ देशकालयोरन्यतरेण कस्मान्न व्यपदिश्यन्ते? शिंशपाचोद्यमेतत्। किं

न्यासः

या हेतौ च च्छन्दसि ॥ दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ॥ दिग्देशकालेषु वर्त्तमानेभ्य इति। कथं पुनर्ये दिशां शब्दास्ते देशे काले वर्त्तन्ते? स्वभावात्। यथैव हि ते दिशि स्वभावादेव वर्त्तन्ते, न हेत्वन्तरात्; तथा देशकालयोरपि। यद्येवम्, त्रिषु वर्त्तमानाः कथं दिशा व्यपदिश्यन्ते—दिक्शब्देभ्य इति? कथं तर्हि व्यपदेष्टव्यम्, दिग्देशकालशब्देभ्य इति? नैतदस्ति; एवं हि व्यपदेशस्यैतत् फलम्—ऐन्द्र्यां दिशि निवसतीत्यत्र मा भूदिति। एत च्चान्यतमेनापि लभ्यत इत्यनेनैव व्यपदेशो युक्तः, येन व्यपदेशाल्लघु सूत्रं भवति। दिशा च व्यपदेशे लघु भवति, दिक्शब्दस्याल्पाच्तरत्वादिति दिशां तेन व्यपदेशः। एवमपि दिक्शब्दस्य दिशि वृत्तेः विशेषणमयुक्तम्, अवश्यं हि दिक्शब्दो दिशि वर्त्तते, तत्रैवं कर्त्तव्यम्—देशकालयोरिति? नैतदस्ति; एवं ह्युच्यमाने सत्युपलक्षणमेव हि दिक्शब्दः स्यात्, प्रत्ययस्तु देशकालवृत्तिभ्य एव स्यात्, न दिग्वृत्तिभ्यः। दिग्ग्रहणे तु तेभ्योऽपि भवति।

इह तिस्रो विभक्तयः, त्रयश्चार्था दिगादयः, तत्र साम्याद् यथासंख्येन भवितव्यम्—इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, **अतस्तामपाकर्तुमाह—यथासंख्यमत्र नेष्यत इति।**

दिक्शब्देभ्य इति किम् ? ऐन्द्रयां दिशि वसति । सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्य इति किम् ? पूर्वं ग्रामं गतः । दिग्देशकालेष्विति किम् ? पूर्वस्मिन्गुरौ वसति ।

इकारस्तकारपरित्राणार्थः ॥

पदमञ्जरी

च, दिशां निर्देशे लाघवं भवति । दिक्शब्दस्योपलक्षणत्वात्पुनर्दिग्ग्रहणम्, अन्यथा देशकालवृत्तिभ्य एव स्यात्, न दिग्वृत्तिभ्यः । इह सप्तम्यादीनां विभक्तीनामर्थानां दिगादीनां च साम्यात्संख्यातानुदेशः स्यादिति ? तत्राह—*यथासंख्यमत्र नेष्यत इति* । अस्वरितत्वात् । पुरस्ताद्, *अधस्तादिति* । पूर्वाधरशब्दयोः 'अस्ताति' इति पुर, अध्—इत्येतावादेशौ । *ऐन्द्रयां दिशि वसतीति* । ऐन्द्रीशब्दोऽयम् इन्द्रसंबन्धिस्त्रीलिङ्गवस्तुमात्रमाह, दिक्शब्दसन्निधौ तु दिशि वर्त्तते इति न दिक्शब्दः । किञ्च, दिक्शब्देभ्य इत्येतस्मिन्नसति ये देशवाचिनः पञ्चालादयः, ये च कालवाचिनो मासादयः, तेभ्योऽपि प्रसङ्गः । अस्मिंस्तु सति दिक्शब्दा एव ये देशकालयोर्वर्तन्ते तेभ्य एव भवति । *दिग्देशकालेष्विति किमिति* । 'दिक्शब्देभ्यः' इतिशब्दग्रहणाद्दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्द इति व्युत्पत्त्या देशकालवृत्तिभ्योऽपि सिद्धः प्रत्ययः, 'दिक्शब्दाञ्चूत्तरपद' इति पञ्चमीवदिति मत्वा प्रश्नः । *पूर्वस्मिन्गुराविति* । पूर्वशब्दोऽत्र दिगादिसम्बन्धाद्गुरौ वर्त्तते, न दिगादिषु ॥

न्यासः

तत् कथमिहैकवचननिर्देशे कर्त्तव्ये बहुवचननिर्देशः ? प्रत्येकं दिगादिवृत्तेर्बहुलविभक्त्यन्तात् प्रत्यय कर्त्तव्य इति सूचनार्थः । एवञ्चायं बहुलविभक्त्यन्तात् प्रत्ययः कृतो भवति, यदि दिग्वृत्तेरपि सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तादेव भवति—देशवृत्तेरपि, कालवृत्तेरपि । अथ वा—'था हेतौ च' इत्यतश्चकारोऽनुवर्तते, स च श्रुतिमेव समुच्चिनोति । तेन दिगादिवृत्तेः प्रत्येकं सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तात् प्रत्ययो भवति, न यथासंख्यम् । यथासंख्यं हि समुच्चयो विरुध्येत । अथ वा—'स्वरितत्वे सति यथासंख्यं भवति' इत्युक्तम्, न चेह यथासंख्यार्थं स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते, तेन यथासंख्यं न भविष्यति ।

पुरस्तादधस्तादिति । पूर्वाधरशब्दाभ्यामस्तातिः । 'अस्ताति च' इति वक्ष्यमाणेन यथासंख्यं पुर्, अध—इत्येतौ पूर्वाधरशब्दयोरादेशौ ।

ऐन्द्रयां दिशि वसतीति । ऐन्द्रीशब्दः सामान्येनेन्द्रसम्बन्धिवस्तुमात्रमाचष्टे, दिक्शब्दसन्निधौ तु दिशि वर्तते, तेन दिक्शब्द इति लोके न प्रसिद्ध इति न भवत्यतः प्रत्ययः । **पूर्वं ग्रामं गत इति** । पूर्वशब्दोऽत्र ग्रामस्य देशात्मकत्वाद् देशे वर्तते, न त्वत्र सप्तम्यादिविभक्त्यन्तः, किं तु द्वितीयान्तः । **पूर्वस्मिन् गुरौ वसतीति** । पूर्वशब्दोऽत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ वर्त्तते, न दिगादिषु ॥

दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ॥ २८ ॥

दक्षिणोत्तराभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां सप्तमीपञ्चमी-प्रथमान्ताभ्यां स्वार्थेऽतसुच् प्रत्ययो भवति । अस्तातेरपवादः । दक्षिणाशब्दः काले न सम्भवतीति दिग्देशवृत्तिः परिगृह्यते । दक्षिणतो वसति, दक्षिणत आगतः, दक्षिणतो रमणीयम् । उत्तरतो वसति, उत्तरत आगतः, उत्तरतो रमणीयम् ।

अकारो विशेषणार्थः—'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति ।

पदमञ्जरी

दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ॥ किमर्थमतसुजुच्यते, न तसुजेवोच्येत, तत्रायमप्यर्थः—स्वरार्थश्चकारो न कर्त्तव्यो भवति, प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धम्, का रूपसिद्धिः ? दक्षिणोत्तरशब्दावकारान्तौ । यदा तर्हि दिशि वर्त्तमानौ टाबन्तौ भवतस्तदा यस्येतिलोपेन टापो निवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थोऽकारः, सिद्धाऽत्र टापो निवृत्तिः, कथम् ? 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति पुंवद्भावात् । ननु च समानायामाकृतौ भाषितपुंस्कस्य तेन पुंवद्भावः, आकृत्यन्तरे चैतौ भाषितपुंस्कौ, कथम् ? दिशि वर्त्तमानाः पूर्वादयो निमित्तान्तरनिरपेक्षाः, देशकालयोस्तु व्यवस्थापेक्षाः । कथं तर्हि दिशि वर्तमानानां सर्वनामसंज्ञा भवति, यावता व्यवस्थायामित्युच्यते ? अत्राहुः—यद्यपि दिशि वर्तमानानां व्यवस्था न प्रवृत्तिनिमित्तम्, वस्तुतस्तु व्यवस्था विद्यते इति भवत्येव संज्ञा । व्यवस्थायामिति हि विषयो निर्दिश्यते, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । तथा चोत्तराः कुरव इत्यत्र निरूढत्वाद्व्यवहारस्य प्रयोक्तृभिरनपेक्ष्यमाणाया अपि वस्तुतो व्यवस्थायाः सद्भावात्सर्वनामसंज्ञाप्रसङ्गेऽसंज्ञायामिति प्रतिषेधः कृत इति । तदेवमाकृतिभेदात्तसिलादिष्वति पुंवद्भावो न

न्यासः

दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ॥ अकारो विशेषणार्थ इति । यद्यत्राकारो न क्रियते, तदा 'षष्ठी तसर्थप्रत्ययेन' इति सूत्रं कर्त्तव्यम्, एवञ्च सति तसिलोऽपि ग्रहणं स्यात् । ततश्च ततो हेतुनेत्यत्रापि तृतीयां बाधित्वा षष्ठी स्यात् । तस्मादकारो विशेषणार्थः कर्तव्यः । अथ यदा दक्षिणोत्तरशब्दौ दिशि वर्तेते, तदा टाप्श्रवणं मा भूदित्येवमर्थोऽकारः कस्मान्न भवति ? 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्वचनेनैव टापो निवर्त्तितत्वात् । ननु चासत्यकारे प्रत्ययस्वरेण सिद्धत्वाच् चकारोऽपि नैव कर्तव्यः, तत्र 'एकानुबन्धकग्रहणे तु न द्व्यनुबन्धकस्य' इति तसिलो ग्रहणं न भविष्यति ? एवमपि 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः', 'तेनैकदिक्', 'तसिश्च' इत्यन्यतरग्रहणं स्यात् । तस्माद् विशेषणार्थश्चकारः कर्तव्यः ॥

विभाषा परावराभ्याम् ॥ २९ ॥

परावरशब्दाभ्यां विभाषाऽतसुच्प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे। परतो वसति, परत आगतः, परतो रमणीयम्। परस्ताद्वसति, परस्तादागतः, परस्ताद्रमणीयम्। अवरतो वसति, अवरत आगतः, अवरतो रमणीयम्। अवरस्ताद्वसति, अवस्तादागतः, अवस्ताद्रमणीयम्॥

अञ्चेर्लुक् ॥ ३० ॥

अञ्चत्यन्तेभ्यो दिक्शब्देभ्य उत्तरस्यास्तातिप्रत्ययस्य लुग् भवति। प्राच्यां दिशि वसति। 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययोऽपि निवर्तते। प्राग्वसति, प्रागागतः, प्राग्रमणीयम्, प्रत्यग्वसतिः[1], प्रत्यगागतः, प्रत्यग्रमणीयम्[1]॥

पदमञ्जरी

सिद्ध्यति। एवं तर्हि 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्भावो भविष्यति, यथा दक्षिणोत्तरपूर्वाणामित्यत्र, तस्मान्नार्थोऽकारकरणेन? इत्यत आह—*अकारो विशेषणार्थ इति*। 'षष्ठी तसर्थप्रत्येन' इत्युच्यमाने ततो ग्रामादागत इति तसिलापि योगे षष्ठी स्यात्? 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'। इह तर्हि ततो ग्रामादन्य इत्यन्यादियोगे या पञ्चमी, तां बाधित्वा षष्ठी स्यात्? 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इत्येवं तसिलादियोगे न भविष्यति। यस्तर्हि निरनुबन्धकः 'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः', 'तेनैकदिक्', 'तसिश्च', तत्र मा भूत्—अर्जुनतः प्रत्यभिमन्युः, सुदामतो विद्युदिति॥

अञ्चेर्लुक्॥ अञ्चत्यन्तेभ्य इति। केवलेभ्यः, लिङ्गविशिष्टेभ्यश्च। *स्त्रीप्रत्ययोऽपि निवर्त्तत इति*। एवं चाकारलोपः, 'चौ' इति दीर्घत्वं च नास्तीति, *प्रागित्यत्र* सवर्णदीर्घत्वम्, *प्रत्यगित्यत्र* यणादेशः॥

न्यासः

विभाषा परावराभ्याम्॥ अञ्चेर्लुक्॥ दिग्शब्दादित्यधिकारात्केवलस्य चाञ्चतेरदिक्शब्दत्वाद् 'अञ्चेः' इत्यञ्चूत्तरपदस्य निर्देशोऽयं विज्ञायते, अत एवाह—**अञ्चत्यन्तेभ्य इति। दिक्शब्देभ्य इति। प्राग् वसतीति।** प्रपूर्वादञ्चतेः 'ऋत्विक्' इत्यादिना सूत्रेण क्विन्, 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' इति ङीप्, 'अचः' इत्यल्लोपः, 'चौ' इति दीर्घः—प्राची इति स्थिते, अस्तातिः, तस्य लुक्, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वम्। **प्रत्यगिति।** प्रतीचीशब्दात् प्रत्ययः, स तु पूर्ववदुपपाद्यः॥

१–१. मुद्रितपुस्तकेऽयं पाठो नास्ति।

उपर्युपरिष्टात् ॥ ३१ ॥

उपरि, उपरिष्टात्—इत्येतौ शब्दौ निपात्येते अस्तातेरर्थे । ऊर्ध्वं-स्योपभाव रिल्-रिष्टातिलौ च प्रत्ययौ निपात्येते । उर्ध्वायां दिशि वसति उपरि वसति, उपर्यागतः, उपरि रमणीयम् । उपरिष्टाद् वसति, उपरिष्टादागतः, उपरिष्टाद्रमणीयम् ॥

पश्चात् ॥ ३२ ॥

'पश्चात्' इत्ययं शब्दो निपात्यतेऽस्तातेरर्थे । अपरस्य पश्चभाव आतिश्च प्रत्ययः । अपरस्यां दिशि वसति पश्चाद्दिशि वसति, पश्चादागतः, पश्चाद्रमणीयम् ।

❀ दिक्पूर्वपदस्यापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः, आतिश्च प्रत्ययः ❀ । दक्षिणपश्चात् । उत्तरपश्चात् ।

❀ अर्धोत्तरपदस्य दिक्पूर्वपदस्य पश्चभावो वक्तव्यः ❀ । दक्षिण-पश्चार्धः । उत्तरपश्चार्धः ।

❀ विनापि पूर्वपदेन पश्चभवो वक्तव्यः ❀ । पश्चार्धः ॥

पश्च पश्चा चच्छन्दसि ॥ ३३ ॥

पदमञ्जरी

पश्चात् ॥ अपरस्य पश्चभाव इति । केवलस्य लिङ्गविशिष्टस्य च । *दिक्पूर्वपदस्य चेति* । दिग्वचनः पूर्वपदं यस्य तथोक्तः । *दक्षिणपश्चादिति* । दक्षिणस्या अपर-स्याश्च दिशो यदन्तरालमिति 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिः, दक्षिणा-परा, तस्यां वसतीत्यातिप्रत्ययः, अपरस्य च पश्चभावः । *अर्धोत्तरपदस्य चेति* । अपरस्य चेत्येव । *विनापि पूर्वपदेनेति* । अपरस्य, अर्धोत्तरपदस्येति सम्बन्धः ॥

न्यासः

उपर्युपरिष्टात् ॥ रिल्रिष्टातिलौ च प्रत्ययौ निपात्येते इति । अस्तातेरपवादौ ॥

पश्चात् ॥ आतिश्च प्रत्यय इति । अयमप्यस्तातेरपवादः । दक्षिणपश्चादुत्तरपश्चादिति । दक्षिणापरस्यां दिशि वसतीति दक्षिणपश्चात् । एवमुत्तरपश्चात् ।

अर्धोत्तरपदस्य चेति । अपरस्येति सम्बध्यते ।

विनापि पूर्वपदेन पश्चभावो वक्तव्य इति । अपरस्यार्धोत्तरपदस्येति प्रकृतेन सम्बन्धनीयम् । अत्र सर्वत्र वक्तव्यशब्दो व्याख्याने वर्त्तते । तत्रेदं व्याख्यानम्—उत्तर-सूत्रात् सिंहावलोकितेन चकारोऽत्रावतिष्ठते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दिक्पूर्व-पदस्यापरशब्दस्य पश्चभाव इत्येवमादिकं कार्यं सिद्धं भवति ॥

काशि० ४ । १७

पश्च-पश्चाशब्दौ निपात्येते छन्दसि विषये अस्तातेरर्थे । चकारात् पश्चादित्यपि भवति । अपरस्य पश्चभावोऽकाराकारौ च प्रत्ययौ निपात्येते । परो व्याघ्रो जायते पश्च सिंहः,पश्चा सिंहः, पश्चात्सिंहः ॥

उत्तराधरदक्षिणादातिः ॥ ३४ ॥

उत्तराधरदक्षिणशब्देभ्य आतिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे । उत्तरस्यां दिशि वसति उत्तराद्वसति, उत्तरादागतः, उत्तराद्रमणीयम् । अधराद्वसति, अधरादागतः, अधराद्रमणीयम् । दक्षिणाद्वसति, दक्षिणादागतः, दक्षिणाद्रमणीयम् ॥

एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ॥ ३५ ॥

उत्तराधरदक्षिणशब्देभ्य एनप् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्यामस्तातेरर्थे । अदूरे चेदवधिमानवधेर्भवति । विभक्तित्रये प्रकृते 'पञ्चम्याः' इति पञ्चमी पर्युदस्यते । तेनायं सप्तमीप्रथमान्ताद्विज्ञायते प्रत्ययः ।

पदमञ्जरी

उत्तराधरदक्षिणादातिः ॥ आतिप्रत्ययो भवतीति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसुजपि भवति, अधरशब्दादस्तातिरपि; 'अस्ताति च' इत्यधरशब्दस्याधादेशविधानाल्लिङ्गात् । अत्र चोत्तरादीनां सप्तम्यादीनां च साम्ये सत्यपि पूर्ववद्यथासंख्याभावः । अस्तादिस्तूत्तरादीनां न सम्भवति, दक्षिणशब्दस्य काले वृत्त्यसम्भवात् ॥

एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ॥ अदूरे चेत्यादि । यद्यप्यवधिरवधिमान् वा सूत्रे न श्रूयते, तथापि दिक्शब्दानामवध्यपेक्षा प्रवृत्तिर्भवति । अवधिश्चावधिमन्तमपेक्षते इति सामर्थ्यादेव विशेषो लभ्यते । तत्र देशकालयोरवध्यपेक्षायां न विवादः, दिशि तु विवदन्ते ।

न्यासः

पश्च पश्चा चच्छन्दसि ॥ उत्तराधरदक्षिणादातिः ॥ उत्तरदक्षिणाभ्याम् 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्', 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः', 'दक्षिणादाच्', 'आहि च दूरे', 'उत्तराच्च' इत्येभिर्योगैरतसुजादिषु प्राप्तेष्वधरादप्यस्यस्तातावातिर्विधीयते, तस्यास्तातिर्बाध्यत एव । अतसुजादयस्तु वचनात्पक्षे भवन्त्येव । अत्र च यद्यप्युत्तरादीनां सप्तम्यादीनां च विभक्तीनां दिगादीनां चोपाधीनां त्रित्वम्, तथापि यथासंख्यं न भवति । कुतः ? तदर्थस्य स्वरितत्वस्याप्रतिज्ञानात् । लघ्वक्षरस्याधरशब्दस्यापूर्वनिपाताल्लक्षणव्यभिचारचिह्नाद्वाऽस्य लक्षणान्तरनिरपेक्षतां दर्शयन् यथासंख्यलक्षणमिह नापेक्ष्यत इति सूचयति । तेन विभक्तिभिस्तावद् यथासंख्यं न भवति । उपाधिभिस्तु दक्षिणशब्दस्य काले वृत्त्यसम्भवाच्च ॥

एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ॥ अदूरे चेदवधिमानवधेर्भवतीति । कथं पुनरेवं

उत्तरेण वसति, उत्तराद्वसति, उत्तरतो वसति। उत्तरेण रमणीयम्, उत्तराद्रमणीयम्, उत्तरतो रमणीयम्। अधरेण वसति, अधराद्वसति, अधस्ताद्वसति। अधरेण रमणीयम्, अधराद्रमणीयम्, अधस्ताद्रमणीयम्। दक्षिणेन वसति, दक्षिणाद्वसति, दक्षिणतो वसति। दक्षिणेन रमणीयम्, दक्षिणाद्रमणीयम्, दक्षिणतो रमणीयम्।

अदूर इति किम्? उत्तराद्वसति। अपञ्चम्या इति किम्? उत्तरादागतः।

❀ अपञ्चम्या इति प्रागसेः ❀। असिप्रत्ययस्तु पञ्चम्यन्तादपि भवति।

केचिदिहोत्तरादिग्रहणं नानुवर्तयन्ति। दिक्शब्दमात्रात्प्रत्ययं मन्यन्ते—पूर्वेण ग्रामम्, अपरेण ग्रामम्॥

दक्षिणादाच्॥ ३६॥

पदमञ्जरी

प्रागसेरिति। 'असिपुरधवश्चैषाम्' इत्यस्मात्। *दिक्शब्दमात्रादिति*। तेन पूर्वेण वसतीत्याद्यपि भवति। अञ्चत्यन्तात्तु न भवति; व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्। अस्तु वा तदन्तादपि, 'अञ्चेर्लुक्' इत्यनुवृत्तेर्लुग्भविष्यति।

पकारः स्वरार्थ इति। 'एनपा द्वितीया' इति विशेषणार्थस्तु न भवति। अस्त्वेनेनेति, 'अतसर्थप्रत्ययेन' इत्यनुवृत्तेः 'द्वितीयाटौःस्वेनः' इत्यस्यात्र ग्रहणं न भविष्यति॥

न्यासः

विशेषो लभ्यते, यावता सूत्रेऽवधिशब्दो न श्रूयते, नाप्यवधिमान्? दिक्शब्दानामवध्यपेक्षा प्रवृत्तिर्भवति। अवधिमानप्यवधिमपेक्ष्य भवतीति सामर्थ्यादनुक्तोऽप्येष विशेषो लभ्यत इति। अधस्ताद् वसतीति। 'अस्ताति च' इति वक्ष्यमाणेनास्तातो परतोऽधरशब्दस्यादेशः।

प्रागसेरिति। 'असि पुरधवश्चैषाम्' इति वक्ष्यमाणः। केचिद् दिक्शब्दमात्रात् प्रत्ययं मन्यन्त इति तेषां मतेन पूर्वेण वसतीत्याद्यपि भवति। यदि दिक्शब्दमात्रात् प्रत्ययो भवतीत्यञ्चत्यन्तादपि स्यात्? भवतु, 'अञ्चेर्लुक्' इति लुग् भविष्यति! नैतदस्ति; 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते' इत्यस्तातेरेवात्रानेन लुक्, नान्यस्य। एवं तर्ह्यन्यतरस्यामिति व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाञ्चत्यन्तान्न भविष्यति।

पकारः 'एनपा द्वितीया' इति विशेषणार्थः, स्वरार्थश्च॥

'अदूर' इति न स्वर्यते । 'अपञ्चम्याः' इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाच्प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे । दक्षिणा वसति । दक्षिणा रमणीयम् ।

अपञ्चम्या इत्येव—दक्षिणत आगतः ।

चकारो विशेषणार्थः, 'अञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इति ॥

आहि च दूरे ॥ ३७ ॥

दक्षिणशब्दादाहिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे, चकारादाच् । दूरे चेदवधिमानवधेर्भवति । दक्षिणाहि वसति, दक्षिणा वसति । दक्षिणाहि रमणीयम्, दक्षिणा रमणीयम् ।

दूर इति किम् ? दक्षिणतो वसति ।

अपञ्चम्या इत्येव—दक्षिणत आगतः ॥

उत्तराच्च ॥ ३८ ॥

उत्तरशब्दादाजाही प्रत्ययौ भवतः, अस्तातेरर्थे, दूरे चेदवधिमानवधेर्भवति । उत्तरा वसति, उत्तराहि वसति । उत्तरा रमणीयम्,

पदमञ्जरी

दक्षिणादाच् ॥ चकारो विशेषणार्थ इति । अन्यथा वाक्यस्मरणयोर्य आकारोऽननुबन्धकस्तेनापि योगे पञ्चमी स्यात् । अथाप्यञ्चूत्तरपदेनाहिना च साहचर्यादतसर्थस्याकारस्य ग्रहणं स्यात्, तथापि पश्चाशब्द आकारान्तो निपातित इति तेनापि योगे पञ्चमी स्यात् । छान्दसः पश्चाशब्दः, दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ? असन्देहार्थं तर्हि, 'अञ्चूत्तरपदाहियुक्ते' इति ह्युच्यमाने आकारप्रश्लेषो व्याख्यातव्यः स्यात् । 'अञ्चूत्तरपदाद्याद्युक्ते' इति सूत्रं करिष्यते, तस्माद्दक्षिणासीत्यत्र 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति विधिर्मा भूदिति चकारस्य प्रयोजनं वाच्यम् ॥

आहि च दूरे ॥ चकारादाच्चेति । अन्यथा दूरे विवक्षिते विशेषविहित आहिरेव स्यात् ॥

उत्तराच्च ॥ आजाही प्रत्ययौ भवत इति । यद्यप्याहिरनन्तरः, तथापि चकारेण व्यवहितस्यापि आचः समुच्चय इति भावः ॥

न्यासः

दक्षिणादाच् ॥ चकारो विशेषणार्थं इति । असति हि तस्मिन् पश्चाशब्द आकारान्तो निपातित इति तेनापि योगे पञ्चमी स्यात् । स्वरार्थस्तु चकारो नोपपद्यते; प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धत्वात् ॥

आहि च दूरे ॥ उत्तराच्च ॥ आजाही प्रत्ययौ भवत इति । ननु चानन्तर्यादाहि-

उत्तराहि रमणीयम् ।

दूर इत्येव—उत्तरेण प्रयाति ।

अपञ्चम्या इत्येव—उत्तरादागतः ॥

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ॥ ३९ ॥

'अपञ्चम्याः' इति निवृत्तम् । तिसृणां विभक्तीनामिह ग्रहणम् । पूर्वाधरावराणामसिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे । तत्सन्नियोगेन चैषां यथासंख्यं पुर्, अध्, अव्—इत्येते आदेशा भवन्ति । असीत्यविभक्तिको निर्देशः । पुरो वसति, पुर आगतः, पुरो रमणीयम् । अधो वसति, अध आगतः, अधो रमणीयम् । अवो वसति, अव आगतः, अवो रमणीयम् ॥

अस्ताति च ॥ ४० ॥

सप्तम्यन्तमेतत् । अस्तातिप्रत्यये परतः पूर्वादीनां यथासंख्यं पुरादय आदेशा भवन्ति । इदमेवादेशविधानं ज्ञापकम्—अस्तातिरेभ्यो भवति, असिप्रत्ययेन न बाध्यत इति । पुरस्ताद्वसति, पुरस्तादागतः, पुरस्ताद्रमणीयम् । अधस्ताद्वसति, अधस्तादागतः, अधस्ताद्रमणीयम् ॥

पदमञ्जरी

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ॥ आनन्तर्ययोगे षष्ठी । *असीत्यविभक्तिको निर्देशः* । *एषामिति* वचनं विस्पष्टार्थम् । सन्निधानाद्धि पूर्वादय एव स्थानिनः शक्या विज्ञातुम् ॥

अस्ताति च ॥ अस्तातीति सप्तम्यन्तम् । *असिप्रत्ययेनेति* । अधरशब्दादातिनापि ॥

न्यासः

रेव प्राप्नोति ? न; चकारोऽत्र क्रियते, स हि व्यवहितमप्याचं समुच्चिनोति । तेनाऽऽजपि भविष्यतीति ॥

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ॥ पूर्वादस्तातौ प्राप्तेऽस्तातावपरादपि विभाषातसुचीदमारभ्यते । अथ 'एषाम्' इति किमर्थमिदमुच्यते, यावता येयं पूर्वादिषु षष्ठी सैव प्रत्ययं विधाय स्थाने षष्ठी विज्ञायते, सम्बन्धभेदाच्च षष्ठ्यर्थभेदः ? सत्यमेतत्; तथापि सुखप्रतिपत्त्यर्थमेषामित्युक्तम् ॥

अस्ताति च ॥ ननु चासिना बाधितत्वात् पूर्वादिभ्योऽस्तातिना न भवितव्यम् ? इत्याह—इदमेवेत्यादि । गतार्थम् ॥

विभाषाऽवरस्य ॥ ४१ ॥

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते । अवरस्यास्तातौ परतो विभाषा 'अव्' इत्ययमादेशो भवति । अवस्ताद्वसति, अवस्तादागतः, अवस्ताद्रमणीयम् । अवरस्ताद्वसति, अवरस्तादागतः, अवरस्ताद् रमणीयम् ॥

संख्याया विधार्थे धा ॥ ४२ ॥

संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विधार्थे वर्तमानेभ्यो धा प्रत्ययो भवति स्वार्थे । विधा=प्रकारः, स च सर्वक्रियाविषय एव गृह्यते । क्रियाप्रकारे वर्तमानायाः संख्याया धा प्रत्ययः । एकधा भुङ्क्ते । द्विधा गच्छति । त्रिधा । चतुर्धा । पञ्चधा ॥

पदमञ्जरी

विभाषाऽवरस्य ॥ अवित्ययमादेशो भवतीति । कथं पुनर्बहुष्वादेशेषु प्रसक्तेषु अयमेव भवतु ? अस्यैवानुवृत्तेः । अथ वा—अवरस्य यदुक्तं तदस्तातौ विभाषा भवतीति विज्ञास्यते ॥

संख्याया विधार्थे धा ॥ विधा प्रकार इति । 'गृह्यते' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । यद्यप्योदनपिण्डोऽपि विधाशब्देनोच्यते, तथापीह प्रकार एव गृह्यत इत्यर्थः । एतेन एका गोविधेत्यादौ न भवति । एतच्चार्थग्रहणाल्लभ्यते । इह हि विधायामिति वक्तव्ये यदर्थग्रहणं कृतं तस्यैतत्प्रयोजनम्—विधाशब्दो यत्रार्थे प्रसिद्धतरस्तस्य ग्रहणं यथा स्यात् । यथा च त्रिविधम्, बहुविधमित्यादौ प्रकारे प्रसिद्धो विधाशब्दः, न तथौदनपिण्डे । सूत्रे च—विधाशब्दस्यार्थो विधार्थ इति षष्ठीसमासः । एवं वृत्तावपि । *स च क्रियाविषय इति ।* एतच्चाभिधानस्वभावाल्लभ्यते । तदयमर्थ इत्याह—*क्रियाप्रकारे इति ।* कथं तर्हि नवधा द्रव्यम्,

न्यासः

विभाषाऽवरस्य ॥ संख्याया विधार्थे धा ॥ 'प्रकारवचने च जातीयर्' इति, तस्यायमपवादः । 'विधा = प्रकारः' इत्युक्तः 'प्रकारवचने थाल्' इत्यत्र, स च द्रव्यगुणविषयोऽप्यस्ति; तत्र यदि सोऽपि गृह्येत, द्रव्यगुणयोर्लिङ्गसंख्याभ्यां योगाद्वा प्रत्ययान्तमलिङ्गमसंख्यं च न स्यात् । एवञ्च तस्याव्ययत्वं न स्यात्, तच्चेष्टम्; तथा हि—धाप्रत्ययोऽव्ययेषु पठ्यते—तसिलादिस्तद्धित एधाच्पर्यन्त इति । क्रियाविषये तु तस्मिन् गृह्यमाणे न दोषः; क्रियायाः सर्वदा लिङ्गसंख्याभ्यामयोगादित्येतत् चेतसि कृत्वाऽऽह—स चेत्यादि । क्रियाधातुवाच्यो विक्लेदनादिरर्थः, स च विषयोऽस्य स तथोक्तः । कथं पुनः सामान्योक्तौ विशेषस्य ग्रहणं लभ्यते ? अर्थग्रहणस्य ह्येतदेव प्रयोजनम्—प्रकार-

अधिकरणविचाले च ॥ ४३ ॥

'संख्यायाः' इत्येव । अधिकरणम्=द्रव्यम्, तस्य विचालः=संख्यान्तरापादनम्—एकस्यानेकीकरणम्, अनेकस्य वा एकीकरणम् । अधिकरणविचाले गम्यमाने संख्यायाः स्वार्थे धा प्रत्ययो भवति । एकं राशिं पञ्चधा कुरु, अष्टधा कुरु, अनेकमेकधा कुरु ॥

एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ॥ ४४ ॥

एकशब्दात्परस्य धाप्रत्ययस्य ध्यमुञादेशो भवत्यन्यतरस्याम् । एकधा राशिं कुरु, ऐकध्यं कुरु । एकधा भुङ्क्ते, ऐकध्यं भुङ्क्ते ।

पदमञ्जरी

बहुधा गुणाः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेद इति ? अत्रापि हि सर्वत्र क्रिया प्रतीयते—उपदिश्यते इति, भवतीति वा । द्विधा गच्छतीत्यादावेकस्या एव गमनक्रियाया अवान्तरप्रकारभेदः प्रतीयते । एकधा भुङ्क्ते इत्यत्र तु प्रकारैक्यप्रतिपादनेन तन्निवृत्तिः । एकः पाक इत्यादौ तु पाकव्यक्तेरेकत्वं विवक्षितम्, न त्ववान्तरप्रकारभेदाभावेनैकप्रकारत्वमिति धाप्रत्ययाभावः । तद्विवक्षयां तु भवत्येव—एकधा पाक इति । पञ्च पाका इत्यादौ च भिन्ना एव पाका विवक्षिताः, न त्वेकस्य प्रकारवत्त्वम् । तद्विवक्षायां तु तत्रापि भवितव्यमेव—पञ्चधा पाका इति ॥

अधिकरणविचाले च ॥ *अधिकरणं द्रव्यमित्यादि* । जात्यादीनामाधारत्वात् । विचालनं विचालः=अन्यथाकरणम्, णिजन्ताद् 'एरच्' । तच्चेह संख्यासन्निधानात्संख्यान्तरापादनेनेत्याह—*तस्य विचालः संख्यान्तरापादनमिति* । *एकं राशिं पञ्चधा कुर्विति* । पञ्च राशीन्कुर्वित्यर्थः । नात्र प्रकारभेदो गम्यते, नतरां क्रियाविषय इति सूत्रारम्भः । तत्र द्रव्यस्यापि स्वभावाद्धाप्रत्ययान्तेनासत्त्वरूपेण प्रतिपादनमित्यव्ययत्वम्, यथा—सुदामतो विद्युदिति तसन्तस्य ॥

एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ॥ 'एकाद्' इति शब्दप्रधानत्वात्सर्वनामकार्याभावः । *एकधा राशिं कुर्विति* । अधिकरणविचाले उदाहरणम् । ऐकध्यं भुङ्क्त *इति* । विधार्थे ।

न्यासः

विशेषणं यथा स्यादिति, अन्यथा हि 'विधायाम्' इत्येवं हि ब्रूयात् । यदि तर्हि प्रकारः क्रियाविषयो गृह्यते, नवधा द्रव्यम्, नवधा गुण इत्यत्र न प्राप्नोति ? नैष दोषः ? अत्रापि क्रियाऽध्याहर्त्तव्या । नवधा द्रव्यम्, नवधा गुण उपपाद्य विगृह्यते चेति ।

अधिकरणविचाले च ॥ **एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्** ॥ ऐकध्यं कुर्विति । अधिकरणविचाल उदाहरणम् । ऐकध्यं भुङ्क्त इति । विधार्थे ।

प्रकरणादेव लब्धे पुनर्धाग्रहणम्—विधार्थे विहितस्यापि यथा स्यात् । अनन्तरस्यैव ह्येतत्प्राप्नोति ॥

द्वित्र्योश्च धमुञ् ॥ ४५ ॥

'धा' इत्यनुवर्तते । द्वित्र्योः सम्बन्धिनो धाप्रत्ययस्य विधार्थेऽधिकरणविचाले च विहितस्य धमुञादेशो भवत्यन्यतरस्याम् । चकारो विकल्पानुकर्षणार्थः । द्विधा, द्वैधम् । त्रिधा, त्रैधम् ।

❀ धमुञन्तात्स्वार्थे डदर्शनम् ❀ । मतिद्वैधानि संश्रयन्ते । मतित्रैधानि संश्रयन्ते ॥

एधाच्च ॥ ४६ ॥

पदमञ्जरी

प्रकरणादेव लब्ध इति । कस्मिन् लब्धे ? धाप्रत्ययस्य स्थानित्वे । इह हि पूर्वसूत्राद्धाग्रहणमनुवर्त्तते, स च पूर्वमेव विहित इति विधानासम्भवात् स्थानित्वमेव विज्ञास्यते ।

विधार्थे विहितस्यापि यथा स्यादिति । स्थान्यादेशाभावोऽप्येतदर्थमेवाश्रितः; प्रत्ययान्तरेऽप्यस्मिन्दोषाभावात् । किं पुनः कारणं विधार्थे विहितस्य तस्य न स्याद् ? अत आह—*अनन्तरस्यैव हीति* । 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति भावः ॥

द्वित्र्योश्च धमुञ् ॥ मतिद्वैधानीति । एकशेषेण बहुवचनम् । क्वचित् *पथि द्वैधानीति* पाठः । धमुञन्तस्यालिङ्गसंख्यत्वेऽपि तदन्तात्स्वार्थे विहितस्याप्यस्य स्वभावाल्लिङ्गसंख्यायोगः, तेनाव्ययत्वं न भवति ॥

न्यासः

अत्र धाग्रहणमनुवर्त्तते, न च तत्र विध्यर्था वृत्तिर्युक्ता; पूर्वमेव विहितत्वात् । तस्मादनुवृत्तिसामर्थ्यात् स्थानित्वं धाप्रत्ययस्य विज्ञायत इत्याह—**प्रकरणादेव लब्ध इति** । धाप्रत्ययस्य स्थानित्व इति शेषः । किं पुनः कारणमसति धाग्रहणे विधार्थे विहितस्य न भवति ? इत्याह—**अनन्तरस्यैव हीत्यादि** । असति हि पुनर्धाग्रहणे 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इत्यधिकरणविचालार्थे यो विहितस्तस्यैव स्यात्, न तु विधार्थे यो विहितस्तस्य । पुनर्धाग्रहणे तु सति धामात्रस्यादेशः सिद्धो भवति ॥

द्वित्र्योश्च धमुञ् ॥ मतिद्वैधानीति । ननु च स्वार्थिकाः प्रकृतिधर्मानुवर्त्तन्त इति लिङ्गसंख्याभ्यामत्र न भवितव्यम् ? नैष दोषः; अतिवर्त्तन्ते हि कदाचित् स्वार्थिकाः प्रकृतिधर्मान्, यथा—चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यमिति ॥

द्वित्र्योः सम्बन्धिनो धाप्रत्ययस्य एधाजादेशो भवत्यन्यतरस्याम् । चकारो विकल्पानुकर्षणार्थः । द्वेधा, द्वैधम्, द्विधा । त्रेधा, त्रैधम्, त्रिधा ॥

याप्ये पाशप् ॥ ४७ ॥

याप्यः=कुत्सित इत्युच्यते । याप्ये वर्तमानात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे पाशप् प्रत्ययो भवति । कुत्सितो वैयाकरणो वैयाकरणपाशः । याज्ञिकपाशः ।

यो व्याकरणशास्त्रे प्रवीणो दुःशीलः, तत्र कस्मान्न भवति ? यस्य गुणस्य सद्भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः, तस्य कुत्सायां प्रत्ययः ॥

पदमञ्जरी

एधाच्च ॥ योगविभागो यथासंख्यनिरासार्थः ॥

याप्ये पाशप् ॥ याप्यशब्दोऽयमस्त्यपादानसाधनः—यापिता अस्माद् गुणा इति याप्यः=कुत्सितः, अस्ति कर्मसाधनः–यापयितव्यो याप्यो देशान्तरं प्रापयितव्यः, शरीराद्वाऽपनेतव्यः, अशक्यप्रतीकारो याप्यो व्याधिः । तत्रेहाभिधानशक्तिस्वभावादाद्यस्य ग्रहणमित्याह—*याप्यः कुत्सित उच्यत इति* ।

तत्र कस्मान्न भवतीति । व्याकरणे प्रवीणस्यापि दुःशीलत्वेन कुत्सितत्वाद् भवितव्यमेवेति भावः । *यस्य गुणस्येति* । गुणो विशेषणम्, द्रव्यं विशेष्यम् । *तस्य कुत्सायां प्रत्यय इति* । एतच्चान्तरङ्गत्वाल्लभ्यते । प्रवृत्तिनिमित्तं हि प्रत्यासन्नम्; शब्दवाच्यत्वात् । धर्मान्तरं तु तत्र वस्तुतः सदपि न शब्देन स्पृश्यते । यत्र तु प्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सितं न सम्भवति—असको देवदत्तक

न्यासः

एधाच्च ॥ **याप्ये पाशप्** ॥ याप्यशब्दोऽयं गमयितव्ये वर्त्तते—ग्रामान्तरात् याप्य इति, अस्त्यशक्यप्रतीकारे–याप्यो रोग इति, अस्ति कुत्सिते–याप्योऽयमिति, कुत्सित इति गम्यते । पाशप्प्रत्ययान्तात् कुत्सित एव प्रतीयत इति तदभिधायिन एव याप्यशब्दस्येदं ग्रहणं युक्तम् । अत एवाह–**याप्यः कुत्सित इत्युच्यत इति** । याप्यन्ते=अपनीयन्ते तस्माद् गुणा इति याप्यः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यपादाने कृत्यः ।

तत्र कस्मान्न भवतीति । यद्यप्यसौ व्याकरणे प्रवीणः; तथापि दुःशीलत्वाद्भवितव्यमेव तत्रेत्यभिप्रायः । **यस्येत्यादि** । गुणो विशेषणम्, द्रव्यं विशेष्यम्, तत्र द्रव्ये यद्यपि बहवो गुणाः सन्ति, तथापि यस्य गुणस्य भावे द्रव्ये शब्दो निविशते वर्तते प्रत्यासत्तेस्तस्यैव कुत्सायां शब्देन भवितव्यम्; न तु वैयाकरणस्य दुःशीलत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । किं तर्हि ? व्याकरणस्य परिज्ञानम्, अध्ययनं वा । न चेह दुःशीलत्वेन भवितव्यं प्रत्ययेन ॥

पूरणाद्भागे तीयादन् ॥ ४८ ॥

पूरणप्रत्ययो यस्तीयः, तदन्तात्प्रातिपदिकाद्भागे वर्तमानात् स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति । स्वरार्थं वचनम् । द्वितीयो भागः द्वितीयः । तृतीयः ।

भाग इति किम् ? द्वितीयम् । तृतीयम् ।

पूरणग्रहणमुत्तरार्थम्, न ह्यपूरणस्तीयोऽस्ति; मुखतीयादिरनर्थकः ॥

प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि ॥ ४९ ॥

'पूरणाद्भागे' इत्येव । प्रागेकादशभ्यः संख्याशब्देभ्यः पूरण-

पदमञ्जरी

इत्यादौ, तत्र सहचरितगुणक्रियाकुत्साश्रयः प्रत्ययो भवत्येव । एवं च देवदत्त-पाश इत्याद्यपि सत्यभिधाने भवति ।

'कुत्सिते' इत्यत्रैवायं न विहितः; तिङन्तादपि प्रसङ्गात् ॥

पूरणाद्भागे तीयादन् ॥ पूरणार्थविहितत्वात्तीयप्रत्यय एव पूरणशब्देनोक्त इत्याह—*पूरणप्रत्ययो यस्तीय इति* । *स्वरार्थं वचनमिति* । भागे नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वं यथा स्यात्, रूपे तु नास्ति विशेषः । *पूरणग्रहणमुत्तरार्थमिति* । नेहार्थम्, कुतः ? इत्यत आह—*न हीति* । ननु चायमस्ति—'मुखपार्श्वतसोर्लोपः, मुखतीयः' इति ? तत्राह—*मुखतीयादिरनर्थक इति* । मुखतीयादौ यस्तीयशब्दः सोऽनर्थक इत्यर्थः ॥

प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि ॥ *प्रागेकादशभ्यः संख्याशब्देभ्य इति* । एकादश-

न्यासः

पूरणाद् भागे तीयादन् ॥ **पूरणप्रत्ययो यस्तीय इति** । 'तस्य पूरणे डट्' इति पूरणाधिकारे विहितत्वात्, पूरणाभिधेयत्वाद्वा । उपचारेण प्रत्ययोऽपि तीयः पूरण इत्युच्यते । **भागे इति** । अंश इत्यर्थः । किमर्थं पुनरिदम्, यावता कृतेऽप्यनि रूपं तदेव ? इत्याह—**स्वरार्थं वचनमिति** । विभागे नित्स्वरेणाद्युदात्तं यथा स्यात् ।

पूरणग्रहणमुत्तरार्थमिति । उत्तरत्र पूरणप्रत्ययान्तात्प्रत्ययो यथा स्यात् । तस्य च व्यवच्छेदाय क्रियमाणं पूरणमिहाप्यर्थवत् स्यात्, स च नास्तीति नेहार्थता तस्योपपद्यते । ननु च 'मुखपार्श्वतसोरीयः, पार्श्वतीयः' इत्यपूरणोऽपि सोऽस्ति ? इत्यत आह—**मुखतीयादिरनर्थक इति** । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया अर्थवानिह तीयो गृह्यते, न च मुखतीयादिरनर्थवान् । अतो सत्यपि पूरणग्रहणे तस्य ग्रहणं न भविष्यतीति भावः ॥

प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि ॥

प्रत्ययान्तेभ्यो भागे वर्तमानेभ्यः स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति अच्छन्दसि विषये। स्वरार्थं वचनम्। पञ्चमः। सप्तमः। नवमः। दशमः।

प्रागेकादशभ्य इति किम्? एकादशः, द्वादशः। अच्छन्दसीति किम्? पञ्चममिन्द्रियस्यापाक्रामत्॥

षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च॥ ५०॥

'भागे' इत्येव। 'अच्छन्दसि' इति च। षष्ठाष्टमाभ्यां भागेऽभिधेयेऽच्छन्दसि विषये ञः प्रत्ययो भवति। चकारादँश्च। षष्ठो भागः षाष्ठः, षष्ठः। आष्टमः, अष्टमः॥

मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च॥ ५१॥

'भागे' इत्येव। षष्ठाष्टमाभ्यां यथासंख्यं कन्लुकौ च भवतो मानपश्वङ्गयोर्भागयोरभिधेययोः। षष्ठको भागो मानं चेत्तद्भवति। अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद्भवति। कस्य लुक्? ञस्य लुक्, अनो वा। चकाराद्यथाप्राप्तं च। षाष्ठः, षष्ठः। आष्टमः, अष्टमः।

मानपश्वङ्गयोरिति किम्? षाष्ठः, षष्ठः। आष्टमः, अष्टमः।

एकादाकिनिच्चासहाये॥ ५२॥

एकशब्दादसहायवाचिनः स्वार्थे आकिनिच् प्रत्ययो भवति।

पदमञ्जरी

शब्दात्प्राञ्चो ये संख्याशब्दास्तेभ्य इत्यर्थः, एकादशभ्यः प्राचीनेषु संख्येयेषु ये संख्याशब्दास्तेभ्य इति वा॥

षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च॥ यथासंख्यमत्र न भवति, अन्यतरस्मादनः पूर्वेणैव सिद्धत्वात्॥

मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च॥ मानं व्रीहिपरिमितं सुवर्णम्। *अष्टमो भाग इति*। कस्य पुनरत्र लुक्? इत्याह—*ञस्य लुक्, अनो वेति*। अष्टन्शब्दाद्भागे तयोरेव विहितत्वात्। लुग्वचनं किम्, यावता महाविभाषयैव पक्षे ञानोरभावः सिद्धः? ज्ञापनार्थं तु, एतज्ज्ञापयति—पूर्वसूत्रे ञानौ नित्याविति॥

न्यासः

षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च॥ यथासंख्ये हि षष्ठादन्यथा प्राप्तं चेत्यन्। न च पूर्वेणैव सिद्ध इति षष्ठग्रहणमनर्थकं स्यात्। तस्मादुभाभ्यामुभयं भवति॥

मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च॥ चकाराद् यथाप्राप्तं चेति॥

चकारात्कन्लुकौ च। आकिनिचः, कनो वा लुग्विज्ञायते। स च विधानसामर्थ्यात्पक्षे भवति। एकाकी, एककः, एकः।

असहायग्रहणं संख्याशब्दनिरासार्थम्। तदुपादाने हि द्विबह्वोर्न स्यात्—एकाकिनौ, एकाकिनः॥

भूतपूर्वे चरट्॥ ५३॥

पूर्वं भूत इति विगृह्य 'सुप्सुपा' इति समासः। भूतपूर्वशब्दोऽति-

पदमञ्जरी

एकादाकिनिच्चासहाये॥ *आकिनिचः कनो वेति*। तयोरेवानेन सूत्रेण विधानात्। एकधेत्यादौ तु सूत्रान्तरविहितस्य लुग् न भवति; असन्निधानात्।

संख्याशब्दनिरासार्थमिति। अन्यथा प्रसिद्धत्वात्संख्याप्रकरणाच्च तस्यैव ग्रहणं स्यात्। अस्तु, को दोषः? तत्राह—*तदुपादाने हीति*। *द्विबह्वोरिति*। द्वित्वे बहुत्वे चेत्यर्थः। न हि द्वयोर्बहुषु वा एकत्वसंख्यास्ति। असहायत्वं तु परस्परव्यतिरिक्तसहायाभावेन बहूनामपि भवति। इह अकिनिजेवायं वक्तव्यः, सवर्णदीर्घत्वे सिद्धमिष्टम्, यस्येतिलोपश्चाकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति? न चावग्रहनिवृत्त्यर्थोऽकारः, नहि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्॥

भूतपूर्वे चरट्॥ *भूतपूर्वशब्द इत्यादि*। केवलभूतशब्दः [1]पौतन्येऽपि वर्त्तते—भूतमियं ब्राह्मणीति, सत्येऽपि वर्त्तते—भूतवादीति, अत्र भूतशब्दो विद्यमानवचन

न्यासः

एकादाकिनिच्चासहाये॥ आकिनिचः कनो वा लुग् विज्ञायत इति। प्रत्यासत्तेः। न तु प्रकरणान्तरविहितस्य; विप्रकर्षात्। **स चेत्यादि**। यदि नित्यः स्यात् तद्विधानमनर्थकं स्यात्। तस्माद् विधानसामर्थ्यात् पक्षे भवति।

किं पुनः कारणमसहायग्रहणं संख्याशब्दनिरासार्थं क्रियते? इत्याह—**तदुपादाने हीत्यादि**। असत्यसहायग्रहणे संख्यावाचिनोऽप्येकशब्दस्य ग्रहणं स्यात्। तस्मिंस्तु सति द्विबह्वोर्न स्यात्। न हि द्वयोर्बहुषु वा चैकत्वसंख्या विद्यते। असहायता तु शतस्यापि भवति; तुल्यजातीयान्यस्याभावात्—शतमसहायमिति। तेनासहायार्थस्य ग्रहणे द्विबह्वोरपि प्रत्ययः सिध्यति। अथ कस्मादाकिनज् विधीयते, न अकनिजित्येवोच्येत, अत्रापि सवर्णदीर्घत्वेनेष्टं सिद्धत्येव? न सिध्यति; 'अतो गुणे' पररूपत्वम्, यस्येतिलोपश्च प्राप्नोति। अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति? नैतदस्ति; अस्ति ह्यकारोच्चारणस्य प्रयोजनम्। किम्? भसंज्ञायामन्यः पदसंज्ञानिबन्धनोऽवग्रहो मा भूदिति। तस्मादाकिनिजेव विधेयः॥

भूतपूर्वे चरट्॥ किमर्थं पुनरेतौ समानार्थौ शब्दावुपदिश्येते, नान्यतर एवोपदिश्येत? नैवं शक्यम्; इह ह्यतिक्रान्तकालविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रत्ययग्रहणमिष्यते,

---

1. पौतन्यम् = प्रेतयोनिरित्यर्थः।

क्रान्तकालवचनः । प्रकृतिविशेषणं चैतत् । भूतपूर्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात्स्वार्थे चरट् प्रत्ययो भवति । आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यचरः । सुकुमारचरः ।

टकारो ङीबर्थः—आढ्यचरी ॥

षष्ठ्या रूप्य च ॥ ५४ ॥

षष्ठ्यन्तात्प्रातिपदिकाद्रूप्यः प्रत्ययो भवति, चकाराच्चरट् च । षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययविधानात्सम्प्रति भूतपूर्वग्रहणं प्रत्ययार्थस्य विशेषणम्, न तु प्रकृत्यर्थविशेषणम् । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः देवदत्तरूप्यः । देवदत्तचरः ।

पदमञ्जरी

इत्यन्ये; पूर्वशब्दश्च दिग्देशयोरपि वर्त्तते, तस्मादन्यतरोपादाने विवक्षितोऽर्थो न गम्यत इत्युभयोरुपादानम् । *आढ्यचर इति* । यथात्र चकारस्येत्संज्ञा न भवति, तथा 'चुटू' इत्यत्र प्रतिपादितम् ।

'गोष्ठात्खञ्' इत्यत्रैव नोक्तम्, विशेषविहितेन खञा चरटो बाधा मा भूदिति । सन्निधौ हि बाध्यबाधकभावः, न कालभेदे ॥

षष्ठ्या रूप्य च ॥ इह षष्ठ्याः शेषविषये विधानात्तदन्तव्यवच्छेदकत्वाद्विशेषणमप्रधानम् । यत्पुनः षष्ठ्याक्षिप्तं सम्बन्धिमात्रम्, तद्व्यवच्छेद्यत्वाद्विशेष्यं प्रधानम् । प्रधानेतरसन्निधौ च प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवतीति प्रत्ययस्तावत्तत्रैव विज्ञायते, ततश्च भूतपूर्वग्रहणमपि तस्यैव विशेषणमित्याह—*षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययविधान इति* । हेतुगर्भं चेदमभिधानम्—यस्मात् षष्ठ्यन्तात्प्रत्ययविधानं तस्मादिति । *सम्प्रतीति* । यद्यपि पूर्वं ङ्याप्प्रातिपदिकेनैव सम्बद्धमासीदिदानीं त्वेवमित्यर्थः । तत्र विधान इति सप्तम्यन्तस्य सम्प्रतीत्यस्य च पौनरुक्त्यं मन्यमाना विधानशब्दमधिकरणसाधनं सूत्रपरं व्याचक्षते ॥

न्यासः

स चातिक्रान्तः कालोऽन्यतरोक्तौ नैव गृह्यते । तथा हि—भूतशब्दो वर्तमानेऽप्यर्थे वर्तते, यथा—भूतवानिति, पूर्वशब्दस्तु दिग्देशयोरपि । तस्मादन्यतरोक्तावतिक्रान्तकालो न प्रतीयते । अत एवाऽऽह—भूतपूर्वशब्दोऽतिक्रान्तकालवचन इति । अथ चकारस्य 'चुटू' इतीत्संज्ञा कस्मान्न भवति ? अनित्यत्वात्तस्य विधेः । अनित्यत्वं तु तत्रैव प्रतिपादितम् ॥

षष्ठ्या रूप्य च ॥ इह षष्ठ्यन्तं यत् तद् विशेषणं परार्थत्वादप्रधानम्, इतरत् पुनस्तेनैवोपक्रियमाणत्वाद् विशेष्यं प्रधानम् । प्रधानेन च कार्यसम्प्रत्यय इति यथा षष्ठ्यन्तात् प्रत्ययविधाने सम्प्रति षष्ठ्यन्तप्रतियोगिनि प्रधाने प्रत्ययो विज्ञायते, न प्रकृत्यर्थे; तथा

अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥ ५५ ॥

अतिशयनमतिशायनम्=प्रकर्षः । निपातनाद्दीर्घत्वम् । प्रकृत्यर्थ-

पदमञ्जरी

अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥ *अतिशयनमतिशायनमिति* । भावे ल्युट् । यद्य-प्यनन्तरमेव वक्ष्यति—निपातनाद्दीर्घत्वमिति, तथापि 'अबाधकान्यपि निपात-नानि भवन्ति' इत्यदीर्घेणाप्यर्थकथनमुपपद्यते । अन्ये तु—*अतिशयोऽतिशायन-मिति* पठन्ति, *अतिशायनं प्रकर्ष* इत्येवान्ये । *प्रकर्ष इति* । यद्यपि केवलः शेतिः स्वप्ने वर्त्तते, तथाप्यतिपूर्वस्य प्रकर्षे वृत्तिः ॥

उपसर्गवशाद्धातुरर्थान्तरविलासकृत् ।
विहाराहारसंहारप्रहारपरिहारवत् ॥
प्रकर्षश्चात्र नाधिक्यं किं तर्ह्यतिशयो मतः ।
सकर्मको ह्ययं शुक्लमतिशेत इतीष्यते ॥

निपातनादिति । यदिदमस्मिन्सूत्रे दीर्घोच्चारणं तदेव निपातनम् । 'सौत्रो निर्देशः' इत्येष परिहारोऽत्र नोदितः; यस्मात्सूत्राद्बहिरपि प्रयोगोऽस्याभ्यु-पेयते । एतदर्थमेव च लघुरपि प्रकर्षशब्दो नोपात्तः । *प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतदिति* । न प्रकृत्यर्थः, अतिशायने वर्त्तमानादिति । तथा हि सति अतिशयप्रकर्षादिभ्य एव स्यात् । नापि प्रत्ययार्थः, तथा हि सति आढ्यस्यातिशयनमाढ्यतममिति स्यात् । आढ्यस्येति कर्मणि कर्त्तरि वा षष्ठी, उभयथाप्याढ्यतमो देवदत्त इति सामानाधिकरण्यं न स्यात् । नापि प्रत्ययार्थविशेषणम्, अन्यस्य कस्यचित् प्रत्ययार्थस्यानिर्देशात् । नापि प्रकृतेरेव विशेषणम्, अतिशायनविशिष्टान्ङ्याप्प्रा-तिपदिकादिति । प्रत्ययद्योत्यमतिशायनं प्रकृत्यभिहितस्य प्रधानस्यैवार्थस्य विशेषणं युक्तम्, न त्वर्थाभिधानं प्रति व्यग्रस्य गुणभूतस्य शब्दस्य । यदा त्वसावगुणभूतः, तदा भवत्येव प्रकर्षयोगः—उच्चतरः शब्दः, नीचतरः शब्द इति । ननु शुक्लादिवदेतत्स्यात्, तद्यथा—शुक्लतरः पट इति गुणभूतस्यापि शौक्ल्यस्य प्रकर्षो द्रव्यप्रकर्षहेतुः, तथा शब्देऽप्यस्तु ? विषम उपन्यासः; शौक्ल्यादयो हि द्रव्यसमवेताः, युक्तं यत्स्वयं प्रकृष्टा द्रव्यं प्रकर्षयन्ति, शब्दस्तु

न्यासः

भूतपूर्वग्रहणं तस्यैव ज्ञायते, न प्रकृत्यर्थस्येत्येतदालोच्याऽऽह—षष्ठयन्तादित्यादि । प्रत्ययार्थस्तु षष्ठ्यन्तस्य यः प्रतियोगी स वेदितव्यः ॥

अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥ अतिशायनमिति ल्युट् । यद्यपि शेतिः केवलः स्वप्ने वर्तते, तथाप्यतिपूर्वस्य प्रकर्षे वृत्तिः, अत एवाऽऽह—प्रकर्ष इति । ननु चातिशयनमिति भवितव्यम् ? इत्याह—निपातनाद्दीर्घत्वमिति । निपातनं त्वतिशायनशब्दस्य कथम् ?

विशेषणं चैतत् । अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्प्रातिपदिकात् स्वार्थे

पदमञ्जरी

न तथेति कथं तत्प्रकर्षेण द्रव्यं प्रकर्ष्यताम् ! *प्रातिपदिकादिति* । प्रकृतेरिदमुपलक्षणम् । सुबन्तात्तु प्रत्ययः । उक्तं हि—'प्रियकुत्सनादिषु' ततः प्रवर्त्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः' इति, 'घकालतनेषु कालनाम्नः' इत्यलुग्विधानमप्येवमेवोपपद्यते । *स्वार्थ इति* । यद्येवम्, कुमारितमेत्यव्यतिरिक्तं वय इति कृत्वा 'वयसि प्रथमे' इति ङीप् प्राप्नोति ? कुमारशब्दादुत्पन्नेन ङीपा वयोविशिष्टस्यार्थस्य स्त्रीत्वं द्योतितमिति ङीब्न भविष्यति, तरबन्तात्तु स्त्रीत्वमात्राभिव्यक्तये टाब् भविष्यति । कुमारितम इति ह्युच्यमाने कुटीरः, शमीर इतिवल्लिङ्गान्तरं गम्येत । यद्वा—नात्र प्रज्ञ एव प्राज्ञः, याव एव यावक इत्यादिवदत्यन्तस्वार्थिकत्वं विवक्षितम्, किं तर्हि ? ईषच्छुक्ले शुक्लतरे च गुणयोगस्य भावात् शुक्लशब्द एव प्रवर्त्तितुमर्हति, औपगवादौ तु नैवमित्येतावता स्वार्थिकत्ववाचोयुक्तिः । परमार्थतस्त्वस्मिन्प्रयोगे प्रकृष्टे शुक्ले शुक्लशब्दस्य प्रवृत्तिरित्ययमंशः प्रत्ययप्रसादेनैव लभ्यते । ततः किम् ? कुमारशब्दस्य वयः प्रवृत्तिनिमित्तम्, तमबन्तस्य तु तद्वतः प्रकर्ष इति कुतोऽत्र ङीपः प्रसङ्गः ! तदिदमुक्तम्—प्रकृत्यर्थविशेषणं च स्वार्थिकानां द्योत्यं भवतीति ।

अत्रापि यद्यपि तस्मिन्द्रव्ये बहवो गुणाःसन्ति, तथापि यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः प्रत्यासत्तेस्तत्प्रकर्षाश्रयः प्रत्ययः । तद्यथा—शुक्लादिभ्यो गुणप्रकर्षे, पाचकादिभ्यः क्रियाप्रकर्षे, जातिशब्देभ्यस्तु जातेः । सर्वत्रैकरूपत्वेन प्रकर्षाभावात्तत्सहचरिता ये वाहदोहादयो धर्माः, तत्प्रकर्षे प्रत्ययः । तद्यथा—गौरयं यः शकटं वहति, गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च, गौरियं या समांसमां विजायते, गोतरेयं या समांसमां विजायते स्त्री वत्सा च, अश्वोऽयं यश्चत्वारि योजनानि गच्छति, अश्वतरोऽयं योऽष्टौ गच्छतीति । एतेन संख्यापरिमाणप्रमाणोन्मानशब्दा व्याख्याताः । न हि स्वतो भवति, द्वितरः प्रस्थतरः वितस्तितरः सुवर्णतरमिति, सर्वथा धर्मद्वारको द्रव्यस्य प्रकर्षो न स्वतः, यथा—शुक्लगुणयोगात्पटस्य शुक्लव्यपदेशः, तथा प्रकर्षव्यपदेशोऽपि, तत्प्रकर्षादेवेत्यर्थः । उक्तं च—

> द्रव्यस्याव्यपदेश्यस्य य उपादीयते गुणः ।
> भेदको व्यपदेशाय तत्प्रकर्षोऽभिधीयते ॥ इति ।

---

१. 'स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।
समवेतस्य च वचने लिङ्गं वचनं विभक्तिं च ॥
अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणश्च कृत्स्नमात्मानम् ।
प्रियकुत्सनादिषु'''—इति (५.३.७४ सूत्रे) भाष्ये ॥

तमबिष्ठनौ प्रत्ययौ भवतः । प्रकृत्यर्थविशेषणं च स्वार्थिकानां द्योत्यं भवति । सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेनाढ्य आढ्यतमः । दर्शनीयतमः । सुकुमारतमः । सर्वे इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः । लघिष्ठः । गरिष्ठः ।

पदमञ्जरी

'अव्यपदेश्यस्य' इति धर्मयोगमन्तरेण स्वरूपेण व्यपदेष्टुमशक्यस्येत्यर्थः । तदेवमतिशायनशब्दो भावसाधनः, प्रकृत्यर्थविशेषणं च, स्वार्थिकश्च प्रत्यय इति स्थितम् । अत एव प्रकृतितो लिङ्गवचनानि भवन्ति । यदि तु कर्तृसाधनः स्यात्, तदा यदि प्रकृत्यर्थस्ततोऽतिशायनातिशायकातिशयितृप्रभृतिभ्य एव स्यात्, तत्रापि स्वार्थे न प्रवृत्तिनिमित्तप्रकर्षे; अथ प्रत्ययार्थः, ततः सामर्थ्यलभ्या समर्थविभक्तिः । सा च यदि तिङन्तेन विग्रहस्तदा द्वितीया—शुक्लमतिशेते शुक्लतर इति । अथ कृदन्तेनातिशायनशब्देन, तदा षष्ठी–शुक्लस्यातिशायनः शुक्लतर इति । तथा च कालीमतिशेते कालः कालितर इति प्राप्नोति, कालमतिशेते काली कालतरेति प्राप्नोति । इह च गर्गानतिशेते गार्ग्यः गर्गतर इति प्राप्नोति, तथा गार्ग्यमतिशेरते गर्गाः गार्ग्यतरा इति प्राप्नोति । अथ करणसाधनः तत्रापि प्रकृत्यर्थश्चेद्येन गुणेनातिशेते तद्वाचिनः शौक्ल्यादेरेव स्यात्, शौक्ल्येन हि शुक्लः शुक्लान्तरमतिशेते । प्रत्ययार्थे तु शुक्लादिशब्दादतिशायने गुणे प्रत्ययः प्राप्नोति, गुणिसामानाधिकरण्यं न स्यात्—शुक्लतरः पट इति । अथ ण्यन्तात्कर्त्तरि ल्युड्—अतिशाययतीत्यतिशायन इति, एवमपि स एव दोषो यः करणपक्षे । गुणा हि गुणिनं प्रयुञ्जते—अस्माभिः प्रकृष्टैस्त्वं सजातीयमतिशेष्वेति, ततश्च प्रकृत्यन्तात्करणे ल्युटि यो दोषः स एवात्रापि भवति । अथ शेतिरवस्थानार्थः–पक्वाशयो जलाशय इतिवत्, ततोऽयमर्थः स्यात्–गुणा गुणिनि शेरते, अवतिष्ठन्ते, तान्गुण्यतिशाययति=आत्मन्यतिशयेनावस्थापयतीति, ततश्च स एव दोषो यः प्रकृत्यन्तात्कर्त्तरि ल्युटि । अतिशायनशब्दश्च प्रकृत्यन्तो न साधितः स्यात् । तस्माद् वृत्तिकारोपदर्शित एवार्थो न्याय्यः ।

पटिष्ठ इति । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' टेरिति टिलोपः । *गरिष्ठ इति* । 'प्रियस्थिर' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः ।

'प्रकर्षप्रत्ययान्तादपरेण प्रकर्षप्रत्ययेन न भवितव्यम्, एकेनैव प्रकर्षस्य

न्यासः

साधुत्वं विज्ञायेत इत्येवमर्थम् । प्रकृतिविशेषणं चैतदिति । प्रत्ययाशङ्कां निराकरोति । प्रकृत्यर्थविशेषणं स्वार्थिकानां द्योत्यं भवतीति न वाच्यम्; तस्य प्रकृतिवाच्यत्वात् ।

पटिष्ठः, लघिष्ठ इति । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति टिलोपः । गरिष्ठ इति । 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरु' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः ।

'प्रकर्षप्रत्ययान्तादपरेण प्रत्ययेन न भवितव्यम्, एकेनैव प्रत्ययस्य द्योतितत्वात्' इति

यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपरः प्रत्ययो भवत्येव—देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे, युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति ॥

पदमञ्जरी

द्योतितत्वात्' इति मन्यमानं प्रत्याह—*यदा चेति*। *आतिशायिकान्तादिति*। अतिशये भव आतिशायिकः, अध्यात्मादित्वाट्ठञ्, अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। *श्रेष्ठतमायेति*। 'प्रशस्यस्य श्रः'। अत्र प्रकर्षरहितप्रतियोग्यपेक्षया यः प्रकर्षस्तत्रेष्ठन्विहितः, तमप्प्रत्ययस्तु प्रकर्षवत्प्रतियोग्यपेक्षया यः प्रकर्ष इष्ठन्प्रत्ययेनाद्योतितस्तस्मिन्नित्यपौनरुक्त्यम्। प्रत्ययद्वयस्य विधीयमानप्रत्ययभेदाच्च द्वे एते वाक्ये, तत्रैकेनेष्ठन्, अपरेण तदन्तात्तमप्। तेनैतन्न चोदनीयम्—यथा सनन्तान्न सन् भवति, तद्विधानवेलायां तदन्तस्य धातोरभावात्; तथा प्रकर्षप्रत्ययान्तादपरेण प्रकर्षप्रत्ययेन न भवितव्यमिति।

भाष्ये तु प्रकर्षप्रत्ययान्तादपरः प्रकर्षप्रत्ययो नैव भवतीति स्थितम्। तत्कथम्? न तावत्तरबन्तादपरस्य प्रसङ्गः—यत्र हि त्रयाणामेकः शुक्लः, द्वितीयः किञ्चित्प्रकृष्टः, तृतीयश्चात्यन्तम्, तत्र किल प्रसङ्गः शङ्क्यते; तत्र द्वितीयस्य सदप्युत्कृष्टत्वं तृतीयसन्निधावकिञ्चित्करम्, राजसन्निधाविवामात्यस्येति। द्वितीयात्तावत्तरब्न भवति। तृतीयादपि न भवति, तस्मिन्नेव प्रयोगे त्रयाणामपेक्षितत्वेन द्विवचनोपपदत्वाभावात्। एतेनेयसुन्व्याख्यातः। नापि तमबन्तादपरस्य प्रसङ्गः। यत्र हि चतुर्णां द्वौ शुक्लौ, तृतीयः किञ्चिदुत्कृष्टः, चतुर्थश्चात्यन्तम्, तत्र किल प्रसङ्गः शङ्क्यते; तत्र तृतीयस्य सदप्युत्कृष्टत्वं चतुर्थसन्निधौ पूर्ववदकिञ्चित्करम्, चतुर्थात्तु तमबेव भवति। एतेनेष्ठन्व्याख्यातः।

कथं तर्हि *श्रेष्ठतमाय कर्मणे* इति? छान्दसत्वात्स्वार्थिकस्तमब् द्रष्टव्यः। *युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्* इति त्वन्याय्यमेव मन्यते ॥

न्यासः

यो मन्यते, तं प्रत्याह—यदा चेति। यत्र प्रथमे प्रकर्षे आतिशायनिको विहितः; तत्र तेनैव द्योतितत्वाद् द्वितीयो मा भूत् प्रकर्षप्रत्ययः। प्रकर्षान्तरत्वे आतिशायनप्रत्ययान्ताद् युक्तमेवापरेणातिशायिकेन प्रत्ययेन भवितुम्, तदद्योतितत्वादिति भावः। इष्ठनि परतः 'प्रशस्यस्य श्रः', पूर्वेण सह 'आद् गुणः'। इष्ठन्प्रत्ययान्तात् तमप्प्रकर्षप्रत्ययः। अत्र प्रतियोग्यपेक्षो यः प्रकर्षः पूर्वस्मात् प्रकर्षात् स प्रकर्ष इष्ठन्प्रत्ययेन द्योतितः। ननु च नास्यातिशायिकस्य विधायकं वाक्यमस्ति, येन तस्मिन् विहिते तदन्तादपरः प्रकर्ष आतिशायनिको विधीयेत, इदमेव ह्येकं वाक्यम्, तत्रानेनैव विधीयमाने प्रकर्षप्रत्यये तदन्तायाः प्रकृतेरसम्भव इत्ययुक्तं आतिशायिकादपरस्यातिशायिकस्य

काशि० 4 : 16

तिङश्च ॥ ५६ ॥

तिङन्ताच्चातिशायने द्योत्ये तमप् प्रत्ययो भवति । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकारात् तिङो न प्राप्नोतीति इदं वचनम् । सर्वे इमे पचन्तीति, अयमेषामतिशयेन पचति पचतितमाम् । जल्पतितमाम् । इष्ठन् नोदाह्रियते; गुणवचने तस्य नियतत्वात् ॥

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥ ५७ ॥

द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम् । विभक्तव्यः=विभज्यः । निपातनाद्

पदमञ्जरी

तिङश्च ॥ पचतितमामिति । 'किमेत्तिङव्यय' इत्यादिनाऽऽम्प्रत्ययः ।

गुणवचने तस्य नियतत्वादिति । अत एव सूत्रार्थकथनवेलायामपि तमप् प्रत्ययो भवतीत्युक्तम् । न चानुवृत्तिसामर्थ्यान्नियमस्य बाधः, तमब्विधानेऽप्यनुवृत्तेरुपपन्नत्वात् ॥

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥ द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनमिति । करणे ल्युट्, कर्मणि षष्ठ्याः समासः । येन पदेन द्वावर्थावुच्येते तद् द्विवचनमित्यर्थः । एतेनान्वर्थस्य द्विवचनस्येदं ग्रहणम्, न पारिभाषिकस्येति दर्शयति । पारिभाषिकस्य हि ग्रहणे, अस्माकं च देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इत्यत्र न स्यात् । अन्वर्थग्रहणे तु भवति, तथा हि—अस्माकमित्यनेनैकोऽर्थ उच्यते, 'अस्मदो द्वयोश्च' इत्येकस्मिन्नेवार्थे बहुवद्भावविधानाद्; देवदत्तस्य चेत्यनेनापि द्वितीयोऽर्थ उच्यते इति भवत्येतदन्वर्थम्—द्विवचनमुपपदम् । विभक्तव्यः=पृथक्कर्त्तव्यः, स चातिशय्यमानः । तस्य ह्युपपदत्वम्, न अतिशयितुः; ततः

न्यासः

भावः ? नैष दोषः; इह विधीयमानप्रत्ययभेदाद् द्वे एते वाक्ये, तत्रैकेनेष्ठन्, विधीयते, अपरेण तु तदन्तात् तमप् ॥

तिङश्च ॥ पचतितमामिति । 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्याम् ।

गुणवचन इत्यादि । इष्ठनोऽनुदाहरणे हेतुः । 'अजादी गुणवचनादेव' इति नियम इति, तत एव तेन भवितव्यम् । न च तिङन्तो गुणवचनः, अतो नासावुदाह्रियते ॥

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥ द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनमिति । एतेनान्वर्थस्य द्विवचनस्य ग्रहणम्, न पारिभाषिकस्येति दर्शयति । यदि हि पारिभाषिकं द्विवचनं गृह्येत, 'अस्माकं च देवदत्तस्य देवदत्तोऽभिरूपतरः' इत्यत्र प्रत्ययो न स्यात्; पारिभाषिकस्य द्विवचनस्याभावात् । अन्वर्थस्य तु ग्रहणे सति भवति द्व्यर्थतोपपदस्य । तथा हि—अस्माकमित्यनेनैकोऽर्थ उच्यते, एकस्मिन्नेवार्थे 'अस्मदो द्वयोश्च' इति

यद्भवति। द्व्यर्थे विभज्ये चोपपदे प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्चातिशायने तरबीयसुनौ प्रत्ययौ भवतः। तमबिष्ठनोरपवादः। यथासंख्यमत्र नेष्यते। द्वाविमावाढ्यौ, अयमनयोरतिशयेनाढ्य आढ्यतरः। सुकुमारतरः। पचतितराम्। जल्पतितराम्।

पदमञ्जरी

प्रत्ययविधानात्। अपर आह—आढ्यादेरतिशयितृविशेषणात्प्रत्ययो विधीयते, नातिशयितुर्माधुरादेरिति तस्याप्युपपदत्वमविरुद्धम्। पृथक्कारोऽपि तस्याप्यविशिष्ट इति। *निपातनाद्यदिति*। 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यतोऽपवादः। तेन विभाग्यमिति नैव भवति। विभाज्यशब्दस्य तु स्मृतिषु प्रयुक्तस्य साधुत्वं चिन्त्यम्। *द्व्यर्थे विभज्ये चोपपद इति*। सूत्रे तु द्विवचनं च विभज्यं च द्विवचनविभज्यम्, तच्च तदुपपदं चेति कर्मधारयात्सप्तमी। अन्वर्थं चोपपदम्—उपोच्चारितं पदमुपपदमिति। तच्च विग्रहवाक्य एव प्रयुज्यते। वृत्तौ तु गतार्थत्वान्नावश्यं प्रयुज्यते। एवं चोपपदग्रहणं स्पष्टार्थम्। इह द्वे उपपदे, द्वे च प्रकृती—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'तिङश्च' इति, प्रत्ययावपि द्वावेव, ततश्च यथासंख्यप्रसङ्गः? इत्यत आह—*यथासंख्यमिति*। इष्टिरेवेयम्। *अयमनयोरिति*। अनयोरित्येतदत्र द्व्यर्थमुपपदम्। *पटीयानिति*। पूर्ववट्टिलोपः, उगित्त्वान्नुम्, 'सान्तमहतः' इति दीर्घत्वम्, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ।

माधुरा इत्यादि। किं पुनरत्र विभज्यम्? पाटलिपुत्रका इत्याह। तथा च तत्र 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी भवति। यद्यप्यत्रापि माधुराणामेको राशिः, पाटलिपुत्रकाणां चापर इति राश्यपेक्षं द्व्यर्थत्वमस्ति; तथापि नासौ

न्यासः

बहुवचनस्य विधानात्। देवदत्तस्येत्यनेनापि द्वितीयोऽर्थ उच्यत इति भवत्येव तदन्वर्थद्विवचनमुपपदम्। तदेवमन्वर्थस्य ग्रहणे सर्वत्र सिध्यतीति तस्येदं ग्रहणं युक्तमिति मन्यते। **विभक्तव्य इति**। पृथक् कर्तव्य इत्यर्थः। यः पुनरतिशय्यमानस्तस्योपपदत्वम्, नातिशयितुः; ततः प्रत्ययविधानात्। ननु च 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यति कृते विभाग्य इति भवितव्यम्, कथं विभज्य इति निर्देश उपपद्यते? इत्याह—**निपातनाद् यद् भवतीति**। इह द्वे उपपदे, एवं प्रकृती च प्रत्ययावपि द्वावेव, ततश्च यथासंख्येन भवितव्यमिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तन्निरासार्थमाह—**यथासंख्यमित्यादि**। कस्मात् पुनरिष्यमाणमपि न भवति? विभज्यशब्दस्याल्पाच्तरस्यापूर्वनिपाताल्लक्षणस्य व्यभिचारचिह्नात्। स हि लक्षणान्तरनिरपेक्षतां दर्शयन् यथासंख्यलक्षणमपीह नापेक्षेतेति सूचयति।

पटीयानिति। पूर्ववट्टिलोपः, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घः, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ।

ईयसुन्खल्वपि—द्वाविमौ पटू, अयमनयोरतिशयेन पटुः पटीयान् । लघीयान् ।

विभज्ये चोपपदे—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः । दर्शनीयतराः । पटीयांसः । लघीयांसः ॥

पदमञ्जरी

शब्देनोपादीयते, प्रत्युतावयवभेद एव । अत एव बहुवचनम् । इह च—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः सांकश्यकेभ्यश्चाभिरूपतरा इति न राश्यपेक्षमपि द्व्यर्थत्वमस्ति । तस्माद्विभज्योपपदग्रहणं कृतम् ।

इह दन्तोष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः, पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतरावित्यत्र तरब्न प्राप्नोति, किं कारणम्? समाहारस्यैकत्वात्; न च गुणभूतवर्त्तिपदार्थाश्रयः प्रत्ययः, तेषां बहुत्वात्—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वावोष्ठौ? अत्राऽऽहुः—वृत्तावभेदैकत्वसंख्यामुपाददते वर्त्तिपदानि, ततश्च भेदपरित्यागादभेदैकत्वसंख्यायाश्चोपादानाद्—एवम्भूतदन्तोष्ठलक्षणार्थद्वयाश्रयः प्रत्यय इति । इतरेतरयोगद्वन्द्वे त्ववयवार्थभेदसद्भावाद् द्व्यर्थता नास्तीति तरब्न भवति । प्लक्षन्यग्रोधानां प्लक्षा दीर्घतमा इति विभज्योपपदाश्रयोऽपि न भवति, कथम्? प्रतियोग्यपेक्षत्वात्प्रकर्षस्य । सामर्थ्यलभ्ये विभागे विभज्योपपदग्रहणमवधारणार्थम्—विभाग एव यत्र शब्देन प्रतिपाद्यत इति । इह तु निर्धारणाश्रयनिर्देशो निर्धार्यमाणस्यापि साधारण इति न विभाग एव केवलः, किन्त्वविभागोऽपि । एतेन 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी व्याख्याता । इह 'परुद्भवान्पटुरासीत्, पटुतरश्चैषमः' इत्येकस्यापि धर्मिणो गुणभेदेन द्वित्वाध्यारोपात्प्रतियोग्यपेक्षः प्रकर्षः, तदाश्रयश्च प्रत्ययः । व्यपदिशति च—'अन्य एवासि संवृत्तः', 'कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम्' इति ॥

न्यासः

माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति । 'पञ्चमी विभक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । पाटलिपुत्रकेभ्य इत्येतदत्र विभज्योपपदम्, पाटलिपुत्रका हि माथुरेभ्यो विभज्यन्ते=पृथक् क्रियन्ते ।

ननु चैतदपि 'द्विवचनोपपदे' इत्येव सिद्धम्, अस्ति ह्यत्र द्विवचनमुपपदम्, तथा हि—माथुराणामेको राशिः, अपरः पाटलिपुत्रकाणाम्, तौ च द्विवचनेनोच्येते, तस्माद् विभज्यग्रहणमनर्थकम्? नैतदस्ति; यद्यप्यत्र राश्यपेक्षा द्व्यर्थतास्ति, तथापि नासौ शब्देनोपादीयते । किं तर्हि? अवयवभेदः । अत एव माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य इति बहुवचनम् । इह राश्यपेक्षापि द्व्यर्थता नास्तीति—साङ्काश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुराः सुकुमारतरा इति । तस्माद् विभज्यग्रहणमपि कर्त्तव्यम् ॥

अजादी गुणवचनादेव ॥ ५८ ॥

इष्ठन्नीयसुनावजादी सामान्येन विहितौ, तयोरयं विषयनियमः क्रियते—गुणवचनादेव भवतस्तौ नान्यस्मादिति । पटीयान् । लघीयान् । पटिष्ठः । लघिष्ठः ।

इह न भवतः—पाचकतरः, पाचकतम इति ।

एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः—प्रत्ययनियमोऽयम्, न प्रकृतिनियम इति । पटुतरः, पटुतमः ॥

पदमञ्जरी

अजादी गुणवचनादेव ॥ एवकारः किमर्थः ? नियमो यथा विज्ञायेत; अन्यथा प्रकर्षेऽजाद्योर्विधानादप्रकर्षे विधिः स्यात् । 'अतिशायने' इत्यनुवर्त्तिष्यते, तत्रैव पुनर्वचनं नियमार्थं भविष्यति, नार्थ एवकारेण ? तत्राह—*एवकार इष्टतोऽवधारणार्थ इति* । असति ह्यस्मिन्विपरीतोऽपि नियमः सम्भाव्यते—अजादी एव गुणवचनादिति । तत्र को दोषः ? गुणवचनाद् व्यञ्जनादी न स्याताम्; तस्याजाद्योर्नियतत्वात् । यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति । अजाद्योश्चानियतत्वादगुणवचनादपि तयोः प्रसङ्गः । इदमतिबहु क्रियते—अजादी गुणवचनादेवेति, एवं तु वक्तव्यम्—अतिशायने तमप्, गुणवचनादिष्ठन्, द्विवचनविभज्योपपद ईयसुन्, गुणवचनादित्येव, ततस्तरप् च, गुणवचनादिति निवृत्तम् ? सत्यम्; 'प्रशस्यस्य श्रः' इत्येवमाद्यर्थं तु 'अजादी' इत्युक्तम् । एवं तर्हि 'प्रशस्यस्य श्रोऽजाद्योः' इत्येवास्तु, एवमपि ह्येवकारो न वक्तव्यो भवति ! त्वत्पक्षेऽपि 'तरप् च' इति चकारः क्रियते, तत्तुल्यं भवति ॥

न्यासः

अजादी गुणवचनादेव ॥ पाचकतर इति । कर्तृशक्तिमतो द्रव्यस्याभिधानाद् द्रव्यवचनोऽयं पाचकशब्दः ।

अथैवकारः किमर्थः, यावता सिद्धे विधिरारभ्यमाणो बिनापि तेन नियमार्थो भवति ! इत्याह—एवकार इत्यादि । असति ह्येवकारे विपरीतमवधारणं विज्ञायते—अजादी एव गुणवचनादिति, ततश्च यत एवकारस्ततोऽन्यत्रावधारणमिति प्रकृतिनियमः स्यात् । एवं च गुणवचनस्याजाद्योर्नियतत्वात् ततस्तरबादिर्न स्यात् । एवकारे तु प्रकृत्यनन्तरमुच्चार्य्यमाणे सति प्रत्ययार्थनियमोऽयं भवति न प्रकृतिनियम इति पटुतरः, पटुतम इति सिद्धं भवति । एतयोरपि सिद्ध्यर्थम् 'गुणवचनादिष्ठन्नीयसुनौ' इति सूत्रं न कृतम् । तदा विध्यर्थत्वादेतौ तरप्तमपोरपवादत्वाद् बाधकाविति तयोरभावे पटुतरः, पटुतम इति न सिध्येत् ॥

तुश्छन्दसि ॥ ५९ ॥

'तुः' इति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम् । त्रन्ताच्छन्दसि विषये अजादी प्रत्ययौ भवतः । पूर्वेण गुणवचनादेव नियमे कृते छन्दसि प्रकृत्यन्तराण्यभ्यनुज्ञायन्ते—त्रन्तादप्यजादी भवत इति । आसुतिं करिष्ठः । दोहीयसी धेनुः । 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृचो निवृत्तिः ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ ६० ॥

प्रशस्यशब्दस्य 'श्र' इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । 'अजादी' इति प्रकृतस्य सप्तमी विभक्तिर्विपरिणम्यते ।

ननु च प्रशस्यशब्दस्यागुणवचनत्वादजादी न सम्भवतः ? एवं तर्हि आदेशविधानसामर्थ्यात् तद्विषयो नियमो न प्रवर्तते—अजादी गुणवचनादेवेति ।

पदमञ्जरी

तुश्छन्दसि ॥ *पूर्वेणेत्यादि* । नियमबाधेन प्रकृत्यन्तरस्याभ्यनुज्ञानमात्रं क्रियते, न त्वपूर्वो विधिरित्यर्थः, तेनोपाधिसङ्करो न भवति । *करिष्ठ इति* । कर्तृशब्दात् तृन्नन्तादिष्ठन् । अत एव कर्मणि द्वितीया भवति । तृजन्तादेव वा भवतु, द्वितीया तु कृतपूर्वी कटमितिवद् द्रष्टव्या । *दोहीयसीति* । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया दोग्ध्रीशब्दात्प्रत्ययः । 'भस्याऽढे तद्धिते' पुंवद्भावेन ङीपो निवृत्तिः । यद्वा, 'सिद्धश्च प्रत्ययविधौ' इति वचनान्ङीपि निवृत्ते दोग्धृशब्दादेव प्रत्ययः, ततः 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृचि निवृत्ते निमित्ताभावाद् घत्वजश्त्वयोरपि निवृत्तिः ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ *अजाद्योः प्रत्यययोः परत इति* । ननु चाजादी इति प्रथमान्तं प्रकृतम्, न सप्तम्यन्तम्, तत्कथमयमर्थो लभ्यते ? इत्यत आह—*अजादी इति प्रकृतस्येत्यादि* । प्रकृतस्य या विभक्तिः प्रथमा सा सप्तमीरूपेण विपरिणम्यते, ऊह्यत इत्यर्थः ।

एवं तर्हीत्यादि । अथ यावेव सम्भवतः—तरप्तमपौ, [illegible]रेव परतोऽयमादेशः

न्यासः

तुश्छन्दसि ॥ करिष्ठ इति । कर्तृशब्दात् तृन्नन्तादिष्ठन्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृशब्दलोपः । दोहीयसीति । दोग्ध्रीशब्दात् तृन्नन्तादीयसुन्, तृशब्दस्य लोपे कृते निमित्ताभावाद् घत्वादिर्निवर्तते, 'उगितश्च' इति ङीप् ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ ननु चाजादी इति प्रथमान्तम्, तत् कथमजाद्योः परत आदेशो लभ्यते ? इत्याह—अजादी इति । तद्विषय इति । स प्रशस्यशब्दो विषयो यस्य स तद्विषयः । 'अजादी गुणवचनादेव' इत्यनेन यो नियमः स तद्विषये न प्रवर्तत इति दर्शयति ।

एवमुत्तरेष्वपि योगेषु विज्ञेयम् ।

सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ,अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । अयमस्मात् श्रेयान् । 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावाच्छ्रशब्दस्य टिलोप-यस्येतिलोपौ न भवतः ॥

ज्य च ॥ ६१ ॥

प्रशस्यशब्दस्य 'ज्य' इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । 'ज्यादादीयसः' इत्याकारः ॥

पदमञ्जरी

कस्मान्न भवति ? नैवं भवितुमर्हति; 'अजादी' इत्यनुवृत्तिसामर्थ्यात् । अथात्रैवाजाद्योर्विधिः कस्मान्न विज्ञायते—प्रशस्यशब्दादजादी भवतः, श्रश्चास्यादेश इति, तत्रायमप्यर्थः—विभक्तिविपरिणामो न कर्तव्यो भवति ? नैवं शक्यम्; तरप्तमपौ हि स्याताम्, विशेषविहितावजादी बाधेयाताम्, उपाधीनां च सङ्करः स्याद्-इष्ठन्विषये ईयसुन्, तद्विषये चेष्ठन्निति । *तद्विषय इति* । स प्रशस्यशब्दो विषयो यस्य स तद्विषयः । सप्तम्यन्तपाठे तु स एव विषयस्तत्रेत्यर्थः । *नियमो न प्रवर्तत इति* । नियमाप्रवृत्तिज्ञापनद्वारेणाजादिभावो ज्ञाप्यते, न तु साक्षादित्यर्थः; अन्यथा पुनरनजाद्योर्बाध उपाधिसङ्करश्च स्यात्, उक्तेन प्रकारेण स्वशास्त्रेणैवाजाद्योर्विधानान्नैतद्दोषद्वयमपि भवति । कथं पुनर्यथाश्रुतसम्बन्धसम्भवेऽपि विपरिणामः शक्य आश्रयितुम् ? शृणु; अजाद्योर्विधिरिष्टश्चेत्पञ्चम्या निरदेक्ष्यत् । किञ्च एवं सन्नियोगार्थश्चकारोऽप्यकरिष्यत ।

टिलोप-यस्येतिलोपाविति । 'यस्येति' इत्यनेन लोपो यस्येतिलोपः, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः, तत्रानुकरणत्वादस्य ग्रामीयमित्यादिवद्विभक्तेरलोपः । 'आद्गुणः' इति त्वनङ्गत्वान्न प्रतिषिध्यते ॥

ज्य च ॥ योगविभाग उत्तरत्र ज्यादेश एव यथा स्यात्, आदेशो मा भूदिति । *अयमनयोरिति* । अतिशयेन प्रशस्य इति विपरिणामेनापेक्ष्यते, न पुनरुत्तरेणैकग्रन्थता । एवं सर्वत्र ॥

न्यासः

एवमुत्तरेष्वपीति । 'वृद्धस्य च' इत्येवमादिषु । अयमनयोः श्रेयानिति द्विवचनोपपद ईयसुन् । अयमस्मात् श्रेयानिति विभज्योपपदे । पूर्वत्र निर्धारणे षष्ठी, उत्तरत्र 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी ॥

ज्य च ।। योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः, उत्तरार्थश्च । उत्तरत्र वृद्धशब्दस्य ज्यादेश एव यथा स्यात्, श्रादेशो मा भूदिति ॥

तुश्छन्दसि ॥ ५९ ॥

'तुः' इति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम् । त्रन्ताच्छन्दसि विषये अजादी प्रत्ययौ भवतः । पूर्वेण गुणवचनादेव नियमे कृते छन्दसि प्रकृत्यन्तराण्यभ्यनुज्ञायन्ते—त्रन्तादप्यजादी भवत इति । आसुतिं करिष्ठः । दोहीयसी धेनुः । 'भस्याऽढे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृचो निवृत्तिः ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ ६० ॥

प्रशस्यशब्दस्य 'श्र' इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । 'अजादी' इति प्रकृतस्य सप्तमी विभक्तिर्विपरिणम्यते ।

ननु च प्रशस्यशब्दस्यागुणवचनत्वादजादी न सम्भवतः ? एवं तर्हि आदेशविधानसामर्थ्यात् तद्विषयो नियमो न प्रवर्तते—अजादी गुणवचनादेवेति ।

पदमञ्जरी

तुश्छन्दसि ॥ पूर्वेणेत्यादि । नियमबाधेन प्रकृत्यन्तरस्याभ्यनुज्ञानमात्रं क्रियते, न त्वपूर्वो विधिरित्यर्थः, तेनोपाधिसङ्करो न भवति । *करिष्ठ इति* । कर्तृशब्दात्तृन्नन्तादिष्ठन् । अत एव कर्मणि द्वितीया भवति । तृजन्तादेव वा भवतु, द्वितीया तु कृतपूर्वी कटमितिवद् द्रष्टव्या । *दोहीयसीति* । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया दोग्ध्रीशब्दात्प्रत्ययः । 'भस्याऽढे तद्धिते' पुंवद्भावेन ङीपो निवृत्तिः । यद्वा, 'सिद्धश्च प्रत्ययविधौ' इति वचनान्ङीपि निवृत्ते दोग्धृशब्दादेव प्रत्ययः, ततः 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृचि निवृत्ते निमित्ताभावाद् घत्वजश्त्वयोरपि निवृत्तिः ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ अजाद्योः प्रत्यययोः परत इति । ननु चाजादी इति प्रथमान्तं प्रकृतम्, न सप्तम्यन्तम्, तत्कथमयमर्थो लभ्यते ? इत्यत आह—*अजादी इति प्रकृतस्येत्यादि* । प्रकृतस्य या विभक्तिः प्रथमा सा सप्तमीरूपेण विपरिणम्यते, ऊह्यत इत्यर्थः ।

एवं तर्हीत्यादि । अथ यावेव सम्भवतः—तरप्तमपौ, तयोरेव परतोऽयमादेशः

न्यासः

तुश्छन्दसि ॥ करिष्ठ इति । कर्तृशब्दात् तृन्नन्तादिष्ठन्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इति तृशब्दलोपः । दोहीयसीति । दोग्ध्रीशब्दात् तृन्नन्तादीयसुन्, तृशब्दस्य लोपे कृते निमित्ताभावाद् घत्वादिर्निवर्तते, 'उगितश्च' इति ङीप् ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥ ननु चाजादी इति प्रथमान्तम्, तत् कथमजाद्योः परत आदेशो लभ्यते ? इत्याह—अजादी इति । तद्विषय इति । स प्रशस्यशब्दो विषयो यस्य स तद्विषयः । 'अजादी गुणवचनादेव' इत्यनेन यो नियमः स तद्विषये न प्रवर्तत इति दर्शयति ।

एवमुत्तरेष्वपि योगेषु विज्ञेयम् ।

सर्व इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ,अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् । अयमस्मात् श्रेयान् । 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावाच्छ्रशब्दस्य टिलोप-यस्येतिलोपौ न भवतः ॥

ज्य च ॥ ६१ ॥

प्रशस्यशब्दस्य 'ज्य' इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । सर्व इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । 'ज्यादादीयसः' इत्याकारः ॥

पदमञ्जरी

कस्मान्न भवति ? नैवं भवितुमर्हति; 'अजादी' इत्यनुवृत्तिसामर्थ्यात् । अथात्रैवाजाद्योर्विधिः कस्मान्न विज्ञायते—प्रशस्यशब्दादजादी भवतः, श्रश्चास्यादेश इति, तत्रायमप्यर्थः—विभक्तिविपरिणामो न कर्तव्यो भवति ? नैवं शक्यम्; तरप्तमपौ हि स्याताम्, विशेषविहितावजादी बाधेयाताम्, उपाधीनां च सङ्करः स्याद्—इष्ठन्विषये ईयसुन्, तद्विषये चेष्ठन्निति । *तद्विषय इति* । स प्रशस्यशब्दो विषयो यस्य स तद्विषयः । सप्तम्यन्तपाठे तु स एव विषयस्तत्रेत्यर्थः । *नियमो न प्रवर्तत इति* । नियमाप्रवृत्तिज्ञापनद्वारेणाजादिभावो ज्ञाप्यते, न तु साक्षादित्यर्थः; अन्यथा पुनरनजाद्योर्बाध उपाधिसङ्करश्च स्यात्, उक्तेन प्रकारेण स्वशास्त्रेणैवाजाद्योर्विधानान्नैतद्दोषद्वयमपि भवति । कथं पुनर्यथाश्रुतसम्बन्धसम्भवेऽपि विपरिणामः शक्य आश्रयितुम् ? शृणु; अजाद्योर्विधिरिष्टश्चेत्पञ्चम्या निरदेक्ष्यत् । किञ्च एवं सन्नियोगार्थश्चकारोऽप्यकरिष्यत ।

टिलोप-यस्येतिलोपाविति । 'यस्येति' इत्यनेन लोपो यस्येतिलोपः, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः, तत्रानुकरणत्वादस्य ग्रामीयमित्यादिवद्विभक्तेरलोपः । 'आद्गुणः' इति त्वनङ्गत्वान्न प्रतिषिध्यते ॥

ज्य च ॥ योगविभाग उत्तरत्र ज्यादेश एव यथा स्यात्, आदेशो मा भूदिति । *अयमनयोरिति* । अतिशयेन प्रशस्य इति विपरिणामेनापेक्ष्यते, न पुनरुत्तरेणैकग्रन्थता । एवं सर्वत्र ॥

न्यासः

एवमुत्तरेष्वपीति । 'वृद्धस्य च' इत्येवमादिषु । अयमनयोः श्रेयानिति द्विवचनोपपद ईयसुन् । अयमस्मात् श्रेयानिति विभज्योपपदे । पूर्वत्र निर्धारणे षष्ठी, उत्तरत्र 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी ॥

ज्य च ॥ योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः, उत्तरार्थश्च । उत्तरत्र वृद्धशब्दस्य ज्यादेश एव यथा स्यात्, श्रादेशो मा भूदिति ॥

वृद्धस्य च ॥ ६२ ॥

वृद्धशब्दस्य च 'ज्य' इत्ययमादेशो भवत्यजाद्योः प्रत्यययोः परतः । तयोश्च सत्त्वं नियमाभावेन पूर्ववत् ज्ञाप्यते । सर्वं इमे वृद्धाः, अयमेषामतिशयेन वृद्धः ज्येष्ठः । उभाविमौ वृद्धौ, अयमनयोरतिशयेन वृद्धः ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् ।

'प्रियस्थिर' इत्यादिना वृद्धशब्दस्य वर्षादेशो विधीयते । वचनसामर्थ्यात्पक्षे सोऽपि भवति—वर्षिष्ठः, वर्षीयानिति ॥

अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ॥ ६३ ॥

पदमञ्जरी

वृद्धस्य च ॥ स्वरूपग्रहणम्, न तु 'वृद्धिर्यस्याचामादिः' इति पारिभाषिकस्येत्याह—*वृद्धशब्दस्येति* । अत्र च व्याख्यानमेव शरणम् । *तयोश्चेत्यादि* । यत्पूर्वमुक्तम्—'एवमुत्तरेष्वपि योगेषु विज्ञेयम्' इति, तदेवानेन स्मारितम् ।

वचनात्पक्षे सोऽपि भवतीति । ननु च वर्षादेशस्येमनिजवकाशः स्यात् ? न; वृद्धशब्दादिमनिचोऽभावात् । यद्येवम्, वर्षादेशोऽपीहैव वक्तव्यः–वृद्धस्य वर्षिश्चेति, एवं हि द्विर्वृद्धग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति ? सत्यम्; तथा तु न कृतमित्येव । अपर आह—इष्ठनीयसुनोरिवेमनिचोऽपि सद्भावः कल्प्यते, तेन वर्षिमेत्यपि भवति । तस्य मते—वर्षादेशस्येमनिचि चरितार्थत्वादिष्ठन्नीयसुनोरनेन ज्यादेश एव प्राप्नोति । तस्माद् 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इत्यत्रेदमनुवर्तते, तेन ज्यादेशेन मुक्ते पक्षे वर्षादेशः ॥

न्यासः

वृद्धस्य च ॥ **वृद्धशब्दस्येति** । 'वृद्ध' इत्येतस्य शब्दस्येत्यर्थः । एतेन 'वृद्धस्य' इति स्वरूपग्रहणं दर्शयति । ननु च वृद्धशब्दश्च संज्ञा कृता—'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इति, अतस्तत्प्रत्यायितस्यैव संज्ञिनो ग्रहणं न स्वरूपस्य, 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इति वचनात् ? नैष दोषः, 'प्रशस्यस्य' इत्येतदिहानुवर्त्तते, तेन वृद्धशब्दो विशेष्यते—प्रशस्यस्य वृद्धस्येति । स्वरूपग्रहणे वयोऽधिके च शब्दार्थे प्रशस्यता युज्यते, न पारिभाषिकग्रहणे । अथ वा—स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया ज्यशब्दस्य योऽन्तरतमः स एव स्थानी विज्ञायते, अन्तरतमश्च तस्य वृद्धशब्द एव, तेन तस्यैव ग्रहणं युक्तम् । **तयोश्चेत्यादि** । यथा 'प्रशस्यस्य श्रः' इत्यत्र नियमाभावेनाजाद्योः प्रत्यययोः सत्त्वं ज्ञापितम्, तथेहापि ज्ञाप्यते । नियमाभावस्त्वजाद्योः परतः पूर्ववदादेशविधानादेव वेदितव्यः ॥

अन्तिकबाढयोर्यथासंख्यं नेद, साध—इत्येतावादेशौ भवतोऽजाद्योः परतः । तयोश्च सत्त्वं पूर्ववद्विज्ञेयम् ।

निमित्तभूतयोर्यथासंख्यमत्र नेष्यते ।

सर्वाणीमान्यन्तिकानि, इदमेषामतिशयेनान्तिकं नेदिष्ठम् । उभे इमे अन्तिके, इदमनयोरतिशयेन नेदीयः । इदमस्मान्नेदीयः । सर्वे इमे बाढमधीयते, अयमेषामतिशयेन बाढमधीते साधिष्ठः । उभाविमौ बाढमधीयाते, अयमनयोरतिशयेन बाढमधीते साधीयः । अयमस्मात् साधीयोऽधीते ॥

युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ॥ ६४ ॥

युवाल्पशब्दयोः कनित्ययमादेशो भवत्यन्यतरस्यामजाद्योः परतः । तयोश्च सत्त्वं पूर्ववज्ज्ञेयम् । सर्वे इमे युवानः, अयमेषामतिशयेन युवा

पदमञ्जरी

अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ॥ *निमित्तयोर्यथासंख्यमिह नेष्यत इति* । 'अजाद्योः' इति प्रकृतयोरिष्ठनीयसुनोर्ग्रहणात्तयोश्च क्रमेणोपदेशादजहत्क्रमयोरेव प्रतीतेर्यथासंख्यप्रसङ्गं मन्यते । कस्मात्पुनरिष्यमाणमपि न भवति ? विपरीतक्रमस्यापि सम्भवात् । तथा हि—कयोरजाद्योरित्यपेक्षायामानन्तर्यादीयसुंस्तावत्प्रतीयते, द्विवचनानुरोधात्विष्ठन्नपीत्येवमपि क्रमः सम्भवति । तदनयोः क्रमयोर्नान्यतरः क्रमो निर्द्धारयितुं शक्य इत्यनाश्रयणमेव तयोर्युक्तम् ॥

युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ॥ युवेति न संज्ञायूनो ग्रहणम्, किं तर्हि ? स्वरूपस्य; अल्पसाहचर्यात्, व्याख्यानाच्च । अन्यतरस्यांग्रहणमल्पशब्दार्थम् ।

न्यासः

अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ॥ निमित्तयोरित्यादि । निमित्तौ प्रत्ययौ, तयोः परत आदेशविधानात् । कस्मात् पुनरिष्यमाणो न भवति ? अल्पाच्तरस्य परनिपातात् । स हि लक्षणन्तरानपेक्षतामाचष्टे । तेन यथासंख्यलक्षणमपीह नापेक्ष्यते । यद्येवम्, स्थान्यादेशयोरपि यथासंख्यं न प्राप्नोति ? मा भूद् यथासंख्यम्, आन्तरतम्याद् व्यवस्था भविष्यति । ननु च व्यवस्थाकारि चेल्लक्षणान्तरं नापेक्ष्यते, स्थानेऽन्तरतमपरिभाषापि न प्राप्नोति ? नैतदस्ति; निर्देशान्यथात्वं हि निर्देशकृता व्यवस्था नास्तीत्येतदेव बोधयति, या त्वर्थकृता व्यवस्था तां न निवर्त्तयति । अपि चादेशप्रतिपत्तये 'षष्ठी स्थाने योगा' इत्येषा परिभाषा नियोगतोऽपेक्षणीया । तच्छेषभूता 'स्थानेऽन्तरतमः' इति परिभाषा कथं शक्या नापेक्षितुम् ॥

युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ॥ अत्रापि निमित्तयोर्यथासंख्यं नेष्यते, तस्य ह्यभावः 'अजाद्यदन्तम्' इत्यल्पशब्दस्य पूर्वनिपाते परनिपाताल्लक्षणानपेक्षाचिह्नाल्लभ्यते । युवेति

कनिष्ठः । द्वाविमौ युवानौ, अयमनयोरतिशयेन युवा कनीयान् । यविष्ठः, यवीयान् । सर्वे इमेऽल्पाः, अयमेषामतिशयेनाल्पः कनिष्ठः । उभाविमावल्पौ, अयमनयोरतिशयेनाल्पः कनीयान् । अयमस्मात्कनीयान् । अल्पिष्ठः, अल्पीयानिति वा ॥

विन्मतोर्लुक् ॥ ६५ ॥

विनो मतुपश्च लुग् भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । इदमेव वचनं ज्ञापकमजादिसद्भावस्य । सर्वे इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी स्रजिष्ठः । उभाविमौ स्रग्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान् । अयमस्मात् स्रजीयान् । सर्वे इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन

पदमञ्जरी

युवशब्दस्य तु 'स्थूलदूरयुव' इति वचनात्सिद्धो विकल्पः । *यविष्ठ इति* । स्थूलदूरादिसूत्रेण यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुणः । *कनीयानिति* । प्रकरणादिवशाद्युवाल्पयोरन्यतरावसायः । 'प्रकृत्यैकाच्' इति प्रकृतिभावाट्टिलोपः, 'अल्लोपोऽनः' इत्यल्लोपश्च न भवति ।

विन्मतोर्लुक्॥ विन्मतोरित्युत्सृष्टानुबन्धयोर्विनिमतुपोर्द्वन्द्वात्षष्ठीद्विवचनम् । अथ विन्ग्रहणं किमर्थम्, यावता येभ्यो विन् तेभ्यो मतुबपि भवति, तस्यैव लुकि

न्यासः

स्वरूपग्रहणमिष्यते, न जीवत्त्वं वंशस्य । कस्मात् ? इहापि 'प्रशस्यस्य' इत्येतदनुवर्त्तते, तेन युवशब्दो विशेषयितव्यः—प्रशस्यस्य यून इति । स्वरूपग्रहणे सर्वलोकाभिमतयौवनाख्यवयःसम्बन्धे शब्दार्थे प्रशंसोपपद्यते, न पारिभाषिकग्रहणे । अथ वा—स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया कन्नित्यस्यादेशस्य योऽन्तरतमः स एव स्थानीति विज्ञायते, अन्तरतमश्च युवशब्द एव । तस्मात् स्वरूपस्यैव ग्रहणं युक्तम् । **अन्यतरस्यां**-ग्रहणमिहाल्पशब्द एव प्रयोजयति, न युवशब्दः, तस्य विनापि तेन विकल्पः सिद्ध एव; 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' इति वचनात् । न हि नित्य आदेशे यणादेः परस्य लोपः सम्भवति, नापि पूर्वभागो गुणभाक् । **यविष्ठः, यवीयानिति** । स्थूलदूरादिसूत्रेण यणादेः परं लुप्यते, पूर्वस्य च गुणो भवति ॥

विन्मतोर्लुक् ॥ मतुपा साहचर्यात् मत्वर्थीय एव विनिप्रत्ययो गृह्यते—'तपःसहस्राभ्यां विनीनी', 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति; आभ्यां चेतदेव लुग्वचनमजाद्योर्भावं ज्ञापयति । **स्रग्विणौ इति** । अस्मायादिसूत्रेण विनिः । **स्रजिष्ठ इति** । 'प्रकृत्यैकाच्' इति 'प्रकृतिभावट्टिलोपाभावः ॥

त्वग्वी त्वचिष्ठः। उभाविमौ त्वग्वन्तौ, अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान् त्वचीयान्। अयमस्मात्त्वचीयान्॥

प्रशंसायां रूपप्॥ ६६॥

प्रशंसा=स्तुतिः। प्रकृत्यर्थस्य विशेषणं चैतत्। प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे रूपप् प्रत्ययो भवति। स्वार्थिकाश्च प्रत्ययाः प्रकृत्यर्थविशेषस्य द्योतका भवन्ति। प्रशस्तो वैयाकरणो वैयाकरणरूपः। याज्ञिकरूपः।

पदमञ्जरी

स्रजिष्ठ इत्यादि सिद्धम्, न च विन इष्ठचीयसुनोः श्रवणप्रसंगः, तदन्तात्तयोरभावात्? अस्मादेव हि लुग्वचनाद्विनन्तात्तयोर्भावो ज्ञाप्यते। यदा तर्हि विनन्तात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् क्रियते, तदा विनः श्रवणं मा भूदित्येवमर्थं विनो लुग्वचनम्—स्रग्विणमाचष्टे स्रजयति॥

प्रशंसायां रूपप्[1]॥ *प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतदिति*। प्रत्यार्थत्वे तु वैयाकरणस्य प्रशंसा वैयाकरणरूप इति प्राप्नोति, वैयाकरणरूपो देवदत्त इति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, तस्मात्प्रकृत्यर्थविशेषणम्—प्रशंसाविशिष्टेभ्य इति। स पुनः प्रशस्तो न तु प्रशंसिता; अनभिधानात्। *स्वार्थ इति*। यद्येवम्, कुमारीरूपेत्यत्रानतिरिक्तं वय इति कृत्वा ङीप् प्राप्नोति? नैष दोषः; कुमारीशब्दादुत्पन्नेन ङीपा वयोविशिष्टार्थगतस्य स्त्रीत्वस्य द्योतितत्वाद्रूपबन्तस्य स्त्रीत्वमात्रमभिव्यङ्क्तुं टाबेव क्रियते, न च ङीपैव तदभिव्यक्तमिति टापोऽप्रसङ्गः। कुमारीरूप इत्युच्यमाने हि कुटीरादिवल्लिङ्गान्तरं प्रतीयेत। यद्वा–प्रवृत्तिनिमित्तभेदान्ङीपोऽप्रसङ्गः, कुमारशब्दस्य वयो निमित्तम्, रूपबन्तस्य तु तद्गता प्रशंसा, तदाह–*स्वार्थिकाश्चेत्यादि*। अत्रापि प्रवृत्तिनिमित्तस्य प्रशंसायामयं प्रत्ययः, तेन यो व्याकरणेऽनिपुणः प्रशस्तश्च वंशशीलादिना, तत्र वैयाकरणरूप इति न भवति। क्वचित्तु सहचरितधर्मप्रशंसायामपि भवति—गोरूपोऽयं यः सम्यग्वहतीति।

अथ कथं वृषलादिशब्देभ्यः प्रत्ययः, ते हि सदा निन्दावचनाः, तदभिधेयानां काकादिवन्निकृष्टत्वात्? अत आह—*प्रकृत्यर्थस्येति*। वैशिष्ट्यम्=परिपूर्णता, तस्मिन्सति प्रशंसा भवति। तथा च वृषलादिशब्दा अपि स्वार्थस्य पूर्णत्वे सति प्रशंसाविशिष्ट एवार्थे प्रवर्त्तन्त इति तेभ्योऽपि सिद्धः प्रत्यय इति भावः।

न्यासः

प्रशंसायां रूपप्॥ स्वार्थिकाश्चेत्यादि। प्रकृत्यर्थविशेषणं प्रशंसादि, तस्य द्योतकाः स्वार्थिका भवन्ति, न त्वर्थान्तरस्य वाचकाः।

---

१. अत्र 'मतुप्' इति मुद्रितपदमञ्जरीपाठोऽपपाठः।

प्रकृत्यर्थस्य वैशिष्टये प्रशंसा भवति। वृषलरूपोऽयं यः पलाण्डुना सुरां पिबति। चोररूपः। दस्युरूपः, योऽक्ष्णोरप्यञ्जनमपहरेत्।
'तिङश्च' इत्यनुवर्त्तते—पचतिरूपम्। पचतोरूपम्। क्रियाप्रधानमाख्यातम्।

पदमञ्जरी

वृषलरूप इति। यद्यप्ययं जातिवचनः, जातेश्च न्यूनत्वम् पूर्णत्वं वा न भवति; तथापि सहचरितधर्माल्पत्वं बहुत्वापेक्षं न्यूनत्वं पूर्णत्वं च द्रष्टव्यम्। यद्वा—गुणसमुदाये शब्दप्रवृत्तेः शब्दार्थस्यैवैतदुभयं भवति। *यः पलाण्डुनेति*। सहयोगे तृतीया। कश्चिद् वृषलः पलाण्डुं भक्षयति, कश्चित्सुरां पिबति, यस्तूभयं करोति तस्य परिपूर्णवृषलत्वम्। तथा चोरशब्दार्थस्यापि सुगुप्तवस्त्वपहरणेन परिपूर्णता भवति। *अक्ष्णोरप्यञ्जनं हरेदिति*। सम्भावने लिङ्, एवंविधमप्यस्य चौर्यं सम्भवतीत्यर्थः। अक्ष्णोरञ्जनं हरतु वा मा वा हार्षीत्। नन्वेवमपि यदा निन्दाप्रतिपादनाय वृषलरूप इत्यादि प्रयुज्यते तदा न सिद्ध्यति, निन्दैव हि तदा प्रकृत्यर्थस्य वैशिष्ट्याद्भवति, तस्मात्प्रशंसाग्रहणमपनीय वैशिष्ट्यग्रहणमेव कर्त्तव्यम्, यदाह—'सिद्धं तु प्रकृत्यर्थस्य वैशिष्ट्यवचनात्' इति। *वृत्तिकारस्तु* मन्यते—चोररूपोऽयमित्यादौ प्रशंसैव शब्दार्थः, निन्दाप्रतीतिस्तु वाक्यनिबन्धनेति। दृश्यते च प्रशंसापराणामपि निन्दापरत्वम्, यथा—राक्षस इति, पौरुषातिशयप्रशंसावचने प्रशंसा गम्यते, निर्घृणत्वप्रतिपादने तु निन्दा।

पचतोरूपम्, पचन्तिरूपमिति। नन्वत्र द्विवचनबहुवचनप्रसङ्गः, स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्त इति कृत्वा? तत्राह—*क्रियाप्रधानमाख्यातमिति*।

न्यासः

यदि प्रशंसायां वर्त्तमानाद्रूपब् विधीयते, निन्दायां वर्त्तमानान्न प्राप्नोति—वृषलरूपोऽयम्, चौररूपोऽयमिति। वृषलादयो हि शब्दाः सदा निन्दावचनाः, न कदाचित्प्रशंसायां वर्त्तन्ते, यथा–काकादयः शब्दाः? इत्यत आह–**प्रकृत्यर्थस्येत्यादि**। प्रकृत्यर्थस्य वैशिष्ट्यं परिपूर्णत्वम्, तस्मिन् सति प्रशंसा भवति। एवञ्च—यदा वृषलादिशब्दानामपि पदार्थस्य परिपूर्णता भवति, तदा ते प्रशंसायां वर्त्तन्ते इति तेभ्योऽपि प्रत्ययो भवति। पलाण्डुभक्षणेन सुरापाणेन च प्रकृत्यर्थस्य परिपूर्णतां दर्शयति। वृषलशब्दस्य हि शूद्रो वाच्यः। स यदा पलाण्ड्वादिकमपि साधुजनगर्हितमभ्यवहरति तदा परिपूर्णत्वं तस्य शूद्रत्वम्। शूद्रः = सर्वाशी, सर्वविक्रयीति। चौरशब्दार्थस्यापि सुगुप्तवस्त्वपहारेण परिपूर्णता भवति।

ननु च 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते' इति प्रकृत्यर्थस्य ये लिङ्गवचने ते स्वार्थिकप्रत्ययान्तस्यापि भवत इति भावः। ततश्च पचतोरूपम्, पचन्तिरूपमित्यत्र द्विवचनबहुचनाभ्यां भवितव्यम्? इत्यत आह—**क्रियाप्रधानमित्यादि**।

एका च क्रियेति रूपप्प्रत्ययान्ताद् द्विवचनबहुवचने न भवतः ।

पदमञ्जरी

यद्यप्याख्यातस्य क्रियासाधनपुरुषसंख्याकालोपग्रहरूपोऽनेकोऽर्थः, तथापि तेषु तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः । कथं ज्ञायते ? यत् क्रियां पृष्टस्तदन्तेनाचष्टे-देवदत्तः किं करोति ? पचतीति । ननु च द्रव्यमपि पृष्टस्तिङन्तेनाचष्टे, यथा—क एषु देवदत्तो यः पचतीति ? युक्तमत्र य इति हि पदान्तरेण द्रव्योपलक्षणाय गुणभावं क्रिया नीयते । अत एव केवलेनाख्यातेन प्रतिवचनाभावः, न हि भवति—को देवदत्तः, पचतीति । तस्मात् क्रियाप्रधानमाख्यातम्, तिङन्तोपात्तार्थापेक्षं च क्रियायाः प्राधान्यमुच्यते । व्रीहिनवहन्तीत्यादौ तु द्रव्यसंस्कारार्थत्वादवघातादेर्व्रीह्यपेक्षमप्राधान्यमस्त्येव ।

अपर आह—अत्राप्यवघातादेरेव शाब्दं प्रधान्यम्; साध्यत्वात् । न तु व्रीह्यादेः; साधनत्वात् । आर्थं तु तस्य प्रधान्यमिति ।

एका च क्रियेति । 'निवृत्तभेदा सर्वत्र क्रियाख्यातेषु गम्यते' । कथं तर्हि द्विवचनबहुवचने भवतः—पचतः, पचन्तीति ? नैते क्रियाभेदापेक्षे द्विवचनबहुवचने, किं तर्हि ? साधनभेदापेक्षे । अत एव भवद्भिरास्यते इत्यादौ केवलक्रियावचने द्विवचनबहुवचनाभावः । न च कर्तृभेदः क्रियाभेदेन व्याप्तः; एकफलोद्देशेन प्रवृत्तामेकामेव पाकव्यक्तिं बहुष्वपि कुर्वत्सु-भवन्तः पचन्ति, भवद्भिः पच्यत इति दर्शनात् । तस्मादाख्यातवाच्या क्रियैकेति सिद्धम् । तेन रूपप्प्रत्ययान्ताद् द्विवचनबहुवचने न भवतः ।

अथ यथा तिङन्ते साधनभेदाश्रये द्विचनबहुवचने भवतः, तथा रूपबन्तादपि कस्मान्न भवतः ? उक्तोत्तरमेतत्—क्रियाप्रधानमाख्यातमिति । स्वार्थिकस्य हि प्रकृतितो लिङ्गवचनप्राप्तिः, तत्र च क्रिया प्रधानभूता, सा चैका, ततश्च प्रधानभूतप्रकृत्यर्थानुरोधेन भवद्वचनमेकवचनमेव भवति । पचतिरूपमित्यादावपि कर्तुः संख्याऽभिधीयते । सुपा तु क्रियाया एकत्वम् । अथ वा—तिङोक्तत्वाद्रूपप्प्रत्ययान्ताद् द्विवचनबहुवचने न भविष्यतः । एकवचनं तु भविष्यति; तस्यौत्सर्गिकत्वात्—'एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते' इति । एतच्च तत्रतत्र व्याख्यातम् । यदि तर्हि क्रियाप्रधानमाख्यातम्, नपुंसकलिङ्गमपि रूपबन्तस्य न स्यात्, क्रियाया असत्त्वभूतत्वेन लिङ्गाभावात् ? अत आह—

न्यासः

आख्यातस्य यद्यपि क्रिया साधनञ्चोभयं वाच्यम्, तथापि तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः । यश्च प्रधानं प्रकृत्यर्थस्तस्यैव लिङ्गवचनं स्वार्थिकैरनुवर्तयितुं युक्तम् । क्रियाप्रधानमेकैव च क्रिया । तेन रूपप्प्रत्ययान्तादाख्याताद् द्विवचनबहुवचने न भवतः । नपुंसकलिङ्गमपि तर्हि न स्यात्, क्रियाया अलिङ्गत्वात् ? इत्यत आह—नपुंसकलिङ्गं

नपुंसकलिङ्गं तु भवति; लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ॥

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ॥ ६७ ॥

सम्पूर्णता=पदार्थानां समाप्तिः। स्तोकेनासम्पूर्णता=ईषदसमाप्तिः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। ईषदसमाप्तिविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानात् कल्पब्, देश्य, देशीयर्—इत्येते प्रत्यया भवन्ति। ईषदसमाप्तः पटुः पटुकल्पः। पटुदेश्यः। पटुदेशीयः। मृदुकल्पः। मृदुदेश्यः। मृदुदेशीयः।

तिङश्चेत्येव—पचतिकल्पम्। जल्पतिकल्पम् ॥

पदमञ्जरी

नपुंसकलिङ्गं त्विति। अथ तमबादेः रूपपश्च को विषयविभागः, यावताऽतिशायनमपि पूजानिन्दाविषयम्—पटुतमः, पापीयानिति; रूपप्प्रत्ययोऽप्युभयविषयः—पटुरूपः, चोररूप इति? उच्यते—अतिशायनं समानगुणप्रतियोग्यपेक्षम्, वैशिष्ट्यं तु तन्निरपेक्षमिति स्पष्ट एव विषयभेदः ॥

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ॥ सम्पूर्णतेति। प्रवृत्तिनिमित्तस्य पौष्कल्यमित्यर्थः। *पदार्थशब्देन* पर्यवसानभूमिर्विवक्षिता। *प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतदिति*। न प्रत्ययार्थः। यदि तथा स्याद्, गुडस्येषदसमाप्तिर्द्राक्षाया गुडकल्पा द्राक्षाया इति स्यात्, गुडकल्पा द्राक्षेति द्रव्येण सामानाधिकरण्यं न स्यात्, एकवचनमेव च स्यात्, इष्यते चाभिधेयवल्लिङ्गवचने स्यातामिति। तस्मात्प्रकृत्यर्थविशेषणम्। *स्वार्थ इति*। न च कुमारिकल्पेत्यत्राप्यनतिरिक्तं वय इति ङीपः प्रसङ्गः; न हि कल्पबन्तस्य वयःप्रवृत्तिनिमित्तम्, किं तर्हि? तद्गतेषदसमाप्तिः। *ईषदसमाप्तः पटुः पटुकल्पः, मृदुकल्प इति*।

ननु च योऽर्थ एतावानेवेति परिज्ञातः, तस्य समाप्तिर्वा भवत्यसमाप्तिर्वा, न च पाटवादिगुण एतावानिति निर्ज्ञातः, यावत्तावदपि हि पाटवं भवत्येव, तत् कथमस्येषदसमाप्तिः; एतेन जातिशब्दा व्याख्याताः, न हि तेऽक्तपरिमाणमर्थमाचक्षते? इदं तु युक्तमुदाहर्तुम्—कृतकल्पम्, भुक्तकल्पमिति। धात्वर्थो हि फलावच्छिन्नो व्यापारनिचयोऽक्तपरिमाणः। नन्वत्रापि भूते क्तः, फल-

न्यासः

त्वित्यादि। तत्रैव हेतुमाह—लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति। यदि तर्हि ह्येका क्रिया, पचतः, पचन्तीति द्विवचनबहुवचने न सिध्यतः? नैष दोषः; यद्यपि ह्येका क्रिया, साधनं ह्यनेकम्, अतस्तदाश्रये द्विवचनबहुवचने भविष्यतः। रूपप्प्रत्ययान्तात् तर्हि स्याताम्? तिङन्तेनोक्तत्वात् न भविष्यतः। एकवचनं तु भविष्यति; तस्यौत्सर्गिकत्वात्, 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इति वचनात् ॥

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ॥ ६८ ॥

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् सुबन्ताद्विभाषा बहुच् प्रत्ययो

पदमञ्जरी

निष्पत्तौ च धात्वर्थो भूतो भवति, भूतस्य च तस्य कुत ईषदसमाप्तिः ? यदा तर्हि क्रियैकदेशापवर्गाश्रयो भूते क्तः, तदोदाहरणम्—कृतकल्पं वस्त्रमिति । तथा च कृतादय एकदेशकरणाश्रया प्रयोगा दृश्यन्ते । यदा भविष्यत्कालाया ईषदसमाप्तायाः क्रियाया आशस्यमानत्वात् 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यति क्तप्रत्ययः, तदापि भवत्युदाहरणम् । एवम् 'ञीतः क्तः', 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्त्तमानविषयक्तान्तादपि युक्तः प्रत्ययः–पूजितकल्पम्, जातकल्पमिति । तथा तिङन्तमपि कालत्रयविषयं भवत्युदाहरणम्–पचतिकल्पम्, पक्ष्यतिकल्पम्, अपाक्षीत्कल्पमिति । गुणवचनं त्वयुक्तम् । तदपि युक्तम्, ननु चोक्तं यावत्तावदपि पाटवं भवत्येव नास्त्येषदसमाप्तिरिति ? नैतदस्ति; लोकत एव गुणस्यापीयत्ताया निर्ज्ञातत्वात् । लोके हि पटुरयमित्युच्यते, यो लघुनैवोपायेन साध्यार्थान्साधयति । यस्तु न तथा साधयति, किन्त्वीषदूनम्, स पटुकल्पः । तद्विपर्ययेण मृदु-मृदुकल्पौ व्याख्यातौ । जातिवचने कथं गुडकल्पा द्राक्षा, तैलकल्पा प्रसन्नेति ? उच्यते; गुडगतमाधुर्याश्रयेण द्राक्षायां गुडत्वारोपाद् गुडजात्यभावाच्च ईषदसमाप्तं गुडत्वं द्राक्षायाः । तथा गुडकल्पो गुड इत्यपि भवति । कथं पुनः स एवेषदसमाप्तः सम्भवति ? गुणहानेः—यावन्माधुर्यं गुडस्य प्रसिद्धम्, न तावत्पुराणत्वादिदोषोपहतस्य । तेनासावीषदसमाप्तो गुड इत्युच्यते ॥

विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्तु ॥ *ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानादिति* । ल्यब्लोप एषा पञ्चमी । एवम्भूतं सुबन्तं प्रकृतित्वेनाश्रित्येत्यर्थः । सूत्रे तु 'सुपः' इति 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति षष्ठी । *स च पुरस्तादेवेति* । एतेनानेकार्थत्वान्निपातानाम् 'तुशब्दोऽत्रधारणे वर्त्तते' इति दर्शयति । असति तु तुशब्दे प्रत्ययात् पूर्वत्वस्यापि विधेयतया प्राधान्याद्विभाषाग्रहणेन सम्बन्धः स्यादिति भावः ।

न्यासः

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ॥ विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् तु ॥ विभाषाग्रहणेनेह बहुच् सम्बध्यते, न पुरस्तादित्येतत्; तेन बहुचः पूर्वत्वं न विकल्प्यत इति नित्यमेव तद् भवति, अत एवाह–स तु पुरस्तादेवेति । एवकारेण तुशब्दस्यावधारणार्थतां दर्शयति । यदि पुनस्तुशब्दोऽवधारणार्थो न क्रियते, ततो न ज्ञायते–किं विभाषाग्रहणेन बहुच् सम्बध्यते, अथ पुरस्तादित्येतदिति ! तुशब्देन त्ववधारणार्थेन पुरस्तादित्येतस्मिन् नियमिते पारिशेष्याद् विभाषावचने बहुजेवाभिसम्बध्यत इति विज्ञायते ।

भवति । स तु पुरस्तादेव भवति, न परतः । चित्करणमन्तोदात्तार्थम् ।
ईषदसमाप्तः पटुः बहुपटुः । बहुमृदुः । बहुगुडो द्राक्षा ।

पदमञ्जरी

भाष्यकारस्तु मन्यते—'उदश्वितोऽन्यतरस्याम्' इत्यादौ यथा परत्वं न विकल्पते, तत्कस्य हेतोः ? प्रत्यय एव परत्वविशिष्टो विधीयते, तत्र विशेषणस्य गुणत्वाद्विकल्पेन न सम्बन्धः, गुणानां च परार्थत्वादिति न्यायात्; तद्वदिहापि विभाषाग्रहणेन बहुजेव सम्भन्त्स्यते, न पुरस्तादित्येतत् । तुशब्दस्य त्ववधारणार्थस्यान्यदेव प्रयोजनम्—पुरस्तादेव सर्वं भवतीति । तेन लिङ्गसंख्ये अपि प्राक्प्रत्ययोत्पत्तेः प्रकृत्यवस्थायां ये दृष्टे ते एव भवतः । प्रयोगश्च प्राक् प्रकृतेर्भवतीति । तेन बहुगुडो द्राक्षा, लघुर्बहुतृणं नर इति प्रकृतिवल्लिङ्गं भवति, नाभिधेयवत् । एवं च बहुगुडेति स्त्रीलिङ्गपाठः प्रमादजो द्रष्टव्यः; इतरथा भाष्यविरोधात् । ननु च स्वार्थिकत्वादेव प्रकृतितो लिङ्गवचने भविष्यतः, एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—ईषदसमाप्तौ ये स्वार्थिकास्तेष्वभिधेयवदेव लिङ्गवचने भवत इति । तेन गुडकल्पा द्राक्षा, तैलकल्पा प्रसन्नेति सिद्धं भवति ।

चित्करणमन्तोदात्तार्थमिति । तच्चान्तोदात्तत्वं सप्रकृतेः समुदायस्य भवति, न बहुचः; चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थमिति वचनात् । यद्येवम्, बहुपटव इति

न्यासः

चित्करणमन्तोदात्तार्थमिति । कस्य पुनरन्तोदात्तत्वं चित्करणाद् भवति ? सप्रकृतेः समुदायस्य; 'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इति वचनात् । यद्येवम्, पटव इति सुबन्तादुत्पत्तौ जस उदात्तत्वं प्राप्नोति ? नैष दोषः; बहुच्युत्पन्ने सति 'अर्थवत्० प्रातिपदिकम्' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां कृतायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुक् तावत् क्रियते, तस्मिन् कृते पश्चादुदात्तत्वं क्रियमाणं पटुशब्दे य उकारस्तस्य भवति । यस्तु पुनः प्रातिपदिकसंज्ञायां कृतायां सुब्लुकि च कृते अन्यो जस् उत्पद्यते, तस्योदात्तत्वं नाशङ्कनीयम्, न ह्यसौ प्रकृत्येकदेशः । ननु चार्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थमिति बहुच्पूर्वस्य प्रातिपदिकसंज्ञया न भवितव्यम् ? नैष दोषः; तुल्यजातीयस्य नियमः । कश्च तुल्यजातीयः ? यथाजातीयकानां समासः । कथञ्जातीयकानां समासः ? भेदसंसर्गवताम् । भेदसंसर्गौ च पृथगर्थानामेव भवतः । द्योतकानाञ्च पृथगर्थवत्ता न सम्भवति । अथ कस्मात् सुब्लुक् तावत् क्रियते, पश्चादन्तोदात्तत्वम्, यावता परत्वादन्तोदात्तत्वेनैव पूर्वं युक्तं भवितुम् ? नैतदस्ति; नित्यो हि लुक्, कृताकृतप्रसङ्गित्वात् । स हि कृतेऽप्यन्तोदात्तत्वे प्राप्नोति, अकृतेऽपि; अन्तोदात्तत्वं त्वन्यस्य लुकि कृते प्राप्नोति । अन्यस्याकृते शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति, तस्माल्लुगेव तावत् क्रियते ।

बहुगुडो द्राक्षेति । कथं पुनरत्रेषदसमाप्तिः, यावता गुडशब्देन गुडजातिरुच्यते,

विभाषावचनात् कल्पबादयोऽपि भवन्ति ।

पदमञ्जरी

सुबन्तस्य पुरस्तादुत्पत्तौ जस उदात्तत्वं प्राप्नोति ? स्यादेवम्, यदि प्रागुत्पन्नो जसवतिष्ठेत; इह तु बहुच्युत्पन्ने समुदायस्येषदसमाप्तिलक्षणेनार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकत्वे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुकि पुनरपरो जसुत्पद्यते, तस्य च प्रकृत्यनेकदेशत्वान्नोदात्तत्वम् । ननु समासग्रहणस्य नियमार्थत्वात्प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न प्राप्नोति ? ज्ञापकात्सिद्धम्, यदयमप्रत्ययइति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयति—भवति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा, न तु समासग्रहणेन व्यावृत्तिरिति ।

विभाषावचनादित्यादि । अन्यथा तिङन्तेषु सावकाशाः कल्पबादयः सुबन्ते विशेषविहितेन बहुचा देशभेदेऽपि समानार्थेन बाध्येरन् ।

न्यासः

तदाधारो वा द्रव्यम् । तत्र जातिस्तावदेका, निरवयवा चेति सर्वस्मिन्नाश्रये समाप्ता, द्रव्यमपि यत् तया सम्बद्धं तत् सर्वतः पूर्णत्वात् समाप्तमेव । तस्मादीषदसमाप्तिरयुक्तमिह विशेषणम्, असम्भवात् ? सामानाधिकरण्यं च बहुगुडा द्राक्षेति द्राक्षाशब्देन न प्राप्नोति, तस्यार्थान्तरत्वात् ? स्त्रीलिङ्गमपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति नोपपद्यते ? नैष दोषः; इह शब्दादुच्चारिताद् द्वयं प्रतीयते—शब्दोऽर्थः, जातिर्द्रव्यञ्च; अभिधेयसम्बन्धेनाशब्दार्थभूता अपि गुणाः, यत्रैतदुभयमस्ति तत्र समाप्तिः ! यत्र त्वन्यतरन्नास्ति तत्रेह गुडशब्दो गुडजातिहीने माधुर्य्यादिगुणहीने वा द्रव्ये वर्तत इत्युपपद्यत ईषदसमाप्तिः । समानाधिकरण्यमप्युपपद्यत एव । कथम् ? यदा तावज्जातिहीने केनचित् साधर्म्येण द्राक्षाशब्दाभिधेये वर्त्तित्वा गुडशब्दः प्रत्ययमुत्पादयति, तदा द्राक्षाशब्देन समानाधिकरण्यं भवति; उभयोरेकार्थवृत्तित्वात् । यदा तु गुणहीने गुडजातीय एव, तदापि सामानाधिकरण्यम्, गौर्वाहीक इति यथा । तथा भविष्यति गुणहीनोऽपि गुडशब्दः । गुडो बहुगुडशब्देनोच्यते, तेन च तुल्या द्राक्षेति सापि बहुगुडशब्देनाभिधायिष्यते । स्त्रीलिङ्गमपि चोपपद्यते; तस्य लोकाश्रयत्वात् । अपि च स्वार्थिकाः प्रकृतेर्लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्त इति प्रायिकमेतत् । तेन कदाचिदतिवर्तन्तेऽपि, यथा—कुटीरः, शमीर इति । 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इति स्वार्थिकश्च ।

विभाषावचनादित्यादिना विभाषाग्रहणस्य प्रयोजनमाचष्टे । असति हि विभाषाग्रहणे तिङन्तेषु कृतावकाशाः कल्पबादयो बहुचा सुबन्ताद् विशेषविहितेन बाध्येरन्, तस्मिंस्तु सति पक्षे तेऽपि भवन्ति । ननु च भिन्नदेशेन बहुचा नास्ति तेषां विरोधः, तत् कुतो बाधा ? असत्यां वा बाधायां कृतेऽपि बहुचि तैर्भवितव्यमेव, परदेशस्यानवष्टब्धत्वात् ? नैतदस्ति; न ह्यवश्यं देशकृत एव सामान्यविशेषयोर्विरोधो भवति, किं

सुब्ग्रहणम्—तिङन्तान्मा भूदिति ॥

प्रकारवचने जातीयर् ॥ ६९ ॥

सामान्यस्य भेदको विशेषः=प्रकारः, तस्य वचने। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत्। सुबन्तात्प्रकारविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे जातीयर् प्रत्ययो भवति। प्रकारवति चायं प्रत्ययः। थाल्पुनः

पदमञ्जरी

सुब्ग्रहणमित्यादि। अन्यथा 'तिङश्च' इत्यधिकारात्कल्पबादिवद्बहुजपि तिङन्तस्यापि पुरस्तात्स्यात्। प्रातिपदिकनिवृत्त्यर्थं तु सुब्ग्रहणं न भवति; विशेषाभावात्। ननु चायमस्ति विशेषः—बहुसेचौः, बहुसेचः, सुबन्तादुत्पत्तौ सत्याम् 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधः सिद्ध्यति, प्रातिपदिकात्तूत्पत्तौ षत्वप्रसङ्गः? नैष दोषः, सुबन्तादप्युत्पत्ताववश्यमत्र कुत्वनिषेधार्थो यत्नः कर्त्तव्यः, स एव प्रातिपदिकादुत्पत्तौ षत्वनिषेधार्थः करिष्यते। स च 'न लुमताङ्गस्य' इत्यत्रैव दर्शितः। इह तरप्तमपोरवकाशः प्रकर्षस्य वचनमीषदसमाप्तेरवचनम्—पटुतरः, पटुतमः, कल्पबादीनामवकाश ईषदसमाप्तेर्वचनं प्रकर्षस्यावचनम्—पटुकल्पः, मृदुकल्पः; उभयवचनादुभयप्रसङ्गे परत्वात्कल्पबादिषु कृतेषु प्रकर्षद्योतनाय पुनःप्रसङ्गविज्ञानात्तदन्तात्तरप्तमपौ भवतः—पटुकल्पतरः, मृदुकल्पतर इति। यदि तदन्ताद्भवन्तौ यत्प्रधानस्तदन्तस्तत्प्रकर्षे प्राप्नुतः, किंप्रधानश्च तदन्तः? ईषदसमाप्तिप्रधानः, प्रकृत्यर्थप्रकर्षे चेष्यते? नैष दोषः, नेषदसमाप्तेः प्रकर्षः सम्भवति, न हीषदर्थस्यासमाप्तेर्वा प्रकर्षे ईषदसमाप्तिर्भवति ॥

प्रकारवचने जातीयर् ॥ *तस्य वचन इति*। वचनम्=द्योतनम्। *सुबन्तादिति*। अत्रापि तिङ्निवृत्त्यर्थम् 'सुपः' इत्यनुवर्त्तत इति दर्शयति। *प्रकारवति चायमिति*।

न्यासः

तर्हि ? अर्थकृतोऽपि। बहुचश्च कल्पबादिभिः समानोऽर्थ इति बहुचा द्योतितत्वात् तस्यार्थस्य कल्पबादयो न भविष्यन्ति। न हि द्योतिते पुनर्द्योतनमस्ति, यथाभिहिते नाभिधातव्यम्।

अथ सुब्ग्रहणं किमर्थम्, यावता प्रातिपदिकग्रहणमनुवर्तते, न च प्रातिपदिकात् सुबन्ताद्वा बहुच उत्पत्तौ कश्चिद् विशेषोऽस्ति ? अत आह–सुब्ग्रहणमित्यादि। असति हि सुब्ग्रहणे 'तिङश्च' इति प्रकृतत्वात् ततो हि प्रत्ययः स्यात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थं सुब्ग्रहणम् ॥

प्रकारवचने जातीयर् ॥ **तस्य वचन इति**। उक्तौ, द्योतन इत्यर्थः। **प्रकारवति चायमित्यादिना** *थाल्*-जातीयरोर्विषयभेदं दर्शयति। विषयभेदे सति विशेषविहितेनापि

प्रकारमात्र एव भवति। पटुप्रकारः पटुजातीयः। मृदुजातीयः। दर्शनीयजातीयः ॥

प्रागिवात्कः ॥ ७० ॥

'इवे प्रतिकृतौ' इति वक्ष्यति, प्रागेतस्मादिवसंशब्दनाद् यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, कप्रत्ययस्तेष्वधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति— 'अज्ञाते इति—अश्वकः। गर्दभकः'।

तिङन्तादयं प्रत्ययो नेष्यते। अकजिष्यते।

'तिङश्च' इत्यनुवृत्तमुत्तरसूत्रेणैव सम्बन्धनीयम् ॥

अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक् टेः ॥ ७१ ॥

पदमञ्जरी

तेन विषयभेदाद्विशेषविहितेनापि थाला जातीयरो बाधा न भवति, थालन्ताच्च जातीयर् सिद्धो भवतीति भावः। स्वभावश्चात्र हेतुः ॥

प्रागिवात्कः ॥ तिङन्तादयं प्रत्ययो नेष्यत इति। तदर्थमत्र 'सुपः' इत्येव सम्बन्धनीयमिति भावः।

अकजिष्यत इति। तदर्थं तत्र 'सुपः', 'तिङश्च'—इत्युभयमपि सम्बन्धनीयमिति भावः।

कथं पुनरनुवर्तमानं शक्यमसम्बन्धुम्? तत्राह—*तिङश्चेत्यनुवृत्तमिति*। अत्र च व्याख्यानमेव शरणम्। इह 'प्राक्कुत्स्याः' इति वक्तव्यम्, न हि 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इत्यारभ्यास्योपयोगः; प्रत्ययान्तरैरवष्टब्धत्वात्? उत्तरार्थं त्वियतोऽवधेर्ग्रहणम्, 'वा बहूनाम्' इत्यत्र हि वावचनमकजर्थम्। एवमपि प्राक्कन इति वक्तव्यम् 'अवक्षेपणे कन्' इत्ययमवधिः। कुतो नु खल्वेतद्? अयमेव कनवधिः, न पुनर्ह्रस्वे, 'संज्ञायां कन्' 'कुत्सिते संज्ञायां कन्' इत्येतयोरन्यतरोऽवधिः स्यात् ॥

न्यासः

थाला जातीयरो बाधनं न भवति। थाल्प्रत्ययान्तात् जातीयर् सिद्धो भवति—कथञ्जातीय इति ॥

प्रागिवात् कः ॥ तिङन्तादयं प्रत्ययो नेष्यते। अकजिष्यत इति। कथं पुनरेतयोर्भावाभावौ लभ्यते? इत्याह—तिङश्चेत्यनुवृत्तमित्यादि। उत्तरत्रैवेत्यवधारणेन त्विहानुवृत्तमपि कप्रत्ययेन सम्बन्धनीयमिति दर्शयति। तच्च पूर्वसूत्राद्वचनग्रहणेऽप्यनुवर्त्तमानेयत उत्पद्यमानेन प्रत्ययेनाज्ञातादेरर्थस्य वचनं भवति, तत्रैव तेन भवितव्यम्। न च तिङन्तादुत्पद्यमानेनापि कप्रत्येन सोऽर्थः शक्यते द्योतयितुम्, अकचा तु शक्यते। तस्मात् 'तिङश्च' इत्येतदनुवृत्तमुत्तरसूत्रेणाकचा सम्बन्धनीयम्, नेह कप्रत्ययेन। प्राग्ग्रहणमपिद्योतनार्थम्, इवग्रहणमवध्यर्थम्; अन्यथाधिकारपरिमाणं न ज्ञायते ॥

'तिङश्च' इत्येव। अव्ययानां सर्वनाम्नां च प्रागिवीयेष्वर्थेष्व-कच्प्रत्ययो भवति, स च प्राक् टेः, न परतः। कस्यापवादः। उच्चकैः। नीचकैः। शनकैः। सर्वनाम्नः खल्वपि—सर्वके। विश्वके। उभयके।

'प्रातिपदिकात्', 'सुपः'—इति द्वयमिहानुवर्तते, तत्राभिधानतो व्यवस्था भवति—क्वचित्प्रातिपदिकस्य टेः प्राक् प्रत्ययो भवति, क्वचित्सुबन्तस्य टेः प्राक्प्रत्ययः। युस्मकाभिः, अस्मकाभिः, युष्मकासु, अस्मकासु, युवकयोः, आवकयोः—इत्यत्र प्रातिपदिकस्य। त्वयका, मयका, त्वयकि, मयकि—इत्यत्र सुबन्तस्य।

पदमञ्जरी

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः॥ कस्यापवाद इति। ननु च विरोधे सति बाध्यबाधकभावो भवति, काकचोश्च देशभेदान्नास्ति विरोधः, तत्कथं तस्यापवादः? नावश्यं देशकृत एव विरोधः, किं तर्हि? अर्थकृतोऽपि। काकचोश्च प्रयोजनमेकम्—अज्ञाताद्यर्थद्योतनं नाम, तस्मिन्नकचा कृते प्रयोजनाभावात्को न भविष्यति। *सर्वके इति।* अकचस्तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् 'जसः शी' भवति, के तु सति न स्यात्।

द्वयमपीहानुवर्त्तत इति। यद्येवम्, सर्वत्र सुबन्तस्य प्रातिपदिकस्य च प्राक् टेः प्रत्ययप्रसङ्गः? तत्राह—*तत्रेति। क्वचित्प्रातिपदिकस्येति।* ओकारसकारभकारादौ विभक्तौ। *क्वचित्सुबन्तस्येति।* उक्तादन्यत्र विभक्तौ। *त्वयकीति।* अकचो द्वितीयोऽकार उच्चारणार्थः। चित्करणं तु समुदायस्यान्तोदात्तार्थम्; 'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इति वचनात्। इदमेव चित्करणं लिङ्गम्—सप्रकृतेश्चितोऽन्तोदात्तत्वम्, न चिन्मात्रस्येति।

न्यासः

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः॥ कस्यापवाद इति। ननु च भिन्नदेशत्वात् काकचोर्विरोधो नास्ति, न चासति विरोधे बाध्यबाधकभावः, ततः कथं कस्यापवादः? नैष दोषः; नैवावश्यं देशकृत एव विरोधो भवति, अपि त्वर्थकृतोऽपीत्युक्तम्—'अकच्प्रत्ययेन समानोऽर्थः' इति। अकचा द्योतितत्वात् तस्यार्थस्य कप्रत्ययो न भविष्यति।

यद्यत्र प्रातिपदिकादित्यनुवृतेः प्रातिपदिकस्य प्राक् टेरकज् विधीयते, त्वयका मयकेत्यादि न सिध्यति? अथ सुप इति प्राक् टेर्विधीयेत, एवमपि युष्मकाभिरिति न सिध्यति? इत्यत आह—प्रातिपदिकात्सुप इति। द्वयमपीत्यादि। ननु च द्वयानुवृत्तावपि क्वचित् सुबन्तस्यैव प्राक्टेर्भवति, क्वचित् प्रातिपदिकस्य—इत्येषा व्यवस्था न लभ्यते? इत्याह—तत्रेत्यादि। वचनग्रहणं व्यवस्थार्थमिहानुवर्तते। तेन यत्र प्रातिपदिकस्य प्राक् टेरुत्पद्यमानेनार्थद्योतनं शक्यते कर्तुम्, तत्र प्रातिपदिकस्य प्राक् टेर्भवति; यत्र सुबन्तादुत्पन्नेनार्थद्योतनं शक्यं सम्पादयितुम्, तत्र सुबन्तस्यैव।

❀ अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम् प्रत्ययो वक्तव्यः ❀। स च मित्त्वादन्त्यादचः परो भवति। तूष्णीकामास्ते। तूष्णीकां तिष्ठति।

❀ शीले को मलोपश्च वक्तव्यः ❀। तूष्णींशीलः तूष्णीकः।

'तिङश्च' इति प्रकृतमत्र सम्बध्यते—पचतकि। जल्पतकि॥

कस्य च दः॥ ७२॥

ककारान्तस्य प्रातिपदिकस्याकच्सन्नियोगेन दकारादेशो भवति। चकारः सन्नियोगार्थः। सामर्थ्याच्चाव्ययग्रहणमनुवर्तते, न सर्वनामग्रहणम्; ककारान्तस्य सर्वनाम्नोऽसम्भवात्। धिक्—धकित्। हिरुक्—हिरकुत्। पृथक्—पृथकत्॥

अज्ञाते॥ ७३॥

पदमञ्जरी

तूष्णीमः कामिति। यथासम्भवमज्ञातादिष्वर्थेषु। मकारो देशविध्यर्थः। अन्त्यादचः परः काम् भवति। अज्ञाताद्यर्थाविवक्षायां तूष्णीमित्येव भवति।

शीले क इति। शीलम्=स्वभावः, नियमश्च। अज्ञाताद्यपवादः। शीलं तूष्णीं स्वभावाच्च तद्वान् तूष्णीक इत्युच्यते, न तच्छीलमात्रम्॥

कस्य च दः॥ *न सर्वनामग्रहणमिति*। तिङ्ग्रहणं चेति द्रष्टव्यम्; हेतोस्तुल्यत्वात्। अधोक्, अवक् इत्यादावसिद्धं कुत्वम्। शक्नोतिप्रभृतेर्यङ्लुकि लटि तिपीडभावे हल्ङ्यादिलोपे अशाशगित्यादौ छान्दसो यङो लुक्, छन्दसि च दृष्टानुविधानम्। *धिगिति*। ककारान्तत्वमव्ययस्य दर्शयति॥

न्यासः

अकचश्चित्करणमन्तोदात्तार्थम्। तद्धि षप्रकृतेः समुदायस्य। तथा च वक्ष्यति—'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इति।

तूष्णीमः काम् प्रत्ययो वक्तव्य इति। यथासम्भवं कुत्सादिष्वर्थेषु। चकारो देशविध्यर्थः।

शीले को मलोपश्चेति। शीलमिति न स्वभाव एवोच्यते, किं तर्हि? नियमोऽपि। तथा हि—शीलवान् भिक्षुरित्यभिधीयते, यः सम्यङ् नियममनुपालयतीति। तेन योऽपि नियमपरतया वाचं नियमयति सोऽपि तूष्णीक उच्यते॥

कस्य च दः॥ अकच्सन्नियोगेनेत्यादि। कथं पुनरकच्सन्नियोगेनेत्येष विशेषो लभ्यते, यावता न सूत्रे तदुक्तम्? इत्याह—चकार इत्यादि। चकारस्यैतदेव प्रयोजनम्—अकच्सन्नियोगेन ककारस्य दकारो यथा स्यादिति भावः॥

अज्ञातविशेषः=अज्ञातः । अज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात्प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेणाज्ञाते प्रत्ययविधानमेतत् । कस्यायमश्व इति स्वस्वामिसम्बन्धेनाज्ञातेऽश्वे प्रत्ययः–अश्वकः । गर्दभकः । उष्ट्रकः ।

एवमन्यत्रापि यथायोगमज्ञातता विज्ञेया । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वके । विश्वके । पचतकि । जल्पतकि ॥

कुत्सिते ॥ ७४ ॥

कुत्सितः=गर्हितः, निन्दितः । प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत् । कुत्सित-

पदमञ्जरी

अज्ञाते ॥ अज्ञात इति सामान्येनोच्यते, न च सर्वथाऽविज्ञाते शब्दप्रयोगे एव सम्भवति, न खल्वश्व इत्यजानन्नश्वशब्दं प्रयोक्तुमर्हति, तस्माद्विशेषस्य ग्रहणमित्याह—*अज्ञातविशेषो ज्ञात इति* । विशेषमेव दर्शयति—*स्वेन रूपेणेति* । विशेषरूपेणेति अस्य विवरणम्–*कस्यायमश्व इत्यादि* । इहाज्ञातः प्रकृष्टः पटुरित्यर्थद्वयविवक्षायां परत्वादनेन के कृते तमबपि प्राप्नोति, तत्र पूर्वविप्रतिषेधेन तमपि कृते पश्चात्कः—पटुतमक इति भवति । इह च कुत्सितमर्द्धपिप्पल्या इति विवक्षायाम् पूर्वं समासः, पश्चात्कः—अर्द्धपिप्पलीकेति भवति । एतेन कल्पबादयो व्याख्याताः । आह च—'कविधेस्तमवादयः पूर्वविप्रतिषिद्धम् एकदेशिप्रधानश्च समासः' इति । इह तु छिन्नकतरमिति–'अनत्यन्तगतौ क्तात्' इति परत्वात्कनि कृते तरब् भवति । कदाचिद् द्वन्द्वः—प्लक्षन्यग्रोधकौ, प्लक्षकन्यग्रोधकौ इति वा ॥

कुत्सिते ॥ *प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतदिति* । प्रकृत्यर्थस्यैतद्विशेषणम् , न तूपलक्षणमित्यर्थः । उपलक्षणत्वे हि यः कुत्सितस्तत्र वर्त्तमानादिति विज्ञायमाने इदं घृतकम् , इदं तैलकमित्यत्रेदंशब्दादपि प्राप्नोति । विशेषणत्वे त्वङ्गीकृतकुत्सात्प्रत्ययः, न त्वनुपात्तकुत्सात् ; कुत्सितसमानाधिकरणात् । प्रत्ययार्थत्वे तु 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इति प्रकृत्यर्थस्य विशेषणत्वं कुत्सितस्य विशेष्यत्वं प्राप्नोति, विपर्ययश्च लोके गम्यते । तस्मात्प्रकृत्यर्थविशेषण-

न्यासः

अज्ञाते ॥ अज्ञातविशेषोऽज्ञात इति । यदि यस्यात्यन्तमज्ञानं सोऽज्ञातः स्यात्, एवं सति सर्वथा वस्तुविज्ञानाभावे प्रकृतिरेव न स्यात्, न हि सर्वथाऽविज्ञातोऽर्थः प्रयोगमर्हति; तस्मात् स्वेन रूपेण ज्ञातस्य यस्य धर्मान्तरत्वमज्ञातं स इहाज्ञातोऽभिमत इति ज्ञायते—अविज्ञातविशेषोऽज्ञात इति । अस्यैवार्थं विस्पष्टीकर्तुमाह–स्वेनेत्यादि । स्वरूपमश्वत्वादि, विशेषरूपं स्वस्वामिसम्बन्धादि ॥

त्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । कुत्सितोऽश्वः अश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः । नोचकैः । सर्वके । विश्वके । पचतकि । जल्पतकि ॥

संज्ञायां कन् ॥ ७५ ॥

'कुत्सिते' इत्येव । कुत्सितत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति, प्रत्ययान्तेन चेत्संज्ञा गम्यते । कस्यापवादः । शूद्रकः । धारकः । पूर्णकः ।

अनुकम्पायाम् ॥ ७६ ॥

कारुण्येनाभ्युपपत्तिः परस्य=अनुकम्पा, तस्यां गम्यमानायां सुबन्तात्तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति । पुत्रकः । वत्सकः ।

पदमञ्जरी

मिति सुष्ठूक्तम् । *अश्वक इति* । योऽश्व एव सन् तत्साध्यां क्रियां सुष्ठु न करोति स एवमुच्यते । स्वार्थिकेषु हि यत्र प्रवृत्तिनिमित्तस्य विशेषणासम्भवः, तत्राभिधेयसहचरितधर्मान्तराश्रयः प्रत्ययो भवतीत्युक्तम् । एवं च देवदत्तकः, डित्थक इत्यपि भवति यस्तत्साध्यमर्थं सम्यङ् नानुतिष्ठति । सम्भवे त्विहापि शब्दोपात्तधर्माश्रयैव कुत्सा, तद्यथा—पटुकः पण्डितक इति स्वार्थे कुत्सा; 'प्राप्य गाण्डीवधन्वानं विद्धि कौरवकान् स्त्रियः' इति लिङ्गकुत्सा, कौरवकानिति किमेतेऽर्जुनसंनिधौ पुमांस इत्यर्थः; क्वचित्सङ्ख्याकुत्सा, यथा—इदमेकमेव शतकमिति, शतभरणे यद्दुःखं तदेकस्यैव भरण इति शतत्वरूपेण कुत्सा । सर्वथाङ्गीकृतकुत्सात्प्रत्ययः । अथेह कथं प्रत्ययः—कुत्सितक इति ? कथञ्च न स्यात् ? स्वशब्देनोपात्तत्वात् कुत्सायाः ? अनुकम्पादावर्थान्तरे भविष्यति । अथ वा—कुत्सितस्य यत्कुत्सनं तत्र प्रत्ययः । कुत्सितत्वं यदा कुत्स्यते—नास्य सम्यक्कुत्सितत्वमिति, तदेत्यर्थः । यथा—प्रकर्षस्य प्रकर्षे प्रकृष्टतम इति तमप्प्रत्ययो भवति तद्वदत्रापि । एतेनानुकम्पितशब्दादनुकम्पायां प्रत्ययो व्याख्यातः ॥

अनुकम्पायाम् ॥ *कारुण्येनेति* । करुणैव कारुण्यम् । *अभ्युपपत्तिरिति* । अनुग्रहः, उपकार इति यावत् । परस्येति कर्मणि षष्ठी । *तस्यां गम्यमानायामिति* । अनेन—प्रयोक्तृधर्मोऽनुकम्पा आबाधवद्, न तु प्रशंसादिवत्प्रकृत्यर्थविशेषणमिति दर्शयति । अन्ये तु प्रकृत्यर्थविशेषणमेव मन्यन्ते, तथा चाजिनान्तस्येत्यादिषु विग्रहं दर्शयिष्यन्ति—'अनुकम्पितो व्याघ्राजिनः, अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः, अनुक-

न्यासः

कुत्सिते ॥ संज्ञायां कन् ॥ अनुकम्पायाम् ॥ कारुण्येनेत्यादि । अभ्युपपत्तिरनुग्रह

दुर्बलकः । बुभुक्षितकः[1] । स्वपितकि । श्वसितकि ॥

नीतौ च तद्युक्तात् ॥ ७७ ॥

सामदानादिरुपायः=नीतिः । नीतौ च गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ताद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति । हन्त ते धानकाः । हन्त ते तिलकाः । एहकि । अद्धकि । अनुकम्प्यमानो दानेनाराधयति ।

पूर्वेण प्रत्यासन्नानुकम्पासम्बन्धाद् अनुकम्प्यमानादेव प्रत्ययो विहितः; सम्प्रति व्यवहितादपि यथा स्यादिति वचनम् ॥

पदमञ्जरी

म्पितः शेवलदत्तः' इति, न च प्रयोक्तृधर्मस्य विग्रहे दर्शनमस्ति । *स्वपितकि, श्वसितकीति* । अदादित्वाच्छपो लुक्, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीट् ॥

नीतौ च तद्युक्तात् ॥ *सामदानादिरिति* । आदिशब्देन भेददण्डयोर्ग्रहणम्, यद्यनुकम्पायां तौ सम्भवतः । असम्भवेऽपि नीतिस्वरूपप्रदर्शनपरं द्रष्टव्यम् । *एहकीति* । आङ्पूर्वादिणो लोट्, सिपो हिः । *पूर्वेणेत्यादि* । अनुकम्पायां हि विधीयमानः प्रत्ययः प्रत्यासत्तेरनुकम्प्यमानादेव युक्तो विधातुम्, तस्य हि अनुकम्पासम्बन्धः प्रत्यासन्नस्तद्विषयत्वादनुकम्पायाः । तेन व्यवहितान्नीत्युपायाद्धानादेर्न स्याद्; अतद्विषयत्वादनुकम्पायाः । *धाना*-शब्दः स्त्रीलिङ्गः, ततः के विहिते 'केऽणः' इति ह्रस्वत्वे च स्वार्थिकानां प्रकृतिवल्लिङ्गं भवतीति कप्रत्ययान्तादापि कृते 'प्रत्ययस्थात्' इतीत्वेन भवितव्यम् । प्रायेण तु *हन्त ते धानका* पठ्यते, तत्र लिङ्गातिवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥

न्यासः

एव । **स्वपितकि, श्वसितकीति** । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इट्, अदादित्वाच्छपो लुक् ॥

नीतौ च तद्युक्तात् ॥ **सामदानादिरुपायो नीतिरिति** । आदिशब्देन भेददण्डयोर्ग्रहणम्, तौ त्वनुकम्पायां न सम्भवत इति सामदानादिकैव नीतिर्गृह्यते । **एहकीति** । इण आङ्पूर्वाल्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनस्य 'सेर्ह्यपिच्च' इति हिरादेशः । ननु पूर्वेणैवात्रापि प्रत्ययः सिद्धः, अत्राप्यनुकम्पा गम्यत एव, तत् किमर्थम्? इत्याह—**पूर्वेणेत्यादि** । प्रत्यासन्नोऽनुकम्पासम्बन्धो यस्यानुकम्प्यमानस्य स तथोक्तः । प्रत्यासन्नत्वं तु सम्बन्धस्यानुकम्प्यमानं प्रति; तदाश्रयत्वादनुकम्पायां विधीयमानः प्रत्यासत्तेर्यस्यानुकम्पया प्रत्यासन्नः सम्बन्धस्ततः एव युक्तो विधातुमिति पूर्वेणानुकम्प्यमानादेव प्रत्ययो विहितः, न तु व्यवहितात् पुनर्धानादेः । अतः सम्प्रति ततोऽपि यथा स्यादित्येवमर्थमिदम् । **व्यवहितादिति** । विप्रकृष्टादित्यर्थः । विप्रकृष्टत्वमतदाश्रयत्वादनुकम्पायाः । न हि तस्यां धानादिराश्रयः, किं तर्हि? अनुकम्प्यमानो देवदत्तादिः ॥

1. **'स्वरितकः'–इत्यधिकं पुस्तकान्तरे ।**

बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ॥ ७८ ॥

'अनुकम्पायाम्' इति, 'नीतौ च तद्युक्तात्' इति च वर्त्तते। बह्वचः प्रातिपदिकान्मनुष्यनामधेयाद्वा ठच्प्रत्ययो भवति अनुकम्पायां गम्यमानायां नीतौ च, देविकः। देवदत्तकः। यज्ञिकः, यज्ञदत्तकः।

बह्वच इति किम्? दत्तकः। गुप्तकः। मनुष्यनाम्न इति किम्? मद्रबाहुकः। भद्रबाहुकः॥

घनिलचौ च ॥ ७९ ॥

'अनुकम्पायाम्' इत्यादि सर्वमनुवर्तते। पूर्वेण ठचि विकल्पेन प्राप्ते वचनम्। बह्वचो मनुष्यनाम्नो घन्, इलच्—इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। चकाराद्यथाप्राप्तं च। देवियः, देविलः, देविकः, देवदत्तकः। यज्ञियः, यज्ञिलः, यज्ञिकः, यज्ञदत्तकः॥

प्राचामुपादेरडज्वुचौ च ॥ ८० ॥

पदमञ्जरी

बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ॥ प्रकरणमपेक्ष्यते, न त्वनन्तरमित्याह—*अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तत इति*। *मद्रबाहुक इति*। नामग्रहणस्येदं प्रत्युदाहरणम्। यौगिकोऽयम्—मद्रौ बाहू यस्येति। मनुष्यग्रहणस्य तु स्तम्बेरमादिः प्रत्युदाहरणम्। अपर आह—मद्रबाहुरिति चतुष्पाज्जातिविशेषो मनुष्यग्रहणस्य प्रत्युदाहरणम्, नामग्रहणस्य त्वौपगवादिः प्रत्युदाहरणमिति॥

घनिलचौ च ॥ *चकाराद्यथाप्राप्तं चेति*। ननु च ठच् पूर्वेण विहितः, वावचनात् कोऽपि, कात्र चकारेणाभ्यनुज्ञा? इति चिन्त्यम्। योगविभागोऽपि चिन्त्यप्रयोजनः॥

न्यासः

बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ॥ देविक इति। यज्ञिक इति। 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' इति दत्तशब्दस्य लोपे कृते 'यस्येति च' इत्यकारलोपः।

प्रत्युदाहरणे सर्वत्र क एव वेदितव्यः। मद्रबाहुक इति। मद्रौ बाहू यस्य स मद्रबाहुः। नेदं मनुष्यनाम, किं तर्हि? विशेषणम्।

मनुष्यग्रहणं किमर्थम्? देवहस्तको हस्तीत्यत्र मा भूत्। नामग्रहणं किमर्थम्? मृगकः, मत्स्यक इत्यत्र मा भूत्॥

घनिलचौ च ॥ देविय इति। घन्, पूर्ववल्लोपः। देविल इति। इलच्। देविक इति ठन्। देवदत्तक इति। कः॥

पूर्ववत् सर्वमनुवर्तते । उपशब्द आदिर्यस्य तस्मादुपादेः प्रातिपदिकाद् बह्वचो मनुष्यनाम्नः—अडच्, वुच्-प्रत्ययौ भवतः। चकाराद् घनिलचौ प्रत्ययौ भवतः, ठच्च वा । उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः ।

प्राचांग्रहणं पूजार्थम् । 'वा' इत्येव हि वर्तते ॥

जातिनाम्नः कन् ॥ ८१ ॥

'बह्वचः' इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । जातिशब्दो यो मनुष्यनामधेयो व्याघ्र, सिंह—इत्येवमादिः, तस्मादनुकम्पायां नीतौ च कन्प्रत्ययो भवति । व्याघ्रकः । सिंहकः । शरभकः ।

वावचनानुवृत्तेर्यथादर्शनम्[1] अन्योऽपि भवति—व्याघ्रिलः, सिंहिलः। नामग्रहणं स्वरूपनिवृत्त्यर्थम् ॥

अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ॥ ८२ ॥

पदमञ्जरी

जातिनाम्नः कन् ॥ ये शब्दा जात्यन्तरे प्रसिद्धा मनुष्येषु नामत्वेन विनियुक्तास्त इहोदाहरणम् । जातिरेव नाम, जातिर्वा नाम=जातिनाम । *व्याघ्रिय इति ।* अनेकार्थत्वान्निपातानामनुवृत्तस्य वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद् घनिलचौ भवतः । ये तु विकल्पार्थमेव वाशब्दं मन्यन्ते, ते कं प्रत्युदाहरन्ति—व्याघ्रकाः, सिंहका इति । स्वरे विशेषः । घनिलचोस्तु शरभिल इत्याद्युदाहरणम् ॥

अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ॥ व्याघ्राजिनो नाम कश्चिदिति । व्याघ्रस्येवाजिनमस्येति कृत्वा । 'अजिनलोपश्च' इत्युच्यमाने महदजिनं महाजिनम्,

न्यासः

प्राचामुपादेरडज्वुचौ च ॥ उपड इत्यादौ उपेन्द्रदत्तशब्दात् प्रत्ययः । विकल्पार्थं प्राग्ग्रहणं कस्मान्न भवति ? इत्याह—वेत्येव हीत्यादि । अत्र हि वेत्यनुवर्त्तते, तस्माद् तेनैव विकल्पस्य सम्पादितत्वात् तदर्थं प्राग्ग्रहणं नोपपद्यते ॥

जातिनाम्नः कन् ॥ नामग्रहणमित्यादि । असति हि नामग्रहणे जातिस्वरूपग्रहणं स्यात् । अतः स्वरूपग्रहणं मा भूदित्येवमर्थं जातिग्रहणम् ॥

अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ॥ व्याघ्राजिनो नाम कश्चिदिति । व्याघ्रस्याजिनं व्याघ्राजिनम्, व्याघ्राजिनमिवाजिनं यस्येति व्याघ्राजिनः । 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहावुत्तरपदलोपे कृते व्याघ्राजिन इत्येष शब्दः सम्पद्यते ।

---

1. 'यथासम्भवम्'—इत्यपि पाठ० ।

'कन्' इत्यनुवर्तते, 'मनुष्यनाम्नः' इति च। अजिनशब्दान्तात् प्रातिपदिकान्मनुष्यनाम्नोऽनुकम्पायां कन्प्रत्ययो भवति, तस्य चोत्तरपदलोपः। व्याघ्राजिनो नाम कश्चिन्मनुष्यः, सोऽनुकम्पितः व्याघ्रकः। सिंहकः॥

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः॥ ८३॥

'लोप' इत्यनुवर्तते। अस्मिन्प्रकरणे यष्ठोऽजादिश्च प्रत्ययस्तस्मिन् परतः प्रकृतेर्द्वितीयादच ऊर्ध्वं यच्छब्दरूपं तस्य लोपो भवति। ऊर्ध्वग्रहणं सर्वलोपार्थम्। अनुकम्पितो देवदत्तः देविकः, देवियः, देविलः।

पदमञ्जरी

व्याघ्रस्येव महाजिनमस्य व्याघ्रमहाजिनः, सोऽनुकम्पित व्याघ्रक इत्यत्र महच्छब्दस्य लोपो न स्यात्; तस्मादुत्तरपदग्रहणम्। लोपश्चायं सर्वापहारी; उत्तरपदग्रहणात्॥

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः॥ 'ठाजादौ' इति समाहारद्वन्द्वे सौत्रः पुंल्लिङ्गनिर्देशः। आदिग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्, 'यस्मिन्विधिस्तदादौ' इत्येव सिद्धम्। *अस्मिन्प्रकरण इति*। प्रत्यासत्त्या तयोरेव बुद्धौ सन्निधानादिति भावः। ऊर्ध्वमिति प्रथमान्तस्याध्याहारेणान्वय इत्याह—*ऊर्ध्वं यच्छब्दरूपं तस्येति*। द्वितीयादिति पञ्चम्या षष्ठी प्रकल्प्यते, प्रथमा तु निर्देशार्थैव। 'सुपां सु' इति वा षष्ठीस्थाने प्रथमा भवतीति। ऊर्ध्वग्रहणमनर्थकम्, 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यूर्ध्वस्यैव भविष्यति? तत्राह—*ऊर्ध्वग्रहणं सर्वलोपार्थमिति*। अन्यथा 'आदेः परस्य' इति द्वितीयादचो यः परस्तस्यादेरेव लोपः स्याद्, ऊर्ध्वग्रहणसामर्थ्यात्तु सर्वमेवोर्ध्वं लुप्यते।

न्यासः

अथाजिनलोपश्चेत्येवं कस्मान्नोक्तम्, किमुत्तरपदग्रहणेन? नैवं शक्यम्; व्याघ्रमहाजिनो नाम कश्चित्, सोऽनुकम्पितः— व्याघ्रक इत्यत्राजिनशब्दस्य लोप उच्यमा महच्छब्दस्य निवृत्तिर्न स्यात्। उत्तरपदस्य तु लोपे विधीयमाने भवति। तस्माद् यथान्यासमेवास्तु। महदजिनं महाजिनम्, व्याघ्रस्य महाजिनमिव महाजिनमस्येति पूर्ववदुत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः, ततः कन्॥

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः॥ अस्मिन् प्रकरण इत्यादि। अनेनास्मिन् प्रकरणे यौ विहितौ ठाजादी तत्र लोपो भवति, यौ तु प्रकरणान्तरे तत्र न भवतीति दर्शयति। एतच्चैतत्प्रकरणविहितयोष्ठाजाद्योरिहानुवृत्तेर्लभ्यते। अथोर्ध्वग्रहणं किमर्थम्, यावता 'द्वितीयादचः' इति पञ्चमी, तस्मादन्तरेणाप्यूर्ध्वग्रहणम्, 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यूर्ध्वं यच्छब्दरूपं तस्यैव लोपो भविष्यति? इत्यत आह—ऊर्ध्वग्रहणमित्यादि। असत्यूर्ध्वग्रहणे

यज्ञिकः, यज्ञियः, यज्ञिलः। उपडः, उपकः,उपियः, उपिलः, उपिकः।

ठग्रहणमुको द्वितीयत्वे कविधानार्थम्। अजादिलक्षणे हि माथितिकादिवत्प्रसङ्गः। वायुदत्तः, वायुकः। पितृदत्तः, पितृकः।

❋ चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वक्तव्यः ❋। अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः बृहस्पतिकः, बृहस्पतियः, बृहस्पतिलः॥

❋ अनजादौ विभाषा लोपो वक्तव्यः ❋। देवदत्तकः, देवकः। यज्ञदत्तकः, यज्ञकः।

पदमञ्जरी

ठग्रहणमनर्थकम्, इकादेशे कृतेऽजादावित्येव सिद्धम्? अत आह—*ठग्रहणमिति*। अकृत एवैकादेशे ठावस्थायामेव लोपो यथा स्याद् इत्येवमर्थं तावट्ठग्रहणम्, किमेवं सिद्धं भवति? उको द्वितीयत्वे सति परस्यांशस्य लोपे कृते 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशः सिद्धो भवति, तत्रैतत्स्याद्—इकादेशे कृतेऽजादिलक्षण एव लोपोऽस्तु, इकादेशस्य स्थानिवद्भावाट्ठग्रहणेन ग्रहणादुकः परत्वेन कादेशो भविष्यति? तत्राऽऽह—*अजादिलक्षणे हीति*। ठजादिषु यदि वर्णमात्रं प्रत्ययः, अकारस्तूच्चारणार्थः, ततष्ठस्य क इत्यत्रापि वर्णस्यैव ठस्य स्थानित्वम्, ततश्चाल्विधित्वात्स्थानिवद्भावो नोपपद्यते, सङ्घातस्य तु प्रत्ययत्वे तत्रापि सङ्घातस्य ग्रहणम्। तत्र यद्यप्युपपद्यते स्थानिवद्भावः, तथापि सन्निपातपरिभाषया कादेशो न स्यादेव। अजादेः प्रत्यस्य प्रकृत्या यदानन्तर्यं तत्कृतं ह्युकः प्रत्ययेनानन्तर्यं तत्कथं तस्याजादित्वं विहन्यात्! अत एव मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र यस्येतिलोपे कृते सत्यपि तकारेण प्रत्ययस्यानन्तर्ये कादेशो न भवति। तस्माट्ठग्रहणं कर्त्तव्यम्। किञ्च—यदा चित्रभानुप्रभृतिभ्यष्ठञ्विधीयते, तदेकादेशाभावादजादिलक्षणो लोपो न स्यादिति तदर्थमपि ठग्रहणम्।

चतुर्थादच इति। इदं संग्रहश्लोके नास्ति, काचित्कं चैतत्।

अनजादौ विभाषा लोपो वक्तव्य इति। द्वितीयादच ऊर्ध्वस्येत्येव।

न्यासः

'आदेः परस्य' इति द्वितीयादचो यः परस्तस्यादेर्लोपः स्यात्, तस्मिंस्तु सति सर्वं निवर्तते। अतः सर्वस्य लोपो यथा स्यादित्येवमर्थमूर्ध्वग्रहणम्।

अथ ठग्रहणं किमर्थम्, यावता ठस्येकादेशे कृतेऽजादावित्येव सिद्धम्? इत्यत आह—ठग्रहणमित्यादि। उको द्वितीयत्वे सत्यकृत एवेकादेशे ठावस्थायामेव द्वितीयादूर्ध्वस्य लोपे कृते 'इसुसुक्तान्तात् कः' इति कविधिर्यथा स्यादित्येवमर्थं ठग्रहणम्। तत्रैतत् स्यात् चोद्यम्—इकादेशे कृतेऽजादिलक्षणे च द्वितीयादूर्ध्वस्य लोपे स्थानिवद्भावाट्ठग्रहणेन ग्रहणात् कादेशो भविष्यति? इत्याह—अजादिलक्षणे-

❀ लोपः पूर्वपदस्य च ठाजादावनजादौ च वक्तव्यः ❀। दत्तिकः, दत्तिलः, दत्तियः, दत्तकः।

❀ विनाऽपि प्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः ❀। देवदत्तो दत्तः, देव इति वा।

❀ उवर्णाल्ल इलस्य च ❀। भानुदत्तो भानुलः। वसुदत्तो वसुलः।

चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च॥

❀ द्वितीयादचो लोपे सन्ध्यक्षरद्वितीयत्वे तदादेर्लोपवचनम्। लहोडः, लहिकः। कहोडः, कहिकः।

पदमञ्जरी

लोपः पूवपदस्य चेति श्लोकवार्तिकम्, तस्योपस्कारः—*ठाजादावनजादौ च वक्तव्य इति*। तत्र ठाजादौ पूर्वोत्तरयोरन्यतरस्य नित्यं लोपः, अनजादौ विकल्पः।

उवर्णाल्ल इति। लोपस्य 'ल' इति पूर्वाचार्यसंज्ञा, तत्र 'आदेः परस्य' इतीकारलोपः।

तदादेरिति। सन्ध्यक्षरात्परस्य लोपे प्राप्ते तत आरभ्य लोपार्थं वचनम्।

न्यासः

हीत्यादि। इहादेशविधौ तत्र ठग्रहणं वर्णग्रहणं स्यात्, सङ्घातग्रहणं वा; तत्र वर्णग्रहणेऽल्विधित्वात् स्थानिवद्भावो नोपपद्यते। सङ्घातग्रहणे यद्यप्युपपद्यते, तथापि 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इत्यजादित्वसन्निपातकृतमुकः ठप्रत्ययेनानन्तर्य्यमिति तदजादित्वविघातं न कुर्यात्। ततश्च यथा—मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र यस्येति लोपे सत्यपि तकारेण ठस्यानन्तर्य्यकादेशो न भवति, तथा वायुदत्तो वायुक इति न स्यात्। तस्मादुको द्वितीयत्वे कविधानार्थं ठग्रहणम्।

उवर्णाल्ल इति। तस्य च लोप इत्यर्थः। स चादेरेव भवति, न सर्वस्य। अथ वा—ल इत्यादेश एवायं सर्वेलस्य विधीयते। स चानेकाल्त्वात्सर्वस्यैव भवति।

द्वितीयादच इति। द्वितीयलोपे कर्त्तव्ये सन्ध्यक्षरस्य द्वितीयत्वं भवति यदा, तदादेः शब्दरूपस्य लोपो भवतीति वक्तव्यम्। सन्ध्यक्षरादूर्ध्वस्य लोपेऽपि प्राप्ते सन्ध्यक्षरस्यैकाक्षरपूर्वपदानामित्यादि द्वितीयादच ऊर्ध्वस्य लोपः उक्तः, तदपवादः।

❀ एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः ❀ । वागाशीः वाचिकः । स्रुचिकः । त्वचिकः ।

कथं षडंगुलिदत्तः षडिक इति ? ❀ षषष्ठाजादिवचनात्सिद्धम् ❀ ॥

पदमञ्जरी

एकाक्षरपूर्वपदानामिति । अक्षरशब्दोऽयमचि वर्त्तते, व्यञ्जनसहिते केवले वा । द्वितीयादच ऊर्ध्वस्य लोपे प्राप्ते तेन सह लोपार्थं वचनम् । *वागाशीरिति* । वाचि आशीर्यस्य स वागाशीः । *वाचिक इति* । अत्र यदि द्वितीयादच ऊर्ध्वस्य लोपः स्यात्तदा 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति परिभाषया कुत्वजश्त्वयोर्निवृत्तौ वाच् + आ + इक इति स्थिते आकारस्य यस्येतिलोपेन निवृत्तावपि तस्य स्थानिवद्भावादाकारान्तस्य भसंज्ञायां त्वन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञा, सा चकारान्तस्येति भिन्नावधिकत्वाद्भसंज्ञया पदसंज्ञा न बाध्येत, ततश्च कुत्वजश्त्वयोः कृतयोः—वागिक इति स्यात् । उत्तरपदलोपे तु तस्यानजादेशत्वात् स्थानिवत्त्वाभावात्तुल्यावधिकया भसंज्ञया पदसंज्ञायास्तद्धिताश्रयाया-स्तावदपवादत्वाद्बाधः । या त्वन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य सुबन्तं पदमिति पदसंज्ञा, तस्या अपि एकसंज्ञाधिकारात्परत्वाच्च बाध इति सिद्धमिष्टम् ।

कथमिति । अत्राप्युत्तरपदलोपे कृते भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधितत्वाज्जश्त्वं न स्यादिति प्रश्नः । *षष इति* । सौत्र एवात्र लोप इष्यते, न त्वौपसख्यानिक इत्यर्थः ।

संग्रहश्लोकतृतीयपादे तथाशब्दानन्तरं वाशब्दः पाठ्यः, न त्वेवशब्दः, । स च पूर्वत्रापि यथेष्टं सम्बन्धनीयः, इष्टं च पूर्वमेव दर्शितम् । अत्र चोदयति—संज्ञाशब्दस्यैकदेशे लुप्ते कथं संज्ञिनोऽवगमः, न हि देव इति वा दत्त इति वा संज्ञा कृता, किं तर्हि, देवदत्त इति ? अत्राहुः—एकदेशेन समुदायेऽनुमीयते, विषाणेनेव गौः, सोऽनुमितोऽर्थस्य वाचक इति । ननु चोच्चार्यमाण एव शब्दो-

न्यासः

एकाचरेति । अक्षरशब्दश्चायमच्यपि वर्तते । एकाक्षरमेकाच् पूर्वपदं येषां ते, तेषामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः । वागाशीरिति । वाच्याशीरस्येति कृत्वा वैयधिकरण्ये बहुव्रीहिः । अनुकम्पितो वागाशीरिति विगृह्य ठचि कृते द्वितीयदच ऊर्ध्वस्य लोप स्यात् । तस्मिन् सति वाच्+आ+इक इति स्थिते यस्येति लोपे कृते तस्य 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति स्थानिवद्भावात्पदसंज्ञा न स्यात् । तस्मात् तस्यान्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञा, 'चोः कुः' इति कुत्वम्—वागिक इति स्यात् । आशीः-शब्दस्य तस्य परलोपे कृते तस्यानजादेशत्वात् स्थानिवद्भावो नास्तीति भसंज्ञा भवत्येव, ततस्तया पदसंज्ञायां निषिद्धायां पदनिबन्धनकुत्वादि न भवतीति वाचिक इति सिध्यति ।

कथमित्यादि । यद्येकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदस्य लोप उच्यते, षडिक इति न

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ॥ ८४ ॥

शेवलादीनां मनुष्यनाम्नां ठाजादौ प्रत्यये परतः तृतीयादच ऊर्ध्वस्य लोपो भवति। पूर्वस्यायमपवादः। अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः, शेवलियः, शेवलिलः। सुपरिकः, सुपरियः, सुपरिलः। विशालिकः, विशालियः, विशालिलः। वरुणिकः, वरुणियः, वरुणिलः। अर्यमिकः, अर्यमियः, अर्यमिलः।

❋ शेवलादीनां तृतीयादचो लोपः स चाकृतसन्धीनामिति वक्तव्यम् ❋। शेवलेन्द्रदत्तः, सुपर्याशीर्दत्तः—शेवलिकः, सुपरिक इति यथा स्यात्; शेवलयिकः, सुपर्यिक इति मा भूत्॥

अल्पे ॥ ८५ ॥

परिमाणापचये अल्पशब्दः, प्रकृतिविशेषणं चैतत्। अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात्प्रातिपदिकाद्यथाविहितं प्रत्ययो भवति। अल्पं तैलं तैलकम्। घृतकम्। सर्वकम्। विश्वकम्। उच्चकैः। नीचकैः। पचतकि। जल्पतकि॥

पदमञ्जरी

ऽर्थं प्रत्याययति, न प्रतीयमानः? नेत्याह; स्मृत्यनुमिता श्रुतिः किं नार्थं प्रत्याययति! प्रत्याहारेषु वा मध्यवर्त्तिनो वर्णाः किं सवर्णान्न प्रत्याययन्ति! किञ्च—

अशक्तिजैरपभ्रंशैः साधवः स्मारिता यथा।
शब्दाः प्रत्याययन्त्यर्थं तथात्रापि भविष्यति॥

समुदाये संज्ञात्वेन विनियुज्यमानेऽवयवानामपि संज्ञात्वमनुनिष्पद्यते। किमर्थं तर्हि लोपो विधीयते? पदानामेव संज्ञैकदेशभूतानां साधुत्वं यथा स्याद्, वर्णानां मा भूदिति। उक्तं च—

तुल्यायामनुनिष्पत्तौ दे-य-सो इत्यसाधवः।
न ह्यन्वाख्यायके शास्त्रे दत्तादिवदनुस्मृतिः॥

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ॥ *शेवलादीनामित्यादि*। योऽयं शेवलादीनां तृतीयादच ऊर्ध्वस्य लोप उच्यते, सोऽकृतसन्धीनामेव वक्तव्यः। सन्धीयतेऽनेनेति संहिताकार्यमुच्यते॥

न्यासः

सिध्यति। अत्राप्युत्तरलोपे कृते भसंज्ञायामुपजातायाम् पदसंज्ञायां बाधितायाम् 'झलां जशोऽन्ते' इति षषः षकारस्य जश्त्वे कृते षडिक इति न सिध्यति॥

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ॥ **स चाकृतसन्धीनामिति**।

ह्रस्वे ॥ ८६ ॥

ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकाद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति । दीर्घप्रतियोगी ह्रस्वः । ह्रस्वो वृक्षो वृक्षकः । प्लक्षकः । स्तम्भकः ॥

संज्ञायां कन् ॥ ८७ ॥

'ह्रस्वे' इत्येव । ह्रस्वत्वहेतुका या संज्ञा तस्यां गम्यमानायां कन् प्रत्ययो भवति । पूर्वस्यायमपवादः । वंशकः । वेणुकः । दण्डकः ॥

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥ ८८ ॥

'ह्रस्वे' इत्येव । संज्ञाग्रहणं नानुवर्तते, सामान्येन विधानम् । कुटी-शमी-शुण्डाभ्यो ह्रस्वार्थे द्योत्ये रः प्रत्ययो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः ।

स्वार्थिकत्वेऽपि पुंल्लिङ्गता; लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ॥

कुत्वा डुपच् ॥ ८९ ॥

पदमञ्जरी

ह्रस्वे ॥ यद्यपि वंशादिष्वल्पत्वह्रस्वत्वयोः समावेशो दृष्टः, तथापि घृतादिषु द्रवद्रव्येषु न कश्चिदाह—ह्रस्वं घृतम् , ह्रस्वं तैलमिति; तथा विस्तीर्णेष्वायामहीनेषु ह्रस्वः पट इत्युच्यते, न कश्चिदाह—अल्पः पट इति; तस्मादुभयनिर्देशः–'अल्पे', 'ह्रस्वे' इति ॥

न्यासः

यद्यस्वरसन्धौ लोपो भवत्येवं सिध्यति, नान्यथा । तस्मादकृस्वरसन्धीनामेव शैवलादीनां लोपो भवतीति वक्तव्यम् ॥

अल्पे ॥ ह्रस्वे ॥ दीर्घप्रतियोगी ह्रस्व इति । स पुनर्यमपेक्ष्य दीर्घो भवति स वेदितव्यः । ननु च दीर्घत्वापचये सति ह्रस्वो भवति, यत्र दीर्घत्वापचयस्तत्राल्पतास्तीति पूर्वेणैव सिद्धम् ? न सिध्यति; न ह्ययं नियोगः–यत्र दीर्घस्यापचयस्तत्राल्पत्वेन भवितव्यमिति, तथा हि—सत्यप्यपचये महत्त्वगुणयुक्तं यद्वस्तु तदमहदेव भवति, न चाल्पम् ॥

संज्ञायां कन् ॥ कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥ कुटीरः । शमीर इति । स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्त इति प्रकृतिगतेनैव स्त्रीलिङ्गेन भवितव्यम्, न पुंल्लिङ्गेन ? इत्यत आह–स्वार्थिकत्वेऽपीत्यादि ॥

'ह्रस्वे' इत्येव । कुतूशब्दाद्ध्रस्वत्वे द्योत्ये डुपच्प्रत्ययो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कूतूः कुतुपम्=चर्ममयं स्नेहभाजनमुच्यते । कुतूरित्यावपनस्याख्या ॥

कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ॥ ९० ॥

'ह्रस्वे' इत्येव । कासू-गोणीशब्दाभ्यां ह्रस्वत्वे द्योत्ये ष्टरच्प्रत्ययो भवति । कस्यापवादः । षकारो ङीषर्थः । ह्रस्वा कासूः कासूतरी । गोणीतरी । कासूरिति शक्तिः, आयुधविशेष उच्यते ॥

वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ॥ ९१ ॥

'ह्रस्वे' इति निवृत्तम् । वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ—इत्येतेभ्य-स्तनुत्वे द्योत्ये ष्टरच्प्रत्ययो भवति । यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः, तस्य तनुत्वे प्रत्ययः । वत्सतरः । उक्षतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः ।

प्रथमवया वत्सः, तस्य तनुत्वं द्वितीयवयसः प्राप्तिः । तरुण उक्षा,

पदमञ्जरी

कुत्वा डुपच् ॥ *कुतूरित्यावपनस्याख्येति* । यद्यप्यावपनमात्रस्याख्या, तथापि डुपच्प्रत्ययान्तस्वभावादुक्तम्—चर्ममयं स्नेहभाजनमुच्यत इति ॥

वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ॥ 'तनुत्वे' इति सामान्याभिधानात्कार्श्येऽपि प्रत्ययप्रसङ्गः, तत्राह—*यस्य हि गुणस्येति* । एतच्च प्रत्यासत्तेर्लभ्यते । प्रत्यासन्नं हि शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । *प्रथमवया वत्स इति* । प्रथमं वयो वत्सशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । *तस्येति* । गुणभूतमपि वयोऽत्र परामृश्यते, तस्य प्रथमस्य वयस इत्यर्थः । *द्वितीयवयःप्राप्तिरिति* । द्वितीयं हि वयः प्राप्नुवतो

न्यासः

कुत्वा डुपच् ॥ **कासूगोणीभ्यां ष्टरच्** ॥ **वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे** ॥ यदि तनुत्वे वत्सादिशब्देभ्यः प्रत्ययो विधीयते, ये शरीरे कृशा वत्सादयस्तत्राप्यविशेषणे प्रत्ययः प्रसज्येत, विशेषानुपादानात् ? इत्यत आह—**यस्य गुणस्येत्यादि** । गुणो विशेषणम् , विशेष्यं द्रव्यम् । वत्सादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तं वयोविशेषादि । यस्मिन् सति वत्सादयः शब्दा द्रव्ये विशेष्ये निविशन्ते=प्रवर्त्तन्ते, तस्यैव वत्सादिशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य तनुत्वे प्रत्ययो भवति, न तनुत्वमात्रे; तत् पुनः प्रत्यासत्तेः । वत्सादिभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रत्यये विधीयमाने अन्यत् प्रवृत्तिनिमित्तं न प्रत्यासन्नम्, ततस्तस्यैव तनुत्वे युक्तं प्रत्ययेन भवितव्यम् ।

तस्य तनुत्वं द्वितीयवयसः प्राप्तिरिति । तृतीयवयःप्राप्तिकाले द्वितीयस्य वयसः ।

तस्य तनुत्वं तृतीयवयःप्राप्तिः । अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः, तस्य तनुत्वमन्यपितृकता । अनड्वानृषभः, तस्य तनुत्वं भारोद्वहने मन्दशक्तिता ॥

किंयत्तदो निर्द्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ॥ ९२ ॥

किं, यत् तत्—इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्द्धारणे डतरच् प्रत्ययो भवति । निर्धार्यमाणवाचिभ्यः स्वार्थे प्रत्ययः । जात्या, क्रियया, गुणेन, संज्ञया वा समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । कतरो भवतोः कठः । कतरो भवतोः कारकः । कतरो भवतोः पटुः । कतरो भवतोर्देवदत्तः । यतरो भवतोः कारकः । यतरो भवतोः पटुः । यतरो भवतोर्देवदत्तः, ततर आगच्छतु ।

महाविभाषयाऽत्र प्रत्ययो विकल्प्यते । को भवतोर्देवदत्तः, स आगच्छतु ।

पदमञ्जरी

वत्सस्य प्रथमं वयोऽल्पशेषं भवति । *तरुण इति* । द्वितीयवया इत्यर्थः । तस्य तनुत्वमित्यादि पूर्ववत् । *अन्यपितृकतेति* । गर्दभपितृकतेत्यर्थः । गर्दभेन त्वश्वायामुत्पादितोऽश्वतर उच्यते । *अनड्वानिति* । अनसो वोढेत्यर्थः, अनसि वहेः क्विप्, डश्चानसः ॥

किंयत्तदोनिर्द्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ॥ द्वयोरेकस्य निर्द्धारणे डतरज्भवतीत्युच्यते, तत्रेहापि प्राप्नोति—कयोरन्यतरो देवदत्तः, ययोरन्यतरः, तयोरन्यतर इति; किमादीनां समुदायवचित्वेऽपि निर्द्धारणस्य गम्यमानत्वात् ? अत आह—*निर्द्धार्यमाणवाचिभ्य इति* । एतच्चाभिधानस्वभावाल्लभ्यते । *क्रियया गुणेन संज्ञया वेति* । जात्या वेत्यपि द्रष्टव्यम्; कतरो भवतोः कट इत्यादेरपि सम्भवात् ।

न्यासः

उक्षशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य निश्चितं तनुत्वमत्रशिष्यते । तस्य तनुत्वमन्यपितृकतेति । गर्दभपितृकतेत्यर्थः । तर्हि गर्दभादश्वायामुत्पन्नोऽश्वतर इत्युच्यते । तस्य तनुत्वं भारोद्वहने मन्दशक्तितेति । भारोद्वहनं प्रति यः समर्थो न स्यात् स ऋषभतर इत्युच्यते । यदा तु तस्य भारोद्वहने सामर्थ्यं मन्दं भवति—हीयते, तदा तनुत्वं भवति ॥

किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ॥ निर्धार्यमाणेभ्यः प्रत्यय इति निर्धार्यमाणवाचिभ्य इति । एतद् कुतो लभ्यते ? तत एवोत्पन्ने प्रत्यये निर्धारणस्य गम्यमानत्वात् ।

महाविभाषेत्यादि । 'समर्थानां प्रथमात्' इत्यनुवृत्ता ।

'निर्धारणे' इति विषसप्तमीनिर्देशः। 'द्वयोः' इति समुदायान्निर्धारणविभक्तिः। 'एकस्य' इति निर्देशः निधार्यमाणनिर्देशः॥

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ॥ ९३ ॥

'किंयत्तदः' इति वर्तते, 'निर्धारणे', 'एकस्य' इति च। 'बहूनाम्' इति निर्धारणे षष्ठी। बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे गम्यमाने जातिपरिप्रश्नविषयेभ्यः किमादिभ्यो वा डतमच् प्रत्ययो भवति। कतमो भवतां कठः। यतमो भवतां कठः, ततम आगच्छतु।

पदमञ्जरी

समुदायान्निर्द्धारणविभक्तिरिति। सा पुनः षष्ठी, न सप्तमी; वा बहूनामिति दर्शनात्। *एकस्येतीति*। *निर्द्धार्यमाणनिर्देश इति*। ननु च द्वयोरेकस्यैव निर्द्धारणं सम्भवति, नार्थ एतेन? नैतदस्ति; 'एकस्य' इत्यनुच्यमाने द्वयोरिति कर्मणि षष्ठी विज्ञायेत, ततश्चास्मिन् ग्रामे कौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्यत्रापि प्राप्नोति। तस्मादेकग्रहणम्॥

वा बाहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्॥ जातिपरिप्रश्नविषयेभ्य इति। जातिपरिप्रश्नौ यथासम्भवं विषयौ येषां ते तथोक्ताः। सूत्रे पुनः समाहारद्वन्द्वः। सन्निधानाच्च परिप्रश्नोऽपि जातेरेव विज्ञायते, यथा—'गुणो यङ्लुकोः' इत्यत्र यङ् च यङ्लुक्चेति। एवं च कृत्वा जातिपरिप्रश्नग्रहणं किम एव विशेषणम्। 'जाति-

न्यासः

निर्धारण इति। विषये प्रत्ययो यथा स्यात्। द्वयोरिति समुदायान् निर्धारणविभक्तिरिति। षष्ठी, सप्तमी वा। सा पुनस्तस्य 'यतश्च निर्धारणम्' इत्यनेन। एकस्येति निर्धार्यमाणनिर्देश इत्येकस्मिन्निर्धार्यमाणे यथा स्यात्। ननु च समुदायादेकदेशस्य पृथक् करणं निर्धारणम्, द्वयोरित्यवयवसमुदायो निर्दिष्टो यत एकदेशो निर्धारयितव्यः, स चैकदेशे निर्धारयितव्ये एक एव सम्भवति; अतोऽन्तरेणाप्येकग्रहणमेकस्यैव निर्धारणं भविष्यतीति निष्फलमेकग्रहणम्? नैतदेवम्; असति हि तस्मिन् द्वयोरिति कर्मणि षष्ठी विज्ञायते, द्वौ चेन्निर्धार्येते कुतश्चिदिति, ततश्चेहापि प्रत्ययः स्याद्—अस्मिन् ग्रामे कौ देवदत्तयज्ञदत्ताविति। तस्मादेकग्रहणं कर्त्तव्यम्॥

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्॥ जातिपरिप्रश्नविषयेभ्य इति। जातिपरिप्रश्नो यथासम्भवं विषयो येषां ते तथोक्ताः। कतमो भवतां कठ इति। 'गोत्रञ्च चरणैः सह' इति तस्य जातित्वम्। सा च कठजातिः किंशब्देन परिपृच्छयते। किंशब्दोऽत्र जातिपरिप्रश्नविषयो भवति। यतमो भवतां कठस्ततम आगच्छत्विति। यत्तच्छब्दाविह जातिविषयावेव, न परिप्रश्नविषयौ; असम्भवात्, न हि ताभ्यां परिप्रश्नः क्रियते, किं तर्हि? किंशब्देन। अत एव वक्ष्यति—'परिप्रश्नग्रहणं किम एव विशेषणम्, न यत्तदोः;

वावचनमकजर्थम्—यको भवतां कठः, सक आगच्छतु ।

महाविभाषा च प्रत्ययविकल्पार्थाऽनुवर्तत एव—को भवतां कठः । यो भवतां कठः, स आगच्छतु ।

जातिपरिप्रश्न इति किम् ? को भवतां देवदत्तः ।

परिप्रश्नग्रहणं च किम एव विशेषणम्, न यत्तदोः; असम्भवात् । जातिग्रहणं तु सर्वैः सम्बध्यते ।

किमोऽस्मिन्विषये डतरमपीच्छन्ति केचित्—कतरो भवतां कठः, कतरो भवतां कालाप इति । तत्र 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' इति वचनात्सिद्धम् ॥

एकाच्च प्राचाम् ॥ ९४ ॥

एकशब्दात्प्राचामाचार्याणां मतेन डतरच्, डतमच्—इत्येतौ

पदमञ्जरी

ग्रहणं तु सर्वैरपि सम्बध्यते' इति वक्ष्यमाणमुपपद्यते । षष्ठीसमासे तु गुणभूतस्य जातिग्रहणस्य निष्कृष्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः स्यात् ।

परिप्रश्नग्रहणं क्षेपनिवृत्त्यर्थम् ।

वावचनमकजर्थमिति । कथं तर्हि वाक्यस्य सिद्धिः ? तत्राह—*महाविभाषेत्यादि* ।

किमोऽस्मिन्विषय इति । द्वयोरेकस्य निर्द्धारण उक्तौ बहूनामेकस्य निर्द्धारणे न स्यादिति वचनम् । कथं पुनरिष्यमाणोऽपि लभ्यते ? तत्राऽऽह—*तत्रत्यादि* । ननु कतरो भवतोः कठ इति द्वयोरेकस्य निर्द्धारणेऽपि जातिपरिप्रश्नस्य सम्भवान्नानेन वचनेन बहूनामेकस्य निर्द्धारणे डतरच् शक्यो ज्ञापयितुम् ? एवं तर्हि—'समासविधौ कतरकतमौ जतिपरिप्रश्ने साधू भवतः' इत्यपि व्याख्येयमिति मन्यते । अजातिपरिप्रश्नेऽपि किमो डतमज् भवति—कतमो भवतोर्देवदत्त इति, कथम् ? कतरकतमावित्यत्र जातिपरिप्रश्नग्रहणात् । यदि हि कतमशब्दो जातिपरिप्रश्नादन्यत्र न स्यात्, ततस्तत्साहचर्यात्कतरशब्दोऽपि तदर्थ एव ग्रहीष्यत इत्यनर्थकं तत्स्यात् ॥

न्यासः

असम्भवात्' इति । वावचनमकजर्थमिति । पक्षेऽकजपि यथा स्याद् । यद्येवम्, वाक्यं न सिध्यति, यदा हि डतमज् न भवत्यकचैव भवितव्यम् ? इत्यत आह—महाविभाषेत्यादि । अत्र च महाविभाषा प्रत्ययविकल्पार्थानुवर्त्तते, तया प्रत्यये विकल्पिते पक्षे वाक्यमपि भविष्यति । जातिग्रहणं तु सर्वैः सम्बध्यत इति । जातिः सर्वत्रैव भवति, तत्र जात्यादिना किंशब्दे विशेष्यमाणे सामर्थ्यादेव तस्य परिप्रश्नविषयत्वं लभ्यते ? नैतदस्ति; स हि क्षेपेऽपि वर्त्तते । तत्रासति परिप्रश्नग्रहणे यदा जातौ क्षेपे वर्त्तते, तदा प्रत्ययः स्यात् ॥

प्रत्ययौ भवतः स्वस्मिन्विषये। चकारो डतरचोऽनुकर्षणार्थः। द्वयोर्निर्द्धारणे डतरच्। बहूनां निर्द्धारणे डतमच्। 'जातिपरिप्रश्ने' इति नानुवर्तते, सामान्येन विधानम्। एकतरो भवतोर्देवदत्तः। एकतमो भवतां देवदत्तः।

प्राचांग्रहणं पूजार्थम्; विकल्पोऽनुवर्तते एव।

अवक्षेपणे कन्॥ ९५॥

अवक्षिप्यते येन तदवक्षेपणम्। तस्मिन्वर्तमानात्प्रातिपदिकात्कन् प्रत्ययो भवति। व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः। याज्ञिक्यकेन नाम त्वं गर्वितः।

परस्य कुत्सार्थं यदुपादीयते तदिहोदाहरणम्। यत्पुनः स्वयमेव

पदमञ्जरी

एकाच्च प्राचाम्॥ डतरज्डतमजित्येताविति। कथं पुनर्व्यवहितस्य डतरचोऽनुवृत्तिः? इत्याह—*चकार इति*। डतमचस्त्वनन्तरत्वादेवानुवृत्तिरिति भावः। 'स्वस्मिन्विषये' इति यदुक्तं तदेव विवृणोति—*द्वयोर्निर्धारण इति*। एतच्च द्वयोरेकस्य डतरज, बहूनां डतमजित्यनुवृत्तेर्वाक्यभेदेन च सम्बन्धाल्लभ्यते॥

अवक्षेपणे कन्॥ अवक्षेपः=निन्दा। *व्याकरणकेनेति*। यद्यपि व्याकरणं स्वतोवक्षेपणं न भवति, प्रत्युत वेदाङ्गत्वात्प्रशंसनम्; तथापि यस्य तदवलेपमावहति तस्यावक्षेपणं भवत्येव। *याज्ञिक्यकेन नामेति*। याज्ञिकानामाम्नायो याज्ञिक्यम्=कल्पसूत्रादि। *परस्येत्यादिना* कुत्सित इत्यस्यास्य च कनो विषयविभागं दर्शयति॥

न्यासः

एकाच्च प्राचाम्॥ स्वस्मिन् विषय, इति। आत्मीये विषये। तत्र द्वयोरेकस्य निर्धारणं डतरचो विषयः, बहूनामेकस्य निर्धारण डतमचः। चकारोऽनुकर्षणार्थः। असति हि तस्मिन् 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति डतमजेव स्यात्; द्वयोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरजित्यनुवृत्तेः, बहूनां निर्धारणे डतमजित्यनुवृत्तेः।

विकल्पार्थं प्राग्ग्रहणं कस्मान्न भवति? इत्याह—**विकल्पोऽनुवर्त्तत एवेति**। विकल्प इत्युक्तम्। अनन्तरसूत्राद्वेत्यनुवर्त्तत एवेति विकल्प इत्युक्तम्, तेनैव प्रत्ययविकल्पः सिद्धः। तस्मात् पूजार्थमेव प्राग्ग्रहणम्, न विकल्पार्थम्॥

अवक्षेपणे कन्॥ व्याकरणकेनेत्यादि। कथं पुनर्व्याकरणमवक्षेपणम्, तस्याध्ययनं शास्त्रविहितम्, वेदाङ्गत्वात्? सत्यमेतत्; तथापि यत्राश्रये तदवक्षेपणमुपसंहरति, तं प्रति तस्यावक्षेपणत्वमुपपद्यते; दोषहेतुत्वात्।

परस्येत्यादिना 'कुत्सिते' इत्यवक्षेपणे कन्नित्यस्य विभागं दर्शयति॥

कुत्सितम्, तत्र 'कुत्सिते' इत्यनेन कन्प्रत्ययो भवति—देवदत्तकः, यज्ञदत्तक इति ।

प्रागिवीयस्य पूर्णोऽवधिः ॥

इवे प्रतिकृतौ ॥ ९६ ॥

'कन्' इत्यनुवर्तते । इवार्थे यत्प्रातिपदिकं वर्तते तस्मात्कन्प्रत्ययो भवति । इवार्थः सादृश्यम्, तस्य विशेषणं प्रतिकृतिग्रहणम् । प्रतिकृतिः=प्रतिरूपकम्, प्रतिच्छन्दकम् । अश्व इवायमश्वप्रतिकृतिः अश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः ।

प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः ॥

संज्ञायां च ॥ ९७ ॥

'इव' इत्यनुवर्तते, 'कन्' इति च । इवार्थे गम्यमाने कन्प्रत्ययो भवति, समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते । अप्रतिकृत्यर्थ आरम्भः । अश्वसदृशस्य संज्ञा अश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः ॥

लुम्मनुष्ये ॥ ९८ ॥

'संज्ञायाम्' इत्येव । संज्ञायां विहितस्य कनो मनुष्येऽभिधेये

पदमञ्जरी

इवे प्रतिकृतौ ॥ *इवार्थः सादृश्यमिति* । कन् प्रत्ययस्तु स्वभावात्सदृशे भवति, न सादृश्यमात्रे; यथा–प्रकारेऽपि विहितो जातीयर्-प्रत्ययस्तद्वति भवति । *तद्विशेषणं प्रतिकृतिग्रहणमिति* । प्रतिकृतिविषयं यत्सादृश्यं तत्र प्रत्ययो यथा स्यात्, कोऽर्थः ? प्रतिकृतिस्वरूपं यत्सदृशं तत्रेत्यर्थः । *अश्व इवायमश्वप्रतिकृतिरिति* । अश्वप्रतिकृतिरूपोऽश्वसदृशोऽयं पदार्थ इत्यर्थः । *अश्वक इति* ।

केचिदाहुः—'अश्वशब्दोऽश्व एव वर्तते, कन्प्रत्ययस्तु प्रतिकृतिरूपे सदृश इति स्वार्थिकोऽयं न भवति' इति । अपर आह—'सादृश्यनिबन्धनादभेदोपचाराद् गौर्वाहीक इतिवद् अश्वशब्द एव प्रतिकृतौ वर्त्तते, प्रत्ययस्तु तस्यैवोपचारस्य द्योतकः' इति ।

गौरिव गवय इति । गवयो गोर्न प्रतिकृतिः, तृणचर्मकाष्ठादिनिर्मितं हि प्रतिच्छन्दकम्=प्रतिकृतिः, न चैवं गवयः ॥

न्यासः

इवे प्रतिकृतौ ॥ तद्विशेषणं प्रतिकृतिग्रहणमिति । प्रतिकृतिविषयं यत्र सादृश्यं तत्र प्रयोगो यथा स्यात् । गौरिव गवय इत्यत्रास्ति सादृश्यम्, न तु प्रतिकृतिर्विषयम्; न हि गौर्गवयप्रतिकृतिः । काष्ठादिमयं हि यत् प्रतिच्छन्दकं तत् प्रतिकृतिरुच्यते ॥

लुब् भवति । चञ्चेव मनुष्यः चञ्चा । दासी । खरकुटी ।

मनुष्य इति किम् ? अश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः ।

देवपथादेराकृतिगणत्वात्तस्यैवायं प्रपञ्चो वेदितव्यः ॥

जीविकार्थे चापण्ये ॥ ९९ ॥

जीविकार्थं यदपण्यं तस्मिन्नभिधेये कनो लुब् भवति । विक्रीयते यत्तत्=पण्यम् । वासुदेवः । शिवः । स्कन्दः । विष्णुः । आदित्यः ।

देवलकादीनां जीविकार्था देवप्रतिकृतय उच्यन्ते ।

अपण्य इति किम् ? हस्तिकान्विक्रीणीते । अश्वकान् । रथकान् ।

देवपथादेरेवायं प्रपञ्चः ॥

देवपथादिभ्यश्च ॥ १०० ॥

इवे प्रतिकृतौ संज्ञायां च विहितस्य कनो देवपथादिभ्य उत्तरस्य लुब् भवति । आदिशब्दः प्रकारे । आकृतिगणश्चायम् । देवपथः । हंसपथः ।

अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च ।

पदमञ्जरी

लुम्मनुष्ये ॥ चञ्चा=तृणपुरुषः, तत्सदृशो मनुष्यश्चञ्चा । लुपि युक्तवद्भावः । 'मनुष्यलुपि प्रतिषेधः' इत्येतत्तु विशेषणविषयम् ॥

जीविकार्थे चापण्ये ॥ *वासुदेवः, शिव* इत्यादि । याः प्रतिमाः प्रतिगृह्य गृहाद् गृहं भिक्षमाणा अटन्ति ता एवमुच्यन्ते, ता हि जीविकार्था भवन्ति ।

देवलका अपि त एव भिक्षवोऽभिप्रेताः । यास्त्वायतनेष्वभ्युदयनिःश्रेयसार्थं प्रतिष्ठाप्यन्ते पूज्यन्ते च, तासु 'अर्चासु पूजार्थासु' इति वक्ष्यमाणेन लुग् भवति ॥

देवपथादिभ्यश्च ॥ *आदिशब्दः प्रकारे इति* । तेन किं सिद्धं भवति ? इत्याह– *आकृतिगणोऽयमिति* ।

अर्चासु=प्रतिमासु, पूजनार्थासु गृहेष्वायतनेषु वा याः पूज्यन्ते तासु, चित्रकर्मध्वजाभ्यां तद्गताः प्रतिकृतयो लक्ष्यन्ते ॥

न्यासः

संज्ञायाञ्च ॥ लुम्मनुष्ये ॥ चञ्चेति । तृणपुरुष उच्यते । सादृश्याच्च मनुष्यश्चञ्चा । 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इति प्रकृतिगतमेव लिङ्गं भवति । ननु च 'मनुष्यलुपि प्रतिषेधः' इति वचनाद् युक्तवद्भावो न प्राप्नोति ? नैतदस्ति; विशेषणानां प्रतिषेधः, न लुबन्तस्य ॥

जीविकार्थे चापण्ये ॥ देवपथादिभ्यश्च ॥ देवपथ इति । देवानां पन्था इति षष्ठीसमासः । 'ऋक्पूः' इत्यादिनाकारः समासान्तः, कन्, तस्य लुप् ॥

इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु ॥

अर्चासु तावत्—शिवः, विष्णुः । चित्रकर्मणि—अर्जुनः, दुर्योधनः । ध्वजेषु—कपिः, गरुडः, सिंहः ।

देवपथ । हंसपथ । वारिपथ । जलपथ । राजपथ । शतपथ । सिंहगति । उष्ट्रग्रीवा । चामरज्जु । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य[1] । देवपथादिः ॥

वस्तेर्ढञ् ॥ १०१ ॥

'इव' इत्यनुवर्तते । इतः प्रभृति प्रत्ययाः सामान्येन भवन्ति, प्रतिकृतौ च, अप्रतिकृतौ च । वस्तिशब्दादिवार्थे द्योत्ये ढञ्प्रत्ययो भवति । वस्तिरिव वास्तेयः । वास्तेयी ॥

शिलाया ढः ॥ १०२ ॥

शिलाशब्दादिवार्थे ढः प्रत्ययो भवति । शिलेव शिलेयं दधि ।

केचिदत्र ढञमपीच्छन्ति, तदर्थं योगविभागः कर्त्तव्यः । 'शिलायाः', ढञ्प्रत्ययो भवति—शैलेयम् । ततः 'ढः'—शिलेयम् ॥

शाखादिभ्यो यत् ॥ १०३ ॥

'शाखा' इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत्प्रत्ययो भवति इवार्थे । शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः ।

शाखा । मुख । जघन । श्रृङ्ग । मेघ । चरण । स्कन्ध । शिरस् । उरस् । अग्र । शरण । शाखादिः ॥

द्रव्यं च भव्ये ॥ १०४ ॥

द्रव्यशब्दो निपात्यते भव्येऽभिधेये । द्रुशब्दादिवार्थे यत्प्रत्ययो

न्यासः

वस्तेर्ढञ् ॥ इतः प्रभृतीत्यादि । तत्र प्रतिकृतौ 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि प्राप्ते, इतः प्रभृतिप्रत्यया भवन्ति । अप्रतिकृतौ त्वसंज्ञायाम् । वाक्येनैवाभिधाने प्राप्ते । संज्ञायां तु प्रतिकृतावप्रतिकृतौ च ढञेव । वस्तिः = दृतिविकारः । वास्तेयीति । 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ॥

शिलाया ढः ॥ शाखादिभ्यो यत् ॥ द्रव्यञ्च भव्ये ॥

---

१. अत्र—रथपथ, शङ्कुपथ, सिंहपथ—इत्येते शब्दा अधिकाः पुस्तकान्तरे ।

निपात्यते। द्रव्यम्=भव्यः, आत्मवान्; अभिप्रेतानामर्थानां पात्रभूत उच्यते। द्रव्योऽयं राजपुत्रः। द्रव्योऽयं माणवकः॥

कुशाग्राच्छः॥ १०५॥

कुशाग्रशब्दादिवार्थे छः प्रत्ययो भवति। कुशाग्रमिव सूक्ष्मत्वात् कुशाग्रीया बुद्धिः। कुशाग्रीयं वस्त्रम्॥

समासाच्च तद्विषयात्॥ १०६॥

तदित्यनेन प्रकृत इवार्थो निर्दिश्यते। इवार्थविषयात्समासादपरस्मिन्निवार्थे एव छः प्रत्ययो भवति। काकतालीयम्। अजाकृपाणीयम्। अन्धकवर्तकीयम्।

अतर्कितोपनतं चित्रीकरणमुच्यते। तत्कथम्? काकस्यागमनं यादृच्छिकम्, तालस्य पतनं च, तेन तालेन पतता काकस्य वधः कृतः; एवमेव देवदत्तस्य तत्रागमनम्, दस्यूनां चोपनिपातः, तैश्च तस्य वधः कृतः। तत्र यो देवदत्तस्य दस्यूनां च समागमः, स काकतालसमागम-

पदमञ्जरी

समासाच्च तद्विषयात्॥ तदित्यनेन प्रकृत इवार्थो निर्दिश्यते इति। छप्रत्ययस्तु प्रधानतया प्रकृतोऽपि न परामृश्यते, अनेनैव तस्य विधानात्, समासस्य तद्विषयत्वानुपपत्तेः। *अपरस्मिन्निवार्थ एवेति*। एवकारः पौनर्वचनिकः। शस्त्रीश्यामादौ त्वेक इवार्थः समासेऽन्तर्भूत इति छो न भवति। *अजाकृपाणीयमिति*। अजाया गच्छन्त्याः कृपाणेनाधःपतता यथा वधस्तत्सदृशमित्यर्थः। *अन्धकवर्त्तिकीयमिति*। वर्त्तिका=शकुनिविशेषः, तस्या अन्धहस्ते पतनं ग्रहणं च यादृच्छिकं तादृगित्यर्थः।

अतर्कितोपपन्नमिति। अचिन्तितोपपन्नम् यादृच्छिकमित्यर्थः। चित्रीकरणम्=विस्मयकरणम्। *कथमिति*। सामान्येनायमर्थः कथमुच्यत इत्यर्थः।

न्यासः

कुशाग्राच्छः॥ समासाच्च तद्विषयात्॥ इवार्थविषयात् समासादिति। इवशब्दस्यार्थ इवार्थः=सादृश्यं विषयो यस्य स तथोक्तः। यदि इवार्थविषयात् समासाच्छो विधीयते, शस्त्रीश्यामा, पुरुषव्याघ्र इत्यत्रापि प्राप्नोति? नैष दोषः; न ह्यत्र समास इवार्थे वर्त्तते, किं तर्हि? पूर्वपदमुत्तरपदं वा—शस्त्रीव श्यामा, पुरुषोऽयं व्याघ्र इवेति। अथाप्येकदेशस्येवार्थे वर्त्तमानत्वात् समासोऽपीवार्थ उच्यते, तथापि समासेनैवोक्तत्वान्न भविष्यति, यस्तु समासः स क इवार्थे वर्त्तते? समासार्थादपर इवार्थो यत्रास्ति तत्रायं प्रत्यय उक्तः। **परस्मिन्निवार्थ एवेति**। 'इव' इत्यधिकारात्।

अतर्कितोपन मिति। अबुद्धिपूर्वमुपस्थितमित्यर्थः। **चित्रीकरणमिति**। विस्मयकरणमित्यर्थः। **तत् कथमिति**। केन प्रकारेणातर्कितोपनतं चित्रीकरणमिति?—इममर्थं पृच्छति—तत्कथमित्यादि।

सदृश इत्येक उपमार्थः । अतश्च देवदत्तस्य वधः, स काकतालवध-सदृश इति द्वितीय उपमार्थः । तत्र प्रथमे समासः, द्वितीये प्रत्ययः ।

समासश्चायमस्मादेव ज्ञापकात् । न ह्यस्यापरं लक्षणमस्ति । 'सुप्सुपा' इति वा समासः । स चैवंविषय एव ॥

शर्करादिभ्योऽण् ॥ १०७ ॥

'शर्करा'–इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इवार्थेऽण्प्रत्ययो भवति । शर्करेव शार्करम् । कापालिकम् ।

शर्करा । कपालिका । पिष्टिक[1] । पुण्डरीक । शतपत्र । गोलोमन् । गोपुच्छ । नरालि । नकुला । सिकता । शर्करादिः ॥

अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् ॥ १०८ ॥

अङ्गुल्यादिभ्य इवार्थे ठक् प्रत्ययो भवति । अङ्गुलीवाङ्गुलिकः । भारुजिकः ।

अङ्गुलि । भरुज । बभ्रु । वल्गु । मण्डर । मण्डल । शष्कुल । कपि । उदश्वित् । गोणी । उरस् । शिखा । कुलिश । अङ्गुल्यादिः ॥

एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ॥ १०९ ॥

एकशालाशब्दादिवार्थेऽन्यतरस्यां ठच्प्रत्ययो भवति । अन्यतरस्यां-

पदमञ्जरी

समासश्चायमित्यादि । किं पुनः कारणं ज्ञापकात्समाससद्भावः प्रतिपाद्यते ? इत्यत आह—*न ह्यस्येति* । *स च एवंविषय एवेति* । छप्रत्ययविषय एवेत्यर्थः । अनन्यत्र भावो विषयार्थः; तेन स्वातन्त्र्यमुपाध्यन्तरयोगोः, विग्रहश्च न भवति ॥

एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ॥ अनेकार्थत्वान्निपातानामन्यतरस्यांग्रहणमिह समुच्चयार्थम्, न विकल्पार्थमित्याह—*अन्यतरस्यांग्रहणेनेत्यादि* ॥

न्यासः

समासश्चायमित्यादि । यदेतदिवार्थविषयात् समासात् प्रत्ययविधानम्, अत एव ज्ञापकादवसीयते–समासो भवति । कथं पुनरेतज्ज्ञापकमिति ? आह—**न ह्यस्येत्यादि** । इवार्थविषयस्य समाससामान्यस्य लक्षणं नास्तीति । तस्माद् यदेतत् ततः प्रत्ययविधानम्, एतदेव तद्भावस्य ज्ञापकमुपपद्यते ।

अथ वा—किं पुनः कारण ज्ञापकेन तद्भावः प्रतिपाद्यते इति ? आह—**न ह्यस्येत्यादि** । **स चैवं विषय एवेति** । इवार्थविषय एवेत्यर्थः ॥

शर्करादिभ्योऽण् ॥ **अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक्** ॥ **एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम्** ॥ **अन्यतर-**

१. 'कनिष्ठिक' इति, 'कपिष्टिक' इति च पाठा० ।

ग्रहणेनानन्तरष्ठक् प्राप्यते । एकशालेव एकशालिकः, ऐकशालिकः ॥

कर्कलोहितादीकक् ॥ ११० ॥

कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्थे ईकक् प्रत्ययो भवति । कर्कः=शुक्लोऽश्वः, तेन सदृशः कार्कीकः । लौहितीकः स्फटिकः । स्वयमलोहितोऽप्युपाश्रयवशात्तथा प्रतीयते ॥

प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि ॥ १११ ॥

प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम—इत्येतेभ्य इवार्थे थाल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये । तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ॥

पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥ ११२ ॥

'इवार्थे' इति निवृत्तम् । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः=पूगाः, पूगवाचिनः प्रातिपदिकादग्रामणीपूर्वात्स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति । लौहध्वज्यः, लौहध्वज्यौ, लोहध्वजाः । शैब्यः, शैब्यौ, शिबयः । चातक्यः, चातक्यौ, चातकाः ।

पदमञ्जरी

कर्कलोहितादीकक् ॥ *स्वयमलोहित इत्यादि* । उपाश्रयः=उपादानभूतो लाक्षादिः ॥

प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि ॥ इम शब्द इदमा समानार्थः प्रकृत्यन्तरम् ॥

पूगाञ् ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥ *पूगवाचिन इति* । स्वरूपग्रहणं तु न भवति; 'अग्रामणीपूर्वात्' इति वचनात् । पूर्वशब्दो ह्यवयववचनः, न च पूगशब्दस्य ग्रामणीवचनो देवदत्तादिशब्दः पूर्वावयव उपपद्यते । *लोहध्वजा इति* । 'ञ्यादय-

न्यासः

स्यांग्रहणेनेत्यादि । पूर्वसूत्रेण विहितत्वाट् ठगेवानन्तरः । अन्यतरस्यांग्रहणं समुच्चयार्थम् । अतस्तेन 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति स एव प्राप्यते ॥

कर्कलोहितादीकक् ॥ **प्रत्नपूर्वविश्वेमात् थाल् छन्दसि** ॥ इमथेति । इमेतीदमा समानार्थम् प्रकृत्यन्तरमस्ति, तत इदं प्रत्ययविधानम् ॥

पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥ पूर्वादिति । पूर्वशब्दोऽवयववाची । ग्रामणीः पूर्वो यस्य तत् ग्रामणीपूर्वम् । प्रतिषेधेन च स्वरूपग्रहणं भवतीति विज्ञायते । पूगशब्देन स्वरूपे गृह्यमाणे ग्रामणीपूर्वतः प्राप्तिरेव नास्ति; ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधेः प्रतिषेधात् । लोहध्वजा इति । 'ञ्यादयस्तद्राजाः' इति तद्राजसंज्ञा, तेन 'तद्राजस्य बहुषु' इत्यादिना लुक् ।

अग्रामणीपूर्वादिति किम् ? देवदत्तो ग्रामणीरेषां त इमे देवदत्तकाः । यज्ञदत्तकाः ॥

व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ॥ ११३ ॥

नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घाः=व्राताः । व्रातवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवत्यस्त्रियाम् । कापोतपाक्यः, कापौतपाक्यौ, कपोतपाकाः । व्रैहिमत्यः, व्रैहिमत्यौ, व्रीहिमताः । च्फञः खल्वपि—कौञ्जायन्यः, कौञ्जायन्यौ, कौञ्जायनाः । ब्राध्नायन्यः, ब्राध्नायन्यौ, ब्राध्नायनाः ।

अस्त्रियामिति किम् ? कपोतपाकी । व्रीहिमती । कौञ्जायनी । ब्राध्नायनी ॥

आयुधजीविसङ्घाञ् ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ॥ ११४ ॥

आयुधजीविनां सङ्घः आयुधजीविसङ्घः, स वाहीकैर्विशेष्यते । वाहीकेषु य आयुधजीविसङ्घः, तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद् ब्राह्मणराजन्यवर्जितात्स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति ।

पदमञ्जरी

स्तद्राजाः' इति तद्राजसंज्ञा, 'तद्राजस्य बहुषु' इति लुक् ।

देवदत्तका इति । 'स एषां ग्रामणीः' इति कन्, अत्र देवदत्तशब्दो ग्रामणीवचनः पूर्वोऽवयवः, समुदायः पूगवचनः ॥

व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ॥ उत्सेधजीवित्वं व्रातस्य पूगाद्विशेषः । *कौञ्जायनीति ।* 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्', 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वान्ङीष् ॥

आयुधजीविसङ्घाञ् ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ॥ यदा वाहीकशब्दः पुरुषेषु वर्त्तते, तदा 'वाहीकेषु' इति निर्द्धारणे सप्तमी, यदा तु देशे तदाऽधिकरणे ।

न्यासः

देवदत्तका इति । 'स एषां ग्रामणीः' इति कन् । अत्र देवदत्तशब्दः पूर्वग्रामणीरवयव इति न प्रत्ययः ॥

व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ॥ व्रातवाचिभ्य इति । अथ स्वरूपस्यैव ग्रहणं कस्मान्न भवति ? च्फञोरल्पाच्तरस्य परनिपातात्, स हि लक्षणान्तरानपेक्षतामाचष्टे । तेन 'स्वं रूपं शब्दस्य' इत्येतदपीह नापेक्ष्यत इति न भवति स्वरूपग्रहणम् । कौञ्जायन्य इति । 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' । कौञ्जायनीति । 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति ङीष् । जातित्वं तु 'गोत्रञ्च चरणैः सह' इति ॥

आयुधजीविसङ्घाञ् ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ॥ वाहीकेष्विति । निर्धारणे

ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम् । राजन्ये तु स्वरूपग्रहणमेव । टकारो ङीबर्थः, तेन 'अस्त्रियाम्' इति नानुवर्तते ।

कौण्डीबृस्यः, कौण्डीबृस्यौ, कौण्डीबृसाः । क्षौद्रक्यः, क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः । मालव्यः, मालव्यौ, मालवाः । स्त्रियाम्—कौण्डीबृसी । क्षौद्रकी । मालवी ।

आयुधजीविग्रहणं किम् ? मल्लाः, शयण्डाः । सङ्घग्रहणं किम् ? सम्राट् । वाहीकेष्विति किम् ? शबराः, पुलिन्दाः । अब्राह्मणराजन्यादिति किम् ? गोपालवा ब्राह्मणाः, शालङ्कायना राजन्याः ॥

वृकाट्टेण्यण् ॥ ११५ ॥

'आयुधजीविसङ्घात्' इति वर्तते । वृकशब्दादायुध जीविनः स्वार्थे टेण्यण् प्रत्ययो भवति । टकारो ङीबर्थः । णकारो वृद्ध्यर्थः । वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः ।

पदमञ्जरी

ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणमिति । स्वरूपग्रहणं तु न भवति; ब्राह्मणशब्दवाच्यस्यायुधजीविसङ्घस्य वाहीकेष्वभावात् । *राजन्ये तु स्वरूपग्रहणमिति* । तद्वाच्यस्यैव भावात् । *तेनास्त्रियामिति नानुवर्त्तत इति* । तेन स्त्रियामपि—कौण्डीबृसी, क्षौद्रकी, मालवीति भवति । 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ॥

न्यासः

सप्तमी । वाहीकेषु मध्ये य आयुधजीविसङ्घ इति । निर्धारणञ्च समानजातीयस्यैव भवतीत्यायुधजीविसङ्घोऽपि वाहीक एव विज्ञायते । अथ वा—देशवाचिनो वाहीकशब्दादधिकरण एवैषा सप्तमी, वाहीकदेशविशेष आयुधजीविसङ्घो वसतीति ।

ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणमिति । अथ स्वरूपग्रहणं कस्मान्न भवति ? अत एव प्रतिषेधात् । यदि स्वरूपग्रहणं स्याद्, ब्राह्मणप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । प्राप्तिपूर्वको हि प्रतिषेधो भवति । ब्राह्मणशब्द आयुधजीविसङ्घो वाहीकेषु न विद्यत इति किं ब्राह्मणप्रतिषेधेन ! ब्राह्मणविशेषवाचिनस्तु ये गोपालप्रभृतयः शब्दास्तद्वाच्या आयुधजीविसङ्घा वाहीकेषु भवन्ति; तत्र यदि प्रतिषेधो न क्रियेत, तदा तेभ्योऽपि स्यात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थोऽर्थवान् विशेषग्रहणे प्रतिषेधो भवति । तस्माद्—**ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्, राजन्ये तु स्वरूपग्रहणमेवेति** । तद्वाच्यस्यायुधजीविसङ्घस्य वाहीकेषु सत्त्वात्, 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इति वचनाच्च । **तेनेत्यादि** । यस्माद् ङीबर्थोऽत्र टकारः कृतस्तेन 'अस्त्रियाम्' इति नानुवर्त्तते । तदनुवृत्तौ ञ्यट्प्रत्ययान्तं स्त्रियां न भवतीति ङीबर्थं टित्करणमनर्थकं स्यात् । तस्मादस्त्रियामिति निवृत्तम्, अतः स्त्रियामपि भवति । **कौण्डीबृसी । क्षौद्रकीति** । 'हलस्तद्धितस्य' इति यकारलोपः ॥

वृकाद् टेण्यण् ॥ यदि वाहीकेषु वृकशब्दस्य वाच्य आयुधजीविसङ्घो भवति,

आयुधजीविसङ्घविशेषणम्—जातिशब्दान्मा भूत् ।

'कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव' ॥

दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ॥ ११६ ॥

'आयुधजीविसङ्घात्' इति वर्तते । दामन्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्त्रिगर्तषष्ठेभ्यश्चायुधजीविसङ्घवाचिभ्यः स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति । येषामायुधजीविनां सङ्घानां षडन्तर्वर्गाः, तत्र च त्रिगर्तः षष्ठः; त्रिगर्तः षष्ठो येषां ते त्रिगर्तषष्ठा इत्युच्यन्ते । तेषु चेयं स्मृतिः—

आहुस्त्रिगर्तषष्ठाँस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी ।
कौष्टकिर्जालमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जानकिः ॥ इति ।

दामन्यादिभ्यस्तावत्—दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः । औलपीयः, औलपीयौ, उलपयः । त्रिगर्तषष्ठेभ्यः खल्वपि—कौण्डोपरथीयः, कौण्डोपरथीयौ, कौण्डोपरथाः । दाण्डकीयः, दाण्डकीयौ, दाण्डकयः । क्रौष्टकीयः । जालमानीयः । ब्रह्मगुप्तीयः । जानकीयः ।

दामनी । औलपि । आकिदन्ती । काकरन्ति । काकदन्ति । शत्रुन्तपि । सार्वसेनि । बिन्दु । मौञ्जायन । उलभ । सावित्रीपुत्र[1] । दामन्यादिः ॥

पदमञ्जरी

दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ॥ 'दामन्यादित्रिगर्तषष्ठात्' इति समाहारद्वन्द्वः, दामन्यादेरायुधजीविसङ्घात्त्रिगर्तषष्ठाच्चायुधजीविसङ्घादित्यन्वयः । त्रिगर्तषष्ठादित्यस्यार्थमाह—*येषामिति* । *अन्तवर्गाः*=अन्तर्गणाः । ते पुनः के ? इत्याह—*तेषु चेयं स्मृतिरिति* । त्रिगर्त्तषष्ठाः स्मर्यन्ते=ज्ञाप्यन्तेऽनयेति स्मृतिः ।

सा पुनः—आहुस्त्रिगर्तषष्ठानित्यादिः श्लोकः । अत्र जानकयस्त्रिगर्त्तवर्गाः, तेषु

न्यासः

ततो ञ्यटि प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्त एव कस्मिंश्चित् प्रत्ययविधानं वेदितव्यम् । वृकाविवेति । वृकशब्दोऽत्र जातिवचनः ॥

दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठाच्छः ॥ तेषु चेयं स्मृतिरिति । त्रिगर्त्तषष्ठाः स्मर्य्यन्ते ज्ञायन्तेऽनयेति स्मृतिः । सा पुनः—आहुस्त्रिगर्त्तषष्ठानिति । अयमेवाप्तप्रणीतश्लोकः ।

1. 'अच्युतन्ति । कोकतन्ती । तुलभ । देववापि । औत्तकी । अपच्युतकी । कर्की । पिण्ड'—इत्येतेऽत्र गणेऽधिकाः पुस्तकान्तरे ।

पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ ॥ ११७ ॥

'आयुधजीविसङ्घात्' इत्येव। पर्श्वादिभ्यो यौधेयादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य आयुधजीविसङ्घवाचिभ्यः स्वार्थेऽणञौ प्रत्ययौ भवतः। पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः। आसुरः, आसुरौ, असुराः। यौधेयः। शौक्रेयः।

पर्शु। असुर। रक्षस्। बाल्हीक। वयस्। मरुत्। दशार्ह। पिशाच। विशाल। अशनि। कार्षापण। सत्वत्। वसु। पर्श्वादिः।

यौधेय। कौशेय। क्रोशेय। शौक्रेय। शौभ्रेय। धार्तेय। वार्तेय। जाबालेय। त्रिगर्त। भरत। उशीनर। यौधेयादिः॥

अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ्॥ ११८॥

'आयुधजीविसङ्घात्' इति निवृत्तम्। अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः

पदमञ्जरी

च त्रिगर्त्तषष्ठेषु, प्रथमपञ्चमौ शिवाद्यणन्तौ, शेषास्तु इञन्ताः। केचित्तु—अतद्धितान्तमेव पञ्चमं ब्रह्मगुप्तशब्दं पठन्ति॥

पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ ॥ *पार्शव इत्यादि*। पर्शू, रक्षस्, असुर—इत्येते जनपदशब्दाः, तत्राकारान्ताद्बहुष्वपत्येषु 'जनपदशब्दात्क्षत्त्रियादञ्' इत्यञ्, इतराभ्याम् 'द्व्यञ्मगध' इत्यादिनाण्, तद्राजत्वाल्लुक्, पुनः सङ्घविवक्षायामनेनाण्। *यौधेय इति*। युधेतेऽसौ, युधेरिगुपधलक्षणः कः—युधा, तस्य अपत्यम 'द्व्यचः' इति ढक्, तदन्तात्सङ्घरूपविवक्षायामनेनाञ्—यौधेय इत्याद्युदात्तं भवति। तथा यौधेयस्याङ्को लक्षणं वा यौधेय इति—सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्लक्षणोऽण् भवति। एतेन यौधेयादिषु ये ढगन्तास्ते सर्वे व्याख्याताः। यौधेयादीनामस्मिन्प्रदेशे न पाठः, पठिता हि ते चतुर्थे—'न प्राच्यभार्गादियौधेयादिभ्यः' इत्यत्र॥

अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ् ॥ अभिजयतीत्यभिजित्, वेत्तीति विदः, इगुपधलक्षणः कः, तान्बिभर्त्तीति विदभृत, अन्ये मत्वन्ताः। *अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्य इति*। सूत्रेऽभिजिदादय एवाणिति विशेषण-

न्यासः

एषु च त्रिगर्तषष्ठेषु प्रथमपञ्चमौ शिवाद्यणन्तौ, शेषास्त्विञन्ताः। केचिदतद्धितान्तमेव पञ्चमं पठन्ति। तेषां ब्रह्मगुप्तशब्दादेव च्छो भवति॥

पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ ॥ किमर्थं पुनरिह यौधेयादयः पठ्यन्ते, यावता लुक्प्रतिषेधार्थं चतुर्थे यौधेयादयः समाम्नाता एव, त एव चेह गृह्यन्ते ? सत्यमेतत्; विचित्रा हि गणानां कृतिर्गणकारस्येति पुनः पठिताः। पर्श्वादिषु सत्वच्छब्दो पठ्यते। स च सत्वच्छब्दप्रकृतिमतुप्प्रत्ययान्तो वेदितव्यः॥

प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे यञ् प्रत्ययो भवति । अभिजितोऽपत्यमित्यण्, तदन्ताद्यञ् । आभिजित्यः, आभिजित्यौ, आभिजिताः । वैदभृत्यः, वैदभृत्यौ, वैदभृताः । शालावत्यः, शालावत्यौ, शालावताः । शैखावत्यः । शामीवत्यः । और्णावत्यः । श्रौमत्यः ।

गोत्रप्रत्ययस्यात्राणो ग्रहणमिष्यते । आभिजितो मुहूर्तः, आभिजितः स्थालीपाक इत्यत्र न भवति ॥

ञ्यादयस्तद्राजाः ॥ ११९ ॥

'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यतः प्रभृति ये प्रत्ययाः ते तद्राजसंज्ञा भवन्ति । तथा चैवोदाहृतम् ।

तद्राजप्रदेशाः—'तद्राजस्य बहुषु' इत्येवमादयः ॥

इति श्रीजयादित्यविरचितायां काशिकावृत्तौ
पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः

पदमञ्जरी

समासः । अभिजिदादिप्रकृतयश्चाणन्ता अभिजिदादयः उच्यन्ते । *गोत्रप्रत्ययस्येति* । अपत्यप्रत्ययस्येत्यर्थः । *आभिजितो मुहूर्त्त इति* । 'नक्षत्रेण युक्तः' इत्यण्, उत्तरस्य—'सास्य देवता' इति । इहाभिजित्यस्यायम् आभिजितक इति 'गोत्रचरणाद्वुञ्' भवति, 'आपत्यस्य' इति यलोपः । गोत्रप्रत्ययान्ताद्धथयमिष्यते । तेन स्वार्थिकत्वादयमपि यञ् गोत्रप्रत्यय एव भवति ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां पदमञ्जर्यां पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः

न्यासः

अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ् ॥ **अभिजितोऽपत्यमित्यणिति** । 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इत्यौत्सर्गिकः । एवमुत्तरत्रापि ।

गोत्रप्रत्ययस्याणो ग्रहणमिष्यत इति । तत् कथं जातिनाम्न इत्यनुवर्त्तते ? तेनाणन्तं यज्जातिनाम तदेव ग्रहीष्यते । यश्च गोत्रेऽण् विहितस्तदन्तमेव जातिनाम भवति; 'गोत्रञ्च चरणैः सह' इति जातित्वात् । **आभिजितो मुहूर्त्तः, आभिजितः स्थालीपाक इति** । एकत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इत्यण्, अपरत्र 'सास्य देवता' इति ॥

ञ्यादयस्तद्राजाः ॥

**इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां
काशिकाविवरणपञ्जिकायां पञ्चमस्याध्यायस्य
तृतीयः पादः**

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः

पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन्लोपश्च ॥ १ ॥

पादशतान्तस्य संख्यादेः प्रातिपदिकस्य वीप्सायां द्योत्यायां वुन् प्रत्ययो भवति । तत्सन्नियोगेन चान्तस्य लोपो भवति ।

यस्येतिलोपेनैव सिद्धे पुनर्वचनमनैमित्तिकार्थम् । यस्येतिलोपः परनिमित्तकः, तस्य स्थानिवद्भावात् 'पादः पत्' इति पद्भावो न स्यात् । अस्य त्वनैमित्तिकत्वान्न स्थानिवत्त्वम् ।

पदमञ्जरी

पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन्लोपश्च ॥ आदिशब्दोऽयमवयववाची, न तु व्यवस्थावाची; 'संख्यायाः' इति पञ्चमीनिर्देशेनैव सिद्धेः । न च संख्यावचनः शब्दः पादशतशब्दयोरवयव उपपद्यते; अनारम्भकत्वात् । तस्मात्संख्यादेरिति वचनादिह ग्रहणवतापि प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्विज्ञायत इत्याह–*पादशतान्तस्येति* । आनन्तर्यलक्षणा चेयं षष्ठी वुन्विधौ, लोपविधौ तु स्थानषष्ठी । *तत्संनियोगेन चेति* । चकारस्य संनियोगार्थकत्वात् ।

अनैमित्तिकत्वार्थमिति । निमित्ते भवो नैमित्तिकः, अध्यात्मादिः । *यस्येतिलोपः परनिमित्तक इति* । ईति तद्धिते च परतो लोपविधानात् । *पद्भावो न स्यादिति* । पच्छब्दो हि तत्र स्थान्युपात्तः, स्थानिवत्त्वे च सति पादशब्दान्तमङ्गं भसंज्ञं भवति, न पाच्छब्दान्तमिति पादायेत्यादिवदत्रापि पद्भावो न स्यात् । *अस्य त्वनैमितिकत्वादिति* । न ह्यत्र वुन्निमित्तम्; सहविधानात् ।

न्यासः

पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन्लोपश्च ॥ प्रातिपदिकादिति वर्तते, तस्य विशेषणं पादशतस्य ग्रहणम्, विशेषणेन तदन्तविधिर्भवतीत्याह—**पादशतान्तस्येति** । आदिशब्दोऽवयववचनः । न च संख्याशब्दः पादशतशब्दयोरवयव उपपद्यते; पृथग्भावादनारम्भकत्वात् । न हि पृथग्भूतमनारम्भकं शब्दान्तरस्यावयवो युज्यते, यथा—घटशब्दः पटशब्दस्य । विपराते तु युज्यते, यथा—पटस्य समुदायात्मनः तन्त्वादिकारणं समदेशमवयवमाहुः । तस्मात् 'संख्यादेः' इत्येतदपि प्रातिपदिकस्य विज्ञायते, न पादशतशब्दयोरित्याह—**संख्यादेरित्यादि** । आनन्तर्य्यलक्षणा चेयं षष्ठी, यथा—'गापोष्टक्' इति गापोष्टक्प्रत्ययो भवतीत्यनन्तरमिति शेषः । **तत्सन्नियोगेन चेति** । चकारस्य सन्नियोगार्थत्वात् । **अन्तस्येति** । अलोऽन्त्यरिभाषया ।

पुनरित्यादि । निमत्ते भवो नैमित्तिकः, अध्यात्मादित्वाट्ठञ्, न नैमित्तिकोऽनैमित्तिकः । लोपः स्यादित्येवमर्थं पुनर्लोपवचनम् । वुनापि सह लोपो विधीयमानः परनिमित्तं नापेक्षत इत्यनैमित्तिको भवति । **यस्येतिलोपः । परनिमित्तक इति** । **ईति**

द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति। द्वे द्वे शते ददाति, द्विशतिकां ददाति। 'तद्धितार्थ' इति समासः, ततः प्रत्ययः।

स्वभावाच्च वुन्प्रत्ययान्तं स्त्रियामेव वर्तते।

पादशतस्येति किम्? द्वौ द्वौ माषौ ददाति। संख्यादेरिति किम्? पादं पादं ददाति। वीप्सायामिति किम्? द्वौ पादौ ददाति। द्वे शते ददाति।

पादशतग्रहणमनर्थकम्; अन्यत्रापि दर्शनात्। द्विमोदकिकां ददाति, त्रिमोदकिकां ददाति॥

दण्डव्यवसर्गयोश्च॥ २॥

दमनम्=दण्डः, दानम्=व्यवसर्गः। दण्डव्यवसर्गयोर्गम्यमानयोः

पदमञ्जरी

द्विपदिकामिति। तद्धितेन द्योतितत्वाद्वीप्सायां द्विर्वचनं न भवति। *तद्धितार्थ इति समास इति*। प्रकृत्युपाधिरपि वीप्सा वुना द्योत्यत इति तद्धितार्थो भवति।

द्वौ पादौ ददातीति। उत्तरसूत्रे वक्ष्यति–'दानं व्यवसर्गः' इति, 'अवीप्सार्थोऽयमारम्भः' इति च, तस्माद्भवितव्यमत्र वुना। क्रियान्तरं प्रत्युदाहर्त्तव्यम्–द्वौ पादौ लभत इत्यादि।

अपर आह—दण्डितो व्यवसृजतीति प्रयोग एवोत्तरोऽविधिरिति। यद्वा—परस्वत्वापादनं दानम्=व्यवसर्गः, इह तु समर्पणमात्रे ददातिर्वर्त्तते; यथ—रजकस्य वस्त्रं ददातीति।

अन्यत्रापि दर्शनादिति। द्वौ द्वौ माषौ ददातीत्यादौ त्वनभिधानादतिप्रसङ्गाभावः॥

दण्डव्यवसर्गयोश्च॥ *दण्डनं दण्ड इति*। 'दमु उपशमने' इत्यस्माद्भावे 'ञमन्ताड्डः', दण्डतेर्वा चुरादिण्यन्तादेरच्। यद्यपि दण्डशब्दः करणसाधनो

न्यासः

तद्धिते च परस्मिन्निमित्ते विधानात् तस्य स्थानिवद्भावात्, 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति लोपस्य स्थानिवद्भावेन पाच्छब्दरूपस्य विहितत्वात्। अनच्को हि पाच्छब्दः स्थान्युपात्तः, तस्य चानच्कत्वं स्थानिवद्भावे सति हीयते। अस्य त्वनैमित्तिकत्वान्न स्थानिवद्भाव इति पद्भावो भवतीति भावः।

द्वौ द्वौ पादाविति। वीप्सायां द्विर्वचनं भवति॥

दण्डव्यवसर्गयोश्च॥ दमनं दण्ड इति। ननु दण्डशब्दोऽयं यष्ट्यादावपि वर्त्तते?

पादशतान्तस्य प्रातिपदिकस्य संख्यादेर्वुन् प्रत्ययो भवति, अन्तलोपश्च । अवीप्सार्थोऽयमारम्भः । द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति । द्विशतिकां दण्डितः । त्रिशतिकाम् । द्विशतिकां व्यवसृजति । त्रिशतिकाम् ॥

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ॥ ३ ॥

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने द्योत्ये कन् प्रत्ययो भवति । जातीयरोऽपवादः । प्रकारः=विशेषः । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः ।

पदमञ्जरी

यष्टावपि वर्त्तते, तथापि तस्य ग्रहणं न भवति; धात्वर्थेन व्यवसर्गेण साहचर्यात् । अत्राप्युदाहरणे 'तद्धितार्थे' इति समासः स्त्रीलिङ्गस्तद्धितार्थः । उक्तं च—'स्वभावाच्च वुन्प्रत्ययः स्त्रियां वर्त्तते' इति । प्रकृत्यर्थ एव वा तद्धितार्थः, स्वार्थिकत्वाद् वुनः । *अवीप्सार्थोऽयमारम्भ इति* । कथं तर्हि दाने वीप्सायां वुन्पूर्वसूत्र उदाहृतः, यावता नाप्राप्ते वीप्साया वुन्यारभ्यमाणोऽवीप्सावुनेतयोरर्थयोस्तस्य बाधकः प्राप्नोति, यथा 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति 'वर्त्तमाने क्तः'—भूतक्तस्य, यथा च 'अवृद्धादपि' इत्यपिशब्दः क्रियते ? इहापि तर्हि चकारः क्रियते, तेनाधिकविधिरयमबाधकः । एवमपि परत्वादनेनैव दाने वीप्सायां वुन्युक्तः ? सत्यम्; अविशेषात्तु पूर्वत्रोदाहृतः । यद्वा—दानस्य पदान्तरवाच्यत्वादेष वुन्बहिरङ्गः, वीप्सायास्तु तद्धितद्योत्यत्वात्पूर्वो वुन्नन्तरङ्गः ॥

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ॥ प्रकारवचने द्योत्य इति । प्रकारवचने कन् द्योत्य इत्यर्थः । यथौदनं पचतीत्यत्रैवार्थे ओदनपाकं पचतीति । यद्वा—प्रकार उच्यते स्थूलादिभिरिति द्योतनायेत्यर्थः । प्रकारवाचिभ्यः कन् भवति, तदेव प्रकारवचनत्वं द्योतयितुमिति यावत् । *जातीयरोऽपवाद इति* । तेनायमपि तद्वदेव

न्यासः

सत्यम्; तथापीह दमने वर्त्तमानस्य ग्रहणं युक्तम्, दमनस्यैव प्रत्ययान्तेन गम्यमानत्वात् । दानं व्यवसर्ग इति । यद्येवम्, तत् पूर्वयोग उदाहृतं दत्तं तदा चोपपद्यते यद्ययं योगोऽधिकविधानार्थो भवति, न त्वपवादः, तस्मान्नार्थोऽनेन योगेन ? इत्यत आह—अवीप्सार्थं इत्यादि । तेन दानमात्रेऽनेन वुन् । दानवीप्सायां पूर्वयोगेन पुनर्भवत्येव ॥

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ॥ जातीयरोऽपवाद इति । एतेन यथा प्रकारवचने विधीयमानो जातीयर् प्रकारवति न प्रकारमात्रे, तथायमपीति दर्शयति; अन्यथा हि जातीयरोऽयं विषयभेदादपवादो नोपपद्यते । अथ किमर्थं 'प्रकारवचने जातीयर्'

❀ कन्प्रकरणे चञ्चद्-बृहतोरुपसंख्यानम् ❀ । चञ्चत्प्रकारः चञ्चत्कः । बृहत्कः ।

'चञ्चबृहयोः' इति केचित्पठन्ति, तेषाम्—चञ्चकः, बृहक इति उदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

स्थूल । अणु । माष । इषु । कृष्ण तिलेषु । यव व्रीहिषु । ❀ पाद्यकालावदाताः सुरायाम् ❀ । ❀ गोमूत्र आच्छादने ❀ । ❀ सुराया

पदमञ्जरी

प्रकारवति भवति, न प्रकारमात्र इत्युक्तं भवति । प्रकारः=भेदः, सादृश्यं च, उभयत्रापि यथाभिधानं कन् भवति । वृत्तौ तु प्रकारो भेद इत्युपलक्षणम् ।

चञ्चद्बृहतोरिति । एतावपि स्थूलादिषु पठितव्यावित्युक्तं भवति । *चञ्चत्क इति* । चञ्चतिश्चलनकर्मा चञ्चत्प्रकारश्चञ्चन्नेवं कश्चिद्विशेष उच्यते । तथा बृहद्विशेषो बृहत्कः । अपर आह—सादृश्येऽत्र कन्, अचञ्चन्नपि यश्चञ्चन्निव लक्ष्यते स्पन्दमानप्रभावत्वाच्चञ्चत्को मणिः, अबृहन्नपि यः प्रभूतप्रभया बृहन्निव लक्ष्यते स बृहत्क इति । *चञ्चक इति* । चञ्चा=तृणमयः पुरुषः, तत्सदृशश्चञ्चकः । 'केऽणः' इति ह्रस्वः ।

स्थूलाणुमाषेष्विति । स्थूल, अणु, माष, इषु—इति चतस्रः प्रकृतयः । *कृष्ण तिलेष्विति* । कृष्णप्रकारास्तिलाः कृष्णकाः । यवकाः यवसदृशाः । *पाद्यकालावदाताः सुरायामिति* । पाद्यिका, कालिका, अवदातिका, सुराविशेषा एते । गोमूत्र-

न्यासः

इत्यस्यैवानन्तरं स्थूलादिभ्यः कन् न विधीयते ? किं कृतं भवति ? कन् प्रकारवचनं न वक्तव्यं भवति ? नैवं शक्यम्; स्थूलादीनां हि प्रकारस्याज्ञातादीनां च युगपद्विवक्षायां परत्वात् के कृते कन्न स्यात्; शब्दान्तरत्वात् । अथापि स्यात् ? एवमपि स्थूलक इत्याद्युदात्तत्वं स्यात्, इह तु कनो विधाने परत्वात् कनि कृते ततः क इत्यन्तोदात्तत्वं सिद्धं भवति ।

चञ्चद्बृहतोरित्यादि । स्थूलादिषु चञ्चद्बृहतोरपाठात् तन्न प्राप्नोति, तस्मादुपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यम् । तत्रेदं प्रतिपादनम्—पूर्वसूत्रादिह चकारोऽनुवर्त्तते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन चञ्चद्बृहतोरपि भविष्यतीति ।

स्थूलाणुमाषेष्विति । केचिदेताश्चतस्रः प्रकृतय इति वर्णयन्ति । स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरे तु स्थूलाणुशब्दौ प्रकृती, माषेष्वित्ययं तूपाधिनिर्देश इत्याहुः । अन्ये त्वानन्तर्यादणुशब्दस्यैव माषग्रहणं विशेषणमाचक्षते । आद्यमेव दर्शनं न्याय्यम्, तथा हि—स्थूलकादयः पटादिष्वपि दृश्यन्ते । स्थूलकः, अणुकः पट इति । कृष्णात् तिलेष्विति । कृष्ण इति प्रकृतिः, तिलेष्विति तद्विशेषणम् । कृष्णकास्तिलाः । यव व्रीहिष्विति । यव इति प्रकृतिः, व्रीहिष्विति तद्विशेषणम् । यवको व्रीहिः । पाद्यकालावदाताः सुरायामिति । केचिद् वर्णयन्ति—पाद्यादीनां त्रयाणामपि सुरायां

अहौ ॐ । ॐ जीर्ण शालिषु ॐ । ॐ पत्रमूले समस्तव्यस्ते ॐ । कुमारीपुत्र । कुमार । श्वशुर । मणि । स्थूलादिः ॥

अनत्यन्तगतौ क्तात् ॥ ४ ॥

अत्यन्तगतिः=अशेषसम्बन्धः, तदभावोऽनत्यन्तगतिः । अनत्यन्तगतौ गम्यमानायां क्तान्तात्कन्प्रत्ययो भवति । भिन्नकः । छिन्नकः ।

अनत्यन्तगताविति किम् ? भिन्नम् । छिन्नम् ॥

पदमञ्जरी

कम्=गोमूत्रप्रकारं गोमूत्रवर्णमाच्छादनम् । यद्वा—विन्यासविशेषो गोमूत्रम्, तत्सदृशं तु गोमूत्रकम् । यत्र तु शुक्लकृष्णादिवर्णविन्यासः सुरावर्णोऽहिः सुरकः, पूर्ववद् ह्रस्वः । जीर्णप्रकाराः जीर्णकल्पाः शालयो जीर्णकाः ।

जातीयरोऽनन्तरमेवायं कन् विधेयः, एवं हि पुनः 'प्रकारवचने' इति न वक्तव्यं भवति । इह तु करणेऽज्ञातः स्थूलप्रकार इति प्रकारस्याज्ञातादीनां च युगपद्विवक्षायां परत्वादनेन कनि कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानादज्ञातादिद्योतनाय पुनः को भवति । तत्र तु करणे परत्वात्के कृते कन्न स्यात्; शब्दान्तरत्वात् । सत्यपि वा कनि स्थूलकक इत्याद्युदात्तं स्यात् ॥

अनत्यन्तगतौ क्तात् ॥ *अशेषसम्बन्ध इति* । क्तप्रकृतिवाच्यया क्रियया साधनस्य व्याप्तिरित्यर्थः । *भिन्नकमिति* । ईषद्भिन्नमित्यर्थः ।

भिन्नमिति । यदशेषं भिदिक्रियया व्याप्तं घटादि तदभिधीयते । इहानत्यन्तगतेः प्रकर्षस्य च युगपद्विवक्षायां पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वमातिशायिक इष्यते, तदन्तात्कन्वक्तव्यः, अक्तान्तत्वाद्धि न प्राप्नोति—भिन्नतरकं छिन्नतरकमिति । आह च—'अनत्यन्तगतौ क्तान्तात्तमबादयः पूर्वविप्रतिषिद्धं तदन्ताच्च स्वार्थे कन्वचनम्' इति । स्वार्थः पुनरनत्यन्तगतियुक्त एव, न शुद्धः । तथा हि सति अनत्यन्तगतिर्द्योतिता न स्यात् ॥

न्यासः

ग्रहणं विशेषणमिति पाद्यिका, कालिका, अवदातिका सुरेति । अपरे पुनरानन्तर्यादवदातशब्दस्य सुराग्रहणं विशेषणं पाद्यकालयोर्न विशेषणत्वं भवतीत्याहुः । गोमूत्रादाच्छादन इति । गोमूत्रशब्दः प्रकृतिः, आच्छादन इति तद्विशेषणम् । गोमूत्रप्रकारकमाच्छादनं गोमूत्रकम् । सुराहाविति । सुरेति प्रकृतिः, अहाविति विशेषणम् । सुरावर्णोऽहिरिति सुरकः । जीर्णशालिष्विति । जीर्ण इति प्रकृतिः, शालिष्विति विशेषणम् । जीर्णप्रकाराः शालयो जीर्णका इति । पत्रमूले समस्तव्यस्ते इति । पत्रमूले इत्येते शब्दरूपे समस्तव्यस्ते प्रत्ययमुत्पादयतः—पत्रमूलकम् । पत्रकम् । मूलकम् ॥

अनत्यन्तगतौ क्तात् ॥ अशेषसम्बन्ध इति । अशेषस्य स्वेन सम्बन्धिना भेदनादीनां व्याप्तिरित्यर्थः । **भिन्नकमिति ।** न तु यस्याशेषस्य भेदेन सम्बन्धः, अपि त्वेकदेशस्य

न सामिवचने ॥ ५ ॥

सामिवचने उपपदे क्तान्तात्कन्प्रत्ययो न भवति । सामिकृतम् । सामिभुक्तम् ।

वचनग्रहणं पर्यायार्थम् । अर्धकृतम् । नेमकृतम् ।

सामिवचने प्रतिषेधानर्थक्यम्; प्रकृत्याभिहितत्वात् ? एवं तर्हि नैवायमनत्यन्तगतौ विहितस्य कनः प्रतिषेधः, किं तर्हि ? स्वार्थिकस्य ।

पदमञ्जरी

न सामिवचने ॥ साम्यर्थ उच्यतेऽनेन तत्सामिवचनम् । *सामिवचने उपपदे इति* । उपोच्चारितं पदमुपपदम्, तच्च समासावयवभूतं सत्केवलं गृह्यते । *सामिकृतमिति* । 'सामि' इति समासः । *अर्द्धकृतं नेमकृतमिति* । विशेषणसमासः, बहुव्रीहिर्वा ।

प्रकृत्यभिहितत्वादिति । का पुनरत्र प्रकृतिरभिप्रेता ? न तावत्समासः, अक्तान्तत्वात्, न हि सामिकृतादयः क्तान्ताः; प्रत्ययग्रहणे तदादिनियमात् । न च कृद्ग्रहणपरिभाषया क्तान्तत्वम्; साम्यादीनामगतित्वाद्, अकारकत्वाच्च । अथ यदत्र क्तान्तं सा प्रकृतिः ? तदपि न; न हि समासे एकार्थीभूतस्य पृथक् प्रकृतित्वमुपपद्यते । अथ वाक्यगतः कृतादिशब्दः प्रकृतिः ? एवमपि प्रकृत्यभिहितत्वादित्यनुपपन्नम् । एवं तु वक्तव्यम्—उपपदेनाभिहितत्वादिति ? अत्राहुः—वाक्यगतात्कृतादिशब्दात्, समासावयवाद्वा प्रसङ्ग शङ्क्यते । यत्तूक्तम्—प्रकृत्यभिहितत्वादित्यनुपन्नमुपपदेनाभिहितत्वादिति वक्तव्यमिति ? सत्यम्; शब्दान्तरोपलक्षणं प्रकृतिग्रहणम्, प्रकृतिर्वा भवतु, उपपदं वा; कन्व्यतिरिक्तेन शब्दान्तरेणाभिहितत्वाद् द्योत्याभावात्कनः प्रसङ्गो नास्तीत्यर्थः । यदप्युक्तम्—समास एकार्थीभूतस्य पृथक्प्रकृतित्वासम्भव इति ? तदपि न; प्रकृत्यर्थस्य प्रत्ययार्थेनैकार्थीभावे सति प्रकृतित्वम् । न चार्थान्तरेणैकार्थीभूतस्य प्रत्ययार्थेनैकार्थीभावः सम्भवतीति किल प्रकृतित्वासम्भवः स्यात् । न चात्र प्रत्ययस्य द्योत्यं वाच्यं वाऽर्थान्तरमस्ति, येन सहैकार्थीभावः प्रार्थ्येत । तस्मादुपपन्नमेकार्थीभूतस्यापि प्रकृतित्वम् । अत एव वृत्तौ समास उदाहृतः ।

न्यासः

तद्भिन्नकमित्युच्यते । भिन्नमित्यत्राशेषसम्बन्ध एव गम्यते । यदशेषं भिदिक्रियाव्यासं घटादि तद् भिन्नमित्यभिधीयते ॥

न सामिवचने ॥ सामिवचन इति । साम्युच्यते येन तत् सामिवचनम् । सामिकृतमिति । बहुव्रीहिः, विशेषणसमासो वा । प्रकृत्याभिहितत्वादिति । प्रतिषेधानर्थक्ये हेतुः । अनत्यन्तगतिं गमयितुं कन् विधीयते । सा च सामिशब्देनैव गमितेति कनः प्राप्तिरेव नास्ति । अतोऽनर्थकः प्रतिषेधः । स्वार्थमात्रेणैव कनो विधायकं लक्षणमस्तीति मन्य-

केन पुनः स्वार्थिकः कन्विहितः ? एतदेव ज्ञापकमनुमास्यते—भवति स्वार्थे कन्निति । तत्र यदेतदुच्यते—'एवं हि सूत्रमभिन्नतरकं भवति', 'एतर्हि[1] बहुतरकं व्याप्यते' इत्येवमादि, तदुपपन्नं भवति[1] ॥

बृहत्या आच्छादने ॥ ६ ॥

कन्ननुवर्त्तते, न प्रतिषेधः । बृहतीशब्दादाच्छादने वर्त्तमानात् स्वार्थे कन्प्रत्ययो भवति । बृहतिका ।

आच्छादने इति किम् ? बृहती छन्दः ॥

अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात्खः ॥ ७ ॥

अषडक्ष, आशितङ्गु, अलङ्कर्म, अलम्पुरुष—इत्यतेभ्योऽध्युत्तरपदाच्च स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति । अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्येति बहुव्रीहिः, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच्, ततः खप्रत्ययः । अषड-

पदमञ्जरी

केन पुनरिति । स्वार्थमात्रे कन्विधेः प्रत्यक्षेणादर्शनात्प्रश्नः । *अनुमास्यत* इत्युत्तरम् । *यदेतदुच्यत इति* । भाष्यकारैः उच्यत इति, प्रयुज्यत इत्यर्थः, भाष्यकारप्रयोग उपपन्नो भवतीति यावत् । साक्षिस्थानीयश्च भाष्यकारप्रयोगः, न पुनरन्यत्र स्वार्थे कन् न भवतीति ॥

बृहत्या आच्छादने ॥ बृहतिका=प्रावारः ॥

अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात्खः ॥ *अविद्यमानानि षडक्षीणि यस्मिन्निति बहुव्रीहिरिति* । अक्षिशब्दोऽत्र श्रोत्रेन्द्रिये वर्त्तते 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच् । मन्त्रः=मन्त्रणम्, यद् द्वाभ्यामेव क्रियत इति, त्रिभिस्तु क्रियमाणः षडक्षो भवति, चतुःप्रभृतिभिस्तु क्रियमाणस्य यद्यप्यष्टाक्षत्वादि सम्भवति, तथाप्यवर्जनीयरूपेण षडक्षत्वमपि भवति । तस्माद् द्वाभ्यामेव क्रियमाणोऽषडक्षीणो

न्यासः

मान आह—केन पुनरित्यादि । यदेतत् प्रतिषेधवचनम्, एतदेव ज्ञापयति—भवति स्वार्थे कन् इति, अन्यथा प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । अर्धकृतम् । नेमिकृतम् ॥

बृहत्या आच्छादने ॥ कन्ननुवर्त्तत इति । स्वरितत्वात् । न प्रतिषेध इति । विपर्ययात् । बृहतिकेति । 'केऽणः' इति ह्रस्वः ॥

'अषडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः ॥ अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन्निति बहुव्रीहिरिति । ततः 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इति षच् ।

१–१. 'एतर्हि बहुतरकं व्याकरणमधीतमित्येवमाद्युपपन्नं भवति' इति पाठा० ।

क्षीणो मन्त्रः। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः। आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये आशितङ्गवीनमरण्यम्। निपातनात्पूर्वपदस्य मुमागमः।

अलङ्कमन्, अलम्पुरुष इति 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इति समासः। अलङ्कर्मणे अलङ्कर्मीणः। अलम्पुरुषाय अलम्पुरुषीणः।

अध्युत्तरपदस्तत्पुरुषः। अधिशब्दः शौण्डादिषु पठ्यते। राजाधीनः। नित्यश्चायं प्रत्ययः; उत्तरत्र विभाषाग्रहणात्।

अन्येऽपि स्वार्थिका नित्याः प्रत्ययाः स्मर्यन्ते—तमबादयः प्राक्कनः, ञ्यादयः प्राग्वुनः, आमादयः प्राङ् मयटः, बृहतीजात्यन्ताः समासान्ताश्चेति ॥

पदमञ्जरी

भवति। *आशिता इति*। अश्नोतेराङ्पूर्वादाशितः कर्तेति ज्ञापकात्कर्त्तरि क्तः। यद्वा—ण्यन्तात्कर्मणि। *आशितङ्गवीनमरण्यमिति*। प्रभूतयवसमित्यर्थः।

अलङ्कर्मीणः। कर्मणे पर्याप्तः। *अलम्पुरुषीणः*। प्रतिमल्लादिः।

अधिशब्दः शौण्डादिषु पठ्यत इति। यत्र 'अधिरीश्वरे' इत्यधेः कर्मप्रवचनीयत्वाद् 'यस्य चेश्वरवचनम्' इति सप्तम्यन्ता राजादयोऽधिना समस्यन्ते। वाक्यमपि भवति—राजन्यधि, राजाधीनमिति। यथा—अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाइति, अधिशब्दश्च वृत्तिविषये ईशितव्ये वर्त्तते। अपर आह—अधिकरणे एषा सप्तमी, वृत्तिविषये च ससाधनक्रियावचनोऽधिः, न तु वाक्य इत्यस्वपदेन विग्रहः, राजन्यधिकृतं राजाधीनम्, राजायत्तमित्यर्थ इति। उत्तरसूत्रे *विभाषाग्रहणादिति*। द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये नित्या विधय इति न्यायात्।

तमबादय इति। 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यादयः। *प्राक्कन इति*। 'अवक्षेपणे कन्' इत्यस्मात् शुक्ल इत्युक्ते सामान्यशब्दत्वात्प्रकर्षस्यानवगमात्तदुपाधिद्योतनायावश्यं प्रयोज्यास्तमबादय इति नित्याः। अतिशयेन शुक्ल इत्यादिकं तु वाक्यं भवत्येव; पदान्तरद्योत्यत्वादतिशयस्य। *ञ्यादय इति*। 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यादयः। *प्राग्वुन इति*। पादशतादिसूत्रविहितात्, तस्य तु पुरा विग्रहो दर्शित एव। *आमादय इति*। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्‌' इत्यादयः,

न्यासः

राजशब्दात् सप्तमी। राजन्यधीति विगृह्य 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासः।

तमबादय इति। 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्येवमादयः। **प्राक् कन इति**। 'युवाल्पयोः कन्यन्तरस्याम्' इत्ययम्। **ञ्यादय इति**। 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यादयः। **प्राग्वुन इति**। 'पादशतस्य' इत्यादिसूत्रेण विहितत्वात्। **आमादय इति**। 'किमेत्तिङव्ययघात्' इत्येवमादयः। **प्राङ् मयट इति**। 'तत्प्रकृतवचने मयट्'

विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ॥ ८ ॥

अञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकाददिक्स्त्रियां वर्त्तमानात्स्वार्थे विभाषा खः प्रत्ययो भवति । प्राक्, प्राचीनम् । अर्वाक्, अर्वाचीनम् ।

अदिक्स्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक् । प्रतीची दिक् । दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना ब्राह्मणी । अवाचीना शिखा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्रमणीयम् । उदीचीनं दिग्रमणीयम् ॥

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ॥ ९ ॥

जात्यन्तात्प्रातिपदिकाद् बन्धुनि वर्त्तमानात्स्वार्थे छः प्रत्ययो

पदमञ्जरी

'तत्प्रकृतवचने मयट्' इत्यतः प्रागित्यर्थः । *बृहतीजात्यन्ता इति* । बृहतीशब्देन 'बृहत्या आच्छादने' इति विहितः कनुपलक्ष्यते । जात्यन्तशब्देनापि 'जात्यन्ताच्छ बधुनि' इति विहितश्छः । बहुवचननिर्देशादेतत्सूत्रविहितस्य खस्य पाशबादीनां च ग्रहणम् । यो हि वैयाकरणपाशादिशब्देभ्योऽर्थः प्रतीयते, नासौ जातुचित् वैयाकरणादिसामान्यशब्देभ्यः प्रतीयत इति तेऽपि तमबादिवन्नित्या एव । *समासान्त श्चेति* । 'समासान्ताः' इत्यधिकृत्य विहिताः ॥

विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ॥ दिक् चासौ स्त्री चेति दिक्स्त्री, तत्र प्रतिषेधः, न तु दिशि स्त्रियां च; स्त्रीलिङ्गैकवचननिर्देशात् । उदाहरणेषु 'अचः' इत्यकारलोपे कृते 'चौ' इति दीर्घः । *उदीचीनमित्यत्र* तूद 'उद ईत्' इतीत्वम् ।

दिग्ग्रहणं किमिति । अञ्चत्यन्तः स्त्रियां वर्तमानो दिश्येव वर्तत इति प्रश्नः । *प्राचीना ब्राह्मणीति* । क्रियानिमित्तको देशकालनिमित्तको वा ब्राह्मण्यां स्त्रियां वर्त्तते, न दिशीति प्रतिषेधाभावः । *स्त्रीग्रहणं किमिति* । दिग्वृत्तिरञ्चत्यन्तः स्त्रीलिङ्ग एवेति मन्यते । *प्राचीनं दिग्रमणीयमिति* । प्राचीनशब्दाद्दिग्वाचिनः प्रथमासमर्थाद् दिक्शब्देभ्य इत्युत्पन्नस्यास्तातेः 'अञ्चेर्लुक्' इति लुक्, ङीपोऽपि 'लुक् तद्धितलुकि' इति लुक्, ततः 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वात्स्त्रीलिङ्गाभावः । खे तु कृते स्वभावादेव नपुंसकत्वम् ॥

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ॥ *बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धु इति* । 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' इत्यधिकरणे उप्रत्ययः, बध्यते नियम्यते, अस्वतन्त्रीक्रियत इत्यर्थः । एतेन क्रियाशब्दस्येदं ग्रहणम्, न जात्यादिषु रूढस्याप्तपर्या-

न्यासः

इत्यतः । बृहतीजात्यन्तेति । 'बृहत्या आच्छादने' इत्येतत् सूत्रं कनमुपलक्षयति । जात्यन्तशब्देनापि 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इत्येतत् । बहुवचननिर्देशोऽषडक्षादिसूत्रविहितस्य परिग्रहार्थः ॥

विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ॥ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ॥

भवति। बध्यतेऽस्मिञ्जातिरिति बन्धुशब्देन द्रव्यमुच्यते। येन ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद् बन्धु=द्रव्यमुच्यते। ब्राह्मणजातीयः, क्षत्त्रियजातीयः, वैश्यजातीयः—इति ब्राह्मणादिरेवोच्यते।

बन्धुनीति किम्? ब्राह्मणजातिः शोभना॥

स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत्॥ १०॥

स्थानान्तात्प्रातिपदिकाद्विभाषा छः प्रत्ययो भवति सस्थानेन चेत् स्थानान्तमर्थवद्भवति। सस्थान इति तुल्य उच्यते, समानं स्थानमस्येति कृत्वा। पित्रा तुल्यः पितृस्थानीयः, पितृस्थानः। मातृस्थानीयः, मातृस्थानः। राजस्थानीयः, राजस्थानः।

पदमञ्जरी

यस्य बन्धुशब्दस्येति दर्शयति। एतच्च नपुंसकनिर्देशादवसीयते, आप्तपर्यायस्तु पुंल्लिङ्गः। *येन ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यत इति*। व्यक्त्यधीना हि जातेरभिव्यक्तिः, न हि स्वातन्त्र्येण जातुचिज्जातिरुपलभ्यते। एतदेवाभिप्रेत्य—बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धित्युक्तम्। *ब्राह्मणजातीय इति*। भावप्रधानोऽत्र ब्राह्मणशब्दः, 'द्व्येकयोः' इतिवत्, तेन बहुव्रीहिः। *ब्राह्मणादिरेवोच्यते इति*। ब्राह्मणत्वजात्याधारो द्रव्यात्मकः पिण्ड उच्यत इत्यर्थः।

ब्राह्मणजातिरिति। षष्ठीसमासः, कर्मधारयो वा॥

स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत्॥ *सस्थानेन चेदिति*। करणे एषा तृतीया, सस्थानेन सस्थानशब्दवाच्येनार्थेन तुल्यपर्यायेण स्थानान्तं यद्यर्थवद्भवति, एवं प्रत्ययो भवति, नान्यथेत्यर्थः। *सस्थान इति तुल्य उच्यत इति*। स्थानत इति शेषः। स्थानम्=प्राप्तिः, सम्बन्धविशेषः, पदमिति यस्य प्रसिद्धिः। कथं पुनः सस्थानशब्देन तुल्य उच्यते? इत्याह—*समानं स्थानमस्येति*। यस्य समानं स्थानं स सस्थान इत्युच्यते, यश्चैवंविधः स यदपेक्षया तस्य समानं स्थानं तेन तुल्यो भवति, तत्र शब्दभेदेऽपि वस्तुवृत्तेन सस्थानशब्दस्य तुल्यो वाच्यो भवति। सभावः पुनरत्र 'ज्योतिर्जनपद' इत्यादि सूत्रेण। *पितृस्थानीय इति*। पितुरिव स्थानमस्येति बहुव्रीहिः।

न्यासः

स्थानान्ताद् विभाषा सस्थानेनेति चेत्॥ सस्थानेनेति। करणे तृतीया। स्थानेन स्थानवाच्येनार्थेन तुल्यपर्यायेण स्थानान्तं यद्यर्थवद्भवत्येवं प्रत्ययो भवति, नान्यथा। कथं पुनः स्थानशब्देन तुल्यत्वमुच्यते? इत्याह—समानमित्यादि। यस्य समानं स्थानं स सस्थान इत्युच्यते। यश्चैवंविधं स यदपेक्षं तस्य समानं स्थानं स तेन तुल्यो भवतीति। पितृस्थानीय इति। पितृस्थानमिव स्थानं यस्येति 'सप्तम्युपमान' इत्यादिनोत्तरपदलोपो बहुव्रीहिः।

सस्थानेनेति किम्? गोस्थानम्। अश्वस्थानम्।

इतिकरणो विवक्षार्थः। तेन बहुव्रीहिः सस्थानशब्दोऽर्थमुपस्थापयति, न तत्पुरुषः।

चेच्छब्दः सम्बन्धार्थः। द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये नित्यविधय इति पूर्वत्र नित्यविधयः॥

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ॥ ११ ॥

पदमञ्जरी

गोस्थानमिति। तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं देशः। *न तु तत्पुरुष इति*। समानं च तत्स्थानं चेत्येवंरूपस्तत्पुरुषः। स्थानशब्दो नार्थमुपस्थापयति। यद्युपस्थापयेत्, तुल्यं च तत्स्थानं च तुल्यस्थानमित्यादेः कर्मधारयादपि प्रत्ययः स्यात्। अथ बहुव्रीहेस्तुल्यस्थानशब्दात्सस्थानशब्दाद्वाऽयं प्रत्ययः कस्मान्न भवति? कः पुनराह—न भवतीति! नेष्यते इति करणादेव तु न भविष्यति। *चेच्छब्दः सम्बन्धार्थ इति*। चेच्छब्दे सति विभक्तिविपरिणामेनाध्याहारेण वा वाक्यपर्यवसानेन च सम्बन्धो भवति। असति तु तस्मिन्पञ्चम्यन्तेन तृतीयान्तस्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः स्यात्॥

न्यासः

गोस्थानमिति। षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्। भवति ह्येतत् स्थानान्तम् प्रातिपदिकम्, न तु स्थानेन तुल्यार्थेनार्थवतः। यथा स्थानान्तात् प्रत्ययो भवति, तथा तत्पुरुषेणापि स्वस्थानशब्देनार्थ उपस्थापिते तेनार्थेनार्थवतः स्थानात् प्रत्ययेन भवितव्यम्; विशेषानुपादानात्। ततश्च तुल्यश्च तत् स्थानान्तं प्रातिपदिकं स्थानवाच्येनार्थेनार्थवदिति यश्चोदयेत्, तं प्रत्याह—**इतिकरणो विवक्षार्थ इति**। इतिकरणो ह्यत्र विवक्षार्थः क्रियते, तेनायमर्थो लभ्यते—ततश्चेद् विवक्षा भवतीति। बहुव्रीह्यर्थेनार्थवतः स्थानात् प्रत्ययोत्पत्तौ लोकस्य विवक्षा भवति, न तत्पुरुषार्थेनार्थवतः। तस्मात् स्थानान्तस्यार्थमुत्पादयितुम् बहुव्रीहिरेव स्थानशब्दार्थमुत्पादयति, न तु तत्पुरुषः। तेन न भवत्यतिप्रसङ्गः। **चेच्छब्दः सम्बन्धार्थ इति**। स्थानान्तस्य सस्थानसम्बन्धो यथा स्यादित्येवमर्थं चेच्छब्दः; अन्यथा प्रत्ययं प्रति पञ्चम्या स्थानान्तस्य निर्देशात् स्थानान्तस्य सस्थानेन सम्बन्धो न स्यात्। न हि पञ्चम्यन्तेन तस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। चेच्छब्दे तु स चेत् स्थानेनार्थवद् भवतीत्युपपद्यते, न तु सम्बन्धः। **द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये नित्यविधय इति**। यदि नित्या न स्युः, पूर्वैव विभाषोत्तरत्रानुवर्त्तिष्यत इत्युत्तरं विभाषाग्रहणमनर्थकं स्यात्॥

किम एकारान्तात्तिङन्तादव्ययेभ्यश्च यो विहितो घः स किमेत्तिङव्ययघः, तदन्तात्प्रातिपदिकादद्रव्यप्रकर्षे आमु प्रत्ययो भवति। यद्यपि द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षो नास्ति, तथापि क्रियागुणस्थः प्रकर्षो यदा द्रव्ये उपचर्यते तदाऽयं प्रतिषेधः। क्रियागुणयोरेवायं प्रकर्षे प्रत्ययः। किंतराम्। किंतमाम्। पूर्वाह्णेतराम्। पूर्वाह्णेतमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तराम्। उच्चैस्तमाम्।

पदमञ्जरी

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ॥ *किम एकारान्तादित्यादि*। अर्थप्रदर्शनपरमेतत्, सूत्रे तु षष्ठीसमासः, योगविभागाद्वा पञ्चमीसमासः। *यद्यपीति*। द्रव्यं विशेष्यं पर्यवसानभूतम्, तस्य स्वरूपेण प्रकर्षो नास्ति, प्रवृत्तिनिमित्तद्वारक एव तु तस्य प्रकर्षः, यथोक्तं भाष्ये—गुणस्यैव प्रकर्षो न द्रव्यस्येति। गुणः प्रवृत्तिनिमित्तम्। हरिरप्याह—

> द्रव्यस्याव्यपदेश्यस्य न विना भेदहेतुना।
> प्रकर्षो विद्यते नापि शब्दस्योपैति वाच्यताम्॥ इति।

क्रियागुणस्थ इति। प्रवृत्तिनिमित्तभूतस्य सहचरितस्य धर्ममात्रस्योपलक्षणं क्रियागुणग्रहणम्। *द्रव्य उच्यत इति*। द्रव्यनिष्ठोऽभिधीयत इत्यर्थः। *क्रियागुणयोरेवेति*। यो द्रव्यनिष्ठयोरनुविधीयते स तयोरेव प्रकर्षः। *किंतरामिति*। इदं च किमिदं च किम्, इदमनयोरतिशयेन किम् इति तरप् प्रत्ययः। यत्र स्वरूपेण ज्ञातस्य वस्तुनो विशेषाकारा बहवो जिज्ञासितास्तत्र किंशब्दार्थः प्रश्नप्रकृष्ट इव भवति, तदाश्रयः प्रत्ययः। *पूर्वाह्णेतरामिति*। 'घकालतनेषु' इति सप्तम्या अलुक्। तत्रासत्त्वभूतस्य विभक्त्यर्थस्य प्रकर्षः, न कालस्येति नायं द्रव्यप्रकर्षः।

न्यासः

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ॥ **अद्रव्यप्रकर्ष इति**। ननु च द्रव्यस्य न प्रकर्षोऽस्ति, तथा च भाष्ये उक्तम्—'न वै द्रव्यस्य प्रकर्षोऽस्ति' इति, अतः प्रतिषेधोऽनर्थकः? इत्यत आह—यद्यपीत्यादि। दृश्यते चाधेयधर्मस्याधार उपचारः, यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीति। तस्मादाधाराधेययोः क्रियागुणयोर्धर्मः प्रकर्षः। स यदाधारद्रव्य उपचर्यते तदासौ द्रव्यधर्मत्वादुपचारेण द्रव्यधर्मो भवति। अतोऽयं प्रतिषेधः क्रियते। क्रियागुणयोरेवेत्यादि। क्रियाया गुणस्य प्रकर्षो यदा द्रव्ये नोपचर्यते क्रियागुणयोरेव प्रकर्षः, तत्रैव प्रत्ययः। यदि तु द्रव्ये उपचर्यते ततो द्रव्यप्रकर्ष इति वचनात्। किन्तरामिति। वस्तुनो बहवो विशेषाः, तत्र प्रश्नः किंशब्दार्थः। पूर्वाह्णेतरामिति। 'घकालतनेषु कालनाम्नः' इति सप्तम्या अलुक्। ननु च पूर्वाह्णः कालः, कालश्च द्रव्यम्,

अद्रव्यप्रकर्ष इति किम् ? उच्चैस्तरः पर्वतः । उच्चैस्तमः ॥

अमु चच्छन्दसि ॥ १२ ॥

किमेत्तिङव्ययघादद्रव्यप्रकर्षे अमु प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये । चकारादामु च । प्रतरं नयामः । प्रतरां वस्यः । स्वरादिषु अम्, आम् इति पठ्यते, तस्मात्तदन्तस्याव्ययत्वम् ॥

अनुगादिनष्ठक् ॥ १३ ॥

अनुगदतीत्यनुगादी । अनुगादिन्शब्दात्स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति । आनुगादिकः ॥

पदमञ्जरी

उच्चैस्तरामिति । अत्राप्युच्चैःशब्दस्याधिकरणप्रधानत्वान्नायं द्रव्यप्रकर्षः । *उच्चैस्तरः पर्वत इति* । नात्राधिकरणप्रधान उच्चैःशब्दः, किं तर्हि ? उच्चैस्त्वं नाम गुणस्तद्गतः प्रकर्षः पर्वतनिष्ठोऽभिधीयते, स्वभावाच्च तरबन्तस्यात्र सत्त्वभूतार्थाभिधायित्वम् , लिङ्गसंख्यायोगश्च ।

उदित्करणं किम् ? 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्यत्रास्य सामान्यग्रहणं मा भूत् । यदि स्यात् ? किन्तरामित्यत्र परत्वाद्यस्येतिलोपं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुट् प्रसज्येत, मकारस्य त्वित्संज्ञा प्रयोजनाभावादेव न भविष्यतीति ॥

अमु चच्छन्दसि ॥ *प्रतरामिति* । प्रशब्दार्थस्य प्रकर्षस्य प्रकर्षे तरप् प्रकृष्टतर इतिवत् । अत्राप्युदित्करणम् 'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' इत्यत्रास्यापि ग्रहणं मा भूदिति । यदि स्यादत्रापि यद् दृष्टं कार्यं तदप्यतिदिश्येत, तत्र को दोषः ? इह—स्त्रियम्मन्यः, यस्येतिलोपः प्राप्नोति ॥

अनुगादिनष्ठक् ॥ अनुगदतीत्यनुगादी, अस्मादेव निपातनाण्णिनिः, प्रकृतिस्वरूपप्रदर्शनपरं चैतत् । न त्वयं केवलः प्रयोगार्हः; ठको नित्यत्वात् ॥

न्यासः

द्रव्यप्रकर्षे प्रत्ययेन न भवितव्यम्; अद्रव्यप्रकर्ष इति प्रतिषेधात् ? नैव दोष; न ह्यत्र प्रातिपदिकार्थः प्रकर्षे वर्त्तते, किं तर्हि ? विभक्त्यर्थः, स च गुण एव; द्रव्यशक्तिस्वरूपत्वात् कारकाणाम् । अथ वा—वचनसामर्थ्यात् कालप्रकर्षे भवति । न हि कालादन्यस्मादेकारात् परो घो भवति । 'कालनाम्न' इति परतः सप्तम्या अलुग्विधानात् । उच्चैस्तरामिति ॥

अमु च च्छन्दसि ॥ अनुगादिनष्ठक् ॥ अनुगदतीत्यनुगादीति । ग्रहादित्वाण्णिनिः, आवश्यके वा, ताच्छील्ये वा, अस्मादेव निपातनाच्च ॥

णचः स्त्रियामञ् ॥ १४ ॥

'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' इति णज्विहितः, तदन्तात्स्वार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये। व्यावक्रोशी। व्यावहासी वर्त्तते।

स्त्रीग्रहणं किमर्थम्, यावता णच् स्त्रियामेव विहितः, ततः स्वार्थिकस्तत्रैव भविष्यति? एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति—स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपीति। तेन गुडकल्पा द्राक्षा, तैलकल्पा प्रसन्ना, देव एव देवतेत्येवमादि उपपन्नं भवति।

पदमञ्जरी

णचः स्त्रियामञ् ॥ *व्यावक्रोशीति*। व्यवपूर्वात्क्रुशेर्णच्, 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' इति गत्योरपि णजन्तेऽनुप्रवेशात्समुदायादञ्, तस्याञ्त्वादादिवृद्धिः। 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्' इत्येष विधिर्न भवति; 'न कर्मव्यतिहारे' इति निषेधात्।

तत इति। णचः, णजन्तादित्यर्थः। *स्वार्थिकस्तत्रैव भविष्यतीति*। 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति कृत्वा। *अतिवर्त्तन्तेऽपीति*। व्यभिचरन्त्यपीत्यर्थः। अपिशब्दादनुवर्त्तन्तेऽपि, अनुवृत्तिस्तु 'कासूगोणीभ्यां ष्टरच्' इति षित्करणान्ङीषर्थादवसीयते। एकान्ततो निवृत्ते हि षकारोऽनर्थको भवेत्, *तेनेत्यादिना* ज्ञापनस्य प्रयोजनं दर्शयति। *प्रसन्ना*=सुराविशेषः। *देवतेति*। देवशब्दात्पुंल्लिङ्गादेव तल् ॥

न्यासः

णचः स्त्रियामञ् ॥ **व्यावक्रोशीति**। 'क्रुश आह्वाने'—इत्यस्माण्णच्, लघूपधगुणः, णजन्तादञ्। स च कृद्ग्रहणपरिभाषायां सगतिकाद् भवति। तेन सगतिकमेवेह प्रातिपदिकसंज्ञां प्रतिपद्यते, न कर्मव्यतिहार इति प्रतिषेधादेव वृद्धिप्रतिषेधयोरादिवृद्धिरेव भवति। 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्। व्यावहासीति। 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः।

तत इति। णजन्तादिति यावत्। 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते' इति कृत्वा। **एवं तर्हीत्यादिना** स्त्रीग्रहणं ज्ञापकं दर्शयति। **तेनेत्यादिना** ज्ञापकस्य प्रयोजनम्। **अतिवर्त्तन्तेऽपीति**। व्यभिचरन्त्यपीत्यर्थः। अपिशब्दादनुवर्त्तन्तेऽपीति। यदि स्वार्थिकानां प्रकृतितो लिङ्गवचनानुवृत्तिव्यभिचारो ज्ञाप्यते, ततो गुडादिभ्यः पुंल्लिङ्गाद्यनुगतेभ्यश्च स्वार्थे कल्पबादयो भवन्ति, तेषां पुंल्लिङ्गवचनं च तदैव भवेत्, ततश्च गुडकल्पा द्राक्षेत्येवमादि नोपपद्यते। तस्मिंस्तु ज्ञापिते लिङ्गान्तरञ्च भवतीति। तेन सर्वमेतदुपपन्नं भवति। आदिशब्देनापि तैलकल्पा, चातुर्वर्ण्यम्, त्रैलोक्यमित्येवमादीनां ग्रहणम् ॥

अणिनुणः ॥ १५ ॥

'अभिविधौ भावे इनुण्' विहितः, तदन्तात्स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । सांराविणं वर्त्तते । सांकूटिनम् ॥

विसारिणो मत्स्ये ॥ १६ ॥

विसरतीति विसारी । विसारिन्-शब्दात्स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति मत्स्येऽभिधेये । वैसारिणो मत्स्यः ।

मत्स्य इति किम् ? विसारी देवदत्तः ॥

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ॥ १७ ॥

संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानेभ्यः स्वार्थे कृत्वसुच् प्रत्ययो भवति । पौनःपुन्यम्=अभ्यावृत्तिः । एककर्तृकाणां तुल्यजाती-

पदमञ्जरी

अणिनुणः ॥ सांराविणमिति । 'रु शब्दे,' 'कूट दाहे' दीर्घोपधः, 'मृजूष् शुद्धौ'—एतेभ्यः संपूर्वेभ्य इनुण्, पूर्ववत्सगतेरण्, 'इनण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः, एकानुबन्धकपरिभाषया घिनुणोऽत्र ग्रहणाभावः ॥

विसारिणो मत्स्ये ॥ विसारीति । पूर्ववण्णिनिः । *वैसारिण इति ।* पूर्ववत्प्रकृतिभावः ॥

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ॥ अत्र 'उपाय एवाभ्युपायः' इतिवद् आवृत्तिरेवाभ्यावृत्तिरित्याश्रीयमाणे आद्याऽऽवृत्तिर्न भवतीति षट्कृत्वः प्रवृत्तौ पञ्चकृत्व इति स्यात्, अभिग्रहणं चानर्थकम्, क्रियावृत्तिगणन इत्येव वाच्यं स्यात्,

न्यासः

अणिनुणः ॥ सांराविणमिति । 'रु शब्दे' इत्येतस्मादिनुण्, 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः, इनुणन्तादण् । स च पूर्ववत् सगतेरेव भवति । 'इण्यनपत्ये' इति प्रकृतिभावः । सांकूटिनमिति । 'कूट दाहे' इति, 'मृजूष् शुद्धौ', 'मृजेर्वृद्धिः', 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' । घकारे लुप्ते यद्यपीनुण् भवति, तथापि तस्मादण् न भवति; 'स्थानान्ताद्विभाषा' इत्यतो विवक्षार्थस्येतिकरणस्यानुवृत्तेः ॥

विसारिणो मत्स्ये ॥ विसारीति । पूर्ववण्णिनिः । वैसारिण इति । पूर्ववत् प्रकृतिभावः ॥

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ॥ पौनःपुन्यमभ्यावृत्तिरिति । पौनःपुन्येनात्र साहचर्यादेककर्तृकाणां तुल्यजातीयानां सोपलक्ष्यते, अत एवाह—एककर्तृकाणा-

यानां क्रियाणां जन्मसंख्यानं क्रियाभ्यावृत्तिगणनं तत्र प्रत्ययः। पञ्च वारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वः। सप्तकृत्वः।

संख्याया इति किम्? भूरीन्वारान् भुङ्क्ते।

पदमञ्जरी

अतोऽत्र विवक्षितं वक्तव्यम्? तदाह—*पौनः पुन्यमभ्यावृत्तिरिति*। पुनः पुनर्भवितरि वर्त्तमानात् पुनःपुनःशब्दात्प्रवृत्तिनिमित्तस्य भवनस्य निष्कृष्याभिधानाय भावप्रत्ययः। पौनःपुन्यम्=पुनः पुनर्भवनमित्यर्थः, असकृत्प्रवृत्तिरिति यावत्। तत्र चाद्या प्रवृत्तिरन्तर्भवति, तद्यथा—पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहार इत्यत्र योऽपि द्विः पचति तत्रापि पापच्यते इति भवति। उक्तमेवार्थं स्पष्टयति—*एककर्तृकाणामिति*। बहुवचनमतन्त्रम्। द्वयोरपि जननसंख्यानमावृत्तिर्भवत्येव, जननसंख्यानम्=उत्पत्तिगणनम्। भिन्नकर्तृकासु भिन्नजातीयासु च क्रियासु निरन्तरमनुष्ठीयमानास्वपि क्रियाभ्यावृत्तिप्रत्ययाभावादुभयमुपात्तम्। एवम्भूतानां क्रियाणां जन्मन उत्पत्तेर्यत्संख्यानं गणनं तत्क्रियाभ्यावृत्तिगणनम्। एतच्चाभ्यावृत्तिशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेर्लभ्यते, अत एव अभिग्रहणं कृतम्। *पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते इति*। एकैवात्र भुजिक्रिया निवृत्तभेदाख्यातेनाभिधीयते, आवृत्त्याजनितेन फलेनैकीकृतत्वात् तस्या उत्पत्तयः पञ्चसंख्यानेन गण्यन्ते। आवृत्तिकृतं फलमिच्छन्भुजिक्रियायाः पञ्चोत्पत्त्यावृत्तीः करोतीत्यर्थः। अवान्तरफलापेक्षं पञ्चत्वम्, उत्पत्तिभेदश्च।

भूरिवारानिति। वारशब्दस्य क्रियोत्पत्त्याधारजालवाचित्वात् 'कालाध्वनोः' इति द्वितीया। तथा च पुनःपुनःशब्दादुत्पत्त्याधारकालाभिधायित्वात् 'कालाठ्ञ्' भवति—पौनःपुनिक इति। यदि कालशब्दः, वारशब्दः, भूरिशब्दोऽपि तत्समानाधिकरणः काल एव वर्त्तते, न क्रियाभ्यावृत्ताविति कथमत्र प्रसङ्गः? अत्राहुः—कालवाचित्वेऽपि क्रियावृत्तेरपि गम्यमानत्वात्प्रसङ्ग इति। अपर आह—वारशब्दः क्रियागतामावृत्तिं द्योतयन् क्रियाविशेषणत्वात्कर्म। नपुंसकत्वं तु न भवति, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य; वारशब्दस्य नित्यपुंल्लिङ्गत्वात्—भूरिवारान् भुङ्क्ते। कोऽर्थः? आवृत्तानि बहूनि भोजनानि करोतीत्यर्थः। अत्र 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इत्यत्र बहुगणग्रहणं नियमार्थम्—अनियतप्रचयवाचिनां मध्ये एतयोरेवेति, तेन भूरिशब्दस्य लौकिकसंख्यावाचित्वेऽप्यत्र ग्रहणाभावः।

न्यासः

मित्यादि। एककर्तृकाणामित्यत्र हि संख्येयानुकृष्ट उपसंख्यातगुणस्तन्मात्रे वर्त्तते। संख्याशब्देऽत एव व्यतिरेकनिबन्धना षष्ठी भवति। क्रियागणनमभ्यावृत्तिर्भवत्येव। पञ्चकृत्वो भुङ्क्त इति। क्रियायाः पञ्चोत्पत्तीः करोतीत्यर्थः।

भूरीन् वारान् भुङ्क्त इति। यदि संख्याग्रहणं न क्रियते, ततो यथा पञ्चादिभ्यः संख्याशब्देभ्यः प्रत्ययो भवति, तथा भूर्य्यादिभ्योऽपि स्यात्। संख्याग्रहणान्न भवति।

क्रियाग्रहणं किमर्थम्, यावताभ्यावृत्तिः क्रियाया एव सम्भवति, न द्रव्यगुणयोः ? उत्तरार्थं क्रियाग्रहणम्।

'एकस्य सकृच्च' इत्यत्रापि क्रियैव गण्यते, नाभ्यावृत्तिः; असम्भवात्।

अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? क्रियामात्रगणने मा भूत्—पञ्चपाकाः, दशपाकाः।

पदमञ्जरी

अभ्यावृत्तिः क्रियाया एव सम्भवतीति। साध्यार्थविषयत्वात्तस्याः। *न द्रव्यगुणयोरिति*। तयोः सिद्धस्वभावतया शब्देनाभिधानात्। पुनः पुनर्दण्डी, पुनः पुनः स्थूल इत्यत्रापि गम्यमानाया भवतिक्रियाया एवाभ्यावृत्तिः, न तु द्रव्यगुणयोः। *एकस्य सकृच्चेत्यत्रापीत्यादि*। एकशब्देन ह्येकैव क्रियाव्यक्तिराख्यायते। न च तस्यामावृत्तेः सम्भवः; तत्रासति क्रियाग्रहणे 'एको भुङ्क्ते' इत्यत्रापि स्यात्। तस्मादुत्तरार्थं क्रियाग्रहणम्। एवं च—क्रिया चाभ्यावृत्तिश्च क्रियाभ्यावृत्ती, तयोर्गणनं क्रियाभ्यावृत्तिगणनमिति द्वन्द्वगर्भः षष्ठीसमास इति केचित्। अन्ये तु—इहार्थमपि सुखप्रतिपत्तये क्रियाग्रहणं मन्यमानाः षष्ठीतत्पुरुषगर्भं तत्पुरुषं वर्णयन्ति। तत्र गुणभूतस्यापि क्रियाग्रहणस्य निष्कृष्य सम्बन्धः तद्ग्रहणसामर्थ्याद्वेदितव्यः।

पञ्चपाका इति। अत्र कर्तृभेदेन वा भिन्नकालाः क्रिया एव गण्यन्ते, नाभ्या-

न्यासः

अभ्यावृत्तिः क्रियाया एव सम्भवतीत्यादि। ननु च द्रव्यगुणयोरपि सम्भवति–पुनः पुनर्दण्डी, पुनः पुनः स्थूल इत्यादि ? नैतदस्ति; अत्र सामर्थ्यात् क्रियाभ्यावृत्तिः—पुनः पुनर्दण्डी भवति, पुनः पुनः स्थूलो भवतीति। तस्मादभ्यावृत्तिः क्रियाया एव सम्भवति, न द्रव्यगुणयोरपि। पुनः पुनर्दण्डीति—अत्र सामर्थ्याल्लभ्या क्रियेति क्रियाग्रहणं न कर्त्तव्यम्।

एकस्य सकृच्चेत्यत्रेत्यादि। एकशब्देन ह्येकैव क्रियाव्यक्तिराख्यायते। न चैकस्यां क्रियाव्यक्तावभ्यावृत्तिः सम्भवति, किं तर्हि ? अनेकासु क्रियाव्यक्तिषु। तथा च प्रागुक्तम्—एककर्तृकाणामित्यादि। तस्मादेकस्य सकृच्च क्रियैव गण्यते, नाभ्यावृत्तिः। तस्मादसति क्रियाग्रहणे एकशब्दात् क्रियागणने प्रत्ययो न लभ्यते। तस्मादुत्तरार्थं क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्।

पञ्चपाका इति। 'क्रियागणने' इत्येतावत्युच्यमानेऽत्रापि स्यात्, अस्ति ह्यत्र क्रियागणनम्। अभ्यावृत्तिर्हि भिन्नकालानां क्रियाणां भवति, इह त्वभिन्नकाला एव पाका गण्यन्त एव, अतस्तद्व्यावृत्तिः। ननु च क्रियाप्यत्र नास्त्येव, धात्वर्थस्य सिद्धताख्यो यो धर्मस्तस्मिन् घञो विधानात् ? नैष दोषः; सापि सिद्धता क्रियाप्रदेशेषु क्रियाग्रहणेन गृह्यत एव; धर्मधर्मिणोर्भेदस्याविवक्षितत्वात्। अन्यथा कारकस्य गतिः,

गणनग्रहणं किमर्थम्, यावता गणनात्मिकैव संख्या ? अक्रियमाणे गणनग्रहणे क्रियाभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्येयवचनेभ्य एव प्रत्ययः स्यात्—शतवारान्भुङ्क्ते शतकृत्व इति । इह न स्यात्—शतं वाराणां भुङ्क्त इति, न ह्यत्राभ्यावृत्तौ शतशब्दः; संख्यानमात्रवृत्तित्वात् । गणनग्रहणात्तु सर्वत्र सिद्धं भवति ।

पदमञ्जरी

वृत्तिः । सा हि भिन्नकालानामेककर्तृकाणामेककर्मकाणां च नैरन्तर्ये सति भवति । यद्यप्यत्र धात्वर्थस्य सिद्धताख्ये धर्मे घञो विधानम्, तथापि धातुनाऽत्रापि साध्यस्वभावा क्रियैवाभिधीयत इति तदाश्रयः प्रत्ययः स्यादेव । तथा च—कारकस्य गतिः, कारकस्य व्रज्येत्यत्र 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति ण्वुल् भवति ।

अक्रियमाण इत्यादि । आ दशभ्यः संख्याः संख्येय एव वर्त्तन्ते, अतः परं संख्याने संख्येये च । तत्रासति गणनग्रहणे क्रियाभ्यावृत्तौ संख्येयायां वर्त्तमानेभ्यः संख्येयवचनेभ्य एव प्रत्ययः स्यात्, संख्याने तु वर्त्तमानेभ्यो न स्यात्, तदाह—*इह न स्यादिति* । *शतं वाराणामिति* । इयमप्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । किं कारणं न स्यात् ? इत्यत आह—*न ह्यत्रेति* । कारणमाह—*संख्यानमात्रवृत्तित्वादिति* । *गणनग्रहणात्त्विति* । 'क्रियाभ्यावृत्तिगणने' इति विषयनिर्देशः, तत्र ये संख्येयवचनाः, ये च संख्यानमात्रवचनाः—द्वयेऽपि ते गणनाविषया भवन्तीति सर्वत्र सिद्धिः । ननु शतं वाराणामित्यत्र यदा वाराणामिति प्रयुज्यते, तदा सापेक्षत्वात् प्रत्ययेन न भाव्यम् ? यदा तर्ह्यर्थात्, प्रकरणाद्वाऽपेक्ष्यं निर्ज्ञातं भवति तदा भविष्यति । यद्येवम्, संख्येयवचनादेव शतकृत्व इति भविष्यति, न हि 'शतकृत्वो भुङ्क्ते' इत्यत्र वाराणामिति वारानिति वा प्रयोगार्हम्, तस्मात्प्रयोजनदिगियं दर्शिता । इदं तु प्रयोजनम्—यत्र साक्षादभ्यावृत्तिगणनं तत्र यथा स्याद्, अभ्यावृत्तिगणनसम्भवमात्रे मा भूत्—सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभत इति । अस्ति ह्यत्रालभतिक्रियायाः प्रतिपशु वस्तुतोऽभ्यावृत्तिः, तस्या विषयभूतायाः साधनगणनवृत्तेरपि सप्तदशशब्दात् प्रत्ययः स्यात् ॥

न्यासः

कारकस्य व्रज्येत्यत्र 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इति ण्वुल् न स्यात् । अक्रियमाण इत्यादि । द्विविधाः संख्याशब्दाः–केचित् संख्याने वर्त्तन्ते, केचित् संख्येये । तत्र यदि गणनग्रहणं न क्रियेत, तदा क्रियाभ्यावृत्तौ संख्येये वर्त्तमानेभ्यः संख्येयवचनेभ्य एव प्रत्ययः स्यात् । शतं वारान् भुङ्क्ते शतकृत्वो भुङ्क्त इति । अत्र सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन क्रियाभ्यावृत्तौ संख्येये शतशब्दो वर्त्तते । अत एव सामानाधिकरण्यम् । शतं वारानिति संख्याने वर्त्तमानेभ्यो न स्यादिति दर्शयितुमाह–इह न स्यादिति । कुत एतदित्याह—संख्यानमात्रवृत्तित्वादिति । मात्रशब्दः संख्येयं विहाय शतं वाराणामिति स्यात् ॥

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥ १८ ॥

द्वि, त्रि, चतुर्—इत्येतेभ्यः संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्तमानेभ्यः सुच् प्रत्ययो भवति। कृत्वसुचोऽपवादः। द्विर्भुङ्क्ते। त्रिर्भुङ्क्ते। चतुर्भुक्तम्। चकारः स्वरार्थः ॥

एकस्य सकृच्च ॥ १९ ॥

एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्च प्रत्ययः क्रियागणने। कृत्वसुचोऽपवादः। अभ्यावृत्तिस्त्विह न सम्भवति। सकृद् भुङ्क्ते। सकृद धीते।

एकः पाकः—इत्यत्र न भवति; अनभिधानात् ॥

पदमञ्जरी

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥ *सकृदिति*। 'रात्सस्य' इति सुचो लोपः। *सुचश्चकारः स्वरार्थ इति*। 'चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' इति वचनाच्चतुरित्यस्यान्तोदात्तो भवति; अन्यथा 'चतेरुरन्' इत्युरन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः स्यात् ॥

एकस्य सकृच्च ॥ *सकृदिति*। 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सुचो लोपः। सुचश्चकारोऽत्राप्यन्तोदात्तार्थः, अन्यथा 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' इति कन्प्रत्ययान्त एकशब्द आद्युदात्त इति तस्य स्थाने भवन्सकृच्छब्द आन्तर्यत आद्युदात्तः स्यात्। *एकः पाक इत्यत्रेत्यादि*। अपर आह—'अभ्यावृत्तिग्रहणादेव सिद्धे पूर्वसूत्रे क्रियाग्रहणं क्रियाविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन साध्यस्वभावैव क्रिया गृह्यते। पाकादिभिस्तु शब्दैः सिद्धस्वभावाऽभिधीयते, यादृशी च पूर्वसूत्रे क्रिया गृहीता तादृश्येवात्राप्यनुवर्त्तते' इति। तत्र च पाकादिशब्दप्रयोगे प्रत्ययाभाव इति घञन्ताद्यन्तप्रयोगेऽपि कृत्वोऽर्थप्रत्ययः क्वचित् लिङ्गाद् 'द्विर्वचनेऽचि' इति साधनीयो मनीषिभिः ॥

न्यासः

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥ चतुर्भुक्तमिति। 'रात् सस्य' इति सकारलोपः। चकारः स्वरार्थ इति। प्रकृतेरन्तोदात्तत्वं यथा स्यादिति। प्रत्ययस्य तु चकारः स्वरार्थं नोपपद्यते; तस्यानच्कत्वात्। चतुःशब्दमेव प्रकृतिं प्रति चकारस्य स्वरार्थत्वम्, नोत्तरयोः; तयोरुदात्तत्वात्। चतुःशब्दस्तु 'चतेरुरन्' इत्युरन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

एकस्य सकृच्च ॥ सकृद् भुक्तमिति। 'संयोगान्तस्य' इति प्रत्ययसकारलोपः। चकारोऽन्तोदात्तार्थः। असति तु तस्मिन् 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' इति कन्प्रत्ययान्तत्वान् नित्स्वरेणैकशब्द आद्युदात्त इति स्थानिवद्भावादादेशोऽप्याद्युदात्त एव स्यात्, चित्त्वादन्तोदात्तो भवति। अथैकः पाक इत्यत्र कस्मान्न भवति, अस्ति ह्यत्र क्रियागणनम्? इत्याह—एकः पाक इत्यादि ॥

विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ॥ २० ॥

बहुशब्दात् क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्तमानात् विभाषा धा प्रत्ययो भवति। कृत्वसुचोऽपवादः। पक्षे सोऽपि भवति। अविप्रकृष्टग्रहणं क्रियाभ्यावृत्तिविशेषणम्। क्रियाणामुत्पत्तयश्चेदासन्नकालाः भवन्ति, न विप्रकृष्टकालाः। बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते। बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते। अविप्रकृष्टकाल इति किम्? बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते ॥

तत्प्रकृतवचने मयट् ॥ २१ ॥

'तत्' इति प्रथमा समर्थविभक्तिः, प्राचुर्येण प्रस्तुतम्=प्रकृतम्। प्रथमासमर्थात् प्रकृतोपाधिकेऽर्थे वर्तमानात्स्वार्थे मयट् प्रत्ययो भवति। टकारो ङीबर्थः। अन्नं प्रकृतम् अन्नमयम्। अपूपमयम्।

पदमञ्जरी

विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ॥ अविप्रकृष्टकालग्रहणं क्रियाभ्यावृत्तिविशेषणमिति। यद्यप्येवम्, तथापि गणनग्रहणेनैवास्य शब्दोऽन्वय इति नपुंसकलिङ्गमेव भवति, न स्त्रीलिङ्गम्। गणनस्याविप्रकृष्टकालत्वं गण्यमानानामभ्यावृत्तिनामविप्रकृष्टकालत्वे सतीत्यर्थप्राप्तं वृत्तिकारेण दर्शितम्। *बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते इति।* 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे' इति षष्ठी, अविप्रकृष्टकालत्वं चाभ्यावृत्तीनां तत्तत्क्रियावशेन व्यवतिष्ठते। *बहुकृत्वो मासस्य भुङ्क्ते इति।* अत्राभ्यावृत्तेर्विप्रकृष्टकालताऽशक्तिदारिद्र्याद्यपेक्षया द्रष्टव्या ॥

तत्प्रकृतवचने मयट् ॥ प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतमिति। यद्यपि प्रस्तुतमात्रवचनः प्रकृतशब्दः, तथापीह वचनग्रहणादयं विशेषो लभ्यते। वचनग्रहणं हि यादृशस्य प्रकृतस्य लोके मयटा वचनं प्रत्यायनं तत्र यथा स्यादित्येवमर्थम्। *प्रथमासमर्थादिति।* केन पुनः प्रथमान्तस्य सामर्थ्यं प्रत्ययस्तावत्स्वार्थिकः? यद्यपि स्वार्थिकः, प्राचुर्य तु तस्य द्योत्यम्। तच्च प्रकृत्यर्थगतमित्येतावदत्र सामर्थ्यम्।

न्यासः

विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले। बहुशब्दोऽपि सामान्य एव; प्रकारेऽपि वृत्तेः। तत्रानेकक्रियाभ्यावृत्तेरविप्रकर्ष एव तावन् न्याय्यः, प्रकरणाद्यपेक्षश्च। कृत्वसुजपि न शक्नोत्यस्मिन् विषये वर्तितुम्। तस्माद् विभाषाग्रहणं न कर्त्तव्यम् ॥

तत्प्रकृतवचने मयट् ॥ प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतमिति। कुतः पुनरयं विशेषो लभ्यते, यावता प्रस्तुतमात्रवचनः प्रकृतशब्दः वचनग्रहणादिह प्रकृत इति वक्तव्ये वचनग्रहणम्—यादृशस्य लोके प्रकृतस्य मयटो वचनं प्रत्ययान्तेन दृष्ट तत्रैव मयड्यथा स्यादित्येवमर्थम्। लोके च मयट्प्रत्ययान्तैरन्नमयादिशब्दैः प्रकृतस्य प्राचुर्य्यमुच्यत इति वचनग्रहणादेष विशेषो लभ्यते।

अपरे तु पुनरेवं सूत्रार्थमाहुः—प्रकृतमित्युच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम् । तदिति प्रथमासमर्थात् प्रकृतवचनेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति । अन्नं प्रकृतमस्मिन्नन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व । वटकमयी यात्रा ।

द्वयमपि प्रमाणम्; उभयथा सूत्रप्रणयनात् ॥

समूहवच्च बहुषु ॥ २२ ॥

'तत्प्रकृतवचने' इत्येव । बहुषु प्रकृतेषूच्यमानेषु समूहवत्प्रत्यया भवन्ति । चकारान्मयट् च । मोदकाः प्रकृताः=प्राचुर्येण प्रस्तुताः मौदकिकम्, मोदकमयम् । शाष्कुलिकम्, शष्कुलीमयम् ।

अतिवर्तन्तेऽपि स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनानि ।

द्वितीये सूत्रार्थे—मोदकाः प्रकृता अस्मिन्यज्ञे मौदकिको यज्ञः, मोदकमयः । शाष्कुलिकः, शष्कुलीमयः ॥

अनन्तावसथेतिहभेषजाञ् ञ्यः ॥ २३ ॥

पदमञ्जरी

अपरे पुनरित्यादि । अत्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तर एव प्रत्ययः, तत्पुनरर्थान्तरं ल्युटा प्रतिपादितम् । सप्तम्यर्थ उच्यमानता प्रकृतता च प्रकृत्यर्थविशेषणम्, तद्दर्शयति—*अन्नं प्रकृतमस्मिन्निति* ।

उभयथा सूत्रप्रणयनादिति । प्रकारद्वयसाधारण्येन सूत्रस्य प्रणयनादित्यर्थः । अत्र प्रथमे व्याख्याने तदिति विस्पष्टार्थम्; 'देवात्तल' इत्येवमादिवत्समर्थविभक्तेः सिद्धत्वात् ॥

समूहवच्च बहुषु ॥ *आपूपिकम्, मौदकिकमिति* । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' ॥

न्यासः

अपरे त्वित्यादि । अत्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तर एव प्रत्ययः । प्रकृतशब्देन प्रस्तुतमात्रमुच्यते । न तु प्राचुर्य्यविशिष्टं प्रकृतमित्येष विशेषः ।

उभयथेत्यादि । उभयथाप्यस्मिन्नर्थे सूत्रस्य प्रणयनादित्यर्थः ॥

समूहवच्च बहुषु ॥ **मौदकिकमिति** । यथा समूहे 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' इति ठग् मोदकादिभ्यो भवति; तथेहापि च मोदकशब्दात्, स्वार्थवाचिनः पुंल्लिङ्गाच्च । स्त्रीलिङ्गादिभ्यः स्वार्थे ठग् विहितः, ततश्च 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते' इति प्रकृतिगतेनैव लिङ्गादिना भवितव्यम्, तत् कथमिदं प्रत्ययान्तरस्य नपुंसकलिङ्गं वचनान्तरं च ? इत्यत आह—अतिवर्त्तन्तेऽपीत्यादि । एतच्च 'णचः स्त्रियाम्' इत्यत्र ज्ञापितम् ॥

अनन्तादिभ्यः स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति। अनन्त एव आनन्त्यम्। आवसथ एवावसथ्यम्। इति ह ऐतिह्यम्। निपातसमुदायोऽयमुपदेशपारम्पर्ये वर्तते। भेषजमेव भैषज्यम्।

महाविभाषया विकल्पते प्रत्ययः॥

देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्॥ २४॥

देवताशब्दान्तात् प्रातिपदिकाच्चतुर्थीसमर्थात् तादर्थ्ये यत् प्रत्ययो भवति। तदर्थ एव तादर्थ्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्ष्यञ्। तदिति प्रकृत्यर्थो निर्दिश्यते। अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यम्। पितृदेवत्यम्। वायुदेवत्यम्॥

पदमञ्जरी

अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः॥ आवसन्त्येतमित्यावसथः, 'उपसर्गे वसेः' इत्यथप्रत्ययः। *निपातसमुदायोऽयमिति*। वचनाच्चाप्रातिपदिकादपि प्रत्ययः। *उपदेशपारम्पर्यं वर्त्तते इति*। तद्यथा—इति ह स्मोपाध्याः कथयन्तीति। भिषज्यतेः कण्ड्वादियगन्तात्क्विपि भिषक्, भिषज इदमित्यण्—*भेषजम्*, अस्मादेव निपातनादेकारः॥

देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्॥ *चतुर्थीसमर्थादिति*। तादर्थ्ये चतुर्थ्या उपसंख्यानादेतल्लभ्यते। *पितृदेवत्यमिति*। कर्मधारयात्प्रत्ययः। कथं पुनरत्र सामानाधिकरण्यम्? कथं च न स्यात्? जातिभेदात्, अन्या हि पितृजातिरन्या च देवताजातिः, दर्शयति च—देवा मनुष्याः पितरस्तेऽन्यत आसन्निति, देव एव देवता—स्वार्थिकस्तल्? एवं तर्हि तल्प्रत्ययस्य प्रकृतिर्देवशब्दः पचाद्यचि ऐश्वर्यार्थाद्दिवेः साध्यः; न जातिवचनः; ततः सामानाधिकरण्यं स्याद्देवतापितृशब्दयोः। एवं च देवदेवत्यमित्येतदपि सिद्ध्यति। यागसम्प्रदानमन्त्रस्तुत्यं वा देवता, न जातिविशेष इत्यर्थः॥

न्यासः

अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः॥ **उपदेशपारम्पर्ये वर्त्तत इति**। इति ह स्मोपाध्यायः कथयति, इति ह स्म पिता कथयतीत्यत्रैव प्रयोगदर्शनात्॥

देवतान्तात् तादर्थ्ये यत्॥ **चतुर्थीसमर्थादिति**। तादर्थ्ये चतुर्थी; उपसंख्यानात्। 'चतुर्थी तदर्थार्थ' इति चतुर्थी भवतीति ज्ञापकाद्वा। 'तादर्थ्ये चतुर्थ्या भवितव्यम्' इति चतुर्थीसमर्थात् प्रत्ययो विज्ञायते। तदर्थ एव तादर्थ्यमिति स्वार्थे ष्यञं दर्शयति। कथं पुनः स्वार्थे ष्यञ्? इत्याह—**चातुर्वर्ण्यादीत्यादिना**। चातुर्वर्ण्यादिसिद्ध्यर्थं स्वार्थे ष्यञ उपसंख्यानं कृतम्, अयं तु चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्। **अग्निदेवतायै इति**। अग्निश्चासौ देवता चेति विशेषणसमासः॥

पादार्घाभ्यां च ॥ २५ ॥

'तादर्थ्ये' इत्येव। पादार्घशब्दाभ्यां चतुर्थीसमर्थाभ्यां तादर्थ्येऽभिधेये यत्प्रत्ययो भवति। पादार्थमुदकं पाद्यम्। अर्घ्यम्। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। यथादर्शनमन्यत्रापि प्रत्ययो भवति—एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिः।

वसु, अयस्, ओक, कवि, क्षेम, उदक, वर्चस्, निष्केवल, उक्थ, जन, पूर्व, नव, सूर, मर्त, यविष्ठ—इत्येतेभ्यः छन्दसि स्वार्थे यत्प्रत्ययो भवति। अग्निरीशे वसव्यस्य। अयस्यो वसानाः। द्वितीयाबहुवचनस्यालुक्। अयो वसाना इत्यर्थः। स्वओक्ये। कव्योऽसि। क्षेम्यस्य वस्यति। वायुर्वर्चस्यः। निष्केवल्यं शंसति। उक्थ्यं शंसति। जन्यं ताभिः। पूर्व्या विशः। स्तोमैर्जनयामि नव्यम्। सूर्यः। मर्त्यः। यविष्ठ्यः॥

॥ आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकेत्युपसंख्यानम् ॥।

पदमञ्जरी

पादार्घाभ्यां च ॥ गन्धोदकादिसमुदायोऽर्घः, तदर्थमुदकादि=अर्घ्यम्। छन्दस्य *इति*। यथा गायत्र्यादिवृत्तं छन्दःशब्दोऽभिधत्ते, तथाऽऽश्रावयेत्यादिकमपि सप्तदशाक्षरसमाहारम्, तत्र वर्त्तमानाच्छन्दःशब्दात्स्वार्थे प्रत्ययः, व्यत्ययेन पुंल्लिङ्गता।

द्वितीयाबहुवचनस्य लुगिति। छान्दसत्वात्। अत एव यदन्तात्प्रथमैकवचनं पुंल्लिङ्गं च भवति।

अमुष्यशब्दो नडादिः, *अमुष्यपुत्रशब्दो* मनोज्ञादिः; उभयत्र षष्ठ्या अलुगुपसंख्यायते। प्रत्ययप्रकरणे प्रासङ्गिकमेतत्, स चालुक् तयोरेव गणयोस्तथैव पाठात्सिद्धः।

न्यासः

पादार्घाभ्याञ्च ॥ **छन्दस्य इति**। सप्तदशाक्षरसमाहाराभिधायिनश्छन्दःशब्दात् स्वार्थे यत्प्रत्ययो भवति।

द्वितीयाबहुवचनस्यालुगिति। अप्शब्दाद् द्वितीया बहुवचनान्ताद् यति कृते 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि प्राप्तेऽलुग् भवति, 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति कृत्वा।

आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकेत्युपसंख्यानमिति। विभक्तेरलुगर्थमेतदुपसंख्यानान्तरम्, न प्रत्ययार्थम्। आमुष्यायणमित्यमुष्यशब्दो नडादिषु पठ्यते, ततः फकि कृते विभक्तेः

❀ समशब्दादावतुप्रत्ययो वक्तव्यः ❀ । समावद्वसतु ।

❀ नवस्य नू आदेशः, त्नप्तनप्खाश्च प्रत्ययाः ❀ । नूत्नम् । नूतनम्। नवीनम् ।

❀ नश्च पुराणे प्रात् ❀ । पुराणे वर्त्तमानात् प्रशब्दान्न प्रत्ययो भवति। चकारात् त्नप्तनप्खाश्च। प्रणम्। प्रत्नम्। प्रतनम्। प्रीणम् ।

❀ भागरूपनामभ्यो धेयः प्रत्ययो वक्तव्यः ❀ । भागधेयम् । रूपधेयम् । नामधेयम् ।

❀ मित्राच्छन्दसि ❀ । मित्रधेयं यतस्व ।

❀ आग्नीध्रसाधारणादञ् ❀ । आग्नीध्रम् । साधारणम् । स्त्रियां ङीप्—आग्नीध्री, साधारणी ।

वाप्रकरणाच्च विकल्पन्ते एतान्युपसंख्यानानि, तेन यथाप्राप्तमपि भवति—आग्नीध्रा शाला, साधारणा भूरिति ।

❀ अयवसमरुद्भ्यां छन्दस्यञ्वक्तव्यः ❀ । आयवसे[1] रमन्ते । मारुतं शर्धः[1] ॥

अतिथेर्ञ्यः ॥ २६ ॥

'तादर्थ्ये' इत्येव । अतिथिशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् तादर्थ्येऽभिधेये ञ्यः प्रत्ययो भवति । अतिथये इदम् आतिथ्यम् ॥

पदमञ्जरी

समशब्दादावतुप्रत्यय इति । उकार उगित्कार्यार्थः–समावती यज्ञस्याशीरिति ङीब् भवति ।

'अग्नीधः शरणे रण् भत्वं च'—आग्नीध्रम्, ततोऽञ्–आग्नीध्री । समानं धारणमस्य साधारणम्, अनेकं प्रत्यविशिष्टसम्बन्धम् । पृषोदरादित्वात्समानस्य सभावः, ततोऽञ् । *साधारणी* । ङीबर्थं वचनम् । क्षेमशब्दाद्यो वक्तव्यः, यति हि सति 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं स्याद्, अन्तोदात्तत्वं चेष्यते ॥

न्यासः

लुकि प्राप्तेऽलुग्वक्तव्यः । नडादिषु सविभक्तिकस्य पाठसामर्थ्याद्ध्यलुग्भविष्यति । अमुष्यपुत्रिकेत्यत्र त्वमुष्यपुत्रशब्दो मनोज्ञादिषु पठ्यत इति विभक्तेर्लुकि प्राप्तेऽलुग्वक्तव्यः । मनोज्ञादिषु पाठाद्वा सिद्धमिति न वक्तव्यम् । उभयत्र 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति मत्वोत्वे ॥

---

[1]-[1]. 'आयवसः सामः, मारुतः पर्वतः' इति पाठा० ।

देवात्तल् ॥ २७ ॥

'तादर्थ्ये' इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययो भवति । देव एव देवता ॥

अवेः कः ॥ २८ ॥

अविशब्दात् स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति । अविरेवाविकः ॥

यावादिभ्यः कन् ॥ २९ ॥

'याव'– इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति । याव एव यावकः । मणिकः ।

याव । मणि । अस्थि । चण्ड । पीतस्तम्ब । * ऋतावुष्णशीते * । * पशौ लूनवियाते * । * अणु निपुणे * । * पुत्र कृत्रिमे * । * स्नात वेदसमाप्तौ * । * शून्य रिक्ते * । * दान कुत्सिते * ।

पदमञ्जरी

यावादिभ्यः कन् । ऋतावुष्णशीते इति । उष्णक ऋतुः, शीतक ऋतुः । ऋतोरन्यत्र तु—उष्णोऽग्निः, शीतमुदकम् । *पशाविति ।* लूनकः पशुः, वियातकः पशुः । अन्यत्र–लूना दर्भाः, वियातो नीचः । *अणु निपुण इति ।* अणुकः=सूक्ष्मदृक्, निपुणः । अन्यत्राणुरेव । *पुत्र कृत्रिमे ।* पुत्रको लोहादिनिर्मितः, अन्यत्र पुत्र एव । *स्नात वेदसमाप्तौ ।* यस्याध्येतव्यो वेदः समाप्तः=पारं प्राप्तः, स वेदमधीत्य स्नास्यन्नित्यादिस्वगृह्योक्तप्रकारेण स्नानाय चोदितः स्नातकः=समावृत्त उच्यते । अन्यत्र—नद्यां स्नातः । *शून्य रिक्त इति ।* उदकादिना रिक्तो घटः शून्यकः । अन्यत्र—शून्यः प्रत्ययः, बाह्यार्थरहित इत्यर्थः । तथा शुने हितः शून्यः, गवादिषु 'शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं च' इति पठ्यते । *दान कुत्सिते ।*

न्यासः

अतिथेर्ञ्यः ॥ देवात् तल् ॥ अवेः कः ॥ यावादिभ्यः कन् ॥ ऋतावित्यादि । उष्णशीते शब्दरूपे कनमुत्पादयत ऋतावभिधेये—उष्णक ऋतुः, शीतक ऋतुः । अन्यत्र उष्णः, शीत इत्येव भवति । **पशौ लूनवियाते इति ।** लूनवियाते शब्दरूपे कनमुत्पादयतः पशावभिधेये—लूनकः पशुः, वियातकः पशुः । पशोरन्यत्र—लूनम्, वियातम् । **अणु निपुण इति ।** अणुशब्दो निपुणार्थः कनमुत्पादयति, अणुको निपुण इत्यर्थः । अन्यत्राणुरित्येव भवति । **पुत्रः कृत्रिम इति ।** पुत्रशब्दः कृत्रिमेऽर्थे कनमुत्पादयति—पुत्रकः । अन्यत्र पुत्रः । **स्नात वेदसमाप्ताविति ।** स्नातशब्दः कनमुत्पादयति वेदसमाप्तौ विवक्षितायाम् । यस्य वेदः समाप्तः स स्नातक इत्युच्यते । वेदसमाप्ताविति

❀ तनु सूत्रे ❀ । ❀ ईयसश्च ❀ । श्रेयस्कः । ज्ञात । ❀ कुमारीक्रीडनकानि च ❀ । यावादिः ॥

लोहितान्मणौ ॥ ३० ॥

लोहितशब्दान्मणौ वर्त्तमानात्स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति । लोहितो मणिः लोहितकः ।

मणाविति किम् ? लोहितः ॥

वर्णे चानित्ये ॥ ३१ ॥

अनित्ये वर्णे वर्त्तमानाल्लोहितशब्दात्स्वार्थे कन्प्रत्ययो भवति । लोहितकः कोपेन । लोहितकः पीडनेन ।

पदमञ्जरी

कुत्सितं दानं दानकम् । *तनु सूत्रे* । तनुकं सूत्रम्=सूक्ष्मतन्तुः, अन्यत्र तनुः=शरीरम् । *ईयसश्च* । ईयसुन्नन्ताच्च स्वार्थे कन् भवति–श्रेयस्कम् । *कुमारीक्रीडनकानि च* । कुमारीणां यानि क्रीडनकानि=क्रीडासाधनानि तानि कनमुत्पादयन्ति—कण्डु(दु)कम् ॥

वर्णे चानित्ये ॥ सत्येवाश्रये यल्लौहित्यमपगच्छति तदनित्यम् । *लोहितकः कोपेनेति* । कोपे सति भवति कोपापगमे च सत्येवाश्रये निवर्त्तत इत्यनित्यमेतत् लौहित्यम् ।

न्यासः

किम् ? नद्यां स्नातः । शून्य रिक्त इति । शून्यशब्दः कनमुत्पादयति रिक्ते तुच्छेऽभिधेये—शून्यकः, तुच्छ इत्यर्थः । अन्यत्र शून्यम् । दान कुत्सित इति । दानशब्दः कुत्सिते कनमुत्पादयति–कुत्सितं दानं दानकम् । अन्यत्र तु दानम् । तनु सूत्रे इति । तनुशब्दः प्रत्ययमुत्पादयति सूत्रे—तनुकम् । अन्यत्र तनुः । ईयसश्चेति । ईयस्प्रत्ययान्तात् कन् भवति—श्रेयस्कः । कुमारीक्रीडनकानि चेति । कुमारीणां यानि क्रीडनकानि तानि कनमुत्पादयन्ति—कन्दुकम् ॥

लोहितान्मणौ ॥ वर्णे चानित्ये ॥ लोहितकः कोपेनेति । लोहितशब्दवाच्यो वर्णः कोपे सति भवति । स्थित एव च देवदत्ते कोपविगमे गच्छतीत्यनित्यो भवति । अथ वर्णग्रहणं किमर्थम्, यावता लोहितशब्दो वर्ण एव वर्तते ? नैतदस्ति; मणिनिमित्तोऽप्ययं द्रव्येऽपि वर्त्तत एव, तत्रासति वर्णग्रहणे द्रव्यस्याप्यनित्यग्रहणं विशेषणं विज्ञायेत, ततश्च लोहितकाः पार्थिवाः परमाणव इति प्रत्ययो न स्यात्; तेषां नित्यत्वात् । वर्णग्रहणे तु सति वर्णस्यैवानित्यग्रहणं विशेषणं भवतीति नित्ये प्रत्ययः सिद्धो

अनित्य इति किम् ? लोहितो गौः । लोहितं रुधिरम् ।

❀ लोहितात्लिङ्गबाधनं वा वक्तव्यम् ❀ । लोहितिका कोपेन । लोहिनिका कोपेन ॥

रक्ते ॥ ३२ ॥

पदमञ्जरी

लोहितो गौरिति । यावदाश्रयभावित्वादयं नित्यो वर्णः ।

लोहितं रुधिरमिति । विषादिदूषितं रुधिरं कदाचित्कृष्णमपि भवतीति विशेषणम् । वर्णग्रहणं किम् ? अनित्यत्वं विशेषणं यथा विज्ञायेत, अन्यथा लोहितशब्दो वर्णप्रवृत्तिनिमित्तमुपादाय यत्र द्रव्ये पर्यवस्यति, तत्रापि विशेषणं सम्भाव्येत । तत्र को दोषः ? इह च स्यात्—लोहितो गौरिति । इह च न स्यात्—लोहितकाः पार्थिवाः परमाणवोऽग्निसंयोगेनेति । तथा वर्णनिरपेक्षो रुधिराख्ये द्रव्ये लोहितशब्दस्तस्यापि ग्रहणं स्यात् , अनित्यग्रहणमिदानीं किमर्थं स्यात् ! ननु सर्वमेव रुधिरमनित्यं यत्सत्येवाश्रये कादाचित्कम् , यथा—स्त्रीणामार्त्तवम् , तस्य ग्रहणार्थं स्यात् , तस्माद्वर्णग्रहणम् ।

लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा इति । ङ्याप्सूत्र एतद्व्याख्यातम् ॥

न्यासः

भवति । अपि च—लोहितशब्दो वर्णनिमित्त एव रुधिराख्ये वर्त्तते । तच्च सर्वत्रैवानित्य इति विशेषणोपादानसामर्थ्यादनित्ये कार्यविशेष उच्यते । स पुनः सत्येवाश्रये कदाचिद् भवति, कदाचिन्नेति । तेन यदेतत् स्त्रीणामार्त्तवं लोहितं तत्रैव स्यात् । तस्माद्वर्णग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

लोहितो गौः, लोहितं रुधिरमित्यत्र यावदाश्रयस्तावदवस्थानादनित्यो वर्णो न भवति । ननु चायमप्याश्रयविनाशेन विनाशादनित्य एव ? सत्यमेतत् ; सर्व एव हि वर्ण ईदृशः । उच्यते चेदमनित्य इति विशेषणोपादानसामर्थ्यात् । तेन प्रकर्षेण योऽनित्य इति विज्ञायते, स पुनः सत्येवाश्रये, अभूत्वा भवतीति, यो भूत्वा प्रतिगच्छति स एव भवितुमर्हति ।

लोहिताल्लिङ्गबाधनमित्यादि । लिङ्गाधिकारे यो विहितः प्रत्ययः स उपचाराल्लिङ्गशब्देनोक्तः, तस्य लोहितशब्दाद् बाधनं भवतीति वक्तव्यम् ; अन्यथा स्त्रीत्वस्य वर्णानित्यस्य युगपद्विवक्षायां लोहितशब्दाद् 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति यो ङीप् प्राप्नोति स कना नित्यं बाध्येत । तस्य हि हरितवर्णादिरवकाशः प्राप्नोति, तत्र कनि कृते तदन्ताट्टापि लोहितकेत्येव स्यात् , लोहिनिकेत्येवं तु न प्राप्नोति । तस्माद्धि लिङ्गबाधनं कर्त्तव्यम् । एवं लोहितशब्दाद् वर्णादनुदात्तादिना ङीपि तकारस्य नकारे ततोऽनेन कन् । 'केऽणः' इति ह्रस्वत्वे कृते लोहिनिकेति सिद्धं भवति ॥

लाक्षादिना रक्ते यो लोहितशब्दः, तस्मात् कन्प्रत्ययो भवति। लोहितकः कम्बलः। लोहितकः पटः।

लिङ्गबाधनं वेत्येव—लोहितिका, लोहिनिका शाटी॥

कालाच्च॥ ३३॥

'वर्णे चानित्ये', 'रक्ते' इति द्वयमप्यनुवर्तते। कालशब्दादनित्ये वर्त्तमानाद्रक्ते च कन् प्रत्ययो भवति। कालकं मुखं वैलक्ष्येण। रक्ते—कालकः पटः। कालिका शाटी॥

विनयादिभ्यष्ठक्॥ ३४॥

'विनय'—इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति। विनय एव वैनयिकः। सामयिकः। औपयिकः। विभाषाग्रहणेन विकल्प्यते प्रत्ययः।

विनय। समय। ❁ उपायाद् ह्रस्वत्वं च ❁। सङ्गति। कथ-

पदमञ्जरी

रक्ते॥ यत्र द्रव्यान्तरसम्पर्केण लौहित्यं तथाधीयते यथा यावदाश्रयमवतिष्ठते, तत्रानित्यत्वाभावात्पूर्वेण न प्राप्नोतीत्ययमारम्भः। नन्वेवमपि रञ्जनात् प्राक् सत्येव पदादावाश्रये लौहित्यस्यावस्थानाभावादस्त्येवानित्यता, न कारणावस्थायामेव रञ्जनात्? तदेतदेव वचनं ज्ञापकम्—पूर्वत्रायावद्द्रव्यभावित्वमनित्यत्वम्, न पुनराद्यन्तभाव इति। तादृशस्य त्वनित्यत्वस्य ग्रहणे तैजसानां परमाणूनां यल्लौहित्यं तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यैव लौहित्यस्य नित्यत्वादिदं वचनमनर्थकं स्यात्॥

कालाच्च॥ *द्वयमप्यनुवर्त्तत इति*। द्वयस्यापि स्वरितत्वात्, न त्वनन्तरं 'रक्ते' इत्येतदेवेत्यपिशब्दार्थः। *वैलक्ष्येणेति*। विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्=लज्जा। *कालकः पट इति*। नील्यादिना कालतामापादित इत्यर्थः॥

विनयादिभ्यष्ठक्॥ *उपायाद् ह्रस्वत्वं चेति*। उपायशब्दष्ठकमुत्पादयति, ह्रस्वत्वं चापद्यते। स च ह्रस्व आकारस्यैव भवति; अन्यस्याचः स्वत एव ह्रस्वत्वात्।

न्यासः

रक्ते॥ लाक्षादिना रक्त इति। ननु च लाक्षादिना य आधीयते लोहितो वर्णः, तस्यानित्यत्वात् पूर्वसूत्रेणैव सिद्धम्? यदा हि तेन योगविशेषेण तथाविधं स्थैर्यमुत्पद्यते; यतः स्वाश्रयं न जहाति तदा नित्यत्वान्न प्राप्नोति, तदर्थमिदमुच्यते॥

कालाच्च॥ विनयादिभ्यष्ठक्॥ उपायाद् ह्रस्वत्वञ्चेति। उपायशब्दष्ठकमुत्पादयति, ह्रस्वत्वञ्च प्रतिपद्यते—औपयिकः॥

ञ्चित् । अकस्माद् । समयाचार । उपचार । समाचार । व्यवहार । सम्प्रदान । समुत्कर्ष । समूह । विशेष । अत्यय[1] । विनयादिः ॥

वाचो व्याहृतार्थायाम् ॥ ३५ ॥

व्याहृतः=प्रकाशितोऽर्थो यस्यास्तस्यां वाचि वर्त्तमानाद्वाच्–शब्दात्स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति । पूर्वमन्येनोक्तार्थत्वात् सन्देशवाग्=व्याहृतार्थेत्युच्यते । वाचिकं कथयति । वाचिकं श्रद्दधे ।

व्याहृतार्थायामिति किम् ? मधुरा वाक् देवदत्तस्य ॥

तद्युक्तात्कर्मणोऽण् ॥ ३६ ॥

व्याहृतार्थया वाचा यत्कर्म युक्तं तदभिधायिनः कर्मशब्दात्

पदमञ्जरी

अकस्मादित्यत्र पठ्यते, तदकारान्तम्, तेन 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कादेशो न भवति—आकस्मिकः, अव्ययत्वाट्टिलोपः ॥

वाचो व्याहृतार्थायाम् ॥ *व्याहृत इति* । उक्त इत्यर्थः । *अन्येनेति* । संदेष्ट्रा । तेन हि पूर्वमुक्तस्तस्यार्थः संदेशहरं प्रति । *सन्देशवागिति* । सन्देशरूपा वाक् सन्देशवाक्, सन्दिश्यते इति सन्देशः, तस्य वाक् संदेशवाक् यया संदिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ।

अपर आह—लेख्यादिनावधारितेऽर्थे प्रवर्त्तमाना वाक् व्याहृतार्थेति । 'अतिवर्त्तन्ते च स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनानि' इति नपुंसकत्वम् ॥

तद्युक्तात्कर्मणोऽण् ॥ *कर्मशब्दादिति* । एतेन 'कर्मणः' इति स्वरूपग्रहणम्, नेप्सिततमादेरिति दर्शयति । एतच्च व्याख्यानाल्लभ्यते । *कार्मणमिति* । 'अन्'

न्यासः

वाचो व्याहृतार्थायाम् ॥ व्याहृत इति । उक्त इत्यर्थः । अन्येनेति । संदेष्ट्रा । न हि पूर्वं सा वाक् संदिष्टा । तेन हि पूर्वं सन्दिशता सन्देशवाक् भवति । यया सन्दिष्टोऽर्थोऽभिधीयते, सा च सन्देशवागुच्यते ॥

तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ॥ कर्मशब्दादिति । एतेन कर्मण इति स्वरूपस्य ग्रहणम्, नेप्सिततमस्येति दर्शयति । ननु च कर्मशब्दस्य संज्ञाशब्दत्वादीप्सिततमस्यैव ग्रहणं युक्तम्, न स्वरूपस्येति ? नैतदस्ति; इह हि 'स्थानान्तात्' इत्यादेः सूत्रादितिकरणोऽनुवर्तते, तेनायमर्थो लभ्यते—ततश्चेद्विवक्षा भवतीति । कर्मशब्दाच्च प्रत्ययोत्पत्तौ लोके विवक्षा भवति, नेप्सिततमात् । न हि तत उत्पन्नेनाणा व्याहृतार्थवाचा युक्तं कर्म शक्यते द्योतयितुम्, कर्मशब्दात् तूत्पन्नेन शक्यते । तस्मात् स्वरूपस्यैव ग्रहणं

---

१. 'अस्थि, कण्डु'—एतौ शब्दावत्र गणेऽधिकौ क्वचित् ।

स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । कर्मैव कार्मणम् । वाचिकं श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते ।

❀ अण्प्रकरणे कुलालवरुडनिषादकर्मारचण्डालमित्त्रामित्रेभ्यश्छन्दस्युपसंख्यानम् ❀ । कुलाल एव कौलालः । वारुडः । नैषादः । कार्मारः । चाण्डालः । मैत्त्रः । आमित्रः ।

❀ सान्नाय्यानुजावरानुषूकाष्टुभचातुष्प्राश्यराक्षोघ्नवैयातवैकृतवारिवस्कृताग्रायणाग्रहायणसान्तपनाः ❀ । एतेऽणन्ताः स्वार्थिकाश्छन्दसि भाषायां चेष्यन्ते ।

ओषधेरजातौ ॥ ३७ ॥

पदमञ्जरी

इति प्रकृतिभावः । *तथैवेति* । यथैव व्याहृतार्थया वाचा प्रतिपादितम्—एवमेतत्त्वया कर्त्तव्यमिति, तथैवेत्यर्थः ।

अण्प्रकरण इति । प्रज्ञादिष्वपाठः—एतेषां भाषायामण्सा भूदिति । *सान्नाय्येत्यादि* । सान्नाय्यादयः शब्दाः प्रज्ञादिषु द्रष्टव्या इत्यर्थः । अन्तोदात्तार्थं चेह सान्नाय्यशब्दस्य ग्रहणम्, रूपं तु 'पाय्यसान्नाय्य' इति निपातनादेव सिद्धम् । *आनुजावर इति* । अनुजावर इत्यस्मादेव निपातनात्पञ्चमीसमासः, ततोऽण् । *आनुषूक इति* । सूतिः सूः, सम्पदादित्वात् क्विप्, अनुगता सूरेतमिति बहुव्रीहिः, कप्, 'पूर्वपदात्' इति षत्वम् । *चातुष्प्राश्यमिति* । चतुर्भिः प्राश्यमिति 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः, ततोऽण् । आधाने व्रीह्योदनस्येदमभिधानम् । 'इदुदुपधस्य' इति षत्वम् । *राक्षोघ्नमिति* । रक्षांसि हन्यन्तेऽनेनेति घञर्थे कः । वियातविकृतशब्दाभ्यामण्—*वैयातः*, *वैकृतः* । वरिवः=परिचर्या, तत्करोति वरिवस्कृत्, क्विप्, 'अतः कृकमि' इति सत्वम्, वरिवस्कृदेव *वारिवस्कृतः*=परिचारकः । अग्रमयनमस्य, अग्रे हायनमस्येति बहुव्रीहिभ्यामण्—*आग्रायणं* कर्म । नानिष्ट्वाग्रायणेनाहिताग्निर्नवस्याश्नीयादिति । *आग्रहायणी*, अणन्तान् ङीप् । सन्तप्यतेऽनेनेति सन्तपनः, सन्तपन एव *सान्तपनः*=कृच्छ्रः ॥

न्यासः

युक्तम् । कार्मणमिति । 'अन्' इति प्रकृतिभावः । तथैवेति । यथैव व्याहृतार्थया वाचा प्रतिपादितम्—एवं कर्त्तव्यमिति, तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः ।

अण्प्रकरण इत्यादि । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । तत्रेदं प्रतिपादनम्—प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् कुलालादयस्तत्रैव द्रष्टव्याः । तेन 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण् भविष्यतीति । यद्येवम्, भाषायामपि स्यात् ? नैष दोषः; 'विभाषा बहोः' इत्यादिसूत्राद् विभाषेत्यनुवर्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा छन्दस्येव भविष्यति, न भाषायामिति ।

ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानात्स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । औषधं पिबति । औषधं ददाति ।

अजाताविति किम् ? ओषधयः क्षेत्रे रूढा भवन्ति ॥

प्रज्ञादिभ्यश्च ॥ ३८ ॥

प्रजानातीति प्रज्ञः । 'प्रज्ञ'–इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । स्त्री–प्राज्ञी । यस्यास्तु प्रज्ञा विद्यते सा प्राज्ञा भवति । 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणः' इति ।

विदन्नित्यत्र पठ्यते, विदेः शत्रन्तस्य ग्रहणम्, 'विदेः शतुर्वसुः' इत्यत एव ज्ञापकात् पाक्षिको वस्वादेशः ।

अन्यतरस्यांग्रहणं वा तत्रानुवर्तते—'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति ।

पदमञ्जरी

ओषधेरजातौ ॥ *औषधं पिबतीति* । पथ्या-शुण्ठी-सैन्धवादीनां कल्के औषधशब्दो वर्त्तते । *औषधयः क्षेत्ररूढा इति* । फलपाकावसानेषु जातिविशेषेष्वत्रौषधिशब्दः ॥

प्रज्ञादिभ्यश्च ॥ *प्रजानातीति प्रज्ञ इति* । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः । अथ किमर्थमुभयं क्रियते, इह च प्रज्ञशब्दः पठ्यते, मत्वर्थे च प्रज्ञाशब्दाण्णो विधीयते, यः प्रजानाति तस्य प्रज्ञाऽस्ति, यस्य च प्रज्ञास्ति स प्रजानातीति, ततश्चान्यतरेणैव प्राज्ञ इति सिद्धम् ?—इत्याशङ्क्य स्त्रियां विशेष इति दर्शयति—*स्त्रियामित्यादि* ।

न्यासः

सान्नायेत्यादि । सान्नायानुजावरानुषूकानुष्टुभचातुष्प्राश्यराक्षोघ्नवैयातवैकृतवारिवस्कृताग्रायणाग्रहायणसान्तपनाश्छन्दसि भाषायाञ्चेष्यन्ते । तस्मात्सान्नायादयः । एषां प्रकृतयः प्रज्ञादिष्वेव द्रष्टव्याः । अत्र चाग्रायणाग्रहायण–इत्यत्रेकारान्ताभ्यामाग्रायण्यग्रहायणीशब्दाभ्यामन्यत्राकारान्तेभ्योऽनुजावरादिभ्यः प्रत्ययः । सान्नाय्यशब्दस्य चेहान्तोदात्ता ग्रहणम् । रूपं तु 'पाय्यसान्नाय्य' इति निपातनादेव सिद्धम् ॥

ओषधेरजातौ ॥ **औषधं पिबतीति** । फलादौ वर्त्तमानादोषधिशब्दात् प्रत्ययः, स च जातिर्न भवति; 'आकृतिग्रहणा जातिः' इत्यादेर्लक्षणस्याभावात् ।

ओषधयः क्षेत्रे रूढा भवन्ति । अत्र फलपाकान्ता जातिः, तत्रौषधिशब्दो वर्त्तते ॥

प्रज्ञादिभ्यश्च ॥ **प्रजानातीति प्रज्ञ इति** । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' । ननु च यः प्रजानाति तस्य प्रज्ञास्तीति 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणः' इति मत्वर्थेनैव णेन सिद्धम्, तत् किमर्थं प्रज्ञाशब्दादण् विधीयत इति ? अस्य चोद्यस्य निराकरणाय स्त्रियां विशेषं दर्शयन्नाह—स्त्री प्राज्ञीत्यादि । विदेः शत्रन्तस्य ग्रहणमिति । न तु 'विदेः शतुर्वसुः' इत्यादि ।

प्रज्ञ । वणिक् । उशिक् । उष्णिक् । प्रत्यक्ष । विद्वस् । विदन् । षोडन् । षोडश । विद्या । मनस् । ॐ श्रोत्र शारीरे ॐ । श्रौत्रम् । ॐ जुह्वत् कृष्णमृगे ॐ । चिकीर्षत् । चोर । शक । योध । वक्षस्[1] । धूर्त्त । वस् । एत् । मरुत् । क्रुङ् । राजा । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । आतुर[2] । रक्षस् । पिशाच । अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु । प्रज्ञादिः ॥

मृदस्तिकन् ॥ ३९ ॥

मृच्छब्दात्स्वार्थे तिकन् प्रत्ययो भवति । विकल्पः सर्वत्रानुवर्तते । मृदेव मृत्तिका ॥

पदमञ्जरी

विदन्, षोडन्निति विभक्त्यन्तयोः पाठ एकत्वविवक्षार्थः । वैचित्र्यार्थः इत्यन्ये । *श्रोत्र शरीरे ।* यः श्रोत्रशब्दः शरीरे वर्त्तते, असौ अणमुत्पादयति—श्रौत्रम् । अन्यत्र श्रोत्रमिन्द्रियम् । *जुह्वत्कृष्णमृग इति ।* कृष्णमृगे वर्त्तमानाज्जुह्वच्छब्दादण्प्रत्ययो भवति—जौह्वतः कृष्णमृगः । अन्यत्र जुह्वत् । अपर आह—कृष्णमृगे वर्त्तमानात्कृष्णशब्दादण्प्रत्ययो भवति—कार्ष्णो मृगः । अन्यत्र तु कृष्णः, जुह्वच्छब्दात्त्वविशेषेणाण्भवतीति । *सत्वन्त्विति ।* सच्छब्दो मत्वन्त आगतनुम्को गृह्यते, सत्वानेव सात्वतः ॥

मृदस्तिकन् ॥ 'प्रत्ययस्थात्' इत्येव सिद्धे तिकन इकारोच्चारणम् यत्रापो लुक् क्रियते तदर्थम्—पञ्चभिर्मृत्तिकाभिः क्रीतः पटः पञ्चमृत्तिक पटः ॥

न्यासः

श्रोत्र शारीर इति । शरीरे यः श्रोत्रशब्दो वर्त्तते तस्मादण् भवति—श्रौत्रम् । अन्यत्र श्रोत्रम् । **जुह्वदिति ।** जुह्वच्छब्दात् कृष्णमृगे वर्त्तमानादण् भवति—जौह्वतः । जुह्वदित्येवान्यत्र । अन्ये कृष्ण मृगे इति पृथक् पठन्ति । कृष्णशब्दादण् भवति मृगेऽभिधेये—कार्ष्णो मृगः, कृष्ण एवान्यत्र । जुह्वच्छब्दादविशेषेणास्मिन् पाठे प्रत्ययः । **सत्वन्त्विति ।** सच्छब्दो यो मतुप्प्रत्ययान्तः सः सत्वानेव सात्वतः ।

प्रज्ञादिरयमाकृतिगणः । तामेवास्याकृतिगणतां बोधयितुमनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः कृतः । तेन कुलालकुक्कुटादिभ्योऽण् सिद्धो भवति ।

मृदस्तिकन् ॥ किमर्थं पुनस्तिकन् विधीयते, न तकन्नेव विधीयेत, नित्यश्च स्त्रीप्रत्ययोऽयम्, तत्र टापि कृते 'प्रत्ययस्थात् कात्' इतीत्त्वेनैव सिद्धम् ? यत्र तर्हि लुग्भावः क्रियते, तत्र न सिद्ध्येत्—पञ्चभिर्मृत्तिकाभिः क्रीतः पञ्चमृत्तिक इति । तत्र हि

१. 'चक्षष्' इति पाठ० ।
२. 'असुर' इति पाठ० ।

सस्नौ प्रशंसायाम् ॥ ४० ॥

प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्त्तमानाद् मृच्छब्दात् स, स्न–इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृद् मृत्सा । मृत्स्ना ।

नित्यश्चायं प्रत्ययः; उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणात् ॥

वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ चच्छन्दसि ॥ ४१ ॥

'प्रशंसायाम्' इत्येव । वृकज्येष्ठाभ्यां प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्तमानाभ्यां यथासंख्यं तिल्–तातिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये । रूपपोऽपवादः । वृकतिः । ज्येष्ठतातिः ॥

बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ॥ ४२ ॥

बह्वर्थादल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दाच् शस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम् । विशेषानभिधानाच्च सर्वं कर्मादिकारकं गृह्यते । बहूनि ददाति, बहुशो ददाति । अल्पं ददाति, अल्पशो ददाति ।

पदमञ्जरी

सस्नौ प्रशंसायाम् ॥ *उत्तरसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणादिति* । मृच्छब्दस्य सामान्यशब्दत्वात्, मृदित्युक्ते प्रशंसाया अनवगमाच्च ।

इह 'प्रशंसायां रूपप्' इत्यस्यानन्तरम्—'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि, मृदस्सस्नौ, तिकंश्च' इति वक्तव्यम् ? तथा तु न कृतमित्येव ॥

बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ॥ *कारकाभिधायिनः शब्दादिति* । पञ्चकपक्षे प्रातिपदिकात्, त्रिकपक्षे सुबन्तात् । गहादिषु 'मध्यमध्यमं चाण्चरणे' इत्यविशेषाभिधानेऽपि पृथिवीमध्यस्य मध्यमभाव इत्युक्तम्, इह तु न तथेत्याह–*अविशेषाभिधानाच्चेति* । *एवमादीति* । आदिशब्देनापादानाधिकरणयोरुदाहरणपरिग्रहः—बहुभ्य आगच्छति बहुश आगच्छति; बहुषु निदधाति बहुशो निदधाति; एवमल्पेभ्योऽल्पशः, अल्पेष्वल्पशः ।

न्यासः

'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः' इत्यादिनाऽऽर्हीयस्य ठको लुकि कृते 'लुक् तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक् । तत्र यदि तकन् विधीयते, तदा टापोऽभावादिकारो न श्रूयेत, प्रक्रियागौरवं च स्यात्; इकारस्य शास्त्रान्तरेण विधीयमानत्वात् ॥

सस्नौ प्रशंसायाम् ॥ **वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि** ॥ **बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्** ॥ इत्येवमादीनाति । आदिशब्देनापादानाधिकरणविषयोदाहरणपरिभाषाग्रहणम्—बहुभ्यो ह्यत्रागच्छति बहुश आगच्छतीति, अल्पश आगच्छतीति । बहुशो निदधाति ।

बहुभिर्ददाति, बहुशो ददाति। अल्पेन, अल्पशः। बहुभ्यः, बहुशः। अल्पाय, अल्पशः। इत्येवमाद्युदाहार्यम्।

बह्वल्पार्थादिति किम्? गां ददाति। अश्वं ददाति। कारकादिति किम्? बहूनां स्वामी। अल्पानां स्वामी।

अर्थग्रहणात् पर्यायेभ्योऽपि भवति—भूरिशो ददाति। स्तोकशो ददाति।

❀ बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम् ❀। यत्र मङ्गलं गम्यते तत्रायं प्रत्यय इष्यते। बहुशो ददातीत्याभ्युदयिकेषु कर्मसु। अल्पशो ददातीत्यनिष्टेषु कर्मसु॥

संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्॥ ४३॥

पदमञ्जरी

बहूनां स्वामीति। शेषे षष्ठीविधानान्न कारकाभिधायी बहुशब्दः।

पर्यायेभ्योऽपीति। अपिशब्दाद्विशेषेभ्योऽपि। तत्र वृत्तौ पर्यायस्योदाहरणम्। विशेषस्य तु—त्रिशो ददातीति, वीप्साया अन्यत्र। वीप्सायां तूत्तरेण सिद्धम्।

आभ्युदयिकेष्विति। अभ्युदयप्रयोजनेषु अग्न्याधेयादिषु अनिष्टेषु भयादिनिमित्तेषु दानेषु। प्रायिकं चैतन्मङ्गलवचनम्, अन्यत्रापि हि दृश्यते। 'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इति कारकत्वं समासक्रियां प्रति पञ्चम्याः कर्मत्वात्तदभिधायित्वाच्चाल्पशब्दस्य द्रष्टव्यम्। उदीरितं च—'अल्पा पञ्चमी समस्यते' इति॥

न्यासः

बहूनां स्वामीत्यत्र शेषस्य विवक्षितकारकाभिधायी बहुशब्दो न भवति।

अर्थग्रहणादित्यादि। असति ह्यर्थग्रहणे बह्वल्पशब्दाभ्यामेव प्रत्ययः स्यात्। तस्मिंस्तु सति पर्यायेभ्योऽपि भवति।

बह्वल्पार्थादित्यादि। बह्वल्पार्थात् प्रत्यये विधातव्ये मङ्गलवचनं कर्त्तव्यम्। मङ्गलवचनेन चेह व्याख्यानमुच्यते, व्याख्यायते तेनेति कृत्वा। कथं पुनः कारणस्य मङ्गलवचनं कर्त्तव्यम्? इत्याह—यत्रेत्यादि। तत्रेदं व्याख्यानम्—इह प्रशंसाग्रहणमनुवर्त्तते, प्रशंसार्थां प्रत्ययेन भवितव्यम्, तच्चाभ्युदयिकेषु। बहुशो ददाति, नाल्पशः—एवं प्रशंसा भवति। इदमेव वचनमाभ्युदयिकेषु बहुशो लोके दानविषयेषु; अन्यथा तेनास्य ग्रहणानुवृत्तेर्मङ्गले गम्यमाने प्रत्ययो न भवतीति।

अथ वा-इहापीतिकरणानुवृत्तेर्मङ्गल एव भवति, नान्यत्रेति। शसः सकारस्येत्संज्ञा न भवति; प्रयोजनाभावात्॥

संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य एकवचनाच्च वीप्सायां द्योत्यायां शस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम् । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशः । त्रिशः । एकवचनात्खल्वपि—कार्षापणं कार्षापणं ददाति कार्षापणशः । माषशः । पादशो ददाति ।

एकोऽर्थ उच्यते येन तदेकवचनम् । कार्षापणादयश्च परिमाण-शब्दा वृत्तावेकार्था एव भवन्ति ।

पदमञ्जरी

संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ॥ 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचने प्राप्ते तद-पवादः शस्विधीयते । कथं तर्हि 'एकैकशः पितृसंयुक्ताम्' इति शस्द्विर्वचनयोः सहप्रयोगः ? छन्दोवदृषयः कुर्वन्ति ।

यद्यत्र पारिभाषिकस्यैकवचनस्य ग्रहणं स्यात्—सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो घटंघटं ददातीत्यत्रापि स्यात्; घटशब्दस्यैकवचनान्तत्वादित्यालोच्यान्वर्थस्यैकवचन-स्यात्र ग्रहणमित्याह—*एकोऽर्थं उच्यते येनेति* । नन्वेवमपि स दोषस्तदवस्थ एव, एकवचनान्तस्यैकार्थत्वात् ? इत्यत आह—*कार्षापणादयश्चेति* । अनेन वृत्तस्यै-कार्थताऽऽश्रीयते, न वाक्यगतेति दर्शयति । वृत्तौ न घटादयो जातिशब्दा अनेकार्था भवन्ति, जातियोगस्यैकानेकसाधारणत्वात्; किन्त्वभेदैकत्वसंख्यामु-माददते; कार्षापणादयस्तु परिमाणवचना अक्तपरिमाणमर्थमाचक्षाणा न मात्र-यापि न्यूनाधिकभावे भवन्ति । वाक्ये तु कार्षापणौ, कार्षापणा इत्येकशेषबलात् अक्षाः, पादाः, माषा इतिवदेकजात्यन्वयरहितानेकार्थप्रतीतिः । वृत्तौ तु विभक्त्यै-कशेषयोरभावात्स एव केवलोऽक्तपरिमाणोऽर्थोऽवतिष्ठते । अतः कार्षापणादय एवोदाहरणमिति *जयादित्यो* मन्यते ।

न्यासः

संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ॥ 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनेन तदपवादः शस्विधायते ।

एकोऽर्थ उच्यते येन तदेकवचनमिति एतेन सहार्थैकवचनान्तादित्यभिप्रायः । ननु चान्वर्थग्रहणेन च प्राप्नोत्येव, भवति ह्येकवचनम्, एकार्थवृत्तित्वात् ? नैष दोषः, न हि वाक्यस्यैकार्थता प्रत्ययविधावाश्रीयते । किं तर्हि ? वृत्तिस्था । न वृत्तौ च निवृत्तायां विभक्तौ घटादय एकशब्दा एकवचनान्ता भवन्ति; जातिशब्दत्वात् । जातिशब्दा हि नैकस्यामेकजात्याधारभूतायां व्यक्तौ वर्त्तन्ते, किं तर्हि ? अनेकस्या-मपि । तदेषामेकार्थवृत्तित्वं वाक्य एव विभक्तिसंख्याश्रयणे प्रतीयते, न वृत्तौ; विभक्तेर्निवृत्तत्वात् । कार्षापणादयश्चेत्यादि । 'कार्षापणादयः शब्दाः परिमाणाः' इत्युक्तम्, परिमाणस्य विशेषस्य वाचका इत्यर्थस्याधिक्ये तेषां वृत्तिर्न सम्भवति । वाक्ये तु तेषां प्रयोगेऽनेकार्थप्रतीतिः—कार्षापणौ, कार्षापणा इति, सा विभक्तिर्न तेभ्यः ।

संख्यैकवचनादिति किम् ? घटं घटं ददाति । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति । कार्षापणं ददाति ।

'कारकात्' इत्येव—द्वयोर्द्वयोः स्वामी । कार्षापणस्य कार्षापणस्य स्वामी ॥

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥ ४४ ॥

प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः प्रत्ययो भवति । प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति । अभिमन्युरर्जुनतः प्रति ।

वाग्रहणानुवृत्तेर्विकल्पेन भवति—वासुदेवात्, अर्जुनादित्यपि भवति ।

पदमञ्जरी

वामनस्तु 'जश्शसोः शिः' इत्यत्रोदाहरिष्यति—'जसा सहचरितस्य शसो ग्रहणादिह न भवति—कुण्डशो ददाति, वनशः प्रविशति' इति । स मन्यते—जातिशब्दोऽपि यदा अर्थप्रकरणादिना वृत्तावेकार्थीभवति, भवत्येव तदा ततोऽपि शसिति—द्वयोर्द्वयोः स्वामीति । कथं तर्हि—

अव्रतानामविद्यानां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ इति ?

कथं च न स्याद् ? वीप्साया अभावाद्, अकारकत्वाद्, अनेकवचनत्वाच्च, अयं ह्यत्रार्थः—एवम्भूतानां ब्राह्मणां सहस्रस्यापि परिषत्त्वं न विद्यत इति ? नायमत्रार्थो यथा त्वमात्थ, किं तर्हि ? सहस्रं सहस्रं ये समेतास्तेषामप्येवम्भूतानां परिषत्त्वं नास्तीति, तत्र समवायक्रियायां कर्तृत्वाद्वीप्सायाश्चाभावाच्छस् भवति ॥

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥ प्रतिना कर्मप्रवचनीयेनेत्यादि । 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमी ।

न्यासः

वृत्तौ तु सा विभक्तिर्नास्तीति तेनैकार्था भवन्ति । वृत्तिस्थैकार्थता प्रत्ययविधावाश्रीयते, न वाक्यस्थेत्युक्तमेतत् ।

घटं घटं ददातीति । घटादयः शब्दा वृत्तावेकार्था न भवन्ति । एतच्च प्रतिपादितम् । यदान्वर्थाः प्रकरणादिसहिता घटादयोऽपि जातिशब्दा एकार्था भवन्ति, तदा भवितव्यमेव शसा; अन्यथा 'जश्शसोः शिः' इत्यत्र यद् वक्ष्यति—'जसा सहचरितस्य शसो ग्रहणमित्यत्र न भवति—कुडवशो ददाति, शतशः प्रविशति' इति, तद्व्याहन्यते; कुडवादिशब्दस्यापि जातिशब्दत्वात् ॥

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥ प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रतीति । 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमी, ततस्तसिः । तसेरिकारो मुखसुखार्थः । ननु च सकारस्येत्संज्ञा मा भूदित्येवमर्थः स्यात् ? नैतदस्ति; प्रयोजनाभावादेव हि तस्येत्संज्ञा न भविष्यति ।

❀ तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् ❀। आदौ आदितः। मध्यतः। पार्श्वतः। पृष्ठतः। आकृतिगणश्चायम्॥

अपादाने चाहीयरुहोः॥ ४५॥

अपादाने या पञ्चमी तस्याः पञ्चम्या वा तसिः प्रत्ययो भवति। तच्चेदपादानं हीयरुहोः सम्बन्धि न भवति। ग्रामत आगच्छति, ग्रामात्। चोरतो बिभेति, चोरात्। अध्ययनतः पराजयते, अध्ययनात्।

पदमञ्जरी

आद्यादिभ्य उपसंख्यानमिति। 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' इत्येतदत्र लिङ्गम्।

अपादाने चाहीयरुहोः॥ सार्थाद्धीयत इति। 'ओहाक्त्यागे', कर्मण्यात्मनेदम्, यक्, घुमास्थादिसूत्रेणेत्वम्। कथं पुनः कर्मसंज्ञा, यावता 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म'? न चात्र सार्थः कर्तृसंज्ञकः, किन्तु ध्रुवत्वेन विवक्षितत्वादपादानसंज्ञकः। मा भूत्कर्तृसंज्ञा, जहाति तावत्सार्थो देवदत्तं यदि न जह्यादपाय एव न संवर्त्तेत। स्वातन्त्र्योपलक्षणं च कर्मसंज्ञायां कर्तृग्रहणम्, कर्तृसंज्ञा भवतु मा वा भूत्। एवं चापादनस्यापि सतः सार्थस्य हाने यत्स्वातन्त्र्यं वास्तवम्, तदाश्रया कर्मसंज्ञा भवति। यद्येवम्, माषेष्वश्वं बध्नातीत्यत्र कर्मणोऽप्यश्वस्य वस्तुतो यद्भक्षणे स्वातन्त्र्यं तदाश्रया माषाणां कर्मसंज्ञा प्राप्नोति, तस्मात्कर्मकर्त्तर्यत्र लकारः। कथमिह जहातिरपगमनायां वर्त्तते? देवदत्तं सार्थो जहाति, अपगमयतीत्यर्थः। एषैव च सार्थस्यापगमना यत् क्षुदुपघातादिना देवदत्तस्यापगमने तत्समर्थाचरणम्, यदा तु क्षुधादिना स्वयमेवापगच्छति तदा कर्मकर्तृत्वम्, ततश्च हीयत इति। कोऽर्थः? स्वयमेवापगच्छतीत्यर्थः। पुनः 'कुतो हीयते?'—इत्यपेक्षायां सार्थेन सम्बन्धः।

न्यासः

आद्यादिभ्य उपसंख्यानमिति। आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानमिति प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—उत्तरसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन आद्यादिभ्यस्तसिर्भविष्यतीति। अनुक्तसमुच्चयार्थत्वे चकारस्य 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' इति निर्देशः॥

अपादाने चाहीयरुहोः॥ ग्रामादागच्छतीति 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यपादानसंज्ञा। **चौरेभ्यो बिभेतीति**। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति। **अध्ययनात् पराजयत इति**। 'पराजेरसोढः' इति।

सार्थाद्धीयत इति। 'ओहाक् त्यागे,' लः कर्मण्यात्मनेपदम्, यक्, 'घुमास्था' इत्यादिसूत्रेणेत्वम्। ननु चाकर्तृकं कर्म नास्ति, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति वचनात्; सार्थश्चात्र न कर्म, किं तर्हि? अपादानम्? नैष दोषः; कर्मसंज्ञायां हि कर्तृग्रहणं स्वातन्त्र्योपलक्षणार्थम्। कुत एतत्? क्रियाविशेषणत्वात्। कर्तरि च

अहीयरुहोरिति किम् ? सार्थाद्धीयते । पर्वतादवरोहति ।

हीयते इति विकारनिर्देशो जहातेः प्रतिपत्त्यर्थः, जिहीतेर्मा भूत्—भूमित उज्जिहीते, भूमेरुज्जिहीते ।

कथम् 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा' इति ? नैषा पञ्चमी; किं तर्हि, तृतीया । स्वरेण वर्णेन वा हीन इत्यर्थः ॥

पदमञ्जरी

विकारनिर्देश इति । विकृतिर्विकारः, इह तु तद्धेतुत्वाद्यगभिप्रेतः । तत्र हि घुमास्थादिसूत्रेणेत्वविधानाद्धातुरूपं विक्रियते । यका निर्देशः—यस्य यकीत्वमस्ति, तस्य ग्रहणार्थमित्यर्थः । *जिहीतेरिति* । श्तिपो ङित्त्वाभावादीत्वानुपपत्तेजिहातेरिति पठितव्यम् । तिङन्तानुकरणं वा जिहीतेरिति द्रष्टव्यम् ।

नैषा पञ्चमीति । यदन्तात्तसिः, नैषा पञ्चमीत्यर्थः । *किं तर्हि तृतीयेति* । हेतौ, करणे वा तृतीया, तदन्ताद् 'हीयमानपापयोगाच्च' इति तसिरित्यर्थः । स्वरेण, वर्णेन वा विवक्षितादर्थाद्धीन इत्यर्थः सम्पद्यते ॥

न्यासः

द्वयमस्ति —स्वातन्त्र्यम्, कर्तृसंज्ञा च । तत्र संज्ञायाः क्रियाविशेषणत्वं नोपपद्यते । यद्धि तस्याः कारणं तेनैव सा युक्ता विशेषयितुम् । न च तस्याः कर्तृसंज्ञा कारणम्, किं तर्हि ? स्वातन्त्र्यम्; तस्य कर्तृस्वरूपत्वात् । भवति क्रियां प्रति यदा कारणभावः, कर्मणा च नैव क्रिया विशेष्यते, तदायमर्थो भवति–स्वातन्त्र्यस्य क्रियाया यदाप्सिततमं तत्कर्मसंज्ञं भवतीति । सार्थस्यापि देवदत्तेन तस्याभिधानम् । तस्य तस्मिंस्त्वसत्यपादानमपि न स्यादेव । तस्म द्देवदत्तः कर्म । जहातेरेव सार्थस्यापादानेन भवितव्यम् । तत्रापादानस्यापि सतः सार्थस्य हानक्रियायां यत् स्वातन्त्र्यं तत्क्रियाविवक्षयैव देवदत्तस्य कर्मसंज्ञा भवति ।

अथ किमर्थं यका निर्देशः क्रियते, न 'हारुहोः' इत्येवोच्येत ? इत्यत आह—विकारनिर्देश इत्यादि । विक्रियते तस्मिन् रूपमिति विकारः, स पुनरिह यगेव–हीयेति । तत्र हि घुमास्थादिसूत्रेणकारस्य विधानाद् विक्रियते जहाते रूपम् । अथ वा—विकृतिः विकारः, तेन विकारेण निर्देशः । कथं नाम ? जहातेः प्रतिपत्तिर्यथा स्यात्, जिहीतेर्मा भूदित्येवमर्थम्; अन्यथा हि जिहीतेरपि ग्रहणं स्याद् । विकारनिर्देशे तु यस्येदृश रूपं तस्यैव ग्रहणं भवतीति न भवतीत्येष प्रसङ्गः । भूमित उज्जिहीत इति । जिहीतेरहाग्रहणात् तत्सम्बन्धिनोऽपादानाद् भवत्येव । हाङो ङित्त्वादात्मनेपदम्, 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्येत्त्वम्, 'ई हल्यघोः' इति धातोरीत्त्वम् ।

कथं मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वेति ? यदाह—जहातेः प्रतिषेधः क्रियते, ततस्तस्मिन्न प्राप्नोतीत्यभिप्रायः । नैषा पञ्चमीति । पञ्चम्या अविहितत्वात्, उपचारेण तसिः, नैषा पञ्चमीत्युक्तम् । किं तर्हि ? तृतीयेति । अत्रापि तृतीयाया विहितत्वात्

अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः ॥ ४६ ॥

अतिक्रम्य ग्रहः=अतिग्रहः। अचलनम्=अव्यथनम्। क्षेपः=निन्दा। अतिग्रहादिविषये या तृतीया तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति, सा चेत् कर्तरि न भवति। वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रेणातिगृह्यते चारित्रतोऽतिगृह्यते। सुष्ठु वृतत्रानन्यानतिक्रम्य वृत्तेन गृह्यत इत्यर्थः।

अव्यथने—वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते। चारित्रेण न व्यथते चारित्रतो व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः।

क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तो वृत्ततः क्षिप्तः। चारित्रेण क्षिप्तः चारित्रतः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः।

अकर्तरीति किम्? देवदत्तेन क्षिप्तः॥

हीयमानपापयोगाच्च ॥ ४७ ॥

'अकर्तरि तृतीयायाः' इत्येव। हीयमानेन पापेन च योगो यस्य तद्वाचिनः शब्दात्परा या तृतीया विभक्तिरकर्तरि तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति। वृत्तेन हीयते वृत्ततो हीयते। चारित्रेण हीयते चारि-

पदमञ्जरी

अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः ॥ *अतिक्रम्य ग्रहोऽतिग्रह इति*। अतिशब्दोऽत्रातिक्रमणे वर्त्तते इति दर्शयति। अतिशब्दो हि ससाधनेऽप्यतिक्रमणे दृष्टः, तद्यथा—'तस्माद्ब्राह्मणे राजन्यवानत्यन्यं ब्राह्मणम्' इति, 'न वै देवा नमस्कारमति' इति च। तेन तस्यातिक्रमणमात्रे वृत्तिर्न सम्भवति। *वृत्तेनातिगृह्यत इति*। बहुष्वासीनेष्वन्यातिक्रमेणायमसाविति विज्ञायत इत्यर्थः, तत्र वृत्तं कारणम्। *चारित्रेणेति*। 'चरेर्वृत्ते ह्रस्वश्च वा' इति णित्रन्प्रत्ययः—चरित्रम्, चारित्रम्॥

हीयमानपापयोगाच्च ॥ उदाहरणेषु वृत्तस्य हीयमानेन पापेन च योगः, हेतौ

न्यासः

तृतीयेत्युक्तस्तसिः। तेनेतत् सूचयति—नायमिह तसिरनेन सूत्रेण पञ्चम्या विहितः, किं तर्हि? 'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः' इत्यनुवर्तमाने 'हीयमानपापयोगाच्च' इति तृतीयाया इति। सा च तृतीया हेतौ करणे वा द्रष्टव्या॥

अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः ॥ अतिक्रम्येति। अनेनातिशब्दोऽत्रातिक्रमे वर्तत इति दर्शयति। **अचलनमव्यथनमिति**। 'व्यथ भलचलनयोः' इति पठ्यते, तस्येह चलने वृत्तिमाचष्टे। वृत्तेनेति हेतौ करणे वा तृतीया॥

हीयमानपापयोगाच्च ॥ वृत्तेन हीयते, वृत्ततः पाप इत्यत्र वृत्तस्य हीयमानेन पापेन योगे तृतीया हेतौ, करणे वा।

त्रतो हीयते । पापयोगात्—वृत्तेन पापः वृत्ततः पापः । चारित्रेण पापः चारित्रतः पापः ।

क्षेपस्य चाविवक्षायां तत्त्वाख्यायामिदमुदाहरणम् । क्षेपे हि पूर्वेणैव सिद्धम् ।

अकर्तरीत्येव—देवदत्तेन हीयते ॥

षष्ठ्या व्याश्रये ॥ ४८ ॥

नानापक्षसमाश्रयः=व्याश्रयः । व्याश्रये गम्यमाने षष्ठ्यन्ताद् वा तसिः प्रत्ययो भवति । देवा अर्जुनतोऽभवन् । आदित्याः कर्णतोऽभवन् । षष्ठी चात्र पक्षापेक्षैव । अर्जुनस्य पक्षे, कर्णस्य पक्ष इत्यर्थः ।

व्याश्रय इति किम् ? वृक्षस्य शाखा ॥

रोगाच्चापनयने ॥ ४९ ॥

रोगः=व्याधिः । तद्वाचिनः शब्दाद्या षष्ठी विभक्तिः तदन्ताद्वा तसिः प्रत्ययो भवति अपनयने गम्यमाने । अपनयनम्=प्रतीकारः, चिकित्सेत्यर्थः । प्रवाहिकातः कुरु । कासतः कुरु । छर्दिकातः कुरु । प्रतीकारमस्याः कुर्वित्यर्थः ।

अपनयन इति किम् ? प्रवाहिकायाः प्रकोपनं कुरु ।

पदमञ्जरी

करणे वा तृतीया, कर्त्ता त्वत्र वन्धुजनादिः । *क्षेपस्याविवक्षायामित्यादि* । कस्मादेवमित्याह—*क्षेपे हीति* ॥

षष्ठ्या व्याश्रये ॥ *नानापक्षसमाश्रयो व्याश्रय इति* । तथा च 'हेतुमति च' इत्यत्र भाष्ये प्रयोगः—व्याश्रिताश्च भवन्ति, केचित्कंसभक्ताः, केचिद्वासुदेवभक्ता इति । *देवा इत्यादि* । अर्जुन इन्द्रपुत्रः, कर्णः सूर्यपुत्रः । *षष्ठी चात्रेति* । पक्षशब्दस्तु तसौ सति न प्रयुज्यते; गतार्थत्वात्, नानापक्षसमाश्रयण एवास्य विधानात् ॥

रोगाच्चापनयने ॥ *प्रवाहिकात इति* । प्रवाहिकाशब्दात्प्रतीकारापेक्षया षष्ठी, तदन्तात्तसिः, प्रतीकारशब्दस्य तु पूर्ववदप्रयोगः ॥

न्यासः

क्षेपविवक्षायामिदमुदाहरणं कस्मान्न भवति ? इत्याह—**क्षेपस्य चेत्यादि** ॥

षष्ठ्या व्याश्रये ॥ **रोगाच्चापनयने** ॥ **प्रवाहिकात इति** । प्रवाहिकाशब्दात् प्रतीकारापेक्षया षष्ठी, ततस्तसिः ॥

अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ॥ ५० ॥

कारणस्य विकाररूपेणाभूतस्य तदात्मना भावः=अभूततद्भावः ।

पदमञ्जरी

अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ॥ वार्त्तिककारेण च्विविधावभूत-तद्भावग्रहणं कर्त्तव्यमित्युक्तम्, तदवश्यं कर्त्तव्यमिति मन्यमानः सूत्र एव प्रक्षिप्य व्याचष्टे—*कारणस्येति* । उपादानम्, निमित्तम्, असमवायीति—त्रीणि कारणानि, तत्रोपादानकारणस्येत्यर्थः । *विकाररूपेणेति* । कारणस्यैवोत्तरमवस्थान्तरम्=विकारः, तेन रूपेण तदात्मनाऽभूतस्याजातस्यापरिणतस्येत्यर्थः । तदात्मना विकारात्मना भावः=जन्म, परिणाम इत्यर्थः । अनेन कार्यकारणयोरभेदो दर्शितः । यथा रज्जुः शिक्यमिति न तत्त्वान्तरम्, अथ च न रज्जुमात्रे शिक्य-प्रतीतिः । एवं हिरण्यमेव कुण्डलम्, मृदेव घटः, तन्तव एव पटः, दार्वेव यूपः । अथ च न हिरण्यादिमात्रे कुण्डलादिप्रतीतिः, नो खलु कुण्डलं हिरण्यं न भवतीति कश्चित्प्रत्येति । यदि च कुण्डलं हिरण्यं न भवति, किं तर्हि ? हिरण्यं पिण्डः । ननु सोऽपि पिण्डः, एवं वृत्तमेवं दीर्घमिति न किञ्चन हिरण्यं स्यात्, तस्मादनुवृत्तं कारणम्, व्यावर्त्तमानस्त्ववस्थाभेदो विकार इति युक्तम् । कुतः पुनरयमभूततद्भावविशेषो लभ्यते, न पुनरभूत्वा भवनमात्रं भवन्त्यस्मिन्क्षेत्रे शालय इति ? तच्छब्दोपादानात् । येन रूपेण प्रागभूतं कारणं तेन रूपेण तस्य भावोऽभूततद्भाव इति हि तस्यार्थः, अन्यथाऽभूतभाव इत्येव वाच्यम् । तदपि वा न वक्तव्यम्; सम्पद्यकर्तृत्वादेव सिद्धेः ।

यद्वा—जन्मग्रहण एव कर्त्तव्ये 'अभूततद्भावः' इति वचनाद्यथोक्तार्थलाभः,

न्यासः

अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः ॥ कारणस्य विकाररूपेणाभूतस्येति । कारणम्=प्रकृतिः, तस्यैवोत्तरमवस्थान्तरम्=विकारः । तेन विकाररूपेणाभूतस्याजातस्येत्यर्थः । कुतः पुनरयमभूततद्भावविशेषो लभ्यते ? अभूतग्रहणादिह हि भावः=जन्म, सत्ता वा । यदि हि सत्ता भावः स्याद्, भ्वस्तिभ्यामेव सम्बन्धः स्यात्, न करोतिना । न हि यत् क्रियते सा सत्ता । धातुत्रयोपादाने च सति यस्मिन्नर्थे गृह्यमाणे त्रिभिरपि धातुभिर्योगोऽस्ति स एवाश्रयितुं युक्तः; स च जन्मैव, न सत्ता । कृग्रहणादेष विशेषो लभ्यते । तदात्मना भाव इति । तच्छब्देन विकारः परामृश्यते, स एव विकारः; आत्मा=स्वभावः, तेन विकारात्मा=अभूततद्भावः । अपि तु लब्धसत्ताकस्यैव कारणस्य प्रागप्रतिपन्नविकारस्योत्तरकालविकारभूमावाप्तिरभूततद्भाव इत्युक्तं भवति । तेन यत्र प्रकृतिर्न विवक्ष्यते, तत्र प्रत्ययो न भवति, यथा—शुक्लं करोतीति प्रत्युदाहरणे । न हि प्रकृतावत्र विवक्षितायामेवंविधोऽभूततद्भावो गम्यते । तच्छब्देन प्रकृति-विकारयोरभेदविवक्षा प्रतिपाद्यते । तेन यत्र प्रकृतिर्विकाररूपमापद्यमाना तस्माद-

सम्पद्यतेः कर्त्ता सम्पद्यकर्ता (वर्तमानात्) सम्पद्यकर्तरि प्रातिपदिकादभूततद्भावे गम्यमाने कृभ्वस्तिभिर्धातुभियोगे च्विः प्रत्ययो भवति । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते, तं करोति शुक्लीकरोति । मलिनं शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । घटीकरोति मृदम् । घटीभवति॰। घटीस्यात् ।

अभूततद्भाव इति किम् ? शुक्लं करोति । नात्र प्रकृतिर्विवक्षिता । कृभ्वस्तियोग इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते ।

सम्पद्यकर्तरीति किम्, यावता अभूततद्भावसामर्थ्याल्लब्धमेव

पदमञ्जरी

सर्वथा, यत्र प्रकृतिरेव विकाररूपतामापद्यमाना विकाराभेदेन विवक्ष्यते तत्रैव प्रत्ययः, तत्रैव हि दर्शितोऽभूततद्भावः सम्भवति । *सम्पद्यतेः कर्तेति* । शब्दात्मकस्य धातोः स्वरूपेण कर्त्रा सम्बन्धासम्भवादर्थद्वारकमिदमभिधानम्, सम्पद्यर्थस्य यः कर्त्ता स सम्पद्यकर्तेत्यर्थः । अर्थकथन चैतत्, विग्रहस्तु सम्पद्यश्चासौ कर्त्ता चेति, 'पाघ्राध्माधेट्दृशः शः', अस्मादेव निपातनात्सम्पदोऽपि भवति । दिवादित्वात् श्यन् । क्वचित्तु *सम्पद्यते कर्तेति* । तिङन्तं पठ्यते, यः सम्पद्यते कर्त्ता स सम्पद्यकर्तेत्यर्थः । *शुक्लीकरोतीति* । प्रकृतौ विकारावस्थां प्राप्नुवत्यां वर्त्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विप्रत्ययः, इकारः 'वेरपृक्तस्य' इति सामान्यग्रहणार्थः । चकारस्तु तदविघातार्थः, प्रकृतेरन्तोदात्तार्थश्च । वकारस्य 'वेरपृक्तस्य' इति लोपः, 'अस्य च्वौ' इतीत्वम्, 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति निपातत्वेनाव्ययत्वात्सोर्लुक् ।

नात्र प्रकृतिर्विवक्षितेति । प्रकृतिविवक्षायामेवाभूततद्भावः सम्भवतीत्युक्तम् । *अभूततद्भावसामर्थ्यलभ्यमेवेति* । यो विकाररूपेणाभूतः सन् विकारात्मना भवति, स नियोगतस्तेन रूपेण सम्पद्यमानः सम्पद्यकर्त्ता भवतीत्येतत्सामर्थ्यं

न्यासः

भिन्ना विवक्ष्यते, तत्रैव प्रत्ययो भवति; न तु यत्र कारणतः कार्यस्य भेदो विवक्ष्यते । यत्र तु भेदः, यथा—पटं करोतीति, न तत्र । **सम्पद्यतेः कर्त्ता सम्पद्यकर्त्तेति** । कथं पुनस्तिङन्तेन समासः ? कथं च तिङो लोपः ? सौत्रत्वात् ? निर्देश्यस्य सत्त्वात् सर्वमिदमुपपद्यते । अथ वा—सम्पूर्वात् पदेरत एव निपातनाद् यत्प्रत्ययः, तदन्तस्यायं विशेषणसमासः । तत् तिङन्तस्य वृत्तिकरणे त्वर्थप्रदर्शनमात्रं कृतम्, न पुनरेतद् विग्रहवाक्यम् । 'सम्पत्तिः' इति वक्तव्ये, **सम्पद्यकर्त्तरीत्युक्तं** वैचित्र्यार्थम् । **शुक्लीकरोतीति** । 'अस्य च्वौ इतीत्त्वे, 'च्वौ' इति दीर्घत्वम्, च्व्यन्तस्याव्ययत्वात् सोर्लोपः ।

नात्र प्रकृतिर्विवक्षितेति । विकारमात्रस्य विवक्षितत्वात् । यत्र च प्रकृतिर्न विवक्ष्यते, नात्राभूततद्भावो गम्यत इति न भवति प्रत्ययः ।

अभूततद्भावसामर्थ्याल्लब्धमेवेत्यादि । यो ह्यविकाररूपेण भूतो विकारात्मना

सम्पद्यकर्तृत्वम् ? कारकान्तरसम्पत्तौ मा भूत्—अदेवगृहे देवगृहे सम्पद्यते । देवगृहस्याधेयविशेषसम्बन्धेन अभूततद्भावः सत्त्वाधिकरणस्य, न कर्तुरिति ॥

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ॥ ५१ ॥

अरुःप्रभृतीनामन्तस्य लोपो भवति च्विश्च प्रत्ययः । अत्र सर्व-

पदमञ्जरी

यद्रूपान्तरेण सम्पद्यते न तदवश्यं कर्तृसंज्ञमेव भवतीत्यभिप्रायेणाह—*कारकान्तरसम्पत्तौ मा भूदिति । अदेवगृहे देवगृहे सम्पद्यत इति ।* अदेवगृहे प्रागभूद्यो वृक्षादिः, स इदानीं तस्मिन्प्रदेशे देवालयीभूते देवगृहे सम्पद्यत इत्यर्थः । उदाहरणदिक्चेयं वृत्तिकारेण दर्शिता । कृभ्वस्तियोगाभावाद्धि नैवात्र च्विः प्रसज्यते । तस्माददेवगृहे देवगृहे भवतीति प्रत्युदाहार्यम् । अत्र वृक्षादेः सम्पत्तिं प्रत्यधिकरणस्याप्यदेवगृहस्याभूततद्भावोऽस्त्येव; तस्य प्रागदेवगृहस्यापि सम्प्रति देवगृहत्वेन परिणामात् । एवं हि वृक्षादेस्तदाधारविशिष्टतयाऽभूततद्भावो यद्यपि वस्तुतः सम्पद्यकर्तृत्वमपि देवगृहस्यास्ति, तथापि न तद्विवक्षितम्, किं तर्हि ? आधारभाव एवेति भवत्युदाहरणम् । ननु चैवं सति शुक्लीकरोतीत्यत्रापि न स्याद्, अत्रापि हि कारकान्तरस्य कर्मणः सम्पत्तिः, न कर्तुः ? अस्त्यत्र विशेषः; कर्मव्यापारोपसर्जनं कर्तृव्यापारं करोतिराह, कर्मव्यापारश्च सम्पत्तिः—शुक्लं करोतीति, कोऽर्थः ? शुक्लं सम्पद्यमानं सम्पादयतीत्यर्थः । ततश्च सम्पद्यकर्तृत्वमस्मिन्प्रयोगे शब्देनैवोपात्तम् । इतरत्र तु वृक्षादेरेव सम्पद्यकर्तृत्वं शाब्दम्, देवगृहस्य त्वार्थम् । आधारभाव एव तु शाब्द इति न कश्चिद् दोषः । इह तर्हि कथं समीपीभवति, अभ्याशीभवति, अन्तिकीभवतीति ? कथं च न स्यात् ? न ह्यसमीपं समीपं भवतीत्यत्रार्थः, किं तर्हि ? असमीपे स्थितं समीपे स्थितं भवतीति ? तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति ॥

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ॥ अत्र सर्वविशेषणसम्बन्धादित्यादि ।

न्यासः

भवति, स नियोगतस्तेन रूपेण सम्पद्यमानः सम्पद्यकर्त्ता भवतीत्येतत् सामर्थ्यात् स्वरूपान्तरेण सम्पद्यते । तत् कर्तृसंज्ञकमेव भवतीति नायं नियोगत इत्यभिप्रायेणाह—**कारकान्तरसम्पत्तौ मा भूदिति । अदेवगृह इत्यादि ।** अत्र देवगृहस्य देवताराधनत्वेनाभूतस्य प्रागुत्तरकालं देवताधेयसम्बन्धेन तदात्मकत्वमापद्यमानस्य भवत्ययमभूततद्भावः; स त्वधिकरणस्य, न कर्तुः । तथा हि—तद्रूपान्तरमापद्यमानमपि न कर्तृसंज्ञम्, किं तर्हि ? अधिकरणसंज्ञमेव, अन्यथा सप्तमी न स्यात् । 'च्वौ' इकार उच्चारणार्थः । चकारः प्रकृतेरन्तोदात्तार्थः । वकारस्य 'वेरपृक्तस्य' इति लोपः ॥

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ॥ अत्र सर्वविशेषणसम्बन्धादित्यादि । अभूत-

विशेषणसम्बन्धात्पूर्वेणैव प्रत्ययः सिद्धः, लोपमात्रार्थ आरम्भः। अनरुररुः सम्पद्यते, तं करोति अरूकरोति। अरूभवति। अरूस्यात्। मनस्—उन्मनीकरोति। उन्मनीभवति। उन्मनीस्यात्। चक्षुष्—उच्चक्षूकरोति। उच्चक्षूभवति। उच्चक्षूस्यात्। चेतस्—विचेतीकरोति। विचेतीभवति। विचेतीस्यात्। रहस्—विरहीकरोति। विरहीभवति। विरहीस्यात्। रजस्—विरजीकरोति। विरजीभवति। विरजीस्यात्।

विभाषा साति कार्त्स्न्ये ॥ ५२ ॥

'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि' इति सर्वमनुवर्तते। अस्मिन्विषये विभाषा सातिः प्रत्ययो भवति कार्त्स्न्ये गम्यमाने। यदि प्रकृतिः कृत्स्नां विकारात्मतामापद्यते इत्यर्थः। अग्निसाद्भवति शस्त्रम्। अग्नीभवति शस्त्रम्। उदकसाद्भवति लवणम्। उदकीभवति लवणम्।

पदमञ्जरी

यदि त्वभूततद्भावादीनां विशेषणानां मध्येऽन्यतमं न सम्बध्येत, ततश्च्वेरपि विध्यर्थमेतत्स्यात्। यतस्तु सर्वाणि विशेषणानि सम्बध्यन्ते, ततो लोपमात्रमेव न प्राप्नोतीति तदर्थं वचनम्, न च्वेर्विधानार्थम्। 'च्विश्च प्रत्ययः' इति तु पूर्वेणैव विहितस्य च्वेरनुवादः कृतः, तत्सन्नियोगशिष्टत्वं लोपस्य दर्शयितुम्। यदि पुनर्विशेषविहितेन बाधा मा भूदिति च्विरप्यनेन विधीयेत, तत उन्मनीकरोतीत्यादावनेन प्रत्ययो न स्याद्; ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात्। ततश्चैतत्सन्नियोगशिष्टो लोपो न स्यात्, पूर्वेण तु केवल एव च्विः स्यात्। तस्मात्पूर्वेण विहिते च्वौ परतोऽरुःप्रभृतीनां लोपो भवतीत्येव सूत्रार्थः। पूर्वेणैव च केवलेभ्यस्तदन्ताच्च च्विर्भवति ॥

विभाषा साति कार्त्स्न्ये ॥ यदि प्रकृतिः कृत्स्ना विकारतामापद्यत इति। अभूत-

न्यासः

तद्भावादीनि सर्वाणि विशेषणानीह पूर्वसूत्रादनुवर्त्तन्ते। तस्मात् सर्वविशेषणसम्बन्धात् पूर्वेणैवारुःप्रभृतिभ्यः प्रत्ययः सिद्ध इति नासौ विधीयते, लोपमात्रं तु न प्राप्नोति। अतस्तदर्थं वचनम्। यदि पुनरनेनैव प्रत्ययविधिः स्याद्, दुर्मनीकरोतीत्यादौ प्रत्ययो न स्यात्; ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधेः प्रतिषेधात्। पूर्वेण तु तदन्तादपि भवति; तत्र ग्रहणवत्प्रातिपदिकस्याभावात्। उन्मनीकरोत्येवमादौ बहुव्रीहेः प्रत्ययः ॥

विभाषा साति कार्त्स्न्ये ॥ विभाषाग्रहणं च्वेः ज्ञापकमिति। समुच्चयार्थत्वात्।

कात्स्न्र्ये इति किम्?एकदेशेन पटः शुक्लीभवति । विभाषा-ग्रहणं च्वेः प्रापकम् । प्रत्ययविकल्पस्तु महाविभाषयैव सिद्धः ॥

अभिविधौ सम्पदा च ॥ ५३ ॥

अभिविधिः=अभिव्याप्तिः । अभिविधौ गम्यमाने च्विविषये सातिः प्रत्ययो भवति सम्पदायोगे, चकारात् कृभ्वस्तिभिश्च ।

विभाषाग्रहणानुवृत्तेश्च्विरप्यभ्यनुज्ञायते । स तु कृभ्वस्तियोग एव भवति, न सम्पदा । अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निसाद्भवति । उदकसात्सम्पद्यते । उदकसाद्भवति लवणम् । अग्नीभवति । उदकीभवति ।

अथाभिविधेः कात्स्न्र्यस्य च को विशेषः ? यत्रैकदेशेनापि सर्वा

पदमञ्जरी

तद्भावविषयं कात्स्न्र्यमाश्रीयत इति दर्शयति—*विभाषाग्रहणं च्वेः प्रापकमिति* । विकल्पार्थस्याप्यस्य प्रापयितव्यान्तराभावात् । ननु वाक्यं प्रापयितव्यं स्यात् ? तत्राऽऽह—*प्रत्ययविकल्पस्त्विति* । अपर आह—अनेकार्थत्वान्निपातानां समुच्चयोऽर्थः ।

विभाषाग्रहणं च्वेः प्रापकमिति । विभाषाशब्दस्तु निपातो न भवति, 'द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये' इति विभक्तेर्दर्शनात्, किं तर्हि ? 'गुरोश्च हलः' इत्यकार-प्रत्ययान्तः—विभाष्यते विकल्प्यते इति विभाषेति ॥

अभिविधौ सम्पदा च ॥ स तु कृभ्वस्तिभिरेव योगे भवतीति । विभाषाग्रहणस्य विकल्पार्थत्वात्स्वशास्त्रेणैव च्विर्भवतीति सम्पदायोगे तस्याप्रसङ्गात् । स्पष्टीकृतं चैतत्पूर्वग्रन्थे ।

विभाषाग्रहणानुवृत्तेश्च्विरप्यभ्यनुज्ञायत इति । समुच्चयार्थे तु तस्मिन्ननेनैव

न्यासः

समुच्चयार्थत्वं त्वनेकार्थत्वान्निपातस्य । यद्येवम्, चकार एव कस्मान्नोक्तः ? वैचित्र्यात् सूत्रकृतेः ।

अथ प्रत्ययविकल्पार्थमेवेति विभाषाग्रहणं कस्मान्न भवति ? इत्याह—**प्रत्ययविकल्पस्त्वित्यादि** ।

अभिविधौ सम्पदा च ॥ स तु कृभ्वस्तिभिरेव योगे भवतीति । कृभ्वस्तिभिर्नित्येव योग इत्यनेन सम्बन्धस्यैव तस्येहानुवृत्तेः । अभिविधेः कात्स्न्र्यस्य चावश्यं विशेषेण भवितव्यम्; अन्यथा सूत्रद्वयारम्भो निष्फलः स्यात्, एकेनैव सिद्धत्वात् ।

स च विशेषो न ज्ञायते, इत्यतस्तत् पृच्छति—**अथाभिविधेरित्यादि** । **यथास्यां सेनायामित्यादि** । अथ शेषाणां शस्त्राणामेकदेशेन ह्यात्मना सम्बन्धमात्रं विवक्षितम्,

प्रकृतिर्विकारमापद्यते सोऽभिविधिः। यथा—अस्यां सेनायामुत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निसात्सम्पद्यते, वर्षासु सर्वं लवणमुदकसात्सम्पद्यत इति। कात्स्न्यं तु सर्वात्मना द्रव्यस्य विकाररूपापत्तौ भवति।

तदधीनवचने ॥ ५४ ॥

'अभूततद्भावे' इति निवृत्तम्; अर्थान्तरोपादानात्। 'कृभ्वस्ति-योगे', 'सम्पदा च' इति वर्तते। तदधीनम्=तदायत्तम्, तत्स्वामिक-मित्यर्थः। स्वामिसामान्यम्, ईशितव्यसामान्यं च तदधीनशब्देन निर्दि-

पदमञ्जरी

च्विर्भवन्सम्पदापि योगे स्याद्, अभ्यनुज्ञायत इति चानुपपन्नं स्यात्। *अथेति।* उभयत्र व्याप्तिसम्भवात्प्रश्नः। *सर्वा प्रकृतिरिति।* प्रकारकात्स्न्र्येऽत्र सर्वशब्दः, यथा—सर्वान्नीनो भिक्षुरिति। *यथास्यां सेनायामित्यादि।* अत्रापि प्रकारकात्स्न्र्ये एव सर्वशब्दः, खड्गप्रासादीनामशेषाणां शस्त्राणामेकदेशेनाप्यग्न्यात्मभावोऽत्र विवक्षितः, न त्वेकस्या अपि शस्त्रव्यक्तेः सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः। एवं *वर्षासु लवणमित्यत्रापि।* *कात्स्न्यं त्वित्यादि।* यत्रैकस्यापि द्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः, न कश्चिदवयवः परिहाप्यते, तत्र कात्स्न्र्यं भवति। तस्मादर्थभेदादुभयमुक्तम्, न त्वेकत्रैवान्यतरत्र सम्पदो ग्रहणं कृतमिति॥

तदधीनवचने॥ स्वामिसामान्यमित्यादि। इह 'अधिरीश्वरे' इति अधि-शब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा तेन योगे 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्' इति ईश्वरवाचिनः सप्तमी, ईश्वरश्चेशितव्यापेक्षः। अधिशब्दश्चायं शौण्डादिषु पठ्यत इति सप्तमीसमासः, ततोऽध्युत्तरपदलक्षणः खः, तत्र कृते ब्रह्मदत्ताधीनाः

न्यासः

न सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः। वर्षासु सर्वं लवणमुदकसात् सम्पद्यत इति। अत्रापि सर्वासां लवणव्यक्तीनामेकदेशेनोदकात्मताविकारेण सम्बन्धमात्रं विवक्षितम्, न त्वेकस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः। कात्स्न्यं त्वित्यादि। यत्र ह्येकस्यापि द्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः, न त्वेकदेशेन, तत्र कात्स्न्र्यं भवति। तत्र यदि पूर्वो योगो नारभ्येत, यत्रैकद्रव्यविशेषविषयं कात्स्न्र्यं तत्र प्रत्यययोगो न स्यात्; अभिविधेरभावात्। अथायं नारभ्येत? यत्र सर्वाः प्रकृतय एकदेशेन विकारमापद्यन्ते तत्र न स्यात्। तस्मादुभयमारब्धव्यम्॥

तदधीनवचने॥ तदधीनं तदायत्तमिति। तस्यायत्तं तदायत्तम्। तच्छब्देन स्वामिसामान्यमुच्यते। अधीनशब्देनापीशितव्यसामान्यम्। अनन्तरोक्तमेवार्थं विपष्टी-कर्तुमाह—तत्स्वामिकमित्यर्थं इति। स स्वामी यस्य तत् तत्स्वामिकम्। अत्राप्यन्य-पदार्थप्रधानत्वाद् बहुव्रीहिः। ईशितव्यस्य चान्यपदार्थत्वात् तस्य प्रधानभावः।

श्यते। स्वामिविशेषवाचिनः प्रातिपदिकादीशितव्येऽभिधेये सातिः प्रत्ययो भवति कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे। राजाधीनं करोति राजसात्करोति। राजसाद्भवति। राजसात्स्यात्। राजसात्सम्पद्यते। ब्राह्मणसात्करोति। ब्राह्मणसाद्भवति। ब्राह्मणसात्स्यात्। ब्राह्मणसात्सम्पद्यते।

देये त्रा च ॥ ५५ ॥

'तदधीनवचने' इत्यनुवर्तते, तस्य विशेषणं देयग्रहणम्। दातव्यम्=देयम्, तदधीने देये त्रा प्रत्ययो भवति, चकारात्सातिश्च कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे। ब्राह्मणेभ्यो देयमिति यद्विज्ञातम्, तद्यदा तेषां समर्पणेन तदधीनं क्रियते तदा 'त्रा' प्रत्ययः। ब्राह्मणाधीनं देयं करोति ब्राह्मणसात्करोति। ब्राह्मणत्राकरोति। ब्राह्मणत्राभवति। ब्राह्मणत्रास्यात्। ब्राह्मणत्रासम्पद्यते।

पदमञ्जरी

पञ्चाला इति सामानाधिकरण्यदर्शनादधिशब्द ईशितव्यसामान्यभिधायी, पञ्चालादयस्तु तद्विशेषवचना इति गम्यते; ततश्च स्वामिसामान्यम्, ईशितव्यसामान्यं च तदधीतशब्देनोच्यते। तत्र स्वामिसामान्यं प्रकृत्यर्थः, सामान्यं च विशेषोपलक्षणार्थमिति विशेषवाचिभ्यः प्रत्ययो विज्ञायत इत्याह—*स्वामिविशेषवाचिन इति* ॥

देये त्रा च ॥ *ब्राह्मणत्राकरोतीति*। स्वरादिष्वयं त्रान्तः पठितव्यः, तेनाव्ययत्वात्सोर्लुक्। अपर आह—तत्रैव 'च्व्यर्थाश्च' इति पठ्यते, तत्र बहुवचननिर्देशाच्च्व्यर्थस्यापि त्राप्रत्ययस्य साहचर्येण परिग्रहादव्ययत्वमिति।

न्यासः

स्वामिनस्तु तदुपलक्षणत्वाद् गुणभावः। स्वामिसामान्यमित्यादि। स्वामिसामान्यम्=ईश्वरसामान्यम्, ईशितव्यसामान्यमित्येतदुभयं तदधीनशब्देनोच्यते। कथं कृत्वा? इह 'अधिरीश्वरे' इत्यधिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, तेन योगे 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वर' इति च सप्तमी। स चेश्वर ईशितव्यापेक्षित इति सामर्थ्यादीशितव्याभिधानमधिशब्देन योगे भवति। अधिशब्दश्चायं शौण्डादिषु पठ्यते, तत्र 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासे कृते पूर्वपदस्य स्वामिसामान्यमर्थो भवति, उत्तरपदस्य चेशितव्यसामान्यम्। अषडक्षादिसूत्रेण खप्रत्यये कृते स एवायमर्थो भवति, तस्य तत्स्वामिकत्वादित्येवं च कृत्वा। स्वामिसामान्यमीशितव्यसामान्यं तदधीनशब्देनोच्यते। तत्र स्वामिसामान्यं प्रकृत्यर्थः, ईशितव्यसामान्यं तु प्रत्ययार्थ इत्यत आह—**स्वामिविशेषवाचिन इत्यादि** ॥

देये इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ॥

देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ ५६ ॥

'सातिः' निवृत्तः, त्राप्रत्ययोऽनुवर्तते। देवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वितीयासप्तम्यन्तेभ्यः त्रा प्रत्ययो भवति बहुलम्। 'कृभ्वस्तिभिः' इति नात्र सम्बध्यते। सामान्येन विधानम्। देवान् गच्छति देवत्रा-गच्छति। देवेषु वसति देवत्रावसति। मनुष्यान् गच्छति मनुष्यत्रा-गच्छति। मनुष्येषु वसति मनुष्यत्रावसति। एवमन्येऽप्युदाहार्याः— पुरुषान्गच्छति पुरुषत्रागच्छति। पुरुषेषु वसति पुरुषत्रावसति। पुरून्गच्छति पुरुत्रागच्छति। पुरुषु वसति पुरुत्रावसति। मर्त्यान् वसति मर्त्यत्रावसति। मर्त्येषु वसति मर्त्यत्रावसति।

बहुलवचनादन्यत्रापि भवति—बहुत्रा जीवतो मन इति ॥

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच् ॥ ५७ ॥

यत्र ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरूपेण न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तः। तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्। द्व्यच् अवरार्द्धं यस्य तद् द्व्यजव-

पदमञ्जरी

राजसाद्भवति राष्ट्रमिति । पूर्वेण सातिरेव भवति ॥

देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ *सातीति निवृत्तमिति* । पूर्व-सूत्रे चानुकृष्टत्वात् 'कृभ्वस्तियोगे' इति न सम्बध्यत इति तदर्थमत्र स्वरितत्वं कर्त्तव्यम्। स्वरिते सति नाधिकार इत्ययं च पक्ष आश्रयणीयः। मण्डूकप्लुत्या-उत्तरत्र सम्बन्धः। 'सम्पदा च' इत्येतत्तु सर्वथैवं निवृत्तत्वान्न सम्बध्यते ॥

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच् ॥ *यत्र ध्वनावित्यादि* । यद्यप्यनुकार्य-मेव रूपमनुकरणे वर्णविशेषरूपेण प्रकाशते, तथापि 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' इत्यनुकरणस्थस्याच्छब्दस्य पररूपं विधत्ते। ध्वनिमात्रसाम्येन तु तस्यानुकरण-

न्यासः

देये त्रा च ॥ राजसाद्भवति राष्ट्रमिति । पूर्वेण सातिरेव भवति ॥

देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ अथ बहुलग्रहणं किमर्थम्, यावता 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' इत्यत्र विभाषाग्रहणमनुवर्त्तिष्यत एव, विकल्पेन प्रत्ययो भविष्यति ? इत्याह—बहुलग्रहणादन्यत्रापि लभ्यत इति। तस्माद्विभाषायां प्रकृतायां यद्बहुलवचनं कृतम्, तदन्यत्रापि यथा स्यादित्यभिप्रायः ॥

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ॥ अव्यक्तस्तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरण-

रार्धम् । अवरशब्दोऽपकर्षे । यस्यापकर्षे क्रियमाणे सुष्ठु न्यूनमर्द्धं द्व्यच्कं सम्पद्यते, तस्मादव्यक्तानुकरणादनितिपराड्डाच्प्रत्ययो भवति । 'कृभ्वस्तियोगे' इत्यनुवर्तते । तस्य च द्विर्वचने कृते द्व्यजवरार्धम्, ततः प्रत्ययः ।

'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति विषयसप्तमी । डाचि विवक्षिते द्विर्वचनमेव पूर्वं क्रियते, पश्चात्प्रत्ययः । पटपटाकरोति । पटपटाभवति । पटपटास्यात् । दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमास्यात् ।

पदमञ्जरी

मुच्यते । *अवरशब्दोऽपकर्षे इति* । अपकर्षः=न्यूनता, प्रवृत्तिनिमित्तकथनं चैतत्, अपकृष्टं त्ववरशब्दस्यार्थः । *यस्यापकर्षे क्रियमाणे इत्यादि* । अत्रापकर्षः=विभागः, समप्रविभागेऽर्द्धशब्दः, अवरत्वं चाच्कृतमेव, द्व्यच्सन्निधानात् । यस्मिन्विभज्य निरूप्यमाणे सुष्ठु न्यूनमपि अल्पमपि अर्थं द्व्यच्छब्दवत्सम्पद्यते न ततो न्यूनम्, अधिकं तु सम्भवतु मा वा भूत्, तद् द्व्यजवरार्द्धमित्यर्थः । *यस्येत्यादि* । यदि त्वकृते द्विर्वचने यस्य द्व्यजवरार्द्धता ततो डाज् भवतीति विज्ञायते, तदा पटच्छब्दादेर्न स्यादिति भावः ।

नन्वेवं सति डाचि परभूते तदाश्रये द्विर्वचने द्व्यजवरार्द्धता भवति, तस्यां च सत्यां डाचा भवितव्यमितीतरेतराश्रयत्वं प्राप्नोति ? तत्राह—*डाचि बहुल-*

न्यासः

मिति । यद्यप्यनुकरणे वर्णविशेषो रूपेण न प्रकाशते, तथापि ध्वनेः समानतया तन्मात्रसादृश्येन स त्वनुक्रियत इति तस्याप्यनुकरणमित्युच्यते । द्व्यच् अवरमर्द्धं यस्येत्यर्द्धशब्दो नपुंसकलिङ्ग एव । यस्येत्यादि । यस्यापकर्षे क्रियमाणे सुष्ठूनं द्व्यजर्द्धं भवति तस्मात् ·प्रत्ययो भवति, यस्य न ततोऽपि न्यूनतरमेकाज् भवति । यद्यकृते द्विवचने यस्य द्व्यजवरार्द्धता ततो डाज् भवतीति ज्ञायते, ततः पटदित्यादेर्न स्यात्, न ह्यत्र द्व्यजवरमर्द्धम् भवतीत्येतच्चेतसि कृत्वाऽऽह—यस्य चेत्यादि । नन्वेवं सति डाचि परभूते तदाश्रये द्विर्वचने कृते द्व्यजवरार्द्धता भवति, तस्याञ्च सत्यां डाजितीतरेतराश्रयः प्रसजति, इतरेतराश्रयाणि कार्याणि शास्त्रे न प्रकल्पन्ते ? इत्याह—डाचि बहुलमित्यादि । यद्येषा परसप्तमी स्यात्, स्यादेष दोषः; न चैषा परसप्तमी, किं तर्हि ? विषयसप्तमी । पटपटाकरोतीति । पटच्छब्दाड् डाचि विवक्षिते विषयभूते बुद्धिस्थेऽनुत्पन्न एव पूर्वं तावद् द्विर्वचनम् पटच्छब्दस्य क्रियते, तस्मिन् कृते द्व्यजवरार्द्धतायामुपजातायां डाचि टिलोपः, 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपत्वम् । दमदमाकरोतीति । दमच्छब्दस्य पूर्ववद् द्विर्वचनम्, ततो डाच् ।

अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दृषत्करोति । द्व्यजवरार्द्धादिति किम् ? श्रत्करोति । अवरग्रहणं किम् ? खरटखरटाकरोति । त्रपट-त्रपटाकरोति । अनिताविति किम् ? पटिति करोति ।

पदमञ्जरी

मितीत्यादि । सत्यं परसप्तम्यां स्यादेष दोषः; विषयसप्तमी त्वेषा, ततो न दोष इत्यर्थः । उदाहरणे परभागस्य टिलोपः, 'नित्यमाम्रेडिते डाचि' इति पूर्वतकारस्य परादेश्च पकारस्य पररूपम्—एकं पकारः, द्वितीय उदाहरणे दकारः ।

दृषत्करोतीति । व्यक्तानुकरणमेतत्, प्रकरणादिना चानुकरणत्वानुगतिः । *खरटखरटाकरोतीति* । खरटदित्यस्य द्विर्वचनादि पूर्ववत् । 'द्व्यजर्द्धात्' इत्युच्यमानेऽत्र न स्यात्, न ह्यत्रार्द्धं द्व्यचकम्, किं तर्हि ? त्र्यचकम् । अवरग्रहणे तु सति भवति; न्यूननिवृत्त्यर्थत्वादवरशब्दस्य । *पटिति करोतीति* । 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' इति अच्छब्दस्य पररूपत्वम् । यद्यत्र स्याद्, डाजन्तस्य गतित्वं स्यादिति शब्दमनुच्चार्य करोतिरन्तरः स्यात्, इतिश्च, ततः परः एकाच्त्वादस्य प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धमुदात्तत्वम्; 'लोहितादिडाज्भ्यः' इत्यत्रापि 'डाभ्यः' इत्युच्यमानेऽपि न कश्चिद्दोषः ।

इडायां डाशब्दोऽनर्थकः, 'नाभा पृथिव्याः' इत्यादौ सुवादेशस्यापि डाशब्दस्याग्रहणम्; छन्दसि ततः क्यषोऽदर्शनात्, तस्मान्नार्थश्चकारेण ?

न्यासः

दृषत्करोतीति । अत्रापि द्विर्वचने कृते द्व्यजवरार्द्धता भवतीति । नाव्यक्तस्येदमनुकरणम् । **श्रत्करोतीति** । भवत्येतदव्यक्तानुकरणम्, न द्व्यजवरार्द्धम् । कृतेऽपि ह्यत्र द्विर्वचने एकाजवरमर्द्धं सम्पद्यते । **खरटखरटाकरोतीति** । खरटदित्येतस्यानुकरणस्यात्र पटदित्येतस्यानुकरणस्येव पूर्ववद् द्विर्वचनम्, ततो डाच् । यदि 'द्व्यजर्द्धम्' एतावदुच्येत, इह प्रत्ययो न स्यात्, न ह्यत्र द्व्यजर्द्धतास्ति । अवरग्रहणे तु सतीहापि भवति । तत्र हि द्व्यचोऽर्द्धाद् यस्य न्यूनतरमर्द्धं तत एव प्रत्ययेन भवितव्यम्, अन्यतस्तु सर्वतो भवितव्यमेव; अन्यथाऽवरग्रहणमनर्थकमेवेति द्व्यजर्द्धादित्येवं ब्रूयात् । **पटिति करोतीति** । 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' इत्यच्छब्दस्य पररूपत्वम् । यद्यत्र डाच् स्यात्, तस्य डाजन्तस्य परमिति शब्दमुच्चार्य्य करोतिरनन्तरः स्यादिति, न च तत्परम्; तच्चानिष्टम् ।

अथ चकारः किमर्थः, यावतान्तोदात्तत्वं कृत्वादस्य प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धम् ? इत्यत आह—**चकार इत्यादि** । पटपटा असि इति स्थिते 'तिङ्ङतिङः' इत्यसिशब्दस्य निघाते कृते 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति स्वरित एकादेशः प्राप्नोति, न च स्वरित इष्यते, तदर्थं चकारः ।

चकारः स्वरार्थः—स्वरितबाधनार्थः। पटपटासि—अत्र 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति स्वरितो न भवति।

केचित्—'द्व्यजवरार्ध्यात्' इति यकारं पठन्ति, स स्वार्थिको विज्ञेयः॥

कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ॥ ५८॥

द्वितीयतृतीयादिभ्यः शब्देभ्यः कृषावभिधेयायां डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे, नान्यत्र। पुनः कृञ्ग्रहणं भ्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम्। द्वितीयाकरोति। द्वितीयं कर्षणं विलेखनं करोतीत्यर्थः। तृतीयाकरोति। शम्बाकरोति। अनुलोमकृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कृषतीत्यर्थः। बीजाकरोति। सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः।

कृषाविति किम्? द्वितीयं करोति पदम्॥

पदमञ्जरी

तत्राह—*चकार इत्यादि*। पटपटा असीति स्थिते 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः, एकादेशः। अत्रासति चकारे 'स्वरितो वानुदात्तेऽपदादौ' इति पक्षे स्वरितः स्यात्। चित्करणसामर्थ्यात्तु चिदचितोरेकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावाच्चित्स्वरेणान्तोदात्त एव भवति।

स स्वार्थिको विज्ञेय इति। अर्थान्तरस्याभावात्। स्वार्थे तु यकारोऽस्मादेव निपातनाद्विज्ञेयः॥

कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ॥ *कृषावभिधेयायामिति*। कस्याभिधेयायाम्? द्वितीयादिशब्दानां डाजन्तानां कृञश्च। तद्दर्शयति—*द्वितीयं कर्षणं विलेखनं करोतीत्यर्थं इति*। *प्रतिलोमं कर्षतीत्यर्थ इति*। शम्बशब्दस्यात्र प्रातिलोम्ये वृत्तिः, कृञश्च कर्षणे। *सह बीजेनेति*। बीजशब्दस्य बीजावापसहिते विलेखने वृत्तेरयमर्थो भवति॥

न्यासः

स्वार्थिको विज्ञेय इति। व्यतिरिक्तस्यार्थस्याभावात्। केन पुनः स्वार्थिको यकारः? अनेनैव निपातनेन॥

कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ॥ ननु कृभ्वस्तियोग इत्यतः करोतिरनुवर्त्तते, तत् किमर्थं कृञ्ग्रहणम्? इत्याह—कृञ्ग्रहणमित्यादि। धातुत्रयं प्रकृतम्, तत्रासति कृञ्ग्रहणे यथा कृञो योगो भवति, तथा भ्वस्त्योरपि स्यात्। तस्मात् कृञो ग्रहणं भ्वस्तिनिवृत्त्यर्थम्॥

संख्यायाश्च गुणान्तायाः ॥ ५९ ॥

'कृञः' इत्यनुवर्तते, 'कृषौ' इति च। संख्यावाचिनः शब्दस्य गुणशब्दोऽन्ते=समीपे यत्र सम्भवति सा संख्या गुणान्तेत्युच्यते। तादृशात्प्रातिपदिकात्कृषावभिधेयायां डाच्प्रत्ययो भवति कृञो योगे। द्वि-

पदमञ्जरी

सङ्ख्यायाश्च गुणान्तायाः ॥ *सङ्ख्यावाचिनः शब्दस्येति*। एतेन सङ्ख्याया इत्यस्य षष्ठ्यन्ततां दर्शयति। *गुणान्तेति*। व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः, अन्तशब्दश्च समीपवचन इत्याह—*गुणशब्दोऽन्ते समीप इति*। अन्तशब्दस्य सङ्ख्याया इत्येतदपेक्षमाणस्यापि सम्बन्धिशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वात्समासः, निपातनाच्च सप्तम्यन्तस्यापि तस्य परनिपातः। *यत्रेत्यनेन* प्रकृतिर्निर्दिश्यते। *सेत्यादिना* प्रकृतिसङ्ख्या। *गुणान्तेत्युच्यते*। सङ्ख्याशब्दस्यान्ते गुणशब्दो यस्याः सा तथोक्ता। अत्रापि गमकत्वात्समासः। *तादृशादिति*। सङ्ख्याशब्दसमीपवर्त्तिगुणशब्दादित्यर्थः। अन्तशब्दश्चायं नियतमेव परत्वविशिष्टं सामीप्यमाचष्टे, न सामीप्यमात्रम्। तेन गुणविंशतिरित्यादौ पूर्वभूते गुणशब्देऽतिप्रसङ्गो नोद्भावनीयः। अनभिधानाद्वाऽत्र प्रत्ययाभावः। *द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्येति*। अत्र विलेखनशब्दस्य कृदन्तस्य प्रयोगात्कृद्योगलक्षणा षष्ठी क्षेत्राद्भवति। उत्पन्ने तु तद्धिते तदभावाद् द्वितीयैव भवति।

अथैवं कस्मान्न व्याख्यायते—सङ्ख्याया इति पञ्चमी, अन्तशब्दोऽवयववचनः, सङ्ख्यावाचिनः परो यो गुणशब्दस्तदन्तायाः प्रकृतेरिति? उच्यते; एवं हि सति गुणान्ताया एव सङ्ख्याया इति विशेषणं स्यात्, न गुणशब्दस्य समासे गुणभूतस्य। एवं तर्हि मा भूदन्तग्रहणम्, सङ्ख्याया गुणादित्येवास्तु, व्यधिकरणे च

न्यासः

संख्यायाश्च गुणान्तायाः ॥ संख्याया इति सामीप्यसम्बन्धे षष्ठी। गुणान्ताया इति प्रत्ययविधौ संख्यावाचिनः शब्दस्येत्यनेन संख्याशब्दस्य षष्ठ्यन्ततां दर्शयति। अन्तशब्दोऽवयववचनोऽप्यस्ति, तस्येह ग्रहणे संख्याशब्देन सम्बन्धो न स्यात्, न हि संख्याशब्दस्य गुणशब्दोऽवयव उपपद्यते—इति मत्वा सामीप्यवचनोऽयमन्तशब्द इति दर्शयन्नाह—गुणशब्दोऽन्ते समीप इति। यत्रेति। अनेन प्रकृतिर्निर्दिश्यते। सेत्यादि। सा प्रकृतिः संख्या गुणान्तेनाभिधीयत इत्यर्थः। गुणशब्दोऽन्ते यस्य स तथोक्तः। तादृशादित्यादिना तथाभूतात् संख्याशब्दात् सामीप्यवर्त्तिगुणशब्दादित्यर्थः। ननु च सामीप्यवचनान्तशब्दे संख्यायाः पूर्वः परो वा गुण इति विशेषो नावधार्य्यते, तथा च यत्राप्यसौ पूर्वस्तत्रापि स्यात्? नैष दोषः; सामीप्येऽयं वर्त्तमानो नियतदेशमेव

गुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । त्रिगुणाकरोति ।

कृषाविति किम् ? द्विगुणां करोति रज्जुम् ॥

समयाच्च यापनायाम् ॥ ६० ॥

'कृञः' इत्येव । 'कृषौ' इति निवृत्तम् । कर्तव्यस्यावसरप्राप्तिः=समयः, तस्यातिक्रमणम्=यापना । समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे । समयाकरोति । समयं यापयति, कालक्षेपं करोतीत्यर्थः ।

यापनायामिति किम् ? समयं करोति ॥

सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने ॥ ६१ ॥

'कृञः' इत्येव । सपत्त्रनिष्पत्त्रशब्दाभ्यामतिव्यथने डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे सति । अतिव्यथनम्=अतिपीडनम् । सपत्त्राकरोति मृगं व्याधः । सपत्त्रं शरमस्य शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः । निष्पत्त्राकरोति । शरीराच्छरमपरपार्श्वे निष्क्रामयतीत्यर्थः ।

पदमञ्जरी

पञ्चम्यौ—सङ्ख्यायाः परो यो गुणशब्दस्तस्मादिति ? एवमपि वाक्ये प्रसङ्गः—पञ्च गुणान्करोतीति, विपर्ययश्च सम्भाव्येत—गुणशब्दात्परा या सङ्ख्या तदन्तादिति । एवं तर्हि सङ्ख्यादेर्गुणादित्येवास्तु ? सत्यम्; तथा तु न कृतमित्येव, प्रत्युत यथान्यासे द्विगुणभागं क्षेत्रं करोतीत्यत्रापि प्रसङ्गः ॥

समयाच्च यापनायाम् ॥ *समयाकरोतीति* । 'अद्य मे पारवाश्यं श्वः परश्वो वास्य समयः' इत्येवं यो बहुषु दिवसेषु अतिवर्त्तते स एवमुच्यते । *समयं करोतीति* । समयः=नियमः, सङ्गमो वा—समयनं समय इति ॥

सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने ॥ पतत्यनेनेति पत्त्रम्=शराणां पुङ्खगतो बर्हः । *सपत्त्रं शरमिति* । सह पत्त्रेण वर्त्तत इति । सपत्त्रः, आपुङ्खान्मृगशरीरे शरं प्रवेशयतीत्यर्थः । *निष्पत्त्राकरोतीति* । निर्गतं पत्त्रमस्मान्निष्पत्त्रं मृगं करोतीति । यथास्य शरीरे पुङ्खप्रदेशोऽपि न लगति, तथा शरं शरीरान्निष्क्रामयतीत्यर्थः ।

न्यासः

पराश्रयं वा यत् सामीप्यं तदाचष्टे, न सामीप्यमात्रम्; यथा—अवयवे वर्त्तमानो नावयवमात्रमभिधत्ते, किं तर्हि ? विशिष्टदेशमेवावयवम्-द्विगुणं विलेखनं करोतीति ॥

समयाच्च यापनायाम् ॥ **सपत्त्रनिष्पत्त्रादतिव्यथने** ॥ सह पत्त्रेण सपत्त्रः । निर्गतं पत्त्रं यस्मान्निष्पत्त्रः । अतिपीडनम्=अतिबाधनम् ॥

अतिव्यथन इति किम् ? सपत्त्रं वृक्षं करोति जलसेचकः । निष्पत्त्रं वृक्षतलं करोति भूमिशोधकः ॥

निष्कुलान्निष्कोषणे ॥ ६२ ॥

'कृञः' इत्येव । निष्कुलशब्दान्निष्कोषणे वर्तमानात्कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति । निष्कोषणम्=अन्तरवयवानां बहिर्निष्कासनम् । निष्कुलाकरोति पशून् । निष्कुष्णातीत्यर्थः ।

निष्कोषण इति किम् ? निष्कुलान् करोति शत्रून् ॥

सुखप्रियादानुलोम्ये ॥ ६३ ॥

सुख-प्रिय-शब्दाभ्यामानुलोम्ये वर्तमानाभ्यां कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति । आनुलोम्यम्=अनुकूलता, आराध्यचित्तानुवर्तनम् । सुखाकरोति । प्रियाकरोति । स्वाम्यादेश्चित्तमाराधयतीत्यर्थः । सुखं प्रियं वा कुर्वन्नप्यानुलोम्येऽवस्थित एवमुच्यते ।

आनुलोम्य इति किम् ? सुखं करोति, प्रियं करोत्यौषधपानम् ॥

दुःखात्प्रातिलोम्ये ॥ ६४ ॥

पदमञ्जरी

सपत्त्रं वृक्षमिति । पत्त्राणि=पर्णानि । *जलसेचनत इति* । 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासः । *भूमिशोधक इति* । 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इति जीविकायां षष्ठीसमासः ॥

निष्कुलान्निष्कोषणे ॥ *निष्कुलाकरोतीति* । निष्कोशितं कुलमन्तरवयवाना-मस्मादिति बहुव्रीहौ डाच् ॥

सुखप्रियादानुलोम्ये ॥ *आराध्यचित्तानुवर्तनमिति* । आराध्याः=स्वाम्यादयः, तेषामिष्टानिष्टकरणाकरणाभ्यां यच्चित्तस्यानुवर्त्तनम्=आराधनं तदानुलोम्यम् । *प्रियं करोत्यौषधपानमिति* । प्रीतिः=प्रियम्, घञर्थे कः ।

न्यासः

निष्कुलान्निष्कोषणे ॥ निष्कुलान् करोतीति । निर्दिष्टं कुलं यस्येति स निष्कुलः । कुलशब्दोऽत्र बन्धुषु वर्त्तते ॥

सुखप्रियादानुलोम्ये ॥ आराध्यचित्तानुवर्त्तनमिति । आराध्याः=स्वाम्यादयः, तेषा-मभिमतकरणेनानभिमतवर्जनेन वा यच्चित्तस्यानुवर्त्तनम्=आराधनम्=आनुलोम्यम्, तत्र प्राणिधर्म एव वेदितव्यम् ॥

'कृञः' इत्येव । दुःखशब्दात्प्रातिपदिकात् प्रातिलोम्ये गम्यमाने डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे । प्रातिलोम्यम्=प्रतिकूलता, स्वाम्यादेश्चित्तपीडनम् । दुःखाकरोति भृत्यः ।

प्रातिलोम्य इति किम् ? दुःखं करोति कदन्नम् ॥

शूलात्पाके ॥ ६५ ॥

'कृञः' इत्येव । शूलशब्दात्पाकविषये डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे । शूले पचति शूलाकरोति मांसम् ।

पाक इति किम् ? शूलं करोति कदन्नम् ॥

सत्यादशपथे ॥ ६६ ॥

'कृञः' इत्येव । सत्यशब्दादशपथे डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे । सत्यशब्दोऽनृतप्रतिपक्षवचनः । क्वचित्तु शपथे च वर्तते—सत्येन शापयेद्विप्रमिति, तस्यायं प्रतिषेधः । सत्याकरोति वणिक् भाण्डम् । 'मयैतत्क्रेतव्यम्'—इति तथ्यं करोति ।

अशपथ इति किम् ? सत्यं करोति ब्राह्मणः ॥

मद्रात्परिवापणे ॥ ६७ ॥

पदमञ्जरी

दुःखात्प्रातिलोम्ये ॥ *चित्तपीडनमिति* । स्वाम्यादेर्यदनिष्टस्याचरणेन, इष्टस्याकरणेन वा चित्तस्य पीडनं तत्प्रातिलोम्यम् ॥

शूलात्पाके ॥ *शूलं करोति कदन्नमिति* । शूलम्=उदरतोदः, कुत्सितमन्नं कदन्नम् ॥

सत्यादशपथे ॥ सत्सु साधु सत्यम्, प्राग्घितीये यति प्राप्तेऽस्मादेव निपातनाद्यः । अन्तोदात्तो हि सत्यशब्दः—सत्येनोत्तभिता भूमिः, ऋतं च सत्यं चेति । शपेरथः शपथः, भाण्डम्=रत्नादिद्रव्यजातम् । *तथ्यमिति* । तथैव=तथ्यम्, 'पादार्घाभ्यां च' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्स्वार्थे यत् ॥

न्यासः

दुःखात् प्रातिलोम्ये ॥ स्वाम्यादेश्चित्तपीडनमिति । स्वाम्यादेरनभिमतानुष्ठानेनाभिमताननुष्ठानेन वा चित्तस्य पीडनं दुःखम्=प्रातिलोम्यम् । तदपि प्राणिधर्म एव ॥

शूलात् पाके ॥ शूलाकरोति मांसमिति । पचतीत्यर्थः ॥

सत्यादशपथे ॥

'कृञः' इत्येव । मंद्रशब्दात्परिवापणे डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे । परिवापणम्=मुण्डनम् । मद्रशब्दो मङ्गलार्थः । मङ्गलं मुण्डनं करोति, मद्राकरोति ।

❀ भद्राच्चेति वक्तव्यम् ❀ । भद्राकरोति नापितः कुमारम् । परिवापण इति किम् ? भद्रं करोति ॥

समासान्ताः ॥ ६८ ॥

अधिकारोऽयम् । आ पादपरिसमाप्तेर्ये प्रत्यया विहितास्ते समासस्यान्तावयवा एकदेशा भवन्ति=तद्ग्रहणेन गृह्यन्त इति वेदितव्यम् ।

पदमञ्जरी

मद्रात्परिवापणे ॥ परिवापणमिति । कर्मव्यापारमात्रवाचिनो वपेर्हेतुमण्णिचि ल्युट्, माङ्गल्यं मुण्डनं करोतीत्यर्थः, चोलदीक्षादौ । *भद्राच्चेति वक्तव्यमिति ।* मद्रादित्यर्थग्रहणमिति तु व्याख्याने मङ्गलादिभ्योऽपि स्यात् ।

समासान्ताः ॥ अवयववचनोऽन्तशब्द इत्याह–*अवयवा एकदेशा इति ।* समीपवचनस्तु न गृह्यते; प्रत्ययपरत्वेनैव सिद्धत्वात् । अवयववचनं चान्तशब्दमाश्रयता समासार्थादुत्तरपदादकृत एव समासे समासान्ता भवन्तीत्युक्तं भवति ।

न्यासः

मद्रात् परिवापणे ॥ मद्राकरोतीति । मङ्गलपूर्वं मुण्डनं करोतीत्यर्थः ।

भद्राच्चेति वक्तव्यमिति । भद्रशब्दाच्च डाज्भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—'समयाच्च यापनायाम्' इत्यतश्चकारोऽनुवर्त्तते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः, तेन भद्रादपि भविष्यतीति ॥

समासान्ताः ॥ 'समासान्ताः' इत्ययमधिकार **इति ।** वक्ष्यमाणेन 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इत्यादिना बहुव्रीह्यादित्वेन समासविशेषाद् विधास्यन्ते; यत्रापि बहुव्रीह्यादिग्रहणं नास्ति, तत्र सङ्घातः प्रकृतित्वेन निर्दिश्यते । यथा–'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्न' इति, ततश्च सामर्थ्यादेव समासान्ताः प्रत्यया विज्ञास्यन्ते, तत् किं समासग्रहणेन ? यत्रैतदुभयं नास्ति–यथा, 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति, तदर्थं समासान्तग्रहणं क्रियते । अन्तशब्दोऽयं सामीप्यवचनोऽप्यस्ति, यदि तस्येहग्रहणं स्यात् प्रत्ययपरत्वेनैव डजादीनां सामीप्यस्य सिद्धत्वादन्तशब्दोऽनर्थकः स्यादिति मत्वाऽऽह—अवयववचनोऽयमन्तशब्दो गृह्यत इति दर्शयन्नाह–**अवयवा इति ।** अस्य पर्यायेण वृत्तिं कर्तुमाह–**एकदेशा इति ।** एकदेशशब्दमिहाश्रयता प्राक्समासविधेः समासार्थादुत्तरपदात् वक्ष्यमाणाः प्रत्यया भवन्ति, पश्चात् समासः—इत्युक्तं भवति । एवं हि ते समासस्यैकदेशा भवन्ति यदि प्राक् समासवृत्तेः स्यात् । समासान्तान् कृत्वा

प्रयोजनम्—अव्ययीभावद्विगुद्वन्द्वतत्पुरुषबहुव्रीहिसंज्ञाः । अधिराजम्, उपराजम् । 'नाव्ययीभावाद्' इत्येष विधिर्भवति, 'अनश्च' इति टच् ।

द्विपुरी, त्रिपुरीति । 'द्विगोः' इति ङीब्भवति । कटकवलयिनी । शङ्खनूपुरिणी । कोशनिषदिनी । स्रक्त्वचिनी । 'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्' इतीनिर्भवति ।

पदमञ्जरी

एवं हि ते समासस्यैकादेशा भवन्ति, यदि प्रागेव तान्प्रत्ययान्कृत्वा तदन्तेन समासः क्रियते । तथा च 'न कपि' इत्यत्र वक्ष्यति—'समासार्थे ह्युत्तरपदे कपि कृते पश्चात्समासेन भवितव्यमिति । ये पुनरत्र पक्षे दोषास्ते ङ्याप्सूत्रे एव प्रतिविहिताः ।

अधिराजम्, उपराजमिति । विभक्त्यर्थे सामीप्ये चाव्ययीभावः, 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः', 'अनश्च' इति टच् । *द्विपुरीति* । समाहारद्वन्द्वः । 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यकारः । कोषश्च निषच्च कोषनिषदम्, स्रुक्च त्वक् च स्रुक्त्वचम्—द्वन्द्वा-

न्यासः

पश्चात् तदन्तेन समासः क्रियते । एवञ्च तैः सह समाससंज्ञा भवतीत्युपपद्यते डजादीनां समासावयवत्वम् । अतश्चैतदेवं विज्ञेयम् । योऽभिमन्यते—समासे कृते डजादिभिर्भवितव्यमिति, तस्य 'न कपि' इत्यत्र यद् वक्ष्यति वृत्तिकारः—'समासार्थे ह्युत्तरपदे कपि कृते पश्चात् समासेन भवितव्यम्' इति, तद्विरुध्यते । ननु च समासार्थादुत्तरपदाड् डजादिषु कृतेषु पश्चात् तदन्तेन समासः क्रियते—इत्यस्मिन्नपि पक्षे समानो दोषः, यतः 'पथो विभाषा' इत्येवमादिषु नञः परो यः पथिन्-शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाद्विभाषा समासान्तो भवतीत्येवमादयो निर्देशा विरुध्यन्त एव ? नैतदस्ति; तदविरोधस्य 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यत्र प्रतिपादितत्वात् । तद्ग्रहणेन गृह्यन्त इति । तच्छब्देन समासः प्रत्यवमृश्यते । समासावयवत्वे सति तेषामपि तदनुप्रवेशो भवति । अतस्ते समासग्रहणेन गृह्यन्त इति । अथ समासावयवत्वे प्रत्ययस्य किं प्रयोजनम् ? इत्याह—प्रयोजनमित्यादि । अधिराजम्, उपराजमिति । यथाक्रमं विभक्त्यर्थे सामीप्येऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः', 'अनश्च' इति टजन्तस्याव्ययीभावग्रहणेन ग्रहणात् 'नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः' इति विभक्तेरलुग्, अमन्तभावश्च भवति ।

द्वे पुरी समाहृते इति 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासः, स च 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञः, 'ऋक्पूरब्धूःपथाम्' इत्यकारप्रत्ययान्तस्य द्विगुग्रहणेन ग्रहणादकारान्ताद् 'द्विगोः' इति ङीप् सिद्धो भवति ।

कोशनिषदिनीति । कोशश्च निषच्चेति समाहारद्वन्द्वः, 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे' इति टच्, तस्य द्वन्द्वग्रहणेन ग्रहणात् कोशनिषदमस्या अस्तीति 'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्' प्राणिस्थादिनिर्भवति, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् । स्रक्त्वचिनीति । पूर्वेण तुल्यम् ।

विधुरः । प्रधुरः । 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इत्येष स्वरो भवति । उच्चैर्धुरः । नीचैर्धुरः । 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इत्येतद्भवति ॥

न पूजनात् ॥ ६९ ॥

यान् शब्दानुपादाय समासान्ता विधीयन्ते 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इत्येवमादीन्, यदा ते पूजनात्=पूजनवचनात्परे भवन्ति तदा समासान्तो न भवति । सुराजा । अतिराजा । सुगौः । अतिगौः ।

पदमञ्जरी

च्चुदषहान्तात्समाहारे' इति टच् । विगतो धुरः, प्रगतो धुर इति । प्रादिसमासः । *तत्पुरुषे तुल्यार्थेत्येष स्वरो भवतीति* । पूर्वपदप्रकृतिस्वरः, पूर्वपदं चात्र 'निपाता आद्युदात्ताः', 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इत्याद्युदात्तम्, उच्चैर्नीचैःशब्दौ स्वरादिष्वन्तोदात्तौ पठितौ । अथ समासग्रहणं किमर्थम्, यावता 'बहुव्रीहौ संख्येये,' 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः', 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इति प्रायेण समासविशेषग्रहणमस्ति ? यत्रापि नास्ति तत्रापि सङ्घात एव गृह्यते, यथा 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इति । यत्र तर्ह्येतदुभयं नास्ति 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यादौ, तदर्थं समासग्रहणमिति ॥

न पूजनात् ॥ यान् शब्दानुपादायेति । पूजनवचनात्समासान्तो न भवतीत्ययमर्थो न भवति; परिगणिताभ्य एव प्रकृतिभ्यः समासान्तविधानात् । तत्र च पूजनार्थस्य कस्यचिदभावात्, अभावे प्रतिषेधानुपपत्तेः । *सुराजेत्यादौ* प्रादिसमासः ।

न्यासः

विधुरः, प्रधुर इति । विगतो धुरः, प्रगतो धुर इति 'कुगतिप्रादयः' इति प्रादितत्पुरुषसमासः । पूर्ववदकारस्येह तत्पुरुषग्रहणेन ग्रहणात् 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया' इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः सिद्धो भवति । पूर्वपदं पुनरत्र निपात आद्युदात्तः । असति तु समासान्तत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तता स्यात् । उच्चैर्धुरः, नीचैर्धुर इति । उच्चैर्धूरस्येति, नीचैर्धूरस्येति बहुव्रीहिः । पूर्ववदकारप्रत्ययः, तस्य बहुव्रीहिग्रहणेन ग्रहणाद् 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति । पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्त्विहान्तोदात्तः ।

सनुतर्, उच्चैस्, नीचैस्, शनैस्, ऋधक्, ऋते, युगपत्, आरात्, पृथगित्येते सनुतर्–प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः; स्वरादिषु पाठात् ॥

न पूजनात् ॥ सुराजा, अतिराजेति । शोभनो राजा, अतिशयितः राजेति विगृह्य 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । सुगौरिति पूर्ववत् समासः । अत्र 'गोरतद्धितलुकि' इति टच प्राप्नोति; अस्माद्वचनान्न भवति ।

❀ पूजायां स्वतिग्रहणं कर्तव्यम् ❀। इह मा भूत्—परमराजः, परमगव इति।

❀ प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं च कर्तव्यम् ❀। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्येवमादौ प्रतिषेधो न भवति—सुसक्थः, अतिसक्थः। स्वक्षः, अत्यक्षः ॥

किमः क्षेपे ॥ ७० ॥

क्षेपे यः किंशब्दस्ततः परस्य समासान्तो न भवति। किंराजा यो न रक्षति। किंसखा योऽभिद्रुह्यति। किंगौर्यो न वहति। 'किं क्षेपे' इति समासः।

क्षेप इति किम्? कस्य राजा किंराजः। किंसखः। किंगवः ॥

नञस्तत्पुरुषात् ॥ ७१ ॥

नञः परे वक्ष्यमाणा ये राजादयस्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तो न भवति। अराजा। असखा। अगौः।

पदमञ्जरी

पूजायां स्वतिग्रहणमिति। पूजनग्रहणमपि कर्त्तव्यमेव, अवक्षेपणे अतिक्रमणे च वर्त्तमानयोः स्वत्योर्ग्रहणं मा भूदिति। *प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं चेति*। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः' इत्यतः प्रागयमधिकार इति वक्तव्यमित्यर्थः।

किमः क्षेपे ॥ *किंराजेति*। 'किं क्षेपे' इति समासः। *कस्य राजा किंराज इति*। प्रश्नेऽत्र किंशब्दः।

'क्षेपे' इति शक्यमकर्त्तुम्, कस्मादत्र न भवति—लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति? कश्चिदाह—क्षेपग्रहणेनैतज्ज्ञापयति—इयमिह परि-

न्यासः

परमराजः, परमगव इति। 'सन्महत्' इत्यादिना समासः। सुसक्थ इति। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति षच् ॥

किमः क्षेपे ॥ किंराजेति। निन्दितो राजेति विगृह्य 'किं क्षेपे' इति समासः। किंराज इत्यत्र प्रश्ने किंशब्दः, न क्षेपे, षष्ठीसमासः। ननु 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इति प्रतिपदोक्तो यः किमः समासः 'किं क्षेपे' इत्यनेन विहितः स एव ग्रहीष्यत इति क्षेपग्रहणमनर्थकम्? एवं तर्हि क्षेपग्रहणेनैतदेव ज्ञापयति—इयं परिभाषा नावतिष्ठत इति। तेन बहुव्रीहावपि प्रतिषेधः सिद्धो भवति—निन्दिता धूरस्य किन्धुरं शकटम्, निर्धुरं शकटमिति ॥

नञस्तत्पुरुषात् ॥ अराजेति। तत्पुरुषोऽयम्।

तत्पुरुषादिति किम् ? अनृचो माणवकः । अधुरं शकटम् ॥

पथो विभाषा ॥ ७२ ॥

'नञस्तत्पुरुषात्' इति वर्तते । नञः परो यः पथिन्-शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषात् समासान्तो विभाषा न भवति । पूर्वेण नित्यः प्रतिषेधः प्राप्तो विकल्प्यते । अपथम्, अपन्थाः ॥

बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ॥ ७३ ॥

संख्येये यो बहुव्रीहिर्वर्तते तस्मादबहुगणान्ताड्डच् प्रत्ययो भवति । 'संख्ययाव्ययासन्न' इति यो बहुव्रीहिस्तस्येदं ग्रहणम् । उपदशाः । उपविंशाः । उपत्रिंशाः । आसन्नदशाः । अदूरदशाः । अधिकदशाः । द्वित्राः । पञ्चषाः । पञ्चदशाः ।

पदमञ्जरी

भाषा ज्ञापतिष्ठत इति, तेन निन्दिता धूरस्य शकटस्य किंधूः शटकमिति बहुव्रीहावपि प्रतिषेधः सिद्धो भवतीति । तद्भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम् । तस्माद्विस्पष्टार्थं क्षेपग्रहणम् ॥

बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ॥ 'बहुव्रीहौ' इति सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमी । *तस्येदं ग्रहणमिति* । तस्यैव संख्येये वृत्तेः । योऽपि वार्थे वर्त्तते–द्वित्राः, पञ्चषा इति, योऽपि सुजर्थे–द्विदशास्त्रिदशा इति; तावुभावपि संख्येय एव वर्त्तेते; संख्येयस्यैव वार्थस्य सुजर्थस्य चाभिधानात् । *उपदशा इत्यादौ* टिलोपः । *उपविंशा* इत्यत्र 'तिविंशतेर्डिति' इति तिलोपः, द्वयोरकारयोः 'अतो गुणे' पररूपत्वम् ।

न्यासः

अनृचो माणवकः, अधुरं शकटमिति । द्वावपि बहुव्रीही । पूर्ववदकारः ॥

पथो विभाषा ॥ अपथमित्यत्र पूर्ववदकारः । 'अपथं नपुंसकम्' इति नपुंसकलिङ्गता ॥

बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ॥ बहुव्रीहाविति सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमी । 'संख्ययाव्ययासन्न' इत्यादिना यो बहुव्रीहिः, तस्येदं ग्रहणमिति । तस्यैव संख्येये वृत्तिः । यत्तर्हि वार्थे वर्त्तते–द्वित्राः, पञ्चषा इति, यश्च सुजर्थे–द्विदशाः, त्रिदशा इति, तत्र न प्राप्नोति ? नैष दोषः; तावपि संख्येये वर्त्तत एव, संख्येयतयैव वार्थस्य सुजर्थस्य चाभिधानात् । दशानाञ्च समीप **उपदशाः** । विंशतेः समीपे **उपविंशाः** । 'तिविंशतेर्डिति' इति तिलोपः, द्वयोरप्यकारयोः 'अतो गुणे' पररूपत्वम् । दशानामासन्ना **आसन्नदशाः** । दशानामदूरा **अदूरदशाः** । दशानामधिका **अधिकदशाः** । द्वौ वा त्रयो वा **द्वित्राः** । पञ्च वा षड् वा **पञ्चषाः** । सर्वत्र 'संख्ययाव्ययासन्न' इत्यादिना बहुव्रीहिः ।

संख्येय इति किम्? चित्रगुः। शबलगुः। अबहुगणादिति किम्? उपबहवः। उपगणाः। अत्र स्वरे विशेषः।

❀ डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यं निस्त्रिंशाद्यर्थम् ❀। निर्गतानि त्रिंशतः निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य।

पदमञ्जरी

चित्रगुरिति। 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वः।

संख्येय इति शक्यमवक्तुम्। इह कस्मान्न भवति—चित्रगुरिति? नञिवयुक्तन्यायेन बहुगणप्रतिषेधात्तत्सदृशविज्ञाने सति संख्योत्तरपदो बहुव्रीहिर्ग्रहीष्यते। स्यादेतत्—वैपुल्यवचनोऽपि बहुशब्दोऽस्ति, न संख्यापदमेव, गणशब्दोऽपि सङ्घवचनोऽप्यस्ति, तस्मादशक्यं बहुगणसादृश्येन संख्योत्तरपदं ग्रहीतुमिति? तन्न; परस्परसाहचर्यात्संख्यापदयोरेव पर्युदासात्। तस्मात् प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समाससम्भवात्सादृश्यस्य चानवस्थितत्वात् संख्येयग्रहणं कृतम्। *उपबहवः, उपगणा इति*। अनियतप्रचयवचनयोरपि बहुगणशब्दयोरर्थप्रकरणादिना यदा विशिष्टेष्वेव दशादिषु वृत्तिस्तदा तत्समीपगता नवादय उपबहव इत्यविरुद्धं बहुवचनम्। *अत्रेति*। उपगणा इत्यत्र। स्वरे *विशेष इति*। डचि सत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्, तस्मिंस्त्वसति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वमेव भवति।

संख्यायास्तत्पुरुषस्येति। तत्पुरुषस्यावयवभूतं यत्संख्यावाच्युत्तरपदं तस्मादित्यर्थः। *निस्त्रिंशाद्यर्थमिति*। आदिशब्दः प्रकारे, अव्ययादयः संख्यान्तास्तत्पुरुषा निस्त्रिंशप्रकाराः। गोविंशतिरित्यादौ न भवति। *निस्त्रिंशानि वर्षाणीति*। त्रिंशल्लक्षणायाः संख्याया निर्गतानि अधिकानि एकत्रिंशदादी-

न्यासः

चित्रगुरिति। 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः। ननु च नञिवयुक्तन्यायेन बहुगणप्रतिषेधात् तत्सदृशविज्ञानेन संख्योत्तरपद एव बहुव्रीहिर्विज्ञास्यते, एवञ्च चित्रगुप्रभृतिषु प्राप्तिरेव नास्तीति किं संख्येयग्रहणेन? स्यादेतदेवं यदि बहुशब्दः संख्येयपदमेव स्यात्; स च वैपुल्यवचनोऽप्यस्ति, तेनासति संख्येयग्रहणे संख्योत्तरपदग्रहणं न स्यात्। उपबहवः, उपगणा इति। पूर्ववद् बहुव्रीहिः। अत्रेत्यादि। उपगणा इत्यत्र सत्यसति वा डचि रूपं प्रति विशेषो नास्तीति। स्वरे तु विद्यते—डचि हि सत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्, तस्मिन्नसति पूर्वपदप्रकृतिभावेनाद्युदात्तं भवति।

संख्याया इत्यादि। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। तत्पुरुषस्य संख्यावाचि यदुत्तरपदं ततो डचः प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—'संख्यायाश्च गुणान्तायाः' इत्यतश्चकारोऽनुवर्त्तते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः, तेन संख्यायास्तत्पुरुषस्य डज्भविष्यतीति। निस्त्रिंशाद्यर्थमिति। आदिशब्दः प्रकारे। निस्त्रिंशा इति।

निश्चत्वारिंशानि यज्ञदत्तस्य । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः ॥

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ॥ ७४ ॥

'बहुव्रीहौ' इति न स्वर्य्यते, सामान्येन विधानम् । ऋक्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन्—इत्येवमन्तानां समासानामकारः प्रत्ययो भवति समासान्तोऽक्षे न । सामर्थ्याद्धुर एतद्विशेषणम्, ऋगादीनां न भवति ।

पदमञ्जरी

नीत्यर्थः । *निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति* । ततोऽपि दीर्घतर इत्यर्थः । रूढिशब्दस्येयं यथाकथञ्चिद्व्युत्पत्तिः ।

डचश्चित्करणं स्वरार्थम्; अन्यथा समासार्थादुत्तरपदात्प्रत्यये कृते पश्चाद्बहुव्रीहौ सतिशिष्टः पूर्वपदप्रकृतिस्वरः स्यात् । इदमेव चित्करणं लिङ्गम्—समासार्थादुत्तरपदात्समासान्ते कृते पश्चात्समासः इति, अन्यथा प्रत्ययस्वर एव सतिशिष्टः स्वरः स्यात् । यस्तु मन्यते—'कृते समासे समासान्तग्रहणसामर्थ्याच्चागमवत्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति, तस्यापि ज्ञापकार्थं चित्करणम्; स्वरविधेः प्रागेव समासान्तो भवतीति । तेन महाधुर इत्यादौ बहुव्रीहिस्वरो भवति ॥

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ॥ *सामर्थ्यादिति* । धुर एवाक्षेण सम्बन्धोऽस्ति, नेतरेषामित्येतत्सामर्थ्यम् । *एतद्विशेषणमिति* । 'अनक्षे' इत्यत्रोत्तरपदार्थ एतदा प्रत्यवमृश्यते, अत एवाह—*अक्षसम्बन्धिनी या धूरिति* । सूत्रे त्वक्षस्य धूरपेक्षयाऽधिकरणत्वादनक्ष इति सप्तमी । चक्रसम्बद्धः काष्ठविशेषो रथाद्यवयवः=अक्षः,

न्यासः

'कुगतिप्रादयः' इति तत्पुरुषः । डचश्चित्करणमन्तोदात्तार्थम्, अन्यथा हि प्रत्ययस्य समासैकदेशत्वात् प्रत्ययस्वरो बहुव्रीहिस्वरेण बाध्यते ॥

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ॥ सामर्थ्यादिति । यस्य येन सम्बन्धोऽस्ति तत् तस्य विशेषणं भवति; धुर एव चाक्षेण सम्बन्धोऽस्ति, नेतरेषाम् । अतः सामर्थ्यात् तस्यैवानक्ष इत्येतद् विशेषणं विज्ञायते, न ऋगादीनाम् । 'अनक्षे' इति च षष्ठ्यर्थे सप्तमी सुब्व्यत्ययेन । अत एवाह—अनक्षसम्बन्धिनीत्यादि । अक्षेण सम्बन्धोऽवयवावयविलक्षणः, सोऽस्या अस्तीत्यक्षसम्बन्धिनी । सा धूर्यस्यां तस्या न भवति । अथैवं कस्मान्न विज्ञायते—अक्षेऽभिधेये न भवतीति ? अशक्यमेवं विज्ञातुम्; एवं हि विज्ञायमान इहैव प्रतिषेधः स्याद्—दृढा धूरस्याक्षस्य दृढधूरक्ष इति । इह तु न स्यात्—अक्षस्य धूरक्षधूरिति । एवं तर्हि विज्ञायते—अक्षे पूर्वपदे न भवतीति ? एवमप्यशक्यं विज्ञातुम्; तथा ह्येवं विज्ञायमान इहैव प्रतिषेधः स्याद्—अक्षधूरिति । इह तु न स्यात्—दृढधूरक्ष इति । यथा वृत्तिकारेण व्याख्यातं तथोभयत्रापि भवति । अक्ष-

अक्षसम्बन्धिनी या धूस्तदन्तस्य न भवति। अनृचः। बह्वृचः। अर्धर्चः। पुर्—ललाटपुरम्। नान्दीपुरम्। अप्—द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्। धुर्—राजधुरा। महाधुरः। पथिन्—स्थलपथः। जलपथः।

अनक्षे इति किम्? अक्षस्य धूः अक्षधूः। दृढधूरक्षः।

पदमञ्जरी

तत्सम्बन्धिनी धूस्तस्यां न भवतीत्यर्थः। यदि त्वक्षे समासार्थे न भवतीति विज्ञायेत, इहैव प्रतिषेधः स्यात्—दृढा धूरस्य दृढधूरक्ष इति, इह तु न स्याद्—अक्षस्य धूरक्षधूरिति। अथाप्येवं विज्ञायेत—अक्षे पूर्वपदे न भवतीति, एवमपीहैव प्रतिषेधः स्याद्—अक्षधूरिति, इह तु न स्याद्दृढधूरक्ष इति। तस्माद्व्याप्तिन्यायादुक्त एवार्थो न्याय्यः। *अर्द्धर्च इति।* 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे 'अर्द्धर्चाः पुंसि च' इति पुंल्लिङ्गत्वम्। *बह्वृच इति।* बहुव्रीहिः। *ललाटपुरम्, नान्दीपुरमिति।* षष्ठीसमासौ। परवल्लिङ्गता तु न भवति, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य। यद्यप्यकारान्तेन पुरशब्देन समासे कृते एतत्सिद्ध्यति, तथापि व्यञ्जनान्तेन समासे तस्य श्रवणं मा भूदिति पूर्वग्रहणम्। *द्वीपं समीपमिति।* द्विर्गता आपोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः, 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप इत्' इतीत्वम्। *राजधुरादयः* षष्ठीसमासाः। *महाधुर इति।* बहुव्रीहिः, 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवद्भावः, 'आन्महतः' इत्यात्वम्।

न्यासः

म्बन्धिनी या धूः, तदन्तत्वात् समासस्य। अर्द्धर्च इति। ऋचोऽर्द्धमिति 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः। 'अर्द्धर्चाः पुंसि च' इति नपुंसकलिङ्गता च। बह्वृच इति। बहव ऋचोऽस्य सन्तीति बहुव्रीहिः। ललाटपुरमिति। षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्। अथ वा—ललाटं पूरिवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यादिना समासः। नान्दीपुरमिति। षष्ठीसमासः। यद्यप्यकारान्तेन पुरशब्देन समासे कृत एतत् सिध्यति, तथापि व्यञ्जनान्तेन पूःशब्देन यदि समासः क्रियते, तदा व्यञ्जनान्तस्य श्रवणं मा भूदित्येवमर्थं पुरो ग्रहणम्। द्वीपमिति, अन्तरीपमिति, समीपमिति। द्विर्गता आपोऽस्मिन्, अन्तर्गता आपोऽस्मिन्, सङ्गता आपोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः; 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इतीत्वम्। राजधुरेति। षष्ठीसमासः। महाधुर इति बहुव्रीहिः, 'आन्महतः' इत्यात्त्वम्, 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। स्थलपथः, जलपथ इति। षष्ठीसमासः। सप्तमीति योगविभागात् सप्तमीसमासो वा।

ऋगन्तस्य यो बहुव्रीहिर्नञ्पूर्वपदः, तस्य माणवक एवाभिधेये प्रत्यय इष्यते। यो बहुपूर्वपदो बहुव्रीहिर्ऋगन्तः, तस्य चरणाख्यायामेव इष्यत इति दर्शयति—

अनृचो माणवको ज्ञेयो, बह्वृचश्चरणाख्यायाम् । अनृचो माणवकः । बह्वृचो ब्राह्मणः । अनृक्कं साम, बह्वृक्कं सूक्तमित्यत्र न भवति ॥

अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ॥ ७५ ॥

प्रति, अनु, अव—इत्येवम्पूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च समासादच् प्रत्ययो भवति । प्रतिसामम्, अनुसामम्, अवसामम् । प्रतिलोमम्, अनुलोमम्, अवलोमम् ।

कृष्णोदक्पाण्डुर्वाया भूमेरच्प्रत्ययः स्मृतः ।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥

पदमञ्जरी

अनृचो माणवक इत्यादि । ऋगन्तस्य बहुव्रीहेर्नञ्पूर्वस्य माणवक एवाभिधेये प्रत्यय इष्यते, तथा बहुपूर्वपदस्य चरणाख्यायामेवेत्यर्थः । *अनृक्कं साम, बह्वृक्कं सूक्तमिति* । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्, 'चोः कुः' इति कुत्वम् ॥

अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ॥ *प्रतिसाममित्यादौ* प्रादिसमासः, बहुव्रीहिः, अव्ययीभावश्च यथासम्भवं वेदितव्याः ।

कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया इति । कृष्णादिशब्दाः पूर्वे यस्यास्तस्या भूमेरच् प्रत्ययः स्मृतः । कृष्णा भूमिरस्मिन् कृष्णभूमो देशः, उदीची भूमिरस्मिन्नुदग्भूमो

न्यासः

अनृचो माणवको ज्ञेय इत्यादि । एतच्च 'पथो विभाषा' इत्यतो विभाषाग्रहणानुवृत्तेर्व्यवस्थितविभाषात्वं चोपलभ्यमिति वेदितव्यम् । **अनृक्कः, बह्वृक्कः इति** । 'शेषाद्विभाषा' इति कप । 'चोः कुः' इति कुत्वम्—चकारस्य ककारः ॥

अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः ॥ **प्रतिसाममिति** । प्रतिगतं साम प्रतिसामम् । प्रादिसमासः । प्रतिगतं वा सामास्येति बहुव्रीहिः । गतशब्दो गतार्थत्वाद् वृत्तौ न प्रयुज्यते । अथ वा—साम प्रतीति यथार्थे 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽव्ययीभावः । अनुगतं सामेत्यनुसामम् । प्रादिसमासः । अनुगतं सामानेनेति बहुव्रीहिर्वा । **अवसाममिति** । पूर्वेण तुल्यम् । **अनुलोममित्यादौ** पूर्वेण तुल्यम् । **अवलोममित्यादि** पूर्ववत् प्रादिसमासादयो वेदितव्याः ।

कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया इत्यादि । कृष्णोदक्पाण्डुशब्दाः पूर्वे यस्या भूमेस्तस्या अच्प्रत्ययः स्मृतः । कृष्णा भूमिरस्मिन् देशे कृष्णभूमो देशः । उदीची भूमिरस्मिन् देश उदग्भूमः । पाण्डुर्भूमिरस्मिन् पाण्डुभूमः । गोदावर्य्याश्च नद्याश्चाच्प्रत्ययः स्मृतः, ते चेन्नदीगोदावर्यौ संख्याया उत्तरे भवतः । पञ्चानां गोदावरीणां समाहारः । 'नदीभि-

कृष्णभूमः। पाण्डुभूमः। उदग्भूमः। पञ्चनदम्। पञ्चगोदावरम्। 'नदीभिश्च' इत्यव्ययीभावः।

भूमेरपि संख्यापूर्वाया अच् प्रत्यय इष्यते—द्विभूमः प्रासादः, त्रिभूमः। दशभूमकं सूत्रम्।

अन्यत्रापि च दृश्यते। पद्मनाभः। ऊर्णनाभः। दीर्घरात्रः। समरात्रः। अरात्रः।

तदेतत्सर्वमिह 'अच्' इति योगविभागं कृत्वा साधयन्ति।

अक्ष्णोऽदर्शनात् ॥ ७६ ॥

'अच्' इत्यनुवर्तते। दर्शनादन्यत्र योऽक्षिशब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति। लवणाक्षम्। पुष्कराक्षम्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः।

अदर्शनादिति किम् ? ब्राह्मणाक्षि।

कथं कबराक्षम्, गवाक्षमिति; अश्वादीनां मुखप्रच्छादनार्थं

पदमञ्जरी

देशः। कः पुनरसौ पृथिव्या दक्षिणसीमा ? भूमिशब्दो वा तद्विशेषे सस्यसंपन्ने द्रष्टव्यः। यस्य दक्षिणतः खिलः स देश उदग्भूमः। गोदावर्याश्च नद्याश्चाच् प्रत्ययः स्मृतः, तौ यदि संख्याया उत्तरे भवतः—पञ्चगोदावरम्, पञ्चनदम्। 'नदीभिश्च' इति समाहारेऽव्ययीभावः।

पद्मनाभ इति। पद्माकारो नाभिरस्येति प्रथमान्तयोर्बहुव्रीहिः। पद्मं नाभावस्येति विग्रहे गड्वादिषु दर्शनात्सप्तम्याः परनिपातः। *ऊर्णनाभ इति*। 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इत्यूर्णाशब्दस्य ह्रस्वः। *तदेतदिति*। कृष्णभूमादिकम्।

योगविभागेनेति। अत एव प्राक् प्रत्ययनिर्देशः कृतः॥

अक्ष्णोऽदर्शनात्॥ 'अदर्शनात्' इति वचनादक्षीवाक्षीत्यक्षिसदृशार्थवृत्तिरिहाक्षिशब्द उपात्तः। *लवणाक्षम्, पुष्कराक्षमिति*। लवणमक्षीव, पुष्करमक्षीवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः।

न्यासः

श्च' इति समाहारेऽव्ययीभावः—पञ्चगोदावरम्, पञ्चनदम्।

भूमेरपीत्यादि। न केवलं नदीगोदावरीभ्याम्, अपि तु भूमेरपि संख्यापूर्वाया इष्यते। **द्विभूम** इत्यादौ सर्वत्र बहुव्रीहिः।

तदित्यादि। एतत् कृष्णभूमाद्यपि योगविभागं कृत्वाऽऽचार्याः साधयन्ति॥

अक्ष्णोऽदर्शनात् ॥ अदर्शनादिति प्रतिषेधः क्रियते। कबराक्षम्, गवाक्षमिति

बहुच्छिद्रं कबराक्षम्, तेनापि हि दृश्यते, गवाक्षेण च ? नैष दोषः; चक्षुःपर्यायवचनो दर्शनशब्दः, प्राण्यङ्गवचन इहाश्रीयते ॥

अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिश्श्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ॥ ७७ ॥

अच्प्रत्ययान्ता एते शब्दा निपात्यन्ते। समासे व्यवस्थाऽपि निपातनादेव प्रतिपत्तव्या।

आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः। अदृश्यान्यविद्यमानानि वा चत्वारि यस्य सोऽचतुरः। विगतानि चत्वारि यस्य स विचतुरः। शोभनानि चत्वारि यस्य स सुचतुरः।

पदमञ्जरी

कथमित्यादि। ननु दर्शनादन्यत्र योऽक्षिशब्दस्तदन्तादित्युक्तम्, गवाक्षकबराक्षयोश्च समुदायो दर्शनवचनः, नाक्षिशब्द इति कात्रानुपपत्तिः ? सत्यम्; अक्ष्यन्तादर्शनादिति सूत्रार्थः कस्मान्न भवतीति मन्यमानस्यायं प्रश्नो द्रष्टव्यः। *चक्षुःपर्याय इति*। तस्य प्रसिद्धतरत्वादिति भावः॥

अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाहर्दिवसरजसनिश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः॥ समासव्यवस्थापीति। क्वचिद्बहुव्रीहेरेव, क्वचिद् द्वन्द्वादेव—इत्येवमादिको नियमः=व्यवस्था। अपिशब्दादन्यदपि टिलोपादिकं तन्निपात-

न्यासः

रूढिशब्दावेतौ, नात्रावयवार्थेऽभिनिवेशः कार्यः। कबराक्षं गवाक्षमिति न सिध्यतीत्यभिप्रायः। स्यादेतत्—दर्शनप्रतिषेधात् सिद्धमेतत्, दृश्यतेऽनेनेति; न दर्शनम्, न च कबराक्षेण दृश्यते, नापि गवाक्षेण ? इत्यत आह—तेनापीत्यादि। दर्शनशब्दोऽयं चक्षुषि प्राण्यङ्गे प्रसिद्धः। तथा हि दर्शनं प्रयुङ्क्ते चक्षुर्ग्राह्यमपि। तस्मात् प्रसिद्धिवशेन चक्षुष्पर्यायो दर्शनशब्दः, स इहाश्रीयते॥

अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तन्दिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः॥ समासे व्यवस्थापीत्यादि। समासव्यावस्था = समासनियमः—क्वचिद् बहुव्रीहिरेव, क्वचिद् द्वन्द्व इत्येवमादिका निपातनादेव वेदितव्या; व्यवस्थाभेदस्यान्यस्याभावात्। अपिशब्दादन्यदपि टिलोपादि कार्यं निपातनादेव वेदितव्यम्।

ततः परे एकादश द्वन्द्वाः । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । इह न भवति—स्त्रियाः पुमान् स्त्रीपुमानिति । धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनडुहौ । ऋक्च साम च ऋक्सामे । वाक्च मनश्च वाङ्मनसे । अक्षि च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम् । टिलोपो निपात्यते । पादौ च अष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम् । पादस्य पद्भावो निपात्यते । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । सप्तम्यर्थवृत्तयोरव्यययोः समासोऽपि निपातनादेव । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । पूर्वपदस्य मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा च अहर्दिवम् । ननु च पर्यायावेतौ, कथमनयोर्द्वन्द्वः ? वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते । अहन्यहनीत्यर्थः । एकोऽव्ययीभावः ।

साकल्ये—सरजसमभ्यवहरति । बहुव्रीहौ न भवति—सह रजसा सरजः=पङ्कजमिति, ततस्तत्पुरुषः ।

पदमञ्जरी

नादेव । *स्त्रियाः पुमानिति* । स्त्रियं प्रति पुमान् शूर इत्यर्थः ।

अक्षिभ्रुवमिति । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । *दारगवमिति* । 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति' । सप्तम्यर्थे वृत्तयोरव्यययोः समासोऽपि निपातनादेवेति । चार्थेन योगाभावात्, न हि भवति—इह च, एवं चेति । *अहर्दिवमिति* । 'रोऽसुपि' इति रेफः । *कथमनयोर्द्वन्द्व इति* । न कथञ्चित्, विरूपाणामपि समानार्थानामेकशेषारम्भात् । *वीप्सायामित्यादि* । चार्थे विधीयमानो वीप्सायां न प्राप्नोति, एकशेषारम्भाच्च । तस्माद्वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते, वीप्साद्योतनाच्चैकेन गतार्थत्वमपि नाशङ्कनीयम्, यथा द्विर्वचने—ग्रामोग्रामो रमणीय इति ।

न्यासः

सप्तम्यर्थवृत्तयोरित्यादिना हि सप्तम्यर्थवृत्तयोरव्यययोराधेयप्रधानयोः समासो विद्यते । तस्मान्निपातनादेव च भवतीति वेदितव्यम् । अपिशब्दात् समासोऽपि निपातनादेव । अहर्दिवमिवि । 'रोऽसुपि' इति नकारस्य रेफः । ननु चेत्यादि । अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः । पर्यायाणाञ्चैकेनैवार्थस्योक्तत्वात् द्वितीयस्य प्रयोगो न सम्भवति । अहर्दिवाशब्दौ पर्यायौ, तत् कथमनयोर्द्वन्द्वः ! न कथञ्चिदिति भावः । वीप्साद्योतनार्थमुक्तस्यापि प्रयोगो न विरुध्यत इति मन्यमान आह—वीप्सायामित्यादि । चार्थ उत्पद्यमानो द्वन्द्वो वीप्सायां न प्राप्नोतीत्यतो निपात्यते । एकोऽव्ययीभावः ।

साकल्य इति । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना । सरजसमिति । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहस्य सभावः ।

निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम् । निःश्रेयस्कः पुरुष इत्यत्र न भवति । ततः षष्ठीसमासः ।

पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । द्वन्द्वे न भवति—पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषो । ततो द्विगू ।

द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । इह न भवति—द्वयोरायुः द्व्यायुः, त्र्यायुरिति । ततो द्वन्द्वः ।

ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् । इह न भवति—ऋग्यजुरस्योन्मुग्धस्य ऋग्यजुरुन्मुग्धः ।

जातादिपूर्वपदा उक्षशब्दान्तास्त्रयः कर्मधारयाः । जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । बहुव्रीहौ न भवति—जातोक्षा ब्राह्मणः । महोक्षा, वृद्धोक्षेति । ततोऽव्ययीभावः ।

शुनः समीपमुपशुनम् । टिलोपाभावः, सम्प्रसारणं च निपातनादेव । ततः सप्तमीसमासः ।

गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः ।

❀ चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम् ❀ । त्रिचतुराः । उपचतुराः ॥

पदमञ्जरी

सरजसमिति । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहस्य सभावः । *निःश्रेयसमिति* । प्रादिसमासः । *निःश्रेयस्क इति* । निश्चितं श्रेयोऽनेनेति बहुव्रीहिः, शेषलक्षणः कप्, 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् ।

ऋग्यजुरुन्मुग्ध इति । य ऋचो यजूंषि मन्यते ।

त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । चतुर्णां समीप *उपचतुराः*, 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये' इति प्राप्तस्य डचोऽपवादोऽज्विधीयते ॥

न्यासः

निःश्रेयसमिति । प्रादिसमासः । **निश्रेयस्क इति** । निश्चितं श्रेयोऽनेनेति बहुव्रीहिः, 'शेषाद्विभाषा' इति कप् ।

ऋग्यजुरुन्मुग्ध इति । य उन्मुग्धत्वादृचो यजूंषि मन्यते स ऋग्यजुरिति बहुव्रीहिणोच्यते । **ततोऽव्ययीभाव इति** । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना सामीप्ये । **टिलोपाभाव इत्यादि** । उपशुन इत्यत्र 'नस्तद्धिते' इति टिलोपाभावो निपातनादेव । 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति तद्धितादन्यत्र सम्प्रसारणमुच्यमानं तद्धिते न प्राप्नोतीति तदेव निपातनादेव भवतीति ।

चतुरोऽच्प्रकरण इत्यादि । त्रिशब्दादुपशब्दात् परो यश्चतुरशब्दस्तस्मादच उपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत् पूर्वमेव योगविभागमाश्रित्य कर्त्तव्यम् । त्रयो वा चत्वारो वा **त्रिचतुरा इति** । चतुर्णां समीप **उपचतुराः** । 'संख्ययाव्ययासन्न' इत्यादिना बहुव्रीहिः । तत्र 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इति डचि प्राप्तेऽज्विधीयते ॥

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥ ७८ ॥

ब्रह्महस्तिभ्यां परो यो वर्चःशब्दः तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।

❀ पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम् ❀ । पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ॥

अवसमन्धेभ्यस्तमसः ॥ ७९ ॥

अव, सम्, अन्ध—इत्येतेभ्यो यः परस्तमःशब्दस्तदन्तात्समासाद् अच् प्रत्ययो भवति । अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् ॥

श्वसो वसीयःश्रेयसः ॥ ८० ॥

श्वसः परौ यौ वसीयस्-श्रेयःशब्दौ तदन्तात्समासादच् प्रत्ययो भवति । श्वोवसीयसम् । श्वःश्रेयसम् । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । स्वभावाच्चेह श्वःशब्द उत्तरपदार्थस्य प्रशंसामाशीर्विषयामाचष्टे ।

पदमञ्जरी

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥ वर्चः=दीप्तिः । उदाहरणेषु षष्ठीसमासः ॥

अवसमन्धेभ्यस्तमसः ॥ अवगतं *तमोऽवतमसम्*, सन्ततं तमः *सन्तमसम्*, प्रादिसमासौ । अन्धं करोति अन्धयति, अन्धयतेः पचाद्यच्—अन्धम्, तच्च तत्तमश्च *अन्धतमसम्* ॥

श्वसो वसीयःश्रेयसः ॥ वसुशब्दात्प्रशस्तवचनादीयसुन्—वसीयः, 'प्रशस्यस्य श्रः'—श्रेयः । *स्वभावाच्चेत्यादि* । यद्यपि श्वःशब्दोऽन्यत्र कालविशेषे वर्तते, तथा-

न्यासः

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥ ब्रह्मवर्चसम्, हस्तिवर्चसमिति । षष्ठीसमासौ । वर्चःशब्दोऽयं दीप्तिवचनः ।

पल्यराजशब्दाभ्याञ्चेति वक्तव्यम् । पल्यशब्दाद्राजशब्दाच्च परो यो वर्चस्शब्दस्तस्माच्चाऽभवतीत्येवमर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । व्याख्यानं चास्य पूर्वमेव योगविभागमाश्रित्य कर्त्तव्यम् ॥

अवसमन्धेभ्यस्तमसः ॥ **अवतमसमिति** । अवहीनं तमसा, अवहीनं वा तम इति प्रादिसमासो वायम् । एवं सङ्गतं तमसा, सङ्गतं तमः—**सन्तमसम्** । अन्धं करोतीति णिच्, तदन्तात् पचाद्यच्, अन्धयतीत्यन्धम् । अन्धञ्च तत् तमश्चेति **अन्धतमसम्** । यदन्धं तमः करोतीति तदेवमुच्यते ॥

श्वसो वसीयःश्रेयसः ॥ **श्वोवसीयम्** । **श्वःश्रेयसमिति** । श्वो वसीयः, श्वः श्रेय इति विगृह्य मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । **स्वभावाच्चेत्यादि** । यद्यपि श्वःशब्दोऽन्यत्र

श्वःश्रेयसं ते भूयात् । शोभनं श्रेयस्ते भूयादित्यर्थः । श्वोवसीय-समित्यस्यैवायं पर्यायः ॥

अन्ववतप्ताद्रहसः ॥ ८१ ॥

अनु, अव, तप्त—इत्येतेभ्यः परो यो रहश्शब्दस्तदन्तात् समासाद् अच्प्रत्ययो भवति । अनुरहसम् । अवरहसम् । तप्तरहसम् ॥

प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥ ८२ ॥

प्रतेः परो य उरःशब्दस्तदन्तात् समासादच् प्रत्ययो भवति, स चेदुरःशब्दः सप्तमीस्थो भवति । सप्तम्यर्थे वर्त्तत इत्यर्थः । उरसि वर्त्तते । विभक्त्यर्थे 'अव्ययम्' इति समासः । प्रत्युरसम् ।

सप्तमीस्थादिति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ॥

पदमञ्जरी

पीह समासे उत्तरपदार्थप्रशंसामाशीर्विषयामाचष्टे । कुतः ? स्वभावात् । *अस्यैवेति* । श्वःश्रेयसशब्दस्येत्यर्थः ॥

अन्ववतप्ताद्रहसः ॥ रहःशब्दोऽयमप्रकाशे वर्त्तते । *अनुगतं रह इति* । प्रादिसमासः, अनुगतं रहोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिर्वा । एवमवहीनं रहः, अवहीनं रहोऽस्मिन्निति *अवरहसम्* । तप्तं च तद्रहश्च *तप्तरहसम्* । अत्यन्तं रह इत्यर्थः ॥

प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥ *सप्तम्यर्थे वर्त्तत इति* । न ह्यन्यदुरःशब्दस्य सप्तमीस्थत्वं नामेति भावः ॥

न्यासः

कालविशेषे वर्तते, तथापीह समास उत्तरपदार्थस्य प्रशंसां स्तुतिमाशीर्विषयां प्रतिपादयति । कुतः ? स्वभावात् । शब्दानां ह्यर्थाभिधानं स्वाभाविकम् । तत्र स्वभाव एवात्र हेतुः । **श्वोवसीयसमित्यस्यैवायं पर्याय इति** । अस्येत्यनेन च श्वःश्रेयसमित्येष शब्दो निर्दिश्यते ॥

अन्ववतप्ताद्रहसः ॥ **अनुरहसमिति** । रहःशब्दोऽयमप्रकाशे वर्त्तते । अनुगतं रहसा, अनुगतं रह इति वा प्रादिसमासः । अनुगतं रहोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिर्वा । **अवरहसमिति** । अवहीनं रहसाऽवहीनं रह इति वा प्रादिसमासः । अवहीनं वा रहोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः । तप्तञ्च तद्रहश्चेति **तप्तरहसम्** । विशेषणसमासः । यदुत्पन्नं रहो लोके न केनचिदवगम्यते, तत् तप्तरहसमित्युच्यते । तप्तमिव तप्तम् । यथैव ह्यग्निना तप्तं न केनचिदवगम्यते, तथेदमिति ॥

प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥ **सप्तमीस्थादिति** सप्तम्यां तिष्ठतीति सप्तमीस्थः, 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययः । यश्च सप्तम्यर्थे वर्त्तते, एवं स सप्तमीस्थो भवतीत्याह—**सप्तम्यर्थे वर्त्तत इति** । **प्रतिगतमुरः प्रत्युर इति** । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः ॥

अनुगवमायामे ॥ ८३ ॥

'अनुगवम्' इत्यच्प्रत्ययान्तं निपात्यते आयामेऽभिधेये । अनुगवं यानम् । 'यस्य चायामः' इति समासः ।

आयाम इति किम् ? गवां पश्चादनुगु ॥

द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ॥ ८४ ॥

'द्विस्तावा', 'त्रिस्तावा' इति निपात्यते वेदिश्चेद् अभिधेया भवति । अच्प्रत्ययः, टिलोपः, समासश्च निपात्यते । यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याञ्चिद्विकृतौ तत्रेदं निपातनम् । द्विस्तावा वेदिः । त्रिस्तावा वेदिः ।

पदमञ्जरी

अनुगवमायामे ॥ *आयामेऽभिधेय इति* । प्रवृत्तिनिमित्तमायामः, तद्वति तु पर्यवसानम् । मत्वर्थीयाकारान्तो वा आयामशब्दः, आयामवत्यभिधेय इत्यर्थः; अन्यथाऽनुगवं यानमिति सामानाधिकरण्यं न स्यात् । *यस्य चायाम इति समास इति* । ननु तत्र लक्षणेनेति वर्त्तते ? सत्यम्; इहापि बाह्यं यानं प्रति गवामस्त्येव लक्षणभावः । अनुगुशब्दात्प्रत्ययेऽभिधातव्ये निपातनाश्रयणं प्रसिद्ध्युपसंग्रहार्थम्, तेन यद्गवां बाह्यं तत्रैव भवति ॥

द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ॥ *समासश्च निपात्यत इति* । लक्षणाभावात् । *यावती प्रकृतावित्यादिना* निपातनस्य विषयं दर्शयति, यस्मिन्कर्मण्युपदिष्टा धर्माः कर्मान्तरेणोपजीव्यन्ते सा प्रकृतिर्ज्योतिष्टोमादिः, येनोपजीव्यते सा=विकृतिः । *कस्याञ्चिद्विकृताविति* । अश्वमेधादौ । *द्विस्तावेति* । तावतीशब्देन तत्सम्बन्धिन्या वृत्तिर्लक्ष्यते, सैव च द्विशब्दनं संख्यायत इति सुच् प्रत्ययः, परस्पर-

न्यासः

अनुगवमायामे ॥ **आयामेऽभिधेये इति** । आयामः=दैर्घ्यम् । मत्वर्थीयाकारान्तश्चायम् । आयामे चेत्यभिधेय इत्यर्थः । अन्यथानुगवं यानमिति सामानाधिकरण्यं न स्यात् । यानम्=आयामः । **अनुगवं यानमिति** । गावो यथा तथा यानमायातमित्यर्थः ।

गवां पश्चादिति । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाव्ययीभावः पश्चादर्थे च पूर्ववद् गोशब्दस्य ह्रस्वः । अनुशब्दात् प्रत्यये विधातव्ये यदनुगवमिति निपातनं तत्प्रसिद्ध्युपसंग्रहार्थम् । तेन यद् गवा बाह्यं गोभिश्च तुल्यायामं तत्रैव भवति, नान्यत्र ॥

द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ॥ टिलोपस्तावतीशब्दस्य । यस्येतिलोपे कृते तावच्छब्दस्य टिलोपो निपात्यते । **समासश्चेति** द्वित्रिशब्दयोर्निपात्यते । सापेक्षं तु यावतीशब्दापेक्षत्वात् । **यावती प्रकृतावित्यादिना** निपातनस्य फलं दर्शयति ।

वेदिरिति किम् ? द्विस्तावती, त्रिस्तावती रज्जुः ॥

उपसर्गादध्वनः ॥ ८५ ॥

उपसर्गात्परो योऽध्वन्-शब्दस्तदन्तात् समासाद् अच् प्रत्ययो भवति । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः । प्राध्वं शकटम् । निरध्वम् । प्रत्यध्वम् ।

उपसर्गादिति किम् ? परमाध्वा । उत्तमाध्वा ॥

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ॥ ८६ ॥

अङ्गुलिशब्दान्तस्य तत्पुरुषस्य संख्यादेरव्ययादेश्चाच् प्रत्ययो भवति । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । 'तद्धितार्थ' इति समासः । 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति मात्रचो लोपः । अव्ययादेः—निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । अत्यङ्गुलम् ।

तत्पुरुषस्येति किम् ? पञ्चाङ्गुलिः । अत्यङ्गुलिः पुरुषः ।

तत्पुरुषाधिकारश्च 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' इति यावत् ॥

पदमञ्जरी

सामर्थ्यं च । द्विस्तावतीत्यसमासोऽयम् । सूत्रे लिङ्गमविवक्षितम् । द्विस्तावोऽग्निरित्यपि दृश्यते । न चात्राग्निरभिधीयते, न वेदिः ? अग्निरपि वेदिरेव; उत्तरवेदिविकारत्वात्, 'उत्तरवेद्यामग्निश्चीयते' इति वचनात् ॥

उपसर्गादध्वनः ॥ अध्वशब्दस्याक्रियावचनत्वात्तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाभावादुपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणम् ॥

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ॥ *अङ्गुलिशब्दान्तस्येत्यादि* । सर्वत्र समासान्तसम्बन्धे षष्ठी ॥

न्यासः

प्रकृतिविकृतिशब्दौ कार्यविशेषवचनौ । कर्मविशेषे हि कश्चित् यागाख्यः प्रकृतिशब्देनोच्यते, कश्चिद्विकृतिशब्देन ॥

उपसर्गादध्वनः ॥ प्राध्वमिति । प्रादिसमासः । तत्र प्राध्वमिति 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । निष्क्रान्तमध्वन इति 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति । अत्यध्वमिति । प्राध्वमित्यनेन तुल्यमेतत् । उपसर्गश्चात्र न गत्युपलक्षणम् । कुत एतत् ? क्रियायोगाभावात् ॥

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ॥ मात्रचो लोप इति । 'प्रमाणे द्वयसज्' इत्यादिना विहितस्य । निरङ्गुलमिति । निरध्वमित्यनेन तुल्यमेतत् । अत्यङ्गुलमिति । एतदप्यत्यध्वमित्यनेन तुल्यम् । पञ्चाङ्गुलिरिति बहुव्रीहिः ॥

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥ ८७ ॥

अहरादिभ्यः परो यो रात्रिशब्दस्तदन्तस्य तत्पुरुषस्याच् प्रत्ययो भवति, चकारात्संख्यादेरव्ययादेश्च । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । सर्वरात्रः । एकदेशे—पूर्वं रात्रे पूर्वरात्रः । अपररात्रः । 'पूर्वपरावर' इति समासः । संख्याता रात्रिः संख्यातरात्रः । 'विशेषणं विशेष्येण' इति समासः । एवं पुण्या रात्रिः पुण्यरात्रः । संख्याव्ययादेः खल्वपि—द्वे रात्री समाहृते द्विरात्रः । त्रिरात्रः । अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः । नीरात्रः ॥

अह्नोऽह्न एतेभ्यः ॥ ८८ ॥

पदमञ्जरी

अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥ *अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थमिति* । न तु तत्पुरुषार्थम्; मुख्यार्थवृत्तयोस्तत्पुरुषासम्भवात् । न ह्यस्ति सम्भवः-अहश्चासौ रात्रिश्चेति, नाप्यहोरात्रिरित्यस्ति । यदि तु रात्रिशब्देन तद्गुणमहरुच्यते, अहःशब्देन तद्गुणा रात्रिः, ततः सम्भवेदपि विशेषणसमासः । गौणार्थता तु भवति । न च मुख्ये सम्भवति गौणस्य ग्रहणं युक्तम्, तस्मादहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् । तथा च-'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि' इति द्वन्द्वे समासान्तो निर्दिष्टः । *अहोरात्र इति* । समाहारद्वन्द्वः, 'रात्राह्नाहाः पुंसि', अह्नो रुत्वे 'रूपरात्रिरथन्तरेषु' इति नकारस्य रुत्वम्, तस्य 'हशि च' इत्युत्वम् । *द्विरात्र इति* । समाहारे द्विगुः । *नीरात्र इति* । प्रादिसमासः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ॥

न्यासः

अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥ **अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थमिति** । इष्टिरियम् । न तत्पुरुषार्थम् ; मुख्यार्थे तत्पुरुषस्यासम्भवात् । द्वन्द्वार्थे पदार्थं प्रत्याश्रयः । तथा हि-यद्यहर्गुणा रात्रिरहःशब्देनोच्यते, रात्रिगुणं वाहो रात्रिशब्देन गौण्या कल्पनया, तदाहश्च रात्रिश्चेति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः सम्भवत्येव । तस्मादिष्टिरियम् । एतावदुक्तं स्याद्-द्वन्द्व इष्यत इति । अत्र च ज्ञापकम्-'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि' इति द्वन्द्वे समासान्तस्य रात्रिशब्दस्य निपातनम् । **अहोरात्र इति** । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंल्लिङ्गता । 'अहन्' इति 'रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम्' इति नकारस्य रुत्वाद् गुणः । **सर्वरात्र इति** । 'पूर्वकालैकसर्व' इत्यादिना समानाधिकरणस्तत्पुरुषः । **द्विरात्र इति** । 'तद्धितार्थोत्तरपद' इत्यादिना समाहारे द्विगुः, 'द्विगुश्च' इति तत्पुरुषसंज्ञा । **अतिरात्र इति** । अत्यध्वमित्यनेन तुल्यमेतत् । **नीरात्र इति** । 'रो रि' इति रेफलोपः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' इति दीर्घः ।

'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति वक्ष्यति, तस्मिन् परभूते अहन्नित्येतस्य 'अह्न' इत्ययमादेशो भवति एतेभ्य उत्तरस्य। संख्याव्ययादयः प्रक्रान्ताः सर्वनाम्ना प्रत्यवमृश्यन्ते। सामर्थ्याच्चाहःशब्दः पूर्वत्वेन नाश्रीयते। परिशिष्टानां ग्रहणम्। न ह्यहःशब्दात् परोऽहःशब्दः सम्भवति। संख्यायास्तावत्—द्वयोरह्नोर्भवः द्वयह्नः। त्र्यह्नः। अव्ययात्—अहरतिक्रान्तः अत्यह्नः। निरह्नः। सर्वाह्णः। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। संख्याताह्नः।

पुण्यशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति॥

पदमञ्जरी

अह्नोऽह्न एतेभ्यः ॥ *तस्मिन्परभूत इति*। समासान्तप्रकरणात्तत्र परतोऽयमादेशो विज्ञायते, न तदपवादः। स च टजेव विहित इति सामर्थ्यादयमर्थो लभ्यते, व्याख्यानाच्चाह्नादेशः। स्वयं समासान्तो न विज्ञायते 'ऊधसोऽनङ्' इत्यादिवत्। *सामर्थ्याच्चेत्यादि*। सामर्थ्यमेव दर्शयति। *न हीति*। एकशेषविधानाद् द्वन्द्वस्तावन्न सम्भवति, तेनैव तस्यासम्बन्धान्न षष्ठीसमासः, नापि विशेषणसमासः, न हि तदेव तस्य विशेषणं सम्भवति। एतेन बहुव्रीहिर्व्याख्यातः। *द्वयह्न इति*। तद्धितार्थे समासः, 'तत्र भवः' इत्यण्, तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्। *सर्वाह्ण इति*। 'अह्नोऽदन्तात्' इति णत्वम्।

अह्नोऽह्नवचनानर्थक्यम्, अह्नष्टखोर्नियमवचनात्, 'अह्न एतेभ्यः' इत्येतावदेव सूत्रं कर्त्तव्यम्, अजनुवर्त्तते, एतेभ्यः परो योऽहन्शब्दस्ततोऽज्भवति, टचोऽपवादः, तत्राचि कृतेऽह्नष्टखोरेवेति नियमाट्टिलोपाभावेऽल्लोपे सति द्वयह्न इत्यादि सिध्यति, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति वचनात् स्त्रियां प्रवृत्त्यभावाट्टजचोरविशेषः। 'एतेभ्यः' इति वचनं संख्याव्ययार्थम्; इतरथा चानुकृष्टत्वान्न सम्बद्ध्येत॥

न्यासः

अह्नोऽह्न एतेभ्यः॥ 'राजाहः सखिभ्यष्टच' इति टच्प्रत्ययं वक्ष्यतीति। अथ प्रकृत एवाचि कस्मादादेशो न विज्ञायते? अशक्यस्तत्रायं विज्ञातुम्, न ह्यहःशब्दान्तात् तत्पुरुषात् केनचिदज्विहितः, तत् कथमादेशस्य निमित्तं स्यात्! अथ 'अच' इति योगविभागेनाज्विधीयते? एवमप्येतद् वचनमनर्थकं स्यात्; अचि कृते 'अल्लोपोऽनः' इत्यनेनाह्नादेशस्य सिद्धत्वात्। न च टिलोपः प्राप्नोतीति मन्तव्यम्; 'अह्नष्टखोरेव' इति नियमात्। तस्मादच्येव टिलोपापवादोऽयम्। आदेशोऽयमयुक्तः। किं पुनस्तत् सामर्थ्यम्, यतोऽहःशब्दः पूर्वत्वेन नाश्रीयते? इत्याह—न ह्यहःशब्दादित्यादि। द्वयह्न इति। द्वयोरह्नोर्भव इति 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समासः, 'तत्र भवः' इत्यण्, तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुक्। अत्यह्न इति। अत्यध्ववत्समासः। निरह्न इति। अत्रापि निरध्ववत् समासः। सर्वाह्ण इति। विशेषणसमासः।

प्रतिषेधं वक्ष्यतीति। 'उत्तमैकाभ्याञ्च' इति॥

न संख्यादेः समाहारे ॥ ८९ ॥

संख्यादेस्तत्पुरुषस्य समाहारे वर्त्तमानस्याहःशब्दस्याह्नादेशो न भवति । पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते । द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः । त्र्यहः ।

समाहार इति किम् ? द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः । त्र्यह्नः । 'तद्धितार्थ' इति समासे कृतेऽण आगतस्य 'द्विगोः' इति लुक् ॥

उत्तमैकाभ्यां च ॥ ९० ॥

उत्तमैकशब्दाभ्यां च परस्याह्न इत्ययमादेशो न भवति । उत्तम-शब्दोऽन्त्यवचनः पुण्यशब्दमाचष्टे; पुण्यग्रहणमेव न कृतं वैचित्र्यार्थम् । पुण्याहः । एकाहः ।

केचित्तु उपोत्तमस्यापि प्रतिपत्त्यर्थं वर्णयन्ति । तेन संख्यात-शब्दादपि परस्य न भवति—संख्याताह इति ॥

पदमञ्जरी

न सङ्ख्यादेः समाहारे ॥ 'सङ्ख्यादेः' इति न वक्तव्यम्; अन्यस्य समाहारे वृत्त्यसम्भवात् ॥

उत्तमैकाभ्यां च ॥ *केचित्त्वित्यादि* । यथा 'प्रथमयोः' इति प्रथमाद्वितीययो-र्ग्रहणं द्विवचननिर्देशात्, तथैवात्राप्युत्तमग्रहणसामर्थ्यादुपोत्तमोत्तमयोर्द्वयोरपि ग्रहणमिति तेषामभिप्रायः । अत्र पक्षे उत्तमौ द्वावेकश्चापर इति बहुवचनप्रसङ्गात् सौत्रो द्विवचननिर्देशः । एकशब्दस्यापूर्वनिपातः 'अल्पाच्तरम्' इत्यस्यानित्य-त्वज्ञापनार्थः ॥

न्यासः

न संख्यादेः समाहारे ॥ **द्व्यह इति** । 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोपः ॥

उत्तमैकाभ्याञ्च ॥ **पुण्याहमिति** । 'विशेषणम्' इत्यादिना समासः । **एकाह इति** । अत्रापि 'पूर्वकालैक' इत्यादिना । कथं पुनः 'उत्तमैकाभ्याम्' इत्युच्यमाने पुण्यशब्दात् प्रतिषेधो लभ्यते ? इत्यत आह—**उत्तमशब्दोऽन्त्यवचन इत्यादि** । 'अहःसर्वैकदेश' इत्यादौ सूत्रे पुण्यशब्दस्यान्ते निर्दिष्टत्वात् । **अन्त्य इति** । उत्तमशब्देऽपि प्रतिषेधार्थं इहान्त्यवचन उपात्तः । तस्मात् पुण्यशब्दमाचष्टे । अथ पुण्यग्रहणमेव कस्मान्न कृतम्, लघु ह्येवं सूत्रं भवति ? इत्याह—**पुण्यग्रहणमेवेत्यादि** । वैचित्र्यं हि सूत्रकृतेरिष्यते, तच्चोत्तमग्रहणे सति सम्पद्यते । यस्माद् वैचित्र्यार्थमुत्तमग्रहणं कृतम्, न पुण्यग्रहणम् ।

केचिदित्यादि । पुण्यग्रहणे कर्त्तव्ये यदुत्तमग्रहणं कृतं तत् प्रयोजनम्—उत्तमशब्द-स्यापि संख्यातस्य प्रतिषेधप्रतिपत्तिर्यथा स्यादित्येवं केचिद्वर्णयन्ति । भवति तत्सामी-प्यात् ताच्छब्द्यम्—गङ्गायां घोष इत्यादि । तस्माच्छक्त उत्तमशब्दः सामीप्यादु-पोत्तमशब्दमभिधातुमिति तेषामभिप्रायः । **तेनेत्यादिना** प्रतिषेधस्योपोत्तमशब्दप्रतिपत्तेः फलं दर्शयति ॥

राजाहस्सखिभ्यष्टच् ॥ ९१ ॥

राजन्, अहन्, सखि—इत्येवमन्तात्प्रातिपदिकात् टच् प्रत्ययो भवति। महाराजः। मद्रराजः। परमाहः। उत्तमाहः। राज्ञः सखा राजसखः। ब्राह्मणसखः।

इह कस्मान्न भवति—मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी, लिङ्गविशिष्ट-परिभाषया प्राप्नोति ? लघ्वक्षरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राजन्-शब्दस्य सवर्णदीर्घार्थं प्रथमं प्रयोगं कुर्वन्नेतद् ज्ञापयति—यस्याकारेण सवर्ण-दीर्घत्वं सम्भवति तस्येदं ग्रहणमिति ॥

गोरतद्धितलुकि ॥ ९२ ॥

गोशब्दान्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति स चेत्तत्पुरुषस्तद्धित-लुग्विषयो न भवति। परमगवः। उत्तमगवः। पञ्चगवम्। दशगवम्।

अतद्धितलुकीति किम् ? पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः। दशगुः। 'तेन क्रीतम्' इत्यागतस्यार्हीयस्य ठकः 'अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः' इति लुक्।

पदमञ्जरी

राजाहस्सखिभ्यष्टच् ॥ *इह कस्मादिति*। किं च स्याद्यत्र टच् स्यात् ? 'भस्याढे तद्धिते' इति पुंवद्भावेन ङीपि निवृत्ते टचि टिलोपे सति टित्त्वान्ङीपि मद्रराजीति स्यात्, मद्रराज्ञीति चेष्यते। तस्मादत्र टचोऽनुत्पत्तिर्वक्तव्येति भावः। टचश्चित्करणमन्तोदात्तार्थम्; अन्यथा प्रत्ययस्य समासैकदेशत्वाद्द्विधुरः, प्रधुर इत्यादाविव प्रत्ययस्वरोऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेण बाध्येत ॥

गोरतद्धितलुकि ॥ *पञ्चगवमिति*। समाहारे द्विगुः, पञ्चगुरित्यत्र तद्धितार्थे।

न्यासः

राजाहःसखिभ्यष्टच् ॥ परमाहः, उत्तमाह इति। 'सन्महत्' इत्यादिना कर्मधारयः। मद्रराज इति षष्ठीतत्पुरुषः। कथं पुना राजशब्दग्रहणे राज्ञीशब्दस्य प्राप्नोति ? इत्यत आह—लिङ्गविशिष्टपरिभाषयेत्यादि। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' इत्येषा लिङ्गविशिष्टपरिभाषा। लघ्वक्षरस्येति। सवर्णदीर्घोऽर्थः प्रयोजनं यस्य प्रथम-प्रयोगस्य स तथोक्तः। अत्र लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति सख्युरह्नो वा पूर्वनिपाते प्राप्ते योऽहःशब्दस्य परनिपातः स राजशब्दस्य सवर्णदीर्घार्थः। प्रयोगस्तु कश्चिन्नैतज् ज्ञापयति—अकारवत एव राजशब्दाट्टज् भवति, ईकारान्तान्न; ईकारस्याकारेण सवर्णदीर्घान्तस्यासम्भवात् ॥

गोरतद्धितलुकि ॥ पञ्चगवमिति। 'तद्धितार्थ' इति समाहारे द्विगुः। पञ्चगुरित्य-त्रापि तद्धितार्थे। राजगवमिति। षष्ठीसमासः। 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो

तद्धितग्रहणं किम् ? सुब्लुकि प्रतिषेधो मा भूत्—राजगवमिच्छति राजगवीयति। लुग्ग्रहणं किम् ? तद्धित एव मा भूत्—पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम्, पञ्चगवमयम्। दशगवरूप्यम्, दशगवमयम् ॥

अग्राख्यायामुरसः ॥ ९३ ॥

उरःशब्दान्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति, स चेदुरःशब्दोऽग्राख्यायां भवति। अग्रम्=प्रधानमुच्यते। यथा शरीरावयवानामुच्यते उरः प्रधानम्, एवमन्योऽपि प्रधानभूत उरश्शब्देनोच्यते। अश्वानामुरः अश्वोरसम्। हस्त्युरसम्। रथोरसम्।

अग्राख्यायामिति किम् ? देवदत्तस्योरः देवदत्तोरः ॥

अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः ॥ ९४ ॥

अनस्, अश्मन्, अयस्, सरस्—इत्येवमन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति जातौ संज्ञायां च विषये। उपानसमिति जातिः। महानसमिति संज्ञा। अमृताश्म इति जातिः। पिण्डाश्म इति संज्ञा।

पदमञ्जरी

पञ्चगवरूप्यम्, पञ्चगवमयमिति । यथात्र 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति रूप्यमयटोर्लुन्न भवति तथा तत्रैवोक्तम् ॥

अग्राख्यायामुरसः ॥ 'अग्राख्यायाम्' इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी, पञ्चम्यन्तेनोरःशब्देन सामानाधिकरण्यात्। सामानाधिकरण्यं तु 'स चेदुरःशब्दः' इत्यादिना दर्शितम् ॥

न्यासः

लुक्। राजगवीयतीति। 'सुप आत्मनः क्यच्', सुब्लुक्, 'क्यचि च' इतीत्त्वम्। अस्त्यत्र लुक्, स तु सुपः; न तद्धितस्य। परव्यत्ययेनात्र पञ्चम्यर्थे सप्तमी। कुत एतत् ? पञ्चम्यन्तेन गोशब्देन सामानाधिकरण्यात् ॥

अग्राख्यायामुरसः ॥ स चेदुरःशब्दोऽग्रस्याख्या भवतीत्यनेन दर्शितम्। अश्वोरसमिति षष्ठी समासः। अश्वानां प्रधानमित्यर्थः। हस्त्युरसम्। रथोरसमिति ॥

अनोऽश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः ॥ उपानसमिति। उपगतमन इति प्रादिसमासः। महानसमिति। महदन इति 'सन्महत्' इत्यादिना कर्मधारयसमासः। अमृताश्मः,

कालायसमिति जातिः । लोहितायसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः । जलसरसमिति संज्ञा ।

'जातिसंज्ञयोः' इति किम् ? सदनः । सदश्मा । सत्सरः ॥

ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ॥ ९५ ॥

'जातिसंज्ञयोः' इति नानुवर्त्तते । ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तक्षन्-शब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति । ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः । बहूनां साधारण इत्यर्थः । कुट्यां भवः कौटः, तस्य तक्षा कौटतक्षः । स्वतन्त्रः कर्मजीवी, न कस्यचित्प्रतिबद्ध इत्यर्थः ।

ग्रामकौटाभ्यामिति किम् ? राज्ञस्तक्षा राजतक्षा ॥

अतेः शुनः ॥ ९६ ॥

अतिशब्दात्परो यः श्वन्-शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति । अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वो वराहः । जववानित्यर्थः । अतिश्वः सेवकः । सुष्ठु स्वामिभक्त इत्यर्थः । अतिश्वी सेवा । अतिनीचेत्यर्थः ॥

उपमानादप्राणिषु ॥ ९७ ॥

उपमानवाची यः श्वन्-शब्दोऽप्राणिषु वर्त्तते तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति । आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः । फलकश्वः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः ।

पदमञ्जरी

अतेः शुनः ॥ *जवन इत्यर्थ इत्यादि* । विषयविशेषादियमर्थव्यवस्था श्वशब्दस्य ॥

न्यासः

पिण्डाश्म इति विशेषणसमासौ । एवं कालायसम्, लोहितायसमिति । मण्डूकसरसम्, जलसरसमिति । षष्ठीसमासौ ।

सदन इति । महानसवत् समासः ॥

ग्रामकौटाभ्याञ्च तक्ष्णः ॥ बहूनां साधारण इत्यर्थ इति । ग्रामशब्दस्य जनपद-समुदाये वृत्तेः । कौटतक्षेति । पूर्ववत् समासः ॥

अतेः शुनः ॥ अतिश्व इति । प्रादिसमासः ॥

उपमानादप्राणिषु ॥ आकर्षश्व इति । अत्र श्वा उपमानम् ।

उपमानादिति किम् ? न श्वा अश्वा लोष्टः। अप्राणिष्विति किम् ? वानरः श्वेव वानरश्वा ॥

उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ॥ ९८ ॥

उत्तर, मृग, पूर्व–इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दश्चकारादुपमानं च, तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। उत्तरसक्थम्। मृगसक्थम्। पूर्वसक्थम्। उपमानात्खल्वपि—फलकमिव सक्थि फलकसक्थम् ॥

नावो द्विगोः ॥ ९९ ॥

नौशब्दान्ताद् द्विगोष्टच्प्रत्ययो भवति समासान्तः। द्वे नावौ समाहृते द्विनावम्। त्रिनावम्। द्विनावधनः। पञ्चनावप्रियः। द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम्। द्विनावमयम्।

द्विगोरिति किम् ? राजनौः।

अतद्धितलुकीत्येव—पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः। दशनौः ॥

अर्धाच्च ॥ १०० ॥

पदमञ्जरी

उपमानादप्राणिषु ॥ अश्वा लोष्ट इति। अत्र 'नञस्तत्पुरुषात्' इति प्रतिषेधेन भाव्यम्, तस्मान्निःश्वा लोष्ट इति प्रत्युदाहर्त्तव्यम् ॥

न्यासः

अश्वा लोष्ट इति। अत्राश्वशब्दोऽप्राणिनि लोष्टे वर्त्तते, न तूपमानम्। **वानरश्वेति।** 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः। अत्र प्राणिनि वानरश्वेति शब्दो वर्त्तते ॥

उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ॥ उत्तरसक्थमिति। उत्तरं सक्थ्न इति पूर्वापरादिसूत्रेण समासः। अथ वा—उत्तरं सक्थीति विशेषणसमासः। **मृगसक्थमिति** षष्ठीसमासः। **पूर्वसक्थमिति।** उत्तरसक्थमित्यनेन तुल्यमेतत्। **फलकसक्थमिति।** 'विशेषणम्' इत्यादिना समासः ॥

नावो द्विगोः ॥ द्विनावम्। त्रिनावमिति। 'तद्धितार्थोत्तरपद' इत्यादिना द्विगुः। **द्विनावधन इति।** द्वे नावौ धनं यस्येति बहुव्रीहौ कृते पूर्वयोः पदयोस्तेनैव सूत्रेणोत्तरपदे द्विगुः। **पञ्चनावप्रियमिति।** पूर्वेण तुल्यमेतत्। **द्विनावरूप्यम्, द्विनावमयमिति।** तेनैव सूत्रेण तद्धितार्थे द्विगुः। पूर्ववद्रूप्यमयटौ।

राजनौरिति। षष्ठीसमासः। **पञ्चनौरिति।** आर्हीयस्य ठकः 'अध्यर्धपूर्व' इत्यादिना लुक् ॥

अर्द्धशब्दात्परो यो नौशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच्प्रत्ययो भवति। अर्द्धं नावः अर्द्धनावम्। 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति समासः। परवल्लिङ्गं न भवति; लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ॥

खार्याः प्राचाम् ॥ १०१ ॥

'द्विगोः', 'अर्द्धाच्च' इति द्वयमप्यनुवर्त्तते। खारीशब्दान्ताद् द्विगोरर्द्धाच्च परो यः खारीशब्दस्तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति प्राचामाचार्याणां मतेन। द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम्, द्विखारि। त्रिखारम्, त्रिखारि। अर्द्धं खार्या अर्द्धखारम्, अर्द्धखारी ॥

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥ १०२ ॥

द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दः तदन्तात्पुरुषाट्टच्प्रत्ययो भवति। द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्। त्र्यञ्जलम्।

द्विगोरित्येव—द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः।

अतद्धितलुकीत्येव—द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिः। त्र्यञ्जलिः। प्राचामित्येव—द्व्यञ्जलिप्रियः ॥

पदमञ्जरी

खार्याः प्राचाम् ॥ *द्विखारीति*। टजभावपक्षे नपुंसकह्रस्वत्वम्। अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं द्विखारम्, त्रिखारमिति? खारीशब्देन समानार्थः खारशब्दोऽस्ति, यथा च 'तदस्य परिमाणम्', 'संख्यायाः संज्ञा' इत्यत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते खारशताद्यर्थम्' इति वार्तिकम् ॥

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥ *द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिरिति*। अञ्जलिपरिमितो व्रीह्यादिरञ्जलिः; न पाणिद्वयम्, तस्य मूल्यत्वासम्भवात्। ततश्च परिमाणत्वात्प्राग्वतीयस्य ठकः 'अध्यर्द्धपूर्व' इति लुक्। *द्व्यञ्जलिप्रिय इति*। व्यवस्थितविभाषात्वादुत्तरपदद्विगोर्न भवतीत्याहुः ॥

न्यासः

अर्धाच्च ॥ अर्धनावमिति। ननु च 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति स्त्रीलिङ्गेनात्र भवितव्यमिति? अत आह—परवल्लिङ्गं न भवतीत्यादि ॥

खार्याः प्राचाम् ॥ द्विखारीति। त्रिखारीति। पूर्वपदुपसर्जनह्रस्वः। क्वचिदधखारीति पाठः। अत्रैचोरुपसर्जनह्रस्वत्वे कृते 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इति बह्वादिपाठान् ङीष् ॥

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥ द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिरिति। पूर्ववदार्हीयस्य लुक्। द्व्यञ्जलिप्रिय इति। पूर्ववदुत्तरपदे द्विगुः ॥

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ १०३ ॥

अन्नन्ताद्, असन्ताच्च नपुंसकलिङ्गात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। हस्तिचर्मे जुहोति। ऋषभचर्मेऽभिषिञ्चति। असन्तात्—देवच्छन्दसानि। मनुष्यच्छन्दसानि।

अनसन्तादिति किम्? बिल्वदारु जुहोति। नपुंसकादिति किम्? सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम्।

❀ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वावचनम् ❀। ब्रह्मसाम। देवच्छन्दः। ब्रह्मसामम्। देवच्छन्दसम्॥

ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥ १०४ ॥

ब्रह्मन्-शब्दान्तात्तत्पुरुषाट्टच्प्रत्ययो भवति समासेन चेद्ब्रह्मणो जानपदत्वमाख्यायते। जनपदेषु भवो जानपदः। यस्य तत्पुरुषस्य

पदमञ्जरी

अनसन्तान्नपुंसकाच्छसि ॥ *सुत्रामाणमिति*। सुष्ठु त्रायते इति 'आतो मनिन्', उपपदसमासः। *अनेहसमिति*। 'नञ्याहन एह च' इत्याङ्पूर्वाद्धन्तरेसिप्रत्ययः, धातूपसर्गयोश्चेहादेशः, नञ उपपदसमासः, द्वितीयैकवचनम्।

अन्तग्रहणं विस्पष्टार्थम्॥

ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥ अन्तरेणापि भावप्रत्ययं जानपदशब्दो भावप्रधानः, 'द्व्येकयोः' इतिवदित्याह—*समासेन चेद् ब्रह्मणो जानपदत्वमाख्यायते इति*। यद्यप्येकं ब्रह्मग्रहणम्, तेन च समासो विशेषितः, तथापि प्रत्यासत्तेर्ब्रह्मण एव

न्यासः

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ हस्तिचर्म इत्यादयः षष्ठीसमासाः।

सुत्रामाणमिति। शोभनस्त्रामा इति प्रादिसमासः, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घः, द्वितीयैकवचनम्, 'सर्वनामस्थाने च' इत्यादिनोपधादीर्घत्वम्, 'अट्कुप्वाङ्' इत्यादिना णत्वम्। **अनेहसमिति**। अनेहःशब्दात् पुंल्लिङ्गात् षष्ठीबहुवचनम्। वावचनमित्यनुवर्त्तत इति शेषः। वावचनशब्देनेह प्राग्ग्रहणं विवक्षितम्, तेन विकल्प्य उच्यन्ते, प्रत्याय्यते प्रत्ययोऽनेनेति कृत्वा। तदेतदुक्तं भवति—"'खार्याः प्राचाम्' इत्यतः प्राग्ग्रहणमनुवर्त्तते" इति।

प्राग्ग्रहणानुवृत्तौ तु यदिष्टं सिध्यति, तद्दर्शयति—**ब्रह्मसाम इति**। **देवच्छन्द इति**। उभयत्र षष्ठीसमासः॥

ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥ **जानपदाख्यायामिति**। भावप्रधानोऽत्र जानपदशब्दः। अत एव वृत्तावाह—**समासेन चेद् ब्रह्मणो जानपदत्वमाख्यायत इति**। भवति हि

जनपदशब्दः पूर्वपदं तस्मादेतत्प्रत्ययविधानम् । सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । अवन्तिब्रह्मः[1] । योगविभागात्सप्तमीसमासः ।

जानपदाख्यायामिति किम् ? देवब्रह्मा नारदः ॥

कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ॥ १०५ ॥

कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मा तदन्तात्तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम् । कुब्रह्मः, कुब्रह्मा । महाब्रह्मः, महाब्रह्मा । ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मन्शब्दः ॥

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ॥ १०६ ॥

तत्पुरुषाधिकारो निवृत्तः । द्वन्द्वाच्चवर्गान्ताद्, दकारान्तात्, षकारान्तात्, हकारान्ताच्च टच् प्रत्ययो भवति, स चेद् द्वन्द्वः समाहारे वर्त्तते, नेतरेतरयोगे । वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम् । स्रक्च त्वक्च स्रक्त्वचम् । श्रीस्रजम् । इडूर्जम् । वागूर्जम् । समिद्दृषदम् । सम्पद्विपदम् । वाग्विप्रुषम् । छत्त्रोपानहम् । धेनुगोदुहम् ।

पदमञ्जरी

जानपदत्वं विशेषणं विज्ञायते, तस्मादेतत्प्रत्ययविधानमिति । तत एव हि प्रत्ययविधाने ब्रह्मणो जानपदत्वं शक्यमाख्यातुम् ।

देवब्रह्मेति । षष्ठीसमासः, कर्मधारयो वा ॥

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ॥ *तत्पुरुषान्मा भूदिति* । तत्पुरुषादेव मा भूदित्यर्थः । 'द्वन्द्वात्' इत्यनुच्यमाने हि तत्पुरुषाधिकारो न निवर्त्तेत ॥

न्यासः

भावप्रत्ययमन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देशः, यथा--'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इति । कथं पुनर्ब्रह्मणो जानपदत्वं शक्यं विशेषयितुम्, यावतैकमिह ब्रह्मग्रहणम्, तेन च समासो विशेषितः ? नैतदस्ति; तन्त्रेण द्वौ ब्रह्मशब्दावुच्चारितौ—तत्रैकेन समासो विशेष्यते, अपरेण जानपदत्वम्, यस्य तत्पुरुषस्य जनपदशब्दः पूर्वपदम् । पूर्ववत् समासः ॥

कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ॥ **द्वन्द्वाच्चुदषहान्ताद् समाहारे** ॥ वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । स्रुक् च त्वक् च स्रुक्त्वचम् । श्रीश्च स्रक् च श्रीस्रजम् । वाक् च ऊर्क् च वागूर्जम् । समिच्च दृषच्च समिद्दृषदम् । सम्पच्च विपच्च सम्पद्विपदम् । वाक् च त्विट् च वाक्त्विषम् । वाक् च विप्रुट् च वाग्विप्रुषम् । छत्त्रश्च उपानच्च छत्त्रोपानहम् । धेनुश्च गोधुक् च धेनुगोदुहम् ।

---

[1] 'काशीब्रह्मः'—इत्यधिकमन्यपुस्तके ।

द्वन्द्वादिति किम् ? तत्पुरुषान्मा भूत्–पञ्च वाचः समाहृताः पञ्चवाक् । चुदषहान्तादिति किम् ? वाक्समित् । समाहार इति किम् ? प्रावृट्शरदौ ॥

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥ १०७ ॥

'शरद्' इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यष्टच् प्रत्ययो भवत्यव्ययीभावे । शरदः समीपम् उपशरदम् । प्रतिशरदम् । उपविपाशम् । प्रतिविपाशम् ।

अव्ययीभाव इति किम् ? परमशरत् ।

येऽत्र झयन्ताः पठ्यन्ते, तेषां नित्यार्थं ग्रहणम् । स्वर्यते चेदमव्ययीभावग्रहणं प्राग्बहुव्रीहेः ।

शरत् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । दिव् । हिमवत् । अनडुह् । दिश् । दृश् । चतुर् । यद् । तद् । ❀ जराया जरश्च ❀ । सदृश् । ❀ प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः ❀ । पथिन् । प्रत्यक्षम् । परो-

पदमञ्जरी

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥ *जराया जरस् चेति* । जराशब्दाट्टच् प्रत्ययो टच् भवति, अव्ययीभावे जरसादेशश्च—उपजरसम् । *प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति* । प्रादिभ्यः परो योऽक्षिशब्दस्ततष्टज्भवति, तत्र परशब्दस्याव्ययीभावासम्भवात्तत्पुरुषाथ ग्रहणम् । *प्रत्यक्षमिति* । 'यथार्थे यदव्ययम्' इति वीप्सायामव्ययीभावः, परक्ष्मणः परोक्षम्, 'परोक्षे लिट्' इति निर्देशात्पञ्चमीसमासः, उपसर्जनस्य च

न्यासः

पञ्चवागिति । समाहारे द्विगुः । वाक्समिदिति । धकारान्तोऽयम् । धकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वम्–दकारः, 'वावसाने' इति चर्त्वम्–तकारः ॥

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥ उपशरदमिति सामीप्येऽव्ययीभावः । शरद आभिमुख्ये प्रतिशरदम् । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । उपविपाशम् । प्रतिविपाशमिति । पूर्ववत् ।

अत्र ये झयन्ताः पठ्यन्ते तेषां किमर्थं ग्रहणम्, यावता 'झयः' इति वक्ष्यमाणेन तदन्तात् प्रत्ययः सिध्यति ? इत्यत आह—ये त्वत्रेत्यादि । यद्यत्र ते न गृह्येरंस्ततः 'झयः' इति विकल्पेन टच्प्रसज्येत । तस्मान्नित्यं यथा स्यादिति—एवमर्थं झयन्तानां पृथग्ग्रहणम् ।

जराया जरश्चेति । जराशब्दाट्टज् भवत्यव्ययीभावे, जरसादेशश्च—जरायाः समीपमुपजरसमिति । **प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति** । अक्षिशब्दात् प्रति, पर, सम्,

क्षम् । समक्षम् । अन्वक्षम् । प्रतिपथम् । सम्पथम् । अनुपथम् । शरदादिः ॥

अनश्च ॥ १०८ ॥

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । उपराजम् । प्रतिराजम् । अध्यात्मम् । प्रत्यात्मम् ॥

नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥ १०९ ॥

'अनः' इत्येव । नपुंसकग्रहणमुत्तरपदविशेषणम् । अन्नन्तं यन्नपुंसकं तदन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते । प्रतिचर्मम्, प्रतिचर्म । उपचर्मम्, उपचर्म ॥

नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥ ११० ॥

नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी—इत्येवमन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति । नद्याः समीपम् उपनदम्, उपनदि । उपपौर्णमासम्, उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि ॥

पदमञ्जरी

परनिपातः, अक्षयकारस्य चोत्वम् । अक्षियोग्यम्=समक्षम्, यथार्थे योग्यतायामव्ययीभावः । *अन्वक्षमिति* **। पश्चादर्थेऽव्ययीभावः ॥**

नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥ *नपुंसकग्रहणमुत्तरपदविशेषणमिति* । नाव्ययीभावविशेषणम्; अव्यभिचारात् ॥

नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥ 'नदी' इति स्वरूपग्रहणम्, न संज्ञायाः; पौर्णमास्याग्रहायण्योः पृथग्ग्रहणात् ॥

न्यासः

अनु—इत्येतेभ्यः परस्मात् टज् भवति—**प्रत्यक्षम्** । **परोक्षम्**—'परोक्षे लिट्' इति निपातनादुत्वम् । **समक्षम्** । **अन्वक्षम्** ॥

अनश्च ॥ **उपराजम्** , **प्रतिराजमिति** । उपशरदं प्रतिशरदमितिवदव्ययीभावः । **अध्यात्ममिति** । आत्मन्यधीति विभक्त्यर्थे । **प्रत्यात्ममिति** पूर्ववदाभिमुख्ये ।

नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥ **नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः** ॥ नदीग्रहणेन स्वरूपं गृह्यते, न संज्ञा । यदि संज्ञा गृह्येत, पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणं न कुर्यात् । ननु च नियमार्थमेतत् स्यात्—ईकारान्तस्यापि नद्योः पौर्णमास्याग्रहायण्योरेव भवतीति ? नैतदस्ति; यद्येतत् प्रयोजनं स्यात्, 'पौर्णमास्याग्रहायणी' इत्येवं ब्रूयात् । तस्मात् स्वरूपग्रहणमिति । **उपनदीति** । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः ॥

झयः ॥ १११ ॥

'झयः' इति प्रत्याहारग्रहणम् । झयन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति । उपसमिधम्, उपसमित् । उपदृषदम्, उपदृषत् ॥

गिरेश्च सेनकस्य ॥ ११२ ॥

गिरिशब्दान्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति सेनकस्याचार्यस्य मतेन । अन्तर्गिरम्, अन्तर्गिरि । उपगिरम्, उपगिरि ।

सेनकग्रहणं पूजार्थम्, विकल्पोऽनुवर्तत एव ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ॥ ११३ ॥

स्वाङ्गवाची यः सक्थिशब्दोऽक्षिशब्दश्च तदन्ताद् बहुव्रीहेः षच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । अयमर्थोऽभिप्रेतः । सूत्रे तु दुःश्लिष्टवि-

पदमञ्जरी

झयः ॥ झय इति प्रत्याहारग्रहणमिति । झकारयकारयोस्तु ग्रहणं न भवति; तदन्तस्याव्ययीभावस्यासम्भवात् । योगविभागश्चिन्त्यप्रयोजनः ॥

गिरेश्च सेनकस्य ॥ अन्तर्गिरमिति । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । *विकल्पोऽनुवर्तत एवेति* । अन्यथा केषाञ्चिज्झयन्तानां शरत्प्रभृतिषु पाठोऽनर्थकः स्यात्; 'झयः' इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । एतेनैतन्न चोदनीयम्—'द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये नित्या विधयः' इति पूर्वस्य विधेर्नित्यत्वार्थमिदं सेनकग्रहणं स्यादिति ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ॥ स्वाङ्गमद्रवादिलक्षणं पारिभाषिकं गृह्यते । *दुःश्लिष्टविभक्तीनीति* । दुर्=निन्दायाम् । निन्दितं यथा तथा श्लिष्टाः

न्यासः

झयः ॥ गिरेश्च सेनकस्य ॥ अन्तर्गिरमिति । गिरेरन्तरिति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अन्तःशब्दो हि सप्तम्यर्थवृत्तित्वाद् विभक्त्यर्थे वर्त्तते । विकल्पार्थमेव सेनकग्रहणं कस्मान्न भवति ? इत्याह—विकल्पोऽनुवर्त्तत एवेति । विकल्पार्थत्वात् । विकल्प्यते वानेन सः । अन्यतरस्यांग्रहणं विकल्प इत्युक्तम्, तदिह 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इत्यतोऽनुवर्त्तते । तस्मात् तेनैव विकल्पस्य सिद्धत्वात् पूजार्थमेव सेनकग्रहणमुक्तम्, न विकल्पार्थम् । ननु च 'विभाषयोर्द्वयोर्मध्ये नित्या विधयो भवन्ति' इति पूर्वस्य विधेर्नित्यतां सम्पादयितुं विकल्पार्थमेव सेनकग्रहणं स्यात् ? नैतदस्ति; यदि हि पूर्वो विधिर्नित्यः स्यात्, झयन्तानां शरत्प्रभृतिषु पाठोऽनर्थकः स्यात्; 'झयः' इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । तस्मान्न विकल्पार्थं सेनकग्रहणम्, पूजार्थमेव ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ॥ 'अद्रवं मूर्त्तिमत्' इत्यादिना पारिभाषिकं यत् स्वाङ्गं तदिह गृह्यते । दुःश्लिष्टविभक्तीनीति । दुःखेन कष्टेन श्लिष्टाः सम्बद्धा

भक्तीनि पदानि । दीर्घं सक्थि यस्य दीर्घसक्थः । कल्याणाक्षः । लोहिताक्षः । विशालाक्षः ।

बहुव्रीहाविति किम् ? परमसक्थिः । परमाक्षिः । सक्थ्यक्ष्णोरिति किम् ? दीर्घजानुः । सुबाहुः । स्वाङ्गादिति किम् ? दीर्घसक्थि शकटम् । स्थूलाक्षिरिक्षुः ।

टचि प्रकृते षज्ग्रहणं स्वरार्थम्—चक्रसक्थी स्त्री, दीर्घसक्थी

पदमञ्जरी

सम्बद्धाः विभक्तयो येषु तानि तथोक्तानि, तथा हि—बहुव्रीहिशब्दात्पञ्चम्या भवितव्यम्, समासान्तसम्बन्धे षष्ठ्या वा, यथा–'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इति; इह तु सप्तम्येकवचनं श्रुतम् । 'सक्थ्यक्ष्णोः' इति षष्ठीद्विवचनम्, सप्तमीद्विवचनं वा । न चैवम्भूतेनानेन बहुव्रीहिः शक्यो विशेषयितुम्; भिन्नविभक्तिवचनत्वात् । *स्वाङ्गादिति* पञ्चम्येकवचनम्, तच्च न सक्थ्यक्ष्णोः समानाधिकरणं विशेषणमवकल्पते, तच्चाभिप्रेतम् । तस्माद्विभक्तिव्यत्ययमाश्रित्य विभक्तयः सम्बन्धयितव्या इति 'दुःश्लिष्टविभक्तीनि' इत्युक्तम् ।

स्थूलाक्षिरिक्षुरिति । 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इत्यचात्र भवितव्यम् । यदि तु नेष्यते, समासान्तविधिरनित्य इति वक्तव्यम्; तत एव तर्हि षजपि न भविष्यति । तस्मात्स्थूलाक्षा, सूक्ष्माक्षा वेणुयष्टिरिति अजेव टापि प्रत्युदाहर्त्तव्य इत्याहुः । *दीर्घसक्थीति* । दीघ सक्थ्यस्याः सा दीर्घसक्थी, अत्र षचि सति ङीषुदात्तो भवति,

न्यासः

विभक्तयो येषु तानि दुःश्लिष्टविभक्तीनि । तथा च—प्रत्ययसम्बन्धेन षष्ठया भवितव्यम् ; यथा 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इति सक्थ्यक्षिग्रहणेन चेह तदन्तया बहुव्रीहेर्विशेषयितुमिष्टत्वात् । बहुव्रीहौ यद् विभक्तिवचनं ततोऽपि तेनैव भवितुं युक्तम् । इह तु बहुव्रीहौ सप्तम्येकवचनम् । सक्थ्यक्षिशब्दाभ्यां तु षष्ठीद्विवचनम्, सप्तमीद्विवचनं वा । स्वाङ्गग्रहणं सक्थ्यक्ष्णोरिह समानाधिकरणं विशेषणम्, ततश्च सक्थ्यक्षिशब्दाभ्यां या विभक्तिस्तद्विभक्तिकं समानाधिकरणविशेषणमुपपद्यते । एवंविधविभक्तिभिः पदैः कश्चिद् दुःखेन कृच्छ्रेण युक्तो यामाश्रित्य विभक्तिमेवार्थं प्रतिपद्यते । तस्मात् तानि दुःश्लिष्टविभक्तीनि । किमर्थं पुनस्तानि पदानि कृतानि ? वैचित्र्यार्थम् ।

दीर्घसक्थि शकटम्, स्थूलाक्षिरिक्षुरिति । अत्र सक्थ्यक्षिशब्दौ स्वाङ्गं न भवतः । शकटस्य कश्चिदवयवस्तथेक्षोश्च तथाभिधीयते । न तु तत्र 'अद्रवं मूर्त्तिमत्' इत्यादिकं स्वाङ्गलक्षणमस्ति ।

ननु च टचापि प्रकृतेन सर्वमेतत् सिध्यति, तत् किमर्थं षजिति प्रत्ययान्तरमुपात्तम् ? इत्याह–टचि प्रकृत इत्यादि । दीर्घसक्थी स्त्री—टचि ङीबनुदात्तः स्यात्,

स्त्री। 'सक्थं चाक्रान्तात्' इति विभाषयोत्तरपदस्यान्तोदात्तता विधीयते। तत्र यस्मिन्पक्षे नास्त्युदात्तत्वं तत्र ङीपि सत्युदात्तनिवृत्तिस्वरस्याभावादनुदात्तः श्रूयेत। ङीषि तु सर्वत्रोदात्तः सिद्धो भवति।

बहुव्रीहिग्रहणमा पादपरिसमाप्तेरनुवर्तते॥

अङ्गुलेर्दारुणि॥ ११४॥

अङ्गुलिशब्दान्ताद्बहुव्रीहेः षच्प्रत्ययो भवति समासान्तो दारुणि समासार्थे। द्व्यङ्गुलं दारु। त्र्यङ्गुलं दारु। पञ्चाङ्गुलम्। अङ्गुलिसदृशावयवं धान्यादीनां विक्षेपणकाष्ठमुच्यते।

पदमञ्जरी

टचि तु सति ङीबनुदात्तः स्यात्। ननु टचश्चित्करणमन्तोदात्तार्थम्, ततश्च ङीबप्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणोदात्त एव भविष्यति? तत्राह—*सक्थं चाक्रान्तादित्यादि*। *विभाषयेति*। 'विभाषोत्पुच्छ' इत्यतोऽनुवृत्तेः षचश्चित्करणमक्ष्यर्थम्। सक्थ्यपि यदाक्रान्तात्परं तदा नित्यमन्तोदात्तं भवति—चक्रसक्थः, वक्रसक्थ इति। गौरसक्थादौ तु नार्थश्चित्करणेन॥

अङ्गुलेर्दारुणि ॥ *अङ्गुलिसदृशावयवमित्यादि*। दारुणि समासार्थे मुख्याभिरङ्गुलीभिः सम्बन्धो नोपपद्यत इति भावः।

ननु च द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य दारुण इत्यत्र सम्भवति? तत्राह—*यस्त्वित्यादि*। इह च बहुव्रीहेरयं प्रत्ययो विधीयते, त्वदुक्ते चोदाहरणे तद्धितार्थे

न्यासः

षचि तु सति 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषुदात्तः सिद्धो भवति। ननु च ङीप्यनुदात्त उदात्तनिवृत्तिस्वरेणोदात्त एव भवति। अतः स्वरार्थमपि नैव प्रत्ययान्तरमुपादेयम्? इत्याह—सक्थञ्चाक्रान्तादिति। 'विभाषोत्पुच्छ' इत्यतो विभाषेत्यनुवर्त्तमाने 'सक्थञ्चाक्रान्तात्' इति विकल्पेनोत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वं विधीयते। यस्मिन् पक्ष उदात्तं भवति, तत्र ङीपि परतः 'यस्येति च' इत्यकारस्योदात्तस्य लोपे कृते 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इति ङीप्युदात्तत्वेन भवितव्यम्, अतो नास्ति ङीपि विरोधः। यस्मिन् पक्ष उदात्तं न सम्भवति तस्मिन् ङीपि सत्युदात्तनिवृत्तिस्वरो नास्ति, उदात्तश्चाश्रीयते। ङीषि तु सति सर्वत्रोदात्तः सिद्धो भवति; ङीष्प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वात्॥

अङ्गुलेर्दारुणि॥ द्वे अङ्गुली यस्य तद्। दारुणि समासार्थे मुख्याभिरङ्गुलिभिः सम्बन्धस्तत्र नोपपद्यते। तस्मात् सामर्थ्याद् द्व्यङ्गुलीसदृशेषु दार्ववयवेष्वङ्गुलिशब्दो वर्त्तमानः समास आश्रीयत इति मत्वाऽऽह—अङ्गुलिसदृशावयवमित्यादि।

ननु च द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य दारुण इत्यादौ मुख्याभिरङ्गुलिभिः सम्बन्धः, तत्र मुख्याङ्गुलिभिः सम्बन्ध इति मुख्ये सम्भवति, अतो गौणस्य ग्रहणमयुक्तम्?

यस्य तु द्वे अङ्गुली प्रमाणं दारुणस्तत्र 'तद्धितार्थ' इति समासे कृते 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यचा भवितव्यम् ।

दारुणीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ॥

द्वित्रिभ्यां ष मूर्द्धनः ॥ ११५ ॥

द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्द्धन्-शब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेः षः प्रत्ययो भवति समासान्तः । द्विमूर्द्धः । त्रिमूर्द्धः ।

पदमञ्जरी

तत्पुरुषः कर्त्तव्यः, तत्र च 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः' इत्यचा भवितव्यम् । तस्माद्बहुव्रीहौ दारुणि वाच्ये गौण एवाङ्गुलिशब्द इति सुष्ठूक्तमित्यर्थः ॥

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥ अथ किमर्थं षः प्रत्ययान्तरं क्रियते, न प्रकृतः षजनुवर्त्तिष्यते ? द्विमूर्द्धः, त्रिमूर्द्ध इत्यत्र 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्द्धसु' इति पाक्षिकमन्तोदात्तत्वं यथा स्यात् । षचि तु सति चित्त्वान्नित्यमन्तोदात्तत्वं स्यात् । 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्द्धसु बहुव्रीहौ' इत्यस्य तु समासान्तविधेरनित्यत्वात्तदभावे द्विमूर्द्धा, 'त्रिमूर्द्धानं सप्तरश्मिं गृणीषे' इति, सोऽवकाशः स्यात् । षे तु सति यदापि समासान्तः क्रियते, तदापि पक्षेऽन्तोदात्तत्वम्, पक्षे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वमिति स्वरद्वयसिद्धिः । अनित्यत्वं च षविधानादेव विज्ञायते । नित्ये हि सति प्रकृते षच्यपि विहिते द्वित्रिभ्यामपि स्वरः प्राप्तविभाषारूपेण चित्स्वरं बाधिष्यते; विषयान्तराभावात् । अनित्यत्वे तु समासान्ताभावपक्षे सावकाशम्

न्यासः

इत्याह—यस्य त्वित्यादि । बहुव्रीहिग्रहणानुवृत्तेरिह बहुव्रीहेः प्रत्ययो विधीयते । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्येत्येकार्थविवक्षायां तद्धितार्थे तत्पुरुषः कर्त्तव्यः । तस्मिंस्तु कृते 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः' इत्यचा भवितव्यमेव । यश्च गौणोऽङ्गुलिशब्दः स एव सामर्थ्यादेव योगस्य विषय इत्युक्तं भवति ॥

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥ अथ किमर्थं षः प्रत्ययान्तरं विधीयते, न प्रकृतः षजेव विधीयते ? विकल्पेनान्तोदात्तत्वं यथा स्यात् । 'विभाषोत्पुच्छ' इत्यतो विभाषेत्यनुवर्त्तमाने 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' इति नकारान्तस्य मूर्धन्शब्दस्य निर्देशाद् द्वित्रिभ्यामुत्तरो यत्र नकारान्तो मूर्धन्शब्दस्तत्र बहुव्रीहेरन्तोदात्तत्वं पाक्षिकं विधीयते; अन्यथाऽकारान्तमूर्धन्शब्द उत्तरपदोदात्तत्वं विधीयते, कृतसमासान्तमेव निर्दिशेत् । तत्र यदि षच्प्रत्ययो विधीयते, ततः पाक्षिकमन्तोदात्तत्वं बाधित्वा चित्करणसामर्थ्यान्नित्यमन्तोदात्तत्वं स्यात् । विभाषान्तोदात्तवचनस्य तु यत्र समासान्तो नास्ति सोऽवकाशः । अस्मिंस्तु प्रत्ययान्तरसमासान्ते कृते विकल्पेनान्तोदात्तत्वं सिध्यति । ननु च नकारान्तनिर्देशान् नकारान्त एव हि मूर्धन्शब्दः, उत्तरपदे विभाषान्तोदात्तेन

द्वित्रिभ्यामिति किम् ? उच्चैर्मूर्द्धा ॥

अप्पूरणीप्रमाण्योः ॥ ११६ ॥

पूरणप्रत्ययान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः पूरणीग्रहणेन गृह्यन्ते । 'प्रमाणो' इति स्वरूपग्रहम् । पूरण्यन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् प्रत्ययो भवति समासान्तः । कल्याणी पञ्चमी आसां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी एषां स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः । भार्याप्रधाना इत्यर्थः ।

❀ अपि प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम् ❀ । यत्रान्यपदार्थे पूरण्यनुप्रविशति न केवलं वर्त्तिपदार्थ एव, तत्र पूरण्याः प्राधान्यम् । पुंव-

पदमञ्जरी

'द्वित्रिभ्याम्' इति स्वरं चित्स्वरो बाधेतेति प्रत्ययान्तरकरणमर्थवद्भवति । एवं च कृत्वा मूर्धन्निति नकारान्तनिर्देश उपपन्नो भवति; अन्यथा 'सक्थं चाक्रान्तात्' इतिवदकारान्तमेव निर्दिशेत् । यदि नकारान्तो निर्दिश्यते, कथं समासान्ते कृते भवति ? नैष दोषः; वक्ष्यति हि तत्र—'यदापि समासान्तः क्रियते तदा बहुव्रीहेः कार्यित्वात्तदेकदेशत्वाच्च समासान्तस्यान्तोदात्तत्वं भवत्येव' इति ॥

अप्पूरणीप्रमाण्योः ॥ *पूरणप्रत्ययान्त इति* । 'तस्य पूरणे डट्' इत्येवमादयः पूरणार्थे ये प्रत्यया विहितास्तदन्ता इत्यर्थः । *स्त्रीलिङ्गा इति* । 'पूरणी' इति ङीपा निर्देशात् । *पूरणीग्रहणेन गृह्यन्ते इति* । पूरणार्थसाहचर्यात् ।

अपि प्रधानपूरणीग्रहणमिति । अपि विधीयमाने प्रधानं या पूरणी सा गृह्यत इति वक्तव्यमित्यर्थः । क्व पुनः पूरण्याः प्राधान्यम् ? इत्यत आह—*यत्रेति* । न

न्यासः

भवितव्यम्, तत् कथं समासान्ताद् भवेत् ? नैष दोषः; वक्ष्यति—'यत्रापि समासान्तः क्रियते तत्रापि बहुव्रीहिकार्यत्वात् तदेकदेशत्वाच्च समासान्तोदात्तत्वं भवत्येव' इति । अथ किमर्थं बहुव्रीहौ द्वित्रिभ्यामुत्तरो मूर्धन्शब्दो नकारान्तः सम्भवति, यावता नित्यं समासान्तेन भवितव्यम्, न हि सूत्रे विभाषाग्रहणमस्ति ? नैष दोषः; स एव हि नकारान्तनिर्देशो ज्ञापयति—विकल्पेन समासान्तो न भवतीति ॥

अप् पूरणीप्रमाण्योः ॥ **पूरणप्रत्ययान्त इति** । 'तस्य पूरणे डट्' इत्येवमादिना प्रकरणेन ये पूरणार्थे विहितास्ते तत्साहचर्यात् पूरणशब्देनोच्यन्ते । पूरणप्रत्ययोऽन्ते येषां ते पूरणप्रत्ययान्ताः ।

अपि प्रधानपूरणीग्रहणमिति । अपि प्रत्यये विधातव्ये प्रधाना या पूरणी तस्या ग्रहणं कर्त्तव्यम्—तत एव प्रयोगो यथा स्यात्, अन्यतो मा भूत् । क्व पुनरस्याः प्राधान्यम् ? इत्यत आह—यत्रेत्यादि । यत्राभिधेयत्वेनान्यपदार्थेन पूरण्यनुप्रविशति न

द्भावप्रतिषेधेऽपि प्रधानपूरण्येव गृह्यते । इह न भवति—कल्याणी पञ्चमी अस्मिन्पक्षे कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति ॥

❀ नेतुर्नक्षत्र उपसंख्यानम् ❀ । मृगो नेता आसां रात्रीणां मृगनेत्रा रात्रयः । पुष्यनेत्राः । नक्षत्र इति किम् ? देवदत्तनेतृकाः ॥

❀ छन्दसि च नेतुरुपसंख्यानम् ❀ । बृहस्पतिनेत्रा देवाः । सोमनेत्राः ।

❀ मासाद् भृतिप्रत्ययपूर्वपदाट्ठज्विधिः ❀ । पञ्चको मासोऽस्य

पदमञ्जरी

केवलं वर्त्तिपदार्थ एवेति । समासावयवभूतं पदं वर्त्तिपदम्, तस्यार्थो वर्त्तिपदार्थः । प्रथमान्तं चैतत्, न सप्तम्यन्तम् । पूरणीत्येतदनुषज्यते, न पुनरनुप्रविशतीति । तत्रोदाहरणे उद्भूतावयवभेदस्य समुदायस्य कृतैकशेषेण रात्रिशब्देनाभिधानाद्रात्रिषु पञ्चम्या अन्तर्भावः । *कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति* । 'नद्यृतश्च' इति कप् । अत्र वर्तिपदार्थ एव पूरणी, न त्वन्यपदार्थः; तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थत्वात् । यथा–वृक्षशब्दस्यावयव्यभिधेयः, न तु शाखादयोऽवयवाः; अनुमीयमानस्याशब्दार्थत्वादित्यप्राधान्यं पूरण्याः ।

नेतुर्नक्षत्र इति । नक्षत्रे यो नेतृशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरित्यर्थः । *छन्दसि चेति* । अनक्षत्रार्थमिदम् । *पञ्चकमासिक इति* । पञ्चभृतिरस्य मासस्य पञ्चको मासः,

न्यासः

केवलं वर्त्तिपदार्थस्यैव समासावयवभूतस्य पदार्थः, तत्र पूरण्याः प्राधान्यम्, यथा—कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति । अत्र हि न केवलमवयवेन विग्रहः क्रियते, रात्रय एव प्रत्ययेनाख्यायन्ते, सहपञ्चमीकाः । सह पञ्चम्या समुदितोऽन्यपदार्थः, न तु ताभिरारब्धमर्थान्तरम् । यथा–कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति । न भिन्नावयवः समासार्थः, किं तर्हि ? तदर्थारब्धः समुदायः पक्षाख्यः । पूरणी तु समासावयवभूता नाभिधीयत इति, अन्यपदार्थेनानुप्रवेशादप्राधान्यमिह तस्याः । पुंवद्भावप्रतिषेधेऽपीत्यादि । न केवलमिहापि, अपि तु 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्' इत्यादिना सूत्रेण पुंवद्भावप्रतिषेधेऽपीत्यादि । न केवलमिहाप्यपि तु स्त्रियामिति प्रधानपूरण्येव गृह्यते । इह त्वित्यादि । अप्प्रत्ययः पुंवद्भावप्रतिषेधः कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इत्यत्र न भवति । 'शेषाद्विभाषा' इति कप् ।

नेतुरित्यादि । उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः । नक्षत्रे यो नेतृशब्दो वर्त्तते तदन्ताद् बहुव्रीहेरपः प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । प्रतिपादनं तूत्तरसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थतामाश्रित्य कर्तव्यम् । देवदत्तनेतृकाः । 'नद्यृतश्च' इति कप् ।

छन्दसीत्यादि । मासादित्यादि । भृत्यर्थे यो विहितः प्रत्ययः स भृतिसाहचर्याद्

पञ्चकमासिकः कर्मकरः। दशकमासिकः। 'सोऽस्यांशवस्नभृतयः' इति 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' ॥

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ॥ ११७ ॥

अन्तर्, बहिस्—इत्येताभ्यां परो यो लोमन्शब्दः तदन्ताद्बहुव्रीहेरप्प्रत्ययो भवति। अन्तर्गतानि लोमान्यस्यान्तर्लोमः प्रावारः। बहिर्लोमःपटः ॥

अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥ ११८ ॥

नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच्प्रत्ययो भवति नासिकाशब्दश्च नसमादेशमापद्यते। 'अस्थूलात्' इति नासिकाविशेषणम्—न चेत्स्थूलशब्दात्परा नासिका भवतीति। 'संज्ञायाम्' इति समुदायोपाधिः। द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः[1]। वाध्रीणसः। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। गोनसः।

पदमञ्जरी

सोऽस्यांशवस्नभृतयः' इति संख्याया कन्, पञ्चको मासोऽस्येति बहुव्रीहौ कृते टच्। अपः पित्करणं यत्र बहुव्रीहावन्तोदात्तत्वमारभ्यते तद्बाधनार्थम्—अपञ्चमाः, सुपञ्चमाः, 'नञ्सुभ्याम्' इत्यन्तोदात्तत्वं न भवति ॥

अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥ *नसमिति*। द्वितीयानिर्देशो वैचित्र्यार्थः। *द्रुणस इति*। द्रुरिव नासिकास्य, 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। वध्रे भवा वाध्री, सा नासिकास्य *वाध्रीणसः*, 'वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्य' इति पुंवद्भावप्रतिषेधः। गौरिव नासिकाऽस्य *गोनसः*।

न्यासः

भृतिरित्युच्यते। भृतिः प्रत्ययो यस्य तद्। भृतिप्रत्ययम् पूर्वपदं यस्य बहुव्रीहेः स भृतिपूर्वपदः, तस्मान् मासशब्दाट् ठञो विधिः। चित्करणं बहुव्रीहिस्वरबाधनार्थम्। पञ्चास्य मासस्य भृतयः 'सोऽस्यांशवस्नभृतयः' इति 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' पञ्चकः, पञ्चको मासोऽस्य पञ्चकमासिकः।

अपः पित्करणं यत्र बहुव्रीहावुत्तरपदान्तोदात्तत्वमारभ्यते तत्र तद्बाधनार्थम्—शोभना पञ्चमी आसां रात्रीणां सुपञ्चमाः, अविद्यमाना पञ्चमी आसां रात्रीणामपञ्चमा इति। अत्र ह्यसति पित्करणे 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं स्यात् ॥

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ॥ अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥ संज्ञायामिति समुदायोपाधिरिति। एतेन यदि प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः कस्यचित् संज्ञा भवत्येवं

---

1. 'खरणसः'—इत्यधिकं पुस्तकान्तरे।

संज्ञायामिति किम् ? तुङ्गनासिकः । अस्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिको वराहः ।

❀ खुरखराभ्यां नस् वक्तव्यः ❀ । खुरणाः । खरणाः ।

पक्षेऽच्प्रत्ययोऽपीष्यते । खुरणसः । खरणसः ।।

शितिनाः, अहिनाः, अर्चनाः—इति निगम इष्यते ।।

उपसर्गाच्च ।। ११६ ।।

उपसर्गात्परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरच् प्रत्ययो भवति नासिकाशब्दश्च नसमापद्यते । असंज्ञार्थं वचनम् । उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः । प्रणसः । 'उपसर्गाद्बहुलम्' इति णत्वम् ।

❀ वेर्ग्रो वक्तव्यः ❀ । विगता नासिकाऽस्य विग्रः ।।

पदमञ्जरी

खुरखराभ्यां नस् वक्तव्य इति । केवलादेशवचनं प्रत्ययनिवृत्त्यर्थम् । *खुरणाः, खरणा इति* । 'अत्वसन्तस्य च' इति दीर्घः ।

शितिः कृष्णा नासिकास्य *शितिनाः*, अहेरिव नासिकाऽस्य *अहिनाः* । अर्चा= प्रतिमा, तस्या इव नासिकास्य *अर्चनाः*, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोः' इति ह्रस्वत्वम् ।।

उपसर्गाच्च ।। उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणम्;नासिकां प्रति क्रियायोगाभावात् ।

वेर्ग्रो वक्तव्य इति । विशब्दात्परस्य ग्रशब्द आदेशो भवति; प्रत्ययस्त्वजेव[1] ।।

न्यासः

प्रत्ययो भवति, नान्यथेति दर्शयति । द्रुणस इति । 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति णत्वम् । वर्ध्रे भवा च स्त्री वार्ध्री, सा नासिका यस्य स वार्ध्रीणस इति । 'वृद्धि-निमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे' इति पुंवद्भावप्रतिषेधः । गौरिव नासिकास्य गोनसः । अचश्चित्करणं बहुव्रीहिस्वरबाधनार्थम् ।

खरणाः, खुरणा इति । 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घः ।

शितिर्नासिकास्य शितिनाः । अहिरिव नासिकास्याहिनाः । अर्चेव नासिकास्या अर्चनाः । 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः ।।

उपसर्गाच्च ।। उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणार्थम्; नासिकां प्रति क्रियायोगाभावात् ।

वेर्ग्रो वक्तव्य इति । विशब्दात् परस्य नासिकाया ग्रशब्द आदेशो भवतीति वक्तव्यम् । विग्रः । प्रत्ययोऽजेव ।।

---

1. "'यद्यहं नाथ नायास्यं विनसा हतबान्धवा' इति भट्टिप्रयोगे तु विगतया नासिकयोपलक्षितेति व्याख्येयम्" इति भट्टोजिः । मैत्रेयस्त्वाह—"केचिन्नासिका-पर्याये नसाशब्दमिच्छन्ति, तथा च वराहतन्त्रपुरुषप्रकाशे नसाशब्दः प्रयुक्तः । भट्टिकाव्येऽपि 'विनसा हतबान्धवा' इति दृश्यते । न चासौ 'उपसर्गाच्च' इति नसादेशे सिध्यति; 'वेर्ग्रो वक्तव्यः' इति ग्रादेशेन बाधितत्वात्" इति (धा० प्र०) ।

सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ॥ १२० ॥

सुप्रातादयो बहुव्रीहिसमासा अच्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । अन्यदपि च टिलोपादिकं निपातनादेव सिद्धम् । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः । शोभनं दिवाऽस्य सुदिवः । शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः । चतस्रोऽश्रयोऽस्य चतुरश्रः । एण्या इव पादावस्य एणीपदः । अजस्येव पादावस्य अजपदः । प्रोष्ठः=गौः, तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः ॥

नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥ १२१ ॥

नञ्, दुस्, सु—इत्येतेभ्यः परौ यौ हलिसक्थिशब्दौ तदन्ताद्बहुव्रीहेरन्यतरस्यामच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । अविद्यमाना हलि-

पदमञ्जरी

सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ॥ *टिलोपादिकमिति* । *सुप्रातः, सुश्व* इत्यत्र टिलोपः । 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इत्येतत्तु नाश्रितम् । आदिपदेन एणीपदाजपदयोः पद्भावः । *शोभनं प्रातरस्येति* । प्रातःशब्दस्याधिकरणप्रधानत्वात्सामानाधिकरण्याभावात्, प्रातस्तनं कर्म प्रातःशब्देन लक्ष्यते, देवदत्तादिश्चान्यपदार्थ इत्याहुः । कथं च 'वरदः करोतु सुप्रातमहामयं नायकः' इति ? न ह्ययं बहुव्रीहिः, शोभनं प्रातस्तवार्कः करोत्विति ह्यत्रार्थः ? उच्यते; शोभनं प्रातस्तनं कर्म यस्य सन्ध्यादेस्तत्ते करोत्विति क्लेशेनास्य निर्वाहः ॥

नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥ हलिग्रहणमनर्थकम् ? कथमहलः, सुहल इति ? अकारान्तो हलशब्दोऽस्ति ? नन्वर्थभेदोऽस्ति—महद्धलं हलिरित्युच्यते, हलमात्रं तु हलम् ? नायमर्थभेदः किञ्चित्करः, क्रियमाणेऽपि हलिग्रहणे

न्यासः

सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ॥ टिलोपादिकमिति । आदिशब्देन सुशब्दश्च कर्मविशेषणं गृह्यते । शोभनं प्रातरस्येति । शोभनमित्येतदिह कर्मणो विशेषणम् । शोभनं प्रातःकाले कर्मास्येत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि शोभनमित्येतत् कर्मणो विशेषणं वेदितव्यम् ॥

नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥ अकारान्तोऽपि हलशब्दोऽस्ति; तत्र यदा तेन समासः तदा हल इति भविष्यति, यदा त्विकारान्तेन तदा हलिरिति, तदनर्थकं हलग्रहणम् ? नानर्थकम्; भिन्नार्थत्वात् । तेन यो महद्धलं हलिः, तस्मिन् विषये विवक्षिते, अहल इति न सिध्यति, अहल इति यदाकारान्तेन समासः क्रियते, पूर्ववत्

रस्य अहलः, अहलिः । दुर्हलः, दुर्हलिः । सुहलः, सुहलिः । अविद्यमानं सक्थ्यस्य असक्थः, असक्थिः । दुःसक्थः, दुःसक्थिः । सुसक्थः, सुसक्थिः ।

'हलिशक्त्योः' इति केचित्पठन्ति । अविद्यमाना शक्तिरस्य अशक्तः, अशक्तिः । विरूपा शक्तिरस्य दुःशक्तः, दुःशक्तिः । शोभना शक्तिरस्य सुशक्तः । सुशक्तिः ॥

नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ॥ १२२ ॥

'नञ्दुस्सुभ्यः' इत्येव । नञ्, दुस्, सु—इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्बहुव्रीहेर्नित्यमसिच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । अविद्यमाना प्रजाऽस्य अप्रजाः । दुष्प्रजाः । सुप्रजाः । अविद्यमाना मेधाऽस्य अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ।

नित्यग्रहणं किम्; यावता पूर्वसूत्रेऽन्यतरस्यांग्रहणं नैव स्वर्यते ? एवं तर्हि नित्यग्रहणेनान्यत्रापि भवतीति सूच्यते ।

श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याल्पमेधसः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥

बहुप्रजाश्छन्दसि ॥ १२३ ॥

पदमञ्जरी

हलशब्देनापि समासो न दण्डवारितः, ततश्च प्रकरणादिवशेन विशेषोऽवगन्तव्यः; सति चैवमकारान्तेनापि समासे प्रकरणादिनैव महत्वमवगंस्यते ? इह तर्हि—दुर्हल इत्यकारान्तेनापि समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्राप्नोति, समासान्ते तु विहिते चित्स्वरो भवति । अहलः, सुहल इत्यत्र 'नञ्सुभ्याम्' इत्यन्तोदात्तविधानान्नास्ति विशेषः । 'शेषाद्विभाषा' इति च हलिशब्दात्कप् प्रत्ययः प्रसज्येत; तस्माद्धलिग्रहणम् । केचित्तु *हलिशक्त्योरिति* पठन्ति । अस्थिपर्यायः शक्तिशब्दः ॥

न्यासः

प्रकृतिभावेनाद्युदात्तत्वं चेष्यते, 'शेषाद्विभाषा' इति कप् प्रसज्येत । तस्माद् युक्तं हलिग्रहणम् ॥

नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ॥ एवं तर्हि नित्यग्रहणेनान्यत्रापि सूच्यत इति । ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यम् भवतीति कृत्वा । असिचश्चित्करणम् दुष्प्रजाः, दुर्मेधा इत्यन्तोदात्तत्वं यथा स्यात् । अप्रजाः, सुप्रजा इत्यादौ तु नार्थश्चित्करणेन; 'नञ्सुभ्याम्' इत्यनेनैवोत्तरपदान्तोदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् ॥

'बहुप्रजाः' इति छन्दसि निपात्यते। बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।

छन्दसीति किम्? बहुप्रजो ब्राह्मणः॥

धर्मादनिच् केवलात्॥ १२४॥

केवलाद् यो धर्मशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरनिच्प्रत्ययो भवति समासान्तः। कल्याणो धर्मोऽस्य कल्याणधर्मा। प्रियधर्मा।

केवलादिति किम्? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः। यद्येवम्, त्रिपदे बहुव्रीहौ प्राप्नोति—परमः स्वो धर्मोऽस्येति? एवं तर्हि केवलादिति पूर्वपदं निर्दिश्यते—केवलात्पदाद्यो धर्मशब्दः, न पदसमुदायात्। तदन्ताद्बहुव्रीहेः प्रत्ययः॥

जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः॥ १२५॥

बहुव्रीहौ समासे स्वादिभ्यः परं 'जभा' इति कृतसमासान्तमुत्तरपदं

पदमञ्जरी

नित्यमसिच् प्रजामेधयोः॥ असेवायं न विहितः, सकारस्येत्संज्ञा मा भूदिति।

एवं तर्हीत्यादि। भाष्ये एतन्नाश्रितम्। चित्करणम्—दुःप्रजाः, दुर्मेधा इत्यत्रान्तोदात्तार्थम्। अन्यत्र 'नञ्सुभ्याम्' इत्येव सिद्धम्॥

धर्मादनिच् केवलात्॥ परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्म इति। 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' इति स्वशब्दस्य पूर्वनिपातो न भवति; प्राप्तस्य चाबाधा व्याख्येयेति, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्वा॥

जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः॥ दन्तवचनो वेति। 'इममम्भसुतं पिब' इति दर्शनात्॥

न्यासः

बहुप्रजाश्छन्दसि॥ धर्मादनिच् केवलात्॥ असमस्त इति। असमासः क्रियत इत्यर्थः। **परमस्वधर्म इति।** स्वश्चासौ धर्मश्चेति स्वधर्मः, परमश्चासौ स्वधर्मश्चेति परमस्वधर्मः। **यद्येवमित्यादि।** यदि केवलग्रहणेन धर्मो विशेष्यते परमस्वधर्मश्चेति न, परमस्वधर्मेति स्यात्। **केवलात् पूर्वपदादिति।** धर्मस्य असहायात् पूर्वपदादित्यर्थः। **न पदसमुदायादिति।** परमो धर्म इति प्रकृतेन सम्बन्धः। अत्र व्याख्याने त्रिपदे बहुव्रीहौ न भवति प्रसङ्गः; पदसमुदायाद्धि परमो धर्मशब्दो न केवलात् पूर्वपदात्। अनिचश्चित्करणं पूर्वपदप्रकृतिस्वरं बाधित्वाऽन्तोदात्तत्वमेव यथा स्यात्।

जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः॥ जम्भवचनेन तृणमिव जम्भोऽस्य, सोम इव जम्भोऽस्येति विग्रहीतव्यमिति। ननु तृणं जम्भोऽस्य, सोमो जम्भोऽस्येत्येवं विग्रही-

निपात्यते । जम्भशब्दोऽभ्यवहार्यवाची, दन्तविशेषवाची च । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा देवदत्तः । शोभनाभ्यवहार्यः, शोभनदन्तो वा । एवं हरितजम्भा । तृणजम्भा । सोमजम्भा । दन्तवचने—तृणमिव जम्भोऽस्य, सोम इव जम्भोऽस्येति विग्रहीतव्यम् ।

सुहरिततृणसोमेभ्य इति किम् ? पतितजम्भः ॥

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥ १२६ ॥

'दक्षिणेर्मा' इति कृतसमासान्तो निपात्यते बहुव्रीहौ समासे लुब्धयोगे । लुब्धः=व्याधः । दक्षिणमीर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः । ईर्मम्=व्रणमुच्यते । दक्षिणमङ्गं व्रणितमस्य व्याधेनेत्यर्थः ।

लुब्धयोग इति किम् ? दक्षिणेर्म शकटम् ॥

इच् कर्मव्यतिहारे ॥ १२७ ॥

कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् प्रत्ययो भवति । 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इत्ययं बहुव्रीहिर्गृह्यते । केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं मुसलामुसलि । दण्डादण्डि । तिष्ठद्गुप्रभृतिष्वयमिच्प्रत्ययः पठ्यते ॥

पदमञ्जरी

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥ *लुब्धो व्याध इति* । कवयस्तु हिंसामात्रे प्रयुञ्जते—'बाली हेमाब्जमाली गुणनिधिरिषुणा निर्मितो दक्षिणेर्मा' इति यथा । *व्रणितमिति* । व्रणशब्दादितच् । 'व्रण गात्रविचूर्णने' इत्यस्माद्वा चौरादिकणिजन्ताक्तः ॥

इच् कर्मव्यतिहारे ॥ *अयं बहुव्रीहिर्गृह्यत इति* । अस्यैव कर्मव्यतिहारे वृत्तेः । उदाहरणेषु 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । *तिष्ठद्गुप्रभृतिष्वयमिच् पठ्यते इति* । तेनाव्ययीभावसंज्ञकत्वादव्ययत्वे सति सुब्लुग्भवतीति भावः । यद्येवम्, अव्ययीभावसंज्ञया बहुव्रीहिसंज्ञाया बाधनात्समासस्वरेणैवान्तोदात्तत्वं

न्यासः

तव्यम्, न हि तृणं जम्भः, न च सोमः । अभ्यवहार्यवचने तु—तृणं जम्भोऽस्य, सोमो जम्भोऽस्येत्येवमेव विग्रहः कार्यः; तृणसोमयोरभ्यवहार्यत्वात् ॥

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥ इच् कर्मव्यतीहारे ॥ 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इत्ययं बहुव्रीहिर्गृह्यत इति । अस्यैव कर्मव्यतिहारे वृत्तेः । केशाकेशि । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः । तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विच्प्रत्ययस्य पाठादव्ययीभावसंज्ञा, अव्ययीभावश्च समासोऽव्ययसंज्ञो भवतीति । तेन सुब्लुग्भवतीति भावः ।

द्विदण्डयादिभ्यश्च ॥ १२८ ॥

द्विदण्डयादयः शब्दा इच्प्रत्ययान्ताः साधवो भवन्ति। 'द्विदण्डयादिभ्यः' इति तादर्थ्ये एषा चतुर्थी, न पञ्चमी। द्विदण्डयाद्यर्थमिच् प्रत्ययो भवति। तथा भवति यथा द्विदण्डयादयः सिध्यन्तीत्यर्थः। समुदायनिपातनाच्चार्थविशेषेऽवरुध्यन्ते। द्विदण्डि प्रहरति। द्विमुसलि प्रहरति। इह न भवति—द्विदण्डा शालेति।

बहुव्रीह्यधिकारेऽपि तत्पुरुषात् क्वचिद्विधानमिच्छन्ति। निकुच्य

पदमञ्जरी

सिद्धमिति नार्थश्चित्करणेन? विशेषणार्थं तु। असति हि तस्मिंस्तिष्ठद्गुप्रभृतिष्विकारमात्रं पठ्येत, ततश्च 'अच इः' इत्यस्यापि ग्रहणं स्यात्॥

द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ॥ यदि 'द्विदण्ड्यादयः साधवो भवन्ति'—इत्ययमर्थोऽभिप्रेतः, 'द्विदण्ड्यादिभ्यः' इति सूत्रपदस्य कथं निर्वाहः? अत आह—*द्विदण्ड्यादिभ्य इति*। *तादर्थ्य एषा चतुर्थीत्यादि*। *समुदायनिपातनाच्चेति*। समुदाया यत्र प्रसिद्धास्तत्रैव तेषामवरोधः=अवस्थापनं यथा स्यादित्येवमर्थं समुदायनिपातनमित्यर्थः। *द्विदण्डि प्रहरतीति*। द्वौ दण्डावस्मिन्प्रहरणे इति विग्रहः। *इह न भवतीति*। किं न भवति? द्विदण्डीत्येतच्छब्दरूपं साधु न भवतीत्यर्थः।

बहुव्रीह्यधिकारेऽपीति। अत्रापि 'समुदायनिपातनाच्च' इत्ययमेव हेतुः। ननु

न्यासः

इचश्चित्करणं विशेषणार्थम्। यदि ह्यत्र चकारो न क्रियते, तदा तिष्ठद्गुप्रभृतिष्वपीकारमात्रं पठ्येत, तदेकारमात्रस्यापि ग्रहणं स्यात्॥

द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ॥ द्विदण्ड्यादिभ्य इति तादर्थ्यं एषा चतुर्थीत्यादि। द्विदण्ड्यादयो हि प्रातिपदिकेष्विच्प्रत्ययान्ता एव पठ्यन्त इति तेभ्यः पुनरिज्विधातुं न शक्यते, विधीयमानोऽपि निष्प्रयोजनं स्यात्, तस्मान्नेयं पञ्चमी, किं तर्हि? तादर्थ्ये चतुर्थी। द्विदण्ड्याद्यर्थमिच् प्रत्ययो भवतीत्यनेन तादर्थ्यं दर्शयति। अस्यैवार्थं विस्पष्टीकर्तुमाह—तत्तथा भवतीत्यादि। एवं ब्रुवाणेन 'द्विदण्ड्यादिभ्यः प्रत्ययो भवति, न द्विदण्डादिभ्यः' इत्युक्तम्। एवं ते सिध्यन्ति; नान्यथा। अथ किमर्थं समुदायानां निपातनशुद्धा एव प्रकृतीः प्रातिपदिकेषु पठित्वा ततः प्रत्ययो विधीयते? इत्यत आह—समुदायनिपातनाच्चेत्यादि। प्रातिपदिकेषु प्रकृतीः पठित्वा ताभ्यः प्रत्ययमात्रं विधीयते, ततो नियमः स्यात्—समुदायनिपातनाद् यत्रार्थे विशेषे ते प्रसिद्धास्तत्रैव विशेष्यन्ते। तत्रैव भवन्तीत्यर्थः। द्विदण्डि प्रहरतीति। द्वौ दण्डौ यस्मिन् प्रहरणे। इह न भवतीति। द्विदण्डीत्येतच्छन्दरूपमत्रार्थे साधुर्न भवतीत्यर्थः। बहुव्रीह्यधिकारेऽपीत्यादि।

काशि० 4 : २७

कर्णौ धावति निकुच्यकर्णि धावति । प्रोह्य पादौ हस्तिनं वाहयति प्रोह्यपादि हस्तिनं वाहयति । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः ।

द्विदण्डि । द्विमुसलि । उभाञ्जलि । उभयाञ्जलि । उभाकर्णि । उभयाकर्णि । उभादन्ति । उभयादन्ति । उभाहस्ति । उभयाहस्ति । उभापाणि । उभयापाणि । उभाबाहु । उभयाबाहु । एकपदि । प्रोह्यपदि । आढ्यपदि । सपदि । निकुच्यकर्णि । संहतपुच्छि । उभाबाहु उभयाबाह्विति निपातनादिच्प्रत्ययलोपः । प्रत्ययलक्षणेनाव्ययीभावसंज्ञा । द्विदण्ड्यादिः ॥

प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ १२९ ॥

प्र, सम्–इत्येताभ्यामुत्तरस्य जानुशब्दस्य ज्ञुरादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ । प्रकृष्टे जानुनी अस्य प्रज्ञुः । संज्ञुः ॥

पदमञ्जरी

प्रातिपदिकेष्विच्प्रत्ययान्तपाठादेव सिद्धं द्विदण्ड्यादीनां साधुत्वम्, तत्किमनेन ? तन्न; न हि पाठमात्रेणेजन्तत्वं शक्यमवगन्तुम्; ततश्चाव्ययीभावसंज्ञा न स्यात् । अनार्षश्च पाठः शङ्क्येत; क्वचिदप्यनुपयोगात् ॥

प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ *ज्ञुरित्ययमादेश इति* । प्रत्ययस्त्वयं न भवति; षष्ठीद्विवचनेन निर्देशात् । इह हि जानुशब्दस्यैकत्वेऽपि अर्थगतं द्वित्वम्, उपपदनिबन्धनं वा द्वित्वमाश्रित्य जानुनोरिति निर्देश एतदर्थः क्रियते—स्थानषष्ठीत्वमसन्दिग्धं कथं विज्ञायेतेति । छन्दसि तु स्वतन्त्रोऽपि ज्ञुशब्दो दृश्यते–'उपज्ञुबाधो नभसा', 'सदेम वत्सज्ञु पशुकामस्य' इति ॥

न्यासः

अत्रापि समुदायनिपातनमित्ययमेव हेतुः । असति हि समुदायनिपातने बहुव्रीह्यधिकारात् तत्पुरुषान्न क्वचित् प्रत्ययविधानं स्यात् । समुदायनिपातनात् तु क्वचित् तत्पुरुषादपि भवति । यदा प्रत्ययस्य लोपो भवत्यव्ययीभावसंज्ञा, तदा न प्राप्नोतीत्यत आह—**प्रत्ययलक्षणेनेत्यादि** ।

प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ **जानुशब्दस्यादेशो भवतीति** । कथं पुनर्ज्ञायते—आदेशोऽयम्, न प्रत्यय इति ? यदि प्रत्ययः स्यात्, 'जानुनः' इत्येकवचनेनैव निर्देशं कुर्यात्; षष्ठीद्विवचनेनैव निर्देशः कृतः । तस्मादादेशोऽयं न प्रत्यय इति विज्ञायते । षष्ठीद्विवचनेन निर्देशोऽसन्देहार्थः कृतः–स्थानषष्ठीत्वमसन्दिग्धं यथा विज्ञायेतेति । जानुन इत्युच्यमाने सन्देहः स्यात्-- किमियं षष्ठी, उत पञ्चमीति ॥

ऊर्ध्वाद्विभाषा ॥ १३० ॥

ऊर्ध्वशब्दादुत्तरस्य जानुशब्दस्य विभाषा 'ज्ञुः' इत्ययमादेशो भवति । ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वजानुः । ऊर्ध्वज्ञुः ॥

ऊधसोऽनङ् ॥ १३१ ॥

ऊधःशब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशो भवति समासान्तः । कुण्डमिव ऊधोऽस्याः सा कुण्डोध्नी । घटोध्नी ।

❀ ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्तव्यम् ❀ । इह मा भूत्—महोधाः पर्जन्यः । घटोधो धैनुकम् ॥

धनुषश्च ॥ १३२ ॥

धनुःशब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशो भवति । शार्ङ्गं धनुरस्य शार्ङ्गधन्वा । गाण्डीवधन्वा । पुष्पधन्वा । अधिज्यधन्वा ॥

वा संज्ञायाम् ॥ १३३ ॥

धनुःशब्दान्ताद्बहुव्रीहेरनङादेशो वा भवति संज्ञायां विषये । पूर्वेण

पदमञ्जरी

ऊधसोऽनङ् ॥ ङित्करणादन्त्यादेशत्वम्, अकारादित्वं च निश्चित्याऽऽह—*अनङादेशो भवतीति* । *कुण्डोध्नीति* । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्', 'अल्लोपोऽनः' ।

अनङ्विधानमुत्तरार्थम्, इह तु नकारादेशेनापि सिद्धम् ॥

न्यासः

ऊर्ध्वाद्विभाषा ॥ **ऊधसोऽनङ्** ॥ **अनङादेशोऽयं भवतीति** । कथं पुनर्विज्ञायते—आदेशोऽयं न प्रत्यय इति ? यद्येष प्रत्ययः स्यात् ङित्करणमनर्थकं स्यात् । आदेशे ह्यस्मिन्नन्त्यादेशार्थं ङित्त्वमर्थवद् भवति । तस्माद् ङित्त्वादेवायमादेशो भवतीति विज्ञायते । **कुण्डोध्नीति** । अनङि कृते 'अतो गुणे' पररूपत्वम्, 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष्, 'अल्लोपोऽनः' ।

स्त्रीग्रहणं कर्त्तव्यमिति । स्त्री गृह्यते येनाभिधेयनित्यत्वेन ततः स्त्रीग्रहणं कर्त्तव्यम् । एतदुक्तं भवति—तथा व्याख्यानं कर्त्तव्यं यथा स्त्रियामभिधेयायामनङ् भवतीति । तत्रेदं व्याख्यानम्—'ऊर्ध्वाद् विभाषा' इत्यतो विभाषाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेन स्त्रियामेव भवति, नान्यत्रेति ।

अनङोऽकारादित्वमुत्तरार्थम् । इह विनापि तेन सिध्यत्येव ॥

धनुषश्च ॥ **शार्ङ्गधन्वेति** । अनङि कृते यणादेशः, 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः ।

वा संज्ञायाम् ॥ **जायाया निङ्** ॥ **निङादेशो भवतीति** । आदेशत्वमस्य पूर्ववद्

नित्यः प्राप्तो विकल्प्यते । शतधनुः, शतधन्वा । दृढधनुः, दृढधन्वा ॥

जायाया निङ् ॥ १३४ ॥

जायाशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्निङादेशो भवति । युवतिर्जाया यस्य युवजानिः । वृद्धजानिः ॥

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ १३५ ॥

उत्, पूति, सु, सुरभि—इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य इकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे । तकार उच्चारणार्थः । उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः ।

एतेभ्य इति किम् ? तीव्रगन्धो वातः ।

❀ गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम् ❀ । तेन शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणिकः ॥

पदमञ्जरी

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ *इकारादेशो भवतीति* । षष्ठीनिर्देशादादेशत्वावसायः । प्रकरणभेदाय चादेशत्वं व्यवस्थाप्यते, न त्वस्मिन्प्रत्ययेऽपि कश्चिद्दोषः ।

गन्धशब्दोऽयमस्ति द्रव्यवचनः—वहति जलमियम्, पिनष्टि गन्धानियमिति, अस्ति च गुणवचनः—चन्दनस्य गन्ध इति, तत्र गुणवाचिनो ग्रहणार्थमाह—*गन्धस्येत्त्व इति* । रूपादिसमुदायः=द्रव्यम्, तस्य गन्धलक्षणो गुण एकान्त एकदेशो भवति, रूपादिव्यतिरिक्तमवयवि द्रव्यमिति तु पक्षे एकान्त इवैकान्तः; तत्स्थस्योपलम्भात् ।

सुगन्ध आपणिक इति । आपणे नियुक्त आपणिकः; प्राग्वहतीयष्ठक् । भवार्थे

न्यासः

ङित्त्वादेव विज्ञायते । युवजानिरिति । 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवद्भावः ।

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ **इकार आदेशो भवतीति** । कथं पुनर्ज्ञायते—आदेशोऽयं न प्रत्यय इति ? 'गन्धस्य' इति षष्ठ्या निर्देशात् । यदि हि प्रत्ययः स्यात्, असन्दिग्धार्थम् 'गन्धात्' इति पञ्चम्या निर्देशं कुर्यात्, षष्ठ्या तु निर्देशः । तस्मादादेशोऽयमिति विज्ञायते ।

गन्धस्येत्त्व इत्यादि । गन्धो द्विविधः । गुणो गन्धः, सोऽन्यपदार्थस्यैकान्तो न भवति । यस्तु शोभनो गन्धोऽस्येति सुगन्ध आपणिक इति तत्र द्रव्यगन्धो गन्ध-

अल्पाख्यायाम् ॥ १३६ ॥

अल्पाख्यायां यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे । सूपोऽल्पोऽस्मिन् सूपगन्धि भोजनम् । अल्पमस्मिन् भोजने घृतम् घृतगन्धि । क्षीरगन्धि । अल्पपर्यायो गन्धशब्दः ॥

उपमानाच्च ॥ १३७ ॥

उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे । पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । उत्पलगन्धिः । करीषगन्धिः ॥

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ॥ १३८ ॥

पदमञ्जरी

वा अध्यात्मादित्वाट्ठक् । अथ वायौ कथं सुगन्धिः, दुर्गन्धिरिति, न ह्ययं गन्धो वायोर्गुणः ? मा भूत्तस्य गुणः, तेन तावदविभागापन्नो लक्ष्यते, एतावदेव च तदेकान्तत्वं विवक्षितम्, न तद्गुणत्वम् । एवं च कृत्वा कुङ्कुमाद्यनुलेपनमपि यदा देवदत्तादेरविभागपन्नं भवति तदेत्त्वं भवत्येव—सुगन्धिर्देवदत्त इति, सर्वथा द्रव्यवचननिवृत्तिः ॥

अल्पाख्यायाम् ॥ *सूपोऽल्पोऽस्मिन्सूपगन्धीति* । अर्थप्रदर्शनमेतत्, विग्रहस्तु सूपस्य गन्धो लेशोऽस्मिन्निति; अन्यथा विशेषणत्वाद् गन्धशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । यद्वा—अस्मादेव निपातनाद् गन्धशब्दस्य परनिपातः ॥

न्यासः

शब्देनोच्यते, तच्चापणिकस्यैकदेशो भवति । तत्र गुणगन्धे यथा स्याद्, द्रव्यगन्धे मा भूदित्येवमर्थं गन्धस्येत्त्वे विधेये तदेकान्तग्रहणं कर्त्तव्यम् । तदित्यनेन बहुव्रीह्यर्थः सामर्थ्यान्निर्दिश्यते । तस्यैकान्त एकदेशो वा धर्मोऽवयवस्तदेकान्तः संगृह्यते । येन तदेकान्तग्रहणं कर्त्तव्यम् । एतदुक्तं भवति—तादृशं व्याख्यानं कर्त्तव्यं येनेत्त्वविधाविह गन्धोऽन्यपदार्थस्यैकदेशात् तत आश्रयितव्य इति । तत्रेदं व्याख्यानम्—'वा संज्ञायाम्' इत्यतो वाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन यत्र गन्धोऽन्यपदार्थस्यैकदेशभूतस्तत्रैवेत्त्वं भवति, नान्यत्रेति । अथ वा—अस्त्ययं गन्धशब्दो द्रव्यवचनः—गन्धान् विक्रीणीत इति । अस्ति गुणवचनो यथा—गन्धवती पृथिवी । तत्र गुणवचनस्येदं ग्रहणम्, न द्रव्यवचनस्य । तस्माद् द्रव्यवचनो बहुवचनान्त एव द्रव्ये वर्त्तते—गन्धान् विक्रीणीते, गन्धाः पण्यमस्येति । इह गन्धस्येत्येकवचनेनैव निर्देशः । तस्मादवसीयते—गुणवचनस्येदं ग्रहणमिति । गुणवचनस्य तु ग्रहणे तत्र गुणो गन्धोऽन्यपदार्थस्यैकदेशो भवति, तेन तदेकान्तभूतस्यैव गन्धस्येत्त्वं भवति ॥

अल्पाख्यायाम् ॥ उपमानाच्च ॥ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ॥ लोपो भवति

'उपमानात्' इत्येव। उपमानाद्धस्त्यादिवर्जितात्परस्य पादशब्दस्य लोपो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। स्थानिद्वारेण लोपस्य समासान्तता विज्ञायते। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्। सिंहपात्।

अहस्त्यादिभ्य इति किम्? हस्तिपादः। कटोलपादः।

हस्तिन्। कटोल। गण्डोल। गण्डोलक। महिला। दासी। गणिका। कुसूल। हस्त्यादिः॥

कुम्भपदीषु च ॥ १३९ ॥

कुम्भपदीप्रभृतयः कृतपादलोपाः समुदाया एव पठ्यन्ते, तत्रैवं सूत्रं ज्ञेयम्। पादस्य लोपो भवति कुम्भपद्यादिविषये यथा, कुम्भ-

पदमञ्जरी

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः॥ लोपो भवति समासान्त इति। यदि त्वयं समासान्तो न स्याद्, 'आदेः परस्य' इत्यादेः स्यात्, 'शेषाद्विभाषा' इति कप् च प्रसज्येत; समासान्तापेक्षस्य शेषस्याश्रयणात्। कथं पुनरभावरूपोऽन्तावयवो भवति? तत्राह—*स्थानिद्वारेणेति॥*

कुम्भपदीषु च॥ बहुवचननिर्देशात्प्रभृत्यर्थोऽवगम्यत इत्याह—*कुम्भपदीप्रभृतय इति। समुदाया एव निपात्यन्त इति।* कथं तर्हि सूत्रे भूतविभक्त्या सप्तम्या निर्देशः? इत्यत आह—*तत्रेति।* विषयग्रहणेन सूत्रे विषयसप्तमीति दर्शयति—*यथा कुम्भपद्यादयः सिद्ध्यन्तीति।* यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्पूर्वत्र तथा लोपो भवतीत्यर्थो ग्राह्यः। किमर्थं पुनः समुदाया एव निपात्यन्ते, न कुम्भादीनेव गणे पठित्वा तेभ्यः परस्य पादशब्दस्य लोपो विधीयेत? तत्राह—*समुदायपाठस्य*

न्यासः

समासान्त इति। किं पुनः स्यात् समासान्तो न स्यात्? 'आदेः परस्य' इत्यादेरेव स्यात्। समासान्तत्वे सत्यन्तशब्दोऽयं नियतदेशमेवावयवमाचष्ट इत्यन्तस्यैव भवति। एवञ्च समासान्तो भवति यद्यन्तस्य भवति, नान्यथा। ननु च लोपस्याभावरूपत्वात् समासान्तो नोपपद्यते? इत्याह—**स्थानिद्वारेणेत्यादि।** स्थानिनोऽकारस्य समासान्तत्वादुपचारेण लोपोऽपि समासान्त उच्यत इति दर्शयति॥

कुम्भपदीषु च॥ कुम्भपदीप्रभृतयः कृतपादलोपाः समुदाया एव पठ्यन्त इति। यद्येवम्, कथमिदं नेतव्यम्? इत्याह—**तत्रैवमित्यादि।** तत्र तेषु कुम्भपदीप्रभृतिषु कृतपादलोपेषु पठितेष्वेवं व्याख्येयमित्यर्थः। **कुम्भपद्यादिविषय इति** विषयग्रहणेन कुम्भपदीष्विति विषयसप्तम्येवेति दर्शयति। **यथा कुम्भपद्यादयः सिध्यन्तीति।** यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तथेत्यनुच्यमानमपि प्रतीयते। तदायमर्थः—पादस्य तथा लोपो भवति कुम्भपद्यादिविषये यथा कुम्भपद्यादयः सम्भवन्तीति। किमर्थं पुनः समुदाया

पद्यादयः सिद्धयन्ति। समुदायपाठस्य च प्रयोजनं विषयनियमः—स्त्रियामेव, तत्र ङीष्प्रत्यये एव, नान्यदा। कुम्भपदी। शतपदी।

यच्चेहोपमानपूर्वम्, संख्यापूर्वं च पठ्यते, तस्य सिद्धे लोपे नित्यङीबर्थं वचनम्। 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पो न भवति।

कुम्भपदी। शतपदी। अष्टापदी। जालपदी। एकपदी। मालापदी। मुनिपदी। गोधापदी। गोपदी। कलशीपदी। घृतपदी। दासीपदी। निष्पदी। आर्द्रपदी। कुणपदी। कृष्णपदी। द्रोणपदी। द्रुपदी। शकृत्पदी। सूपपदी। पञ्चपदी। अर्वपदी। स्तनपदी[1]। कुम्भपद्यादिः॥

संख्यासुपूर्वस्य॥ १४०॥

संख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपो भवति समासान्तः। द्वौ पादावस्य द्विपात्। त्रिपात्। शोभनौ पादावस्य सुपात्॥

पदमञ्जरी

चेति। विषयनियममेव दर्शयति—*स्त्रियामेवेति*। अत्र च स्त्रियामपि ङीप्रत्यय एव। 'पादोऽन्तरस्याम्' इति यदा ङीब्विषयभूतस्तदैवेत्यर्थः।

यच्चेत्यादि। उपमानपूर्वपदम्—कुम्भपदी, जालपदीत्यादि; संख्यापूर्वपदम्—एकपदी, शतपदीति। *अष्टापदीति* पठ्यते, तत्र निपातनाद्दीर्घत्वम्, 'अष्टनः संज्ञायाम्' इति वाऽऽकारः॥

न्यासः

एव पठ्यन्ते, न कुम्भपदादीन् शब्दान् प्रातिपदिकेषु पठित्वा तेभ्यः परस्य पादशब्दस्य लोपो विधीयेत? इत्याह—**समुदायपाठस्य चेत्यादि**। यदि कुम्भादिभ्यः परस्य पादस्य स लोप उच्येत, 'कृतपादलोपाः समुदाया एव न पठ्येरन्' इति नियमो न लभ्येत। ततस्त्रिष्वपि लिङ्गेषु स्युः, स्त्रियामेव चेष्यन्ते। समुदायपाठे सति स्त्रियां ङीप्रत्यय एव विषयभूते भवति। नान्यदेति। कुम्भपदीति। 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि विषयभूते पादस्य लोपः, ततो ङीप्, तस्मिन् 'पादः पत्' इति पद्भावः।

यच्चेहोपमानपूर्वमिति—कुम्भपदी, जालपदीत्येवमादि। **संख्यापूर्वपदञ्चेति**—एकपदी शतपदीत्येवमादि। **तस्य सिद्ध इति**। उपमानपूर्वस्य पूर्वेणैव सिद्धे संख्यापूर्वस्य तूत्तरेण।

अष्टापदीत्यस्मिन् पठ्यते। तत्र निपातनं दीर्घत्वार्थम्। 'अष्टनः संज्ञायाम्' इति वा॥

संखासुपूर्वस्य॥ अनुपमानार्थमिदम्॥

---

१. स्थूलपदी, सूत्रपदी, कलहंसपदी, द्विपदी, विषपदी, सुपदी, सूकरपदी, सूचीपदी—अत्रैते शब्दाः पुस्तकान्तरेऽधिकाः॥

वयसि दन्तस्य दतृ ॥ १४१ ॥

संख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेर्यो दन्तशब्दस्तस्य 'दतृ' इत्ययमादेशो भवति समासान्तो वयसि गम्यमाने । ऋकार उगित्कार्यार्थः । द्वौ दन्तावस्य द्विदन् । त्रिदन् । चतुर्दन् । शोभना दन्ता अस्य समस्ता जाताः सुदन् कुमारः ।

वयसीति किम् ? द्विदन्तः कुञ्जरः । सुदन्तो दक्षिणात्यः ॥

छन्दसि च ॥ १४२ ॥

छन्दसि च दन्तशब्दस्य 'दतृ' इत्ययमादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे । पत्रदतमालभेत । उभयदत आलभते ॥

स्त्रियां संज्ञायाम् ॥ १४३ ॥

स्त्रियामन्यपदार्थे संज्ञायां विषये दन्तशब्दस्य 'दतृ' इत्ययमादेशो भवति । अयोदती । फालदती ।

संज्ञायामिति किम् ? समदन्ती । स्निग्धदन्ती ॥

विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥ १४४ ॥

श्याव, अरोक—इत्येताभ्यां परस्य दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो

पदमञ्जरी

वयसि दन्तस्य दतृ ॥ *द्विदन्निति* । ऋकारस्योगित्कार्यार्थत्वाद् 'उगिदचाम्' इति नुम् ॥

स्त्रियां संज्ञायाम् ॥ अच्छन्दोऽर्थमिदम् । *अयोदतीति* । अय इव दन्ता अस्या अयोदती, उगित्त्वान्ङीप् । *समदन्तीति* । 'नासिकोदरोष्ठ' इत्यादिना ङीष् ॥

विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥ *अरोको निर्दीप्तिरिति* । 'रुच दीप्तौ', रोचनम्=रोकः, स न विद्यते यस्येति कृत्वा ॥

न्यासः

वयसि दन्तस्य दतृ ॥ द्विदन्निति । ऋकारस्योगित्कार्यार्थत्वाद् 'उगिदचाम्' इति नुम्, हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ । सुदन्तो दाक्षिणात्य इति । शोभनत्वमिह गम्यते, न वयः ॥

छन्दसि च ॥ अवयोऽर्थम्, असंख्यापूर्वपदार्थञ्च वचनम् । उभयतोदत इति शसन्तमेतत् ॥

स्त्रियां संज्ञायाम् ॥ अच्छन्दोऽर्थमेतत् । अय इव दन्ता अस्या अयोदती । 'उगितश्च' इति ङीप् ।

समदन्तीति । 'नासिकोदर' इत्यादिना ङीष् ॥

विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥ 'स्त्रियाम्' इति निवृत्तम् । रोकः=रोचनम्, दीप्तिः ।

भवति विभाषा समासान्तो बहुव्रीहौ। श्यावदन्, श्यावदन्तः। अरोकदन्, अरोकदन्तः। अरोकः=निर्दीप्तिः।

संज्ञायामित्येव—श्यावदन्तः। अरोकदन्तः॥

अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥ १४५ ॥

'विभाषा' इत्येव। अग्रान्ताच्छब्दात्, शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह–इत्येतेभ्यश्च परस्य दन्तशब्दस्य विभाषा 'दतृ' इत्ययमादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः। शुद्धदन्, शुद्धदन्तः। शुभ्रदन्, शुभ्रदन्तः। वृषदन्, वृषदन्तः। वराहदन्, वराहदन्तः।

अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। अहिदन्, अहिदन्तः। मूषिकदन्, मूषिकदन्तः। गर्दभदन्, गर्दभदन्तः। शिखरदन्, शिखरदन्तः॥

ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥ १४६ ॥

ककुदशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्लोपो भवति समासान्तोऽवस्थायां गम्यमानायाम्। कालादिकृता वस्तुधर्मा वयःप्रभृतयः=अवस्था इत्युच्यते। असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुत्। बाल इत्यर्थः। पूर्णककुत्। मध्यमवया इत्यर्थः। उन्नतककुत्। वृद्धवया इत्यर्थः। स्थूलककुत्। बलवानित्यर्थः। यष्टिककुत्। नातिस्थूलो नातिकृश इत्यर्थः।

अवस्थायामिति किम्? श्वेतककुदः॥

पदमञ्जरी

अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥ चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। *अहिदन्नित्यादि*। भाष्ये एतन्नाश्रितम्॥

ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥ *कालादिकृता इति*। आदिशब्देनाहारपरिणामादेर्ग्रहणम्॥

न्यासः

'रुच दीप्तौ', भावे घञ्, 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम्। अविद्यमानो रोकोऽस्येत्यरोकशब्दस्य व्युत्पत्तिं हृदि कृत्वा तस्यार्थं दर्शयितुमाह—अरोको निर्दीप्तिरिति॥

अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥ ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥ कालादिकृतेति। आदिशब्देनाहारादयो गृह्यन्ते॥

त्रिककुत्पर्वते ॥ १४७ ॥

त्रिककुदि बहुव्रीहौ ककुदशब्दस्य लोपः समासान्तो निपात्यते पर्वतेऽभिधेये । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत्पर्वतः । ककुदाकारं पर्वतस्य शृङ्गम्=ककुदमित्युच्यते । न च सर्वस्त्रिशिखरः पर्वतस्त्रिककुत् । किं तर्हि ? संज्ञैषा पर्वतविशेषस्य ।

पर्वत इति किम् ? त्रिककुदोऽन्यः ॥

उद्विभ्यां काकुदस्य ॥ १४८ ॥

उत्, वि—इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य लोपो भवति बहुव्रीहौ समासे । उद्गतं काकुदमस्य उत्काकुत् । विकाकुत् । तालु= काकुदमुच्यते ॥

पूर्णाद्विभाषा ॥ १४९ ॥

पदमञ्जरी

त्रिककुत् पर्वते ॥ पर्वतेऽन्यपदार्थे मुख्यस्य ककुदस्यासम्भवादाह—*ककुदाकारं शृङ्गमित्यादि* । *न चेत्यादि* । उच्यत इत्यस्यानुषङ्गः । *संज्ञैषेत्यादि* । एतच्च निपातनाल्लभ्यते । एवं च पर्वतग्रहणं विस्पष्टार्थम् ॥

न्यासः

त्रिककुत् पर्वते ॥ अनवस्थार्थमिदम् । पर्वतेऽन्यपदार्थे मुख्यं ककुदं न सम्भवति, उच्यते चेदम्—त्रिककुत् पर्वत इति । तत्र सामर्थ्यात्ककुदाकारे पर्वतशिखरे सादृश्यात् ककुदशब्दो वर्त्तते, तस्येदं ग्रहणं विज्ञायते । अत एवाह—ककुदाकारमित्यादि । यद्येवम्, इदं तर्हि यस्य कस्यचित् पर्वतस्य त्रीणि ककुदाकाराणि शृङ्गाणि तस्य सर्वस्य त्रिककुदभिधानं प्राप्नोति ? अत आह—न चेत्यादि । 'उच्यते' इति प्रकृतेन सम्बन्धः । संज्ञैषेत्यादि । एतेन यस्यैषा संज्ञा त्रिककुच्छब्देनोच्यत इति तद् दर्शयति । एतच्च निपातनात् 'स्त्रियां संज्ञायाम्' इत्यतः संज्ञाग्रहणानुवृत्तेर्लभ्यते । ननु चाभिधेयनियमोऽपि तत एव लभ्यत इति पर्वतग्रहणं न कर्त्तव्यम् ? नैतदस्ति; शैलीयमाचार्यस्य यत् प्रसिद्धेष्वपि नित्यतरेष्वभिधेयनिमित्तमाचष्टे, यथा—'पुष्यसिद्धयो नक्षत्रे' इति, किं पुनर्यत्र प्रसिद्धिर्नास्ति ! सा तु लौकिकी ॥

उद्विभ्यां काकुदस्य ॥ उत्काकुत्, विकाकुदिति । अन्त्यस्य लोपे कृते 'वावसाने' इति चर्त्वम् । ननु च 'आदेः परस्य' इत्यादिलोपेन भवितव्यम्, तत् कथमन्त्यस्य भवति ? अन्त्यवचनो ह्यवयववचनोऽपि, स नियतदेशावयवमाचष्ट इत्युक्तम् । तत्र यद्यादेः स्यात्, समासान्तता नोपपद्यते ॥

पूर्णात्परस्य काकुदशब्दस्य विभाषा लोपो भवति बहुव्रीहौ समासे । पूर्णं काकुदमस्य पुर्णकाकुत्, पुर्णकाकुदः ॥

सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥ १५० ॥

सुहृत्, दुहृत्–इति निपात्यते यथासंख्यं मित्रामित्रयोरभिधेययोः । सुशब्दात्परस्य हृदयशब्दस्य हृद्भावो निपात्यते बहुव्रीहौ, तथा दुःशब्दात्परस्य । शोभनं हृदयमस्य सुहृत् मित्रम् । दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम् ।

मित्रामित्रयोरिति किम् ? सुहृदयः कारुणिकः । दुर्हृदयश्चोरः ॥

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥ १५१ ॥

उरःप्रभृत्यन्ताद्बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति । व्यूढमुरोऽस्य व्युढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः । अवमुक्तोपानत्कः ।

पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीरिति विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते, न प्रातिपदिकानि । तत्रेदं प्रयोजनम्–एकवचनान्तानामेव ग्रहणमिह विज्ञायेत, द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूदिति । तत्र 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्प एव भवतीति । द्विपुमान्, द्विपुंस्कः । बहुपुमान्, बहुपुंस्कः ।

उरस् । सर्पिस् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । नौः । पयः ।

पदमञ्जरी

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥ *व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्क इति* । 'सोऽपदादौ', 'इणः षः', उपपूर्वान्नह्यतेः सम्पदादित्वात्कर्मणि क्विप्, उपनह्यते उपानत्, 'नहिवृति' इति दीर्घः, अवमुक्ते उपानहौ येन सोऽवमुक्तोपानत्कः । 'नहो धः', जश्त्वचर्त्वे ॥

विकल्प एव भवतीति । लक्ष्मीशब्दात् 'नद्यृतश्च' इति नित्यः कब् न

न्यासः

पूर्णाद्विभाषा ॥ सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥ उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥ 'शेषाद्विभाषा' इति कपि सिद्धे नित्यार्थं वचनम् । प्रियसर्पिष्क इति । 'इणः षः' इति विसर्जनीयस्य षकारः । अवमुक्ते उपानहौ येन स अवमुक्तोपानत्क इति । 'नहो धः' इति विहितस्य धकारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वम्—दकारः, तस्य 'खरि च' इति चर्त्वम्–तकारः ।

किं पुनरेतद्विभक्त्यन्तानां पाठे प्रयोजनम् ? इत्याह–तत्रेत्यादि । तत्रेत्यनेन विभक्त्यन्तानां पाठः प्रत्यवमृश्यते ।

लक्ष्मीः । दधि । मधु । शालिः । ❀ अर्थान्नञः ❀ । अनर्थकः । उरःप्रभृति ॥

इनः स्त्रियाम् ॥ १५२ ॥

इन्नन्ताद्बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये । बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला । बहुच्छत्त्रिका । बहुस्वामिका नगरी । बहुवाग्मिका सभा ।

स्त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी राजा । बहुदण्डिकः । 'शेषाद्विभाषा' इत्येतद्भवति ।

नद्यृतश्च ॥ १५३ ॥

नद्यन्ताद्बहुव्रीहेर्ऋकारान्ताच्च कप् प्रत्ययो भवति । बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन्देशे बहुकुमारिको देशः । बहुब्रह्मबन्धूकः । ऋतः खल्वपि—बहुकर्तृकः ।

तकारः मुखसुखोच्चारणार्थः ॥

शेषाद्विभाषा ॥ १५४ ॥

पदमञ्जरी

भवति; एकवचनान्तपाठस्य नियमार्थत्वात् । *अर्थान्नञ इति* । नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेर्नित्यं कब्भवति । नास्यार्थोऽस्ति *अनर्थकः* ॥

इनः *स्त्रियाम्* ॥ 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' ॥

नद्यृतश्च ॥ *नद्यन्ताद्बहुव्रीहेरिति* । अत्रान्तशब्द उत्तरपदे वर्त्तते, नद्युत्तरपदाद्बहुव्रीहेरित्यर्थः । यद्वा—बहुव्रीह्यर्थमुत्तरपदं बहुव्रीहिः, तस्मान्नद्यन्तादित्यर्थः । किं सिद्धं भवति ? बहुग्रामणीर्नगरी, बहुखलपूर्नगरीत्यत्र कब् निवर्त्तितो भवति ॥

न्यासः

अर्थान्नञ इति । नञ्परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेः कब्भवति । नास्त्यर्थोऽस्येति **अनर्थकः** ॥

इनः स्त्रियाम् ॥ इदमपि पूर्ववत् कपि सिद्धे नित्यार्थमेव । बहुदण्डिकेति । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः ॥

नद्यृतश्च ॥ **शेषाद् विभाषा** ॥ शेषः कबपेक्षो वा स्याद्—यस्माद् बहुव्रीहेः कब्न विहितः स शेष इति ? समासान्तापेक्षो वा—यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेष इति ? तत्र यदि कबपेक्षः शेषः स्याद्—अनृचः, व्याघ्रपात्, सुगन्धिरित्यत्रापि स्यात् । न ह्यतः केनचित् कब्विहित इति कबपेक्षे शेषे दोषं दृष्ट्वा समासान्तापेक्षया

यस्माद्बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेषः, तस्माद्विभाषा कप्प्रत्ययो भवति । बह्व्यः खट्वा अस्मिन् बहुखट्वकः, बहुमालकः, बहुवीणकः । बहुखट्वाकः, बहुमालाकः, बहुवीणाकः । बहुखट्वः, बहुमालः, बहुवीणः ।

कथमनृक्कं साम, बह्वृक्कं सूक्तमिति, यावता विहितोऽत्र सामान्येन समासान्तः 'ऋक्पूः' इति ? नैतदस्ति; विशेषे स इष्यते—'अनृचो माणवको ज्ञेयो बह्वृचश्चरणाख्याम्' इति ।

शेषादिति किम् ? प्रियपथः । प्रियधुरः ॥

पदमञ्जरी

शेषाद्विभाषा ॥ *यस्माद्बहुव्रीहेरिति* । कर्मणि ल्यब्लोपे एषा पञ्चमी, बहुव्रीहिमाश्रित्येत्यर्थः, तेन यत्राप्यादेशः समासान्तः—व्याघ्रपात्, सुगन्धिः, कुण्डोध्नीति; असावपि शेषो न भवति । प्रत्ययप्रायत्वाद्वा समासान्तस्य 'यस्मात्' इत्युक्तम् ।

इह शेषः कबपेक्षो वा स्याद्, अनन्तरो यो बहुव्रीह्यधिकारस्तदपेक्षो वा, समासान्तमात्रापेक्षो वा—इति त्रयः पक्षाः सम्भवन्ति । तत्राद्ये पक्षे—व्याघ्रपात्, सुगन्धिः, द्विदशाः, अनृचः, विधुर इत्यादौ नित्यकब्विषयवर्जं सर्वत्र प्रसज्येत । शेषग्रहणं चानर्थकम्, न हि नित्यकब्विषये विकल्पप्रसङ्गः; नित्यकविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि द्विदशा इत्यादौ स्यादेव प्रसङ्ग इति मन्यमानस्तृतीयं पक्षमाश्रयति—*समासान्तो न विहित इति* । बहुखट्वक इत्यादौ 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति ह्रस्वः, बहुखट्व इत्यादौ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ।

कथमित्यादि । यदि समासान्तापेक्षः शेष इति प्रश्नः । *विशेषे स इष्यत इति* । ततश्च विषयान्तरे सूक्ते सामनि च बहुव्रीहेः समासान्तापेक्षं शेषत्वमस्त्येवेति

न्यासः

शेष इति दर्शयन्नाह—यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न भवति स शेष इति । कथं ज्ञायते—समासान्तापेक्षः शेष इति ? शेषग्रहणात् । तत्र यदि कबपेक्षः शेषः स्यात्, शेषग्रहणमनर्थकं स्यात् । आरम्भसामर्थ्यादेव हि शेषविषय एव विकल्पो भविष्यति; अन्यथा यदि यतोऽपि पूर्वैर्विधिवाक्यैः कब्विहितस्ततोऽप्यनेन विभाषा विधीयते, विधिवाक्यानामानर्थक्यमापद्येत । तस्माच्छेषग्रहणात् समासान्तापेक्षः शेषो विज्ञायते । बहुखट्वक इति । 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति ह्रस्वः । बहुखट्व इत्यत्रापि 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ।

कथमित्यादि । यदि समासान्तापेक्षः; शेषः अनृक्कं साम, बह्वृक्कं सूक्तमित्यत्र कन्न सिध्यतीत्यभिप्रायः । विशेषे स इष्यत इति । स ह्यकारः समासान्तो विशेषे

न संज्ञायाम् ॥ १५५ ॥

संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे कप् प्रत्ययो न भवति । पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिद्धयते । विश्वे देवा अस्य विश्वदेवः । विश्वयशाः ॥

ईयसश्च ॥ १५६ ॥

ईयसन्ताद्बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति । सर्वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते । बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान् । 'शेषाद्विभाषा' इत्यस्य प्रतिषेधः । ह्रस्वत्वमपि न भवति; 'ईयसो बहुव्रीहौ पुंवत्' इति वचनात् ।

पदमञ्जरी

भावः । किमर्थं पुनः शेषग्रहणम्, यावता यत्र समासान्ता विहितास्तत्र त एव बाधका भविष्यन्ति, अनवकाशा विधयो बाधका भवन्ति, सावकाशाश्च ते, कोऽवकाशः ? विभाषा कप्, यदा न कप् सोऽवकाशः—कपोऽप्यन्याः प्रकृतयः; विशेषप्रकृतिभ्य उभयप्रसङ्गे परत्वात्कप् स्यात् । तस्माच्छेषग्रहणम् ॥

ईयसश्च ॥ *सर्वा प्राप्तिः प्रतिषिद्धयत इति* । न तु 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति शेषलक्षणस्यैव कपः प्रतिषेध इति सर्वशब्दस्यार्थः । एतच्च शेषादित्येतस्य निवृत्तत्वात्कब्मात्रस्यानुवृत्तेर्लभ्यते । *बहुश्रेयसीति* । लिङ्गविशिष्टग्रहणादत्र प्रतिषेधः । यथात्र सोर्हल्ङ्याब्भ्यादिलोपः, तथा तत्रैव वक्ष्यामः । *ह्रस्वत्वमपि न भवतीति* । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति प्राप्तम् । कस्मात् ? इत्याह—*ईयसो बहु-*

न्यासः

माणवे चरणाख्यायां चेष्यत इति तत्राकारो विहितः । न चापि तत्रैव विशेषे कब् विहितः, किं तर्हि ? विषयान्तरे—सामनि, सूक्ते च । तत्र बहुव्रीहेः समासान्तापेक्षः शेषः । तेन च प्रियपथः, प्रियधुर इति 'ऋक्पूरब्धूः' इत्यादिनाऽकारः समासान्तः । अथ किमर्थं शेषग्रहणम्, यावता याभ्यः प्रकृतिभ्यः समासान्ता विहिताः, ताभ्यस्त एव बाधका भविष्यन्ति ? नैतदस्ति; निरवकाशा हि विधयो बाधका भविष्यन्ति, सावकाशाश्च समासान्ताः । कोऽवकाशः ? प्रतिपदोपात्तप्रकृतयः, याभ्यः समासान्ता अर्थविशेषे समासविशेषं प्रति प्रतिपदमुपादाय विहिताः सोऽवकाशः; विशेषप्रकृतिभ्यः प्रसङ्गे सत्युभयप्राप्तौ परत्वात् कप्रत्ययः स्यात् । तस्माच्छेषग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

न संज्ञायाम् ॥ **ईयसश्च** ॥ **सर्वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यत इति** । ननु 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति शेषलक्षणस्यैव कपः प्रतिषेधः प्राप्नोति ? नैष दोषः; कबत्रानुवर्तते, न शेषादिति । तेनायं कब्मात्रस्य प्रतिषेधो भविष्यति । **बहवः श्रेयांस इति** । 'द्विवचनविभज्योपपदे' इत्यादिनेयसुन्, 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रः । **ह्रस्वत्व-**

वन्दिते भ्रातुः ॥ १५७ ॥

वन्दितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दो वर्तते तदन्ताद्बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति। वन्दितः=स्तुतः, पूजित इत्युच्यते। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता।

वन्दित इति किम्? मूर्खभ्रातृकः। दुष्टभ्रातृकः॥

ऋतश्छन्दसि ॥ १५८ ॥

ऋवर्णान्ताद् बहुव्रीहेश्छन्दसि विषये कप् प्रत्ययो न भवति। हता माताऽस्य हतमाता। हतपिता। हतस्वसा। सुहोता॥

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ॥ १५९ ॥

स्वाङ्गे यौ नाडी-तन्त्रीशब्दौ तदन्ताद्बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति। बह्व्यो नाड्योऽस्य बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्रीर्ग्रीवा। धमनीवचनस्तन्त्रीशब्दः।

पदमञ्जरी

व्रीहावित्यादि। पुंवद्वचनेनात्र न स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिर्विवक्षिता, किं तर्हि? ह्रस्वप्रकरणात्तदभावः। तथा च 'गोस्त्रियोः' इत्यत्र वृत्तौ-'ईयसो बहुव्रीहौ प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्येवोक्तम्॥

वन्दिते भ्रातुः॥ वन्दितः स्तुत इति। यद्यपि 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इत्यभिवादनेऽपि वदिः पठ्यते, तथापि व्याख्यानात्स्तुत्यर्थस्यैव ग्रहणमिति दर्शयति। तेन वन्दितभ्रातृक इत्यत्र कब्भवत्येव॥

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे॥ नाडीशब्दो जातिलक्षणङीषन्तः। तन्त्रीशब्दः 'अवितृ-

न्यासः

मपि न भवतीति। 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वं प्राप्नोति, तदपि न भवति। कस्मान्न भवति? इत्याह—ईयसो बहुव्रीहेरित्यादिना। नात्र पुंवद्वचनेन स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तिरभिप्रेता, किं तर्हि? ह्रस्वत्वप्रकरणात् तदभावः। एतदुक्तं भवति—यथा पुंवद्भावे सतीकारस्य ह्रस्वो न भवति, एवमीयसः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्यापि न भवति॥

वन्दिते भ्रातुः॥ 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तस्य कपोऽयं प्रतिषेधः। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इति यद्यपि वदिरभिवादने वर्त्तते, तथापीह स्तुतावेव वर्त्तमान आश्रीयते, अत एवाह—वन्दितः स्तुत इति।

ऋतश्छन्दसि॥ अयमपि पूर्ववत् प्राप्तस्य कपः प्रतिषेधः॥

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे॥ अयमपि 'नद्यृतश्च' इति प्राप्तस्य कपः प्रतिषेधः। स्वाङ्गमिह पारिभाषिकं गृह्यते। बहुनाडिरिति। पूर्ववदुपसर्जनह्रस्वत्वम्। बहुतन्त्रीरिति।

स्वाङ्गे इति किम् ? बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्त्रीका वीणा ॥

निष्प्रवाणिश्च ॥ १६० ॥

'निष्प्रवाणिः' इति नदीलक्षणस्य कपः प्रतिषेधो निपात्यते । प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी । प्रवयन्ति तयेति वा प्रवाणी । करण-साधनोऽयं ल्युट् । तन्तुवायशलाका भण्यते । निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः पटः । निष्प्रवाणिः कम्बलः=अपनीतशलाकः समाप्त-वानः प्रत्यग्रो नवक उच्यते ॥

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकावृत्तौ

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः

पदमञ्जरी

स्तृतन्त्रिभ्य ईः' इतीकारान्तः । *बहुनाडिरिति* । उपसर्जनह्रस्वम् । बहुतन्त्रीरित्यत्र तु 'कृत्स्त्रियाः प्रतिषेधः' इति वचनान्न भवति ॥

निष्प्रवाणिश्च ॥ *प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणीति* । वेञोऽधिकरणे ल्युट्, 'कृत्यचः' इति णत्वम् ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां पदमञ्जर्यां

पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थं पादः

न्यासः

अत्र ह्रस्वत्वं न भवति; 'कृतः स्त्रियाः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वचनात् । तथा चोक्तम् (१।२।४८)—'स्त्रीग्रहणं स्वरयिष्यति' इति ॥

निष्प्रवाणिश्च ॥

इति बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां

काशिकाविवरणपञ्जिकायां पञ्चमस्याध्यायस्य

चतुर्थः पादः

—:88888:—

❀ समाप्तोऽयं पञ्चमोऽध्यायः ❀

अथ षष्ठाध्याये प्रथमः पादः

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥ १ ॥

अधिकारोऽयम् । 'एकाचः' इति च, 'द्वे' इति च, 'प्रथमस्य' इति च त्रितयमधिकृतं वेदितव्यम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः प्राक्सम्प्र-

पदमञ्जरी

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥ इह यद्यपि स्वार्थत्वे सम्भवति पारार्थ्यमयुक्तम्, विधेयकार्यिणोर्द्वयोर्निर्देशात् सम्भवति च स्वार्थत्वम्, तथापि 'लिटि धातोः' इत्यादौ विधेयानिर्देशेन वैयर्थ्यप्रसङ्गान्नायम् 'अण्कुटिलिकायाः' इत्यादिवत्केवलो विधिः, नापि 'शेषे' इत्यादिवल्लक्षणं चाधिकारश्च । तथा हि सति सर्वेषामेव शब्दानां प्रथमस्यैकाचोऽनेन द्विर्वचने सिद्धे 'लिटि धातोः' इत्यादि व्यर्थं स्यात् । धातोर्लिट्येव, लिटि धातोरेव–इति नियमान्न वैयर्थ्यमिति चेत् ? न; विधिनियमसम्भवे विधेरेव ज्यायस्त्वात् । अस्य हि पारार्थ्येऽवश्यम्भाविनि सति यथा तेषां विधित्वं तथास्य वर्णनं युक्तमतः परार्थ एवायम् । तत्रापि न परिभाषा–द्विर्वचनं विधीयमानं प्रथमस्यैकाचो वेदितव्यमिति; एवं हि सति 'सर्वस्य द्वे' इत्यत्रैवास्य व्यापार इति तत्रैवैकाचः प्रथमस्येति वाच्यं स्यात् । 'लिटि धातोः' इत्यादिकं च विधेयानिर्देशाद्व्यर्थं स्यात् । अतः पारिशेष्यात्स्वरितत्वाच्चाधिकार एवायमिति निश्चित्याह—*एकाच इति चेति* । अधिकारोऽयमिति वक्तव्ये पृथक् स्वरितत्वप्रदर्शनार्थमेवमुक्तम् । *एतत्त्रितयमिति* । तस्य प्रयोजनम्—यत्र यदपेक्षितं तत्र तस्य सम्बन्धः, यथा—'अजादेर्द्वितीयस्य' इत्यत्र 'एकाचो द्वे' इति, 'उभे अभ्यस्तम्' इत्यत्र 'द्वे' इति, लिटि धातोरित्यादौ सर्वं सम्बध्यते । *इत उत्तरमित्यादि* ।

न्यासः

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥ इह केचित् स्वार्था एव विधयो भवन्ति, न परार्थाः, तद्यथा–'अण्कुटिलिकायाः' इति कुटिलिकाशब्दादण् विधीयमानः स्वार्थो भवति । केचित् पुनः स्वार्थाः, परार्थाश्च, तद्यथा—'पदरुजविशस्पृशो घञ्' इति पदादिभ्यो घञ् विधीयमानः स्वार्थो भवति, स्वरितलिङ्गासङ्गादुत्तरेषु योगेष्वनुवर्त्तमानः परार्थश्च । केचित् पुनः परार्था एवाधिकारा भवन्ति, न स्वार्थाः, यथा–'समर्थानां प्रथमाद्वा' इति; तत् किमयं स्वार्थ एव ? अथोभयार्थ एवाधिकारः ? उत परार्थ एवेति ? सन्देहापनयनाय परार्थतामेवास्य दर्शयितुमाह–**एकाच इति चेत्यादि** । एतद्ग्रहणकं वाक्यम्, अस्य च **इत उत्तरमित्यादि** विवरणम् । सिंहावलोकितन्यायेन पूर्वत्राप्यधिकाराणामनुवृत्तिर्भवति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमित उत्तरमित्युक्तम् । प्रागिति । अनेनाधिकाराणा-

सारणविधानात् तत्र 'एकाचः प्रथमस्य द्वे भवतः' इत्येवं तद्वेदितव्यम् ।

वक्ष्यति–'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति । तत्र धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे भवतः । जजागार । पपाच । इयाय । आर ।

'एकाचः' इति बहुव्रीहिनिर्देशः । एकोऽच् यस्य सोऽयमेकाच्—

पदमञ्जरी

अनन्तरोक्तस्यैव विवरणम् । *प्राक् सम्प्रसारणविधानादिति* । तत आरभ्य तु नास्य सम्बन्धः; विधेयान्तरनिर्देशात्स्वरिते कृते नाधिकार इति वा व्याख्यानात् ।

सामान्येनोक्तमुदाहरणनिष्ठं दर्शयति—*वक्ष्यतीति* । अत्र यदि 'धातोरेकाचः' इति सामानाधिकरण्येन सम्बन्धः स्यात्, पचिप्रभृतीनामेव स्यात्, न जागर्त्यादीनाम् । प्रथमग्रहणं चानर्थकं स्यात्, न ह्येकाचां धातूनां द्वितीयादिरेकाजस्ति । न च प्रथमस्य धातोरिति सम्बन्धः । तथा हि सति धातुपाठे प्रथमपठितस्य भवतेरेव स्यात्, ततश्च भवतिग्रहणमेव कर्तव्यं स्यात् । अथैकाचो धातोः प्रथमस्य वर्णस्येति सम्बन्धः ? तद्युक्तम्; सहनिर्दिष्टयोः सामानाधिकरण्यस्य स्वतः प्राप्तस्य त्यागायोगात् । अतो वैयधिकरण्येन सम्बन्ध इत्याह—*धातोरवयवस्येति* । *द्वितीयस्य चेति* । यद्यप्यत्र द्वितीयग्रहणं नास्ति, तथापि 'लिटि धातोः' इत्यत्र त्वधिकृतमस्ति, तस्य चार्थः प्रदर्श्यते इति नासङ्गतं किञ्चित् । *जजागार*–इत्यादीनि मुख्यगौणतया क्रमेणोदाहरणानि ।

एकाच इति यद्ययं तत्पुरुषः स्यात्तदा 'धातोः' इत्यनेन सामानाधिकरण्यं

न्यासः

मवधिं दर्शयति । इतस्त्ववधेरुत्तरत्रानुवृत्तिरस्वरितत्वाद् विज्ञेया । कस्य पुनः 'एकाचो द्वे भवतः' इत्येवं तद् वेदितव्यम् ? इत्यत आह–वक्ष्यतीत्यादि । धातोरित्येकाच इत्यनेन समानाधिकरणा षष्ठी स्यात्, व्यधिकरणा वा; तत्र यद्येषा धातोरेव समानाधिकरणा षष्ठी स्यात्, तदा पचादीनामेव द्विर्वचनं स्यात्, न जागर्त्यादीनाम्, न हि तत्रैकाच इति मन्यमानो नैवैकाच इति समानाधिकरणा षष्ठी–धातोरेकाच इति, अपि त्ववयवयोगा–धातोर्योऽवयव एकाच इति दर्शयितुमाह—धातोरवयवस्येति । जजागारेत्यत्र जागित्येतद् द्विरुच्यते, पपाचेत्यत्र पच्छब्दः; पूर्वत्र 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः, उत्तरत्र 'अत उपधायाः' इति । इयायेति । 'इण् गतौ', 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ कृतायां 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावादिकारो द्विरुच्यते, आयादेशः, 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् । आरेति । 'ऋ गतौ', ऋ इत्येतस्य द्विर्वचनम्, 'उरत्' इत्यत्त्वम् रपरत्वम्, 'अत आदेः' इति दीर्घः, सवर्णदीर्घत्वञ्च ।

एकाच इति तत्पुरुषोऽयं वा स्याद्–एकश्चासावच्चेति एकाच्, बहुव्रीहिर्वा—

इत्यवयवेन विग्रहः। तत्र समुदायः समासार्थः। अभ्यन्तरश्च समु-

पदमञ्जरी

चेत्? इयाय आरेत्यादावेव स्याद्, वैयधिकरण्ये तु पपाचेत्यादिषु भवदपि द्विर्वचनमज्मात्रस्यैव स्यात्, ततश्च 'हलादिः शेषः', 'शर्पूर्वाः खयः', 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्याद्यनुपपन्नं स्यात्। एकग्रहणं चानर्थकम्, प्रथमस्याच इति विशेषणादेकस्य च धातोरनेकप्रथमाजसम्भवादच इत्येकत्वं वा विवक्षिष्यते, किमेकग्रहणेन? तस्माद् बहुव्रीहिरयम्। तदाह—*एकाच इति बहुव्रीहिनिर्देश इति*। बहुव्रीहिणा विवक्षितस्यार्थस्य प्रतिपादनं बहुव्रीहेर्वा उच्चारणं बहुव्रीहिनिर्देशः। विग्रहप्रदर्शनं विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम्। यदि बहुव्रीहिनिर्देशस्ततो बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वाद्यथा 'चित्रगुरानीयताम्' इत्युक्ते यस्य ता गावः स एवानीयते न चित्रा गावः, तद्वदत्रोपलक्षितं तदुभयपार्श्ववर्त्ति व्यञ्जनद्वयमेव द्विरुच्येत, न तूपलक्षणभूतोऽजित्यत आह—*तत्रेति*। भवति वै बहुव्रीहावपि क्वचिद्वर्तिपदार्थस्यापि कार्ययोगः, तद्यथा—शुक्लवाससमानयेति मत्वर्थे बहुव्रीहिः, तत्र यथा दण्डी, विषाणीति संसर्गे मत्वर्थीय उत्पन्ने तस्य द्विष्ठत्वाद् गुणस्यापि कार्ययोगः; तद्वद् बहुव्रीहावपि यत्र संसर्गो वाच्यस्तत्राविरुद्धो गुणस्यापि कार्ययोगः। *अभ्यन्तरश्चेति*। अन्तर्भूत इत्यर्थः। *आभ्यन्तरमिति* पाठे

न्यासः

एकोऽज् यस्येति? तत्र यद्ययं तत्पुरुषः स्यात्, इणादीनामेव द्विरुक्तिः स्यात्—इयाय, आरेत्येवमादौ; पचादीनां तु पपाचेत्यादौ न स्यात्, तेषामज्झल्समुदायात्मकत्वादित्येतन्मनसि कृत्वाऽऽह—**एकाच इति बहुव्रीहिनिर्देशोऽयमिति**। बहुव्रीहिणा विवक्षितस्यार्थस्य निर्देशः=कथनम्। बहुव्रीहेर्निर्देशः=कथनम्, उच्चारणं वा बहुव्रीहिनिर्देशः। कुतः पुनरेतदवसितम्—बहुव्रीहेर्निर्देशोऽयमिति? 'हलादिः शेषः', 'शर्पूर्वाः खयः' इत्येवमादिलिङ्गात्। ननु च तत्पुरुषस्यापि लिङ्गमस्ति—'दीर्घ इणः किति' इतीणोऽभ्यासस्य दीर्घविधानम्? नैतदस्ति; बहुव्रीहावपि ह्यस्मिन् व्यपदेशिवद्भावादिणो द्विर्वचनेऽभ्यासस्य दीर्घविधानमुपपद्यत एव, न तु तत्पुरुषेऽस्मिन् हलादिशेषादिकार्यमुपपद्यते; पचादीनामज्झल्समुदायानां द्विर्वचनानुपपत्तेः। तस्माद् बहुव्रीहेरेव लिङ्गमस्ति, न तत्पुरुषस्येति बहुव्रीहिनिर्देश एवायम्। यद्येवम्; बहुव्रीहेरेवान्यपदार्थप्रधानत्वादुपलक्षणविनिर्मुक्तस्य शुद्धस्यैवान्यपदार्थस्य बहुव्रीहिणाभिधानादचावयवेन य उपलक्षितोऽन्यपदार्थस्तस्यैवानच्कस्य द्विर्वचनं प्राप्नोति, न तूपलक्षणभूतस्यापि। न ह्युपलक्षणं कार्योपयोगि भवति। तथा हि—यथा चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य चित्रा गावः सन्ति स एवानीयते, न तूपलक्षणभूता गावोऽपि। अत एव तस्य निरासाय तद्गुणसंविज्ञानोऽयं बहुव्रीहिरिति दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। **समुदायः समासार्थ इति**। सह तेनोपलक्षणभूतेनाचावयवेन समुदाय एवान्यपदार्थ इत्यर्थः। **अभ्यन्त-**

दायेऽवयवो भवतीति साच्कस्यैव द्विर्वचनं भवति। एवं च—पच् इत्यत्र येनैवाचा समुदाय एकाच्, तेनैव तदवयवोऽच्छब्दः पशब्दश्च। तत्र पृथगवयवैकाचो न द्विरुच्यन्ते, किं तर्हि ? समुदायैकाजेव।

तथा हि—सकृच्छास्त्रप्रवृत्त्या सावयवः समुदायोऽनुगृह्यते।

पदमञ्जरी

अभ्यन्तरम्=मध्यम्, तत्र भवमाभ्यन्तरम्। *साच्कस्यैव द्विर्वचनं भवतीति*। यथा तत्सन्निहितमवयवान्तरं द्विरुच्यते, तथोपलक्षणीभूतोऽप्यजित्यर्थः। अत्र च ज्ञापकम् 'दीर्घोऽकितः' इत्यादि। चोदयति–*एवं च पचित्यत्रेति*। *तेनैव तदवयवोच्छब्दः पशब्दश्चेति*। चकारादकारश्च व्यपदेशिवद्भावादेकाजेव, यथैवाङ्गुल्या देवदत्तोऽङ्गुलिमांस्तथा हस्तोऽपि, तद्वदत्रापि। ततश्च सर्वेषामेव तेषां द्विर्वचनप्रसङ्ग इति शेषः। नन्वर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति समुदायस्यैव भविष्यति, नावयवानाम्। नन्वेवं जागर्त्यादीनां न स्यात्, किञ्च यत्र 'शे' इत्यादौ विशिष्टं शब्दस्वरूपं गृह्यते तत्रैवेयं परिभाषा, अत्र तु 'धातोरवयवस्यैकाचः' इति तटस्थेनोपलक्षणेन जाग्, पच्–इत्येवमादिकं गृह्यते, न तु स्वरूपेणेति नेह तस्याः प्रवृत्तिः ? परिहरति—*तत्रेति*।

तेषु समुदायादिष्वेकाज्सु मध्येऽवयवैकाचः प्रथमा न द्विरुच्यन्ते, कुतः ? इत्याह—*तथा हीत्यादि*। अयमभिप्रायः—किमेकस्मिन्नेव प्रयोगे युगपच्च सर्वप्रयोगश्चोद्यते ? पर्यायेण वा ? किं वा प्रयोगभेदेन कस्यचित् क्वचनेति ? न

न्यासः

रश्चेति। तदन्तर्भूत इत्यर्थः। चशब्दोऽवधारणे। अभ्यन्तर एवेत्यर्थः। इतिकरणो हेतौ। यस्मात् समुदाये समासार्थेऽवयवोऽभ्यन्तरो भवति, तस्मात् साच्कस्यैव द्विर्वचनं भवति। लोकेऽपि क्वचिदुपलक्षणस्य समासेऽन्तर्भावात् कार्योपयोगित्वं दृष्टमेव, यथा शुक्लवाससमानयेत्युक्ते सहैव शुक्लेन वाससानीयते। पचित्यत्र येनैवाचा समुदाय एकाच् तेनैव तदवयवोऽप्यच्छब्दः पशब्दश्चेति, ततश्चावयवानामपि प्रत्येकं द्विर्वचनं प्राप्नोति। यथा येनैव हस्तेनावयवेन बाहुर्हस्तवान् भवति, तेनैव देवदत्तोऽपि हस्तवान् भवति; तथा पचतौ धातौ येनैवाकारेण पच्छब्दः समुदाय एकाच् तेनैव तदवयवोऽप्यच्छब्दः पशब्दश्चेति। ततश्चावयवानामपि प्रत्येकं द्विर्वचनं प्राप्नोत्येव। द्विर्वचनञ्च कार्यिण एकाचः; सामान्येन निर्देशात्। एवञ्च समुदायस्य तदवयवानाञ्चैकाचां पृथग्द्विर्वचने कृतेऽनिष्टं रूपं स्यात्। अत एतद् द्वेष्यमपाकर्तुमाह—तत्रेत्यादि। तेषु समुदायेष्वेकाक्षु मध्ये पृथगवयवैकाचो न द्विरुच्यन्ते। किं तर्हि ? समुदायैकाजेव। अवयवैकाजिति कर्मधारयः। समुदायैकाजिति। अयमपि कर्मधारय एव।

कुतः पुनरयं सामान्याभिधाने विशेषो लभ्यते ? इत्यत आह—तथा हीत्यादि।

पदमञ्जरी

तावदाद्य कल्पः, प्रमित्यनुष्ठानयोर्द्वयोरप्यसम्भवात् । तथा हि—एकाच्त्वेन निरूपितं द्विर्वचनं प्रमातव्यम्, न चैकोऽवयवो युगपदनेकावयवत्वेन शक्यो निरूपयितुम्, तत्कथं युगपत्प्रमीयताम्, प्रमितं वा कथमनुष्ठीयताम् ! न ह्येकस्मिन्नेकाचि द्विरुच्यमाने तदैवान्य एकाच्छक्यो द्विर्वक्तुम्; वाचः क्रमभावित्वात् । नापि द्वितीयः; 'अनभ्यासस्य' इति प्रतिषेधादनवस्थापाताच्च । तस्मात्प्रयोगभेदेन सर्वप्रसङ्ग इत्येष एव पक्षः सम्भवति । तत्र 'णिजिर् शौचपोषणयोः' इत्यस्य श्लौ यदा निशब्दस्य द्विर्वचनम्, तदा नेनेक्ति, नेनिक्त इत्यत्र न कश्चिद्दोषः । नेनिजति, अनेनिजुः, नेनिजदित्यत्र 'अदभ्यस्तात्', 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च', 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इत्यद्भावजुसभावनुम्प्रतिषेधा न स्युः; जकारेण व्यवधानात्, इकारस्येच्छब्दस्य च द्विर्वचने रूपमेव न सिध्यतीत्येष एव दोषः ? तस्य परिहारः–'शास्त्रहानिप्रसङ्गात्' इति । अवयवे हि द्विरुच्यमानेऽवयवान्तरविषयसमुदायविषयं च शास्त्रं हीयते । ननु शास्त्रेण प्रमितमेव यदि नानुष्ठीयेत, स्याच्छास्त्रहानिः, अत्र तु पर्यायेण प्रतीयत इत्युक्तम्, तच्चानुष्ठितमेव कथं शास्त्रहानिः ? अङ्ग तु भवानाचष्टाम्–पशब्दे द्विरुच्यमाने चकारः किमिति न द्विरुच्यते, तदा तद्द्विर्वचनस्याप्रतीतत्वादिति चेत्किमिति न प्रतीयते, तेन सहैकाच्त्वेनानिरूपितत्वादितिचेत्किमिति न निरूप्यते ? मौनमत्रोत्तरम्, तस्माद्यस्मिन् प्रयोगे यच्च यावच्च प्रथमैकाच्त्वेन शक्यते निरूपयितुम्, तस्य सर्वस्य द्विर्वचनं प्रमातव्यमनुष्ठातव्यं च; अन्यथा तु क्रियमाणं प्रतीत्यनुष्ठानयोरुभयोरपि शास्त्रहानिमावहति । तस्मात्समुदायस्य द्विर्वचनमिति । न चात्रापि पक्षेऽवयवविषये शास्त्रहानिः; अवयवात्मकत्वात्समुदायस्य, न खल्ववयवानां द्विर्वचनमकृत्वा समुदायः शक्यो द्विर्वक्तुम्, तद्यथा–वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति ।

न्यासः

यद्यपि समुदायोऽवयवश्चैकाच्, तथापि यस्य द्विर्वचने कृते सर्वेषामनुग्रहो भवति तस्यैव द्विर्वचनं युक्तम् । एवं हि शास्त्रहानिर्न भवति; सर्वेषामेव शास्त्रविहितकार्यस्य निष्पत्तेः । अयमेवानुग्रहो या शास्त्रविहितकार्यस्य निष्पत्तिः । समुदायस्यैव द्विर्वचने कृते सर्वेषामनुग्रहो भवति । यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति, तथैकयैव शास्त्रप्रवृत्त्या समुदायो द्विरुच्यमानः सहावयवैर्द्विरुच्यते, न हि विनावयवैः समुदायो द्विर्वक्तुं शक्यते; तस्य तदात्मकत्वात् । अवयवानां तु द्विर्वचनं नैकया प्रवृत्त्या सर्वेषां कर्तुं शक्यते । न तद्द्विरुक्तौ सर्वेषामनुग्रहो भवति । कथम् ? सर्वेषां हि तेषामेकाज्व्यपदेशे एकोऽजिति साधारणो हेतुः; तत्र यदा येनाचैकोऽवयव एकाजिति व्यपदिश्यते, तदा तेनैव तस्याक्षिप्तत्वान्न शक्यतेऽपर एकाजिति व्यपदेष्टुम् । ततश्चैकस्य द्विर्वचने विधित्सिते तदेदानीं तेनाचा य एकाच् कश्चिदवयवस्तस्यैव द्विर्वचनं स्यात्, नेतरस्य; अनच्कत्वात् । अत्रैतत् स्यात्—"'एकाचः' इति सर्वेषां षष्ठ्या निर्दिष्टत्वात्

पपाचेत्यत्र प्रथमत्वं व्यपदेशिवद्भावात् । इयाय, आर—इत्यत्रैकाच्त्वमपि व्यपदेशिवद्भावादेव ।

पदमञ्जरी

अथ कथं पपाचेति द्विर्वचनम्, यावता धातुरेवायं न धात्ववयवः, नापि प्रथमः, द्वितीयादिषु हि सत्सु यस्मात्पूर्वो नास्ति स प्रथमः ? कथन्तरां चेयायेत्यादौ यत्रैकोऽजस्येति व्यतिरिक्तोऽन्यपदार्थो नास्ति ? तत्राह—*पपाचेत्यत्रेति* । *एकाच्त्वमपीति* । अपिशब्दात्प्रथमत्वमपि, उभयत्रापि धातुं प्रत्यवयवत्वम् । *व्यपदेशिवद्भावादिति* । मुख्य एकाज्व्यपदेशः, अवयवव्यपदेशश्च येषामस्ति ते व्यपदेशिनो जाग्रादिषु जागित्येवमादयः, तेषामिवैषामपि कार्यं भवतीत्यर्थः । न चेदं वचनम्, लौकिकोऽयं न्यायः, लोके हि 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इति बहिर्वस्तुभेदेऽसत्यपि भेदव्यवहारोऽवस्थाभेदाश्रयो दृश्यते । शिलापुत्रकः क्रीयमाणविक्रीयमाणत्वाद्यवस्थायुक्तो यो दृष्टस्तस्येदं शरीरमिति परिदृश्यमानावस्थाभेदेन व्यपदिश्यते । पपाचेत्यत्रापि पचेरनन्तप्रयोगविषयस्य सम्प्रति प्रयुज्यमानं लिट्परं रूपमवयव इति शक्यं व्यपदेष्टुम्, प्रथमशब्दोऽपि प्रथमगर्भेण हतेत्यादावसतोऽपि द्वितीयादीन् बुद्धया परिकल्प्य मुख्यप्रथमसाधर्म्याद्यथा लोके एकस्मिन्नपि प्रथम इति प्रयुज्यते, तद्वदत्रापि । इयायेत्यत्रापि इतः, यन्ति, आयन्, अगात्, जिगमिषतीत्यनन्तप्रयोगस्थैनैकोऽयमिकार इत्यन्यपदार्थोऽपि कल्पितः । प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिकृतश्च गौणमुख्यविवेकः । एवंविधस्तु व्यवहारो मुख्यादपि प्रसिद्ध इति न गौणत्वदोषः । एवं च कृत्वा—'व्यथो लिटि', 'भवतेरः', 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्', 'दीर्घ इणः किति' इत्यादिकमुपपद्यते ।

अत्र 'द्वे' इत्यस्य संख्येयापेक्षायां शब्दानुशासनप्रस्तावाच्छब्दरूपे संख्येये 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति वचनादेकाचः प्रथमस्येति स्थानषष्ठ्यां सत्यामेकस्य

न्यासः

सर्वेषामेव तेषां द्विर्वचनं कर्त्तव्यम्, न च तद् युगपत् सम्भवति, अत एकस्य तावत् क्रियते । एकस्मिन् कृते पुनः प्रवृत्त्यन्तरेणापरस्यापि करिष्यते" इति ? एतच्च न; यस्य ह्यवयवस्य पूर्वं द्विर्वचनं कृतं तेनैव सहाचो द्विरुक्तत्वान्न युज्यते पुनस्तस्यावयवान्तरेण द्विर्वचनं कर्तुम् । अकृतद्विरुक्तस्य हि द्विर्वचनं क्रियते, न द्विरुक्तस्य; अन्यथा ह्यनवस्था स्यात् । 'अनभ्यासस्य' इति वचनाच्चायुक्तमेवैकस्मिन्नवयवे द्विरुक्तेऽपरस्य द्विर्वचनं कर्तुम् । अतो नावयवद्विर्वचने सर्वेषामनुग्रहः सम्भवति । तत्र यस्य द्विर्वचनं न सम्भवति तस्य शास्त्रहानिः स्यात् । तदयुक्तमवयवानां प्रत्येकं द्विर्वचनम् ।

अथैषां युगपदवयवानां द्विर्वचनं न सम्भवतीति प्रयोगान्तरे पर्यायेण करिष्यते पूर्वोक्तदोषपरिहारार्थम् ? एवमपि यदा पचेरच्छब्दस्य द्विर्वचनं स्यात्, तदा पपाचेत्येवमादि न सिध्येत् । किञ्च 'णिजिर् शौचपोषणयोः' इत्यस्माल्लट्, झि, शप्, तस्य

पदमञ्जरी

स्थाने द्वे शब्दरूपे भवत इत्यर्थो भवति, यथा–'अस्तेर्भूः' इत्यादौ, तदा 'स्थाने द्विर्वचनम्' इत्ययं पक्षो भवति। यदा शब्दसम्बन्धिनी उच्चारणे संख्येये क्रियारूपस्य शब्दस्य च स्थान्यादेशसम्बन्धायोगादध्याहृतोच्चारणक्रियापेक्षयैकाच इति कर्मषष्ठी—एकाचो द्वे उच्चारणे भवतः, एकाचं द्विरुच्चारयेदित्यर्थः, तदा 'द्विःप्रयोगो द्विर्वचनम्' इत्ययं पक्षो भवति। तत्राद्ये पक्षे 'स्थानेऽन्तरतमः' इति वचनाच्छब्दतश्चान्तरतमयोर्द्वयोर्विधानाद् यद्यपि ये केचन प्राप्नुत इति दोषानवतारः। चिचीषतीत्यत्र तु 'सन्यङोः' इति षष्ठ्याः स्थापयिष्यमाणत्वाच्चिस् इत्यस्य स्थाने चिस्चिस् इति शब्दान्तर आदेशे सति तत्स्थस्य सकारस्य सन्त्वे प्रमाणाभावात् 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घत्वं न स्यात्; आदेशस्य स्थानिवद्भाव उच्यते नादेशावयवस्य स्थान्यवयववद्भाव इति स्थानिवद्भावेनापि सन्त्वं नास्ति। तस्य तु यत्र सन्मात्रस्य द्विर्वचने स्थानिवद्भावेन सन्त्वं सोऽवकाशः, यथा—इणः सन्, ईषिषतीति।

ननु शब्दान्तरप्राप्त्या द्विर्वचनमनित्यम्, अप्राप्त्या तु दीर्घत्वमित्युभयोः परत्वाद्दीर्घत्वे कृते द्विर्वक्ष्यते? इह तर्हि ह्वयतेः सनि ह्वास् इत्यस्य द्विर्वचनम्,

न्यासः

जुहोत्यादित्वात् श्लुः, 'श्लौ' इति द्विर्वचनम्। तत्र यदि निशब्दमात्रस्य द्विर्वचनं क्रियते तदा 'णिजां त्रयाणाम्' इति गुणः। अत्रेदानीम् 'अदभ्यस्तात्' इत्यदादेश इष्यते–नेनिजतीति रूपं यथा स्यादित्येवमर्थम्, स च न प्राप्नोति; जकारेण व्यवहितत्वात्। न हि जकारस्याभ्यस्तसंज्ञा, किं तर्हि? निशब्दस्य; द्विरुक्तत्वात्, जकारस्य चाद्विरुक्तत्वात्। अनेनिजुरिति—अत्र लङादेशस्य झेः 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति जुस् न प्राप्नोति; पूर्वस्मादेव हेतोः। नेनिजदित्यत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम्प्रतिषेधो न स्यात्; अत एव हेतोः। न च शक्यते वक्तुम्—वचनसामर्थ्याद् व्यवधानेऽपि भविष्यतीति; यदा समुदायस्य द्विर्वचनं तदा वचनस्य सावकाशत्वात्। यदा त्विकारसहितस्य जकारस्य द्विर्वचनं तदा नेनिजतीत्यादिकं रूपमेव न स्यात्। तस्मादयुक्तमवयवानां द्विर्वचनम्। अतः समुदाय एव द्विर्वक्तव्यः।

अथ पपाचेत्यत्र कथं द्विर्वचनम्, यावता 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्युच्यते, न चात्रैकाचः प्रथमव्यपदेशोऽस्ति, प्रथमशब्दो ह्यप्रथमापेक्षो भवति, सम्बन्धिशब्दत्वात्; सत्स्वनेकेषु यस्मात् पूर्वो नास्ति स प्रथमः, यः पुनरेक एव नासौ प्रथमव्यपदेशं लभते, एकश्चात्रैकाच्। तेनात्र द्विर्वचनं न स्यात्, जजागारेत्यादावेव स्यात्? इयाय, आरेत्यत्रापि कथं द्विर्वचनम्, यावतैकाचस्तदुच्यते, न चैकाच्त्वमस्ति, अज्व्यतिरिक्तस्यानच एकाज्व्यपदेशहेतोरभावात्? इत्यत आह–पपाचेत्यत्रेत्यादि। एकसंख्याव्यवच्छिन्नस्वरसम्बन्धहेतुको व्यपदेशः, स यस्यास्ति स व्यपदेशी। जागर्त्यादिषु धातुषु जागित्येव-

पदमञ्जरी

समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र आदेश एतन्नास्ति—इयं प्रकृतिरयं प्रत्यय इति, ततश्च 'ह्वोऽभ्यस्तस्य' इति संप्रसारणं न स्यात्, जुहाव जुहुवतुरित्यादावेव तु स्याद्—यत्र ह्वामात्रस्य द्विर्वचनात्स्थानिवत्त्वम्? नैष दोषः; 'ह्वोऽभ्यस्तस्य' इति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ, ह्वयतेरभ्यस्तस्य भविष्यतः प्रागेव संप्रसारणं परपूर्वत्वम्, 'हलः' इति 'अज्झनगमाम्' इति वा दीर्घत्वम्, 'ह्वास्' इत्यस्य द्विर्वचनम्। इह च पिपक्षति, उद्विवक्षतीत्यत्र 'पूर्वत्रासिद्धमद्विर्वचने' इति वचनात्परत्वात्कुत्वादिषु कृतेषु पश्चाद् द्विर्वचनमिति न कश्चिद्दोषः। इह तर्हि आटिटद्, आशिशद् इति णिलोपे कृतेऽपि 'द्विर्वचनेऽचि' इति रूपस्थानिवद्भावाच्छब्दान्तरप्राप्त्यभावेन नित्यत्वात्पूर्वं द्विर्वचने सति समुदायस्य समुदाय आदेशस्तत्र सम्प्रमुग्धत्वात्प्रकृतिप्रत्ययत्वं नष्टम्, स णिज्न भवतीति णिलोपो न स्यात्, तस्य तु कारणेत्यादिरवकाशः। इह च जिघांसतीति समुदायस्य समुदाय आदेशे कृते हन्तेरभावाद् 'अभ्यासाच्च' इति हन्तेरिति कुत्वं न स्यात्। तस्य तु जघनिथ, जघन्थ, अहं किल जघन, जघन्वानित्यादिरवकाशः, यत्र हन्तिमात्रस्य द्विर्वचनात्स्थानिव-

न्यासः

मादिः। 'तेन तुल्यं वर्त्तते' इति व्यपदेशिवत्, तस्य भावो व्यपदेशिवद्भावः। एकाच्त्वमपीत्यपिशब्दाद् द्वितीयत्वमपीति। ततोऽनेन जजागारेत्यत्र यथा वास्तव प्रथमत्वेजाग् इत्येतस्य प्रथमस्यैकाचो द्वर्वचनं भवति, तथा परमार्थतो सत्यपि प्रथमत्वे प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनं भवति व्यपदेशिवद्भावेन पपाचेत्यत्र पच्छब्दस्य। इयाय, आरेत्यत्राप्यसति वास्तव एकाच्त्वे द्वितीयत्वे च व्यपदेशिवद्भावेन द्विर्वचनं भवति; यथा—अटिटिषतीत्यत्र वस्तुत एवैकाचो द्वितीयस्य टिशब्दस्येति।

न चैतद् वक्तव्यम्—'यस्मादप्रथमस्यापि पच् इत्येवम्प्रकारस्य व्यपदेशिवद्भावेन द्विर्वचनं भवति' इति। अत्र 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति वचनं ज्ञापकम्, असत्यपि वास्तव एकाच्त्वे द्वितीयत्वे च पुनर्व्यपदेशिवद्भावेन चेणप्रभृतीनां द्विर्वचनं भवतीति। अत्राभ्यासस्य दीर्घविधानार्थम् 'दीर्घ इणः किति' इति वचनं ज्ञापकम्। इह 'आ दशभ्यः संख्याः संख्येये वर्त्तन्ते, न तु संख्यानमात्रे' इति द्विशब्दोऽत्र संख्येये वर्त्तते। तच्च संख्येयं शब्दरूपं वा स्याद्? उच्चारणं वा? तत्र यदि शब्दरूपं संख्येयं स्यात् तदा 'द्वे' इत्यनेन द्विशब्दरूपे भाव्यमानतया निर्दिश्येते इति। अत एकाच इत्यस्य च स्थाने योगलक्षणः सम्बन्धो भवति, अतः 'स्थाने द्विर्वचनम्' इत्येष पक्षो भवति। तदैकाच इति स्थानषष्ठी जायते।

अथ पुनरुच्चारणं संख्येयं तदा स्थान्यादेशसम्बन्धो न भवति। उच्चारणं नाम शब्दानुगतो धर्मः। यद्यसावादेशो विधीयते तदा निवृत्तिधर्मा स्थानी भवतीति शब्दस्य स्थानिनो निवृत्त्या भवितव्यम्, ततश्चोच्चारणमपि न स्यात्; तस्य तद्धर्मत्वात्। तस्मादुच्चारणे संख्येये स्थाने द्विर्वचनं न सम्भवतीति 'द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनम्'

द्विःप्रयोगश्च द्विर्वचनमिदम्। आवृत्तिसंख्या हि 'द्वे' इति

पदमञ्जरी

द्भावः। तदेवमाद्यपक्षस्य दुष्टत्वाद् द्वितीयं पक्षमाश्रित्याह–*द्विःप्रयोगो द्विर्वचनमिति*। चशब्दोऽवधारणे। कथं पुनः 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति परिभाषायां सत्यां द्विःप्रयोगपक्षः शक्य आश्रयितुम्? तत्राह–*आवृत्तिसंख्या हीति*। यद्यावृत्तेः संख्या

न्यासः

इत्येष पक्षो भवतीति। तदैकाच इति 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी, सा ह्यैकाजुच्चारणक्रियया व्याप्तुमिष्टतमत्वात् कर्म भवति। तत्र यदि 'स्थाने द्विर्वचनम्' इत्येष पक्ष आश्रीयेत, तदा जिघांसतीति हन्तेः कुत्वे न स्यात्। समुदायस्य हि सन्नन्तस्य समुदायः सन्नन्त आदेशः, तत्र कृत एतन्नास्ति। अयं प्रत्ययः इयं प्रकृतिरिति सन्दिग्धत्वात् प्रकृतिप्रत्ययस्य हन्तिर्नष्टो भवतीति 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वं हन्तिहकारस्य न स्यादितीमं स्थानेद्विर्वचनपक्षे दोषं दृष्ट्वा द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनमिति पक्षमाश्रित्याह–द्विष्प्रयोगश्चेत्यादि। चकारोऽवधारणे। द्विष्प्रयोग एवेत्यर्थः। न स्थाने द्विष्प्रयोग इत्यर्थः। अथ द्विष्प्रयोगद्विर्वचने कथमयं द्वोषो न भवति? इत्याह–आवृत्तिसंख्या हीत्यादि। पुनः पुनरुच्चारणम्=आवृत्तिः। तत् पुनः संख्याव्यवस्थितस्यैव धातोर्विधीयते। तेनेत्यादि। यस्मादावृत्तिः संख्याव्यवस्थितस्यैव धातोर्विधीयते, तेन स एव शब्दो व्यवस्थित एव द्विरुच्चार्यते, न तु तस्य स्थाने शब्दान्तरं विधीयत इति कुतः पुनः पूर्वोक्तदोषावसरप्रसङ्गः!

यदि तर्हि द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनमित्येष पक्ष आश्रीयते, एवञ्च सति 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इत्यत्रादिवान्, आशिवान्, पेचिवान्, शेकिवान्–इत्युदाहृत्य यद्वक्ष्यति—'धात्वभ्यासयोरेकादेशे कृत एत्वाभ्यासलोपयोः कृतयोः कृतद्विर्वचना एत एकाचो न भवन्ति' इति, तन्न युज्यते; अकृतेऽपि धात्वभ्यासयोरेकादेशेऽकृतयोरपि चैत्वाभ्यासलोपयोः कृतद्विर्वचनानामप्येषामेकाच्त्वात्। स्थाने द्विर्वचने हि शब्दान्तरमेवानेकाजादिश्यत इति स्यादेषां कृतद्विर्वचनानामनेकाच्त्वम्, न तु द्विष्प्रयोगपक्षे। तत्र हि स एव शब्दो द्विरुच्चार्य्यते। न चासौ शतकृत्वोऽप्युच्चार्यमाण एकाच्त्वं जहाति, किं पुनर्द्विरुच्यमानः।

यदपि नियमस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं बिभिद्वानित्यादि तत्रोपन्यसिष्यति, तदप्ययुक्तमेव; भिदिप्रभृतीनामेव यथोक्तादेव हेतोः कृतद्विर्वचनानामप्येकाच्त्वात्। यदप्यादग्रहणमनेकाजर्थमित्यभिधास्यति, तदप्ययुक्तमेव; ततएव हेतोराकारान्तानां कृतद्विर्वचनानामप्यनेकाच्त्वानुपपत्तेः। तस्मात् स्थाने द्विर्वचनपक्षोऽप्यङ्गीकर्त्तव्यः। एवं तर्ह्यन्यथा व्याख्यायते। इह पक्षद्वयं पूर्वोक्तं सम्भवति। तत्र किं द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनमित्येष पक्ष आश्रीयते? उत स्थाने द्विर्वचनपक्षः?—इति प्रश्नावसर इदमाह–द्विष्प्रयोगश्च द्विर्वचनमिति। चकारः स्थाने द्विर्वचनमित्यमुमर्थं द्योतयति। ननु च 'षष्ठी स्थानेयोगा' इति वचनात् स्थाने द्विर्वचनपक्षे नात्र भवितुं युक्तम्, तत् कथं द्विष्प्र-

विधीयते। तेन स एव शब्दो द्विरुच्चार्यते, न च शब्दान्तरं तस्य स्थाने विधीयते ॥

पदमञ्जरी

विधीयते, एवं सति त्रिर्वचनं प्राप्नोति। न ह्याद्यमुच्चारणमावृत्तिः, अतस्तदेकम्, आवृत्ती च द्वे इति त्रिर्वचनप्रसङ्गः। तस्मादावृत्तिकृता संख्या। आवृत्तिसंख्या कस्य? उच्चारणस्य, आवृत्तमुच्चारणं विधीयत इत्यर्थः। तत्र च स्थान्यादेशभावो न सम्भवतीत्युक्तम्। अत्र पक्षे यथाटिटदित्यादौ दोषो न भवति तथा दर्शयति—*तेनेत्यादिना*।

नन्वत्रापि पक्षे नेमतुः, सेहे इत्यादौ नत्वसत्वयोः कृतयोर्धातोरादेशादित्वस्य द्विःप्रयोगेऽप्यनिवृत्तेरेत्वाभ्यासलोपौ न स्याताम्, पक्षान्तरे तु नादेशादिव्यपदेशः? अलाश्रयत्वेन स्थानिवत्त्वाभावात्समुदायादेशत्वेनादेशादित्वाभावाच्च न दोषः; 'लिटि आदेशः' इति विशेषणान्नत्वसत्वयोरनैमित्तिकत्वाद्। इह तर्हि बेभिदितेति बेभिद्यशब्दात्तृचि अल्लोपयलोपयोः कृतयोरुपदेशे य एकाजनुदात्तः स एवायमितीट्प्रतिषेधः स्यात्, पक्षान्तरे त्वेकाज्व्यपदेशस्यालाश्रयत्वाद् बेभिद्येत्यस्य व्यच्कत्वान्निषेधाभावः? द्विःप्रयोगेऽपि न दोषः; पूर्वस्मादपि विधौ अल्लोपस्य स्थानिवद्भावात्। इह तर्हि जरीगृहितेति ग्रहेर्लिटि दीर्घत्वं स्यात्, न ह्यत्र स्थानिवत्त्वम्, दीर्घविधौ निषेधात्? नैष दोषः; 'एकाच उपदेशे' इत्यत 'एकाच' इत्यनुवर्त्तयिष्यते। यद्वा—ग्रहेर्विहितं यदार्द्धधातुकं तस्य य इट् तस्य दीर्घ इति जरीगृह्यशब्दाद्विहितस्य न भविष्यति। इह च सिषेचति, यद्यपि सिचेर्लिड्विहितः; तथापि द्विर्वचने कृते समुदायस्यैका पदसंज्ञा न तदवयवस्य, सेचशब्दस्य पदसंज्ञायां तदादिग्रहणानिवृत्तेरभ्यासस्य वर्जनायोगादिति 'सात्पदाद्योः' इति षत्वनिषेधाभावः। इह तर्हि बिभिद्वानित्यादौ शतकृत्वोऽप्युच्चारणे एकाच्त्वं न याति, किं पुनर्द्विरुच्चारण इति 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इतीट्प्रसङ्गः? तन्न; उच्चारणभेदाद्विरुद्धसंख्याप्रादुर्भावे पूर्वसंख्याकृतव्यपदेशनिवर्त्तनात्। अत

न्यासः

योगपद्योऽप्युपपद्यत इत्यत आह—आवृत्तिसंख्या हीत्यादि। यदि शब्दान्तरं तस्य स्थाने विधीयते तदा स्थान्यादेशसम्बन्धे प्रतिस्थाने द्विर्वचनमित्येष पक्षो जायत इत्युक्तम्। यदा त्वावृत्तिसंख्या विधीयते तदेतरः पक्षो भवतीति। एतदपि प्रतिपादितम् प्राक्। तस्मात् द्विष्प्रयोगपक्षो यदाङ्गीकर्तुमिष्यते तदावृत्तिसंख्या द्वे इति विधीयते। तेन स एव शब्दो द्विरुच्चार्यते, न तु शब्दान्तरं तस्य स्थाने विधीयते। तस्माद् द्विष्प्रयोगद्विर्वचनपक्षोऽप्यङ्गीकर्तव्यः।

अथ कथं स्थाने द्विर्वचनमित्येषोऽपि पक्ष आश्रीयते, यावता जिघांसतीत्यत्र हन्तेर्हकारस्य कुत्वं न प्राप्नोतीत्युक्तम्? नैष दोषः; उच्यते चेदम्—अभ्यासाच्च

अजादेर्द्वितीयस्य ॥ २ ॥

प्रथमद्विर्वचनापवादोऽयम् । अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनम-

पदमञ्जरी

एवाद्ग्रहणं कृतं पपिवानित्यादाविडर्थम् । इह तर्हि विसुष्वापेति, तस्यैवार्थवतो द्विरुक्तिभावमात्रमित्यभ्यासस्यार्थवत्त्वात्सुपेः षत्वमित्यत्रानर्थको विसुषुपुरिति वक्ष्यमाणं विहन्येत ? नैष दोषः; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दस्याशेषार्थावसायः, न चात्राभ्यासोपजनने कश्चिदर्थ उपजायते, अपाये चापयाति । ननु स एव चेद् द्विरुच्यते, अर्थप्रत्ययेनाप्यावर्तितव्यम्, यथा—अहिरहिर्बुध्यस्वबुध्यस्वेति ? किमत्रोपालभ्येमहि, न तावदर्थप्रत्यया आवर्तन्ते ! तदेतदेवं दृश्यताम्—यथा स्वप्नः, सुप्तः, अस्वपदित्यादौ क्वचिदविकृतः, क्वचिद्विकृतः, क्वचिदडागमापेक्षोऽर्थं प्रतिपादयति, तथा सुष्वापेत्यादावावृत्त एव प्रतिपादयतीति ॥

अजादेर्द्वितीयस्य ॥ प्रथमद्विर्वचनापवादोऽयमिति । ननु विरोधे समानफलत्वे च बाध्यबाधकभावः, यथा—'अष्टाश्रिर्यूपः कर्तव्यो वाजपेयस्य चतुरश्रिः' इत्यष्टाश्रित्वचतुरश्रित्वयोर्यथा नैवारश्चरुर्नखावपूतानामिति नखावपनेन वैतुष्यफलकेन तत्फलकोऽवघातो बाध्यते, नखैश्चोलूखलमुसलम् ; यत्र त्वेतदुभयं न भवति न तत्र बाधः, यथा—कृत्कृत्यप्रत्ययसंज्ञानाम्, यथा वा—तद्धिततद्राजप्रत्ययसंज्ञानाम् । इह तु न समानफलत्वम् ; फलस्य कस्यचिदभावात्, अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यात् ? स्यादेतत्—द्वयोरासीनयोर्मध्ये कस्मिंश्चिदुपविष्टे द्वितीयस्तृतीयो भवति, तथा प्रथमे द्विरुक्ते द्वितीयस्तृतीयो भवतीत्यस्येवात्राप्यसम्भव इति, स्यादप्येवम्, यदि प्रथमद्विर्वचनमेव नियोगतः पूर्वं स्यात्, किञ्च नात्रौत्पत्तिकस्य द्वितीयस्य द्विर्वचनमुच्यते, किं तर्हि ? द्वितीयमात्रस्य, ततः किम् ? प्रथमे द्विरुक्ते यो द्वितीयस्तस्य भविष्यति ।

नन्वेवमनारम्भसमं स्यात्, कथमटेः सन्, प्रथमस्य द्विर्वचनम्, अट् + अट् इति स्थिते हलादिःशेषश्च प्राप्नोति, द्वितीयद्विर्वचनं च, परत्वान्नित्यत्वाच्च हलादिःशेषः, ततो द्विर्वचनम्, अ + अट् + अट् इति स्थिते हलादिशेषे त्रयाणाम-

न्यासः

हन्तेः कुत्वं भवतीति । न च तस्य स्थाने शब्दान्तर एवादेशे कृते हन्तिरस्ति । तत्र वचनसामर्थ्यादादेशैकदेशे हन्तिप्रतिरूपके[1] हन्तिशब्दो विज्ञास्यते ।

अन्ये त्वनयोः पक्षयोर्दोषा य आशङ्क्यन्ते ते भाष्य एवोत्क्षिप्य प्रतिक्षिप्ताः । इह त्वतिविस्तरग्रन्थभयान्न लिख्यन्ते ॥

अजादेर्द्वितीयस्य ॥ प्रथमद्विर्वचनापवादोऽयमिति । ननु च 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यनेन प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनं विधीयते, 'अजादेर्द्वितीयस्य' इत्यनेन तु द्वितीयस्य;

---

१. हन्तिस्वरूपक इति मुद्रितः पाठः ।

धिक्रियते । अच् आदिर्यस्य धातोस्तदवयवस्य द्वितीयस्यैकाचो द्वे

पदमञ्जरी

काराणामतो गुणे पररूपत्वेऽटिषतीत्येतद्रूपं स्याद्, अकृतेऽपि द्विर्वचने एतदेव रूपम्, द्वयोरकारयोः पररूपमित्येतावद् नानारम्भसमम्, कथम् ? प्रथमं द्विर्वचनम्, हलादिःशेषः, अ + अट् इति स्थिते 'सन्यतः' इतीत्वं च प्राप्नोति द्विर्वचनं च, द्वयोर्नित्ययोः परत्वादित्वम् । नन्वित्वं सनमभ्यासं चापेक्षत इति बहिरङ्गम्, ततः किम् ? अन्तरङ्गम् 'अतो गुणे' इति पररूपत्वं प्राप्नोति, समानाश्रये च वार्णादाङ्गं बलीयः ? एवं तर्हि कृतेऽपि पररूपे तस्यान्तवद्भावादित्वं प्राप्नोति, अकृते चेति नित्यत्वं परत्वं चेति द्वे तस्य प्राबल्यकारणे । पररूपस्य त्वन्तरङ्गत्वमेकमेवेतीत्वमेव तावद् भवति । सति तु तस्मिन् 'अभ्यासस्यासवर्णे' इतीयङ् च प्राप्नोति द्विर्वचनं च, तत्र द्विर्वचनमियङि कृते यङित्यस्य प्राप्नोति; अकृते त्वङित्यस्येति शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यम्, तेन परत्वान्नित्यत्वाच्चेयङि कृते यङ्शब्दस्य द्विर्वचने हलादिः शेषः, इत्वम्, इयियटिषति, ओणेः–उवुवोणिषतीति भवति । असति द्वितीये द्विर्वचने—इयटिषति, उवोणिषतीति भवतीति नानारम्भसाम्यम् ।

एवं तर्हि 'अनभ्यासस्य' इति निषेधादेकस्मिन् द्विरुक्ते नापरो द्विर्वक्तुं शक्यत इत्यस्यैवासम्भवः । अथ वा–सामान्यविहितस्य विशेषविहितं सत्यपि सम्भवे बाधकं भवति, तद्यथा–दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति । ओदनसेकाख्यस्य फलस्य समानत्वादत्र दधिबाध इति चेद् ? इहापि तर्ह्यर्थाभिधानाख्यं फलमेकम्, अर्थाभिधानाय हि द्विरुच्चारणम्, तच्चैकेनैव साध्यते । अथ रूपविशेषाख्यं फलं भिन्नम्, अन्यद्धि रूपं प्रथमस्य द्विर्वचने, अन्यच्च द्वितीयस्य ? इतरत्रापि तृप्तिविशेषाख्यं फलं भिद्यते, अन्या हि दध्नस्तृप्तिरन्या हि तक्रस्य, अतो नाप्राप्ते तस्मिन्नारभ्यमाणत्वमेव बाधनिबन्धनम्, नासम्भवः, सामान्यशब्दा हि विशेषशब्दसन्निधौ तत्रैवोपसंह्रियन्ते, ततोऽन्यत्र वा, यथा—वसिष्ठो ब्राह्मणः, ब्राह्मणाः आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति ।

न्यासः

तत् कथमन्यस्योच्यमानमिदमन्यस्य बाधकं स्यात् ? सति खलु सम्भवे बाधकं भवति, अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यात् । स्यादेतत्—धातोरित्येषा षष्ठी, तस्या द्वितीयेनैकाचा प्रथमेन च सम्बन्धो नोपपद्यते, अतो नास्त्युभयसम्भव इति ? एतच्च नास्ति; अन्यद्धि वाक्यं प्रथमद्विर्वचनस्य विधायकम्, अन्यच्च द्वितीयद्विर्वचनस्य । तत्र वाक्यभेदे च सति किमिति सम्बन्धो नोपपद्यते, तस्मात् कृतेऽपि द्वितीयद्विर्वचने प्रथमद्विर्वचनं सम्भवत्येवेत्ययुक्तं बाधनम् ? नैष दोषः; इह द्वीपम्, अन्तरीपमित्यत्र 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इतीत्वम् 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्तस्यालः प्राप्तम् 'आदेः परस्य' इत्यनेनादेर्विधीयते,

भवतः । अटिटिषति । अशिशिषति । अरिरिषति । अर्तेः 'स्मिपूङ्-

पदमञ्जरी

ननु कौण्डिन्यस्यापि ब्राह्मणत्वाद् दधि प्राप्तम्, इह तु प्रथमस्योच्यमानं द्विर्वचनं द्वितीयस्य न प्राप्नोतीति कथं येन नाप्राप्तिः ? न क्रमो द्वितीयस्य प्राप्तमिति; किन्तु धातुसामान्यविहितं प्रथमद्विर्वचनमजादेर्धातोः प्राप्तमिति; तत्र दधितक्राख्यं विधेयं भिद्यते, इह तु कार्यं भिद्यते, विधेयं द्विर्वचनमेकमित्येतावान् विशेषः । यद्वा–तत्रापि दानमेव विधेयं तस्य तु देयभेदाद् भेदः, इहापि कार्यिभेदाद्भेदः, तदिदमुक्तम्—प्रथमद्विर्वचनापवादोऽयं द्वितीयद्विर्वचनमिति । सर्वथा प्रथमद्विर्वचनं द्वितीयद्विर्वचनेन बाध्यते । यद्येवम्, यथाभूतस्यैकाचः प्रथमद्विर्वचनं प्राप्तं तथाभूतस्यैव द्वितीयद्विर्वचनं बाधकं स्यात्, सव्यञ्जनस्यैतत्प्राप्तमिति तेन सहव्यञ्जनानामप्यनावृत्तिप्रसङ्गः ? स्यादेवं यद्यजादिषु प्रथमस्यैकाचः किञ्चिद्विहितं प्रतिषिद्धं वा भवेत्, इह तु विशेषसन्निधौ सामान्यशब्दस्य ततोऽन्यत्र वृत्तेरजादिषु प्रथमद्विर्वचनरूपाप्रतीतत्वादप्राप्त्यनुमानमेव बाधः । व्यञ्जनानि च यदा यस्य कार्यं तदा तदङ्गानीति द्वितीयैकाच्यन्तर्भावात्तेन सह द्विर्वचनं केन वार्यते ! अत्र च लिङ्गम् 'न न्द्राः' इति प्रतिषेधः । अथेयाय, आरेत्यादौ केन द्विर्वचनम् ? न तावदनेनाद्वितीयत्वात्, नापि पूर्वेणाजादिषु तस्याप्रवृत्तेः, ननु च यत्र द्वितीयसद्भावादस्य प्रवृत्तिः—अटिटिषतीत्यादौ, तत्र तदप्रवृत्तिः, यत्रैतदप्रवृत्तिः, यत्र तु द्वितीयाभावादेतन्न प्रवर्त्तते न तत्र तस्य प्रवृत्तिर्वार्यते ? तत्रापि वार्यते, अजादेरिति सामान्यनिर्देशात् । सामान्यनिर्देशे हि क्वचिदपि

न्यासः

तत्र यथा सत्यपि सम्भवेऽनन्त्यविकारोऽन्त्यविकारं बाधते, तथा द्वितीयद्विर्वचनं प्रथमद्विर्वचनं बाधिष्यते । यदि तर्हि प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनमनेन बाध्यते, व्यञ्जनस्यापि प्रथमद्विवचनसम्बन्धिनो द्विर्वचनं बाध्येत । तद् यथाभूतस्यैव प्रसङ्गस्तथाभूतस्यैव द्विर्वचननिवृत्तिर्भवति । किम्भूतस्य च प्रथमद्विर्वचनस्य प्रसङ्गः ? सव्यञ्जनस्य । तत्र यथा प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनं न भवति, एवमेकाज्व्यपदेशिनो व्यञ्जनस्यापि न स्यात् ? नैष दोषः; यदयम् 'न न्द्राः संयोगादयः' इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयति–व्यञ्जनस्य द्विर्वचननिवृत्तिर्न भवतीति । अन्यथा हि नदराणां द्विर्वचनप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्; प्राप्त्यभावात् ।

अटिटिषति । अशिशिषतीति । अटेरशेश्च सनीटि कृते टिष्शब्दः, शिष्शब्दश्च द्विरुच्यते । **अरिरिषतीति ।** अर्तेः सन्निड्गुणरपरत्वेषु कृतेषु रिष्शब्दो द्विरुच्यते । **स्थानिवद्भावः प्राप्नोतीति ।** 'सन्यङोः' इत्यनेन सन्नन्तस्य द्विर्वचनमुच्यते, इट् च सन्भक्तः । तस्मादसौ द्विर्वचनस्य निमित्तमित्यभिप्रायः । स्थानिवद्भावे च सति रेफरहितस्येषो द्विर्वचने कृते सवर्णदीर्घत्वे चारीषतीत्यनिष्टं रूपं स्यात् ।

ञ्ज्वशां सनि' इति इट् क्रियते, तस्मिन् कृते गुणे च रपरत्वे च 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावः प्राप्नोति। तत्र प्रतिविधानम्—द्विर्वचननिमित्तेऽचीत्युच्यते। न चात्र द्विर्वचननिमित्तमिट्, किं तर्हि ? कार्यी। न च कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयते। तथा हि—क्ङिन्निमित्तयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो विधीयमानः शयितेत्यत्र न भवति, न हि कार्यिणः शीङो गुणं प्रति निमित्तभाव इति।

पदमञ्जरी

द्वितीयवत्यां व्यक्तौ सर्वत्र बाधेत, यथा हलादिःशेषे वक्ष्यते—'क्वचिदपि प्रवर्त्तमानो हलादिःशेषः सर्वत्र निवृत्तिं करोति' इति ? नैष दोषः;

जात्योपलक्षिता व्यक्तिः प्राधान्येनेह गृह्यते।
द्वितीयवत्यामेवेदं व्यक्तौ तेन प्रवर्त्तते॥
प्रवर्तते च यत्रेदं तत्र पूर्वं निवर्त्तते।
जातिर्हलादिशेषे तु प्राधान्येन समाश्रिता॥ इति।

गुणे चेति। नित्यत्वात्परत्वाच्च। *स्थानिवद्भावः प्राप्नोतीति*। ततश्च इस् इत्यस्य द्विर्वचने हलादिःशेषे च दीर्घत्वे सति अरीषतीति प्रसङ्गः। *न चात्र द्विर्वचननिमित्तमिडिति*। यत्र परतो द्विर्वचनमुच्यते, तदेव तस्य निमित्तमिति भावः। *किं तर्हि कार्यीति*। 'सन्यङोः' इति षष्ठ्याश्रयणात्। ततः किम् ? इत्याह—*न चेति*। तद्भावभावित्वे सत्यपि कार्यिणः सप्तमीनिर्देशाभावान्न निमित्तत्वं शास्त्रे स्थितमित्यर्थः। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयमित्याह—*तथा हीति*। *गुणवृद्ध्योरिति*। 'क्ङिति च' इत्यत्र वृद्धेरपि प्रतिषेधाद् गुणवृद्ध्योरित्युक्तम्। *शयितेत्यत्र न*

न्यासः

कार्यीति। द्विरुक्तिरेव कार्यम्, तदस्यास्तीति कार्यी। स्यादेतत्—यद्यप्यसौ कार्यी तथापि कार्यं प्रति निमित्तमेवेत्याह—**न चेत्यादि**। कथं पुनर्ज्ञायते एतत् कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयते इति ? अत आह—**तथा हीत्यादि**। तथाहीति यस्मादित्यर्थे। इतिकरणः प्रकारे। यस्मात् क्ङिन्निमित्तयोः गुणवृद्ध्योः 'क्ङिति च' इति प्रतिषेधो विधीयमानः शयितेत्येवम्प्रकारविषये न भवति, ततो ज्ञायते—न हि कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयत इति। यदि ह्याश्रीयेत, तदा शीङो ङित्वात् तन्निमित्तच्च गुणवृद्ध्योः 'क्ङिति च' इति विधीयमानः शयितेत्यत्र गुणप्रतिषेधश्च स्यात्, शायक इत्यत्र वृद्धिप्रतिषेधश्च। ननु च येन विना यन्न भवति तत् तस्य निमित्तम्, यथा—वृष्टेर्मेघः। यथा च प्रत्ययेन विना गुणवृद्धी न भवतस्तथा कार्यिणापि; तत् कथं शीङो गुणवृद्धिप्रतिषेधो नेह भवति ? इत्यत आह—**न हि कार्यिण इत्यादि**। अत्राश्रीयत इत्यध्याहार्य्यम्। सत्यम्;

अत्र केचिदजादेरिति कर्मधारयात्पञ्चमीमिच्छन्ति—अच्चासावादिश्चेत्यजादिः, तस्मादजादेरुत्तरस्यैकाचो द्वे भवत इति। तेषाम् 'द्वितीयस्य' इति विस्पष्टार्थं द्रष्टव्यम् ॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥ ३ ॥

'द्वितीयस्य' इति वर्त्तते। द्वितीयस्यैकाचोऽवयवभूतानां न्द्राणां तदन्तर्भावात् प्राप्तं द्विर्वचनं प्रतिषिध्यते। नकारदकाररेफा द्वितीयै-

पदमञ्जरी

भवतीति । गुणस्य प्रतिषेधः । क्वचित्तु—शायक इत्यपि पठ्यते, तदयुक्तम्, अप्रकृतित्वादत्र वृद्धेः । यथा चोत्तरग्रन्थे गुणग्रहणमेव कृतम् ।

तेषां द्वितीयस्येति विस्पष्टार्थमिति । 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनन्तरस्य द्वितीयस्यैव भविष्यति, न तृतीयादेः । यदा तु बहुव्रीहेः षष्ठी—अजादिर्यस्य धातोरिति, तदा सामर्थ्यादप्रथमार्थेऽप्यारम्भे तृतीयादेरपि प्रसङ्गः ॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥ 'उन्दी क्लेदने,' 'अड्ड अभियोगे' दोपधः, ष्टुत्वम्, 'अर्च पूजायाम्', 'ईक्ष दर्शनाङ्कनयोः', 'अन प्राणने', 'द्रा कुत्सायां गतौ', उब्जिविषये यद्वक्तव्यं तत्सर्वम् 'हयवरट्' इत्यत्रैवोक्तम् ।

न्यासः

कार्यपि शीङ्निमित्तम्, तस्य गुणं प्रति वृद्धिञ्च प्रति यस्मान्निमित्तभावो नाश्रीयते, तेन शयितेत्यादौ गुणवृद्धिप्रतिषेधो न भवति । गुणग्रहणमुपलक्षणार्थं वृत्तौ द्रष्टव्यम् । इतिकरणोऽनन्तरोऽस्य प्रतिविधानस्य स्वरूपं दर्शयति । कथं पुनर्ज्ञायते—न हि कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयत इति ? 'दीधीवेवीटाम्' इति दीधीवेव्योर्गुणप्रतिषेधात् । यदि हि निमित्तत्वेनाश्रीयेत, दीधीवेव्योर्ङित्वात् किन्निमित्तत्वाच्च गुणवृद्धयोः 'क्ङिति च' इति कार्यी प्रतिषेधः सिद्ध एवेति तयोर्गुणप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

अत्र केचिदजादेरिति कर्मधारयात् पञ्चमीमिच्छन्तीति । अच्चासावादिश्चेत्यजादिः, तस्मादजादेरिति । एवं वर्णयन्तः कर्मधारयात् पञ्चमीमिच्छन्ति । यदि तर्हि कर्मधारयादियं पञ्चमी तेषां द्वितीयग्रहणमनर्थकम्; यस्मात् तृतीयस्य प्राप्तिरेव नास्ति । येषां बहुव्रीहेरियं षष्ठ्यभिमता, तेषामक्रियमाणे द्वितीयग्रहणे तृतीयस्यापि द्विर्वचनं प्राप्नोतीति तन्निवृत्त्यर्थं युक्तं द्वितीयग्रहणम् । येषां च कर्मधारयादियं पञ्चम्यभिमता, तेषां द्वितीयग्रहणमनर्थकम्; 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनेनानन्तरस्यैव द्वितीयस्य भविष्यति, न तृतीयस्य, व्यवहितत्वात् ? इत्यत आह—तेषामित्यादि ॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥ तदन्तर्भावादिति । अवयवानां समुदायाभ्यन्तरत्वात् तदन्तर्भावः । अवयवभूता इति । आदिशब्दस्य नियतदेशावयववाचित्वाद् विशिष्ट-

काचोऽवयवभूताः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते । उन्दिदिषति । अड्डिडिषति । अर्चिचिषति ।

न्द्रा इति किम् ? ईचिक्षिषते । संयोगादय इति किम् ? प्राणिणिषति । 'अनितेः' 'उभौ साभ्यासस्य' इति णत्वम् ।

अजादेरित्येव—दिद्रासति ।

केचिदजादेरित्यपि पञ्चम्यन्तं कर्मधारयमनुवर्त्तयन्ति । तस्य प्रयोजनम्—इन्दिद्रीयिषतीति । अजादेरनन्तरत्वाभावाद् दकारो द्विरुच्यत एव, नकारो न द्विरुच्यते । इन्द्रमिच्छति, क्यच्, तदन्तात् इन्द्रीयितुमिच्छतीति सन् ॥

❀ बकारस्याप्ययं प्रतिषेधो वक्तव्यः ❀ । उब्जिजिषति । यदा बकारोपध उब्जिरुपदिश्यते तदायं प्रतिषेधः । दकारोपधोपदेशे तु न वक्तव्यः । बत्वं तु तदा दकारस्य विधातव्यम् ।

न्यासः

देशावयवभूता इत्येषोऽर्थो वेदितव्यः । उन्दिदिषतीति । 'उन्दी क्लेदने', सनीटि च कृते दिष्शब्दस्य द्विर्वचनम् । अड्डिडिषतीति । 'अड्ड अभियोगे' इत्यत्र यः संयोगः स दकारादिः, तस्य ष्टुत्वेन दकारस्य डकारः, ष्टुत्वञ्च द्विर्वचनेऽसिद्धम्, तेन सनीटि कृते दिष्शब्दो द्विरुच्यते, ततः ष्टुत्वम् । अर्चिचिषतीति । 'अर्च पूजायाम्', चिष्शब्दस्य द्विर्वचनम् । ईचिक्षिषत इति । 'ईक्ष दर्शने' सनीटि च कृते क्षिष्शब्दस्य द्विर्वचनम्, 'हलादिः शेषः', 'कुहोश्चुः' इति चुत्वम् । प्राणिणिषतीति । 'श्वस प्राणने', 'अन च' प्रपूर्वः । दिद्रासतीति । 'द्रा कुत्सितायाङ्गतौ' ।

केचिदजादेरित्यादि । तेषां मतेनाजादेरुत्तरे ये नकारादयः संयोगादिभूतास्ते न द्विरुच्यन्त इति सूत्रार्थः । किं पुनस्तदनुवर्त्तनस्य प्रयोजनम् ? इत्यत आह—तस्येत्यादि । दकारस्तु द्विरुच्यत एवेति कर्मधारयपञ्चम्यन्तानुवृत्तौ हि 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनन्तराणामेव नकारादीनां द्विर्वचनप्रतिषेधेन भवितव्यम्; निर्दिष्टग्रहणस्यानन्तर्यार्थत्वात् । दकारस्तत्र यद्यपि रेफदकारयोर्यः संयोगस्तदादिभूतः, तथापि नकारेण व्यवहितः । तस्माद्दकारोऽपि द्विरुच्यत एव । इन्दिद्रीयिषतीति । इन्द्रशब्दात् क्यचि कृते 'क्यचि च' इतीत्त्वम्, क्यजन्तात् सन्, इट्, 'अतो लोपः' इत्यकारलोपः । उब्जिजिषतीति । 'उब्ज आर्जवे' । यदा बकारोपध उब्जिरुपदिश्यत इति । प्रतिषेधस्य विषयं दर्शयति । इह केचिद् बकारोपधमिमं धातुं पठन्ति—उब्जितेत्येवमादिरूपं यथा स्यात् । केचिच्च दकारोपधमभ्युद्गः, समुद्ग इति यथा स्यात् । तत्र यदा बकारोपध उब्जिरुपदिश्यते तदायं प्रतिषेधो वक्तव्यः । दकारोपधोपदेशे तु न वक्तव्यः, 'न न्द्राः' इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । बत्वं तु तदा दकारस्य विधातव्यमिति । उब्जिता, उब्जिजिषतीति

❀ यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम् ❀। अरार्यते। अर्तेः 'अटचर्तिशूर्णोतीनामुपसंख्यानम्' इति यङ्। तत्र 'यङि च' इति गुणः, ततो द्विर्वचनम्।

❀ ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम् ❀। कस्य तृतीयस्य? केचिदाहुर्व्यञ्जनस्येति—ईर्ष्यियिषति। अपरे पुनः 'तृतीयस्यैकाचः' इति व्याचक्षते—ईर्ष्यिषिषति।

पदमञ्जरी

यकारपरस्येति। यकारः परो यस्माद्रकारात्तस्येत्यर्थः।

व्यञ्जनस्येति। तृतीयव्यञ्जनसहितस्यैकाच इत्यर्थः। तत्र षकारस्य द्विर्वचनं न भवति। *अपरे पुनरिति*। अस्मिन्पक्षे ईर्ष्यतेस्सनि कृते इति व्याख्येयम्, तत्सम्बन्धिनस्तृतीयस्यैकाचोऽसम्भवात्। नामधातवः=सुब्धातवः।

न्यासः

यथा स्यात्। तदपि बत्वमकुत्वविषये विधातव्यम्; अन्यथाऽभ्युद्गः, समुद्ग इति न सिध्येत्। दकारोपधस्यैव युक्तः पाठः। बत्वमात्रं वक्तव्यम्? तदपि न वक्तव्यम्; तत्र 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' इति निपातनादेव लिङ्गाद् बत्वं लभ्यते। न चाभ्युद्गः, समुद्ग इत्यत्रापि प्रसज्येत, अकुत्वविषयत्वान् निपातनस्य; यत्र कुत्वं नास्ति तत्रैव वत्वं विज्ञायते, न तु कुत्वविषये।

यकारपरस्येत्यादि। यकारः परो यस्मात् तस्य प्रतिषेधो न स्यादित्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्र कैश्चिदेवं व्याख्यायते—बहिरङ्गो रेफः, 'गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः', 'यङि च' इति गुणोऽङ्गस्य विधीयमानो यङि भवति बहिरङ्गः, तदाश्रितो रेफोऽपि बहिरङ्ग एव, ततश्च सोऽन्तरङ्गे प्रतिषेधेऽसिद्धः। तस्मात् तस्य द्विर्वचनप्रतिषेधो न भवतीति। यद्येवम्, इन्दिदिषतीति नुमोऽपि प्रतिषेधो न प्राप्नोतीति? नैष दोषः; वक्ष्यति ह्येतत्—नुम्विधावुपदेशिवद्वचनमिति।

नैयायिकास्त्वन्यथा वर्णयन्ति–'न न्द्राः संयोगादयः' इति। तैः किमुक्तम्? 'संयोगात् पूर्वे नकारादयो न द्विरुच्यन्ते स चेद् भवति यकारान्तः संयोगः' इति। तेनारार्य्यत इत्यत्र संयोगस्य यकारान्तत्वात् प्रतिषेधो न भवतीति। अरार्य्यत इति। 'यङि च' इति गुणे रपरत्वे च र्यशब्दस्य द्विवचनम्, हलादिशेषः, 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घः। ननु चार्तेरहलादित्वाद् यङा न भवितव्यम्, स हि 'धातोरेकाचः' इत्यादिना हलादेरेव धातोर्विधीयते? इत्याह—अर्त्तेरित्यादि।

व्यञ्जनस्येति। ईर्ष्यतेर्व्यञ्जनं यदेकाच् तस्य द्विर्वचनं कर्त्तव्यम्। तच्च व्यञ्जनं यकारः, तस्येटि कृते शब्कस्यैव द्विर्वचनं कर्त्तव्यम्।

❀ कण्ड्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वे भवत इति वक्तव्यम् ❀ । कण्डूयियिषति । असूयियिषति ॥

❀ वा नामधातूनां तृतीयस्यैकाचो द्वे भवत इति वक्तव्यम् ❀ । अश्वीयियिषति । अशिश्वीयिषति ।

अपर आह—

❀ यथेष्टं नामधातुष्विति वक्तव्यम् ❀ । पुपुत्रीयिषति । पुतित्रीयिषति । पुत्रीयियिषति । पुपुतित्रीयियिषति । पुत्रीयिषिषति ॥

पूर्वोऽभ्यासः ॥ ४ ॥

'द्वे' इति प्रथमान्तं यदनुवर्त्तते तदर्थादिह षष्ठ्यन्तं जायते । तत्र प्रत्यासत्तेरस्मिन्प्रकरणे ये द्वे विहिते तयोर्यः पूर्वोऽवयवः सोऽभ्यास-

पदमञ्जरी

पूर्वोऽभ्यासः ॥ अर्थादिति । सामर्थ्यात्पूर्वशब्दोऽयमवयववचनः, अवयवश्चावयविनो भवति, स चेह कश्चिन्न निर्दिष्टः, अतोऽवश्यम् 'द्वे' इति अत्रानुवर्त्तनीयम् । न वानुवृत्तमपि प्रथमान्तमेवावस्थितमवयव्यपेक्षां पूरयितुमलमित्येतत्सामर्थ्यम् । *अस्मिन्प्रकरण इति* । अनेन 'सर्वस्य द्वे' इत्यत्र प्रकरणे इयं संज्ञा न

न्यासः

एकाच इति । सनः । स हीटि कृते तृतीय एकाज् भवति । तस्य द्विर्वचने कृते 'सन्यतः' इतीत्त्वम् । पूर्वं पूर्वमिणमाश्रित्य सर्वसकाराणां षत्वम् । **कण्डूयियिषतीति** । **असूयियिषतीति** । 'कण्डूञ्', 'असूञ्' इति कण्ड्वादिषु पठ्येते, ततः 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' ।

वा नामधातूनामिति । सुब्धातुर्नामधातुरभिधीयते । **अश्वीयियिषतीति** । अश्वशब्दात् क्यजन्तात् सनीटि च कृते यिष्शब्दस्य द्विर्वचनम् । **अशिश्वीयिषतीति** । श्वीशब्दस्य द्विर्वचनम्, ह्रस्वत्वम्, हलादिशेषः ।

यथेष्टमिति । प्रथमादीनामन्यतरस्य यस्येष्यते तस्य कर्त्तव्यमिति ॥

पूर्वोऽभ्यासः ॥ अभ्यासशब्दोऽयमावृत्तिवचनो लोके प्रसिद्ध एव । सा चावृत्तिः प्रथमस्य नास्तीत्यभ्यासप्रदेशेषु परस्य ग्रहणे प्राप्ते पूर्वस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थं तस्याभ्याससंज्ञा विधीयते । पूर्वशब्दोऽवयववचनः, यथा—पूर्वं कायस्य पश्चोरिति । अवयवाश्चावयविनो भवन्ति, स चेह यद्यपि न निर्दिश्यते, तथापि 'द्वे' इत्यनुवृत्तेस्तद्वाच्यस्यैवार्थस्य पूर्वो विज्ञायत इत्याह—**द्वे इति प्रथमान्तं यदनुवर्त्तत इत्यादि** । ननु च 'द्वे' इति प्रथमान्तमनुवर्त्तते, षष्ठ्यन्तेन चेहार्थः, न ह्यन्यथा पूर्वशब्देन सम्बन्धः शक्यते दर्शयितुमित्यत आह—**तदर्थादित्यादि** । अर्थाद्विभक्तिविपरिणामो भवतीति । तदिह

संज्ञो भवति । पपाच । पिपक्षति । पापच्यते । जुहोति । अपीपचत् ।

अभ्यासप्रदेशास्तु—'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्येवमादयः ॥

उभे अभ्यस्तम् ॥ ५ ॥

'द्वे' इति वर्त्तमाने 'उभे' ग्रहणं समुदायसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् । ये द्वे विहिते ते उभे अपि समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे भवतः । ददति । ददत् । दधतु ।

पदमञ्जरी

भवति, तेन तत्र हलादिशेषाद्यभावः । यद्येवम्, 'द्युतिगमिजुहोत्यादीनां द्वे' इत्यत्र न प्राप्नोति ? कर्त्तव्योऽत्र यत्नः । *तयोः पूर्वोऽवयव इति* । अवयववाचिभिर्दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी न भवति; 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति लिङ्गात् । *पपाचेत्यादौ* 'हलादिः शेषः', 'सन्यतः', 'दीर्घोऽकितः', 'कुहोश्चुः', 'अभ्यासे चर्च', 'सन्वल्लघुनि', 'दीर्घो लघोः' इत्यादीनि यथायोगमभ्यासकार्याणि ॥

उभे अभ्यस्तम् ॥ *द्वे इति वर्त्तमान इत्यादि* । द्विरुक्तसमुदायस्यैकाऽभ्यस्तसंज्ञा यथा स्याद्, द्वयोर्द्वे संज्ञे मा भूतामित्येवमर्थमुभेग्रहणम्, न तु संज्ञिनिर्देशार्थम् । द्वे इत्यस्यानुवृत्त्यैव संज्ञिनिर्देशस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । *ददतीत्यादौ* 'अदभ्यस्तात्' इत्यद्भावः, 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः ।

न्यासः

षष्ठ्यन्तं जायत इत्यर्थः । अथ पुनरत्रावयवावयविलक्षणा षष्ठी भवति, यथा—वृक्षस्य शाखेति ? एवमपि यदि 'द्वे' इत्यनुवृत्तेर्द्वयोर्यः पूर्वस्तस्याभ्याससंज्ञा विधीयते तदा 'सर्वस्य द्वे' इत्यत्रापि प्रकरणे ये द्वे विहिते तयोर्यः पूर्वस्तस्याप्यभ्याससंज्ञा प्राप्नोतीत्यत आह—तत्रेत्यादि । **पूर्वोऽवयव इति** । पूर्वशब्दो व्यवस्थावचनोऽप्यस्ति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमवयवग्रहणम्, पपाचेत्यत्राभ्याससंज्ञायाम् सत्याम् 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम्, हलादिशेषः, प्रकृतिचरां प्रकृतिचरो भवन्तीति चर्त्वम् । **पिपक्षतीति** । 'सन्यतः' इतीत्त्वम् । **पापच्यत इति** । 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घत्वम् । **जुहोतीति** पूर्ववद्धकारस्य चुत्वम्, तस्य 'अभ्यासे चर्च' इति जकारः । **अपीपचदिति** । पचेर्ण्यन्ताच्च्लेश्चङ्, णिलोपः, 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः', द्विर्वचनम्, 'सन्वल्लघुनि' इतीत्वम्, 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः । सर्वाण्यभ्याससंज्ञायाः प्रयोजनान्येतानि ॥

उभे अभ्यस्तम् ॥ इह उभेग्रहणं संज्ञिनिर्देशार्थं क्रियते । स च संज्ञिनिर्देशः 'द्वे' इत्यनुवृत्तेरन्तरेणाप्युभेग्रहणं प्रकल्प्यत एव, तत् किमर्थं द्वे इत्यनुवर्त्तमान उभेग्रहणं क्रियते ? इत्यत आह—**द्वे इत्यनुवर्त्तमान इत्यादि** । यद्युभेग्रहणं न क्रियेत, तदा

उभेग्रहणं किम् ? नेनिजतीत्यत्र 'अभ्यस्तानामादिः' इति समुदाये उदात्तत्वं यथा स्यात्, प्रत्येकं पर्यायेण वा मा भूदिति ।

पदमञ्जरी

नेनिजतीत्यत्रेत्यादि । असत्युभे ग्रहणे 'वृद्धिरादैच्' इत्यादौ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिदर्शनादिहापि प्रत्येकं स्यात्, ततश्च नेनिजतीत्यत्र पृथगाद्युदात्तत्वं स्यात् । न च 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्येकस्यानुदात्तत्वम्; वर्जनीयविशेषावगमहेतोः सतिशिष्टत्वादेरसम्भवात् । अथापि स्यात्, एवमपि पर्यायः स्यात् । ननु च 'भीह्रीभृहुमद' इति ज्ञापकात्परस्य न भविष्यति ? पूर्वस्यापि तर्हि न स्यात्, परेण व्यवधानात् । उच्यते च स्वरः, ततश्च स एव पर्यायप्रसङ्गः ।

यदि तु संयोगसमासादिसंज्ञावदन्वर्थत्वप्रतिपत्त्यर्थं महासंज्ञाकरणम्, तेनान्वर्थताविज्ञाने समुदायस्यैव संज्ञेत्युच्यते, तदोभेग्रहणं शक्यमकर्तुम् । ननु यत्रोभे श्रूयेते तत्र यथा स्यात्, अन्यतराभावे मा भूद्–इत्येवमर्थमुभेग्रहणं कर्त्तव्यम्; अन्यथा ऋधेरापश्च 'सनीवन्त' इति इडभावपक्षे परत्वात् प्रतिपदविहितत्वाच्च 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीत्वे 'न न्द्राः' इति प्रतिषेधाद्रेफवर्जं द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचने कृते 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतः प्रागन्तरङ्गत्वादभ्यस्तसंज्ञा स्यात् । सा च प्रत्येकम्, समुदायस्य वा ? तत्र प्रत्येकपक्षेऽभ्यासलोपेऽपि परस्य न निवर्त्तेत । समुदायपक्षेऽपि पूर्वं संज्ञा समुदाये प्रवृत्ता; पश्चादेकदेशनिवृत्तावप्यवशिष्टेऽवतिष्ठेत । यथेयसुन ईकारे लुप्तेऽपि तद्धितसंज्ञा–भूयानित्यत्र । सत्यां च संज्ञायाम्—ईप्सन्ति, ऐप्सन्, ईर्त्सन्ति, ऐर्त्सन्, इत्यत्राड्भावजुसभावनुम्प्रतिषेधाः स्युः, अतः श्रूयमाणप्रतिपत्त्यर्थमुभेग्रहणं कर्त्तव्यम् ? तन्न; प्रतीषिषतीत्यादिवत्सिद्धेः । तथा हि–'अजादेर्द्वितीयस्य' इति सनि द्विरुक्ते श्रूयमाणयोरुभयोः सत्यामप्यभ्यस्तसंज्ञायामड्भावादयो न भवन्ति । यथा च पुत्रीयियिषन्तीत्यादौ 'यथेष्टं नामधातूनाम्' इति सनि द्विरुक्ते, तद्वदत्रापि न भविष्यति । अत्र हि ईप्स+झि, ईर्त्स+झीति स्थितेऽड्भावात्प्राग्नित्यत्वाच्छप्, अड्भावो हि शपि कृते

न्यासः

प्रत्येकमभ्यस्तसंज्ञा प्रवर्त्तते । प्रत्येकमपि हि तयोः प्रवर्त्तमानासौ प्रवृत्तैव भवति । तथा हि—द्वाव.नीयेयातामित्युक्ते प्रत्येकमप्यानयनेन तावानीतौ भवतः । तस्मात् समुदाये संज्ञायाः प्रवृत्तिर्यथा स्यादेकैकस्य मा भूदित्येवमर्थमुभेग्रहणम् । समुदिते इति । सहिते, समुदायभूते इत्यर्थः । ननु च यत्राभ्यासः श्रूयते तत्रैव यथा स्याद्, यत्र तु न श्रूयते तत्र मा भूद् । ईप्सन्ति, ईप्सन्, ऐप्सन्नित्यादौ विषये मा भूदित्येवमर्थमुभेग्रहणं स्यात् ! नैतदस्ति; अभ्यासग्रहणं ह्यनुवर्तते, तत्रैवमभिसम्बन्धः क्रियते—द्वे अभ्यस्तसंज्ञे भवतः, अभ्यासश्चेदस्तीति । एवञ्च सति विनाप्युभेग्रहणं यत्राभ्यासः श्रूयते, तत्रैव

अभ्यस्तप्रदेशाः—'अभ्यस्तानामादिः' इत्येवमादयः ॥

जक्षित्यादयः षट् ॥ ६ ॥

पदमञ्जरी

तेन व्यवधानान्न प्राप्नोतीत्यनित्यः, ततः 'झोऽन्तः' प्राप्नोति, पूर्वेण सहैकादेशश्च, परत्वादन्तादेशः। नित्य एकादेशः—कृतेऽप्यन्तादेशे प्राप्नोति, अकृतेपि। अन्तादेशस्त्वनित्यः, कृते एकादेशे तस्यान्तवद्भावादभ्यस्तग्रहणेन ग्रहणादद्भावेन बाध्यते। यस्य च निमित्तं लक्षणान्तरेण विहन्यते तदनित्यम्। अन्तरङ्गस्तर्ह्येकादेशः; वर्णाश्रयत्वात्। अन्तादेशस्त्वाङ्गत्वाद्बहिरङ्गः, समानाश्रये च 'वार्णादाङ्गं बलीयः'; अन्तादेशोऽप्यन्तरङ्गः, वक्ष्यति हि—आयन्नादिषूपदेशिवद्वचनमिति। तदेवमुभयोरप्यन्तरङ्गयोर्नित्ययोश्च परत्वादन्तादेशः; ततो झकाराभावादलाश्रयत्वेन स्थानिवद्भावाभावाच्चादादेशो न भवति।

अस्तु वा पूर्वमेकादेशः, एवमपि 'आत्मनेपदेष्वनतः' इत्यत्र 'अनतः' इत्यस्य 'अदभ्यस्तात्' इति पूर्वेणापि सम्बन्धात्पूर्वस्मादपि विधावेकादेशस्य स्थानिवत्त्वाद्धाऽद्भावो न भविष्यति। एवमैप्सन्नित्यत्रापि, ईप्स=झि इति स्थिते शप् च प्राप्नोति, जुस्भावश्च, नित्यत्वाच्छपि कृते तेन व्यवधानान्न जुस्भावः। न च पूर्वेण सहैकादेशे कृते तस्यान्तद्भावात्पुनर्जुस्प्रसङ्गः, पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवत्त्वात्। ईप्सन्नित्यत्रापि लटः शत्रादेशः, ईप्स+शतृ इति स्थिते सार्वधातुकमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गत्वाच्छपि कृते तत्र सनोऽकारेणातो गुणे पररूपे पश्चात्सर्वनामस्थाने चोत्पन्ने नुमः प्रसक्तस्य तस्यां दशायां शत्रभ्यस्तयोर्व्यपवर्गाभावादुभयवर्णाश्रयत्वेनान्तादिवद्भावाभावाच्च निषेधाभावः। एवं प्रतीषिषन्तीत्यादावपि। चिकीर्षन्तीत्यादौ तु यत्र सनोऽकारो न द्विरुच्यते, तत्र तेनैव व्यवधानादद्भावाद्यभावः ॥

न्यासः

भविष्यति, नान्यत्र। तस्माद् वृत्तिकारोपदर्शितमेवोभेग्रहणस्य प्रयोजनं युक्तम्। ददतीति। ददातेर्लट्, झि, शप्, 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः', 'श्लौ' इति द्विर्वचनम्। अत्राभ्यस्तसंज्ञायां सत्याम् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः, 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः। दधात्विति। लोट्, 'एरुः' इत्युत्वम्।

समुदाय उदात्तत्वं यथा स्यादिति। उभेग्रहणे ह्यसति प्रत्येकमभ्यस्तसंज्ञा स्यात्। तस्माद् 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तमपि प्रत्येकं स्यात्। अथापि 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति नास्ति यौगपद्यसम्भवः, एवमपि पर्यायेण स्यात्! तस्माद् 'अभ्यस्तानामादिः' इत्येतत् कार्यं समुदाये यथा स्यात्; प्रत्येकं पर्यायेण वा मा भूदित्येवमर्थमुभेग्रहणम् ॥

'अभ्यस्तम्' इति वर्त्तते। 'जक्ष' इत्ययं धातुरित्यादयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञा भवन्ति। सेयं सप्तानां[1] धातूनामभ्यस्तसंज्ञा विधीयते। 'जक्ष भक्षहसनयोः' इत्यतः प्रभृति 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' इति यावत्। जक्षति। जाग्रति। दरिद्रति। चकासति। शासति।

दीध्यते, वेव्यते—इत्यत्र 'अभ्यस्तानामादिः' इत्येष स्वरः प्रयो-

पदमञ्जरी

जक्षित्यादयः षट् ॥ अत्र जक्षेः श्तिपि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीटि कृते जक्षितिरिति भवति, स आदिर्येषां ते जक्षित्यादय इति विज्ञायमाने वेव्यतेः सप्तमस्य न स्यात्, लाघवार्थमसन्देहार्थं च इकैव निर्देष्टव्यं स्यात्—जक्ष्यादय इति। तस्मान्नायमुक्तविग्रहो बहुव्रीहिः, किं तर्हि ? 'जक्ष' इति पृथक् पदमित्याह—*जक्ष इत्ययं धातुरित्यादयः षडिति*। इतिनानन्तरो जक्षिर्निर्दिश्यते। आदिशब्दः समीपवचनः, अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। *सेयमिति*। येयमुक्तप्रकारा, सेयमित्यर्थः।

एष स्वर इति। अन्यथा ङित्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वं धातुस्वरः, यणादेशे 'उदात्तस्वरितयोः' इति स्वरितत्वं प्रसज्यते। *शतरि व्यत्ययेन सम्पादित इति*। ङित्त्वात्परस्मैपदासम्भवाद्व्यत्ययः।

षड्ग्रहणमनर्थकम्, सन्त्वागणान्ता जक्षित्यादयः। वेवीङोऽपि परे ये पठ्यन्ते तेषां कस्मान्न भवति ? अत्रैवं गणपाठः, वेवीङोऽनन्तरम् 'षस स्वप्ने, वश कान्तौ, चर्करीतं च, ह्नुङ् अपनयने' इति, केचिद्वेवीङोऽनन्तरम् 'आङः शासु' इति पठन्ति, 'षस्ति स्वप्ने' इति च। तत्राशासो न विशेषः; अभ्यस्तकार्याणि

न्यासः

जक्षित्यादयः षट् ॥ **जक्षित्यादय इति**। एष निर्देशो जक्षेः श्तिबन्तस्यादिशब्देन बहुव्रीहावपि कृते भवति, द्वन्द्वेऽपि—यदा जक्षेरनजन्तस्येत्यादिशब्दस्य च द्वन्द्वः क्रियते। वाक्येऽपि यदानयोरन्तरोक्तयोरुभयोरपि प्रयोगो भवति, तदा तत्र बहुव्रीहौ गृह्यमाणे यदि तद्गुणसंविज्ञानोऽयं बहुव्रीहिराश्रीयेत, तदा वेवीङो ग्रहणं न स्यात्; अथातद्गुणसंविज्ञानोऽयम्, तदा जक्षेर्न स्यादितीमं बहुव्रीहेराश्रयणे दोषं दृष्ट्वेतरयोः पक्षयोरन्यतरमाश्रित्याह—जक्षित्ययं धातुरित्यादयश्चेत्यादि। अत्रेतिशब्दोऽतिक्रान्तप्रत्यवमर्शी। जक्षित्ययं धातुरनन्तरमतिक्रान्त इति स एव तेन प्रत्यवमृश्यते। इति आदिर्येषां त इत्यादयः, जक्षादय इत्यर्थः। ते पुनर्जागृप्रभृतयो वेवीङ्पर्यन्ताः। सेयं सप्तानां धातूनामभ्यस्तसंज्ञेति। जक्षित्येतदुपलक्षितानां जागर्त्तिप्रभृतीनां षण्णां जक्षितिरित्येतस्य च सप्तमस्य तेभ्यः पृथग्निर्दिष्टस्य।

---

1. जक्षिजागृदरिद्राणां चकासेः शास एव च।
दीधीवेव्योश्च सप्तानां जक्षित्याद्युपग्रहः॥

जनम् । दीध्यदिति च शतरि व्यत्ययेन सम्पादिते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमः प्रतिषेधः ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥ ७ ॥

तुजादीनामिति प्रकारे आदिशब्दः । कश्च प्रकारः ? तुजेर्दीर्घो-

पदमञ्जरी

भूयिष्ठानि परस्मैपदिषु, आत्मनेपदी चायम् । अभ्यस्तस्वरेऽपि नास्ति विशेषः, कथम् ? अनभ्यस्तेऽपि तस्मिन्ननुदात्तेतः परं लसार्वधातुकमनुदात्तं धातुस्वरश्च, चर्करीतमभ्यस्तमेव, षसषस्ती छान्दसौ, वशिरपि, तस्यापि भाषायां न प्रयोगस्साधुः—भाष्यवार्त्तिककारौ चेत्प्रमाणम् । ह्नुङोऽपि ङित्त्वात्परस्मैपदासम्भवः । स्वरस्तर्हि प्राप्नोति, 'अह्न्विङोः' इति प्रतिषेधवचनसामर्थ्यान्न भविष्यति, यदि स्यात्, तर्ह्यपह्नुवत इत्यादावभ्यस्तस्वरे सति लसार्वधातुकस्य भवितव्यमेव निघातेनेति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । तस्मात्प्रत्ययस्वरो यथा स्यात्, लसार्वधातुकानुदात्तत्वं मा भूदित्यह्न्विङोरिति प्रतिषेधोऽर्थवान् भवतीति प्रतिषेधसामर्थ्यात्प्रत्ययस्वरः एव भविष्यति, नाभ्यस्तरस्वरः । ननु चाभ्यस्तस्वरोऽजादौ विधीयते, ततः किम् ? अजादौ तस्मिन्प्रवृत्तेऽपि ह्नुते, षेह्नु, ह्नुवे—इत्यत्र तस्याप्रवृत्तौ ग्रह्यह्न्विङोरिति प्रतिषेधो न क्रियेत, ततो धातुस्वरेणाद्युदात्तं पदं स्यात् । अन्तोदात्तं यथा स्यादिति प्रतिषेधः क्रियेत । तदेवं सति प्रयोजने न प्रतिषेधसामर्थ्यादभ्यस्तस्वरं बाधित्वा प्रत्ययस्वरः सिध्यति । एवं तर्हि 'अभ्यस्तानामादिः' इत्यत्राप्यह्न्विङोरित्यनुवर्त्तिष्यते, तदेवं नार्थः षड्ग्रहणेन । तदुक्तम्—अपरिगणनं वा गणान्तत्वात् ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥ अयं योगः शक्योऽवक्तुम्, कथम् ? छान्द-

न्यासः

ननु च दीध्यते, वेव्यत इत्यत्रादादेशः 'आत्मनेपदेष्वनतः' इत्यनेनैव सिद्धः, शेषं चाभ्यस्तकार्यमाकारलोपादिकम्, तच्च दीधीवेव्योर्न सम्भवत्येव, तत्राकारलोपस्तावदाकारस्याभावान्न सम्भवति; जुस्भावोऽपि झेरभावात्, नुम्प्रतिषेधोऽपि ङित्वादात्मनेपदित्वाच्छतुः, तत् किमर्थमनयोरभ्यस्तसंज्ञा विधीयते ? इत्याह—**दीध्यते वेव्यत इत्यादि** । **दीध्यदिति च शतरीत्यादिना** प्रयोजनान्तरमपि दर्शयति । आत्मनेपदित्वादनयोर्व्यत्ययेन विना शता न सम्भवतीति व्यत्ययग्रहणम् ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥ आदिशब्दोऽयमस्त्येव व्यवस्थायाम्, अस्ति च प्रकारे, तत्र यदि व्यवस्थायां वर्त्तमानो गृह्येत, तदा 'तुज पिज हिंसायाम्' इत्यत आरभ्य ये पठितास्तेषामेव ग्रहणं स्यात्; एवञ्च सौत्राणां गणान्तरपठितानाञ्च दीर्घो न स्यादित्येतदालोच्याह—**तुजादीनामित्यादि** । **प्रकार आदिशब्द इति** । स च प्रकारोऽनिर्दिष्टत्वान्न ज्ञायत इति पृच्छति—**कश्च प्रकार इति** । **तुजो दीर्घत्वमित्यादिना** प्रका-

भ्यासस्य न विहितः, दृश्यते च, ये तथाभूतास्ते तुजादयः, तेषामभ्यासस्य दीर्घः साधुर्भवति। तूतुजानः। मामहानः। अनड्वान् दाधार। स्वधां मीमाय। दाधार। स तूताव।

दीर्घश्चैषां छन्दसि प्रत्ययविशेषे एव दृश्यते, ततोऽन्यत्र न भवति—तुतोज शबलान्॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य॥ ८॥

पदमञ्जरी

समेतद्दीर्घत्वं छन्दसि च दीर्घत्वं न शक्यं परिगणयितुम्, अन्येषामपि दर्शनात्—पूरुषः, नारक इति। अनेकाजङ्गत्वाच्च येषां चारभ्यते तेषामेव तस्मिन्प्रयोगे न दृश्यते—मामहानः, ममहान इति वा॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य॥ धातोरिति किमिति। लिटि परतोऽन्यो न सम्भवति; तस्य धातोरेव विधानादिति प्रश्नः। *विशृण्विरे इति।* 'छन्दस्युभयथा'

न्यासः

रार्थत्वं दर्शयति। **ये तथाभूता इति।** अनन्तरोक्तप्रकारमापन्ना इत्यर्थः। **दीर्घः साधुर्भवतीति।** एतेन सत एव दीर्घस्य साधुत्वमात्रमनेन क्रियते। न त्वपूर्वो दीर्घ इति दर्शयति। **तूतुजान इति।** लिट्। एतच्च प्रकारवाचिन आदिशब्दस्य परिग्रहाल्लभ्यते, तस्य कानच्। **मामहान इति।** 'मह पूजायाम्', शेषं पूर्ववत्। **दाधान इति।** 'डुधाञ् धारणपोषणयोः'। **मीमायेति।** 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', लिट्, णल्। **दाधारेति।** 'धृञ् धारणे'। **तूतावेति।** 'तु' इति सौत्रो धातुः; 'तुरुस्तुशम्यम' इत्यादिसूत्रे पठितत्वात्।

दीर्घश्चैषामित्यादिना यस्य सत एव साधुत्वमनेन क्रियते, स च दीर्घश्छन्दस्येव दृश्यते, न भाषायाम्। तत्रापि च्छन्दसि विषये प्रत्ययविशेषे कानजादौ, न प्रत्ययमात्रे। **ततोऽन्यत्र न भवतीति।** यथोक्ताद् विषयादन्यत्र न भवतीत्यर्थः। तुजेश्छन्दसि कानचि दृष्टः, ततोऽन्यत्र भाषायां छन्दस्यपि णलादौ प्रत्ययान्तरे न भवति। डुमिञ् छन्दसि णलि दृष्टः, ततोऽन्यत्र भाषायां छन्दस्यपि कानजादौ प्रत्ययान्तरे न भवति। यच्चैवं तेनास्यान्यत्राव्यापारः। सत एव दीर्घस्य साधुत्वमात्रमनेन विधीयते। न चान्यत्र दीर्घोऽस्ति यस्यानेन विधीयेत साधुत्वम्। एतच्च प्रकारवाचिन आदिशब्दाल्लभ्यत इति। **तुतोजेति।** भाषायां प्रयोगः। यदि तर्हि च्छन्दसि सत एव दीर्घस्य साधुत्वमनेन विधीयते, 'व्यत्ययो बहुलम्' इत्यनेन सुब्व्यत्ययस्य विहितत्वादपार्थकमेतत्? नापार्थकम्; तस्यैव प्रपञ्चार्थत्वात्॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य॥ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति, 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति चानुवर्त्तते। धातोरित्यवयवयोगा षष्ठी। सामानाधिकरण्ये हि प्रथमस्य, द्वितीयस्येति

लिटि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। पपाच। पपाठ। प्रोर्णुनाव। 'वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावः' इति वचनाद् ऊर्णोतेरिजादेरित्याम्न भवति।

लिटीति किम्? कर्त्ता। हर्त्ता। धातोरिति किम्? ससृवांसो विशृण्विरे। सोममिन्द्राय सुन्विरे। अनभ्यासस्येति किम्? कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्। नोनूयतेर्नोनाव। सम्मान्या मरुतः सम्मिमिक्षुः। लिटि उसन्तः।

पदमञ्जरी

इति सार्वधातुकत्वात् 'श्रुवः शृ च' इति श्नुप्रत्ययः, शृभावश्च। अत्र विकरणान्तस्य समुदायस्य लिट्परस्याधातुत्वात्तदीयस्य प्रथमस्यैकाचो द्विर्वचनाभावः। ईक्षाञ्चक्रे इत्यादौ त्वामन्तस्य लिटपरत्वं नास्ति; 'आमः' इति लुका लुप्तत्वादिति द्विर्वचनाभावः सिद्धः। *अनभ्यासस्येति किमिति*। न तावद् नुनाव, पपाचेत्यादौ तत्रैव लिटि पुनर्द्विर्वचनप्रसङ्गः; सकृत्प्रवृत्त्या लक्षणस्य चरितार्थत्वात्, अनवस्थापाताच्च। यस्तु प्रत्ययान्तरे सनादौ साभ्यासः, न तस्य लिटि सम्भवः; ततो हि 'कास्प्रत्ययाद्' इत्यामा भवितव्यमिति प्रश्नः। *नोनावेति*। 'अमन्त्रे' इति प्रतिषेधादत्रामभावः। *सम्मिमिक्षुरिति*। सम्पूर्वान्मिहेः सनि 'हो ढः', 'षढोः कः

न्यासः

च सम्बन्धो नोपपद्यते। 'अनभ्यासस्य' इति च प्रतिषेधाच्च। सामानाधिकरण्ये हि प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्, न ह्यभ्यासवानेकाज् धातुः सम्भवति। **यथायोगमिति**। हलादेः प्रथमस्यैकाचोऽवयवस्य, अजादेस्तु द्वितीयस्येत्येष यथायोगार्थः। **प्रोर्णुनावेति**। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति नुशब्दस्य द्विर्वचनम्। रेफस्य तु 'न न्द्राः' इति प्रतिषेधान्न भवति। ननु चोर्णोतेरिजादित्वात् 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि कृते 'आमः' इति लेर्लुक्, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति कृञो लिट्परस्यानुप्रयोगः, ततश्च प्रोर्णुवाञ्चकारेति भविष्यति, तत्कथं प्रोर्णुनावेति? अत आह—**वाच्य ऊर्णोरित्यादि**। नुवद्भावेन यथा नौतेराम् न भवति, तथोर्णोतेरपीति दर्शयति।

विश्रृण्विर इति। 'श्रु श्रवणे', 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इतीरेच्। 'छन्दस्युभयथा' इति लिटः सार्वधातुकत्वम्, ततः 'श्रुवः शृ च' इति श्नुः, शृभावश्च। 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' इति यणादेशः। **सुन्विरे इति**। 'षुञ् अभिषवे'। धातुग्रहणादिह विकरणस्य द्विर्वचनं न भवति। यस्तत्र धातुस्तस्य विकरणेन व्यवहितत्वान्न भवतीत्येके। छान्दसत्वादित्यपरे, सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति। एतच्च 'व्यत्ययो बहुलम्' इत्यस्माद् बहुलग्रहणाल्लभ्यते। एवञ्च कृत्वा 'द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा' इत्येतन्न

❀ द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम् ❀। यो जागार तमृचः कामयन्ते। दाति प्रियाणीति ॥

सन्यङोः ॥ ९ ॥

'धातोरनभ्यासस्य' इति वर्त्तते। 'सन्यङोः' इति च षष्ठ्यन्तमेतत्। सनन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यै-

पदमञ्जरी

सि', लिट्, झेरुस्, अतोलोपः। *द्विर्वचनप्रकरण इति*। प्रकरणग्रहणान्न केवलं सर्वं द्विर्वचनं छन्दसि विकल्प्यते। एवं च 'धातोः', 'अनभ्यासस्य' इत्युभयमुत्तरार्थम्। एतस्मादेव विकल्पाद्विकरणान्तसाभ्यासयोर्न भविष्यति ॥

सन्यङोः ॥ *षष्ठ्यन्तमेतदिति*। तत्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तस्य द्विर्वचनम्, न तु सन्यङोरेव, यदाह—*सनन्तस्य यङन्तस्य चेति*। सप्तमीपक्षे तु सन्यङोः

न्यासः

कर्त्तव्यं भवति। नोनावेति। 'णु स्तुतौ', यङ्, द्विर्वचनम्, 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणः, नोनूय इति स्थिते 'यङोऽचि च' इति यङो लुक्, लिट्। 'अमन्त्रे' इति निषेधादाम्न भवति। सम्मिमिक्षुरिति। 'मिह सेचने', अतः सम्पूर्वात् सन्, 'हो ढः' इति ढत्वम्, 'षढोः कः सि' इति कत्वम्, 'एकाचः' इत्यादिनेट्प्रतिषेधः, 'हलन्ताच्च' इति कित्वादगुणः, द्विर्वचनम्, षत्वम्; सम्मिमिक्ष इति स्थिते लिट्, 'अमन्त्रे' इति प्रतिषेधादाम् न भवति। झि, तस्य उस्, अतो लोपः।

जागारेति। लिट्। दातीति। श्लुः। वेति वचनात् पक्षे जजागार, ददातीत्यपि भवति ॥

सन्यङोः ॥ सन्यङोरिति सप्तम्यन्तमिदं वा स्यात्? षष्ठ्यन्तं वा? तत्र यदि सप्तम्यन्तं स्यात् तदायमर्थः स्यात्—सन्यङोः परत इति, ततश्चेटः सन्भक्तत्वात् सन्ग्रहणेन ग्रहणात्, सनश्चेह द्विर्वचननिमित्तत्वान् निमित्तस्य च कार्यिणोऽयोगादिटो द्विर्वचनं न स्यात्, ततश्चाटिटिषतीत्यादि न सिध्येत्। षष्ठ्यन्ते त्वस्मिन् प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्त उपस्थापिते सत्ययमर्थो जायते—सनन्तस्य यङन्तस्य च यः प्रथम एकाज् द्वितीयो वा तेनेटो द्विर्वचनं भवतीति। तथा चाटिटिषतीत्यादि सिध्यतीत्येतदालोच्याऽऽह—सन्यङोरिति षष्ठ्यन्तमेतदिति। अत्र च ज्ञापको योगविभाग इति। यदि हि 'सन्यङोः' इति सप्तम्यन्तं स्यात्, 'श्लुसन्यङः' इत्येकमेव योगं कुर्यात्। ननु चासत्यपि प्रयोजने ज्ञापकमस्ति, अस्ति चेह योगविभागस्य प्रयोजनम्, किं तत्? सामर्थ्याद् यथासंख्यं यथा स्यात्—सनि प्रथमस्य, यङि द्वितीयस्येति? नैतदस्ति; यदि ह्यत्र यथासंख्यमभिप्रेतं स्यात् तदा 'नीग्वञ्चु' इत्यादिना वञ्चुप्रभृतीनामभ्यासस्य

काचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। पिपक्षति। पिपतिषति। अरिरिषति। उन्दिदिषति।

यङन्तस्य—पापच्यते। अटाटचते। यायज्यते। अरार्यते। प्रोर्णोनूयते।

अनभ्यासस्येत्येव—जुगुप्सिषते। लोलूयिषते॥

श्लौ॥ १०॥

श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। जुहोति। बिभेति। जिह्रेति॥

पदमञ्जरी

परतः पूर्वस्य धातोर्द्विर्वचनं भवतीत्ययमर्थः स्यात्, ततश्च सन्भक्तस्येटो द्विर्वचनं न स्यात्—अटिटिषति, अशिशिषतीत्यादौ; तथा प्रतीषिषतीत्यादौ सनो न स्यात्। एवमरार्यत इत्यादौ यङः, तथा सप्तम्यामिष्टायां पूर्वेणापरेण वा सहैकमेव योगं कुर्यात्।

जुगुप्सिषत इति। गुपे 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्', तत्र सनि द्विर्वचनम्, पुनरिच्छासन, तत्राकृतत्वात्पुनर्द्विर्वचनप्रसङ्गः। *लोलूयिषते इति*। अत्रापि यङि द्विर्वचनम्, न तु सनीति द्विर्वचनप्रसङ्गः।

भागवृत्तिकारस्त्वाह—"पूर्वसूत्रे 'धातोरनभ्यासस्य' इति द्वयमपि प्रत्याख्याय *भाष्यकारेणोक्तम्*—'तिष्ठतु तावत्सांन्यासिकं धातुग्रहणम्' इति, उत्तरार्थमिति भावः। अनभ्यासग्रहणस्य तु न किञ्चित्प्रयोजनमुक्तम्, ततश्चोत्तरार्थमपि तन्न भवतीति *भाष्यकारस्याभिप्रायो* लक्ष्यते। तेनात्र भवितव्यमेव द्विर्वचनेन" इति॥

श्लौ॥ श्लौ परत इति। वर्णानामपि युगपदवस्थानाभावाद् बुद्धिपरिकल्पितं पौर्वापर्यम्, तच्चाभावरूपेण श्लुनाप्युपपद्यत इति भावः। *अनभ्यासस्येति*।

न्यासः

यङ्लुको नीगागमविधानं नोपपद्यते। यथासंख्ये हि सति यद्येषां द्विर्वचनं नास्तीति नीगागमं न विदध्यात्। तस्माद् योगविभागात् षष्ठ्यन्तमेतदित्यवसीयते।

अटाट्यत इति। यङ्विधौ 'सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनामुपसंख्यानम्' इति यङ्। **प्रोर्णोनूयत इति**। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः। **जुगुप्सिषत इति**। गुपेः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति सन्, तदन्ताद् 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकात्' इत्यादिनेच्छायां पुनः सन्।

लोलूयिषत इति। यङन्तात् सन्॥

श्लौ॥ श्लौ परत इति। ननु च प्रत्ययादर्शनं श्लुः, तच्चाभावरूपम्, न चाभावे

चङि ॥ ११ ॥

चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः । अपीपचत् । अपीपठत् । आटिटत् । आशिशत् । आर्दिदत् ।

पचादीनां ण्यन्तानां चङि कृते णिलोप उपधाह्रस्वत्वं द्विर्वचनम् इत्येषां कार्याणां प्रवृत्तिक्रमः । तथा च–'सन्वल्लघुनि चङ्परे' इति

पदमञ्जरी

अधिकारमात्रेणैतदुक्तम्, न तु श्लौ साभ्यासो भवति । एवं *द्वितीयस्य* चेत्यत्र द्रष्टव्यम् ॥

चङि ॥ *एषां कार्याणां प्रवृत्तिक्रम इति* । एतच्च 'अचः परस्मिन्' इत्यत्रोपपादितम्, तत एवावधातव्यम् । न केवलं न्याय्यत्वादयं क्रम आश्रीयते, किन्तु प्रयोजनमप्यनन्यथासिद्धमस्तीत्याह—*यथा हीति* । *ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न*

न्यासः

पौर्वापर्य्यमस्ति, तदयुक्तमुक्तम्—श्लौ परत इति ? स्थानिनः परत्वात्तस्यापि तद्द्वारेण-पौर्वापर्यमौपचारिकं गृहीत्वैव युक्तमुक्तमित्यदोषः ॥

चङि ॥ **अपीपचदित्यादि** । पचादिभ्यो ण्यन्तेभ्यो लुङ्, अडागमः, च्लिः, 'णिश्रि' इत्यादिना च्लेश्चङ् । अत्रेदानीं द्विर्वचनं प्राप्नोति णिलोपश्च; द्वयोरपि कृताकृतप्रसङ्गित्वान्नित्यत्वम्, ततश्चोभयोस्तुल्यबलत्वात् परत्वाण्णिलोपः । **आटिटदिति** । अत्रापि णिलोपे कृते णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनं भवत्येव । स्थानिवद्भावस्तु 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यनेन ।

णिलोपोऽपि नित्यः, अकृतेऽपि द्विर्वचने तेन भवितव्यम्, कृतेऽपि । न च शब्दान्तरप्राप्तिः; द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनं भवतीति कृत्वा । स्थाने द्विर्वचनं त्वत्र न स्वीक्रियते; लक्ष्यानुरोधात् । ततश्चोभयोस्तुल्यबलयोः परत्वाण्णिलोपः । तत्र कृते द्विर्वचनं प्राप्नोत्युपधाह्रस्वश्च; तयोरपि कृताकृतप्रसङ्गित्वान्नित्यत्वम् । द्विर्वचनमपि ह्यकृते ह्रस्वत्वे प्राप्नोति, कृतेऽपि । न च शब्दान्तरप्राप्तिः; 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इति वचनात् । ह्रस्वत्वमपि कृते द्विर्वचने प्राप्नोत्यकृतेऽपि । न च शब्दान्तरप्राप्तिः, स एव शब्दो द्विरुच्यत इति कृत्वा । स्थाने द्विर्वचनं त्वत्र नाश्रीयते; लक्ष्यानुरोधात् । तत्रोभयोस्तुल्यबलयोः परत्वाद् ह्रस्वत्वम्, ततो द्विर्वचनेन 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावादित्वम्, 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः—इत्येतानि कार्य्याणि कर्त्तव्यानि । अत एवाह वृत्तौ—**पचादीनामित्यादि** । किं पुनः कारणं तथा शास्त्रप्रवृत्तिः क्रियते, यथैषां कार्याणामयं प्रवृत्तिक्रमो भवति ? इत्याह—**तथा चेत्यादि** । **ह्रस्वस्य स्थानि-**

सन्वद्भावो विधीयमानो ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न प्रतिषिध्यते। यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावो भवति। न चास्मिन् कार्याणां क्रमेणानादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासो भवतीति ।

पदमञ्जरी

प्रतिषिध्यत इति। 'ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावात्प्रतिषिध्यते' इति यत्तन्न भवति, स्थानिवद्भावाभावादित्यर्थः। कथं पुनरस्मिन् कार्यक्रमे सति स्थानिवद्भावो न भवति? इत्यत आह–*अनादिष्टादच इति*। [करणे हेतौ ?]। 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावो भवतीति सिद्धान्तः स्थापितः। न चास्मिन् क्रमे सत्यनादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासो भवति, किं तर्हि? आदिष्टादेव; ह्रस्वत्वे कृतेऽभ्यासोपजननात्। तेन तस्य विधौ कर्त्तव्ये ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावो न भवतीति लघुत्वानिवृत्तेः सन्वद्भावो न व्याहन्येत। यदि तु द्विर्वचने कृते ह्रस्वः क्रियते, तर्ह्यनादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासः स्यात्, ततश्च तस्य स्थानिवद्भावः स्यादेव विधौ, ततश्च दीर्घत्वाल्लघुसंज्ञाया अभावात्सन्वद्भावो न स्यात्। क्व तर्हि स्याद्? अशीशमदित्यादौ। अत्र हि णावेव मितां ह्रस्वो विधीयते। यदि तर्ह्ययं कार्यक्रमः, आटिटदित्यादौ द्वितीयस्यैकाचष्टिशब्दस्य

न्यासः

वद्भावान् न प्रतिषिध्यत इति। तस्याभावादिति भावः। हेतौ चेयं पञ्चमी। यथा—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' इति। अत्र हि 'सन्वल्लघुनि' इत्यादिना लघुनि धात्वक्षरे परे सन्वद्भावो विधीयमानो ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावाद्धेतोः प्रतिषिध्यते, तस्मिन् सति लघुता निवर्त्तत इति कृत्वा। स चास्मिन् क्रमे सति स्थानिवद्भावो न सम्भवतीति सन्वद्भावो न प्रतिषिध्यते; प्रतिबन्धहेतोरभावात्।

कथं पुनरस्मिन् क्रमे सति कार्याणां स्थानिद्भावो न सम्भवतीत्याह—**यो ह्यनादिष्टादित्यादि**। 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इत्यत्र यो ह्यनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिम् प्रति स्थानिवद्भावो भवतीत्येष सूत्रार्थो व्यवस्थितः। न चास्मिन् क्रमे सत्यत्राभ्यासोऽनादिष्टादचः पूर्वो भवति, किं तर्हि? आदिष्टादेव। तेन तस्य विधौ कर्त्तव्ये ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावो न भवतीति लघुत्वं न निवर्त्तते। ततश्च 'सन्वत्' इत्यादिना लघुनिमित्तकः सन्वद्भावो विधीयमानो न व्याहन्यते। यदि पुनर्द्विर्वचनं कृत्वा ह्रस्वादि कार्यं विधीयते ततोऽनादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासः स्यात्, ततश्च तस्य विधौ कर्त्तव्ये ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावः स्यादेव! एवं 'दीर्घञ्च' इति लब्धस्वभावया गुरुसंज्ञया लघुसंज्ञायां निरस्तायां सन्वद्भावोऽन्यत्र सावकाश इह न स्यात्। कः पुनस्तस्यावकाशः? अशीशमदित्यादि। अत्र हि णौ परभूते प्रागेव 'मितां ह्रस्वः' विधीयते।

यदि तर्ह्ययं कार्यक्रमः, आटिटदित्यत्र णिलोपे कृते द्वितीयस्यैकाचष्टिशब्दस्य

आटिटदिति 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवद्भावाद् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनं भवति ॥

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च ॥ १२ ॥

दाश्वान्, साह्वान्, मीढ्वान्—इत्येते शब्दाश्छन्दसि भाषायां चाविशेषेण निपात्यन्ते । दाश्वानिति 'दाशृ दाने'—इत्येतस्य धातोः क्वसावद्विर्वचनमनिट्त्वं च निपात्येते । दाश्वांसो दाशुषः सुतमिति ।

साह्वानिति 'षह मर्षणे'—इत्येतस्य परस्मैपदम्, उपधादीर्घत्वम्, अद्विर्वचनम्, अनिट्त्वं च निपातनात् । साह्वान्बलाहकः ।

पदमञ्जरी

द्विर्वचनं न प्राप्नोति ? अत्राह—*आटिटदित्यादि* ।

'श्लुचङोः' इत्येकयोग एव कर्त्तव्ये योगविभागो वैचित्र्यार्थः ॥

दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च ॥ दाश्वादीनां प्राचुर्येण छन्दसि प्रयोगदर्शनाच्छान्दसमेतत्सूत्रमिति मन्यमानं प्रत्याह—*अविशेषेणेति* । विशेषानुपादानादिति भावः । *परस्मैपदमिति* । भौवादिकस्यात्मनेपदित्वात्, चौरादिकस्य तु 'आ धृषाद्वा' इति णिजभावपक्षे दीर्घत्वमनिट्त्वं च निपात्यत इत्यन्ये । *मीढ्वस्तोकायेति* । 'मतुवसोः' इति नुमो रुत्वम् ।

न्यासः

द्विर्वचनं न प्राप्नोति; तदभावात् ? इत्यत आह—**आटिटदित्यत्र द्विर्वचनेऽचीत्यादि** । अथ किमर्थमेतानि त्रीणि सूत्राणि पृथक् क्रियन्ते—'लिटि धातोरनभ्यासस्य', 'श्लौ', 'चङि' इति, न 'लिट्श्लुचङ्क्षु' इत्येक एव योगः क्रियताम्; तत्रायमप्यर्थः—पुनः पुनर्विभक्तिर्नोच्चारयितव्या, लिटि श्लौ च द्विर्वचनम् ? तदनित्यमिति ज्ञापनार्थम् पृथग्योगकरणम् । तेन 'यो जागार तमृचः कामयन्ते', 'दाति प्रियाणि', 'धाति प्रियाणि' इत्यत्र न भवति द्विर्वचनम्, ततश्च 'द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा' इत्येतन्न कर्त्तव्यं भवति ॥

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च ॥ **अविशेषेण निपात्यन्त इति** । विशेषानुपादानात् । **अनिट्त्वं चेति** । 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इतीट् प्राप्नोति, अतस्तदभावो निपात्यते । ननु च कृतद्विर्वचनानामेकाचामिड् विधास्यते, अयंचाकृतद्विर्वचनमेकाज् भवति; अकृतद्विर्वचनत्वात्, तदयुक्तमनिट्त्वनिपातनम् ? नैतदस्ति; लिटि हि श्रूयमाणैकाजुपलक्षणार्थं तत्र कृतद्विर्वचनग्रहणं कृतम् । अस्ति चात्र लिटि श्रूयमाणैकाच्त्वमिति कात्रायुक्तता ? **परस्मैपदमिति** । सहेरात्मनेपदित्वात् परस्मैपदं न प्राप्नोतीत्यतस्तन्निपात्यते ।

मीढ्वानिति 'मिह सेचने'—इत्येतस्याद्वित्वम्, अनिट्त्वम्, उपधादीर्घत्वं ढत्वं च निपातनात्। मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय। एकवचनमतन्त्रम्।

❀ कृञादीनां के द्वे भवत इति वक्तव्यम् ❀। क्रियतेऽनेनेति चक्रम्। चिक्लिदम्। कृञः क्लिदेश्च 'घञर्थे कविधानम्' इति कप्रत्ययः।

❀ चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक्चाभ्यासस्य ❀। चरादीनां धातूनामपि प्रत्यये परतो द्वे भवतः। अभ्यासस्यागागमो भवति, आगागमविधानसामर्थ्याच्च हलादिशेषो न भवति। हलादिशेषे हि सत्यागमस्यादेशस्य च विशेषो नास्ति। चराचरः। चलाचलः। पतापतः। वदावदः।

❀ वेति वक्तव्यम् ❀। तेन चरः पुरुषः, चलो रथः, पतं यानम्, वदो मनुष्यः—इत्येवमाद्यपि सिद्धं भवति।

❀ हन्तेर्घत्वं च ❀। हन्तेरचि प्रत्यये परतो द्वे भवतोऽभ्यासस्य च हकारस्य च घत्वमाक् चागमो भवति। परस्य 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वम्। घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।

❀ पाटेर्णिलुक् चोक् च दीर्घश्चाभ्यासस्य ❀। पाटेरचि परतो द्वे भवतः, णिलुक्च भवति। अभ्यासस्य चोगागमो दीर्घश्च भवति। पाटूपटः॥

पदमञ्जरी

किं पुनः सामर्थ्यम्? इत्याह—*हलादिशेषे हीति*। *चराचर इति*। दीर्घोच्चारणसामर्थ्याद् ह्रस्वो न भवति।

णिलुक्चेति। 'णेरनिटि' इति णिलोपे सिद्धे पुनर्वचनं प्रत्ययलक्षणेन पुनर्वृद्धिर्मा भूदिति। *पाटूपट इति*। पूर्ववद्धलादिशेषाभावो ह्रस्वत्वाभावश्च। दीर्घोच्चारणादेव 'अभ्यासस्यानचि' इति वचनाद्वा उभयत्रापि हलादिशेषाभावः। अभ्यासस्य यदुच्यते तदचि न भवतीत्यर्थः॥

न्यासः

किं पुनः सामर्थ्यमित्याह—**हलादिशेष इत्यादि**। यदि हलादिशेषः स्यात्, एवञ्च सत्यामाकारादेशमेव कुर्यात्, न हि हलादिशेषे सत्यागमस्यादेशस्य वा विशेषोऽस्ति।

णिलुक्चेति। 'णेरनिटि' इति णिलोपे सिद्धे लुग्वचनं प्रत्ययलक्षणेनोपधावृद्धिर्मा भूदित्येवमर्थम्। लोपे हि सति प्रत्ययलक्षणेनोपधावृद्धिः स्यात्, लुकि तु 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रतिषेधान्न भवति॥

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥ १३ ॥

पुत्र, पति–इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति । यणः स्थाने इग्भवतीत्यर्थः । कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः । करीषस्येव गन्धोऽस्य, कुमुदस्येव गन्धोऽस्येति बहुव्रीहिः, तत्र 'उपमानाच्च' इति गन्धस्येदन्तादेशः, करीषगन्धेरपत्यमित्यण्, तदन्तात्स्त्रियाम् 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे' इति ष्यङ्, ततश्चापि विहिते षष्ठीसमासः, 'सम्प्रसारणस्य' इति दीर्घत्वम् ।

ष्यङ इति किम् ? इभ्यापुत्रः । क्षत्त्रियापुत्रः । पुत्रपत्योरिति किम् ? कारीषगन्ध्याकुलम् । कौमुदगन्ध्याकुलम् । तत्पुरुष इति किम् ? कारीषगन्ध्यापतिरस्य ग्रामस्य कारीषगन्ध्यापतिरयं ग्रामः ।

पदमञ्जरी

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥ 'इग्यणः संप्रसारणम्' इत्यत्रोक्तम्— 'वाक्यार्थः संज्ञी वर्णश्च' इति, तत्र विधौ वाक्यार्थ उपतिष्ठते इति तदाश्रयेणाऽऽह—*यणः स्थान इग्भवतीत्यर्थ इति* ।

तदन्तात् ष्यङिति । ष्यङ्विधावादेशपक्षस्य स्थितत्वाल्ल्यब्लोप एषा पञ्चमी, तदन्तमाश्रित्येत्यर्थः । अतद्गुणसंविज्ञानेऽत्र बहुव्रीहिः, अण् प्रत्ययोऽन्तः समीपो यस्य कारीषगन्धेस्तस्मात्परः ष्यङित्यर्थः । प्रत्ययपक्ष एव वामनाचार्यस्य तत्राभिमतः । तथा च 'ये च तद्धिते' इत्यत्र वक्ष्यति[1]—'अणिञन्ताद्वा परः

न्यासः

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥ सम्प्रसारणमिति यण्स्थानिकस्येक एषा संज्ञा विहिता, वाक्यार्थस्य च । 'इग्यणः' इति योऽयं वाक्यार्थः स्थान्यादेशसम्बन्धलक्षणस्तस्य तत्र चेदमुक्तमनुवादे वर्ण उपतिष्ठते, विधौ तु वाक्यार्थ इति; विधिश्चायम्, अतो वाक्यार्थस्यैवोपस्थानमित्याह—यणः स्थान इत्यादि । ततश्चापि विहित इति । 'यङश्चाप्' इत्यनेन ।

इभ्यापुत्र इति । इभमर्हतीति 'दण्डादिभ्यो यः' । क्षत्त्रियापुत्र इति । क्षत्त्रस्यापत्यमिति 'क्षत्त्रात् घः' इति घः ।

'ष्यङः' इति प्रत्ययग्रहणमिदम्, तत्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया उपस्थानाद् यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्येति तदादितदन्तग्रहणमिहैव स्यात्—कारीषगन्धीपुत्र इति, इह तु न स्यात्—परमकारीषगन्धीपुत्र इति; कारीषगन्धशब्दाद्धि ष्यङ् विहितः,

1. वस्तुतस्तु 'अचि शीर्षः' (६. १. ६२) इत्यत्र ।

ष्यङ इति स्त्रीप्रत्ययग्रहणम्, 'न स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने' इति

पदमञ्जरी

ष्यङ् प्रत्यय एषितव्यः' इति।

इभमर्हतीतीभ्या, 'दण्डादिभ्यो यः', इह कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तस्य पुत्रोऽतिकारीषगन्ध्यापुत्र इति प्रत्ययग्रहणपरिभाषया समुदायस्याष्यङन्तत्वेऽपि योऽत्र ष्यङन्तस्तस्य प्रसङ्गः। तथा पुत्रस्य कुलं पुत्रकुलम्, कारीषगन्ध्यापुत्रकुलमिति वर्णग्रहणे तदादिविधिविज्ञानादिह च तदभावात्तदादिविध्यभावेऽपि पुत्रपत्यानन्तर्याश्रयं संप्रसारणं प्राप्नोति। नात्र तर्हीदानीमिदं भवति—कारीषगन्धीपुत्रकुलमिति। भवति च यदैतद्वाक्यं भवति—कारीषगन्धायाः पुत्रः कारीषगन्धीपुत्रस्तस्य कुलं कारीषगन्धीपुत्रकुलमिति। कः पुनरनयोरर्थभेदः? न खलु कश्चित्, कारीषगन्ध्यापुत्रकुलमिति न सिध्यतीति चोद्यार्थः। तथा–अतिकारीषगन्ध्यापुत्रकुलमित्यादावपि सर्वत्र पुत्रपत्योः ष्यङन्तस्य चानन्तर्यमाश्रित्य सम्प्रसारणप्रसङ्गः।

स्यादेतत्—यथा वृक्षे शाखेति वृक्षः शाखाया अवयवी प्रतीयते, तथेहापि ष्यङन्तस्य पुत्रपत्योश्च तत्पुरुषः, तत्र प्रत्यासत्त्या यस्य तत्पुरुषस्य ष्यङन्तोऽवयवस्तस्यैव पुत्रपती इति गम्यते, इह न तथेति? एवमप्यवयवावयवस्य समुदायावयवत्वादस्त्येव प्रसङ्गः? नैष दोषः; पुत्रपत्योरिति सप्तमीनिर्देशात् ष्यङन्तस्य पुत्रपत्योश्च पौर्वापर्यं प्रतीयते, पूर्वोक्तेन न्यायेन तत्पुरुषावयवत्वं च। तत्पुरुषश्च पौर्वापर्यावस्थितावयवद्वयात्मकः। तदिह तत्पुरुषावयवयोः पौर्वापर्येणावस्थितयोरिदं भवतीत्युक्ते ययोः स तत्पुरुषस्तावेताविति गम्यते, ष्यङन्तस्य पूर्वपदस्य पुत्रपत्योरुत्तरपदयोरित्यर्थः। समासे च यस्माच्च पूर्वं नास्ति तत्पूर्वपदम्, यस्माच्च परं नास्ति तदुत्तरपदम्, तदिदमुक्तम्—'पुत्रपत्योरुत्तरपदयोः' इति। पूर्वोदाहृतेषु च यत्पूर्वपदं न तत्ष्यङन्तम्, यत् ष्यङन्तं न तत्पूर्वपदम्, यच्चोत्तरपदं न तत्पुत्रपत्यात्मकम्, यच्च पुत्रपत्यात्मकं न तदुत्तरपदमिति नास्ति प्रसङ्गः। इहापि तर्हि न प्राप्नोति–परमकारीषगन्धीपुत्र इति? तत्राह–ष्यङ इति स्त्रीप्रत्ययग्रहणमिति। 'स्त्रियाम्' इति प्रकृत्य विहितत्वात्स्थानिवद्भावेन स्वयमेव

न्यासः

न परमकारीषगन्धशब्दात्? अत इदं द्वेष्यमपाकर्तुमाह—ष्यङिति स्त्रीप्रत्ययग्रहणमिति। 'स्त्रियाम्' इत्यधिकृत्य विहितत्वात्। स्त्रीत्वं स्थानिवद्भावेन च प्रत्ययत्वं ष्यङः, न हि तस्यान्यथा स्त्रीप्रत्ययत्वमुपपद्यते; आदेशपक्षस्य च तत्राश्रितत्वात्। यदि स्त्रीप्रत्ययग्रहणमेतत्; ततश्च किमिति? तदादिनियमो न भवति; यतोऽधिकस्याप्यत्र ग्रहणं स्यात्, अतिप्रसङ्गो वा। असति हि नियमे यथेह भवति—परमकारीषगन्धीपुत्र इति, तथेहापि स्याद्—अतिकारीषगन्ध्यापुत्र इति, अत आह—न स्त्रीप्रत्यये चेत्यादि। प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया 'न स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने' इत्ययमपवादः कृतः। तेन यत्रानुप-

प्रत्ययग्रहणपरिभाषया 'यस्मात् स विहितस्तदादेः' इत्येष नियमो नास्ति; तेन परमकारीषगन्ध्यायाः पुत्रः परमकारीषगन्धीपुत्रः, परमकारीषगन्धीपतिरित्यपि भवति।

उपसर्जने तु ष्यङि न भवति—अतिक्रान्ता कारीषगन्ध्यामतिकारीषगन्ध्या, तस्य पुत्रोऽतिकारीषगन्ध्यापुत्रः, अतिकारीषगन्ध्यापतिः।

पुत्रपत्योः केवलयोरुत्तरपदयोरिदं सम्प्रसारणम्, तदादौ तदन्ते च न भवति—कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्, कारीषगन्ध्यापरमपुत्र इति।

पदमञ्जरी

वा प्रत्ययत्वाच्च स्त्रीप्रत्ययत्वम्। यदि स्त्रीप्रत्ययग्रहणम्, ततः किम्? इत्यत आह—*तेनेति*।

अप्रधानम्=*उपसर्जनम्*। एतदुक्तं भवति—यत्रार्थे स्त्रीप्रत्ययो विहितः स यावति तदन्ते प्राधान्येनोच्यते तावान्समुदायस्तदन्ततया ग्राह्यः। अप्रधाने च यतो विहितस्तदादिके च तदन्ते च न भवति। यदा तत्पुरुषाक्षिप्तमुत्तरपदं पुत्रपतिभ्यां विशेष्यते तदा तदन्ते प्रसङ्गः, इह तूत्तरपदेन पुत्रपती विशेष्येते इति भावः।

न्यासः

सर्जनः स्त्रीप्रत्ययस्तत्रैषा प्रत्ययग्रहणपरिभाषा न प्रवर्त्तत इति तदादिनियमो नास्ति, तेन परमकारीषगन्धीपुत्र इत्यत्र भवत्येव। अत्र हि परमा चासौ कारीषगन्ध्या चेति 'सन्महत्' इत्यादिना समासः, स्त्रीप्रत्ययस्य प्राधान्यम्, 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। यत्र तूपसर्जनं स्त्रीप्रत्ययस्तत्रानुपसर्जन इति वचनादुपतिष्ठत एवैषा परिभाषा। तेन भवत्येवात्र तदादिनियमः। तेनेह न भवति—अतिकारीषगन्ध्यापुत्र इति। अत्र हि कारीषगन्ध्यामतिक्रान्त इति प्रादिसमासः। अत्र योऽसावतिक्रान्तः स प्रधानम्, कारीषगन्ध्या तूपसर्जनम्। अत एव 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वो भवति। पुत्रपत्योः संप्रसारणे तदादावतिप्रसङ्गः। इहापि प्राप्नोति—कारीषगन्ध्यापुत्रकुलमिति। तथा हि—पुत्रपत्योरिति सप्तमी कार्यिण आनन्तर्यमाचष्टे, ततश्च शुद्धयोस्तदादौ चाविशिष्टम्। अथापि कथञ्चित् तदादौ न स्याद्, एवमपि 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति तदन्तेऽतिप्रसङ्ग इहापि प्राप्नोति—कारीषगन्ध्यापरमपुत्र इति।

विधिविधानविधिभाजां त्रयाणां सन्निधाने तदन्तविधिर्भवति। ते चेह सन्ति—विधिः संप्रसारणम्, विधिभाक् ष्यङ्, विधानं पतिपुत्रशब्दौ। इह च तत्पुरुषेणाव्यभिचारात् सन्निधापितं यदुत्तरपदं तत् पुत्रपतिशब्दाभ्यां विशेष्यते, विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवतीति पुत्रशब्दान्ते पतिशब्दान्ते चोत्तरपदे सम्प्रसारणं भवतीति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तां निराकर्तुमाह—पुत्रपत्योरित्यादि। एवं मन्यते—तत्पुरुषोऽत्र पुत्रपत्योः ष्यङश्चाधिकरणभूतो निर्दिश्यमानस्तत्पुरुषावयवत्वं पुत्रपत्योः ख्यापयति,

ष्यङन्ते च यद्यप्यन्ये यणः सन्ति; तथापि ष्यङ एव संप्रसारणम्, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति ।

सम्प्रसारणमिति चाधिक्रियते 'विभाषा परेः' इति यावत् ॥

पदमञ्जरी

निर्दिश्यमानस्येति । एतच्च 'षष्ठीस्थाने योगा' इत्यत्र व्याख्यातम् । 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' इति तु परिभाषा प्रयोजनाभावान्नाश्रिता ।

सम्प्रसारणग्रहणमुत्तरार्थम् । इह त्वीशापि सिद्धम्, शकारः सर्वादेशार्थः । तत्रायमप्यर्थः—सम्प्रसारणस्येति योगविभागेन दीर्घत्वं न विधेयं भवति, तदेवोत्तरार्थत्वं दर्शयति—*सम्प्रसारणमिति चेत्यादि* ।

पूर्वं यत्र ष्यङन्तं पदमुपरितनं पुत्रपत्यात्मकं स्याद्
दृष्ट्वा तत्र ष्यङं तत्पुरुष इह यण स्थान इग्भावनीयः ।
यत्रार्थे ष्यङ् स यावत्यपि सति न गुणोऽसाविहेष्टस्तदन्ते
यत्रेत्यर्थः प्रधानो न भवति स यतः ष्यङ् तदाद्येव तत्र ॥

न्यासः

तद्यथा—वृक्षे शाखेति । वृक्षः शाखाया अधिकरणत्वेन निर्दिश्यमानः शाखाया वृक्षावयवत्वं बोधयति; तत्र प्रत्यासत्तेः । यत्र तत्पुरुषे ष्यङ् कार्यभागवयवः स्थितः, तस्यैव तत्पुरुषस्य याववयवौ पुत्रपती तयोरेव ग्रहणम्, न तु पुत्रपत्यादावुत्तरपदे यौ पुत्रपतिशब्दौ तौ तस्यैव ष्यङः पूर्वपदस्य तत्पुरुषस्यावयवौ । अपि तु तत्पुरुषस्यान्तरस्यापि पुत्रकुलशब्दस्य, पतिकुलशब्दस्य च । तस्मात् तदादौ तावन् न भवत्यतिप्रसङ्गः । तदन्तेऽपि न भवत्येव; यस्मादिह पुत्रपतिग्रहणं यच्च तत्पुरुषेण सन्निधापितमुत्तरपदं तयोर्विशेषणविशेष्यभावं प्रति कामचारः । तत्र यदीहोत्तरपदं पुत्रपतिशब्दाभ्यां विशिष्येत तदा स्यात् तदन्तविधिः, विशेषणेन तदन्तविधिर्भवतीति कृत्वा । न चेह ताभ्यां तद्विशिष्यते, अपि तु तावेव तेन; ततश्च तदन्तविधेरभावात् केवलयोरेवेदं विशेषणं भवतीति कुतस्तदन्तेऽतिप्रसङ्गः ? ननु च यद्युत्तरपदेन पुत्रपती विशिष्येते तेन तयोस्तदन्तता विज्ञायते, ततश्चोत्तरपदपदान्तयोरेव ग्रहणं स्यात्, न केवलयोः, एवञ्च तदादावतिप्रसङ्गः ? नैतदस्ति; न हि पुत्रपतिशब्दावुत्तरपदान्तौ सम्भवतः । यस्मादयमन्तशब्दोऽवयववचनः । न च पुत्रपतिशब्दयोरुत्तरपदमवयवः । किं तर्हि ? समासस्य, न च तौ समासौ । तस्मान्नैवं विज्ञायते—उत्तरपदान्तयोः पुत्रपतिशब्दयोरिति, किं तर्हि ? पुत्रपत्योरेवोत्तरपदयोः केवलयोरिति ।

'येन विधिस्तदन्तस्य' इति तदन्तविधिनात्र ष्यङन्तस्य सम्प्रसारणं विज्ञायते, ततश्च वाराहीपुत्र इत्यत्र वकारस्यापि सम्प्रसारणं प्राप्नोतीत्यत आह—**ष्यङन्ते चेत्यादि** । तत्रैव कारणमाह—**निर्दिश्यमानस्येत्यादि** । **सम्प्रसारणग्रहणमुत्तरार्थम्** । अतो हीकारग्रहणेनापि सिध्यत्येव । तां चोत्तरार्थतां तत्रैव दर्शयिष्यामः । तामेवोत्तरार्थतां सूचयन्नाह—**सम्प्रसारणमित्यादि** ॥

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥ १४ ॥

'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यनुवर्तते। बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति। कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः। कौमुदगन्धीबन्धुः।

बहुव्रीहाविति किम्? कारीषगन्ध्याया बन्धुः कारीषगन्ध्याबन्धुः। अत्रापि पूर्ववदेव। परमकारीषगन्धीबन्धुरित्यत्र भवति। अतिकारीषगन्ध्याबन्धुरिति च न भवति, तथा कारीषगन्ध्याबन्धुधनः, कारीषगन्ध्यापरमबन्धुरित्यादौ न।

बन्धुनीति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः शब्दरूपापेक्षया, पुंल्लिङ्गाभिधेयोऽयं बन्धुशब्दः।

❀ मातच्मातृकमातृषु ❀। ष्यङः सम्प्रसारणं भवति विभाषया बहुव्रीहावेव। कारीषगन्ध्या माताऽस्य—इत्येवं बहुव्रीहौ कृते एतस्मादेवोपसंख्यानात्। पक्षे मातृशब्दस्य मातजादेशः, तत्र चित्करणसामर्थ्याद्बहुव्रीहिस्वरमन्तोदात्तत्वं बाधते।

पदमञ्जरी

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥ *शब्दरूपापेक्षयेति*। 'बन्धु' इत्येतस्मिन् शब्दरूपमित्येवं शब्दरूपमपेक्ष्य नपुंसकनिर्देशः कृतः। किमर्थमेवं व्याख्यायते? इत्यत आह—*पुंल्लिङ्गाभिधेयस्त्वयमिति*। योऽयमस्मिन्सूत्रे बन्धुशब्द उपात्तः स इत्यर्थः। कुत एतत्? नपुंसकलिङ्गस्यापि विद्यमानत्वात्, बध्यतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धु=द्रव्यम्, 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि' इति। यद्येवम्, तस्यैव ग्रहणं प्राप्नोति? नैष दोषः; पतिपुत्रसाहचर्याज्जातिवचन एव ग्रहीष्यते।

न्यासः

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥ बन्धुनीति नपुंसकनिर्देश इत्यादि। बन्धुनीति शब्दरूपापेक्षया नपुंसकलिङ्गेन निर्देशः कृत इत्यर्थः। किं पुनः कारणमेवं व्याख्यायते? इत्याह—पुंल्लिङ्गाभिधेयोऽयमित्यादि। ननु बन्धाविति पुंल्लिङ्गेनैव निर्देशः कस्मान्न कृतः? पर्यायेषु मा भूत्। एवं हि क्रियमाणेऽर्थप्रधानोऽयं निर्देश इत्यादिः स्यात्, ततश्च पर्यायेष्वपि प्रसज्येत। अर्थप्रधाने हि निर्देशे स्वरूपपरिभाषा नोपतिष्ठत इत्युक्तम्।

मातजित्यादि। ननु च मातजिति शब्दरूप नास्त्येव, न ह्यस्य स्वतन्त्रस्य क्वचित् प्रयोगो लभ्यते, कथं तत्र सम्प्रसारणं कर्तुं शक्यम्? इत्यत आह—अस्मादेवेत्यादि। तत्रेत्यादि। यदि च 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति बहुव्रीहिस्वरः स्यात्, चित्करण-

मातृमातृकशब्दयोश्च भेदेनोपादनाद् 'नद्यृतश्च' इति कबपि विकल्प्यते—कारीषगन्धीमातः, कारीषगन्ध्यामातः; कारीषगन्धीमातृकः, कारीषगन्ध्यामातृकः; कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता ॥

वचिस्वपियजादीनां किति ॥ १५ ॥

'सम्प्रसारणम्' इति वर्त्तते। 'ष्यङः' इति निवृत्तम्। वचि—'वच परिभाषणे', 'ब्रुवो वचिः' इति च। स्वपि–'ञिष्वप् शये'। यजादयः–'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इत्यतः प्रभृति आगणान्ताः, तेषां वचिस्वपियजादीनां किति प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति। वचि—उक्तः, उक्तवान्। स्वपि–सुप्तः, सुप्तवान्। यज–

पदमञ्जरी

वचिस्वपियजादीनां किति ॥ आदिशब्दोऽयं यजिनैव सम्बध्यते, न वच्यादिभिः प्रत्येकम्; स्वपिग्रहणात्। अन्यथा 'वच परिभाषणे', 'विद ज्ञाने', 'अस भुवि,' 'मृजूष् शुद्धौ', 'रुदिर् अश्रुविवचने,' 'ञिष्वप् शये'—इत्येवं गणपाठाद् वच्यादिग्रहणेनैव स्वपादीनामपि ग्रहणसिद्धेः पृथक् स्वपादिग्रहणं न कुर्यात्। *आगणान्ता इति*। गणस्यान्तो गणान्तः, आगता गणान्तमागणन्ताः। उक्त

न्यासः

मनर्थकं स्यात्। तस्मान्मा भूत् तस्यानर्थक्यमिति चित्करणसामर्थ्याद् बहुव्रीहिस्वरम् 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वं विधीयमानं बाधते।

ननु च मातृशब्दो बहुव्रीहावुत्तरपदं न सम्भवत्येव, 'नद्यृतश्च' इति नित्यं कपा भवितव्यम्, तत् कथं तत्रोत्तरपदे बहुव्रीहौ ष्यङः संप्रसारणमुपपद्यते? इत्याह—**मातृमातृकयोश्चेत्यादि**। यदि च नित्यं कप् स्यात्, मातृमातृकयोर्भेदेनोपादनं न कुर्यात्, कृतञ्च। तस्माद् भेदेनोपादानात् कब् विकल्पेन क्रियते, न केवलं मातजादेश इत्यपिशब्दस्यार्थः॥

वचिस्वपियजादीनां किति ॥ आदिशब्दोऽयं यजिनैव सम्बध्यत इति, न वच्यादिभिः प्रत्येकम्। यदि हि प्रत्येकमभिसम्बन्धोऽभिमतः स्याद् 'वच भाषणे' इत्यधीत्य 'ञिष्वप् शये' इत्यधीयताम्, तत्र वच्यादीनामित्येवं स्वपेरपि सिध्यतीति पृथगुपादानं न कर्त्तव्यं जायते। नन्वेवम्, 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इत्यत्र स्वपेर्ग्रहणं न स्यात्? नैष दोषः; शक्यते हि रुदादीनामादौ स्वपिमधीत्य 'स्वपश्च पञ्चभ्यः' इत्येवं सूत्रं प्रणेतुम्। तस्माद् युक्तमुक्तम्–यजिनैव सम्बध्यत इति। वचेः स्वपिना साहचर्याद् धातुनिर्देशार्थ इकारः, न विशेषणार्थः। तेन च ब्रूआदेशस्यैव ग्रहणं भवतीत्याह–**वच परिभाषणे, ब्रुवो वचिरिति चेति**। **उक्त इति**। 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वम्।

इष्टः, इष्टवान् । वप्—उप्तः, उप्तवान् । वह—ऊढः, ऊढवान् । वस—ऊषितः, ऊषितवान् । वेञ्—उतः, उतवान् । व्येञ्—संवीतः, संवीतवान् । ह्वेञ्—आहूतः, आहूतवान् । वद—उदितः, उदितवान् । टुओश्वि—शूनः, शूनवान् ।

धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यं विज्ञायते । तेनेह न भवति—वाच्यति, वाचिक इति ॥

पदमञ्जरी

इति । 'चोः कुः' । इष्ट *इति* । व्रश्चादित्वात्षः । ऊढ *इति* । 'हो ढः', 'झषस्थोर्धोऽधः,' ष्टुत्वम्, 'ढो ढे लोपः' 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' । *उषित इति* । 'वसतिक्षुधोरिट्,', शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । *संवीतादौ* 'हलः' इति दीर्घः । *शून इति* । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् ।

धातोः स्वरूपग्रहण इति । यत्र धातुः स्वरूपेणोपादीयते, न धातुशब्देन तत्र तत्प्रत्यये धातोरित्येवं यो विहितः प्रत्ययस्तत्रैव कार्यं विज्ञायते । एतच्च 'भ्रौणहत्य' इति तत्त्वनिपातनेन ज्ञापयिष्यते । *वाच्यति, वाचिकमिति* । अत्र तु यद्यपि क्विबन्ता धातुत्वं न जहति, तथापि धातोरित्येवं प्रत्ययस्याविधानात्सम्प्रसारणाभावः ॥

न्यासः

इष्ट इति । व्रश्चादिना षत्वम्, ततः ष्टुत्वम् । **ऊढ इति** । 'हो ढः' इति ढत्वम्, 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वम्, 'ढो ढे लोपः' इति ढकारलोपः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घत्वम् । **उषितमिति** । 'शासिवसिघसीनाञ्च' इति षत्वम् । **संवीत, आहूतः, शून इति** । 'हलः' इति दीर्घः । **शून** इत्यत्र 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् ।

अथेह कस्मान्न भवति—वाचमिच्छति वाचा तरतीति ठक्, वाच्यति वाचिक इति ? यद्यपि वचेः 'क्विब्वचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' इति वा दीर्घः कृतः, तथापि 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति' इत्यस्ति प्राप्तिरित्याह—**धातोरित्यादि** । यत्र धातुः सामान्यवाचिना धातुशब्देन नोपादीयते, अपि तु स्वशब्देनैव, तत्र तत्प्रत्यये धातोरित्येवं यो विहितः प्रत्ययस्तत्रैव कार्यं विज्ञायते । एतच्च भ्रौणहत्येति निपातनं कुर्वन् ज्ञापयति—तद्धितत्वार्थं निपातनम् । यदि च धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यय एव कार्यं न विज्ञायेत, तत्वनिपातनमनर्थकं स्यात् । 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इत्यनेनैव तत्वस्य सिद्धत्वात् । **वाच्यति वाचिक** इत्यत्र यद्यपि 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इति, तथापि धातोरित्येवं नासौ प्रत्ययो विहितः । तथा ह्येकत्र सुप इत्येवं प्रत्ययो विहितः—'सुप आत्मनः क्यच्' इति, इतरत्र च 'प्रातिपदिकात्'—इत्येवं ङ्याप्प्रातिपदिकाधिकारात् । तस्मादिह वचेः स्वरूपग्रहणात् तत्प्रत्यय एव कार्यसंविज्ञानं न भवति ॥

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च ॥ १६ ॥

'ग्रह उपादाने', 'ज्या वयोहानौ', 'वेञो वयिः', 'व्यध ताडने', 'वश कान्तौ', 'व्यच व्याजीकरणे', 'ओव्रश्चू छेदने', 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्', 'भ्रस्ज पाके'—इत्येतेषां धातूनां ङिति प्रत्यये परतश्चकारात् किति च सम्प्रसारणं भवति। ग्रह—गृहीतः। गृहीतवान्। ङिति—गृह्णाति, जरीगृह्यते। ज्या—जीनः, जीनवान्। 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम्। ङिति—जिनाति, जेजीयते। 'हलः' इति सम्प्रसारणदीर्घे कृते 'प्वादीनाम्' इति ह्रस्वः क्रियते।

वयिः—लिटि परतो वेञो वयिरादेशः, तस्य ङिद्भावात् किदेवोदाह्रियते—ऊयतुः, ऊयुः। यद्येवम्, वयिग्रहणमनर्थकम्, यजादिषु वेञ् पठ्यते? नैवं शक्यम्; लिटि तस्य वेञ इति प्रतिषेधो वक्ष्यते, तत्र

पदमञ्जरी

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥ *गृहीतः*, यद्यपि प्रथमं ङिति प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं चकारात्किति चेति क्रमो व्याख्यातः, तथाप्यनास्थया प्रथमं कित्युदाहृतम्। *विजादेशो गृह्यत इति*। पूर्वपरसाहचर्याद्यस्य वपेः परस्मैपदसंभवस्तस्य ग्रहणं न्याय्यम्, यस्तु 'अय वय गतौ' इति वयिः, सोऽनुदात्तेदात्मनेपदी। *यद्येवमिति*। वेञादेशस्य ग्रहणमित्यर्थः। *यजादिषु वेञ् पठ्यत इति*। ततश्च पूर्वेणैव सम्प्रसारणं सिद्धमिति भावः। नैवं

न्यासः

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥ **गृहीतमिति**। 'ग्रहोऽलिटि' इति दीर्घः। **जरीगृह्यत इति**। यङि सम्प्रसारणं द्विर्वचनम्। 'रीगृदुपधस्य' इति रीगागमः।

वयिरयमस्त्येवात्मनेपदी—'अय वय गतौ', अस्ति च परस्मैपदी—'वेञो वयिः' इति; तत्र ग्रह्यादिभिरनात्मनेपदिभिः साहचर्यादनात्मनेपदी गृह्यते? इत्याह—**वयिर्लिटीत्यादि**। तस्माच्च परस्य लिटः 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्त्वेन भवितव्यम्? इत्यत आह—**तस्येत्यादि**। **यद्येवमिति**। यदि वेञादेशस्य वयेर्ग्रहणमित्यर्थः। **यजादिषु वेञ् पठ्यत इति**। ततश्च पूर्वसूत्रेणैव तस्य स्थानिवद्भावात् सम्प्रसारणं सिद्धमित्यभिप्रायः। **नैवं शक्यमिति**। विज्ञातुमिति शेषः। नानयोपपत्या वयिग्रहणमनर्थकं शक्यं विज्ञातुमित्यर्थः। किं कारणम्? इत्याह—**लिटि तस्येत्यादि**। स्यादे-

यथैव स्थानिवद्भावाद्वयेर्विधिः, एवं प्रतिषेधोऽपि प्राप्नोति ? नैष दोषः; 'लिटि वयो यः' इति यकारस्य सम्प्रसारणप्रतिषेधाद् वयेर्विधौ ग्रहणं प्रतिषेधे चाग्रहणमनुमास्यते ? सत्यमेतत्; एष एवार्थः साक्षान्निर्देशेन वयेः स्पष्टीक्रियते ।

व्यध–विद्धः, विद्धवान् । ङिति–विध्यति, वेविध्यते । वश–उशितः, उशितवान् । ङिति–उष्टः, उशन्ति ।

व्यच–विचितः । विचितवान् । ङिति—विचति, वेविच्यते । 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' प्रतिपादितम्, तेन सर्वत्राञ्णिति प्रत्यये सम्प्रसारणं भवति—उद्विचिता, उद्विचितुम्, उद्विचितव्यमिति ।

व्रश्चेः–वृक्णः, वृक्णवान् । अथ कथमत्र कुत्वम्, 'व्रश्चभ्रस्ज'

पदमञ्जरी

शक्यमिति । विज्ञातुमिति शेषः । नानयोपपत्त्या वयिग्रहणमनर्थकं शक्यं विज्ञातुमित्यर्थः । *एवं प्रतिषेधोऽपि प्राप्नोतीति* । नात्रापिशब्देन समुच्चय उच्यते, किं तर्हि ? यथा स्थानिवद्भावाद्विधिः प्राप्यते, तथा प्रतिषेधोऽपि प्राप्नोति, तत्रापि स्थानिवद्भावस्य तुल्यत्वात् इति हेतोस्तुल्यत्वमपिशब्देन द्योत्यते, तेन प्रतिषेध एव भवेदित्यर्थः । *उष्ट इति* । तसन्तम् । व्यधिर्दिवादिः, व्यचिप्रभृतयस्तुदादयः । *वृक्ण इति* । 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः, पूर्व-

न्यासः

तत्—विधिप्रतिषेधयोर्विरोधादेकत्र विधिरेव भविष्यति, न प्रतिषेध इति ? अत आह–**अत्र यथैवेत्यादि** । यदि विरोधादेकत्रासम्भवः, पर्यायोऽस्तु, न तु द्वयोरन्यत्र चरितार्थत्वादेकेनैव भवितव्यम् । नापरेणेत्येषोऽर्थो लभ्यत इति भावः । **नैष दोष इति** । कथं नैष दोषः ? इत्यत आह–**लिटीत्यादि** । 'लिटि वयो यः' इति यकारस्य सम्प्रसारणप्रतिषेधो लिङ्गम्–विधौ वेञोग्रहणेन वयिग्रहणं भवतीत्यस्यार्थस्य । असति विधौ ग्रहणे प्राप्तेरसम्भवात् प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । वेञ इत्यत्र प्रतिषेधे वयेर्ग्रहणं न भवतीति अत्राप्येतदेव प्रतिषेधवचनं लिङ्गम् । सति हि वेञ्ग्रहणे वेञ इत्यनेनैव प्रतिषेधस्य सिद्धत्वात्, पुनः 'लिटि वयो यः' इति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । तदेतस्माल्लिङ्गाद् **वयेर्विधौग्रहणं प्रतिषेधे चाग्रहणमित्यनुमास्यते, सत्यमेतदिति** । अनन्तरोक्तमर्थमभ्यनुजानाति । यदि सत्यमेतत्, तर्हि किमर्थं वयिग्रहणम् ? इत्याह—**एष एवेत्यादि** । तेन स्पष्टीकरणार्थं वयिग्रहणमित्याचष्टे । **विध्यतीति** । दिवादित्वाच्छ्यन् । **उष्ट इति** । तसन्तमेतत्, अदादित्वाच्छपो लुक्, व्रश्चादिसूत्रेण षत्वम्, ष्टुत्वम् । **विचतीति** । तुदादित्वाच्छः ।

वृक्ण इति पूर्ववन्नत्वम्, 'स्कोः' इति सलोपः । झलादिर्निष्ठा न भवतीति तेनात्र

इति हि षत्वेन भवितव्यम् ? ❀ निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययविधीड्-विधिषु सिद्धो वक्तव्यः ❀। तत्र षत्वं प्रति नत्वस्य सिद्धत्वाद् झलादिर्निष्ठा न भवति। कुत्वे तु कर्त्तव्ये तदसिद्धमेवेति प्रवर्तते कुत्वम्। ङिति—वृश्चति, वरीवृश्च्यते।

प्रच्छ—पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति—पृच्छति, परीपृच्छ्यते, प्रश्नः। नङि तु 'प्रश्ने चासन्नकाले' इति निपातनादसम्प्रसारणम्।

भ्रस्ज—भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति—भृज्जति, बरीभृज्ज्यते। सकारस्य 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारः, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन जकारः॥

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥ १७ ॥

उभयेषां वच्यादीनां ग्रहचादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। वचि—उवाच, उवचिथ। स्वप्—सुष्वाप, सुष्वपिथ। यज—इयाज, इयजिथ। टुवप्—उवाप, उवपिथ।

पदमञ्जरी

वश्चिष्ठानत्वम्। *वरीवृश्च्यत इत्यादौ* 'रीगृत्वतः' इति रीग्भावः॥

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥ विव्यथेति। 'व्यचेः कुटादित्वमनसीति वक्तव्यम्' इत्यत्र पर्युदासवृत्त्यासप्रत्ययसदृशस्य कृतो ग्रहणादिह ङित्वाभावाद्धातोः सम्प्रसारणाभावः।

न्यासः

षत्वं न भवतीति भावः। झलादौ हि तद् विधीयते; 'झलो झलि' इत्यतो झल्ग्रहणानुवृत्तेः। **कुत्वे तु कर्त्तव्ये तदसिद्धमेवेति।** न हि यथा षत्वादौ निष्ठादेशस्य सिद्धत्वमुच्यते, तथा कुत्वेऽपि, तेन तत् प्रवर्त्तत एव। **वृश्चतीति।** पूर्ववच्छ्चः। **वरीवृश्च्यत इति।** 'रीगृत्वत इति वक्तव्यम्' इति रीगागमः। **पृष्ट इति।** पूर्ववत् षत्वम्। 'यजयाच' इत्यादिना नङि विहिते प्रश्न इत्यत्र सम्प्रसारणं कस्मान्न भवति ? इत्यत आह—**नङित्यादि।** **भृष्ट इति।** पूर्ववत् षत्वम्। **भृज्जतीति।** पूर्ववच्छ्चः। **बरीभृज्ज्यत इति।** पूर्ववद् रीक्। **सकारस्येत्यादि।** ननु 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति तस्य लोपेन भवितव्यम् ? नैतदस्ति; झलि पदान्ते च स उच्यत इति॥

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥ उवयिथेति। क्रादिनियमादिट् प्राप्तः 'उपदेशेऽत्वतः' इति प्रतिषिद्धः 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति नियमात् पुनर्भवति।

ग्रह्यादीनाम्–तत्र ग्रहेरविशेषः । जग्राह, जग्रहिथ । ज्या–जिज्यौ, जिज्यिथ । वयि–उवाय, उवयिथ । व्यध–विव्याध, विव्यधिथ । वश–उवाश, उवशिथ । व्यच–विव्याच, विव्यचिथ ।

वृश्चतेः सत्यसति वा योगे नास्ति विशेषः । योगारम्भे तु सति यदि सम्प्रसारणमकृत्वा हलादिःशेषेण रेफो निवर्त्यते, तदा वकारस्य सम्प्रसारणं प्राप्नोति । अथ रेफस्य सम्प्रसारणं कृत्वा उरदत्वं रपरत्वं च क्रियते, तदानीमुरदत्वस्य स्थानिवद्भावात् 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति प्रतिषेधो भवतीत्यस्ति विशेषः । वव्रश्च, वव्रश्चिथ ।

पदमञ्जरी

'वृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनामविशेषः' इति वार्त्तिकम्, तद् वृश्चतिविषये *भाष्यकारेण* दूषितम्—'यदुच्यते वृश्चतेरविशेषः' इत्यादि । तत्र *वार्त्तिककारस्याभिप्रायमाह—वृश्चतेरिति* । असति सूत्रे यद्रूपं तदेव सतीत्यभिप्रायेण वार्त्तिककारेणैतदुक्तमित्यर्थः । *भाष्यकारस्याभिप्रायमाह—योगारम्भे सतीति* । रेफस्य

न्यासः

ग्रहेरविशेष इति । यस्मात् सति सम्प्रसारणे हलादिशेषेण रेफनिवृत्तौ जग्राहेति ग्रहेर्यद्रूपं भवति, सत्यपि सम्प्रसारण उरत्वरपरत्वहलादिशेषेष्वपि कृतेषु तदेव भवति । **जिज्याविति** । 'आत औ णलः' । **जिज्यिथेति** । 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । **वृश्चतेः सत्यसति वा योगे नास्ति विशेष इति** । यद्यन्यार्थो योग आरभ्यते न वृश्चत्यर्थः, ततो वृश्चत्यर्थमेतद्वचनं न भवतीति सत्यप्येतस्मिन्नन्यार्थवचने वृश्चतेरभ्यासस्य नैव सम्प्रसारणेन भवितव्यम् । न ह्यसति तदर्थे वचने केनचित् प्रकारेण सम्प्रसारणमुपपद्यत इत्यभिप्रायः । ततश्चासत्यस्मिन् योगे वव्रश्चेति यद्रूपं भवति सत्यपि तदेवेति नास्ति वृश्चतेर्विशेषः । एतच्च वृत्तिकारमतेनोक्तम् । भाष्यकारमतेन त्वाह—**योगारम्भ इत्यादि** । तस्यायम्भावः—सति वचनेऽन्यार्थे क्रियमाणे तस्य वृश्चत्यर्थतापि भवति; वृश्चतेरपि ग्रह्यादिष्वन्तर्भावात् । ततश्च तदर्थोऽप्ययं योगारम्भ इति तदभ्यासस्यापि सम्प्रसारणेन भवितव्यमिति तुशब्दो वृत्तिकारमताद्विशेषं दर्शयति । **यदि सम्प्रसारणमकृत्वेत्यादि** । ननु चोभयग्रहणस्य प्रयोजनं वक्ष्यति—हलादिशेषं परमपि बाधित्वा सम्प्रसारणमेव यथा स्यादिति, तत् कुतोऽस्य पक्षस्य सम्भवः ? उभयग्रहणरहिते योगे सतीत्यभिप्रायः । **अथ रेफस्येत्यादि** । उभयग्रहणसहिते योगे सतीति भावः । **उरदत्वस्य स्थानिवद्भावादिति** । केन पुनः स्थानिवद्भावः ? 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति । कः पुनरसौ ? प्रत्ययोऽचः परः, यन्निमित्तमोरत्वं स्यात् । अङ्गस्य योऽभ्यास इति

पृच्छतिभृज्जत्योरविशेषः । अकिदर्थं चेदमभ्यासस्य सम्प्रसारणं विधीयते । किति हि परत्वाद्धातोः सम्प्रसारणे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचनम्––ऊचतुः, ऊचुरिति ।

अधिकारादेवोभयेषां ग्रहणे सिद्धे पुनरुभयेषामिति वचनम्–हलादिःशेषमपि बाधित्वा सम्प्रसारणमेव यथा स्यादिति–विव्याध ॥

स्वापेश्चङि ॥ १८ ॥

पदमञ्जरी

सम्प्रसारणे सत्यसति वा नास्ति विशेष इति वार्त्तिककारेणोक्तमित्यध्यारोप्य भाष्यकारेणोक्तमित्यर्थः । *अकिदर्थमिदमिति* । किति कथम्? इत्यत आह—*किति हीति* ।

अधिकारादेवेति । नात्र शास्त्रीयोऽधिकारः, किं तर्हि ? अपेक्षालक्षणः, तेन पूर्वसूत्रे वच्यादेः सम्बन्धो नाशङ्कनीयः । योगविभागसामर्थ्याद्वा पूर्वसूत्रे तेषामसम्बन्धः ।

हलादिःशेषमपि बाधित्वेति । अन्यथा परत्वाद्धलादिःशेषः स्यात् । *सम्प्रसारणमेव यथा स्यादिति* । पुनर्विधानमुभयेषांग्रहणाद्भवति तद्बाधकबाधनार्थमिति भावः ॥

न्यासः

विज्ञायमाने सामर्थ्यात् प्रत्यय आश्रितो भवति; विना तेनाङ्गव्यपदेशाभावात् । वृत्तिकारमतं चेषितव्यम्; अन्यथा तत्रोभयग्रहणाभावाद् हलादिशेषेण प्रागेव सम्प्रसारणाद् रेफे निवर्त्तिते वकारस्य सम्प्रसारणं स्यात् । ततश्च उवश्चेत्यनिष्टं रूपं स्यात् ।

पृच्छतिभृज्जत्योरविशेष इति । ग्रहेरिव वेदितव्यः । **अकिदर्थमित्यादि** । किं पुनः कारणमकिदर्थमिदं व्याख्येयम् ? इत्यत आह—**कितीत्यादि** । यस्मात् किति परत्वात् सम्प्रसारणे कृते कृतसम्प्रसारणस्य पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचने कृतेऽन्तरेणाप्येतद् वचनम्, ऊचतुरित्यादि सिद्धयत्येव । तस्मान्नेदं किदर्थम्, अपि त्वकिदर्थमेवेति ।

अथ किमर्थमुभयेषामित्युच्यते, यावता स्वरितलिङ्गासङ्गादेवोभयेषामित्यस्यानुवृत्तिर्भविष्यति ? न चानुवृत्तौ सत्यां ङिति वच्यादीनामपि सम्प्रसारणं प्राप्नोतीत्येतच्च नाशङ्कनीयम्; यदि वच्यादीनामपि ङिति सम्प्रसारणं स्याद् योगविभागोऽनर्थकः स्यात्; मण्डूकप्लुतिन्यायेन वा वच्यादीनामनुवृत्तिर्भविष्यति, तत् कुतोऽस्य दोषस्यावसरः ? इत्याह—**अधिकारादेवेत्यादि** । अधिकारादेवोभयग्रहणे सिद्धे पुनरुभयेषांग्रहणात् पुनःश्रुतिर्भवति । तस्याश्चैतदेव प्रयोजनम्—यत्र सम्प्रसारणं चान्यच्च प्राप्नोति तत्र सम्प्रसारणमेव यथा स्यात्, मा भूदन्यदिति । तेन विव्याध, विव्यधिथ इत्यत्र हलादिशेषं परमपि बाधित्वा सम्प्रसारणमेव भवति; अन्यथात्र परत्वात् प्राक् प्रवर्त्तमानेन हलादिशेषेण यकारस्य निवृत्तौ कृतायां वकारस्य सम्प्रसारणमापद्येत, ततश्च–उव्याध, उव्यधिथेत्यनिष्टं रूपं स्यात् ॥

स्वापेरिति स्वपेर्ण्यन्तस्य ग्रहणम्, तस्य चङि परतः सम्प्रसारणं भवति। असूषुपत्, असूषुपन्। द्विर्वचनात्पूर्वमत्र सम्प्रसारणम्, तत्र कृते लघूपधगुणः, तस्य 'णौ चङ्युपधायाः' ह्रस्वत्वम्, ततो द्विर्वचनम्, 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घत्वम्।

चङीति किम्? स्वाप्यते। स्वापितः।

'कितीति निवृत्तम्, ङितीति केवलमिहानुवर्त्तते'—इत्येतद् दुर्विज्ञानम्॥

स्वपिस्यमिव्येञां यङि॥ १९॥

'ञिष्वप् शये', 'स्यमु स्वन ध्वन शब्दे', 'व्येञ् संवरणे'—इत्येतेषां धातूनां यङि परतः सम्प्रसारणं भवति। सोषुप्यते। सेसिम्यते। वेवीयते।

पदमञ्जरी

स्वापेश्चङि॥ *स्वापेर्ण्यन्तस्य ग्रहणमिति*। आप्नोतेस्तु सुपूर्वस्य ग्रहणं न अण्यन्तस्य; चङोऽसम्भवात्। ण्यन्तस्यापि न भवति; 'धातोः' इत्यधिकारात्। *स्वाप्यत इति*। कर्मणि लट्, णिलोपः।

स्वापित इति। 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः।

ननु च 'ग्रहिज्या' इत्यादिसूत्रान्ङितीत्यनुवर्त्तिष्यते, न चान्यः स्वापेर्ङिदस्ति, यङ् तावदनेकाच्त्वान्नास्ति, अपित्सार्वधातुकं तु विकरणैर्व्यवहितम्, अङाद्यस्त्वविहिता एव? तत्राह—*ङितीति केवलमित्यादि*। ननु कितीत्येतच्चानुकृष्टं पूर्वसूत्र इति नेहानुवर्तिष्यते, किमर्थं दुर्ज्ञानं ङिद्ग्रहणम्? ङिद्ग्रहणमपि तर्हि पूर्वसूत्रे नानुवर्तते; लिटो ङितोऽसम्भवादिति तस्येहानुवृत्तिर्दुर्विज्ञाना॥

न्यासः

स्वापेश्चङि॥ **स्वापेरिति**। 'आप्लृ व्याप्तौ' इत्यस्यापि सुपूर्वस्यैका निदशः सम्भवति, अतस्तद्ग्रहणाशङ्कानिराकरणायाह—**स्वपेर्ण्यन्तस्य ग्रहणमिति**। ण्यन्तस्य ग्रहणं चङ्ग्रहणाद् विज्ञायते, न ह्यण्यन्ताच्चङ् सम्भवति। **असूषुपदिति**। 'हेतुमति च' इति णिच्। **द्विर्वचनात् पूर्वमत्र सम्प्रसारणमिति**। परत्वात्। **स्वाप्यत इति**। कर्मणि लकारः, 'सार्वधातुके यक्'। **स्वापितमिति**। 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः। ननु च ग्रह्यादिसूत्रात् ङितीत्यनुवर्त्तते, न च स्वापेश्चङोऽन्यो ङिदस्ति, तत्र सामर्थ्याच्चङ्येव भविष्यतीति न कर्त्तव्यमेव चङ्ग्रहणम्? इत्यत आह—**ङितीति केवलमित्यादि**। ग्रह्यादिसूत्रे ह्युभयं सन्निहितम्—किद्ग्रहणम्, ङिद्ग्रहणञ्च, तत्रोभयोरविशेषेण सन्निधाने ङिद्ग्रहणमेवानुवर्त्तते, न किद्ग्रहणमिति मन्दधिया दुर्बोधम्। अतः सुखप्रतिपत्तये मन्दबुद्धेश्चङ्ग्रहणं क्रियत इति भावः॥

यङीति किम् ? स्वप्नक् ॥

न वशः ॥ २० ॥

'यङि' इति वर्त्तते । वशेर्धातोर्यङि परतः सम्प्रसारणं न भवति । वावश्यते, वावश्येते, वावश्यन्ते ।

यङीति[1] किम् ? उष्टः । उशन्ति[1] ॥

चायः की ॥ २१ ॥

'यङि' इति वर्त्तते । 'चायृ पूजानिशामनयोः'—इत्येतस्य धातोर्यङि परतः कीत्ययमादेशो भवति । चेकीयते, चेकीयेते, चेकीयन्ते ।

दीर्घोच्चारणं यङ्लुगर्थम् । चेकीतः ॥

स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥ २२ ॥

'स्फायी ओप्यायी वृद्धौ'—इत्यस्य धातोर्निष्ठायां परतः 'स्फी' इत्ययमादेशो भवति । स्फीतः । स्फीतवान् ।

पदमञ्जरी

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥ स्वप्नगिति । 'स्वपितृषोर्नजिङ्' ॥

चायः की ॥ कीति दीर्घोच्चारणमनर्थकम्, ह्रस्वादेशेऽपि 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घस्य सिद्धत्वात् ? तत्राह–*दीर्घोच्चारणमित्यादि* । कथं पुनर्यङ्युच्यमान आदेशो यङ्लुकि स्यात् ? प्रत्ययलक्षणेन । 'न लुमताङ्गस्य' ? एवं तर्हि दीर्घोच्चारणसामर्थ्याल्लुक्यपि भविष्यति, पूर्वसूत्रविहितं तु प्रसारणं यङ्लुकि न भवत्येव । न च 'सम्प्रसारणाश्रयं च कार्यं बलवत्' इति प्रागेव लुकः सम्प्रसारणम्; प्रत्याख्यातत्वादस्याः परिभाषायाः । तथा च पूर्वत्रोभयेषां ग्रहणं कृतम्, अन्यथाऽनयैव परिभाषया हलादिशेषात्प्रागेव सम्प्रसारणं भविष्यतीत्यनर्थकं

न्यासः

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥ स्वप्नगिति । 'स्वपितृषोर्नजिङ्' ॥

न वशः ॥ **चायः की** ॥ अथ किमर्थं दीर्घोच्चारणम्, यावता ह्रस्वादेशेऽपि अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घत्वेन चेकीयत इति सिध्यत्येव ? इत्याह—दीर्घोच्चारणमित्यादि । कथं पुनः 'यङि च' इत्युच्यमाने आदेशो यङ्लुकि स्यात् ? प्रत्ययलक्षणेन स्यात् । अथापि 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणं प्रतिषिध्यते ? एवमप्यस्मादेव दीर्घोच्चारणाद् यङ्लुकि भवतीति विज्ञायते, अन्यथा तदपार्थकं स्यात् !

चेकीत इति । तसन्तमेतत् । 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् ॥

१–१. पाठोऽयमेकस्मिन् पुस्तके नास्ति ।

निष्ठायामिति किम् ? स्फातिः । स्फातीभवतीत्येदपि क्तिन्नन्तस्यैव रूपम्, न निष्ठान्तस्य ।

'निष्ठायाम्' इत्येतदधिक्रियते 'लिड्यङोश्च' इति प्रागेतस्मात् सूत्रात् ॥

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥ २३ ॥

'निष्ठायाम्' इति वर्त्तते, 'सम्प्रसारणम्' इति च । 'स्फी' इत्येतन्न स्वर्यते । 'स्त्यै ष्टचै शब्दसङ्घातयोः'—द्वयोरप्येतयोर्द्धात्वोः स्त्यारूपमापन्नयोः सामान्येन ग्रहणम् । 'स्त्या' इत्येतस्य प्रपूर्वस्य धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । सम्प्रसारणे कृते यण्वत्त्वं विहतमिति निष्ठानत्वं न भवति । 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' इति तु पक्षे मकारः क्रियते—प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् ।

प्रपूर्वस्येति किम् ? संस्त्यानः, संस्त्यानवान् ।

पदमञ्जरी

तत्स्यात् । सास्वपीति, सास्वप्ति । सास्वप्तः, सास्वपीतः । वाव्येति, वाव्याति ॥

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥ द्वयोरप्येतयोरिति । द्वयोरपि स्त्यारूपस्य लाक्षणिकत्वात् । *सम्प्रसारणे कृते इति* । तस्यासिद्धत्वात्प्रागेव सम्प्रसारणम् ।

न्यासः

स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥ **स्फातिरिति** । 'स्त्रियां क्तिन्', वलि यलोपः । **स्फातीभवतीति** । स्फायतेर्निष्ठान्ताच्च्वौ कृते 'अस्य च्वौ' इतीत्वे सतीदं रूपं भवतीति मन्यमानो यश्चोदयेद्—अथ कथं स्फातीभवतीत्येतद्रूपम्, यावताऽत्रापि निष्ठायामस्मिन्नादेशे स्फीतीभवतीत्येवं भवितव्यमिति ? तं प्रत्याह—**स्फातीभवतीत्येतदपीत्यादि** । एतदपि स्फातिशब्दात् क्तिन्नन्ताच्च्वौ कृते 'च्वौ च' इति दीर्घत्वे च क्तिन्नन्तस्यैव रूपम् । अतो न भवत्येष दोषप्रसङ्गः ॥

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥ सामान्येन ग्रहणमिति । द्वयोरप्यात्त्वे कृते पूर्वस्य 'धात्वादेः षः सः' इति सत्वे समानत्वाद् रूपस्य । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा च नेहोपतिष्ठते; उभयोर्लाक्षणिकत्वात् । अथात्र 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति निष्ठानत्वं कस्मान्न भवति ? इत्यत आह—**सम्प्रसारण इत्यादि** । न त्वस्य पूर्वत्रासिद्धत्वात् पूर्वं संप्रसारणं क्रियत इति, तत्र कृते च यण्वत्ता नास्तीति नत्वं न भवति ।

'प्रस्त्यः' इत्येव सिद्धे पूर्वग्रहणमिहापि यथा स्यात्–प्रसंस्तीतः, प्रसंस्तीतवान् ।

तत्कथं प्रपूर्वस्येति षष्ठचर्थे बहुव्रीहिः ? प्रः पूर्वो यस्य धातूपसर्गसमुदायस्य स प्रपूर्वस्तदवयवस्य स्त्यः–इति व्यधिकरणे षष्ठचौ । तत्र प्रसंस्तीत इत्यत्रापि प्रपूर्वसमुदायावयवः स्त्याशब्दो भवति ॥

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः ॥ २४ ॥

द्रवमूर्त्तौ=द्रवकाठिन्ये, स्पर्शे वर्त्तमानस्य 'श्यैङ् गतौ' इत्यस्य

पदमञ्जरी

प्रस्त्य इत्येव सिद्ध इति । यथा 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' इत्यत्र । न चैवमुच्यमाने प्रशब्दस्यापि यो रेफस्तस्यापि प्रसङ्गः; धातोरित्यधिकारात् । *प्रसंस्तीत इति* । 'प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्' इति मत्वमत्र न भवत्येव । *तत्कथमिति* । कथमयमर्थः शब्देनाभिहितो भवतीति प्रश्नः । *षठ्यर्थे बहुव्रीहिरिति* । पूर्वशब्दस्यावयववाचित्वात्, यथा–पूर्वं कायस्येति । *व्यधिकरणे षष्ठ्याविति* । प्रपूर्वस्येति स्त्याशब्दापेक्षयावयवषष्ठी, स्त्य इत्येषापि यणवयवापेक्षया षष्ठी । यथा पुनरयमर्थः प्रकृतोपयोगी तथा दर्शयति—*तत्रेति* ॥

द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ॥ *द्रवकाठिन्य इति* । द्रवावस्थाया उत्तरावस्थाविशेषः=

न्यासः

प्रस्त्य इत्येवं सिद्ध इति । ननु चैवमुच्यमाने प्रशब्दस्यापि सम्प्रसारणं स्यात्, ततश्च प्रस्तीत इति रूपं स्यात्, तत् किमुच्यते—प्रस्त्य इत्येवं सिद्ध इति ? 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' इति न भवत्येष दोष इति मन्यते । **इहापि यथा स्यादिति** । कस्मात् पुनर्न प्राप्नोति ? संशब्देन व्यवहितत्वात् ।

किं पूर्वग्रहणे क्रियमाणे शब्दार्थ एव तथाविधो भवति येनात्रापि भवति ? अथ ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यं सूचयति–इत्यभिप्रायेणाह—**तत् कथमिति** । प्रथमकल्पं दर्शयन्नाह–**प्रपूर्वस्येति** । **षष्ठचर्थे बहुव्रीहिरिति** । पूर्वशब्दोऽयमवयववचन इति षष्ठयर्थे बहुव्रीहिर्भवति । अवयववाचिनि पूर्वशब्दे धातुरन्यपदार्थो नोपपद्यते । न हि धातोः प्रशब्दोऽयमवयवो भवति, अपि तु धातूपसर्गसमुदायस्य । तस्मात् स एवान्यपदार्थो युक्त इत्याह–**प्रः पूर्वो यस्येत्यादि** । **तदवयवस्येति** । तस्यावयवस्तदवयव इति षष्ठीसमासः । तच्छब्देन धातूपसर्गसमुदायः परामृश्यते । **व्यधिकरणषष्ठ्याविति** । **प्रपूर्वस्येति** । स्त्यावयवापेक्षया योऽयमवयवावयविसम्बन्धस्तत्र षष्ठी, 'स्त्यः' इत्येषा तु यणवयवापेक्षया यः सम्बन्धस्तत्र । तेन भिन्नाभिधेयत्वात् 'स्त्यः', 'प्रपूर्वस्य' इति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । स्यादेवम्, प्रसंस्तीत इत्यत्र प्रपूर्वसमुदायावयवः स्त्याशब्दो न सम्भवति इत्यत आह–**तत्रेत्यादि** ॥

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः ॥ **द्रवमूर्तौ द्रवकाठिन्य इति** । अनेन द्रवमूर्त्तिशब्दस्यार्थ-

धातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति । शीनं घृतम् । शीना वसा । शीनं मेदः । द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतमित्यर्थः । 'श्योऽस्पर्शे' इति निष्ठानत्वम् ।

स्पर्शे च—शीतं वर्त्तते । शीतो वायुः । शीतमुदकम् । गुणमात्रे तद्वति चास्य शीतशब्दस्य वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोरिति किम् ? संश्यानो वृश्चिकः ॥

प्रतेश्च ॥ २५ ॥

'श्यः' इति वर्त्तते । प्रतेरुत्तरस्य श्यायतेर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति । प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ।

द्रवमूर्त्तिस्पर्शाभ्यामन्यत्रापि यथा स्यादिति सूत्रारम्भः ॥

विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥ २६ ॥

'श्यः' इति वर्त्तते । अभि, अव—इत्येवम्पूर्वस्य श्यायतेर्निष्ठायां विभाषा सम्प्रसारणं भवति । अभिशीनम्, अभिश्यानम् । अवशीनम्, अवश्यानम् । द्रवमूर्त्तिस्पर्शविवक्षायामपि विकल्पो भवति । अभिशीनं घृतम्, अभिश्यानं घृतम् । अवशीनं मेदः, अवश्यानं मेदः । अभिशीतो वायुः, अभिश्यानः । अवशीतमुदकम्, अवश्यानमुदकम् ।

पदमञ्जरी

काठिन्यम् । *स्पर्शे चेति* । रूपादिसहचरितो गुणः=स्पर्शः ।

शीतो वायुरिति । कथं पुनः स्पर्शमात्राभिधायिनः शीतशब्दस्य तद्वद्द्रव्यवाचिना वायुशब्देन सामानाधिकरण्यम् ? तत्राह—*गुणमात्र इत्यादि* । शुक्लादिशब्दवदिति भावः ॥

न्यासः

माचष्टे । द्रवावस्थाया उत्तरोऽवस्थाविशेषः काठिन्याख्योऽत्र द्रवमूर्त्तिशब्देनोच्यते ।

स्पर्शे चेति । रूपादिसहचरितो गुणः स्पर्श इत्युच्यते । **शीतो वायुः, शीतमुदकमिति** । कथं पुनरत्र सामानाधिकरण्यम्, यावता शीतशब्देन गुणविशेषोऽभिधीयते । वाय्वादिशब्देन तु द्रव्यविशेष इत्यत आह—**गुणमात्र इत्यादि** । यथा—शुक्लादिशब्दाः कदाचिद् गुणमात्रे वर्त्तन्ते, यथा—पटस्य शुक्ल इति; कदाचित्तु तद्वति द्रव्ये सोऽयमित्यभेदसम्बन्धत्वान् मतुब्लोपान् मत्वर्थीयाकारप्रत्ययान्तत्वाद्वा शुक्लः पट इति, तथा शीतशब्दोऽपि । तेन यदा तद्वति द्रव्ये वर्त्तते, तदोभयोरेकद्रव्ये निवेशितत्वादुपपद्यते सामानाधिकरण्यमिति भावः ।

संश्यान इति । 'संयोगादेः' इत्यादिना नत्वम् ॥

सेयमुभयत्रविभाषा द्रष्टव्या। पूर्वग्रहणस्य च प्रयोजनम्—समभिश्यानम्, समवश्यानमित्यत्र मा भूदिति केचिद् व्याचक्षते। न किलायमभ्यवपूर्वः समुदाय इति। योऽत्राभ्यवपूर्वः समुदायस्तदाश्रयो विकल्पः कस्मान्न भवति! तस्मादत्र भवितव्यमेव। यदि तु नेष्यते, ततो यत्नान्तरमास्थेयमस्माद्विभाषाविज्ञानात्—व्यवस्थेयम्। पूर्वग्रहणस्य चान्यत् प्रयोजनं वक्तव्यम्[1]।

श्रृतं पाके ॥ २७ ॥

पदमञ्जरी

विभाषाभ्यवपूर्वस्य ॥ *सेयमुभयत्र विभाषेति* । द्रवमूर्तिविषये पूर्वेण प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते। अथ पूर्वग्रहणं किमर्थम्, न 'विभाषाभ्यवाभ्याम्' इत्येवोच्येत, तत्राह—*पूर्वग्रहणस्येत्यादि* । क्रियमाणेऽपि पूर्वग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति? इत्याह—*न किलेति* । किलशब्दसूचितामरुचिं दर्शयति—*योऽत्रेति* । मा भून्महासमुदायोऽभ्यवपूर्वः, अवान्तरसमुदायस्त्वभ्यवपूर्वोऽप्यस्ति, तदाश्रयो विकल्पः प्राप्नोति। *यत्नान्तरमास्थेयमिति* । विभाषाग्रहणं व्यवस्थितविभाषार्थमाश्रयणीयमित्यर्थः। *पूर्वग्रहणस्य चान्यत्प्रयोजनं वक्तव्यमिति* । तत्पुनरभिसंशीनम्, अभिसंश्यानम्, अवसंशीनम्, अवसंश्यानमित्यत्रापि विकल्पप्रवृत्तिरेव। तच्च पूर्वग्रहणे क्रियमाणे यथा लभ्यते तथा 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इत्यत्र व्याख्यातम्॥

न्यासः

प्रतेश्च ॥ **विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य** ॥ **सेयमुभयत्र विभाषेति** । द्रवमूर्त्तिस्पर्शविषये पूर्वेण प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते। अथ पूर्वग्रहणं किमर्थम्, न 'विभाषाऽभ्यवाभ्याम्' इत्येवोच्येत? अत आह—**पूर्वग्रहणस्येत्यादि** । क्रियमाणे पूर्वग्रहणे कस्मादेवात्र न भवतीत्याह—**न किलेत्यादि** । अयं हि द्विविधोऽपि समुदायो नाभिपूर्वः, नाप्यवपूर्वः, किं तर्हि? सम्पूर्वः। तेन पूर्वग्रहणादत्र न भवति। क्रियमाणेऽपि पूर्वग्रहणे प्राप्नोत्येवेति मन्यमानः किलशब्दमरुचिसूचनार्थं प्रयुक्तवान्। तामेव प्राप्तिं दर्शयन्नाह—**योऽत्रेत्यादि** । सम्-शब्दात् परो यो धातूपसर्गसमुदायस्तदाश्रयो विकल्पः कस्मान्न भवति, भवति ह्यसावभ्यवपूर्व इत्यस्ति प्राप्तिः? अत आह—**यत्नान्तरमास्थेयमिति** । विभाषाग्रहणमिह क्रियते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते, तेनेह न भवतीति यत्नान्तरम्।

---

१. इतोऽग्रे-"अभिसंशीनम्, अभिसंश्यानं वा। अवसंशीनम्, अवसंश्यानं वा। अत्र विकल्पो यथा स्याद् इति पूर्वग्रहणम् 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इतिवत्"—इति पाठो दृश्यते, स तु प्रक्षिप्तो वेदितव्यः; पदमञ्जर्याम्, न्यासे च तस्य व्याख्यानरूपेण दर्शनात्।

काशि० ४ : ३१

'विभाषा' इत्यनुवर्त्तते। 'श्रा पाके'—इत्येतस्य धातोर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च पाकेऽभिधेये क्तप्रत्यये परतः श्रृभावो निपात्यते विभाषा। श्रृतं क्षीरम्। श्रृतं हविः।

व्यवस्थितविभाषा चेयम्, तेन क्षीरहविषोर्नित्यं श्रृभावो भवति। अन्यत्र न भवति—श्राणा यवागूः, श्रपिता यवागूरिति।

यदापि बाह्ये प्रयोजके द्वितीयो णिजुत्पद्यते, तदापि नेष्यते—

पदमञ्जरी

श्रृतं पाके॥ श्रा पाक इत्यस्य धातोरिति। 'श्रा पाके' इत्यदादौ पठ्यते, 'श्रै पाके' इति चुरादौ, घटादिष्वपि मित्त्वार्थः 'श्रा पाके' इति पठ्यते, तत्रेह सर्वेषां ग्रहणम्। श्रायतेरपि कृतात्वस्यैतद्रूपं भवति, निपातनसामर्थ्याच्च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते। *ण्यन्तस्य चाण्यन्तस्य चेति।* तथा चोक्तम्-'श्राश्रप्योः श्रृभावो निपात्यते' इति। अत एव प्रकृतं सम्प्रसारणमेव न विहितम्, श्रपेरपि श्रृतमित्येव यथा स्यादिति।

यदि विभाषेत्यतदत्रानुवर्त्तते, क्षीरहविषोरन्यत्र च विकल्पः प्राप्नोति सर्वत्र, तत्राह—*व्यवस्थितविभाषा चेयमिति।* *यदा त्वित्यादि।* प्रयोजकव्यापारः प्रेषणादिलक्षण उपचारेण प्रयोजकशब्देनोक्तः, तस्य च बाह्यत्वं बहिर्भूतणिज्व्याप्यत्वात्। *तदापि नेष्यत इति।* तथा चोक्तम्—श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोरिति। *श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन।* प्रयोजकव्यापारेणाप्यमानस्यापि प्रयोज्यस्य कर्मसंज्ञा न

न्यासः

पूर्वग्रहणस्य चान्यत्प्रयोजनं वक्तव्यमिति। तत् पुनरभिसंशीनम्, अभिसंश्यानम्, अवसंशीनम्, अवसंश्यानम्—इत्यत्रापि विकल्पो यथा स्यादित्येवं तद् वेदितव्यम्। एतच्च पूर्वग्रहणे क्रियमाणे यथोपपद्यते तथा 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इत्यत्र 'प्रपूर्वस्येति षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः' इत्यादिना व्याख्यातम्॥

श्रृतं पाके॥ श्रा पाक इत्यस्य धातोरिति। 'श्रा पाके' इत्यदादौ पठ्यते, घटादौ च मित्संज्ञार्थम्, कैश्चिच्चुरादावपि, 'श्रै पाके' इति भ्वादौ, तत्रेहाविशेषेण ग्रहणं प्राप्तम्। श्रायतेरपि हि कृतात्त्वस्यैतद्रूपं भवत्येव, निपातनाच्च। लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया प्रतिबन्धं न करोति। **ण्यन्तस्याण्यन्तस्य चेति।** विशेषानुपादानात्। तथा चोक्तम्—श्राश्रप्योः श्रृतमिति।

यदि विभाषेत्यनुवर्त्तते क्षीरहविषोरपि पक्षे—श्राणम्, श्रपितमिति स्यात्; ताभ्यामन्यत्रापि पक्षे श्रृतमिति प्रसज्येत? इत्यत आह—**व्यवस्थितविभाषेयमिति।**

यदापीत्यादि। प्रयोजकव्यापारः प्रेषणाध्येषणादिः कार्ये कारणोपचारं कृत्वा

श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति ।

श्रातिरयमकर्मकः कर्मकर्तृविषयस्य पचेरर्थे वर्त्तते, स ण्यन्तोऽपि प्राकृतं पच्यर्थमाह । तदत्र द्वयोरपि श्रृतमितीष्यते—श्रृतं क्षीरं स्वयमेव, श्रृतं क्षीरं देवदत्तेन ।

पदमञ्जरी

भवति, 'गतिबुद्धिप्रत्यवसान' इति नियमात् । कथं पुनर्ण्यन्तस्य निपातनं लभ्यते, यावता पाक इत्युच्यते, ण्यन्तेन च पाचनाभिधीयते, न पाकः; अथ पाचनायामपि गुणभूतः पाकः प्रतीयते, तदाश्रयं निपातनं स्यात्? यद्येवम्, द्वितीयेऽपि णिचि प्रसङ्गः । न हि तत्र पाको गुणभूतो न गम्यते ।

अथ तत्र गुणभूतत्वादेव प्रधानभूते पाके चरितार्थं निपातनं न भविष्यतीत्युच्येत ? प्रथमेऽपि न स्याद्, वक्तव्यो वा विशेषः । तमाह—*श्रातिरयमित्यादि* । अयमभिप्रायः—द्विविधः पाकः—विक्लित्तिलक्षणः, विक्लेदनालक्षणश्च; उभयत्रापि पचेः प्रयोगदर्शनात्, पच्यते ओदनः स्वयमेव, पचत्योदनं देवदत्त इति । श्रातिश्चायं यद्यपि 'पाके' इत्यविशेषेण पठ्यते, तथापि कर्मकर्तृविषयस्य पचेरर्थे वर्त्तते । स *ण्यन्तोऽपि प्राकृतं* प्रकृतौ भवं णिज्रहितपचिवाच्यं *पच्यर्थमाह* । सोऽपि पाक एव, न पाचयतेरर्थः, यथा—सिद्ध्यत्योदनः, साधयत्योदनमिति । तत्र यदा श्रातेः क्त उत्पद्यते, तदाऽकर्मकत्वात्कर्त्तरि भवति—श्रृतं क्षीरमिति, श्रपेस्तु

न्यासः

प्रयोजकशब्देनोक्तः । स हि प्राकृतादर्थाद् बाह्यो भवति, तत्र तस्यानन्तर्भावात् । तत्र यदा 'हेतुमति च' इति द्वितीयो णिजुत्पद्यते, तदापि क्षीरहविषोरपि निपातनमेतन्नेष्यते; व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादेव । तथा चोक्तम्—श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोरिति । हेतुमण्णिचोऽन्यत्रेत्यर्थः । द्वितीयग्रहणं यदैकमेव भवति, तदेष्टत्वाच् श्रपितं क्षीरं देवदत्तेन यज्ञदत्तेनेति 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इति चकाराद् देवदत्तयज्ञदत्तयोः कर्तृसंज्ञाविधानादुभयत्रापि कर्त्तरि तृतीया । श्रपितमिति । श्रातेर्णिचि कृते 'अर्त्तिह्री' इत्यादिना पुक्, 'मितां ह्रस्वः' क्षीरं स्वयमेव श्राति स्म—तद् यदा देवदत्तेन प्रयुज्यते स्म तदा 'हेतुमति च' इति प्रथमो णिच् । सोऽपि श्रपयन् यदा यज्ञदत्तेन प्रयुज्यते स्म तदा द्वितीयः । 'णेरनिटि' इति पूर्वस्य णेर्लोपः, ततः क्षीरे प्रयोज्ये कर्मणि निष्ठा—श्रृतमिति ।

'ण्यन्तस्याण्यन्तस्य चेति निपात्यते' इति प्रतिज्ञाते सति युक्तं ण्यन्तस्याप्येतन्निपातनम्—येषां श्रातिश्चुरादावपि पठ्यते इत्यभ्युपगमः । ये तु चुरादावस्य पाठं न प्रतिजानते तेषां कथं ण्यन्तस्यैतन्निपातनं युज्यते, न च शक्यते वक्तुम्—तेषामपि हेतुमण्ण्यन्तस्यैतन्निपातनं युज्यते; 'श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोः' इति भाष्यकारवचनादिति यश्चोदयेत्, तं प्रत्याह—**श्रातिरयमित्यादि** । कर्मभावापन्नेऽपि योऽर्थः सौकर्य्यात्

पाकग्रहणं निपातनविषयप्रदर्शनार्थम्, तेन क्षीरहविषोरेव ॥

पदमञ्जरी

कर्मणि—श्रृतं क्षीरं देवदत्तेन। द्वितीये तु णिचि पाचयितृव्यापारः पाचना-लक्षणः प्राधान्येनाभिधीयते, न तु पाक इति निपातनाभाव इति। 'श्रपेः श्रृत्व-मन्यत्र हेतोः' इति वार्त्तिके 'श्राश्रप्योः श्रृभावो निपात्यते' इति पूर्वमुक्तत्वादाद्य-प्रकृतलक्षणप्रयोजकव्यापाराङ्गीकरणसामर्थ्यात्पाचयितृलक्षणप्रयोजकव्यापारनि-षेधो विज्ञेयः ॥

पाकोऽयं पाक्यपक्त्योर्द्विविध इह स विक्लित्तिविक्लेदनात्मा
श्रातिर्वक्त्येकमन्यं श्रपयतिरुभयत्रोभयोक्तेः श्रृभावः।
स्वे स्वे वाच्ये श्रपेस्तु प्रसजति सति वा पाचने न द्वितीये
नित्यं क्षीरे शृभावो हविषि च न तु पाक्येषु चार्थान्तरेषु ॥

न्यासः

स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते स कर्मकर्त्ता, कर्म कर्त्ता भवतीति कृत्वा। कर्म चासौ कर्त्ता चेति विशेषणसमासः, स यस्य विषयः स कर्मकर्तृविषयः। अर्थद्वारकं चेदं विशेषणं पचेः कर्मकर्तृविषयत्वं वेदितव्यम्। तस्य योऽर्थः पच्यमानकर्तृकत्वं विक्लेदनमात्रं तत्राय-मकर्मकः श्रातिर्वर्त्तते। यदा तु स ण्यन्तो भवति तदा प्राकृतं पच्यर्थमाह। प्रकृतौ भवः प्राकृतः, स पुनर्यः प्रकृत्यन्तस्य पचेरर्थः पक्तृकर्तृको विक्लेदनोपसंहारादिः स इह वेदितव्यः। देवदत्तादिपक्तृकर्तृकं प्राकृतं पाकाख्यं पच्यर्थमाहेत्यर्थः। तत्र द्वयोरपि श्रृतमिष्यत इति योऽण्यन्तः श्रातिः कर्मकर्तृविषयेण पचिना समानार्थस्तत्रापीष्यते। योऽपि ण्यन्तः प्राकृतं पच्यर्थमाह तत्रापीष्यते। तत्र श्रृतं क्षीरं स्वयमेवेति प्रथम-स्योदाहरणम्, श्रृतं क्षीरं देवदत्तेनेति द्वितीयस्य। ननु च 'श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोः' इति भाष्ये उक्तम्, तत् कथं द्वयोरपीष्यते ? एवं मन्यते—यदिदं भाष्ये उक्तम्—'श्रपेः श्रृतमन्यत्र हेतोः' इति, तत्र 'अन्यत्र हेतोः' इत्यनेन सर्वस्य हेतुमण्णिचः पर्युदासो न विधित्सितः; अन्यथा विप्रतिषिद्धमिदं स्यात्, असति हि श्रातेश्चुरादौ पाठे यदि श्रपेः श्रृतमिति निपात्यते, कथमन्यत्र हेतोरिति पर्युदासः ! अथान्यत्र हेतोरिति पर्युदासो न तर्हि श्रपेः श्रृतमिति निपातनमुपपद्यते। न हि श्रातेश्चुरादावसति पाठे श्रातेर्हेतु-मण्णिचं त्यक्त्वाऽन्यस्ततो णिजस्ति। तस्माद् यस्य हेतुमण्णिचो न केनचित् प्रकारेण स्वार्थिकत्वमुपपद्यते, स एव भाष्यकारस्य पर्युदासविषयत्वेनाभीष्टः। स पुनर्यो बाह्ये प्रयोजके द्वितीयो णिजुत्पद्यते स विज्ञेयः। यस्य तु केनचित् प्रकारेण स्वार्थिकत्वमुप-पद्यते, स एव भाष्यकारस्य पर्युदासविषयत्वेन न प्रकल्प्यते, तस्यैतन्निपातनमिष्टमेव। स पुनर्यस्मिन्नुत्पन्ने श्रातिः प्राकृतं पच्यर्थमाह स विज्ञेयः, शक्यते हि तस्य पचिना प्रकृत्यर्थेन समानार्थत्वात् स्वार्थिकत्वमुपचारेणाभिधातुमिति। तदेवमिह पाठेऽपि चुरादौ श्रातेर्ण्यन्तस्याप्येतन्निपातनं युज्यत एवेति ॥

प्यायः पी ॥ २८ ॥

'विभाषा' इत्येव। 'ओप्यायी वृद्धौ'–इत्यस्य धातोर्निष्ठायां विभाषा पीत्ययमादेशो भवति। पीनं मुखम्। पीनौ बाहू। पीनमुरः।

इयमपि व्यवस्थितविभाषैव, तेनानुपसर्गस्य नित्यं भवति। सोपसर्गस्य तु नैव भवति। आप्यानश्चन्द्रमाः।

आङ्पूर्वस्यान्धूधसोर्भवत्येव–आपीनोऽन्धुः। आपीनमूध इति ॥

लिड्यङोश्च ॥ २९ ॥

'विभाषा' इति निवृत्तम्। 'प्यायः पी' इत्येतच्चशब्देनानुकृष्यते। लिटि यङि च परतः प्यायः 'पी' इत्ययमादेशो भवति। आपिप्ये। आपिप्यिरे। परत्वात् पीभावे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचनम्, 'एरनेकाचः' इति यणादेशः।

पदमञ्जरी

प्यायः पी ॥ अन्धुः कूपः ॥

लिड्यङोश्च ॥ *विभाषेति निवृत्तमिति*। उत्तरसूत्रे पुनर्विभाषाग्रहणात्। *प्यायः पीत्येतच्चकारेणानुकृष्यते इति*। असति चकारे प्रकरणिनः सम्प्रसारणस्यैवानुवृत्तिः स्याद्, यथोत्तरत्र। *परत्वात्पीभावे कृते इति*। ननु द्वयोः सावकाशयोः परत्वं भवति, अनवकाशश्च पीभावः, एवं तर्हि परत्वादुत्कृष्टत्वादनवकाशत्वादिति भावः। *पुनः प्रसङ्गविज्ञानादिति*। अत्रापि 'विप्रतिषेधे परम्' इत्यत्र यदुक्तं न तद्विवक्षितम्, किं तर्हि? द्विर्वचनस्य पुनः प्रसङ्गोऽस्तीति कृत्वेत्यर्थः। यदि तर्ह्यनवकाशः पीभावो नाप्राप्ते द्विर्वचन आरभ्यमाणेन तेन द्विर्वचनस्य बाधः प्राप्नोति? नैष

न्यासः

प्यायः पी ॥ पीनमिति। 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम्।

इयमपीत्यादि। अपिशब्देन न केवलं पूर्वसूत्रे या विभाषा सैव व्यवस्थितविभाषा, अपि त्वेषापीति दर्शयति। तेन किं सिद्धं भवति? इत्याह–तेनेत्यादि।

सोपसर्गस्य तु नैव भवतीत्यस्यापवादमाह–आङ्पूर्वस्येत्यादि। नित्यश्चायमन्धूधसोः पीभावः। व्यवस्थितविभाषैव ॥

लिड्यङोश्च ॥ विभाषेति निवृत्तमिति। उत्तरसूत्रे पुनर्विभाषाग्रहणात्। अन्यथापीदमेव तत्रानुवर्त्तिष्यत इति तन्न कुर्य्यात्। अत एवोच्यते—द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये ये विधयस्ते नित्या भवन्तीति। प्यायः पीत्येतच्चशब्देनानुकृष्यत इति। इतरथा हि सम्प्रसारणस्य प्रकृतत्वाल्लिड्यङो प्यायः सम्प्रसारणं विज्ञायेत। चशब्दे तु सत्यनन्तरेणैव

यङि—आपेपीयते । आपेपीयन्ते ॥

विभाषा श्वेः ॥ ३० ॥

'लिड्यङोः' इति वर्त्तते, 'सम्प्रसारणम्' इति च । लिटि यङि च श्वयतेर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति । शुशाव, शिश्वाय । शुशुवतुः, शिश्वियतुः । यङि–शोशूयते, शेश्वीयते । तदत्र यङि सम्प्रसारणमप्राप्तंविभाषा विधीयते । लिटि तु किति यजादित्वाद् नित्यं प्राप्तम्, तत्र सर्वत्र विकल्पो भवतीत्येषोभयत्र विभाषा ।

पदमञ्जरी

दोषः; उत्सर्गापवादयोः परस्परसन्निधौ बाध्यबाधकभावः । इह तु सम्प्रसारण-प्रकरणेन द्विर्वचनप्रकरणं विच्छिन्नम् । अत एव वक्ष्यते–'दिग्यादेशेन द्वित्वबाध-नमिष्यते' इति ॥

विभाषा श्वेः ॥ *शुशावेति* । परावपि वृद्ध्यायादेशौ बाधित्वा नित्यत्वात् सम्प्रसारणमन्तरङ्गत्वात्पूर्वत्वम् । *शुशुवतुरिति* । अत्रापि परत्वात्प्राप्तमियङं बाधित्वा नित्यत्वात्सम्प्रसारणम् । तत्र कृते परमपि 'एरनेकाचः' इति यणं बाधित्वान्तरङ्गत्वात्पूर्वत्वम्, पश्चादुवङादेशः । *अन्यत्रेति* । पित्सु वचनेषु । *तत्र सर्वत्र विकल्प इति* । पित्सु तावद्विकल्प्यते; प्रतिषेधकाभावात् । कित्स्वपि परत्वा-दयं विकल्पः । यजादिलक्षणस्यावकाशः–शूनः, शूनवान्, अस्यावकाशः पिद्वच-नानि; किति लिट्युभयप्रसंगे परत्वादयं विकल्पः । *अभ्यासस्यापि न भवतीति* । किमिति न भवति ? न तावत् परत्वादनेन विकल्पेन बाधः, धातोरयं

न्यासः

पीभावेन सम्बन्धः सुखमवसीयते । नाप्राप्ते द्विर्वचने पीभावो विधीयते । तेन तस्य बाधकं प्राप्नोतीति कस्यचिदाशङ्का स्यात् । अतस्तां निराकर्तुमाह–परत्वादित्यादि । विरोधे हि सति बाधा स्यात्, इह तु विरोधो नास्ति । अतः परत्वात् पीभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धमिति द्विर्वचनं भवतीति ॥

विभाषा श्वेः ॥ शुशावेति । लिटि णलि सम्प्रसारणे कृते वृद्ध्यावादेशौ । शिश्वा-येति । यदा न सम्प्रसारणं तदा वृद्ध्यायादेशौ । शुशुवतुः, शिश्वियतुरिति । यदा सम्प्रसारणं तदोवङ्, अन्यदेयङ् । अप्राप्तमिति । केनचिदविहितत्वात् ।

'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यत्रोभयग्रहणादन्यत् कार्यं प्रवर्त्तमानमपास्याभ्यासस्य सम्प्रसारणमेव यथा स्यादित्येतदुभयेषांग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तम् । ततश्चेममपि विकल्पं बाधित्वा नित्यं सम्प्रसारणमेव स्यादिति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तां निरा-

यदा च धातोर्न भवति, तदा 'लिटचभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्यापि न भवति ॥

णौ च संश्चङोः ॥ ३१ ॥

'विभाषा श्वेः' इति वर्त्तते। सन्परे चङ्परे च णौ परतःश्वयतेंर्धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति। शुशावयिषति। चङि—अशूशवत्, अशिश्वयत्। 'सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च बलीयो भवति' इति वचनादन्तरङ्गमपि वृद्धचादिकं सम्प्रारणेन बाध्यते। कृते तु सम्प्रसारणे

पदमञ्जरी

विकल्पः, नाभ्यासस्य। किञ्च—उभयेषांग्रहणस्य स एव विधिर्यथा स्यादिति। तस्माद्वचनमेवात्र शरणम्। यदाह—'श्वेलिंट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः' इति ॥

णौ च संश्चङोः ॥ 'णौ' इति श्वयत्यपेक्षया परसप्तमी, 'संश्चङोः' इति ण्यपेक्षया। तदाह—*सन्परे चङ्परे च णौ परत इति। अन्तरङ्गमपीति*। अन्तरङ्गत्वं तु णिज्मात्रापेक्षत्वात्। *वृद्धयादिकमिति*। आदिशब्देनायादेशो गृह्यते, यदा तु 'संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयः' इति परिभाषा प्रयोजनाभावात्प्रत्याख्याता, तदा 'णौ च संश्चङोर्विषयभूतयोः' इति। *ओः पुयण्जीत्यादि*।

न्यासः

कर्तुमाह—यदा चेत्यादि। अत्र श्वयतेर्विभाषा सम्प्रसारणमुच्यते, यदि कदाचिद् धातोर्न सम्प्रसारणं भवति तदाभ्यासस्य स्यात्, ततश्च श्वयतेः सम्प्रसारणं पाक्षिकं न कृतं स्यात्। स्यादेतत्—लिट्परस्य श्वयतेरिदं विकल्पेन कार्यं विधीयते, तस्य च तदस्त्येवेति? असम्यगेतत्; द्विष्प्रयोगे हि द्विर्वचने क्रियामात्रम् भिद्यते, न धातुरूपम् इति कुतः पूर्वपरयोः कार्यसम्बन्धं प्रति भेदः! तस्माद् यदा धातोर्न भवति तदाभ्यासस्यापि न भवत्येव ॥

णौ च संश्चङोः ॥ णौ च संश्चङोरिति भिन्नाधिकरणे सप्तम्यौ—संश्चङोः परतो यो णिस्तस्मिण्णौ परतो यः श्वयतिरिति। शुशावयिषतीति। श्वयतेर्णिच्, सन्, सम्प्रसारणम्, वृद्धिरावादेशः, 'शु' इत्येतस्य द्विर्वचनम्। अशूशवदिति। लुङ्, च्लेश्चङ्, सम्प्रसारणादिकम्, पूर्ववण्णिलोपः, 'णौ चङि' इति ह्रस्वः, द्विर्वचनम्, 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घः। ननु च श्वयतेर्णिचि तदन्ताच्च सनि कृते चङि चान्तरङ्गत्वात् पूर्वं वृद्धयायादेशाभ्यां भवितव्यम्, ततः सम्प्रसारणेन। तथा च सति शुशुययिषतीति सन्परे णौ भवितव्यम्, चङ्परे तु—अशूशुयदिति, तत् कथं शुशावयिषति, अशूशवदिति चोदाहृतम्? इत्याह—सम्प्रसारणमित्यादि। आदिशब्देनायादेशः परिगृह्यते। सम्प्रसारणाश्रयं पुनरत्र 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वम्। तेनापि वृद्धयादिकं

वृद्धिः, आवादेशश्च । ततः 'ओः पुयण्ज्यपरे' इत्येतद्वचनं ज्ञापकम्—णौ कृतस्थानिवद्भावस्य, इति स्थानिवद्भावात् शुशब्दो द्विरुच्यते ॥

ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ ३२ ॥

'णौ च संश्चङोः' इति वर्त्तते । सन्परे चङ्परे च णौ परतो ह्वः सम्प्रसारणं भवति । जुहावयिषति, जुहावयिषतः, जुहावयिषन्ति । अजूहवत्, अजूहवताम्, अजूहवन् । सम्प्रसारणस्य बलीयस्त्वात् 'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' इति प्रागेव युग्न भवति ।

'सम्प्रसारणम्' इति वर्त्तमाने पुनः सम्प्रसारणमित्युक्तं विभाषेत्यस्य निवृत्त्यर्थम् ।

'ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य' इत्येकयोगेन सिद्धे पृथग्योगकरणम-

पदमञ्जरी

यथा चैतज्ज्ञापकं तथा 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यत्र प्रतिपादितम् । अत्र *स्थानिवद्भावादित्यतः* पूर्वम् 'द्वितीयोऽपि' इतिशब्दः पाठ्यः । 'तेन' इति वा पठितव्यम् ॥

ह्वः संप्रसारणम् ॥ संप्रसारणस्य बलीयस्त्वादिति । बलीयस्त्वं च पूर्ववत् ।

एकयोगेनैव सिद्ध इति । उत्तरसूत्रे कस्यचिन्निमित्तस्य सप्तमीनिर्दिष्टस्या-

न्यासः

बाध्यत इति । नन्वेवमपि वृद्ध्यावादेशयोः कृतयोः शावित्यस्य द्विर्वचनं प्राप्नोति, न हि केनचित् णौ स्थानिवद्भावो विहितः ? इत्यत आह—ओः पुयण्ज्यपर इत्यादि । यत्र चैतज्ज्ञापकं तथा तस्यैव वृत्तावुपपादयिष्यामः ॥

ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ जुहावयिषतीति । अत्रापि पूर्ववद् बलीयस्त्वाद् वृद्ध्यादेः प्राक् संप्रसारणं भवति, अभ्यासस्य 'कुहोः श्चुः' इति चुत्वम्—हकारस्य झकारः । तस्य 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वम्–जकारः । अथात्र कस्मात् 'शाच्छाशाह्वा' इत्यादिना प्रागेव सम्प्रसारणाद् युगागमो न भवति ? इत्याह—सम्प्रसारणस्येत्यादि ।

ननु च सम्प्रसारणग्रहणमनुवर्त्तत एव, तत् किमर्थं पुनः सम्प्रसारणमित्युच्यते ? इत्याह—सम्प्रसारणमितीत्यादि । पूर्वकं हि सम्प्रसारणग्रहणं विभाषेत्यनेन सम्बद्धम्, अतस्तदनुवृत्तौ तस्याप्यनुवृत्तिः स्यात् । तस्माद् विभाषेत्यस्य निवृत्तये पुनः सम्प्रसारणमित्युक्तम् ।

अथ कस्माद् योगविभागः क्रियते, यावता 'ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च' इत्येकयोगेऽपि जुहावयिषतीत्यादि सिध्यत्येव, अत्रापि ह्वयतिरभ्यस्तस्य कारणत्वेन सम्बन्धी भवत्येव, तथा च 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इति स एव द्विरुच्यमानोऽभ्यासस्य कारणं भवत्येव ? इत्याह—ह्वः संप्रसारणमित्यादि । एकयोगेनैव सिद्धे पृथग्योगकरणम्—अभ्यस्तस्य निमित्तं यः प्रत्ययो न भवति, तेन व्यवधाने सम्प्रसारणं न भवतीत्यस्यार्थस्य

नभ्यस्तनिमित्तप्रत्ययेन व्यवधाने सम्प्रसारणाभावज्ञापनार्थम् । ह्वाय-कमिच्छति ह्वायकीयति । ह्वायकीयतेः सन्—जिह्वायकीयिषति ॥

अभ्यस्तस्य च ॥ ३३ ॥

'ह्वः' इति वर्त्तते, तद् 'अभ्यस्तस्य' इत्यनेन व्यधिकरणम्—अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिः । कश्चाभ्यस्तस्य ह्वयतिः ? कारणम् । तेनाभ्यस्तकारणस्य ह्वयतेः प्रागेव द्विर्वचनात्सम्प्रसारणं भवति । जुहाव । जुहूयते । जुहूषति ॥

पदमञ्जरी

भ्यस्तं प्रत्यश्रवणाण्णावपि संश्चङ्परे ह्वेरभ्यस्तकारणस्य सिद्धमेव सम्प्रसारण-मिति भावः । *अनभ्यस्तनिमित्तप्रत्ययेनेति* । अभ्यस्तस्य यन्निमित्तं न भवति तेन । *व्यवधाने इति* । यद्युत्तरसूत्रं प्रवर्तेत, तदा योगविभागोऽनर्थकः स्यादिति ज्ञापकत्वम् ॥

अभ्यस्तस्य च ॥ अत्र 'ह्वः' इत्यनुवर्त्तमानस्य यद्यभ्यस्तस्येत्यनेन सामाना-धिकरण्यं स्यात्, तदा कृते द्विर्वचनेऽभ्यस्तसंज्ञायामुपजातायां सम्प्रसारणेन भवितव्यम्, ततश्चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं न स्यात्; 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधात् । आकारहकाराभ्यां व्यवहितत्वादप्रतिषेध इति चेत् ? न; समानाङ्गे सम्प्रसारणप्रतिषेधात् । समानाङ्गग्रहणं तत्र चोदयिष्यति, एतच्च तत्रैव व्यक्तं व्याख्यास्यते । तमिमं सामानाधिकरण्ये दोषं पश्यन्नाह—*तदभ्यस्त-*

न्यासः

ज्ञापनार्थम् । तेन जिह्वायकीयिषतीत्यत्र ण्वुला क्यचा च व्यवधाने न भवति । यदि पुनः पृथग्योगकरणेनायमर्थो न ज्ञाप्येत, तदा स्यादेवात्र सम्प्रसारणम् । भवति ह्यत्रापि ह्वयतिरभ्यस्तस्य निमित्तम् । ह्वायकशब्दाण्ण्वुलन्तात् क्यच्, 'क्यचि च' इतीत्वम्, क्यजन्तात् सन्, इट्, 'अतो लोपः' द्विर्वचनम् ॥

अभ्यस्तस्य च ॥ चकारः 'ह्वः' इत्यनुकर्षणार्थः, अत एवाह—**ह्व इत्यनुवर्त्तत इति** । यदि 'ह्वः' इत्येतन्नानुवर्त्तते ततोऽभ्यस्तमात्रस्य स्यात् । तत्र 'ह्वः' इत्यनुवर्त्तमानस्या-भ्यस्तस्येत्यनेन यदि सामानाधिकरण्यं स्यात्, तदा द्विर्वचने कृतेऽभ्यस्तसंज्ञायामुप-जातायां सम्प्रसारणं स्यात् । एवञ्च 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणं न स्यात् । यद्यपि परेण हरूपेण व्यवधानम्, तथापि समानाङ्गग्रहणात् तस्य व्यवधानेऽपि प्राप्नोत्येवात्र प्रतिषेधः, यथा यूनेत्यत्र—इतीमं पक्षे सामानाधिकरण्ये दोषं पश्यन्नाह—**तदभ्यस्तस्येत्यनेन व्यधिकरणमिति** । भिन्नाभिधेयमित्यर्थः । **अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिरित्यादिना** सम्बन्धलक्षणां षष्ठीं ख्यापयंस्तदेव वैयधिकरण्यं दर्शयति । तेन

बहुलं छन्दसि ॥ ३४ ॥

'ह्वः' इति वर्त्तते । छन्दसि विषये ह्वयतेर्धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति । इन्द्राग्नी हुवे । देवीं सरस्वतीं हुवे । ह्वेञो लटयात्मनेपदोत्तमैकवचने 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुकि कृते सम्प्रसारणमुवङादेशश्च ।

न च भवति—ह्वयामि मरुतः शिवान् । ह्वयामि विश्वान्देवान् ॥

चायः की ॥ ३५ ॥

'बहुलं छन्दसि' इति वर्त्तते । चायतेर्धातोश्छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति । विधुना निचिक्युः । नान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् । लिटयुसि रूपम् ।

न भवति—अग्निर्ज्योतिर्निचाय्यः ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥ ३६ ॥

'छन्दसि' इति वर्त्तते । अपस्पृधेथामिति—'स्पर्ध सङ्घर्षे' इत्यस्य लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात् ।

पदमञ्जरी

स्येत्यनेन व्यधिकरणमिति । एतदेव स्फोरयति—*अभ्यस्तस्य यो ह्वयतिरिति* । तेन किं सिद्धं भवति ? इत्याह–*तेनेति* ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥ *अपर आहेति* । कस्याञ्चिच्छाखायामपस्पृधेथामित्याद्युदात्तं पठ्यते, अन्यस्यां तु पदद्वयम्, उभयमप्यनेन निपातनेन संगृह्यते । तत्रैकपद्ये 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः

न्यासः

किं सिद्धं भवति ? इत्याह—तेनेत्यादि । जुहावेति । सम्प्रसारणे वृद्ध्यावादेशयोः स्थानिवद्भावेन हु इत्यस्य द्विर्वचनम् ॥

बहुलं छन्दसि ॥ चायः की ॥ निचिक्युरिति । 'एरनेकाचः' इत्यादिना यणादेशः । निचाय्येति । ल्यबन्तमेतत् । दीर्घोच्चारणं चिकीवानित्यत्र दीर्घस्य श्रवणार्थम् । इदं क्वसौ रूपम् ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥ अकारलोपश्चेति । धातोरवयवो योऽकारस्तस्य निपातनाल्लोपः । अपास्पर्द्धेथामिति । अपाकारस्य 'आटश्च' इति सवर्णदीर्घत्वम् ।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् । अस्पर्धेथामिति भाषायाम् । अपर आह—स्पर्धेरपपूर्वस्य लङ्याथामि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडागमाभावः । अत्र प्रत्युदाहरणमपास्पर्द्धेथामिति भाषायाम् ।

आनृचुः, आनृहुरिति । 'अर्च पूजायाम्', 'अर्ह पूजायाम्' इत्यनयोर्धात्वोर्लिट्युसि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात् । ततो द्विर्वचनम्, उरदत्वम्, 'अत आदेः' इति दीर्घत्वम् । 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इति नुडागमः । यज्ञा अर्कमानृचुः । न वसून्यानृहुः । आनर्चुः, आनर्हुरिति भाषायाम् ।

चिच्युषे । 'च्युङ् गतौ' इत्यस्य धातोर्लिटि सेशब्देऽभ्यासस्यसम्प्रसारणमनिट् च निपातनात् । चिच्युषे । चुच्युविष इति भाषायाम् ॥

तित्याज । 'त्यज हानौ'—इत्यस्य धातोर्लिट्यभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपात्यते । तित्याज । तत्याजेति भाषायाम् ।

श्राता इति । 'श्रीञ् पाके' इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां श्राभावः । श्रातास्त इन्द्रसोमाः ।

श्रितमिति । तस्यैव श्रीणातेर्ह्रस्वत्वम् । सोमो गौरी अधिश्रितः । श्रिता नो गृहाः । अनयोः श्राभावश्रिभावयोर्विषयविभागमिच्छन्ति । सोमेषु बहुषु श्राभाव एव । अन्यत्र श्रिभाव इति । सोमादन्यत्र क्वचिदेकस्मिन्नपि श्राभावो दृश्यते । यदि श्रातो जुहोतन । तस्य श्राता इति बहुवचनस्याविवक्षितत्वादुपसंग्रहो द्रष्टव्यः ।

पदमञ्जरी

प्राप्तः, 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति प्रतिषिद्धः । तत्राट्स्वरेणाद्युदात्तं पदं भवति । यदा तु द्वे पदे, तदा निघातप्रतिषेधे 'तास्यनुदात्तेत्' इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण स्पृधेथामिति पदमाद्युदात्तम्, 'तिङि चोदात्तवति' इत्यपशब्दस्य निघातः ।

बहुवचनस्याविवक्षितत्वादिति । सोमस्यैव बहुत्वे श्राभाव इति नियमाना-

न्यासः

विषयविभागमिच्छन्तीति । स च निपातनसामर्थ्याल्लभ्यत इति वेदितव्यम् । यदि क्वचिदप्येकस्मिन् श्राभावो दृश्यते, तदर्थं तर्हि यत्नान्तरमास्थेयम् । न हि श्राता इत्यनेनैतदपि सिध्यति; सूत्रे बहुवचननिर्देशात् । अत आह—तस्येत्यादि ॥

आशोराशीर्त्तं इति । तस्यव श्रीणातेराङ्पूर्वस्य क्विपि निष्ठायां च शीरादेशः, निष्ठायाश्च नत्वाभावो निपातनात् । तामाशीरा दुहन्ति । आशीर्त्तं ऊर्जम् । क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः ॥

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥ ३७ ॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति । व्यध: । विद्धः । व्यच–विचितः । व्येञ्–संवीतः ।

पदमञ्जरी

श्रयणाच्च, अन्यथा बहुत्वाविवक्षायामपि सोमादन्यत्र श्राभावो न स्याद् विषयविभागवादिनाम् ॥

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥ येषां सम्प्रसारणं विहितं तेषां यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां सम्प्रसारणे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयमुच्यते । ननु चालोन्त्यपरिभाषयान्त्यस्यैव भविष्यति ? नानया परिभाषया शक्यमिहोपस्थातुम्, वच्यादीनामन्त्यस्य यणोऽसम्भवात् । 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' इत्यनया परिभाषया तर्हि अन्त्यसदेशस्यैव भविष्यति, नेतरस्य ? नैषास्ति परिभाषा; प्रयोजनाभावात् । एतच्चास्माभिः *परिभाषाप्रकरणाख्ये* ग्रन्थे उपपादितम् ।

एवं तर्हि ज्ञापकात्सिद्धम्, यदयं प्यायः पीभावं शास्ति, तज्ज्ञापयति–न सर्वस्य यणः सम्प्रसारणं भवतीति । यदि स्यात्, प्यायः सम्प्रसारणमेव विदध्यात् । द्वयोर्यकारयोः सम्प्रसारणे पूर्वत्वे च 'हलः' इति दीर्घत्वे च सिद्धं स्यात्–पीनं मुखमिति । ननु च प्यायोऽन्त्य यणः सम्भवात्तस्यैव स्यात् ? स्यादेवं यदि 'प्यायः' इति स्थानषष्ठी विज्ञायेत, अवयवषष्ठी चैषा विज्ञास्यते–प्यायो यो यण् तस्येति । एवमप्येतावदेवानेन ज्ञाप्यते–न सर्वस्य यणः सम्प्रसारणं भवतीति, तत्र कुत एतत्—परस्यैव भवति न पूर्वस्येति, न च विध्यतीत्यादिनिर्देशात्परस्यैवेति शक्यमवगन्तुम् ? पर्यायेण प्रवृत्तावपि तदुपपत्तेः । तस्मादारभ्यमेवैतत् ।

न्यासः

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥ येषां सम्प्रसारणमुक्तं तेषां यावन्तो यणः सम्भवन्ति तेषां सर्वेषां सम्प्रसारणं प्राप्तमिति प्रतिषेधोऽयमारभ्यते । ननु चालोऽन्त्यपरिभाषयाऽन्त्यस्यैव भविष्यति, नानन्त्यस्य ? नैतदस्ति; न ह्यनया परिभाषया शक्यमिहोपस्थातुम् । वचिस्वपियजादीनामन्त्यस्य यणोऽसम्भवात् । एवं तर्हि 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' इत्यन्त्यसदेशस्य कार्यं भविष्यति—अन्त्यसदेशो यो यण् तस्यैव कार्यं भविष्यति, नेतरस्य ? नैषास्ति परिभाषा; प्रयोजनाभावात् । यदाह–तस्याः परिभाषाया न सन्ति प्रयोजनानीति । तस्मात् कर्त्तव्यमेतत् सूत्रम् ।

एकयोगलक्षणमपि सम्प्रसारणमत एव वचनात्प्रथमं परस्य यणः क्रियते । पूर्वस्य च प्रसक्तं प्रतिषिध्यते ।

सम्प्रसारणमिति वर्त्तमाने पुनः सम्प्रसारणग्रहणं विदेशस्थस्यापि सम्प्रसारणस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिति, 'श्वयुवमघोनामतद्धिते'—यूनः, यूना ।

पदमञ्जरी

ननु पूर्वपरयोर्यणोरेकयोगलक्षणं सम्प्रसारणं तद्यदि परस्याभिनिर्वृत्तं पूर्वस्याप्यभिनिर्वृत्तमेव, न चाभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या विज्ञातुम्, यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयाद् मा भुंक्था इति, किं तेन कृतं स्यात्! अथ पूर्वस्यानभिनिर्वृत्तं परस्याप्यनभिनिर्वृत्तमेव, तत्र निमित्तत्वेनाश्रयणमनुपपन्नम्? इत्यत आह—*एकयोगलक्षणमपीति* । अपरः कल्पः—अस्तु द्वयोरप्यभिनिर्वृत्तम्, कथं तर्हि प्रतिषिद्ध्यते? न सम्प्रसारणं प्रतिषिद्ध्यते, किं तर्हि? तदाश्रयं पूर्वत्वम् । तदेव त्वत्र सम्प्रसारणशब्देनोपचारादुच्यते, तस्मिन्प्रतिषिद्धे यणादेशेन सिद्धमिष्टम् । अस्तु वा द्वयोरप्यनभिनिर्वृत्तम् । कथं तर्हि निमित्तत्वम्? नैवात्र सम्प्रसारणनिमित्तम्, किं तर्हि? तद्भावी यो यण् स एव च सप्तम्यन्तेन सम्प्रसारणशब्देनोच्यत इति ।

पुनः सम्प्रसारणग्रहणमिति । असति तस्मिन्, 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति पूर्वप्रकरणविहितस्यैव सम्प्रसारणस्य प्रतिषेधः स्यान्न विदेशस्थस्य । विभिन्नो देशः=विदेशः ।

न्यासः

ननु च पूर्वपरयोरेकयोगलक्षणं सम्प्रसारणम्, ततो यदि तत् परस्याभिनिर्वृत्तं तदा पूर्वस्याप्यभिनिर्वृत्तमेव[1], न चाभिनिर्वृत्तस्य निवृत्तिः शक्यते कर्तुम्, नाप्यनभिनिर्वृत्तस्य निमित्तत्वेनाश्रयणं युज्यते, ततोऽस्मादेव प्रतिषेधवचनात् तत् परस्य तावत् क्रियते; तत्र कृते तु पूर्वस्यापि प्राप्तं प्रतिषिध्यते । अथ सम्प्रसारणमित्यनुवर्त्तमाने पुनः सम्प्रसारणग्रहणं किमर्थम्? इत्याह—सम्प्रसारणमित्यादि । असति पुनः संप्रसारणग्रहणे 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इति प्रकृतस्यैव सम्प्रसारणस्य प्रतिषेधः स्यात्, न विदेशस्थस्य । तस्माद् विदेशस्थस्यापि भिन्नप्रकरणविहितस्य प्रतिषेधो

१. अतः परम्—"न चाभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधः शक्यते कर्तुम्, यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान् मा भुंक्था इति किं तेन कृतं स्यात्! अथ पूर्वस्याभिनिर्वृत्तम् परस्याप्यभिनिर्वृत्तमेव । एवं सत्यसतः प्रतिषेधं प्रति निमित्तत्वेनाश्रयो नोपपद्यत इत्याह—एकयोगलक्षणेत्यादि । यदि युगपद् द्वयोरपि स्यादिदं वचनमनर्थकं स्यात्"—इत्यधिको महीशूरसंस्करणे पाठः ।

सम्प्रसारणग्रहणसामर्थ्यादेव पूर्वस्य प्रतिषेधे वक्तव्ये सवर्णदीर्घत्वमेकादेशो न स्थानिवद्भवति। सति वा स्थानिवत्वे व्यवधानमेतावदाश्रयिष्यते ॥

❀ ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्छन्दसि ❀। ऋचि परतस्त्रेः सम्प्रसारणं भवति, उत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि विषये। तिस्र ऋचो यस्मिन् तत् तृचं सूक्तम्, तृचं साम। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इति समासान्तः। छन्दसीति किम्? त्र्यृचं कर्म ॥

पदमञ्जरी

सम्प्रसारणग्रहणादेवेति। इह तु 'व्यथो लिटि' विव्यथे इति हलादिःशेषापवादः सम्प्रसारणम्, प्रकरणादुत्सर्गदेशश्चापवादो भवतीति परस्यैव संप्रसारणात्सिद्धम्। अत एव पुनः संप्रसारणाद्विदेशस्थेपि संप्रसारणे प्रतिषेध इतीष्टव्यम्, अन्यथा तत्रेति वाच्यं स्यात्। *व्यवधानमेतावदाश्रयिष्यत इति*। तेनोपपूर्वाद्वसेः 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति लिटः क्वसौ विभक्तौ च परतो वसोस्सम्प्रसारणे उपेषुषेत्यादौ धातोः प्राप्तस्य यजादिलक्षणस्य संप्रसारणस्य प्रतिषेधो न भवति, प्रत्यक्षेण षकारेण व्यवधानादिति भावः। यदि तु व्यवधानमात्रे स्यात्, तदा समानाङ्गग्रहणं कर्त्तव्यम्। निमित्तनिमित्तिनौ यत्रैकस्मिन्नेवाङ्गे भवतः, तत्र प्रतिषेधो भवतीति वक्तव्यम्। उपेषुषीत्यत्र क्वसौ धातुरङ्गम्, क्वस्वन्तं च विभक्ताविति प्रतिषेधाभावः। अन्तरङ्गत्वाद्वाऽत्र पूर्वमेव धातोः सम्प्रसारणम्।

ऋचि त्रेरिति। कल्पसूत्रकारास्तु द्विशब्दस्यापि सम्प्रसारणं प्रयुञ्जते—'तृचाः प्रतिपदनुचराः', 'द्वृचाः प्रगाथाः' इति ॥

न्यासः

यथा स्यादित्येवमर्थं पुनः सम्प्रसारणग्रहणम्। यूनो यूनेति। सम्प्रसारणे कृते परपूर्वत्वे कृते च 'अकः सवर्णे दीर्घः'। ननु च क्रियमाणेऽपि पुनः सम्प्रसारणग्रहणे तत्र प्रतिषेधो न स्यात्, सवर्णदीर्घत्वस्य पूर्वविधौ स्थानिवद्भावे सत्युकारव्यवहितत्वात्? अत आह—सम्प्रसारणग्रहणसामर्थ्यादेवेत्यादि। यदि स्थानिवद्भावः स्यात्, अनर्थकं पुनः सम्प्रसारणग्रहणं स्यादित्यभिप्रायः। अभ्युपेत्य पुनः परिहारान्तरमाह—सति वेत्यादि। सम्प्रसारणग्रहणसामर्थ्यादेवात्राश्रूयमाणोऽपि शास्त्रान्तरेण स्थानिवद्भावमापन्नो योऽज् व्यवधानं करोति, तन्मात्रेण व्यवधानं नाश्रयिष्यते—मा भूत् सम्प्रसारणग्रहणमनर्थकमिति। ननु च 'यूनश्च कुत्सायाम्', 'वृद्धो यूना' इति निपातनादेव यूनः, यूनेत्यत्र सम्प्रसारणं न भविष्यति, तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन पुनः संप्रसारणग्रहणेन? नैतदस्ति; अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्तीत्युक्तम्। अपि चैतद्विषयमेव निपातनं विज्ञायते,

❀ रयेर्मतौ बहुलम् ❀। रयिशब्दस्य छन्दसि विषये मतौ परतो बहुलं सम्प्रसारणं भवति। आ रेवानेतु नो विशः। न च भवति—रयिमान्पुष्टिवर्धनः॥

लिटि वयो यः॥ ३८॥

'न सम्प्रसारणम्' इत्यनुवर्तते। लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति। उवाय। ऊयतुः। ऊयुः।

लिङ्ग्रहणमुत्तरार्थम्॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति॥ ३९॥

अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो वकारादेशो भवत्यन्यतरस्याम्। ऊवतुः। ऊवुः। ऊयतुः। ऊयुः।

पदमञ्जरी

लिटि वयो यः॥ लिङ्ग्रहणमुत्तरार्थमिति। नेहार्थं लिटः; अन्यत्र वयादेशस्यासम्भवात्॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति॥ अस्यग्रहणेन वयो यकारः प्रतिनिर्दिश्यते, अन्यथादेशाकारस्योच्चारणार्थत्वे प्रमाणाभावाद्वय एवायं सर्वादेशः सम्भाव्येत। अस्यग्रहणे तु सति यद्यप्यकारवानादेशः, तथाप्यतो लोपेन सिद्धमिष्टम्।

वश्चास्यग्रहणं शक्यमकर्त्तुम्। कथम्? 'अन्यतरस्यां किति वेञः' इति सूत्रं कर्तव्यम्, लिटीत्येव, किति लिटि परतो वेञः सम्प्रसारणं न भवत्यन्यतरस्याम्—ववतुः, ववुः; सम्प्रसारणपक्षे उवङादेशे सति द्विर्वचनम्, सवर्णदीर्घ-

न्यासः

तथा च—यूनः, यूना, यूनीत्यत्र सम्प्रसारणं स्यादेवेति। आरेवानिति। रयिरस्यास्तीति मतुप्। सम्प्रसारणे कृते 'आद्गुणः', 'छन्दसीरः' इति वत्वम्॥

लिटि वयो यः॥ वयेर्द्वौ यणौ, तत्र पूर्वेण वकारस्य सम्प्रसारणप्रतिषेधे प्राप्ते यकारस्यानेन सम्प्रसारणं लिटि प्रतिषिध्यते। तत्र प्रतिषिद्धे यकारः सम्प्रसारणभाग् न भवतीति वकारस्य सम्प्रसारणं भवति, धातोरभ्यासस्य च; तत्र धातोर्ग्रह्यादिसूत्रेण[1], अभ्यासस्य 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यनेन। अथ किमर्थं लिङ्ग्रहणम्, यावता वयेरादेशस्य लिटोऽन्यत्र सम्भवो नास्ति, तद्विधौ 'लिट्यन्यतरस्याम्' इत्यतो लिङ्ग्रहणानुवृत्तेः, तत्सामर्थ्यादेव लिटि भविष्यति? इत्यत आह—लिङ्ग्रहणमुत्तरार्थमिति। 'वेञः' इति प्रतिषेधो लिटि यथा स्यादित्येवमर्थं लिङ्ग्रहणम्॥

---

1. 'वच्यादिसूत्रेण'—इति महीशूरसंस्करणे पाठः।

कितीति किम् ? उवाय । उवयिथ ॥

वेञः ॥ ४० ॥

'लिटि' इत्यनुवर्तते । 'वेञ् तन्तुसन्ताने' इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति । ववौ । ववतुः । ववुः । किति यजादित्वाद् धातोः प्राप्तमकित्यपि 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्यात उभयं प्रतिषिध्यते ॥

ल्यपि च ॥ ४१ ॥

'वेञः' इत्यनुवर्तते । ल्यपि च परतो व्येञः सम्प्रसारणं न भवति । प्रवाय । उपवाय ।

पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥

ज्यश्च ॥ ४२ ॥

'ल्यपि' इत्येव । 'ज्या वयोहानौ' इत्यस्य धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति । प्रज्याय । उपज्याय ॥

व्यश्च ॥ ४३ ॥

'ल्यपि' इत्येव । 'व्येञ् संवरणे' इत्येतस्य धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति । प्रव्याय । उपव्याय । योगविभाग उत्तरार्थः ॥

विभाषा परेः ॥ ४४ ॥

'ल्यपि च', 'व्यश्च' इत्यनुवर्तते । परेरुत्तरस्य व्येञित्येतस्य धातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति । परिवीय यूपम् । परिव्याय । सम्प्रसारणे कृते परपूर्वत्वे च 'ह्रस्वस्य' इति तुक् प्राप्नोति, स 'हलः' इति दीर्घत्वेन परत्वाद्बाध्यते ॥

पदमञ्जरी

त्वम्—ऊचतुः, ऊचुः; 'वेञो वयिः'—ऊयतुः, ऊयुरिति । कथं ववौ, वविथ ? 'ल्यपि च' इति चकारेण लिडनुकृष्यते, तत्पिति नित्यनिषेधार्थं भविष्यति ॥

ल्यपि च ॥ पूर्वं वश्चास्यग्रहणे क्रियमाणे 'ल्यपि व्यो ज्यश्च' इति एकयोग एव कर्त्तव्यः, एवं हि द्विश्चकारोऽपि न कर्त्तव्यो भवति ॥

न्यासः

वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥ वेञः ॥ ल्यपि च ॥ ज्यश्च ॥ व्यश्च ॥ योगविभाग उत्तरार्थ इति । उत्तरत्र व्येञ एव विभाषा सम्प्रसारणं यथा स्यात्, 'ज्या' इत्यस्य मा भूदित्येवमर्थो योगविभागः ॥

आदेच उपदेशेऽशिति ॥ ४५ ॥

'धातोः' इति वर्तते। एजन्तो यो धातुरुपदेशे तस्याकारादेशो भवति, शिति तु प्रत्यये न भवति। ग्लै—ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम्। शो—निशाता, निशातुम्, निशातव्यम्।

एच इति किम्? कर्त्ता, हर्त्ता। उपदेश इति किम्? चेता, स्तोता। अशितीति किम्? ग्लायति, म्लायति।

पदमञ्जरी

आदेच उपदेशेऽशिति ॥ अत्र यदि 'धातोः' इति नानुवर्त्तेत, ततो विशेष्याभावादेव नास्ति तदन्तविधिरित्युपदेशे य एच् तस्यात्त्वमित्यर्थो भवति; ततश्च ढौकिता, त्रौकिता इत्यत्रापि प्राप्नोति। ननु चाशितीत्युच्यते, न चात्राशितं पश्यामः; न च ककार एवाशित्, किं कारणम्? नञिवयुक्तन्यायेन शित्सदृशस्य प्रत्ययस्यैव ग्रहणात्? स्यादेवं यद्यशितीति पर्युदासः स्यात्, प्रसज्यप्रतिषेधस्त्वयमिति वक्ष्यते। तस्माद्धातोरित्यनुवर्त्त्यमित्याह—*धातोरिति वर्त्तत इति*। तस्य चैचो विशेषणात्तदन्तविधिरित्याह—*एजन्तो यो धातुरिति*। *उपदेश इति*। अनिर्ज्ञातस्वरूपस्य स्वरूपज्ञापनार्थमाद्यमुच्चारणम्=उपदेशः।

चेता, स्तोतेति। आर्धधातुके गुणविधानं त्वात्त्वार्थमेव स्यात्; यं विधिं प्रत्युपदेश इति न्यायात्। कर्त्ता, हर्त्ता इत्यादौ च गुणविधिश्चरितार्थः। एवमपि लाक्षणिकत्वादेवात्र न भविष्यति? ज्ञापकाच्च; यदयं क्रीङ्जीनां णावात्त्वं शास्ति, तज्ज्ञापयति—न परनिमित्तस्यैच आत्त्वं भवतीति। नैतदस्ति ज्ञापकम्, नियमार्थमेतत् स्यात्—क्रीङ्जीनां णावेवेति। तर्हि 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इत्यात्त्वं शास्ति? एवं तर्ह्युत्तरार्थमवश्यं कर्त्तव्यमुपदेशग्रहणम्, तदिहैव क्रियते मन्दधियामनुग्रहाय।

न्यासः

विभाषा परेः ॥ आदेच उपदेशेऽशिति ॥ धातोरिति वर्त्तत इति। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इत्यतः, तस्य च धातोरेवैच इति विशेषणम्, विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवतीत्याह—एजन्तो यो धातुरिति। उपदेश इति। आद्युच्चारणे गणपाठ इत्यर्थः। चेता, स्तोतेति। ननु च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयैवात्र न भविष्यति, तत् किमुपदेशग्रहणेन? एवं तर्हि उपदेशग्रहणमेतज् ज्ञापयति—अनित्यैषा परिभाषेति। एतेन 'अर्त्तिह्री' इत्यादिसूत्रे लाक्षणिकस्याप्याकारस्य ग्रहणे सति क्षापयतीत्यादावपि पुक् सिद्धो भवति। श इद् यस्य सोऽयं शिदिति। यश्च 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्येशादेशः स शिद् भवति, ततश्च शिति प्रतिषेधे क्रियमाण एशयप्यात्त्वं न प्राप्नोति। अत्राया-

कथं जग्ले, मम्ले ? नैवं विज्ञायते—शकार इद्यस्य सोऽयं शिदिति, किं तर्हि ? श एव इत् शित्। तत्र 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति शिदादौ प्रत्यये प्रतिषेधः। एश् शकारान्तो भवति।

पदमञ्जरी

कथमिति। अशिदित्ययं बहुव्रीहिः, तत्र शिति प्रतिषेधे क्रियमाणे शिन्मात्रस्य प्राप्नोति, ततश्च जग्लाये इति भवितव्यमिति प्रश्नः। भावे लकारः, तत्पुरुषाश्रयेणोत्तरम्। कः पुनस्तत्पुरुषे सति गुणः ? इत्यत आह—*तत्रेति*। तत्पुरुषे हि वर्णग्रहणमिदं भवति, वर्णग्रहणे च तदादौ कार्यं भवति। स्तनन्धय इत्यत्र तु 'नासिकास्तनयोः' इति खशि कृते मध्यपातिनं शपमाश्रित्य प्रतिषेधः। प्रयोजनाभावादेवात्र न शपा भवितव्यमिति चेत् ? नन्विदमेव प्रयोजनं यदुतात्त्वनिवृत्तिः। *अशितीति*। यद्ययं पर्युदासः स्यात्—शितोऽन्योऽशित्, तस्मिन्नशितीति, ततो ग्लायन्ति, म्लायन्तीत्यत्र शबकारस्यान्त्याकारस्य चैकादेशे कृते तस्य परं प्रत्यादिवद्भावादस्ति शितोऽन्य इति कृत्वाऽऽत्त्वमत्र प्राप्नोति। प्रसज्यप्रतिषेधे तु न दोषः; एकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावात् शिद्ग्रहणेन ग्रहणात् शिति प्रतिषेध एव भवति। किं पुनः कारणमेकादेशविषय एव आत्त्वप्राप्तिश्चोद्यते, न पुनर्ग्लायतीत्यादावपि लकार एवाशिति परत आत्त्वं प्राप्नोतीति ? नैवं शक्यं चोदयितुम्; एवं ह्यशितीति प्रतिषेधो निर्विषयः स्यात्, न च 'पाघ्राध्माधेट्दृशः' इति धेटः शप्रत्ययोऽनन्यपूर्वो विषयः। न ह्येकमुदाहरणं शित्प्रतिषेधं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्याद् 'अशे' इत्येव ब्रूयात्। यद्वा—अन्तरङ्गत्वान्नित्यत्वाच्च पूर्वं लस्य तिबादयः, पश्चाच्छप्, अनित्यं चात्त्वम्, तस्मादेकादेशविषय एव चोद्यते ? नैष दोषः; एकादेशस्य पूर्वविधौ स्थानिवद्भावेनादिशितोऽन्यस्य प्रत्ययस्याभवात्। इह तर्हि—सुग्लः, सुग्ला, सुग्लानमित्याकारान्तलक्षणाः काञ्चचो न स्युः ? एषोऽप्यदोषः;

आत्त्वभाविन एजन्तादाकारान्तनिमित्तकः।
प्रत्ययो ज्ञाप्यते सर्वो ह्वाग्रामश्चेत्यणा पुनः॥

न्यासः

देशे कृते स्थानिवद्भावेन 'ग्लै' इत्यस्य द्विर्वचने 'जग्लाय' इत्यनिष्टं रूपं स्यात्—इति मन्यमान आह—कथमित्यादि। ग्लै इत्यादौ 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः। नैवमित्यादिना परिहारः। श एव इत् शिदिति विज्ञायमाने सत्यल्ग्रहणमेव भवति। तत्र 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे'—परिभाषया शिदादौ प्रत्यये प्रतिषेधेन भवितव्यम्, न चैश् शिदादिः, किं तर्हि ? शिदन्तः; शिदन्तस्यैवोच्चारणात्। तस्मादत्रैशि प्रतिषेधो न भवति। अशितीति पर्युदासो वा ? प्रसज्यप्रतिषेधो वा ? तत्र यदि

अशितीति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्, तेनैतदात्त्वमनैमित्तिकं प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्भवतीति। सुग्लः, सुम्ल इति—'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। सुग्लानः, सुम्लान इति—'आतो युच्' इत्येवमादि सिद्धं भवतीति।

पदमञ्जरी

इह तर्हि ग्लै—ग्लानीयम्, पै—पानीयम्, अनीयरि कृते आत्त्वं च प्राप्नोति, आयादयश्च, परत्वादायादयः स्युः? सत्यम्; कृतेषु तेष्वलोन्त्यस्यात्वे सवर्णदीर्घत्वे ग्लानीयमित्यादि सिद्धम्। नन्वायादिषु कृतेषु नायमेजन्तः, न च स्थानिवद्भावोऽलाश्रयत्वात्? स्यादेतदेवं यदि सम्प्रति यदेजन्तं तस्यात्त्वं भवतीत्युच्येत, इह तूपदेशगतमेजन्तत्वं न सम्प्रतितनमिति नास्ति स्थानिवद्भावापेक्षा। नन्वेवमपि जग्लतुरित्यादौ यकारस्यात्वे कृते जग्ला+आ+अतुसिति स्थितेऽन्तरङ्गमप्याकारयोरेकादेशं बाधित्वा 'आतो लोप इटि च' इत्यातो लोपः स्यात्, न च पूर्वस्याकारस्य पुनर्लोपो लभ्यते, यकाराकारलोपस्य पूर्वविधौ स्थानिवद्भावात् 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाच्च? नैष दोषः; समानाश्रये 'वार्णादाङ्गं बलीयः', इह तु व्याश्रयत्वादन्तरङ्ग एकादेशे सति पश्चादाल्लोप इति सिद्धमिष्टम्। एवमपि 'द्विर्वचनेऽचि' इत्यायादीनां स्थानिवत्वात् ग्लैशब्दस्य द्विर्वचनेऽभ्यासस्यैवर्णान्तता प्राप्नोति, पक्षान्तरे त्वनैमित्तिकत्वादात्वस्य द्विर्वचननिमित्तेऽच्यविहितत्वान्न दोषः? पर्युदासपक्षेऽपि न दोषः, 'लिटि धयो यः' इति द्विलकारकोऽयं निर्देशः, तथानिर्देशस्य च तत्र प्रयोजनाभावादिहानुवृत्तं वाक्यभेदेन सम्बद्ध्यते—अशित्येच आत्वं भवति, लिटि तु लकारादौ लावस्थायामेवेति। ततश्चात्त्वस्य द्विर्वचननिमित्ताज्निमित्तत्वाभावात्तस्य तावन्न स्थानिवद्भावः। आयादयस्तु लिट्यप्राप्ता एव। तदेवं पर्युदासपक्षस्य बहुप्रतिविधेयत्वात्प्रसज्यप्रतिषेधोऽयमित्याह—*अशितीति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयमिति*। तेन किं सिद्धं भवति? इत्याह—*तेनैतदित्यादि*। *एवमादि सिद्धं भवतीति*। आदिशब्देन सुग्लेत्यत्र 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङो ग्रहणम्। अन्यानि बहूनि प्रयोजनानि प्रागेवास्माभिर्दर्शितानि।

इह कस्मान्न भवति—गोभ्याम्, नौभ्यामिति? ज्ञापकात्। यदयम् 'रायो हलि' इत्यात्त्वं शास्ति, तज्ज्ञापयति—न प्रातिपदिकस्यात्त्वं भवतीति। नैतदस्ति ज्ञापकम्, नियमार्थमेतत्स्यात्—रायो हल्येव; 'औतोम्शसोः' इत्येत्तु गां पश्येत्यत्र, 'गोतो णित्' इति णित्त्वाद्वृद्धिः प्राप्नोति, गाः पश्येत्यत्र त्वशितीति

न्यासः

पर्युदासः, तदा शितोऽन्यदात्त्वनिमित्तमाश्रितं स्यात्। एवञ्च यावदात्त्वस्य निमित्तं न भवति, तावदात्त्वेन न भवितव्यमिति; अनाकारान्तत्वात्। 'सुग्लः' इत्यादावाकारान्तलक्षणः कप्रत्ययो न स्यादित्येतच्चेतसि कृत्वाऽऽह—अशितीत्यादि। तेन किं सिद्धं

आकाराधिकारस्त्वयम् 'नित्यं स्मयतेः' इति यावत् ॥

न व्यो लिटि ॥ ४६ ॥

'व्येञ्' इत्येतस्य धातोर्लिटि परत आकारादेशो न भवति। संविव्याय। संविव्ययिथ। 'लिटयभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। णलि 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥ ४७ ॥

'आदेचः' इति वर्तते। 'स्फुर स्फुल चलने'—इत्येतयोर्धात्वोरेचः स्थाने घञि परत आकारादेशो भवति। विस्फारः। विस्फालः। विष्फारः। विष्फालः। 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति वा षत्वम् ॥

पदमञ्जरी

प्रतिषेधः प्राप्नोतीति कृतं भवेदित्यज्ञापकम्? एवं तर्ह्युपदेश इत्युच्यते, न च गोनौशब्दयोरुपदेशोऽस्ति, यः 'गोपयसोर्यत्', 'नौवयोधर्म' इत्यादौ उच्चारणं नासावुपदेशः, किं तर्हि? उद्देशः, सिद्धवदुपानात्। मा भूद् गौनौशब्दयोरुपदेशः, एचस्तूपदेशोऽस्ति—'गमेर्डोः', 'ग्लानुदिभ्यां डौः' इति, न च डोडावोर्विधानवैयर्थ्यम्, शसि चरितार्थत्वात्? एवं तर्हि 'धातोरिति वर्त्तते'—इत्युक्तत्वान्न भविष्यति ॥

न व्यो *लिटि* ॥ कित्त्यात्त्वे सत्यसति वा विशेषाभावात्पित्युदाहरणमेतस्य वृत्तिकारेण दर्शितम्। थलि 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' इतीट ॥

न्यासः

भवति? इत्याह—तेनेत्यादि। प्रसज्यप्रतिषेधे ह्यात्त्वस्य शिति प्रतिषेधः क्रियते, न तु किञ्चिन्निमित्तमाश्रीयत इति तदनैमित्तिकं भवति। अतः प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरात्त्वं भवतीत्याकारान्तलक्षणः प्रत्ययः सिध्यति, तेन 'सुम्लः' इत्यादि सिद्धं भवति। आदिशब्देन सुग्लः, सुग्ला—इत्यादेर्ग्रहणम्। तत्र हि स्त्रियाम् 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ् ॥

न व्यो लिटि ॥ 'व्येञ् संवरणे'। अथालिटीति कस्मान्न ज्ञायते, तुल्या हि संहिता? नैतदस्ति; यदि ह्येवं स्यात्, 'लिटि व्यः' इति नियम एव कृतः स्यात्—लिट्येवात्त्वम्, नान्यत्रेति। लक्ष्यस्थित्या च विपरीतनियमो भविष्यति। द्विवचनबहुवचनयोः सम्प्रसारणे पूर्वरूपत्व आत्त्वे च सत्यसति वा नास्ति विशेष इत्येकवचनान्तमुदाहृतम्। संविव्ययिथेति। थलि वलादिलक्षणस्येटः 'एकाचः' इत्यादिना प्रतिषेधः। पुनरपि क्रादिनियमार्थः प्राप्तः, सोऽपि 'अचस्तास्वत्' इत्यादिना प्रतिषिद्धः, पुनः 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति नियमाद्विकल्पे प्राप्ते 'इडर्त्तिव्ययतीनाम्' इति नित्यं क्रियते ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥ विस्फारः, विस्फाल इति। भावे घञ्, 'हलश्च' इति करणाधिकरणयोर्वा ॥

क्रीङ्जीनां णौ ॥ ४७ ॥

'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये', इङ् अध्ययने', 'जि जये'—इत्येतेषां धातूनामेचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति । क्रापयति । अध्यापयति । जापयति ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥ ४९ ॥

'णौ' इति वर्तते । 'षिधु हिंसासंराद्धयोः'—इत्यस्य धातोरपारलौकिकेऽर्थे वर्तमानस्यैचः स्थानं णौ परत आकारादेशो भवति । अन्नं साधयति । ग्रामं साधयति ।

अपारलौकिक इति किम् ? तपस्तापसं सेधयति । स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति । अत्र हि सिध्यतिः पारलौकिके ज्ञानविशेषे

पदमञ्जरी

क्रीङ्जीनां णौ ॥ यद्यपि करोतेः 'ईङ् गतौ' इत्येतस्य यणादेशे ङिति रूपं सम्भवति, तथापि 'एचः' इत्यधिकारात्करोतेस्तावद् ग्रहणं न सम्भवति । तथा ईङोऽपि ग्रहणं न भवति, ह्रस्वान्तेन परेण जयतिना साहचर्यात् ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥ परलोकः प्रयोजनमस्य तत्पारलौकिकम् 'प्रयोजनम्'

न्यासः

क्रीङ्जीनां णौ ॥ 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये', 'इङ् अध्ययने', 'जि जये' । अनुपदेशार्थ आरम्भः । क्रापयतीत्यादावात्त्वे कृते 'अर्त्तिह्री' इत्यादिना पुक् । किमर्थमिदमुच्यते, न 'क्रप कुत्सायां गतौ', 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि', 'आप्लृ व्याप्तौ' इत्यस्य चाधिपूर्वस्य णिचि कृते क्रापयतीत्यादिकं रूपं सिद्धम्, अनेकार्थत्वाद् धातूनां क्रीणात्याद्यर्थे क्रपादयो वर्त्तिष्यन्ते ? उच्यते; क्रीणात्यादीनां णिचि प्रयोगान्तरनिवृत्त्यर्थम् । अथ करोतेः 'ईङ् गतौ' इत्यस्य ग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते ? उच्यते; करोतेस्तावन्न सम्भवति, एच इत्यधिकारात् । अत एव वृत्तिकृता 'एचः' इत्यनुवर्त्तितम् । वचनसामर्थ्याद्वा तस्य हि वृद्धैयवात्त्वं सिद्धम् ? नैतदस्ति; नियमार्थं हि स्यात्—आत्त्वमेव, न पुना रपरत्वमिति ? नैतदस्ति; 'विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्' इति क्रीणातेरेव ग्रहणम्, न करोतेः; तस्य नियमार्थत्वात् । क्रीणातेस्तु विध्यर्थत्वात् । 'ईङ् गतौ' इत्यस्यापि ग्रहणं न सम्भवति; जयतिना ह्रस्वान्तेन साहचर्य्यात् । इङ् ह्रस्वान्तो ग्रहीष्यते, न दीर्घान्तः; शब्दपरविप्रतिषेधात् । जयतिना साहचर्य्यम्, न क्रीणातिना । व्याख्यानतो वा विशेषोऽवसेयः ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥ अन्नं साधयतीति । अन्नं निष्पादयतीत्यर्थः । अत्र हि

वर्तते । तापसः सिध्यति=ज्ञानविशेषमासादयति, तं तपः प्रयुङ्क्ते । स च ज्ञानविशेष उत्पन्नः परलोके=जन्मान्तरे फलमभ्युदयलक्षणमुपसंहरन् परलोकप्रयोजनो भवति ।

इह कस्मान्न भवति ? अन्नं साधयति ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीति । सिध्यतेरत्रार्थो निष्पत्तिः, तस्याः प्रयोजनमन्नम्, तस्य यद्दानं तत्पार-

पदमञ्जरी

इति ठक्, अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । *ज्ञानविशेषे वर्त्तत इति* । हेयोपादेयतत्त्वावबोधः=ज्ञानविशेषः । *तापसः सिध्यतीति* । हेयमुपादेयं च तत्त्वतो ज्ञातुकामः प्रवर्त्तत इत्यर्थः । तदाह—*ज्ञानविशेषमासादयतीति* । *तपः प्रयुङ्क्ते इति* । ज्ञानविशेषवन्तं करोतीत्यर्थः । परलोक इत्यस्य विवरणम्—*जन्मान्तर इति* । इह वा भवतु, स्वर्गादौ वा, शरीरान्तरोपलक्षणार्थं पारलौकिकग्रहणमिति । *उपसंहरन्निति* । हेतौ शतृप्रत्ययः ।

इह *कस्मादिति* । ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीत्यनेनाभिप्रायेणानुष्ठितो धात्वर्थः परलोकप्रयोजनो भवतीति प्रश्नः । *सिद्धयतेरर्थ* इत्यादिना ऐहलौकिकत्वं धात्वर्थस्य दर्शयति । *तस्य प्रयोजनमिति* । तदुद्दिश्य प्रवृत्तत्वात् । पुनः *सिद्धिरेवेति* । पारलौकिकीति लिङ्गविपरिणामेन सम्बन्धनीयम् । सिद्धिः= निष्पत्तिः । यस्यां सिद्धौ धातुर्वर्त्तते सा च पारलौकिकी न भवति, तस्मादात्त्वं

न्यासः

सिधिः पारलौकिकेऽर्थे ज्ञानविशेषे वर्त्तत इति । अस्यार्थम्—तापसः सिध्यतीत्यादिना स्पष्टीकरोति । **उपसंहरन्निति** । निष्पादयन्नित्यर्थः ।

इह कस्मान्न भवतीत्यादि । एवं मन्यते—ब्राह्मणेभ्यो दास्यामीत्यनेनाभिप्रायेण योऽन्नं साधयति स जन्मान्तरे भवन् फलमभ्युदयलक्षणं प्राप्नोति, तस्मात् पारलौकिकेऽर्थे सिधिरत्र वर्त्तत इति पर्युदासेन भवितव्यमिति । सिध्यतेरत्रार्थो निष्पत्तिरित्यादिनेहलोकार्थतां त्वस्य दर्शयति । **तस्याः प्रयोजनमन्नमिति** । अन्नमुद्दिश्य प्रवृत्तत्वात् । **तस्येति** अन्नस्य । **न पुनः सिद्धिरेवेतीति** । अर्थाल्लिङ्गविपरिणामं कृत्वा न पुनः सिद्धिरेव पारलौकिकीति सम्बन्धनीयम् । सिद्धिर्निष्पत्तिरित्यर्थः । इतिकरणो हेतौ । यस्मात् सिद्धौ धातुर्वर्त्तते । अत्र सिद्धिः पारलौकिकी न भवति, तस्मान्नात्रात्त्वं पर्युदस्यते । स्यादेतत्—यद्यपि साक्षाद् धातुः परलोकार्थो न भवति, पारम्पर्य्येण तु भवत्येव, तस्माद् भवितव्यमेव प्रतिषेधेन ? इत्याह—**साक्षादित्यादि** । यदि साक्षादव्यवधानेन परलोकार्थो यः सिध्यतेरर्थः, तत्रापि पारलौकिक इतीदं वचनं न कृतार्थं स्यात्, तदा पारम्पर्येणापि यः परलोकार्थस्तत्र व्याप्रियेत—मा भूद् वचनवैयर्थ्यमिति । इदं तु

लौकिकम्; न पुनः सिद्धिरेवेति न आत्वं पर्युदस्यते । साक्षात्परलोक-प्रयोजने च सिध्यर्थे कृतावकाशं वचनमेवंविषयं नावगाहते ।

सिध्यतेरिति श्यना निर्देशः 'षिधु गत्याम्' इत्यस्य भौवादिकस्य निवृत्त्यर्थः ॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥ ५० ॥

'आदेच उपदेशे' इति वर्तते । 'मीञ् हिंसायाम्', 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', 'दीङ् क्षये'—इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषये उपदेश एव प्राक्प्रत्ययोत्पत्तेरलोऽन्त्यस्य स्थाने आकारादेशो भवति । प्रमाता, प्रमातव्यम्, प्रमातुम्, प्रमाय । निमाता, निमातुम्, निमातव्यम्, निमाय । उपदाता, उपदातव्यम्, उपदातुम्, उपदाय ।

पदमञ्जरी

न पर्युदस्यते । *साक्षादिति* । यदि साक्षादव्यवधानेन पारलौकिको यः सिद्ध्यते-रर्थस्तत्र पर्युदासो न चरितार्थः स्यात्तदा पारम्पर्याश्रयणम् । इदं तु साक्षात्पर-लोकार्थे ज्ञानविशेषे चरितार्थम्, अतो नैवंविधे विषये प्रवर्त्तते इत्यर्थः ॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥ उपदेश एवात्त्वविधानाल्ल्यपः परत्वा-सम्भवाल्ल्यपीति विषयसप्तमीत्याह—*ल्यपि विषय इति* । *एकाच इति* । यद्यपि प्रकृतिविशेषणं प्रागासीत्, तथापीहोपदेशाधिकारान्मीनात्यादीनां चोपदेश एज-न्तत्वासम्भवात्सामर्थ्यादेव इत्येतदपि विषयविशेषणं विज्ञायत इत्याह—*एचश्च विषय इति* । यत्र प्रत्यये एज्भावी तस्मिन्बुद्धिस्थ इत्यर्थः । उपदेश एवेत्यस्य विवरणम्—*प्राक् प्रत्ययोत्पत्तेरिति* ।

न्यासः

ज्ञानविशेषे साक्षात् परलोकार्थे सिध्यत्यर्थे चरितार्थम्, ततो नोत्सहत एवंविधविषय-मवगाहितुम् । न शक्नोत्येवम्प्रकारे विषये निषेधः प्रवर्त्तितुमित्यर्थः ।

अथ सिध्यतेः श्यना निर्देशः किमर्थः, न सिधेरित्येवोच्येत, एवं हि लघु सूत्रं भवति ? इत्याह–सिध्यतेरित्यादि ॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥ उपदेश इत्यनुवृत्तेः प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेरात्त्वेन भवितव्यमिति, अत आत्त्वविधानकाले ल्यपः परत्वं न सम्भवतीति तस्माल्ल्यपीति विषयसप्तमीयं विज्ञायत इत्याह—ल्यपि विषय इति । एच इति यद्यपि प्रकृत-विशेषणं प्रागासीत्, तथापीहोपदेशाधिकारान्मीनातिप्रभृतीनां चोपदेशावस्थायामेचो-ऽसम्भवात् सामर्थ्याद्विषयविशेषणं विज्ञायत इत्याह–एचश्च विषय इति । उपदेश इत्यस्य प्रागित्यादिनार्थमाचष्टे । प्रमायेति । 'समासेऽनञ्' इति ल्यप् ।

कः पुनरुपदेशावस्थायामेवात्त्वविधानेऽर्थः सम्पद्यते, यदर्थमुपदेशावस्थायामात्वं

उपदेश एवात्त्वविधानादिवर्णान्तलक्षणः प्रत्ययो न भवति, आकारान्तलक्षणश्च भवति—उपदायो वर्तते । ईषदुपदानमिति घञ्युचौ भावतः ॥

विभाषा लीयतेः ॥ ५१ ॥

'ल्यपि' इति वर्तते, 'आदेच उपदेशे' इति च । 'लीङ् श्लेषणे'—इति दिवादिः, 'लि श्लेषणे'—इति क्र्यादिः; तयोरुभयोरपि यका निर्देशः स्मर्यते । लीयतेर्धातोर्ल्यपि च एचश्च विषये उपदेश एवालोऽन्त्यस्य स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति । विलाता, विलातुम्, विलाय, विलातव्यम् । विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्, विलीय ।

पदमञ्जरी

उपदेश एवात्त्वविधाने योऽर्थः सम्पद्यते तं दर्शयति—*उपदेश एवात्त्वविधानादिति* । इवर्णान्तलक्षणः प्रत्यय एरच्, आकारान्तलक्षणस्तु घञ् । यद्यपि घञाकारान्तादिति नोच्यते, तथाप्यत्रात्त्वे सति भवति, असति तु न भवतीत्येतावता घञ आकारान्तलक्षणत्वम् । *उपदायो वर्त्तत इति* । घञि 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युक् । *ईषदुपदानमिति* खलर्थे 'आतो युच्' । मीनातिमिनोत्योस्तु खलचावेव भवतः; 'निमीमिलियां खलचोः प्रतिषेधः' इति वक्ष्यमाणत्वात् । अतो दोङ्घ्रोदाहृतः ॥

विभाषा लीयतेः ॥ तयोरुभयोरपि यकाऽयं निर्देशः क्रियते इति । यदि तु दैवादिकस्यैव श्यना निर्देशः क्रियेत, 'लीङः' इत्येव ब्रूयादिति भावः । श्तिपः शित्करणसामर्थ्याच्चाभावकर्मवाचित्वेऽपि यग् भवति, यथा—अकर्तृवाचित्व-

न्यासः

क्रियते ? इत्याह—उपदेश एवेत्यादि । इवर्णान्तलक्षणः 'एरच्' इत्यच्, आकारान्तलक्षणः 'आतो युच्' । उपदाय इति । उपदेश एवात्त्वे कृते सत्यचो निमित्तं विहतमित्युत्सर्ग एव 'भावे' इति घञ् सिद्धो भवति । 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युक् । ईषदुपदानमिति । उपदेशावस्थायामात्त्वे खलपवादो युच् सिद्धो भवति ॥

विभाषा लीयतेः ॥ तयोरुभयोरपि यका निर्देशः स्मर्यत इति । आचार्यैः । अथ दैवादिकस्यायं श्यना निर्देशः कस्मान्न विज्ञायते ? अत एव निर्देशात् । यदि दैवादिक एवात्र निर्देष्टुमभीष्टः स्यात्, अनुबन्धेन लीङ इति निर्देशं कुर्यात् । तस्मात् साधारणेनागन्तुकेन यकायमुभयोर्निर्देशः । ईषत्प्रमय इति । 'ईषद्दुःसुषु' इत्यादिना खल् । निमयो वर्त्तत इति । 'एरच्' इत्यच् ।

❀ निमीमिलियां खलचोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ❀। ईषत्प्रमयः। प्रमयो वर्तते। ईषन्निमयः निमयो वर्तते। ईषद्विलयः विलयो वर्तते। अत्र तु लियो व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्सिद्धम्।

एवं च प्रलम्भनशालीनीकरणयोश्च णौ नित्यमात्वं भवति—कस्त्वामुल्लापयते, श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते॥

खिदेश्छन्दसि॥ ५२॥

'विभाषा' इति वर्त्तते। 'खिद दैन्ये' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विभाषा आकार आदेशो भवति। चित्तं चिखाद। चित्तं चिखेद।

छन्दसीति किम्? चित्तं खेदयति॥

अपगुरो णमुलि॥ ५३॥

पदमञ्जरी

शबादयः—'भवतेरः' इत्यादौ। *खलचोरिति*। पचाद्यच एरचश्च सामान्येन ग्रहणम्। *एवं चेति*। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादेवेत्यर्थः। *उल्लापयत इति*। 'लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च' इत्यात्मनेपदम्॥

खिदेश्छन्दसि॥ *चखादेति*। व्यत्ययेन परस्मैपदम्, आत्त्वस्यानैमित्तिकत्वाद् 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वाभावादभ्यासस्येवर्णान्तता न भवति।

अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्? खादेः—चखाद, खिदेः—चिखेदेति, अनेकार्थत्वाद्धातूनामर्थभेदोऽप्यकिञ्चित्करः॥

अपगुरो णमुलि॥ यदि गिरतिर्गुरेरर्थे वर्तते, तदायं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्? गिरेः—अपगारमपगारम्, गुरोः—अपगोरमपगोरम्॥

न्यासः

अत्र तु लियो व्यवस्थितविभाषया विज्ञानात् सिद्धमिति। 'लियः' इत्युपलक्षणमात्रम्, इतरयोरपि सिद्ध एव; विभाषाग्रहणस्य पूर्वेणापि सूत्रेण सम्बन्धात्। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात् प्रलम्भनशालीनीकरणयोश्च णौ नित्यमात्वं भवति। व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादेव। उल्लापयते, अपलापयत इति। 'लियः सम्माननशालीनीकरणयोः' इत्यात्मनेपदम्॥

खिदेश्छन्दसि॥ चिखादेति। 'पुगन्तलघूपधस्य' इति गुणे कृत आकारः।

यदि खादिरपि खिदेरर्थे वर्त्तते, ततोऽयं योगः शक्योऽकर्तुम्; खादेस्तु—चखादेति भविष्यति, खिदेस्तु—चिखेदेति॥

अपगुरो णमुलि॥ अपगारमपगारमिति। 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः' इति द्वित्वम्॥

'गुरी उद्यमने'—इत्यस्य धातोरपपूर्वस्य णमुलि परत एचः स्थाने विभाषा आकार आदेशो भवति। अपगारमपगारम्। अपगोरमपगोरम्। 'आभीक्ष्ण्ये णमुल्च' इति णमुल्। अस्यपगारं युध्यन्ते, अस्यपगोरं युध्यन्त इत्यत्र 'द्वितीयायां च' इति णमुल्॥

चिस्फुरोर्णौ ॥ ५४ ॥

'चिञ्', 'स्फुर'—इत्येतयोर्धात्वोर्णौ परत एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति। चापयति, चाययति। स्फारयति, स्फोरयति॥

प्रजने वीयतेः ॥ ५५ ॥

'णौ' इति वर्तते। 'वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'—इत्यस्य धातोः प्रजने वर्तमानस्य णौ परतो विभाषा आकारादेशो भवति। पुरोवातो गाः प्रवापयति। पुरोवातो गाः प्रवाययति। गर्भं ग्राहयतीत्यर्थः।

प्रजनो हि जन्मन उपक्रमो गर्भग्रहणम्॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥ ५६ ॥

'णौ' इति वर्तते, 'विभाषा' इति च। हेतुरिह पारिभाषिकः स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः, ततो यद्भयम्, स यस्य भयस्य साक्षाद्धेतुः,

पदमञ्जरी

प्रजने वियतेः ॥ यदि वातिरप्रजनेऽपि वर्तते, तदा योगोऽयं शक्योऽकर्तुम्। कथम्? वातेः—प्रवापयति, वीयतेः—प्रवाययतीति। वीयतेरित्ययमपि यका निर्देशः स्मर्यते, वेतेरादादिकत्वेन श्यनोऽसम्भवात्। प्रयोजनं हि यका निर्देशस्य चिन्त्यम्। *जन्मन उपक्रम इति।* जनेर्भवे घञ्, प्रशब्द आदिकर्मणि। *गर्भग्रहणमिति।* गृहीतो हि गर्भो जायते, ततो गर्भग्रहणं जन्मन उपक्रमः।

बिभेतेर्हेतुभये ॥ हेतुभयमिति। 'पञ्चमी भयेन' इति समासः, तदाह—*हेतोर्भयमिति।* किं पुनस्तत्? इत्याह—*स यस्य भयस्येति। स चात्त्वपक्षे न भवतीति।* एक-

न्यासः

चिस्फुरोर्णौ ॥ 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यत्र प्रदेश इदं नोक्तम्; नित्यं मा भूदित्येवमर्थम्॥

प्रजने वीयतेः ॥ यदि 'वा गतिगन्धनयोः' इत्ययं धातुः प्रजने वर्त्तते, ततः शक्यतेऽपि योगोऽवक्तुम्; वातेर्हि—वापयतीति भविष्यति, वीयतेस्तु—वाययतीति॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥ हेतुभय इति। 'पञ्चमी भयेन' इति पञ्चमीसमासोऽयमित्याह—ततो भयमिति। किं पुनस्ततो भयम्? इत्याह—स यस्य भयस्येत्यादि। अथात्त्वपक्षे

तद्धूयं हेतुभयम्। तत्र वर्तमानस्य 'ञिभी भये' इत्यस्य धातोर्णौ परतो विभाषा आकारादेशो भवति। मुण्डो भापयते, मुण्डो भीषयते। जटिलो भापयते, जटिलो भीषयते। 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदम्, 'भियो हेतुभये षुक्'। स चात्त्वपक्षे न भवति। लिभियोरीकारप्रश्लेषनिर्देशादीकारान्तस्य भियः षुग्विधीयते।

हेतुभय इति किम्? कुञ्चिकयैनं भाययति। अत्र हि कुञ्चिकातो भयं करणात्, न हेतोर्देवदत्तात्॥

नित्यं स्मयतेः॥ ५७॥

'णौ' इति वर्तते, 'हेतुभये' इति च। नित्यग्रहणात् 'विभाषा' इति निवृत्तम्। 'स्मिङ् ईषद्धसने'—इत्यस्य धातोर्हेतुभयेऽर्थे णौ परतो नित्यमाकारादेशो भवति। मुण्डो विस्मापयते। जटिलो विस्मापयते।

भय इति किम्? कुञ्चिकयैनं विस्मापयति। भयशब्देन हेत्वर्थसामान्यादिह स्मयतेरर्थोऽभिधीयते। न हि मुख्ये भये स्मयतेर्वृत्तिरस्ति॥

पदमञ्जरी

देशविकृतस्यानन्यत्वात्प्राप्नोति, कुतो न भवति? इत्याह—*लीभियोरीकारप्रश्लेषनिर्देशादिति*। 'लीलोर्नुग्लुकौ' इति लियो नुग्विधीयते, यश्च 'भियः षुक्'—तावुभावप्याकारान्तयोर्न भवतः, कुतः? ली + ई भी + ई इति ईकारप्रश्लेषेणेकारान्तयोर्विधानात्। लीभियोः प्रश्लेषनिर्देशादिति वार्त्तिके सह पाठादिह लियो ग्रहणम्॥

नित्यं स्मयतेः॥ *धात्वर्थसामान्यादिति*। सामान्यम्=सादृश्यम्, धात्वर्थयोः

न्यासः

षुगागमः कस्मान्न भवति? अस्ति ह्यत्रापि प्राप्तिः—'एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति' इत्यत आह—स चेत्यादि। 'भियो हेतुभये षुक्' इत्यत्र हि भी + ई इति ईकारेण प्रश्लिष्टस्य निर्देशः कृतः—ईकारान्तस्यैव षुग् यथा स्यात्, आकारान्तस्य मा भूदिति। तथा लियो ग्रहणम्, तस्याप्यात्त्वपक्षे 'लीलोर्नुक्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने' इति नुग्न भवति। ईकारप्रश्लेषनिर्देशादेवेति प्रसङ्गेन व्युत्पादितम्॥

नित्यं स्मयतेः॥ भयशब्देन धात्वर्थसाम्यादित्यादि। यश्च बिभेतेरर्थो यश्च स्मयतेः, तौ द्वावपि सदृशौ; चित्तविकारस्वभावतया। द्वावपि तौ चित्तसंक्षोभलक्षणौ, अतो द्वयोरपि यत् सामान्यं तत् सादृश्यम्। तस्माद् भयशब्देनात्र स्मयतेरर्थोऽभिधीयते। दृश्यते हि सादृश्यादर्थान्तरेऽपि शब्दानां वृत्तिः, यथा—सिंहो माणवक इति। किं पुनः कारणमेवं व्याख्यायते? इत्याह—न हीत्यादि। 'हेतुभये' इत्यनुवर्त्तते। उच्यते चेदं

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥ ५८ ॥

'सृज विसर्गे', 'दृशिर् प्रेक्षणे'–इत्येतयोर्धात्वोर्झलादावकिति प्रत्यये परतोऽमागमो भवति । स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम् । द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम् । लघूपधगुणापवादोऽयममागमः । अस्राक्षीत् । अद्राक्षीत् । सिचि वृद्धिरमि कृते भवति, पूर्वं तु बाध्यते ।

झलीति किम् ? सर्जनम् । दर्शनम् । अकितीति किम् ? सृष्टः । दृष्टः ।

पदमञ्जरी

सामान्यं धात्वर्थसामान्यम्, द्वयोरपि धात्वोरर्थौ चित्तविकारस्वभावौ, तेन भयशब्देन स्मयतेरर्थोऽभिधीयते, 'क्रीङ्जीनां णौ' इत्यत्र स्मयतिर्नोक्तः, 'हेतुभये' इत्युपाधिं वक्ष्यामीति ॥

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥ धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यं विज्ञायत इति प्रत्यय इह सन्निधापितो झला विशेष्यत इति तदादिविधिर्विज्ञायत इत्याह–*झलादाविति । अकिति प्रत्यये परत इति ।* किति परतो न भवतीत्यर्थः । प्रसज्यप्रतिषेधो ह्ययमिष्यते, एतच्च गाङ्कुटादिसूत्रे सम्यगुपपादितम् । *लघूपधगुणापवादोऽयमिति ।* अकितीति वचनान्नाप्राप्ते तस्मिन्नस्यारम्भात् । *सिचि वृद्धिस्त्वमि कृते भवतीति ।* सिचि वृद्धिस्तु भवति, न बाध्यते; येन नाप्राप्त्यभावात् । साप्यमि कृते भवति । तस्यैव व्याख्या । *पूर्वं तु बाध्यत इति ।* अमागमेन; नित्यत्वात्तस्य ।

न्यासः

विशेषणम् । न च मुख्ये भये स्मयतेर्वृत्तिरस्ति । तत्र सामर्थ्यात् केनचित् सादृश्येन स्मयत्यर्थ एव भयशब्देनात्राभिधीयत इति विज्ञायते ॥

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥ **स्रष्टा, द्रष्टेति ।** अमागमे कृते यणादेशः, व्रश्चादिसूत्रेण षत्वम् । **लघूपधगुणापवादोऽयमित्यादि ।** ननु चासति सम्भवे बाधनं भवति, अस्ति च सम्भवो यदुभयं स्यादिति, तत्र गुणे कृतेऽमागमो भविष्यति ? नैतदेवम्; सामान्यविहितो गुणः, विशेषविहितस्त्वमागमः, सामान्यविहितस्य च विशेषविहितो बाधको भवति, यथा–ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति । यथा सामान्यविहितस्य दधिदानस्य विशेषविहितं तक्रदानं बाधकं भवति, तथेहापि युक्तःऽमागमेन गुणस्य बाधा । **अस्राक्षीत्, अद्राक्षीदिति ।** 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम्, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीट्, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धिः, 'षढोः कः सि' इति कत्वम् । **वृद्धिरमि कृते भवतीति ।** अथ प्रागेव वृद्धिः कस्मान्न भवति ? इत्याह–**पूर्वन्तु बाध्यत इति ।** यथैव हि विशेषविहितत्वादमागमेन सामान्यविहितो गुणो बाध्यते,

धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानादिह न भवति— रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्यामिति ॥

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥ ५९ ॥

'उपदेशे' इति वर्तते, 'झल्यमकिति' इति च। उपदेशेऽनुदात्तस्य धातोर्ऋकारोपधस्य झलादावकिति प्रत्यये परतोऽन्यतरस्याममागमो भवति। त्रप्ता, तर्पिता, तर्प्ता। द्रप्ता, दर्पिता, दर्प्ता। 'तृप प्रीणने', 'दृप हर्षणमोचनयोः'—इत्येतौ रधादी धातू, तयोरिडागमः 'रधा-

पदमञ्जरी

रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्यामिति। उभयत्र व्रश्चादिसूत्रेण षत्वे जश्त्वमिति केचित्। अन्ये तु 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वमिच्छन्ति। ननु न क्विन्नन्तावेतौ, किं तर्हि? क्विबन्तौ? नैष दोषः; यस्माद्धातोः क्वचित्क्विन् विहितः, तस्य प्रत्ययान्तरे कुत्वं भवति, 'क्विनः कु' इति वक्तव्ये प्रत्ययग्रहणादिति वक्ष्यते। पदान्तस्येत्यधिकारात् स्रष्टा, द्रष्टेत्यत्र न भवति, कुत्वविधावेव तस्य निर्णयं वक्ष्यामः ॥

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥ *उपदेश इति वर्त्तत इति*। अनुदात्तस्य विशेषणार्थम्, तेन द्रप्तेत्यत्र तृनि विहिते यद्यपि नित्स्वरेण धातोरुदात्तत्वं भवति, तथापि उपदेशेऽनुदात्त इत्यम्भवति। वर्ढेत्यत्र तृचि कृते यद्यपि शेषनिघातेन धातुरनुदात्तो भवति, तथाप्युपदेशे नायमनुदात्त इत्यम्न भवति। किमर्थं पुनरनुदात्तस्येत्युच्यते, नानिट इत्येवोच्येत, एवं हि सति लघु सूत्रं भवति? तत्राह—*तृप प्रीणन इत्यादि*। *इडागमो रधादिभ्यश्चेत्यनेन विकल्पित इति*। ततश्च पाक्षि-

न्यासः

तथा वृद्धिरपि सामान्यविहितैवामागमे कृते पश्चात् पुनःप्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धमिति सापि भवति। गुणस्त्वमागमे कृते न भवति; निमित्तस्य विहतत्वात्। न ह्यमागमे कृत उपधा लघ्वी गुणभाविन्युपपद्यते।

अथेह कस्मान्न भवति—रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्यामिति; सत्यपि धात्वधिकारे 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इति भ्याम्प्रत्ययमकितमाश्रित्यामागमः प्राप्नोति? इत्यत आह—धातोरित्यादि।

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥ उपदेश इति वर्त्तत इति। अनुदात्तस्य विशेषणार्थम्। तेन त्रप्तेत्यत्र यद्यपि तृनि विहिते नित्स्वरेण धातोरुदात्तत्वम्, तथाप्युपदेशावस्थायामनुदात्त इत्यमागमः सिद्धो भवति; इह च वर्ढेति यद्यपि तृचि कृते धातुरनुदात्तो भवति, तथाप्युपदेशावस्थायान्नायमनुदात्त इत्यमागमो न प्रवर्त्तते; किमर्थम् पुनरनुदात्तस्येत्युच्यते, अनिट इत्येव नोच्येत, एवं हि लघु सूत्रं भवति? इत्याह—तृप प्रीणन इत्यादि। तृप्यतिदृप्यत्योः 'रधादिभ्यश्च' इतीट् विकल्प्यते,

दिभ्यश्च' इति विकल्प्यते । अनुदात्तोपदेशः पुनरमर्थ एव ।

अनुदात्तस्येति किम् ? वर्ढा, वर्ढुम्, वर्ढव्यम् । 'वृहू उद्यमने' इत्ययमुदात्तोपदेश ऊदित्वाच्चास्येड् विकल्प्यते । ऋदुपधस्येति किम् ? भेत्ता । छेत्ता ।

झलीत्येव—तर्पणम् । दर्पणम् ।

अकितीत्येव—तृप्तः । दृप्तः ॥

शीर्षंश्छन्दसि ॥ ६० ॥

'शीर्षन्' इति शब्दान्तरं शिरःशब्देन समानार्थं छन्दसि विषये निपात्यते, न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य । सोऽपि हि छन्दसि प्रयुज्यत एव । शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति । यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम् ।

पदमञ्जरी

केणेटा सेट्त्वात्तयोर्न स्यात् । अथ पाक्षिकेणेडभावेन तयोरपि स्यात्, वर्ढा, वर्ढुमित्यत्रापि स्यादिति भावः । यदि तर्हि तयोः 'रधादिभ्यश्च' इतीड्विकल्प्यते, अनुदात्तोपदेशः पुनस्तयोः किमर्थः ? इत्याह—*अनुदात्तोपदेशः पुनरमर्थ एवेति* ।

शीर्षंश्छन्दसि ॥ *न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्येति* । यद्यपि सूत्रे शिरस इति स्थानी नोपात्तः, तथापि समानार्थत्वादादेशेनाक्षिप्यते, यथा—शिवादिषु विश्रवण-रवणशब्दाभ्यां विश्रवःशब्द इत्यादेशत्वशङ्का । *सोऽपि हि छन्दसि प्रयुज्यत इति* ।

न्यासः

ततो यद्यनिट एवोच्येत, तदा पाक्षिकेणेटा नैतावनिटाविति तयोरमागमो न स्यात् । अथ पाक्षिकेणेड्भावेन तयोरनिट्त्वादमागमो भवति, तथा च सति 'वृहू उद्यमने' त्यस्यापि स्यात्, अयमप्यूदित्त्वात् पाक्षिकेड्भावादनिड् भवति । तस्मान्न शक्यतेऽनिट इति वक्तुमित्यभिप्रायः । यदि तर्ह्यनयोरिड् विकल्प्यते, तदानुदात्तोपदेशः किमर्थः ? स ह्येवमर्थः क्रियते—'अनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधो यथा स्यात् । यदि तर्ह्यनयोरिड् विकल्प्यते, किं तेन ? इत्यत आह—**अनुदात्तोपदेशः पुनरमर्थ एवेति** । इति । 'हो ढः', 'ष्टुना ष्टुः', 'ढो ढे लोपः' । यदाप्युदात्तोपदेशस्तदेडत्र प्राप्नोति ? याह—ऊदित्वादित्यादि । 'स्वरतिसूति' इत्यादिनास्योदित्त्वादिड् विकल्प्यते, रतेन सत्युदात्तत्वे पक्ष इडभावो न भवति । चकारोऽयमनुकर्षणार्थः । तेनोत्तरत्र यानुवृत्तिर्न भवति ॥

शीर्षंश्छन्दसि ॥ किं पुनः कारणमादेशो नेष्यते ? इत्याह—**सोऽपि हीत्यादि** । : शिरःशब्दोऽपि च्छन्दसि प्रयुज्यते, ततो नायमादेशः प्रयुज्यते । आदेशे हि सति :शब्दस्य च्छन्दसि विषये प्रयोगो न स्यात्; निवृत्तिधर्मत्वात् स्थानिनः । यद्यन्य-त्यांग्रहणमिहानुवर्त्तते, तदादेशेऽप्यदोषः । **शीर्षा इति** । 'नोपधायाः' इति दीर्घः ।

छन्दसीति किम् ? शिरः ॥

ये च तद्धिते ॥ ६१ ॥

'शीर्षन्' इति वर्तते। आदेशोऽयमिष्यते, स कथम् ? 'तद्धिते' इति हि परं निमित्तमुपादीयते, स तदनुरूपां प्रकृतिं शिरःशब्दमाक्षिपति। यकारादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशो भवति। शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः। शिरसि भव इति 'शरीरावयवाच्च' इति यत्, 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः।

तद्धित इति किम् ? शिर इच्छति शिरस्यति ॥

पदमञ्जरी

आदेशपक्षे तु तेन निवर्तितत्वाच्छिरःशब्दो न प्रयुज्येतेति भावः। ननु च 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवृत्तेस्तस्यापि प्रयोगो भविष्यति, सत्यम्; उत्तरत्रापि विकल्पानुवृत्तिः शङ्क्येतेति प्रकृत्यन्तरपक्ष एवाश्रितः ॥

ये च तद्धिते ॥ *छन्दसि पूर्वेणैव सिद्धमिति*। भाषार्थमिदम्, यदि पूर्वसूत्रवदिहापि शीर्षन्निति प्रकृत्यन्तरं विज्ञायेत तदा। यदा शिरःशब्दाद्यकारादिस्तद्धित उत्पद्यते तदा तस्य श्रवणं प्रसज्येतेति मत्वाऽऽह—*आदेशोऽयमिष्यत इति*। *स कथमिति*। स आदेशः कथं लभ्यते, न कथञ्चित्, स्थानिनोऽनुपादानात् पूर्वसूत्रवदिति प्रश्नः। तन्निमित्तमनुरूपां शब्दतश्चार्थतश्चान्तरतमां प्रकृतिं शिरःशब्दमेवाक्षिपति। *शिरस्यतीति*। 'सुप आत्मनः क्यच्'।

न्यासः

क्वचित् शीर्ष्णेति पठ्यते, तत् तृतीयान्तं द्रष्टव्यम्। 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपः। शीर्ष्ण इति। षष्ठ्येकवचनान्तमेतत् ॥

ये च तद्धिते ॥ यदि यकारादावपि तद्धिते प्रकृत्यन्तरं विज्ञायते, ततो यदि शिरःशब्दाद् यकारादिस्तद्धित उत्पद्यते, तदा तस्य श्रवणमापद्येत, न चेष्यते, इत्यत आह—**आदेशोऽयमिष्यत इति**। स्थानिनोऽनुपादानादिहाप्यादेशो न युज्यत इत्यभिप्रायेणाह—**स कथमिति**। **तद्धित इति हीत्यादि**। यस्मादिह यकारादिस्तद्धितः परनिमित्तमुपादीयते, न चानुपादाय प्रकृतिं तद्धित उत्पद्यते, न च शीर्षञ्शब्द एव प्रकृतिर्युक्ता; तस्य भाषायामसम्भवात्। स हि च्छन्दसि निपातितः, भाषायाञ्चेदम्। तस्मात् प्रकृत्यन्तरादुत्पन्ने यकारादौ तद्धिते विधीयमाने या तेन प्रकृतिराक्षिप्ता तस्या आदेशोऽयं विज्ञायते। आदेशोऽपि हि विज्ञायमानो न यस्य कस्यचिद्विज्ञायते, अपि तु शिरःशब्दस्यैव। यतः स तद्धितस्तदनुरूपां तस्यादेशस्य शब्दतश्चार्थतश्चान्तरतमां प्रकृतिं शिरःशब्दमेवाक्षिपति। **शीर्षण्य इति**। अट्कुप्वादिना णत्वम्।

शिरस्यतीति। 'सुप आत्मनः क्यच्'।

* वा केशेषु *। शिरसः शीर्षन्नादेशो वक्तव्यः। शीर्षण्याः केशाः। शिरस्याः केशाः॥

अचि शीर्षः॥ ६२॥

अजादौ तद्धिते शिरसः शीर्षशब्द आदेशो भवति। हस्तिशिरसोऽपत्यं हास्तिशीर्षिः[1]। 'बाह्वादिभ्यश्च' इति इञ्। स्थूलशिरस इदं स्थौलशीर्षम्। शीर्षन्भावे हि 'अन्' इति प्रकृतिभावः स्यात्।

हास्तिशीर्षिशब्दात् स्त्रियामिञः 'अणिञोरनार्षयोः' ष्यङादेशे कृते शीर्षस्य शिरःशब्दग्रहणेन ग्रहणात् शीर्षन्नादेशः प्राप्नोति, तत्र प्रकृतिभावे सति हास्तिशीर्षण्येत्यनिष्टं रूपं स्यात्, इष्यते तु हास्तिशीर्ष्येति, तत्कथम्? कर्त्तव्योऽत्र यत्नः। अणिञन्ताद् वा परः प्रत्ययः

पदमञ्जरी

वा केशेष्विति। सूत्रेण नित्ये प्राप्ते विकल्पितः। अत्र शिरस्यशब्दस्य केशैकविषयत्वात्तत्प्रयोगे केशशब्दो न प्रयोक्तव्यः, शीर्षण्यशब्दस्तु सामान्यवाचीति तत्प्रयोगे विशेषावगमाय केशशब्दः प्रयोक्तव्यः॥

अचि शीर्षः॥ शीर्षन्भावे ह्यनिति प्रकृतिभावः स्यादिति। अतोऽकारान्तमादेशान्तरं विहितमिति भावः।

कर्त्तव्योऽत्र यत्न इति। तत्रायं यत्नः—शीर्षन्नादेशसन्निपातकृतः ष्यङादेश-

न्यासः

वा केशेष्विति। केशेष्वभिधेयेषु शिरःशब्दस्य शीर्षन्नित्यादेशो वा वक्तव्यो व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—अन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन शिरसः केशेषु वा शीर्षन्नादेशो भविष्यतीति॥

अचि शीर्षः॥ स्थौलशीर्षमिति। 'तस्येदम्' इत्यण्। किमर्थं पुनरादेशान्तरं विधीयते, न प्रकृत एव शीर्षन्नादेशो विधीयताम्? तत्रापि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे कृते सिध्यत्येवेष्टमित्याह—शीर्षन्भाव इत्यादि।

ष्यङादेशे कृत इत्यादि। 'अणिञोरनार्षयोः' इत्यादिना, तस्य शीर्षस्य शिरःशब्दग्रहणेन ग्रहणादिति स्थानिवद्भावेन शीर्षन्नादेशः प्राप्नोतीति। 'ये च तद्धिते' इत्यनेनैव। तत्रेत्यादि। प्रकृतिभावप्राप्तिस्तु 'ये चाभावकर्मणोः' इत्यनेन। हास्तिशीर्षण्या, हास्तिशीर्ष्येति। 'यङश्चाप्' इति चाप्। तत् कथमिति हास्तिशीर्ष्येति। कथमिष्टं सिध्यतीत्यर्थः। कर्त्तव्योऽत्र यत्न इति। स पुनर्यत्नः—शिरस्याः केशा इत्यस्य

---

१. 'पैलुशीर्षिः'—इत्यधिकं पुस्तकान्तरे॥

ष्यङाश्रयितव्यः, तत्र यस्येतिलोपस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानम् ॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ ६३ ॥

पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आसन—इत्येतेषां शब्दानां स्थाने शस्प्रभृति-प्रत्ययेषु परतः पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन्—इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति। पद्—निपदश्चतुरो जहि। पदा वर्त्तय गोदुहम्। पादस्य पत्।

पदमञ्जरी

स्तद्विघातस्य निमित्तं न भवतीति। *अणिञन्ताद्वा पर इति*। 'अणिञोरनार्षयोः' इत्यादेशपक्षप्रहाणेन प्रत्ययपक्ष आश्रयणीयः, आदेशपक्ष एव वा स्थित्वा यत्नः कर्त्तव्य इति वाशब्दार्थः ॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ इहापि 'शस्प्रभृतिषु' इति निमित्तोपादानादनुरूपाः प्रकृतयः आक्षिप्यन्ते, पदादयश्चादेशा विज्ञायन्ते इत्याह—*पाददन्तेत्यादि*। अन्ते आसनशब्दः पठ्यते, आस्यशब्दस्तु पठितव्यः, आस्नो वृकस्य वर्त्तिकामभीके, ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि, आस्नो यत्सीसमुञ्चतं वृकस्येत्यादौ ह्यास्यार्थोऽवगम्यते। *आसनीति*। 'विभाषा

न्यासः

सिद्धये य एव प्रकृतः स एव वेदितव्यः। व्यवस्थितविभाषयैव हि शीर्षशब्दस्य शिरः-शब्देन ग्रहणाच् शीर्षन्नादेशो न भविष्यतीति; तेन हास्तिशीर्ष्यत्येवं भवति, न हास्तिशीर्षण्येति। अणिञन्ताद्वेत्यादि। 'अणिञोरनार्षयोः' इत्यत्र सूत्रे द्वौ पक्षौ—अणिञोः स्थान आदेशः ष्यङ् विधीयत इत्येकः पक्षः, अणिञन्तात् परः ष्यङ्प्रत्ययो भवतीति द्वितीयः। तत्रादेशपक्षेऽयं दोष आपततीत्यणिञन्तात् परः ष्यङाश्रयितव्य इति प्रत्ययपक्ष आश्रयितव्य इत्यर्थः। आदेशपक्षे 'यत्नो वा कर्त्तव्यः' इति विकल्पार्थो वाशब्दः। अथ तत्रापि प्रत्ययपक्ष आश्रीयमाणे शीर्षस्य शीर्षन्नादेशः कस्मान्न भवति ? इत्याह-तत्रेत्यादि। यदा प्रत्ययः ष्यङ् तदा तस्मिन्परतो योऽसाविञः 'यस्येति च' इति लोपस्तस्य पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावाद् व्यवधानम्। अतो यकारादेः शीर्षन्नादेशनिमित्तस्य तद्धितस्य व्यवधानादादेशो न प्राप्नोतीति भावः ॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ इहापि शस्प्रभृतयो निमित्तत्वेनोपादीयन्ते, ते च प्रकृत्या विना नोपपद्यन्त इति भावः। तेषु प्रकृत्यन्तरा-द्विहितेषु विधीयमानाः पदादय आदेशा विज्ञायन्ते। न च स्थानिनोऽनुपादा-नादनियमेनादेशप्रसङ्गः; यतस्तेष्वादिश्यमानेषु शस्प्रभृतयोऽनुरूपमेव पादादिकां स्वार्थिकीं प्रकृतिमाक्षिपन्तीत्याह—पाददन्तनासिकेत्यादि। पदित्याद्युदाहरणेषु पदो दत

काशि० 4 : ३२

दत्—या दतो धावति तस्यै श्यावदन् । नस्—सूकरस्त्वखनन्नसा । मास्—मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा । हृद्—हृदा पूतेन मनसा जातवेदसम् । निश्—अमावास्यायां निशि यजेत । असन्—आसिक्तोऽस्नावरोहति । यूषन्—या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि । दोषन्—यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम् । यकन्—यक्नोऽवद्यति । शकन्—शक्नोऽवद्यति । उदन्—उद्नो दिव्यस्य नावा ते । आसन्—आसनि किं लभे मधूनि ।

शस्प्रभृतिष्विति किम् ? पादौ ते प्रतिपीड्यौ, नासिके ते कृशे ।

केचिदत्र छन्दसीत्यनुवर्त्तयन्ति । अपरे पुनरविशेषेणेच्छन्ति । तथा हि—भाषायामपि पदादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते ।

'व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च ।
व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः ॥' इत्येवमादयः ।

अन्यतरस्यामित्येतदनुवर्तयन्ति, तेन पादादयोऽपि प्रयुज्यन्ते ।

शस्प्रभृतिष्विति प्रकारार्थे प्रभृतिशब्द इति शला दोषणी इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति ।

❀ पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम् ❀ । मांस, पृतना—सानु—

पदमञ्जरी

ङिश्योः' इत्यल्लोपाभावपक्षे रूपम् । अपरे पुनरविशेषेणेच्छन्तीति । भाष्ये तु छान्दसमेवैतदिति स्थितम् ।

प्रकारार्थे प्रभृतिशब्द इति । व्यवस्थावाचिनि तु शसः पूर्वेषु वचनेषु न स्युः । *दोषणीति* । प्रथमाद्विवचने, दोःशब्दस्य दोषन्नादेशः, औङः शीभावः । *मांस-*

न्यासः

इति शसन्ते । यूष्णः, दोष्णः, यक्नः, शक्न इति षष्ठ्येकवचनान्तानि । 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपः । मासि, निशि, आसनीति सप्तम्येकवचनान्तानि । आसनीत्यत्र 'विभाषा ङिश्योः' इति पक्षेऽकारलोपो न भवति । शेषाणि तृतीयैकवचनान्तानि । पादौ, नासिके इति प्रथमाद्विवचनान्ते ।

कस्मात् पुनरन्यतरस्यामित्येतदनुवर्त्तयन्ति ? इत्याह—तेन पादादयोऽपीत्यादि । यस्मात् पादादयोऽपि प्रयुज्यन्ते तस्मादन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तयन्ति ।

व्यवस्थावाचिनि प्रभृतिशब्द आश्रीयमाणे शस्प्रभृतिभ्योऽन्यत्रादेशो न सिध्यतीत्यभिप्रायेणाह—प्रकारार्थे प्रभृतिशब्द इति । दोषणी इति । केचिदाहुः—प्रथमाद्विवचने दोषन्नादेशः, औङः शीभावः । अन्ये त्वाहुः—दोषणीति ङीबन्तमेतत्, ङीपि विषयभूते दोषन्नादेशः, ततः 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ।

इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यं मांस्, पृत्, स्नु—इत्येते आदेशा भवति। मांस्पचन्या उखायाः। मांसपचन्या इति प्राप्ते। पृत्सु मर्त्त्यम्। पृतनासु मर्त्त्यमिति प्राप्ते। न ते दिवो न पृथिव्या अधिस्नुषु। अधिसानुष्विति प्राप्ते।

❀ नस् नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु ❀। नासिकाया नस्भावो वक्तव्यो यत्, तस्, क्षुद्र—इत्येतेषु परतः। नस्यम्। नस्तः। नःक्षुद्रः।

❀ यति वर्णनगरयोर्नेति वक्तव्यम् ❀। नासिक्यो वर्णः। नासिक्यं नगरम्॥

धात्वादेः षः सः ॥ ६४ ॥

धातोरादेः षकारस्य स्थाने सकारादेशो भवति। षह—सहते। षिच—सिञ्चति।

पदमञ्जरी

पचन्या उखाया इति। 'मांसस्य पचि युड्घञोः' इत्यन्तलोपो वक्ष्यते, तद्व्युत्पत्त्यन्तरम्। *नस्यमिति*। हितार्थे भवार्थे वा 'शरीरावयवाद्यत्'। *नस्त इति*। 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिः। *नःक्षुद्रः इति*। 'तृतीया तत्कृतार्थेन' इति समासः। 'सप्तमी' इति योगविभागादित्यन्ये। बहुव्रीहौ विशेषणस्य क्षुद्रशब्दस्य राजदन्तादित्वात्परनिपात इत्यन्ये।

यति वर्णनगरयोर्नेति वक्तव्यमिति। तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्; इह तावन्नासिक्यो वर्ण इति, परिमुखादिपाठाद् ञ्यः, नासिक्यं नगरमिति सङ्काशादिपाठाद् ण्यः, 'राजन्यसाङ्काश्यकाम्पिल्यनासिक्यदार्वाघाटानामादिर्वान्तो वा' इति प्रतिपदस्वरविधानात्स्वरेऽपि नास्ति विशेषः, प्रत्युत यत्प्रत्यये सत्यनासिक्यमित्यत्र 'ययतोश्चातदर्थे' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्रसज्येत, अव्ययपूर्वपदकृतिस्वरश्चेष्यते॥

धात्वादेः षः सः॥ *सिञ्चतीति*। 'शे मुचादीनाम्' इति नुम्।

न्यासः

नस्यमिति। हितार्थे 'शरीरावयवाद्यत्'। नस्त इति। 'अपादाने चाहीयरुहोः' इति तसिः। नःक्षुद्र इति। नासिका क्षुद्रा यस्येति बहुव्रीहिः।

नासिक्यो वर्ण इति। भवार्थे 'शरीरावयवात्' इति यत्। नासिक्यं नगरमिति अत्र हितार्थे यत्॥

धात्वादेः षः सः॥ सिञ्चतीति। 'शे मुचादीनाम्' इति नुम्।

धातुग्रहणं किम् ? षोडश । षडिकः । षण्डः । आदेरिति किम् ? कषति । लषति । कृषति ।

पदमञ्जरी

षोडन्निति । षड् दन्ता यस्येति बहुव्रीहौ 'वयसि दन्तस्य दतृ' 'षष उत्त्वं दतृदशधासु' इति षष उत्वमुत्तरपदादेष्टुत्वं च, 'उगिदचाम्' इति नुम्, हल्ङ्यादिसयोगान्तलोपौ । क्वचित्तु *षोड इति* पठ्यते, तत्तु षोडन्तमाचष्ट इति णिचि कृते टिलोपे पचाद्यचि रूपम् । षटशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् । अनुकम्पितः षडङ्गुलिः षडिकः, 'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा', 'ठाजादावूर्ध्वम्' इत्यङ्गुलिशब्दस्य लोपः । *लषतीति* । षकारोपदेशस्तु प्रनिलषतीत्यादौ 'शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे' इति नेर्णत्वप्रतिषेधार्थं स्यात्, लेषतुः लेषुरित्यत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वार्थम् । क्वचित्तु *कषतीत्यपि* पठ्यते; तदयुक्तम्; षकारोपदेशसामर्थ्यादेवात्र न भविष्यति; प्रनिकषतीत्यत्रापि कखादावित्येव णत्वप्रतिषेधः सिद्धः; आदेशादित्वाभ्यासलोपौ च न स्तः—चकषतुः, चकषुः ।

न्यासः

षोडश इति । षट् वा दश वास्येति 'संख्ययाव्यय' इत्यादिना बहुव्रीहिः, 'संख्येये डज्' इत्यादिना समासान्तो डच् । षोडन्निति । षट् दन्ता अस्येति बहुव्रीहिः, 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दन्तशब्दस्य दत्रादेशः । 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वञ्च' इति षष उत्वम्, उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्—डकारः । **षण्ड इति** । प्रातिपदिकान्तमेतदव्युत्पन्नम् । **षडिक इति** । अनुकम्पितः षडङ्गुलिदत्त इति 'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठच्' इति ठच्, 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' इत्यङ्गुलिदत्तशब्दस्य लोपः । ननु च 'लिटि धातोः' इत्यतोऽत्र धातुग्रहणमनुवर्त्तिष्यते, तदिह किं पुनर्धातुग्रहणेन ? एवं तर्ह्येतज् ज्ञापयति—तन्निवृत्तमिति । तस्य ह्यनुवृत्तौ 'लोपो व्योर्वलि' इत्ययमपि लोपो धात्ववयवस्यैव विज्ञायते । क्नूयी,क्तः—क्नूतः, क्ष्मायी, क्तः—क्ष्मात इत्यत्रैव स्यात्; गौधेरः, पचेरन्नित्यत्र न स्यात् । नन्वेवमपि धातुग्रहणमनर्थकमेव, यस्मादुपदेश इति वर्त्तत एव, न च प्रातिपदिकानामुपदेशः, केषां तर्हि उपदेशः ? धातूनाम् ? नैतदस्ति; उपदेशाधिकारेऽप्युपदेशग्रहणेन षकारो विशिष्यते, षषश्च षकार उपदेशो भवति । 'षष उत्त्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः' इति सूत्रे[1] पाठात् । तस्माद् धातुग्रहणं कर्त्तव्यम् । **कषतीति** । भ्वादौ कषसिषेत्यादिर्हिंसार्थो धातुवर्गे पठ्यते । **लषतीति** । 'लष कान्तौ' । अनयोरादिग्रहणान्न भवति । ननु चोपदेशसामर्थ्यादेवात्र न भविष्यतीति, अन्यथा ह्युपदेशस्य वैयर्थ्यं स्यात् ? नैतदस्ति; अस्ति ह्यन्यत्तूपदेशस्य प्रयोजनम् । किं तत् ?—'शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे' इत्यत्र कषेर्ग्रहणं मा भूत्; लषेश्च लेषतुः, लेषुरिति षत्वं यथा स्यात् ।

---

१. वस्तुतस्तु वार्त्तिकमिदम् ६. ३. १०९—इत्यत्र ।

'आदेशप्रत्यययोः' इत्यत्र षत्वव्यवस्थार्थं षादयो धातवः केचिदुपदिष्टाः । के पुनस्ते ? ये तथा पठ्यन्ते । अथ वा, लक्षणं क्रियते— 'अज्दन्त्यपराः सादयः षोपदेशाः स्मिस्विदिस्वदिस्वञ्जिस्वपितयश्च', सृपिसृजिस्तृस्त्यासेक्सृवर्जम्' ॥

पदमञ्जरी

किमर्थं पुनः षादयो धातव उपदिष्टाः, न सादय एवोपदिश्येरन्, एवं ह्येतत्सूत्रं न कर्त्तव्यं भवति ? तत्राह—*आदेशप्रत्यययोरित्यादि* । व्यवस्थानियमः— आदेशप्रत्यययोरिति सहादीनामेव षत्वं यथा स्यात्, सृपिसृजिप्रभृतीनां मा भूदित्येवमर्थं षादयः केचिदुपदिष्टाः; अन्यथा सहादीनां षत्वार्थं यत्नान्तरमास्थेयम्, तच्च गुरु भवतीति भावः । *के पुनस्त इति* । पाठे भ्रंशसम्भवात्प्रश्नः । *ये तथा पठ्यन्त इति* । अप्रमादेन पठितव्यमित्यर्थः । *अथ वा लक्षणं क्रियत इति* । मन्दधियोऽनुग्रहीतुमिति भावः । *अज्दन्त्यपराः सादय इति* । अज्दन्त्यौ परौ येषां तेऽज्दन्त्यपराः, परशब्दोऽवयववाची । तच्चाज्दन्त्ययोः परत्वमवयवान्तरापेक्षं विज्ञायमानं सन्निधानात्सकारापेक्षं विज्ञायते । *स्मिङ्स्विदिति* । 'ष्मिङ्ईषद्धसने', 'ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे', 'ष्वन्ज सङ्गे', 'ञिष्वप् शये'—एते स्वरूपेणैव पठ्यन्ते । वकारमकारयोरनज्दन्त्यत्वाद्वकारोऽपि केवलदन्तस्थानो न भवति । 'स्वद आस्वादने' इति । स्वदिमपि केचित्पठन्ति । *सृपिसृजीत्यादि* । 'सृलृ

न्यासः

किमर्थं पुनः षादयो धातव उपदिष्टाः, न सादयो ह्युपदिश्येरन्, एवं ह्येतत् सूत्रं न कर्त्तव्यं भवति ? इत्यत आह—**आदेशप्रत्यययोरित्यादि** । षत्वव्यवस्था=षत्वनियमः । 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन सहादीनामेव षत्वव्यवस्था यथा स्यादित्येवमर्थम् । षादयः केचिदुपदिष्टाः, अन्यथा सहादीनां षत्वार्थं यत्नान्तरं कर्त्तव्यं स्यात् । तच्च गुरु भवतीत्यभिप्रायः । यद्यपि षकारादिषु सन्देहो न भवति, सकारादिषु च भवत्येव । अत्र हि न ज्ञायते—किं षोपदेशा एव सन्तः 'धात्वादेः षः सः' इत्यनेन कृतसत्वा उच्चारिताः ? उत सकारादय एव ? इति सन्दिह्य पृच्छति—**के पुनस्त इति** । **ये यथा पठ्यन्त इति** । षादयो ये यथा पठ्यन्ते सन्निधानात् त एव षोपदेशा अवगन्तव्याः । **अज्दन्त्यपरा इत्यादि** । अज्दन्त्यौ परौ येषामिति तेऽज्दन्त्यपराः । परशब्दोऽत्रावयवे वर्त्तते । तच्चाज्दन्त्ययोः परत्वमवयवान्तरापेक्षं विज्ञायमानं सन्निधानात् सकारापेक्षं विज्ञायते । **स्मिस्विदिस्वञ्जिस्वपयश्चेति** । 'ष्मिङ् ईषद्धसने', 'ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे', 'ष्वन्ज परिष्वङ्गे', 'ञिष्वप् शये'—एते स्वरूपेणाख्यायन्ते; मकारवकारयोरज्दन्त्यत्वाभावात् ।

---

१. इतोऽग्रे—'मकारवकारयोरनज्दन्त्यत्वान्न भवतीति अप्राप्ते विधानम्' इति पाठो मुद्रितपुस्तके दृश्यते ।

❀ सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ❀ । षोडीयति । षण्डीयति । ष्ठीवति । ष्वष्कते । 'ष्ठिवु'—इत्येतस्य द्वितीयस्थकारष्ठ-

पदमञ्जरी

गतौ', 'सृज विसर्गे', 'स्तृञ् आच्छादने', 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः', 'सेकति-गत्यर्थः', 'सृ गतौ'—एतान्वर्जयित्वा येऽन्येऽज्दन्त्यपरास्ते षोपदेशाः ।

सुब्धात्वित्यादि । सुब्धातुः क्यजाद्यन्तः, 'ष्ठिवु निरसने', 'ष्वष्कतिर्गत्यर्थः' अनुदात्तेत्—एषां सत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । तत्र सुब्धातूनां तावन्न वक्तव्यः, उपदेश इति वर्तते, न च सुब्धातवः क्वचिदुपदिश्यन्ते, एवं च कृत्वा धातुग्रहणं शक्यमकर्तुम् । उपदेशाभावादेव षोडादेर्न भविष्यति, तत् क्रियते धातोरित्यस्य निवृत्तिं सूचयितुम् । तेन 'लोपो व्योर्वलि' इति अविशेषेण भवति, ष्ठीवतिष्व-ष्कती द्विषकारकौ, तत्र पूर्वस्यास्तु सत्वम्, परेण सन्निपातेन षत्वं भविष्यतीति ।

न्यासः

केचित् स्मिस्वदिस्वदिस्वञ्जिस्वपयश्चेति स्विदिस्थाने स्वर्दि पठन्ति, तेषां 'स्वद स्वर्द आस्वादने' इति स्वर्दिरपि षोपदेश एव । सृपिसृजिस्तृस्त्यासेकृसृवर्जमिति । 'गम्लृ सृप्लृ गतौ', 'सृज विसर्गे', 'स्तृञ् आच्छादने', 'ष्ट्यै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः', 'सेक सेकृ श्रकि श्लकि गत्यर्थाः', 'सृ गतौ'—एतान् वर्जयित्वा येऽन्येऽज्दन्त्यपरास्ते षोपदेशाः ।

सुब्धात्वित्यादि । सुब्धातुः क्यजाद्यन्तः । 'ष्ठिवु निरसने', 'ष्वक्क वुक्क मक्क तिक्क टिक्क टीक्क वगि लगि गत्यर्थाः'—एषां प्रतिषेधो वक्तव्यो व्याख्येय इत्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—सुब्धातौ तावत् षोडीयतीत्यादौ नैव धात्वादिः षकारः, तथा ह्यादिरवयवः । आरम्भकश्चावयवो भवति, सुब्धातुः सुबन्तेन क्यचा चारभ्यते । न च षकारेणापि वर्णान्तरेणेति कुतस्तस्य षकारादित्वम् ? सहादयस्तु षकारादिभिरेव वर्णैरारभ्यन्त इति युक्तं तेषां षकारादित्वम् । ष्ठिवेरपि निपातनान्न भवति, किं तन्निपातनम् ? 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' इति । यस्य हि सत्वं भवति तमयं प्रदेशेषु कृतसत्वमेवोच्चारयति यथा प्रदेशे—'स्थाघ्वोरिच्च' इति । ष्वक्केरप्यज्दन्त्यपरा इत्यनेन निवर्त्तितत्वान् न भवति । वकारस्य दन्त्यौष्ठ्यत्वादज्दन्त्यग्रहणेन न गृह्यते । अथ वा—यादित्वात् ष्ठिवुष्वक्कोर्न भविष्यति, यकारस्तु लुप्तनिर्दिष्टत्वान्न श्रूयते । अथ वा—अन्यतरस्यांग्रहणमत्रानुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते, तेन सुब्धात्वा-दीनां न भवतीति । ष्ठीवतीति । 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' इति दीर्घः । ष्वष्कत इति । अनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम् । अथ ष्ठिवो द्वितीयवर्णः किं ठकार इष्यते ? उत थकारः ? यदि ठकारस्तदा सिद्धम्—टेष्ठीव्यत इति, न सिध्यति—तेष्ठीव्यत इति, 'अभ्यासे चर्च्च' इति टकार एवान्तरतमष्ठकारस्य स्थाने प्राप्नोतीति कृत्वा; अथ थकारस्तदा सिद्धम्—तेष्ठीव्यत इति, एतन् न सिध्यति—टेष्ठीव्यत इति, आन्तरतम्याद् विधीयमानस्थकारस्य स्थाने तकार एव प्राप्नोतीत्यत आह—ष्ठिवु इत्येतस्येत्यादि । अभ्यासस्य द्वैरूप्यं यथा

कारश्चेष्यते । तेन तेष्ठीव्यते, टेष्ठीव्यते इति चाभ्यासरूपं द्विधा भवति ॥

णो नः ॥ ६५ ॥

'धातोरादेः' इत्यनुवर्तते । धातोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । णीञ्—नयति । णम्—नमति । णह—नह्यति ।

धात्वादेरित्येव—अणति ।

सुब्धातोरयमपि नेष्यते—णकारमिच्छति णकारीयति ।

'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इत्यत्र णत्वविधेर्व्यवस्थार्थं णादयो धातवः केचिदुपदिश्यन्ते । के पुनस्ते ? ये तथा पठ्यन्ते । अथ वा, लक्षणं क्रियते—'सर्वे णादयो णोपदेशाः, नृतीनन्दिनर्दिनक्कनाटिनाथृनाधृवर्जम्' ॥

पदमञ्जरी

यद्येवम्, लिट् ष्वष्कते, षत्वस्यासिद्धत्वाद् 'ङः सि धुट्' इति धुट् प्रसज्येत ? एवं तर्हि यकारादी ष्ठिवुष्वष्कती, यकारस्तु 'लोपो व्योर्वलि' इति लुप्यते । *ष्ठीवतीति* । 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' इति दीर्घत्वम् । अथास्य द्वितीयो वर्णो यदि ठकारः, तेष्ठीयत इति न सिध्यति; अथ थकारः, टेष्ठीयत इति न सिद्ध्यति; उभयं चेष्यते, तत्राह—*ष्ठीवत इत्यस्येत्यादि* । उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः पाठिता इति भावः ॥

णो नः ॥ *अणतीति* । णोपदेशस्तु निरणतीत्यादौ 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वार्थं स्यात् । *सुब्धातोरयमपि* नेष्यत इति । पूर्ववदेव सर्वे नादय इति प्रयोगे । *नृतीनन्दीत्यादि* । 'नृती गात्रविक्षेपे', 'टुनदि समृद्धौ', 'नर्द गर्द शब्दे', 'नक्क नाशने', 'नट अवस्यन्दने' चुरादिः, 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्येषु' ॥

न्यासः

स्यादिति । केचिदाचार्येण शिष्याः 'ठकारोऽयम्' इत्युपदिष्टाः । अपरे पुनः 'थकारोऽयं ष्टुत्वेन ठकारः श्रूयते' इतीममर्थं ग्राहिताः । उभयञ्चैतत् प्रयोजनम् । अन्ये पुनराहुः—ष्ठिवुर्दिवादिष्वपि पुनरधीयते, तत्रैकस्य द्वितीयस्थकारः, अपरस्य तु ठकार इति । तेष्ठीव्यत इति 'शर्पूर्वाः खयः' शेषः ॥

णो नः ॥ **सुब्धातोरयमपि नेष्यत इति** । पूर्वस्मादेव हेतोः ।

उपसर्गादसमासेऽपीत्यादि । अत्र पूर्वानुसारेण पूर्वपक्षो विज्ञेयः । **नृतीनन्दीत्यादि** । 'नृती गात्रविक्षेपे', 'टुनदि समृद्धौ', 'नर्द गर्द शब्दे', 'नक्क वक्क नाशने', 'नट अवस्यन्दने', चुरादिणिजन्तः, 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु', 'न नये' ॥

लोपो व्योर्वलि ॥ ६६ ॥

धातोरिति प्रकृतं यत् तद् धात्वादेरिति पुनर्धातुग्रहणान्निवृत्तम्। तेन धातोरधातोश्च वकारयकारयोर्वलि परतो लोपो भवति। दिव्–दिदिवान्, दिदिवांसौ, दिदिवांसः। ऊयी–ऊतम्। क्नूयी–क्नूतम्। गोधाया ढ्रक्–गौधेरः। पचेरन्। यजेरन्। वकारस्य–'जीवेरदानुक्'–जीरदानुः। स्रिवेः–आस्रेमाणम्। 'उणादयो बहुलम्' इति बहुलवचनात् 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति ऊठ् न भवति।

वलीति किम्? ऊय्यते। क्नूय्यते। पूर्वं लोपग्रहणं किम्?

पदमञ्जरी

लोपो व्योर्वलि ॥ *धातोरिति प्रकृतमित्यादि*। एतद् 'धात्वादेः षः सः' इत्यत्र व्याख्यातम्। *दिदिवानिति*। दिवेः क्वसौ रूपम्। 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति नियमादिडभावः। अत्र वक्तव्यमस्ति तद् 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इत्यत्र वक्ष्यामः। 'ऊयी तन्तुसन्ताने', 'क्नूयी शब्दे'। *आस्रेमाणमिति*। 'स्रिवु गति-शोषणयोः', औणादिको मनिन्, नञा समासः।

ननु च सतः कार्यिणः कार्येण भवितव्यमिति पूर्वं कार्यिनिर्देशो युक्तः, पश्चात्कार्यनिर्देशः—'व्योर्वलि लोपः' इति, लाघवं च भवत्यर्द्धमात्रया, तत्किमर्थं पूर्वं लोपग्रहणं कृतम्? इत्यत आह—*पूर्वं लोपग्रहणमित्यादि*।

न्यासः

लोपो व्योर्वलि ॥ 'लिटि धातोः' इत्यस्य धातुग्रहणस्य दृष्टानुवृत्तिसामर्थ्यादिहाप्य-नुवृत्तिरिति मन्यमानस्य धातोरेवायं वलि व्यलोपो विधीयत इति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तां निराकर्तुमाह—**धातोरिति यत् प्रकृतमित्यादि**। **दिदिवानिति**। दिवेः क्वसौ रूपम्। **ऊयीति**। 'ऊयी तन्तुसन्ताने'। **क्नूयीति**। 'क्नूयी शब्दे'। **गौधेर इति**। 'गोधाया ढ्रक्' ढस्यैयादेशः, यकारलोपः। **पचेरन्निति**। सीयुड्यकारस्य लोपः। **जीवेरिति**। 'जीव प्राणधारणे' इत्यस्य। **स्रिवेरिति**। 'स्रिवु गतिशोषणयोः' इत्येतस्य। **आस्रेमाणमिति**। औणादिकोऽयं मनिन्। कथं पुनरेतदिहोदाहरणम्, यावता परत्वाद् 'वार्णादाङ्गं बलीयो भवति' इति बलीयस्त्वात् 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यादिनोठा-देशेनात्र भवितव्यम्? इत्यत आह—**उणादयो बहुलमित्यादि**। बहुलग्रहणस्य सर्व-विधिव्यभिचारार्थत्वान् न भवत्येष दोषप्रसङ्ग इति।

पश्चाल्लोपग्रहणे क्रियमाणे पकारात् परेणाध्यर्धमात्रोच्चारयितव्या भवति, अकारो हि मात्रा, विसर्जनीयस्त्वर्धमात्रः। पूर्वं तु लोपग्रहणे क्रियमाणे मात्राद्वयमुच्चारयितव्यं जायते; ओकारस्य द्विमात्रिकत्वात्। तत्र लाघवार्थं पश्चादेव लोपग्रहणं कर्तुं युक्तम्, तत् किं पूर्वं क्रियते? इत्यत आह—**पूर्वमित्यादि**। अन्यस्तु पूर्वं कार्यिनिर्देशो युक्तः,

वेरपृक्तलोपात्पूर्वं वलि लोपो यथा स्यात् ।

कण्डूयतेः क्विप्—कण्डूः । लोलूयतेः—लोलूः ।

व्रश्चादीनामुपदेशसामर्थ्याद् वलि लोपो न भवति । वृश्चति,

पदमञ्जरी

पूर्वं लोपग्रहणेनायमर्थः सूच्यते—विध्यन्तरात्पूर्वमेवायं लोपो भतीति, कण्डूयतेर्यलोपश्च प्राप्नोति, वेरपृक्तलोपश्च, तत्रान्तरङ्गत्वात्पूर्वमपृक्तलोपेन भवितव्यम् ।

कण्डूयतेः *क्विविति* । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इत्यत्र भाष्यम्—'नैतेभ्यः क्विब् दृश्यते' इति, तस्मात्कण्डूमिच्छतीति क्यजन्तात्क्विब् द्रष्टव्यः । द्विविधा हि कण्ड्वादयः—धातवः, प्रातिपदिकानि च । तत्र धातुभ्यो यग्विधानात्प्रातिपदिकेभ्यः क्यजादयो भवन्त्येव, तत्र क्यजन्तात्क्विपि कृते–अतो लोपश्च प्राप्नोति, वेरपृक्तलोपश्च, तत्रान्तरङ्गत्वात्पूर्वमपृक्तलोपेन भाव्यम् । अथाप्यार्द्धधातुक इति विषयसप्तम्याश्रयणात्पूर्वमतो लोपः, पश्चात्क्विप् ? एवमपि क्विलोपश्च प्राप्नोति वलोपश्च, तत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च पूर्वमपृक्तलोपः स्यात्, तस्मिंश्च सति निमित्ताभावादलाश्रये प्रत्ययलक्षणाभावात्स्थानिवद्भावाभावाच्च वलि लोपो न स्यात्, पूर्वंलोपग्रहणाच्च भवति । अथात्र लोपस्य स्थानिवद्भावादुवङ् कस्मान्न भवति ? उच्यते; क्यजन्तात्क्विबित्युक्तम्, ततः किम् ? स्थानिवद्भावेनापि कण्डूमात्रस्य धातुत्वाभावादुवङ् न भवति । यणादेशस्तर्हि प्राप्नोति ? अस्तु यण्, तस्योठ् करिष्यते । न चोठ्यपि कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावः, आदिष्टादचः पूर्वत्वाद्वकारस्य, अत एव कण्डुवावित्यादावूङुवङादिषु कर्त्तव्येषु नास्त्यल्लोपस्य स्थानिवद्भावः ।

अथ व्रश्चकः, व्रश्चनमित्यादौ रेफे वलि परतो वकारस्य लोपः कस्मान्न भवति ? तत्राह—*व्रश्चादीनामित्यादि* । ननु वृश्चति, वव्रश्चेत्यादौ सम्प्रसारणे कृते हलादिशेषे च वकारस्य श्रवणं यथा स्यादित्येतदुपदेशस्य प्रयोजनं स्यात्,

न्यासः

पश्चात् कार्यनिर्देश इति पूर्वं व्योर्ग्रहणे कर्त्तव्ये किमर्थं लोपग्रहणं क्रियत इति पूर्वपक्षं वर्णयति, स चायुक्तः; 'लुगणिञोः' इत्यत्र कार्यस्यापि पूर्वं निर्देशात् । **वेरपृक्तलोपादित्यादि** । कण्डूयतेर्लोलूयतेश्च क्विपि कृते वलि लोपात् परत्वात् कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वाच्च पूर्वं वेरपृक्तलोप एव स्यात्, अस्मिंश्च सति निमित्ताभावाद् वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणाभावाद् वलि लोपो न स्यात् । तस्मात् पूर्वं लोपग्रहणं क्रियते–वलि लोप एव पूर्वं यथा स्यात् । पूर्वं लोपग्रहणे ह्ययमर्थः सूच्यते–वेरपृक्तलोपात् पूर्वं वलि लोप एव कर्त्तव्यमिति । **कण्डूरिति** । 'अतो लोपः' इत्यकारलोपः । 'क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषु न स्थानिवत्' इत्यकारस्य स्थानिवद्भावो न भवति, वलि लोपः । अथ व्रश्चकः, व्रश्चन इत्यत्र रेफे वलि परतो वकारलोपः कस्मान्न भवति ? इत्याह—**व्रश्चादीनामित्यादि** । यद्येषामपि लोपः स्याद्, वकारोच्चारणमनर्थकं स्यात् ।

वव्रश्चेत्यत्रापि हि सम्प्रसारणहलादिःशेषयोर्बहिरङ्गत्वात्प्राप्नोति ॥

वेरपृक्तस्य ॥ ६७ ॥

'लोपः' इति वर्त्तते । 'वेः' इति क्विबादयो विशेषाननुबन्धानुत्सृज्य सामान्येन गृह्यन्ते । वेरपृक्तस्य लोपो भवति । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्'–ब्रह्महा, भ्रूणहा । 'स्पृशोऽनुदके क्विन्'–घृतस्पृक्, तैलस्पृक् । 'भजो ण्विः'–अर्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक् ।

पदमञ्जरी

न ह्यत्र लोपः प्रवर्तते, वल्परत्वाभावादित्यत आह—*वृश्चति वव्रश्चेत्यादावपीत्यादि* । *बहिरङ्गत्वादिति* । बहिरङ्गत्वं सम्प्रसारणस्य क्ङित्प्रत्ययापेक्षत्वात्, हलादिशेषस्य त्वभ्यासापेक्षत्वात्, ततश्चाकृतयोरेव तयोर्वलोपः प्राप्त उपदेशसामर्थ्यादेव न भवति ।

अत्र भाष्ये वलोपः प्रत्याख्यातः । आस्रेमाणम्, जीरदानुरित्यत्र छान्दसो वर्णलोपः, क्वसावपि छान्दस एव, दिविप्रभृतीनां यङ्लुगन्तानां तसादिषूठा भवितव्यम्, तिप्सिपोरीडभावपक्षेषूठा भवितव्यम् । ये तत्र क्ङितीति नानुवर्त्तयन्ति–देदिविति देद्योति, देदिवीषि देद्योषि, मिपि त्वनुनासिकत्वादेव भवति, देदिवीमि देद्योमि; ये त्वनुवर्त्तयन्ति तेषामपि छान्दसो यङ्लुगिति ॥

वेरपृक्तस्य ॥ *क्विबादयो गृह्यन्त इति* । ततोऽन्यस्य वेरपृक्तस्याभावात् । *घृतस्पृगिति* । 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' अपृक्तग्रहणाद्वकारमात्रस्येदं ग्रहणम्, इकार उच्चारणार्थः ॥

न्यासः

अतश्चोच्चारणसामर्थ्याद् व्रश्चादीनां वलि लोपो न भवति । स्यादेतत्—वृश्चति, वव्रश्चेत्यत्र स्प्रसारणे हलादिशेषे च वकारस्य श्रवणं यथा स्यात्, तत् कुत उपदेशस्य वैयर्थ्यम्? अत आह–वृश्चतीत्यादि । यथा व्रश्चक इत्यादौ लोपस्य प्राप्तिः, एवं वृश्चतीत्यादावपि सम्प्रसारणादौ कार्ये कृतेऽपि; तस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् । तत्र सम्प्रसारणं ङित्प्रत्ययापेक्षत्वात् बहिरङ्गम्, हलादिशेषोऽभ्यासापेक्षत्वाद् बहिरङ्गः; वलि यलोपस्तु वर्णमात्राश्रयत्वादन्तरङ्गः । तस्मात् सर्वत्रैव व्रश्चेर्वकारलोपः प्राप्नोति । क्रियते चास्योपदेशः, अत उपदेशसामर्थ्यान्न भविष्यतीति तदेवावस्थितम् ॥

वेरपृक्तस्य ॥ वेरित्यादि । क्विबादेरन्यस्य वेरपृक्तसंज्ञकस्याभावात् क्विबादय एव गृह्यन्ते, कथं पुनर्वेरित्युच्यमाने क्विबादीनां सामान्येन ग्रहणमुपपद्यते, यावता पकारादयस्तेषां विशेषा अनुबन्धाः सन्ति? इति चोद्यनिरासायेदमुक्तम्—**विशेषाननुबन्धानुत्सृज्येति** । ब्रह्महा, भ्रूणहेति । 'सौ च' इति दीर्घः । घृतस्पृगिति । 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वम् । अर्धभागिति । 'चोः कुः' इति कुत्वम् ।

दर्विरित्यादौ 'उणादयो बहुलम्' इति बहुलग्रहणादेव लोपो न भवतीति शक्यते वक्तुम्, अतः प्रपञ्चार्थम् । वैचित्र्यार्थं वाऽपृक्तग्रहणम् ॥

अपृक्तस्येति किम् ? 'वृदृभ्यां विन्'—दर्विः। 'कॄगॄशॄसृजागृभ्यः क्विः'—जागृविः।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ॥ ६८ ॥

'लोपः' इति वर्तते। तदिह लौकिकेनार्थेनार्थवत् कर्मसाधनं द्रष्टव्यम्—लुप्यते इति लोपः। हलन्ताद्, ङ्यन्तादाबन्ताच्च दीर्घात् परं सु, ति, सि—इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। हलन्तात् सुलोपः—राजा, तक्षा, उखास्रत्, पर्णध्वत्। ङ्यन्तात्—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। आबन्तात्—खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या।

पदमञ्जरी

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ॥ दीर्घग्रहणं सम्भवव्यभिचाराभ्यां ङ्यापोरेव विशेषणम्। ङ्याब्ग्रहणं च सोर्विशेषणम्। हल्पृक्तग्रहणं च तिस्योः। सुतिसीति त्रीणि पदानि। *तदिहेत्यादि*। प्रकृतस्य लोपशब्दस्य शास्त्रीयस्य भावसाधनस्य सुतिसीति प्रथमान्तेन सम्बन्धाभवादिति भावः। अपर आह—'हल्ङ्याब्भ्यः' इति पञ्चम्या सुतिसीत्यादिकायाः प्रथमायाः षष्ठ्यां प्रकल्पितायां

न्यासः

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥ यदि लोप इतीहानुवर्त्तमानं शास्त्रीयेणार्थेनैवार्थवत् स्यात्, तदा तेन हलित्यस्य प्रथमान्तस्य सामानाधिकरण्येन सम्बन्धो नोपपद्यते। शास्त्रीयस्य हि लोपशब्दस्यार्थः—दर्शनाभावः = अदर्शनम्, न च हलदर्शनं भवति। न च 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति पञ्चमी हलिति प्रथमायाः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति। सामर्थ्याद्वा हलित्यस्य षष्ठ्यन्ततया विपरिणामो भविष्यति, अतः षष्ठ्यन्तस्य लोपशब्देन सम्बन्धो भविष्यतीति शक्यं प्रकल्पयितुम्; अकृतार्थत्वात् प्रथमायाः षष्ठीभावस्यानुपपत्तेरित्येतदालोच्याह—**तदिहेत्यादि**। **लुप्यत इति लोपः**। कर्मणि घञ्। एतेन लौकिकार्थेनार्थवत्त्वं लोपशब्दस्य दर्शयति। लुप्यत इति निरुध्यत इत्यर्थः। लौकिकेनार्थेनार्थवता कर्मसाधनेन लोपशब्देन हलित्येतस्य विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते। लोपशब्देन हि लुप्यमानं वर्णमात्रमुच्यते। **सुतिस्यपृक्तं हलिति**। अनेन च तदेव विशिष्यते। **दीर्घादिति**। एतच्च ङ्यापोरेव विशेषणम्; सम्भवाव्यभिचारात्, न तु हलन्तस्य; असम्भवात्। **उखास्रत्**। **पर्णध्वदिति**। 'स्रन्सु ध्वन्सु अधःपतने', उखायां स्रंसते, पर्णानि ध्वंसत इति क्विप्, 'अनिदिताम्' इत्यनुनासिकलोपः, 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दकारः, तस्य 'वावसाने' चर्त्वम्—तकारः। **कुमारीति**। 'वयसि प्रथमे' इति ङीप्। **गौरीति**। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। **शार्ङ्गरवीति**। 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्'। **खट्वेति**। 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप्। **बहुराजेति**। 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति डाप्। **कारीषगन्ध्येति**। 'यङश्चाप्'।

हलन्तादेव तिलोपः, सिलोपश्च। तत्र तिलोपस्तावत्—अबिभर्भवान्। भृञो लङि तिपि 'श्लौ', 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्येत्त्वम्। अजागर्भवान्। सिलोपः—अभिनोऽत्र। अच्छिनोऽत्र। दस्य रेफः।

हल्ङ्याब्भ्य इति किम्? ग्रामणीः। सेनानीः। दीर्घादिति किम्? ग्रामणीः। सेनानीः। दीर्घादिति किम्? निष्कौशाम्बिः।

पदमञ्जरी

शास्त्रीयेऽपि लोपशब्दे न दोष इति। *अभिनोऽत्रेति*। भिदेर्लङि सिलोपः, 'दश्च' इति दकारस्य रुत्वम्, तस्य 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वम्, श्नमोऽकारेण 'आद्गुणः', 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपम्।

निष्कौशाम्बिरिति। ननु च प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदादिग्रहणादेवात्र न भविष्यति, इहापि तर्हि न स्यात्—परमकुमारी, परमखट्वेति? 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति तदादिनियमाभावाद्भविष्यति। निष्कौशाम्बिरित्यादौ उपसर्जनत्वाद्भवत्येव तदादिनियमः? एवं तर्हि एतज्ज्ञापयति—उपसर्जनेऽपि स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमोऽत्र न भवतीति। तेनार्द्धं पिप्पल्या अर्द्धपिप्पलीत्यादौ 'एकविभक्ति च' इत्युपसर्जनत्वे सत्यपि लोपो भवति। नात्रोपसर्जनं पिप्पली; एकविभक्तावषष्ठ्यन्तमिति वचनात्। अत एव 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वं न भवति। मा भूच्छास्त्रीयमुपसर्जनम्, अप्रधानं तावद्भवत्येव—बह्वयः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसीति? शास्त्रीयमप्युसर्जनत्वमस्ति, 'ईयसश्च' इति कपः प्रतिषेधः, 'ईयसो बहुव्रीहौ प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति ह्रस्वाभावः। अपर आह—'निष्कौशाम्बिरित्यादौ समुदायस्य ङ्यावन्तत्वेऽपि यदत्र ङ्याबन्तं कौशाम्ब्यादि, ततः परस्य सोर्लोपः प्राप्नोति दीर्घग्रहणाद्व्यावर्त्तते' इति। ननु च विहितविशेषणं विज्ञायते—ङ्याबन्ताद्विहितस्येति? नैवं शक्यम्; या, सा, केत्यादौ न स्यात्, न ह्यत्र टाबन्तात्सुब्विहितः। मा भूदेवम्, हलन्ताद्विहित इत्येवं भविष्यति। यद्येवम्, यः, सः, क इत्यत्रापि स्यात्, कर्त्ता हर्तेत्यादौ च न स्यात्, न ह्यत्र हलन्तात्

न्यासः

हलन्तादेव तिलोपः सिलोपश्चेति। ननु ङ्याबन्तादित्येवकारेण दर्शयति, न हि ङ्याबन्तात् परौ तिसी सम्भवतः; धातोरेव परस्य लकारस्य तयोर्विधानात्। **अबिभर्भवानिति**। गुणे रपरत्वे च कृते तिलोपः। **अजागर्भवानिति**। 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' इति गुणः। भवानित्यनुप्रयोगस्तिशब्दाभिव्यक्तये। **अभिन इति**। भिदेर्लङ्, 'दश्च' इति रुत्वम्, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्त्वम्, श्नमोऽकारेण सह 'आद्गुणः', 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपत्वम्।

ग्रामणीरिति। ग्रामं नयतीति 'सत्सूद्विष' इत्यादिना क्विप्। **निष्कौशाम्बिरिति**। निर्गतः कौशाम्ब्या इति प्रादिसमासः, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वम्। **अतिखट्व**

अतिखट्वः । सुतिसीति किम् ? अभैत्सीत् । तिपा सहचरितस्य सिशब्दस्य ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति । अपृक्तमिति किम् ? भिनत्ति, छिनत्ति[1] ।

हलिति किम् ? बिभेद । चिच्छेद ।

अथ किमर्थं हलन्तात्सुतिसीनां लोपो विधीयते, संयोगान्तलोपेनैव सिद्धम् ? न सिद्ध्यति; राजा, तक्षेत्यत्र संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न स्यात् । उखास्रत्, पर्णध्वदित्यत्रापदान्तत्वाद्दत्वं च

पदमञ्जरी

त्सुर्विहित इति ? अतोऽन्यस्मादपि विहितस्य हल्ङ्याब्भ्योऽनन्तस्य लोप इत्यास्थेयम् । एवं च निष्कौशाम्ब्यादावपि लोपः प्राप्तो दीर्घग्रहणेन व्यावर्त्तनीयः । *तिपा सहचरितस्येति* । तिपा तिशब्देन साहचर्यात्सहापि तिङ एव ग्रहणमित्यर्थः ।

अथ किमर्थमित्यादि । 'ङ्यापोर्दीर्घात्सुः' इत्येव वक्तव्यमिति चोद्यार्थः । *न लोपो न स्यादिति* । ननु च 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति ज्ञापकान्नलोपे कर्त्तव्ये संयोगान्तलोपः सिद्ध एव भविष्यति ? न; पचन्नित्यादावपि प्रसङ्गात् । नकारसंबुद्ध्योरानन्तर्ये प्रतिषेधो विज्ञायमानस्तुल्यजातीये नकारविभक्त्योरानन्तर्य एव संयोगान्तलोपस्य सिद्धत्वं ज्ञापयति । पचन्नित्यादौ तु तकारेण व्यवहितत्वाद् ज्ञापकाभावाल्लोपाभावः ?—इत्याशङ्क्य दोषान्तरमाह—*उखास्रत्, पर्णध्वदिति* । *दत्वमिति* । न स्यादित्यनुषङ्गः । उखास्रस्+सु इति स्थिते संयोगान्तलोपमपवादत्वाद्बाधित्वा 'स्कोः संयोगाद्योः' इति प्रकृतिसकारस्य लोपे श्रूयमाणः सकारो न वस्वादिसम्बन्धीति 'वसुस्रंसु' इति दत्वं न स्यात् । न च संयोगादिलोपं बाधित्वा पूर्वमेव प्रकृतिसकारस्य दत्वं लभ्यते; अपदान्तत्वात् । न हि सौ श्रूयमाणे पूर्वस्य पदसंज्ञाऽस्ति; 'असर्वनामस्थाने' इति प्रतिषेधात् । अथापि सावपि पदत्वमिति पक्षाश्रयेण स्यात्पदत्वम् ? एवमपि दत्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वं

न्यासः

इति । खट्वामतिक्रान्त इति पूर्ववत् समासे कृते ह्रस्वः । अभैत्सीदिति । 'वदव्रज' इति वृद्धिः, अपृक्त इट् । ननु सीति सामान्येन निर्देशात् सिचोऽपि ग्रहणम्, अतो न युक्तमिदं प्रत्युदाहरणम् ? अत आह—तिसहचरितस्येत्यादि । तिङ्तिशब्देन साहचर्यात् तिङ एव सेर्ग्रहणम्, न सिच इति किमत्रायुक्तम् ! बिभेदेति । णलोऽकारोऽत्र भवत्यपृक्तः, न तु हल् इति नासौ लुप्यते ।

संयोगान्तलोपनैव सिद्धमिति । राजेत्यादिकमुदाहरणमिति शेषः । कथं पुनर्न सिध्यति ? इत्यत आह—राजा, तक्षेत्यादि । यथा पचन्नित्यत्र संयोगान्तलोपस्यासिद्ध-

1. 'बिभर्ति' इत्यधिकमेकस्मिन्पुस्तके ।

न स्यात्। अभिनोऽत्रेत्यत्र 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वं न स्यात्। अबिभर्भवानित्यत्र तु 'रात्सस्य' इति नियमाल्लोप एव न स्यात्।

संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिद्धयति।
रात्तु ते नैव लोपः स्याद्, हलस्तस्माद्विधीयते ॥

पदमञ्जरी

संयोगादिलोप एव स्यात्। ननु च वस्वादीनां दत्वं सौ दीर्घत्वे सिद्धमिति वक्ष्यति तत्र, सौ दीर्घग्रहणं न करिष्यते वस्वादीनां दत्वमित्येव, ततश्च पूर्वमेव दत्वं भविष्यति ? एवमपि राजा, तक्षेत्यादौ सावपि पदत्वे सति संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्पूर्वं नलोपे सति असंयोगान्तत्वात्सोर्लोपो न स्यात्। तस्मात्सुष्ठूक्तम्—दत्वं न स्यादिति। *उत्वमिति*। न स्यादित्यनुषङ्गः। स एव हेतुः—संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वादिति। एतच्च 'संयोगान्तलोपो रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः'—इत्येतदनाश्रित्योक्तम्। तदाश्रयणे तु—हरिवो मेदिनीमित्यादिवत्सिद्धम्। *रात्सस्येति नियमाल्लोप एव न स्यादिति*। ननु 'रात्सस्य' इति द्वितकारकनिर्देशात्तकारस्यापि प्रश्लेषाद्रेफादुत्तरस्य च तकारस्यापि लोपो विधास्यते ? यद्येवम्, कीर्त्तयतेः क्विपि 'कीः' इति स्यात्, यथान्यासे तु कीर्दिति भवति। तदेवं सिग्रहणमेकं न कर्त्तव्यम्, अन्यत्सर्वं कर्त्तव्यमिति स्थितम्।

संयोगान्तस्य लोपे हीत्यादि। संग्रहश्लोकः। हिशब्दो हेतौ, नलोपादीत्यादिशब्देन दत्वोत्वयोर्ग्रहणम्। ये तु संयोगान्तलोपवादिनस्तेषां रेफादुत्तरस्य तकारस्य अबिभर्भवानित्यत्र नैव लोपः स्यात्, तस्माद्धल उत्तरेषां सुतिसीनां लोपो विधीयते ॥

न्यासः

त्वान् नलोपो न भवति; तथा राजा, तक्षेत्यादावपि न स्यात्। संयोगान्तलोपासिद्धत्वं चात्र पारम्पर्य्येण हेतुः। तस्मिन् सति हि सौ परतः पूर्वस्य पदसंज्ञा न भवति; 'असर्वनामस्थाने' इति प्रतिषेधात्। तस्यां चासत्यां पदस्येत्युच्यमानो नलोपो न स्यात्, नलोपे चासति राजेत्यादिकं रूपं न सिध्येत्। दत्वमिति। न स्यादिति प्रकृतेन सम्बन्धनीयम्। दत्वमपि हि संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वादसत्यां पदसंज्ञायां न स्यात्। अथ वा—संयोगान्तलोपोऽत्र न प्रवर्त्तत एव, तस्य 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति संयोगादिलोपोऽपवादभूत इति स एव स्यात्, यथा—काष्ठं तक्ष्णोतीति काष्ठतडित्यत्र। तस्मिंश्च सति विभक्तिसकारस्य रुत्वविसर्गौ स्यातामिति कुतो दत्वम् ! उत्वमिति। न स्यादित्यपेक्षते, एतदपि संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्। अलब्धपदव्यपदेशस्य न स्यात्। रात्सस्येति नियमादिति। 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेनैव सिद्धेः। 'रात्सस्य' इति नियमार्थमिदम्—रात्सस्यैव लोपोयथा स्यान्नान्यस्येति। ततश्चाबिभर्भवानित्यत्र तकारस्य लोप एव नस्यात्। तस्मात् संयोगन्तलोपेन न सिध्यतीति हलन्ताल्लोप उच्यते।

अस्यैवार्थस्य सुखोपग्रहणार्थं संयोगान्तस्य लोपे हीत्यादि संग्रहश्लोकस्योपन्यासः।

एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ॥ ६९ ॥

'लोपः' इति वर्त्तते, 'हल्' इति च। 'अपृक्तम्' इति नाधिक्रियते, तथा च पूर्वसूत्रे पुनरपृक्तग्रहणं कृतम्। एङन्तात्प्रातिपदिकाद् ह्रस्वान्ताच्च परो हल्लुप्यते स चेत्सम्बुद्धेर्भवति। एङन्तात्—हे अग्ने,

पदमञ्जरी

एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ॥ अत्र यदि हल्ग्रहणं नानुवर्तेत, तत एङ्ह्रस्वाभ्यां सम्बुद्धिरेव विशेषणीया—एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्च परस्याः सम्बुद्धेर्लोप इति, ततश्च हे कुण्डेत्यत्र न स्यात्। कथम्? कुण्ड+सु इति स्थिते लोपश्च प्राप्नोत्यम्भावश्च, तत्र लोपः शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यः, स हि कृतेऽम्भावे 'आदेः परस्य' इत्यमोऽकारस्य प्राप्नोति, अकृते तु सकारस्य, अम्भावस्तु लोपे कृतेऽत्यन्ताप्राप्त्याऽनित्यः—इत्युभयोरनित्ययोः परत्वादम्भावे कृतेऽमि पूर्वस्य प्राप्नोति लोपश्च। तत्रामि पूर्वत्वे कृते व्यपवर्गाभावादुभयत आश्रयणेऽन्तादिवद्भावाभावाच्च लोपो न प्राप्नोति, लोपे च कृतेऽमोऽभावादमिपूर्वत्वं न प्राप्नोतीत्युभयोरनित्ययोः परत्वादमि पूर्वत्वे कृते लोपो न स्यात्, तस्मादनुवर्त्यं हल्ग्रहणम्। तदाह–*हलिति चेति*। 'वर्त्तते' इत्यपेक्षते। *अपृक्तमिति नाधिक्रियत इति*। यद्यधिक्रियेत, हे कुण्डेत्यत्र न स्यात्; अपृक्तसंज्ञाया अभावात्। कथं पुनर्ज्ञायते—नायमधिक्रियत इति? तत्राऽऽह—*तथा चेति*। अनुवर्तमानेऽपि हल्ग्रहणे यद्येङ्ह्रस्वाभ्यां सम्बुद्धिर्विशेष्येत, तया हल् विशेष्येत—एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्च परा या सम्बुद्धिस्तस्या हल्लुप्यते इति, ततः हे कुण्डेत्यत्र न स्यात् पूर्वोक्तादेव हेतोः। अत एङ्ह्रस्वाभ्यां सम्बुद्ध्या च हलेव विशेषणीय इति मत्वाऽऽह—*एङन्तात्प्रातिपदिकादित्यादि*। सम्बुद्ध्याक्षिप्तप्रातिपदिकमेङ्ह्रस्वाभ्यां विशेष्यत इति तदन्तविधिलाभः। अत्र

न्यासः

हिशब्दो हेतौ।.यस्मात् संयोगान्तलोप आश्रीयमाणे नलोपादिकं कार्यं न सिध्यतीति। किञ्च—ते=तव, भवतः संयोगान्तलोपवादिनः, रात्तु रेफात्तु परस्य तकारस्याबिभर्भवान-जगर्भवानित्यत्र नैव लोपः स्यात्। तस्माद्धलन्तात् सुतिसीनां लोपो विधीयते॥

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥ **हलिति चेति**। वर्त्तत इत्यपेक्षते। यदि हलिति नानुवर्त्तेत, तदा हे कुण्ड + सु इति स्थिते लोपात् परत्वादम्भावे कृते 'आदेः परस्य' इत्यकारलोपे 'सुपि च' इति दीर्घत्वे च हे कुण्डमित्यनिष्टं रूपं स्यादित्यभिप्रायः। **अपृक्तमिति नाधिक्रियत इति**। यदि ह्यपृक्तमिहानुवर्त्तेत, तर्हि हे कुण्डेत्यत्र लोपो न स्यात्; अपृक्तसंज्ञाया अभावादिति भावः। कथं पुनर्ज्ञायते—अपृक्त इह नानुवर्त्तते? इत्याह—**तथा चेत्यादि**। तथा चेति हेतौ। यस्मात् पूर्वसूत्रेऽपृक्तग्रहणं कृतमतोऽवसीयते—नात्र प्रकरणेऽपृक्तग्रहणस्यानुवृत्तिरस्तीति; अन्यथा हि 'वेरपृक्तस्य' इत्यत एवापृक्तग्रहणमनुवर्तिष्यत इति। पुनरपृक्तग्रहणं पूर्वसूत्रे न क्रियेतेति। **स चेत् सम्बुद्धेर्भवतीति**। यदि

हे वायो। ह्रस्वान्तात्—हे देवदत्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड। कुण्ड-शब्दाद् 'अतोऽम्' इत्यम्, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वत्वे कृते हल्मात्रस्य मकारस्य लोपः।

हे कतरदित्यत्र डिदयमद्डादेशः, तत्र टिलोपे सति ह्रस्वाभावान्नास्ति सम्बुद्धिलोपः।

पदमञ्जरी

पक्षे कुण्डेत्यत्रामि पूर्वत्वस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावाद् ह्रस्वान्तात्परो हल्भवति। वस्तुतश्च सम्बुद्धेरिति लोपः सिद्ध्यति।

अच्छब्द इति। एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यते। *ह्रस्वाभावादिति*। ननु चादडेवाकारो ह्रस्वः, ततः परो हल् भवति, सम्बुद्धेश्च सम्बन्धीति लोपः स्यादेव, सम्बुद्धौ तु विशेष्यमाणायां प्रकृत्यकारस्य लोपे ह्रस्वात्परा सम्बुद्धिर्न भवतीति लोपाप्रसङ्गः? उच्यते; 'सम्बुद्ध्याक्षिप्तं प्रातिपदिकमेङ्ह्रस्वाभ्यां विशेष्यते' इत्युक्तम्, तेन कुण्डेत्यत्र न भविष्यति; एकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावात् प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणात्। हे कतरदित्यत्र च न भविष्यति; टिलोपे कृते प्रकृतेरह्रस्वान्तत्वात्। *सम्बुद्धिगुणबलीयस्त्वादिति*। अन्यथा अग्नि+सु इति स्थिते सम्बुद्धिगुणश्च प्राप्नोति, ह्रस्वादिति लोपश्च; तत्र नित्यत्वात्परत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृतेऽह्रस्वान्तत्वान्न भवेत्। ननु च विहितविशेषणं विज्ञास्यते—ह्रस्वान्ताद्विहिता या सम्बुद्धिरिति? एवमपि हे खट्वेत्यत्र न स्यात्। मा भूदनेन, आबन्तत्वात्पूर्वेण भविष्यति? एवमपि हे नदि, हे यवागु, हे कुमारीत्यत्र न स्यात्, न चात्र ङ्यन्तत्वाल्लोपो लभ्यते, दीर्घग्रहणात्। एवं तर्ह्युभयं विज्ञास्यते—विहितविशेषणम्, परविशेषणं च; तेनाग्ने, कुमारीयादौ सर्वत्र भविष्यति? तत्र सकृच्छ्रुतस्य ह्रस्वग्रहणस्योभयविशेषणत्वमेव तावद् दुर्लभम्। अथापि लभ्यते? एवमपि हे कतरदित्यत्र यद्यपि टिलोपे कृते सम्बुद्धेर्ह्रस्वपरत्वाभावः, तथापि ह्रस्वान्ताद्विहिता सम्बुद्धिरिति स्यादेव लोपः। तस्मादेङ्ग्रहणं कर्तव्यम्।

वयं तु ब्रूमः—ये स्वभावत एङन्तास्तदर्थमप्येङ्ग्रहणं कर्त्तव्यमिति। तद्यथा—हेशब्दमतिक्रान्तो ब्राह्मणोऽतिहेः, तस्य सम्बोधनं हे अतिहे; अनुकृतः पचतेशब्दो

न्यासः

सम्बुद्धेः सम्बद्धो भवतीत्यर्थः। एतेन सम्बुद्धेरित्यस्यावयवषष्ठ्यन्ततां दर्शयति। हे अग्ने, हे वायो इति। 'ह्रस्वस्य गुणः'। हे नदि, हे वध्विति। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्। हल्मात्रस्य मकारस्य लोप इति। हलित्यनुवृत्तेः।

हे कतरदित्यत्रैकादेशे कृते ह्रस्वात् सम्बुद्धेर्हल् भवतीति तस्य लोपः कस्मान्न भवति? इत्याह—हे कतरदित्यादि। 'अद्ड्डतरादिभ्यः' इत्यत्र द्विडकारनिर्देशाड् डिच्छब्द आदेशो भवतीति डित्वाट् टिलोपे ह्रस्वो नास्तीति न भवति लोपः।

एङ्ग्रहणं क्रियते सम्बुद्धिगुणबलीयस्त्वात् ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ७० ॥

'शि' इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति । या क्षेत्रा । या वना । यानि क्षेत्राणि । यानि वनानि ॥

पदमञ्जरी

येन तस्य सम्बोधनं हेऽतुक्तपचते; विहित ईरेप्रत्ययो येन स विहितेरेः पाणिनिः, तस्य सम्बोधनम्—हे विहितेरे इत्यादि । अत्र संग्रहश्लोकः—

सम्बुद्धिह्रस्वभेद्या यदि हि न च भवेन्नादिवन्नान्तवत्स्याद्,
दोषोऽसौ हल्निवृत्तावपि लुपि भवतोऽम् पूर्वरूपे परत्वात् ।
ह्रस्वान्ताल्लुब्विधिः स्याद्धल इति कतरड्डित्त्वतो नो हलो लुप्,
ह्रस्वश्रुत्या न शक्यः परविहितविधिर्नातिहेऽतोऽप्यकार्येऽङ् ॥

लोपनं लुप्, लोप इत्यर्थः ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ या क्षेत्रेति । शेर्लोपे कृते प्रत्ययलक्षणेन 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम्, 'सर्वनामस्थाने च' इति दीर्घः, नलोपः ।

अयं योगः शक्योऽवक्तुम्, कथम्? डादेशेन सिद्धत्वात् । कथमग्नेत्रीति? त्रि + इ इति स्थिते प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घत्वेनैव सिद्धम् । न सिद्धयति, नुमा व्यवहितत्वात्? छन्दसि नपुंसकस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः, मधोर्गृह्णातीत्येवमाद्यर्थं पुंवद्भावेनैव नुमो निवृत्तिः । एवमपि 'जसि च' इति गुणः प्राप्नोति, वक्ष्यत्येतत्—'जसादिषु छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः' इति । अपि च या क्षेत्रा, ता ता पिण्डानामिति त + इ इति स्थिते 'सुपां सुलुक्' इतीकारस्याकारे कृते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घत्वेन सिद्धम् ॥

न्यासः

अथैङ्ग्रहणं किमर्थम्, यावता हे अग्ने इत्यादावपि प्रागेव सम्बुद्धिगुणाद् ह्रस्वादित्येवं लोपेन भवितव्यम्? इत्यत आह—एङ्ग्रहणमित्यादि । नित्यत्वात् परत्वाच्च सम्बुद्धिगुणो बलीयानिति तेनैव तावत् भवितव्यम्, तत्र कृते ह्रस्वात् परः सम्बुद्धेर्हल् न सम्भवतीति लोपो न प्राप्नोति, अत एङ्ग्रहणं क्रियते । ननु च विहितविशेषणं विज्ञास्यते—ह्रस्वाद् विहितायाः सम्बुद्धेरिति? नैतदस्ति; एका हीयं पञ्चमी, तत्र यदि ह्रस्वाद् विहितविशेषणं विज्ञायते तदेङन्तादपि विज्ञायेत । तथा च—हे गौरित्यत्रापि स्यात् । तस्मादेङ्ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ 'जश्शसोः शिः' इति यः शिरादेशस्तस्यायं लोपो विधीयते । या क्षेत्रा, या वना इति । शेर्लोपे कृते प्रत्ययलक्षणेन 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम्, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घः, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपः ।

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ ७१ ॥

पिति कृति परतो ह्रस्वान्तस्य धातोः तुगागमो भवति । अग्निचित् । सोमसुत् । प्रकृत्य । प्रहृत्य । उपस्तुत्य ।

ह्रस्वस्येति किम् ? आलूय । ग्रामणीः । पितीति किम् ? कृतम् । हृतम् । कृतीति किम् ? पटुतरः । पटुतमः ।

ग्रामणि ब्राह्मणकुलमित्यत्र ह्रस्वस्य बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात् तुग्न भवति ॥

पदमञ्जरी

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ कृता धातुराक्षिप्यते, स च ह्रस्वेन विशेष्यते, तेन तदन्तविधिर्भवतीत्याह—*ह्रस्वान्तस्य धातोरिति* । *अग्निचित्, सोमसुदिति* । 'अग्नौ चेः', 'सोमे सुञः' इति क्विप् ।

ग्रामणिकुलमिति व्यस्तं चेन्नपुंसकह्रस्वत्वम्, षष्ठीसमासे तु 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति ह्रस्वः । अत्र नपुंसकह्रस्वत्वमर्थापेक्षत्वाद्बहिरङ्गम्; इतरदुत्तरपदापेक्षत्वात् ।

यदि पुनरयं तुट् परादिः क्रियते ? नैवं शक्यम्; इहाग्निचित्सोमसुत्, 'वेरपृक्तस्य' इति वलोपो न प्राप्नोति । इह च परितनोतीति क्विप्, 'क्वौ च गमादीनाम्' इत्यनुनासिकलोपः, 'नहिवृति' इत्यादिना दीर्घः—परीतत्, तुट आर्द्धधातुकभक्तत्वादिट्प्रसङ्गः । इह चावच्छधाद् 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वं प्रसज्येत । अथाभक्तः स्याद्, मधुच्छादयतीति 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न प्राप्नोति; तकारेण व्यवधानात् । न च तकार एवातिङ्; अपदत्वात् । तस्मात्पूर्वान्त एव कर्त्तव्यः । यद्येवम्, नपुंसकह्रस्वत्वमुपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च

न्यासः

वेति कर्त्तव्ये बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम् । तेन 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इत्युपपन्नं भवति ॥

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ कृतात्र प्रत्ययेन धातुरुपस्थाप्यते, ह्रस्वेन च स एव विशेष्यते, विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवतीत्यतो ह्रस्वान्तो धातुरागमी विज्ञायत इत्याह—ह्रस्वान्तस्य धातोरित्यादि । अग्निचिदिति । 'अग्नौ चेः' इति क्विप् । सोमसुदिति । 'सोमे सुञः' इत्युभयत्रोपपदसमासः । प्रकृत्येत्यादौ प्रादिसमासः । 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति ल्यप् ।

अथ ग्रामं नयतीति ग्रामणि ब्राह्मणकुलमित्यत्र नपुंसकह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वाश्रयस्तुक् कस्मान्न भवति ? इत्याह—ग्रामणि ब्राह्मणकुलमित्यादि । ह्रस्वत्वं हि नपुंसकार्थवृत्ति-

संहितायाम् ॥ ७२ ॥

अधिकारोऽयम् 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति यावत्। प्रागेतस्मात्सूत्रादित उत्तरं यद्वक्ष्यामः संहितायामित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति—'इको यणचि, दध्यत्र'।

संहितायामिति किम्? दधि अत्र। मधु अत्र॥

छे च ॥ ७३ ॥

'ह्रस्वस्य तुक्' इति वर्तते। छकारे परतः संहितायां विषये

पदमञ्जरी

न सिद्ध्यति। नपुंसकह्रस्वत्वम्—आराशङ्कुलिच्छत्रम्, धानाशङ्कुलिच्छत्रम्। उपसर्जनह्रस्वत्वम्—निष्कौशाम्बिच्छत्रम्; द्विगुस्वरः—पञ्चारत्निच्छत्रम्, तुकि कृतेऽनन्त्यत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति? न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्। बहिरङ्गस्तुक्—छकारसन्निपातापेक्षत्वात्, अन्तरङ्गा एते विधयः प्रागेव तत्सन्निधानाद्भविष्यन्ति॥

संहितायाम् ॥ 'संहितायाम्' इति विषयसप्तमीयम्। कार्यिनिमित्तयोः संहितायां विषयभूतायां वक्ष्यमाणं कार्यं भवतीत्यर्थः। वक्ष्यति—'इको यणचि' इति, अनन्तरं तु विधिमतिक्रामतोऽभिप्रायो मृग्यः। *दधि अत्रेति*। ननु च 'इको यणचि' इत्यधिकरणसप्तम्येषा, तच्चाधिकरणमौपश्लेषिकादन्यद्वर्णेषु न सम्भवति, तत्राच्युपश्लिष्टस्येको विधीयमानो यण्वर्णान्तरव्यवाये कालव्यवाये च न भविष्यतीति नार्थः संहिताधिकारेण? ज्ञापनार्थं तु, एतज्ज्ञापयति—'कालव्यवायो निर्दिष्टपरिभाषायां नाश्रीयते' इति। तेनोत्तरपदाधिकारेऽपि विधीयमानं कार्यमलुगादि कालव्यवधानेऽपि भवत्येव—आखरेष्ठ इत्याखरे स्थः, अग्नाविष्णू इत्यग्ना विष्णू इत्यादि॥

छे च ॥ छकारेकार उच्चारणार्थः, 'विदिभिदिच्छिदेः', 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' इत्यादिनिर्देशात्। अधिकारे द्वौ पक्षौ—अर्थाधिकारः, शब्दाधिकार

न्यासः

प्रातिपदिकमपेक्षत इति बहिरङ्गम्, अन्तरङ्गस्तु तुग्; वर्णमात्रापेक्षत्वात्। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति तुग्नात्र भवति॥

संहितायाम् ॥ संहितायामिति विषयसप्तमीयम्। तेन यदि कार्यिनिमित्तयोः संहिता विषयभूता भवति, तह्येवं वक्ष्यमाणं कार्यं भवति; नान्यथेति वेदितव्यम्॥

छे च ॥ छ इति यद्यप्यकारवतश्छकारादेषा सप्तमी, तथापि छकार एव केवलस्तुको निमित्तम्, अकारस्तूच्चारणार्थः। एतच्च 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः'

ह्रस्वस्य तुगागमो भवति । इच्छति । गच्छति ।

ह्रस्व एवात्रागमी, न त्वदन्तः । तेन चिच्छिदतुः, चिच्छिदुरित्यत्र तुगभ्यासस्य ग्रहणेन न गृह्यत इति हलादिःशेषेण न निवर्त्यते । नावयवावयवः समुदायावयवो भवतीति ।।

पदमञ्जरी

इति । तत्राद्ये पक्षे पूर्वसूत्रे कृताक्षिप्तस्य धातोर्ह्रस्वेन विशेषणात्तदन्तं ह्रस्वशब्देन प्रत्यायितमिति इहापि तदन्तस्यैव ग्रहणं स्यात् । शब्दाधिकारे तु ह्रस्वशब्द एवात्रानुवर्त्तते, न पूर्वः प्रकृतोऽर्थः, न चेह किञ्चिद्विशेष्यमस्तीति तदन्तविध्यभावाद् ह्रस्व एवागमी भवति । तत्रेह द्वितीयः पक्ष आश्रित इत्याह—*ह्रस्व एवात्रागमीति* । किमेवं सति सिद्धं भवति ? तत्राह—*तेनेति* । यदि तु ह्रस्वान्तस्य तुक् स्यात्, तुकोऽभ्यासग्रहणेन ग्रहणाद्धलादिशेषेण निवृत्तिः स्यात् । ह्रस्वमात्रे त्वागमिनि नायमभ्यासस्यावयवो हलिति न भवत्येष प्रसङ्गः । कथं पुनर्ह्रस्व आगमिनि तुगभ्यासग्रहणेन न गृह्यत इत्यत आह—*नावयवावयव इति* । इतिकरणो हेतौ । यद्यवयवावयवस्समुदायावयवो न भवति, एवं तर्हि शेरत इत्यत्र

न्यासः

इत्याम्प्रतिषेधादवसीयते । यदि ह्यकारसहितश्छकारस्तुको निमित्तं स्यात्, तदा ऋच्छेस्तुगभावादसति गुरुमत्त्व आमः प्रसङ्गो नास्तीति प्रतिषेधं न कुर्यात् । **इच्छतीति** । 'इषुगमियमां छः' तुक्, चुत्वम् ।

पूर्वस्मिंस्तुग्विधौ ह्रस्वान्त आगमी, अतः स एवात्रागमीति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तां निराकर्तुमाह—**ह्रस्व एवेत्यादि** । एवं मन्यते—ह्रस्वानुकर्षणार्थश्चकारोऽत्र क्रियते—ह्रस्व एवागमी यथा स्यात्, तदन्तो मा भूदित्येवमर्थम्; अन्यथा स्वरितत्वादनन्तरत्वाच्च पूर्वसूत्रे य आगमी, स एवेहापि विज्ञास्यत इत्यनर्थकश्चकारः स्यात् । ह्रस्व एवागमिनि सति किमिष्टं सिध्यति, यतस्तदर्थोऽयं यत्नः क्रियते ? इत्याह—**तेनेत्यादि** । यदि ह्रस्वान्तस्य तुक् स्यात् तदा चिच्छिदतुरित्यादौ तस्याभ्यासग्रहणेन ग्रहणाद्धलादिशेषेण निवृत्तिः स्यात् । ह्रस्वे त्वागमिनि नायमभ्यासस्य हलिति न भवत्येव दोषः ।

कथं पुनर्ह्रस्व आगमिनि तुगभ्यासग्रहणेन न गृह्यते ? इत्याह—**नावयवावयव इत्यादि** । इतिकरणो हेतौ । यस्मादवयवस्य योऽवयवः स समुदायस्यावयवो न भवति । तस्मात् ह्रस्व एवागमिनि तुकोऽभ्यासग्रहणेन न ग्रहणं भवति । नावयवावयवः समुदायस्यावयवो भवतीत्यत्र चैतत् सूत्रविहितस्तुगित्यभिप्रायो वेदितव्यः । यदि ह्यविशेषेणावयवावयवः समुदायावयवो न स्यात्, एवं सति शेरते इत्यत्र रुडागमः सार्वधातुकस्यावयवस्य झादेशस्यातोऽवयव इति सोऽपि समुदायस्य सार्वधातुकस्यावयवो

आङ्माङोश्च ॥ ७४ ॥

'तुक्' इत्यनुवर्तते, 'छे' इति च। आङो ङित ईषदादिषु चतुर्ष्वर्थेषु वर्त्तमानस्य माङश्च प्रतिषेधवचनस्य छकारे परतस्तुगागमो भवति। 'पदान्ताद्वा' इति विकल्पे प्राप्ते नित्यं तुगागमो भवति। ईषदर्थे—ईषच्छाया। आच्छाया। क्रियायोगे—आच्छादयति।

पदमञ्जरी

रुडागमः सार्वधातुकावयवस्यादादेशस्यावयव इति सोऽपि सार्वधातुकस्य समुदायस्यावयवो न स्यात्। तत्र को दोषः? 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणो न स्यात्; रुटा व्यवधानात्। स ह्यवयवभक्तस्तमेव न व्यवदध्यात्, सार्वधातुकं तु व्यवदधात्येव। कुतश्चैष न्यायः—'अवयवावयवः समुदायावयवो न भवति' इति? लोके तावद्देवदत्तावयवस्य हस्तस्यावयवोऽङ्गुलिर्देवदत्तस्याप्यवयवो भवत्येव—साङ्गुलिर्देवदत्त इति। तस्मादयमत्राभिप्रायः—'छ आङ्माङोश्च' इत्येक एव योगः कर्त्तव्यः, चकारादनन्तरस्य प्राक्कृतस्य च; एवं सिद्धे यद्योगविभागं चकारं च करोति, तस्यैतत्प्रयोजनम्—प्रकृतस्य तदन्तस्य ग्रहणेन केवलं ह्रस्वमेवानुवर्त्तयिष्यामीति। यदि त्वागमस्तुक् समुदायस्यावयवः स्याद्, एष यत्नोऽनर्थकः स्यादिति॥

आङ्माङोश्च ॥ आङ्माङोर्ङिद्विशिष्टयोरुपादाने प्रयोजनमाह-*आङो ङित* इति। अर्थविशेषसम्पादनार्थं ङिद्विशिष्टयोरुपादानमित्यर्थः। *आच्छायाया* इति।

न्यासः

न स्यात्। ततः 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणो न स्यात्; रुटा सार्वधातुकस्य व्यवहितत्वात् स ह्यवयव उक्तस्तमेव व्यवदध्यात्, स समुदायं तु न व्यवदधात्येव। तस्मात् पूर्वोक्त एवाभिप्रायो वृत्तिकारस्य वेदितव्यः।

कस्मात् पुनरेतत् सूत्रविहितोऽवयवावयवः समुदायस्यावयवो न भवति? ह्रस्वानुकर्षणार्थचकारकरणसामर्थ्यात्। स हि चकारो ह्रस्वानुकर्षणार्थ एवमर्थः क्रियते—ह्रस्वमात्र आगमिनि तुकोऽभ्यासग्रहणेनाग्रहणाद्धलादिशेषेण निवृत्तिर्मा भूदिति। यदि चैतत्सूत्रविहितोऽप्यवयवावयवः समुदायावयवः स्यात्, तदा ह्रस्वेऽप्यागमिनि तुकस्तु तदवयवस्याप्यभ्यासग्रहणेन ग्रहणाद्धलादिशेषेण निवृत्त्या भवितव्यमिति चकारो ह्रस्वानुकर्षणार्थो निष्फलः स्यात्। तस्मादयमेव तुगवयवावयवः समुदायावयवो न भवति, अन्यस्तु भवत्येव। युक्तश्चैतत्। तथा हि—बाहोर्योऽवयवो हस्तः स देवदत्तस्याप्यवयवो भवत्येव; अन्यथा हस्तवान् देवदत्त इति प्रयोगो न स्यात्॥

आङ्माङोश्च ॥ अत्राकारो ङिदुपात्तः, स चेषदादावर्थे वर्त्तत इत्याह—**आङित्यादि**। माशब्दोऽपि ङिदुपात्तः, सोऽपि निषेधे वर्त्तत इत्याह—**माङश्च प्रतिषेधवचनस्येति**। **आच्छादयतीत्यादि**। 'छद अपवारणे' चौरादिकः। अत्र च्छादनक्रियाङ्ग

मर्यादाभिविध्योः—आच्छायायाः। आच्छायम्। माङः खल्वपि—माच्छैत्सीत्। माच्छिदत्।

ङिद्विशिष्टग्रहणं किम्? आछाया, आच्छाया। प्रमाछन्दः, प्रमाच्छन्दः॥

दीर्घात्॥ ७५॥

'छे तुक्' इति वर्त्तते। दीर्घात्परो यश्छकारस्तस्मिन्पूर्वस्य तस्यैव

पदमञ्जरी

'आङ् मर्यादावचने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। *आच्छायमिति*। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। *माच्छिददिति*। 'इरितो वा' इत्यङ्।

आछाया, आच्छायेति। स्मरणे चात्राकारः, 'वाक्यस्मरणयोरङित्'। *प्रमेति*। प्रपूर्वान्माङः 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्, अत्र धातोर्ङित्त्वेऽपि टाबन्तो न ङित्, 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति लाक्षणिकस्याप्यस्य ग्रहणस्य प्रसङ्गः। अत्रोभयत्रापि 'पदान्ताद्वा' इति विकल्प एव भवति॥

दीर्घात्॥ 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्', अचरितार्था च पञ्चमी, तेन दीर्घादिति पञ्चम्या छ इत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठ्यां प्रकल्पितायां छकारस्यैव तुका भवितव्यमिति भ्रान्तिमपाकारोति—*दीर्घात्परो य इत्यादि*। अनेन पञ्चम्या

न्यासः

विशिष्यत इति स क्रियायोगे वर्त्तते। **आच्छायाया इति**। मर्यादायामाङ्। छायाम्=मर्यादां परिवृत्येत्यर्थः। 'आङ् मर्यादावचने' इत्याङश्च कर्मप्रवचनीयसंज्ञकस्य योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी। **आच्छायमिति**। छायामभिव्याप्येत्यर्थः। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इति पञ्चम्यन्तेनाव्ययीभावः, 'नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः' इति विभक्तेर्लुगम्भावश्च। **मा च्छिददिति**। इरित्त्वाच्च्लेरङ्।

आछाया, आच्छायेति। अत्राकारः स्मरणे वर्त्तते, तत्र चास्य ङित्त्वं नास्ति; 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इति वचनात्। तेनात्र 'पदान्ताद्वा' इति विकल्पो भवति।

प्रमाछन्द इति। 'माङ् माने' प्रपूर्वः, 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्, स्त्रियाम् 'अजाद्यतष्टाप्'। ननु च लाक्षणिकत्वादेवात्र न भविष्यति? नैतदस्ति; 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति वचनात्।

दीर्घात्॥ 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति दीर्घादिति पञ्चम्याश्छे इत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठ्यां प्रकल्पितायाम् 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति च्छकारस्यैव तुक् प्राप्नोतीति कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तां निराकर्तुमाह—**दीर्घात् परो यश्छकार-**

दीर्घस्य तुगागमो भवति । ह्रीच्छति । म्लेच्छति । अपचाच्छायते । विचाच्छायते ॥

पदान्ताद्वा ॥ ७६ ॥

'दीर्घाच्छे तुक्' इति वर्त्तते । पदान्ताद्दीर्घात्परो यश्छकारस्तस्मिन्पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य पूर्वेण नित्यं प्राप्तो वा तुगागमो भवति । कुटीच्छाया । कुटीछाया । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया ।

❀ विश्वजनादीनां छन्दसि वा तुगागमो भवतीति वक्तव्यम् ❀ । विश्वजनच्छत्रम् । विश्वजनछत्रम् । नच्छायां कुरवोपराम् । नछायां कुरवोपराम् ॥

पदमञ्जरी

अन्वयो दर्शितः, प्रक्रमाभेदाय तु छकारस्य निमित्तत्वम्, दीर्घस्य च कार्यित्वं दर्शयति । *तस्मिन्पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्येति* । अत्र च लिङ्गम्—'शाच्छा', 'विभाषासेनासुराच्छाया' इत्यादि निर्देशः, अवध्यवधिमद्भावस्य विवक्षितत्वादधिकरणभावस्य च विवक्षितत्वात् 'तस्मिन्पूर्वस्य' इति सप्तमी कृता । *ह्रीच्छतीति* । 'ह्रीच्छ लज्जायाम्' । *म्लेच्छतीति* । 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' । *अपचाच्छायत इति* । 'छो छेदने', यङ्, 'दीर्घोऽकितः' ॥

पदान्ताद्वा ॥ प्रकृतेन दीर्घेण पदविशेषणादेव तदन्तविधौ सिद्धेऽन्तग्रहणम्—पदान्तविधिरयं तुग् यथा स्यात्, पदविधिर्मा भूदिति । तेन समर्थपरिभाषानुपस्थानात्—तिष्ठतु कुमारीच्छत्रं हर देवदत्तस्येत्यत्रापि विकल्पो भवति ॥

न्यासः

स्तस्मिन् परतः पूर्वस्येत्यादि । एवं मन्यते—'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यत्र तस्मादिति योगविभागः कर्त्तव्यः, 'पूर्वस्य' इति पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते, तेन दीर्घादित्यादौ सत्यपि पञ्चमीनिर्देशे पूर्वस्यैव कार्यं भवति, नोत्तरस्य । न चातिप्रसङ्गः; योगविभागादिष्टसिद्धेरिति । **ह्रीच्छतीति** । 'ह्रीच्छ लज्जायाम्' । **म्लेच्छतीति** । 'म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि' । **अपचाच्छायत इति** । 'छो छेदने', 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वम्, यङ्, 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासस्य दीर्घः ॥

पदान्ताद्वा ॥ **कुटीछायेति** । षष्ठीसमासः, असमासो वा ।

विश्वजनादीनामित्यादि । 'विश्वजन' इत्येवमादीनां छन्दसि विषये विकल्पेन तुग्भवतीत्येतदर्थंरूपं व्याख्येयमित्यर्थः । तत्रेदं व्याख्यानम्—'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति प्राक् प्रतिपादितमेतत् । तेन विश्वजनादीनां छन्दसि वा तुग् भवतीति ॥

इको यणचि ॥ ७७ ॥

अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यत्र । मध्वत्र । कर्त्रर्थम् । हर्त्रर्थम् । लाकृतिः ।

❀ इकः प्लुतपूर्वस्य सवर्णदीर्घबाधनार्थं यणादेशो वक्तव्यः ❀ । भो३ इ इन्द्रम् । भो३ यिन्द्रम् ।

पदमञ्जरी

इको यणचि ॥ *इको यणादेशो भवतीति* । इकां यणां च साम्याद्यथासंख्यं भवति, आन्तर्यतो वा व्यवस्था । इक इति किम् ? व्यञ्जनस्य मा भूत्—वागत्र । कुत्वजश्त्वयोरसिद्धत्वाच्चकारस्य यकारः प्राप्नोति । यत्र च कुत्वादेरप्रसङ्गोऽपदान्ते पचतीति, तत्रापि प्रसङ्गः ? नैष दोषः; 'दीर्घात्' इति वर्त्तते, तच्च तत्रैव पञ्चमीनिर्देशेऽपि स्थानिभूतमिहापि तथैवानुवर्तते । यदि दीर्घस्य यण् भवति, कथं दध्यत्र मध्वत्रेति, 'ह्रस्वस्य' इत्येतदप्यनुवर्त्तते, तदेवं ह्रस्वदीर्घयोर्यणिविधानान्न व्यञ्जनस्य प्रसङ्गः ? प्लुतस्य च प्रकृतिभावेन भवितव्यम्, चयनम्, चायक इत्यादावेचामयादयोऽपवादाः, नाप्राप्ते तस्मिंस्तदारम्भात् ? देवेन्द्रः, खट्वौदनमित्यादौ गुणवृद्धी बाधिके भविष्यतः, यथा—सत्यपीग्ग्रहणे दधीन्द्रादौ सवर्णदीर्घत्वम्, अतो नार्थ इग्ग्रहणेन ? इदं तर्हि प्रयोजनम्—इको यणेवाचि यथा स्याद्, यद्यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किञ्चान्यत् प्राप्नोति ? शाकलम् । न च तस्याप्यत्यन्तबाधः; आरम्भसामर्थ्यात् । एवं सति सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेध इति यत्पूर्वाचार्यैः स्मर्यते तदनेनेग्ग्रहणेन सम्पाद्यते ।

इकः *प्लुतपूर्वस्येति* । प्लुतः पूर्वो यस्मात्स तथोक्तः, प्लुतात्परस्येत्यर्थः । *भो ३ इ इन्द्रेति* । भो + इ + इन्द्र इति स्थिते भोशब्दस्य गीतिवशात् प्लुतः, इकारः स्वरादिपाठान्निपातः प्रगृह्यसंज्ञकः, तस्य प्रकृतिभावे प्राप्ते यण्विधीयते, सवर्णदीर्घबाधनार्थमित्येतत्त्वाद्यप्राप्त्यभिप्रायेणोक्तम् । *प्लुतपूर्वस्येति* । प्लुतग्रहणमपि मात्रिकद्विमात्रिकव्यतिरिक्ताचपरिग्रहार्थम्, तेन चतुर्मात्रादावपि भवति,

न्यासः

इको यणचि ॥ **इको यणादेशो भवतीति** । इकां यणाञ्च साम्यात् यथासंख्यं भवतीति वेदितव्यम् । यश्च सवर्णोऽच् तत्र दीर्घविधानसामर्थ्यादसवर्णेऽचि यणादेशो विज्ञायत इति । इक इति किम् ? वागत्रेत्यत्र कुत्वादेव सिद्धत्वाद् यणादेशो मा भूदिति । अचीति किम् ? दधि करोति ।

प्लुतपूर्वस्येति । प्लुतः पूर्वो यस्मात् स प्लुतपूर्वः । वक्तव्यः=व्याख्येयः । तत्रेदं व्याख्यानम्—'इको यणचि' इत्यत्र तन्त्रेण द्वौ योगावुच्चारितौ; तत्रैको यणादेशार्थः, अपरस्त्विकः प्लुतपूर्वस्य सवर्णदीर्घबाधनार्थो भविष्यतीति । भो यिदम्—भो + इ +

अचीति चायमधिकारः 'सम्प्रसारणाच्च' इति यावत् ॥

एचोऽयवायावः ॥ ७८ ॥

एचः स्थानेऽचि परतोऽय्, अव्, आय्, आव्—इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कयेते । ययेते । वायावरुणद्धि ॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥ ७९ ॥

योऽयमेचः स्थाने वान्तादेशः—ओकारस्य अव्, औकारस्याव्, स

पदमञ्जरी

तथा च छन्दोगा गायन्ति, सामन्येत्र चायमिष्यते, भोयिन्द्रं गायतीत्येतदपि सामगस्यानुकरणम् । एवं तावद्भाष्ये स्थितम्, वृत्तावप्येवमेव द्रष्टव्यम् ॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥ कस्य पुनरयं वान्तादेशः ? एच इति वर्त्तते । यद्येवमेदैतोरपि प्राप्नोति—चेयम्, जेयम् , रैयतीति ? एवं तर्हि वान्तग्रहणं न करिष्यते, 'एचोऽयवायावः' इत्येव । इहापि तर्ह्ययादेशः प्राप्नोति—चेयम् , जेयमिति ? 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे', 'क्रय्यस्तदर्थे' इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति—एचौ यदि भवति क्षिज्योरेवेति । एवमपि रैयतीत्यत्रायादेशः प्राप्नोति ? रैशब्दश्छान्दसः, 'दृष्टानुविधिश्छन्दसि' । भाषायां तु रैशब्दप्रयोगो भाष्यविरोधादसाधुः । यद्वैवं नियम आश्रयिष्यते—अनौष्ठ्यस्य यदि भवति क्षिज्योरेवेति; ततः 'शक्यार्थे' इति द्वितीयो योगः, क्षिज्योरपि शक्यार्थ एवेति ? सिध्यति; सूत्रस्य तु को निर्वाहः ? उच्यते; वान्तशब्दोऽयं सन्निहिते वान्ते वर्त्तते, न यत्र कुत्रचित्; सन्निहितश्चौदौत्स्थानिकः पूर्वत्र, यथासंख्यसम्बन्धात् । तत्र यथा यः कश्चन

न्यासः

इदमिति स्थिते 'गुरोरनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' इत्यनेन दूराद्धूतेऽर्थे भोशब्दस्य प्लुतः कृतः, ततः सवर्णदीर्घत्वे प्राप्ते यणादेशः ॥

एचोऽयवायावः ॥ कयेते, ययेत इति । के+एते, ये + एत इति स्थितेऽयादेशः । वायाववरुणद्धीति । वायौ+अवरुणद्धीति स्थित आवादेशः ॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥ यीति वर्णग्रहणम् , तेन 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति यकारादौ प्रत्यये कार्यं विज्ञायत इत्यत आह—**यकारादौ प्रत्यय इति** । यद्यपीह स्थानी न निर्दिष्टः, तथाप्यवादेश ओकारस्य स्थाने, आवादेशोऽप्यौकारस्य स्थाने भवतीति वेदितव्यम् । कथम् ? पूर्वयोगे हि यद्धर्मा वान्त आदेशो दृष्टः, इहापि तद्धर्मैवानुवर्त्तते । कश्च पूर्वयोगे तद्धर्मा दृष्टः ? अवादेशस्यौकारस्य स्थानित्वम् । आवादेशस्याप्यौकारस्य स्थानित्वम् ; अत इहापि स्वधर्ममजहतोऽनुवृत्तस्य वान्ता-

यकारादौ प्रत्यये परतो भवति। बाभ्रव्यः। माण्डव्यः। शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। नाव्यो ह्रदः।

वान्त इति किम्? रायमिच्छति रैयति। योति किम्? गोभ्याम्, नौभ्याम्। प्रत्यय इति किम्? गोयानम्, नौयानम्।

❀ गोर्यूतौ छन्दसि ❀। गोशब्दस्य यूतौ परतश्छन्दसि विषये वान्तादेशो वक्तव्यः। आनो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।

छन्दसीति किम्? गोयूतिः।

❀ अध्वपरिमाणे च ❀। गोर्यूतौ परतो वान्तादेशो वक्तव्यः। गव्यूतिमात्रमध्वानं गतः॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव॥ ८०॥

पदमञ्जरी

वान्तादेशो न भवति, तथान्यस्थानिको न भविष्यति; विशिष्टस्यैव सन्निधानात्। तदिदमुक्तम्—*योऽयमेचः स्थाने इति*। *बाभ्रव्य इति*। 'मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः' इति यञ्। मण्डुशब्दो गर्गादिः। शङ्कुपिचुशब्दाभ्याम् 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' इत्यत्रार्थे 'उगवादिभ्यो यत्'। नावा तार्यं नाव्यम्, 'नौवयोधर्म' इत्यादिना यत्।

अध्वपरिमाणे चेति। भाषार्थमिदम्। गव्यूतिः = क्रोशयुगम्॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव॥ *धातोरिति किमिति*। न तावदविशेषेण नियमप्रसङ्गः—

न्यासः

देशस्य पूर्वक एव स्थानी विज्ञायते। बाभ्रव्य इति। बभ्रुशब्दादपत्येऽर्थे 'मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः' इति यञ्, 'ओर्गुणः' इति गुणः। माण्डव्य इति। 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्। शङ्कव्यमिति। शङ्कुशब्दाद् 'तस्मै हितम्' इति 'उगवादिभ्यो यत्' इति यत्। नाव्य इति। नावा तार्यत इति 'नौवयोधर्मविष' इत्यादिना यत्।

रैयतीति। 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्। गोयानमिति। षष्ठीसमासः।

गोर्यूतौ छन्दसीत्यादि। वक्तव्यशब्दस्य व्याख्येय इत्येषोऽर्थो वेदितव्यः। तत्रेदं व्याख्यानम्—'वान्तो यि' इति योगविभागोऽत्र क्रियते, तेन गोशब्दस्य यूतौ परतश्छन्दसि विषयेऽवादेशो भवति।

अध्वपरिमाणे चेति। 'गोर्यूतौ' इति वर्त्तते। तत्रापि वक्तव्यशब्दस्य स एवार्थः। व्याख्यानमपि तदेव। इदञ्च सामान्येन वचनम्, तेन भाषायामप्यध्वपरिमाणे भवति॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव॥ पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्। तन्निमित्तस्येति।

'एचः' इति वर्त्तते। 'वान्तो यि प्रत्यये' इति च। धातोर्य एच् तन्निमित्तो यकारादिप्रत्ययनिमित्तस्तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति। लव्यम्। पव्यम्। अवश्यलाव्यम्। अवश्यपाव्यम्।

धातोरिति किम्? प्रातिपदिकस्य नियमो मा भूत्। तत्र को दोषः? बाभ्रव्य इत्यत्रैव स्यात्, इह न स्याद्—गव्यम्, नाव्यमिति।

तन्निमित्तस्येति किम्? अतन्निमित्तस्य मा भूत्—उपोयते।

पदमञ्जरी

यि प्रत्यये यदि भवति तन्निमित्तस्यैवेति; एवं हि 'वान्तो यि प्रत्यये तन्निमित्तस्य' इति विशिष्टविधिराश्रयणीयः, योगविभाग एवकारो नियम इति सर्वमेतदनर्थकमापद्येत। तस्मादसत्यपि धातुग्रहणे विशिष्टविषयो नियमो भविष्यतीति प्रश्नः। स तु विशिष्टो विषयः प्रातिपदकमपि सम्भाव्येतेत्युत्तरम्। *बाभ्रव्य इत्यत्रैव स्यादिति*। एचस्तन्निमित्तत्वात्। *अत्र न स्यादिति*। विपर्ययात्। *उपोयत इति*। वेञः कर्मणि लट, आत्मनेपदम्, यक्, यजादित्वात्संप्रसारणम्, 'अकृत्सा-

न्यासः

तच्छब्देन यकारादिप्रत्ययः प्रत्यवमृश्यते, स निमित्तं यस्य स तथोक्तः। **लव्यमिति**। 'अचो यत्' इति यत्, तमेव यकारमाश्रित्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्योकारो विधीयमानस्तन्निमित्तो भवति। **अवश्यलाव्यमिति**। 'ओरावश्यके' इति ण्यत्, मयूरव्यंसकादयश्च' इति समासः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इति मकारलोपः। अत्रापि ण्यतमाश्रित्य 'अचो ञ्णिति' इति विधीयमान औकारस्तन्निमित्तो भवतीति।

प्रातिपदिकस्य नियमो मा भूदिति। असति हि धातुग्रहणे प्रातिपदिकस्यापि नियमः स्यात्। ननु च प्रातिपदिकस्यापि नियम एतन्निमित्तस्यैव भवति, नातन्निमित्तस्येत्ययमर्थः स्यात्, तथा च—पूर्वसूत्रस्यारम्भोऽनर्थकः स्यात्, निर्विषयत्वात्? नैष दोषः; यो हि धातोरिति किमिति पृच्छति स पूर्वयोगस्यारम्भं पृथङ् नेच्छत्येव। स ह्येवं मन्यते—'वान्तो यि प्रत्यये' तन्निमित्तस्यैवेत्येको योगः कर्त्तव्य इति। तत्र को दोष इति प्रातिपदिकनियमे सति यदि कश्चिद् दोष आपद्येत ततस्तन्निवृत्तये क्रियमाणं धातुग्रहणं शोभत इत्यभिप्रायः। **बाभ्रव्य इत्यत्रैव स्यादिति**। एचस्तन्निमित्तत्वात्। **इह तु न स्यात्—गव्यम्, नाव्यमिति**। अतन्निमित्तत्वादेचः।

उपोयत इति। वेञ एच आत्वे कृत उपपूर्वाल्लट्, 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम्, 'सार्वधातुके यक्' इति यक्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम्, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः, उपाकारेण सह 'आद्गुणः'। **औयत इति**। तस्यैव धातोर्लङ्, पूर्ववदात्मनेपदादि, 'आडजादीनाम्' इत्याट्, 'आटश्च' इति वृद्धिः। अयमौकारः पूर्वक ओकारश्च

औयत । लौयमानिः । पौयमानिः । 'अत इञ्' ।

एवकारकरणं किम् ? धात्ववधारणं यथा स्यात्, तन्निमित्ताव-धारणं मा भूदिति तन्निमित्तस्य हि धातोश्चाधतोश्च भवति–बाभ्रव्यः, अवश्यलाव्यम्, लव्यम् ॥

पदमञ्जरी

र्वधातुकयोः' इति दीर्घः, 'आद्गुणः', तस्य परं प्रत्यादिवद्भावाद्धातुग्रहणेन ग्रह-णम् । *औयते इति* । कर्मण्येव लङ् । *लौयमानिरिति* । 'अत इञ्', आदिवृद्धिः । ननु चात्र गुणः पदद्वयापेक्षत्वाद्बहिरङ्गः, वृद्धिरपि बाह्यतद्धितापेक्षत्वाद्बहिरङ्गैव ? सत्यम्; औयतेत्यत्रैतदुभयं नास्ति, तदर्थमवश्यं योग आरब्धव्यः, आरब्धेनैव सिद्धत्वादुपोयते इत्यादिकं प्रत्युदाहृतम् ।

एवकारकरणं किमिति । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थत्वे हेतुः, न त्वेवकार-करणमपीति प्रश्नः । इष्टतोऽवधारणार्थं इत्युत्तरम् ॥

न्यासः

एतदुभयमप्यतन्निमित्तम्, एतस्य मा भूदित्येवमर्थं तन्निमित्तग्रहणम् । ननु चान्तरङ्गो यणादेशो वर्णमात्राश्रयत्वात्, बहिरङ्गस्त्वेकादेश उभयपदाश्रयत्वात्, ततश्च 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्यसिद्धत्वादेवात्र न भविष्यति ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—नेयमिह परिभाषोपतिष्ठत इति । तेनाक्षद्यूरित्यत्र बहिरङ्गोऽप्यूडादेशोऽन्तरङ्गे यणादेशे कर्त्तव्ये नासिद्धो भवति; अन्यथा यद्ययमर्थो न ज्ञाप्येत तदाचैर्दीव्यतीति क्विपि कृते 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूडादेशे कृते तस्यासिद्धत्वाद् यणादेशो न स्यात् । लौयमानि-रिति । लूयमानस्यापत्यमित्यर्थे 'अत इञ्' इतीञ्, 'तद्धितेष्वचामादेः' इति वृद्धिः, सा च तद्धितनिमित्ता, न तु यकारादिप्रत्ययनिमित्ता ।

सिद्धे हि विधिरारभ्यमाणः विनाप्येवकारकरणं नियमार्थो भविष्यतीत्यभि-प्रायेणाह—**एवकारः किमिति** । इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारकरणं क्रियत इति दर्शयन्नाह—**धात्ववधारणमित्यादि** । एवकारे तन्निमित्तशब्दानन्तरमुच्चार्यमाणे यत एवकारकरणं ततोऽन्यत्रावधारणार्थमिति धात्ववधारणं भवति । असति ह्येवकारकरणे धातोरेव तन्निमित्तस्येति तन्निमित्तावधारणमप्यनिष्टं विज्ञायेत । तस्माद् धात्ववधारणं यथा स्यात्, तन्निमित्तावधारणं मा भूदित्येवमर्थमेवकारकरणम् । किं पुनर्धात्ववधारणे सतीष्टं रूपं सिध्यति यतस्तदिष्यते ? इत्यत आह—**तन्निमित्तस्य हीत्यादि** । धात्वव-धारणे हि सति तन्निमित्तस्यानियतत्वादधातोश्च भवति–बाभ्रव्य इति, धातोश्च भवति–लव्यम्, अवश्यलाव्यमिति । यदि तन्निमित्तावधारणं कृतं स्यात् तदा धातोरेव तन्निमित्तस्येति । ततो बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात्, न हि बभ्रुशब्दो धातुः । तस्माद्धात्व-वधारणमितीष्यते ॥

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥ ८१ ॥

'क्षि' 'जि'–इत्येतयोर्धात्वोर्यति प्रत्यये परतः शक्यार्थे गम्यमाने एकारस्यायादेशो निपात्यते । शक्यः क्षेतुं क्षय्यः । शक्यो जेतुं जय्यः ।

शक्यार्थ इति किम् ? क्षेयं पापम् । जेयो वृषलः ॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥ ८२ ॥

पदमञ्जरी

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥ उदाहरणे शक्यार्थे कृत्यः, प्रत्युदाहरणे त्वावश्यके ॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥ क्रय्य इत्यत्र प्रत्ययार्थश्च कर्म विद्यते, कर्मणि कृत्यविधानात् प्रकृत्यर्थश्च द्रव्यविनिमयः, तत्र प्रत्ययार्थः प्रधानम्, प्रकृत्यर्थस्तूपसर्जनम्, तत्र यदि प्राधान्यात्तदित्यनेन प्रत्ययार्थः परामृश्येत, तदयुक्तम्; तथाहि यदि स एवार्थस्तदर्थ इति तत्पुरुष आश्रीयते ? तदावश्यमेव क्रय्यशब्दस्य तस्मिन्नर्थे वृत्तेर्नार्थस्तदर्थग्रहणेन । अथ सोऽर्थो यस्य तदर्थः शब्दस्तस्मिन्नभिधेय इत्यर्थः ? तदप्ययुक्तम्; शब्दस्य वृत्त्यसम्भवात् । अतो गुणीभूतोऽपि प्रकृत्यर्थ एव निर्दिश्यत

न्यासः

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥ 'क्षि', 'जि' इत्येतयोर्धात्वोरिति । क्षिग्रहणेन 'क्षि क्षये' 'क्षि निवासगत्योः' 'क्षिष् हिंसायाम्' इत्येतेषां ग्रहणम्, जिग्रहणे तु 'जि जये' इत्येतस्य । ननु च 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इत्यनया परिभाषया 'क्षिष् हिंसायाम्' इत्यस्य ग्रहणं न प्राप्नोति ? नैष दोषः; निपातनाद् भविष्यति । किं हि निपातनान्न लभ्यते ? यथैव हि ततोऽन्यदलाक्षणिकं कार्यं किञ्चिद् भविष्यति, तथेदमपि स्यात् । अर्थग्रहणं कर्मण्यपि यथा स्यात्; अन्यथा शकेरकर्मकत्वाद् भाव एव निपातनं विज्ञायेत–क्षय्यं देवदत्तेनेति । कर्मणि तु न स्यात्–क्षय्यो व्याधिरिति, न ह्यकर्मकेभ्यः कर्मणि कृत्यप्रत्यय उपपद्यते । अर्थग्रहणेन तु कृत्यार्थ उपलक्ष्यते । कृत्याश्च कर्मण्यपि विहिताः, तेन तत्रापि निपातनाद्विज्ञायते ॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥ क्रय्य इति । अत्र प्रत्ययार्थश्च कर्म विद्यते; कर्मणि कृत्यविधानात् । प्रकृत्यर्थश्च विनिमयः; क्रीणातेर्विनिमयार्थत्वात् । तत्र प्रत्ययार्थः प्रधानम्, 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः' इति कृत्वा । प्रकृत्यर्थस्तूपसर्जनम्, प्रत्ययार्थविशेषणमिति कृत्वा । तत्र यदि प्रधानत्वात् तदित्यनेन प्रत्ययार्थो निर्दिश्येत तदायमर्थः स्यात्–स क्रय्योऽर्थो यस्य शब्दस्य स तदर्थः, तस्मिन्नभिधेये क्रय्य इत्येष शब्दो निपात्यत इति ? अयुक्तश्चायम्; न ह्यत्र क्रय्यशब्दस्य क्रय्यार्थः कश्चिच्छब्दोऽभिधेयोऽस्ति, ततस्तस्याप्रतीतेः । अथैव विज्ञायेत—स एवार्थस्तदर्थ इति ? एवमपि तदर्थग्रहणमनर्थकम् । अवश्यमेव हि क्रय्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तस्तस्मिन् यत्प्रत्ययार्थे वर्त्तते । तस्मात् तच्छब्देन प्रधाननिर्देशे सति तदर्थग्रहणस्यानर्थक्यम् । अतो गुणभूतोऽपि प्रकृत्यर्थो निर्दिश्यत

क्रीणातेर्धातोस्तदर्थे क्रयार्थं यत्तस्मिन्नभिधेये यति प्रत्यये परतोऽयादेशो निपात्यते। क्रय्यो गौः। क्रय्यः कम्बलः। क्रयार्थं यः प्रसारितः स उच्यते।

तदर्थ इति किम्? क्रेयं नो धान्यम्, न चास्ति क्रय्यम्॥

भय्यप्रवय्ये चच्छन्दसि॥ ८३॥

बिभेतेर्धातोः प्रपूर्वस्य च 'वी' इत्येतस्य यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते। भय्यं किलासीत्। वत्सतरी प्रवय्या। भय्येति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यपादाने यत्प्रत्ययः। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। 'प्रवय्या' इति स्त्रियामेव निपातनम्। अन्यत्र प्रवेयमित्येव भवति।

छन्दसीति किम्? भेयम्। प्रवेयम्।

* ह्रदय्या आप उपसंख्यानम् *। ह्रदय्या आपः। ह्रदे भवा—'भवे छन्दसि' इति यत्प्रत्ययः॥

पदमञ्जरी

इति दर्शयति—*तदर्थे क्रयार्थं यत्तस्मिन्नभिधेय इति*। *क्रयार्थं यः प्रसारित इति*। क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्याऽऽपणे यद्व्यवस्थापितमित्यर्थः। *क्रेयमिति*। मूल्येनोपादेयमित्यर्थः।

न चेहास्ति क्रय्यमिति। आपणे विक्रयाय प्रसारितं धान्यं नास्तीत्यर्थः। केचित्तु क्रय्यशब्दं क्रीणातिर्विक्रये वर्त्तत इत्याहुः। तेनापणे विक्रयाय प्रसारितं द्रव्यम् 'क्रय्यम्' इत्युच्यते॥

भय्यप्रवय्ये चच्छन्दसि॥ वीत्येतस्येति। 'वी गत्यादिषु', 'अजेर्व्यघञपोः' इति वा।

ह्रदय्या इति। आकारस्यायादेशः॥

न्यासः

इति मत्वाऽऽह—तदर्थे क्रयार्थं यत् तस्मिन्नभिधेय इति। तस्मै इदं तदर्थम्। क्रयार्थमित्यनेन क्रीणात्यर्थस्तच्छब्देन निर्दिश्यत इति दर्शयति। क्रयणं क्रयः, विनिमय इत्यर्थः। क्रयार्थमित्यत्रापि चतुर्थीसमास एव—क्रयाय इदं क्रयार्थम्। क्रयार्थं यः प्रसारित इति। विनिमयार्थं य उपन्यस्त इत्यर्थः।

क्रेयं नो धान्यमिति। क्रेतव्यम्=ग्रहीतव्यम्, स्वीकर्त्तव्यमित्यर्थः। न चास्ति क्रय्यमिति। न चात्र क्रयार्थमुपन्यस्तं धान्यमस्तीत्यर्थः॥

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि॥ वी इत्येतस्येति। गतिप्रजनादिषु यो वी पठ्यते तस्य, 'अजेर्व्यघञपोः' इत्यजेर्यो वी आदेशस्तस्य वा।

ह्रदय्या आप उपसंख्यानमिति। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। ह्रदय्या

एकः पूर्वपरयोः ॥ ८४ ॥

अधिकारोऽयम्। 'ख्यत्यात्परस्य' इति प्रागेतस्मात्सूत्रादित उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने एकादेशो भवतीत्येतद् वेदितव्यम्। वक्ष्यति—'आद्गुणः' इति। तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच्च परस्य स्थाने एको गुणो भवति—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः।

पूर्वपरग्रहणं द्वयोरपि युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम्। एकस्यैव हि स्यात्, नोभे सप्तमीपञ्चम्यौ युगपत्प्रकल्पिके भवत इति।

पदमञ्जरी

एकः पूर्वपरयोः ॥ वक्ष्यमाणप्रकरणे पौर्वापर्येणावस्थितौ निर्दिश्येते—आदचि, आदेचीत्यादि, तयोः पूर्वपरयोः स्थाने वक्ष्यमाणो गुणादिरेकादेशो भवतीति सूत्रार्थः।

अथ पूर्वपरयोरिति किमर्थम्? स्थानिनिर्देशार्थम्, असति हि तस्मिन् 'आद्गुणः' इत्यादौ स्थानिनिर्देशाभावात् कस्य गुणादिरादेशः स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्, आदित्यादिका पञ्चमी अचीत्यादिकायाः सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति, सा च तस्यास्तेन तयोरेव पूर्वपरयोर्गुणो भविष्यतीति नार्थ एतेन? तदाह—*पूर्वपरग्रहणमित्यादि*। *द्वयोरादेशप्रतिपत्त्यर्थमिति*। युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थमित्यर्थः। असति तु तस्मिन्कस्य स्यात्? इत्यत आह—*एकस्यैव स्यादिति*। ननु द्वयोरपि षष्ठीप्रक्लृप्तिरुक्ता? तत्राह—*नोभे सप्तमीपञ्चम्याविति*। नोभे प्रकल्पिके भवतः, युगपन्न प्रकल्पिके भवत इत्यर्थः। इतिकरणो हेतौ। तत्र 'आद्गुणः' इत्यत्राचीत्येषा सप्तमी यणादिविधौ चरितार्था; आदित्येषा तु

न्यासः

इत्यस्य प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—चकारोऽत्र क्रियते, स चानुक्तसमुच्चयार्थः, तेन हृदय्या इत्यपि भविष्यतीति॥

एकः पूर्वपरयोः ॥ अथ पूर्वपरग्रहणं किमर्थम्, यावता 'आद्गुणः' इत्यादावादित्येषा पञ्चमी अचीत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यतीति; 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति वचनात्। तथाचीत्येषा सप्तम्यादित्यस्याः पञ्चम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति; 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति वचनात्। तत्रान्तरेणापि पूर्वपरग्रहणं पूर्वपरयोर्द्वयोरपि भविष्यति? इत्याह—**पूर्वपरग्रहणमित्यादि**। किं पुनः कारणमसति पूर्वपरग्रहणे द्वयोरपि युगपदादेशो न सिध्यति? इत्यत आह—**एकस्यैव हीत्यादि**। एवं मन्यते—अचीत्येषा सप्तमी यणादेशादिविधौ चरितार्था; आदित्येषा तु पञ्चमी न क्वचिच्चरितार्था, अतः सा सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयेत्। तत्रासति पूर्वपरग्रहणेऽच एव स्थाने गुणः स्यात्। 'वृद्धिरेचि' इत्यत्र च गुणविधावादिति पञ्चमी कृतार्थेति तस्या एचीति

एकग्रहणं पृथगादेशनिवृत्त्यर्थम्, स्थानिभेदाद्धि भिन्नादिषु नत्ववद् द्वावादेशौ स्याताम् ॥

पदमञ्जरी

पञ्चमी न क्वचिच्चरितार्था, ततश्च सैव सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति इत्यच एव स्थाने गुणः स्याद् । 'वृद्धिरेचि' इत्यत्र तु गुणविधौ पञ्चमी कृतार्थेति तस्याः 'एचि' इति सप्तम्यकृतार्था षष्ठीं प्रकल्पयेदित्यवर्णस्यैव वृद्धिः स्यात् । 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यादौ द्वयोरप्यकृतार्थत्वेऽपि पर्यायेण परस्परषष्ठी-प्रक्लृप्तिः स्यात्, न युगपत्कार्यित्वं निमित्तत्वं च; द्वयोर्युगपद्विरोधात्, ततश्च कार्यमपि पर्यायेण स्यात् । तस्मात्पूर्वपरयोरिति वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्; एक-ग्रहणसामर्थ्याद् । 'अन्तादिवच्च' इति वचनाच्च पूर्वपरयोर्द्वयोरेवादेशो भविष्यति, नान्यतरस्य ? सत्यम्; सुखप्रतिपत्त्यर्थं तु पूर्वपरयोरित्युक्तम्; अन्यथा युगपत् षष्ठीप्रकल्पनद्वारेण विवक्षितप्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

अथ किमर्थमेकग्रहणम्, प्रथमनिर्दिष्टमतिक्रम्य चरमनिर्दिष्टस्य 'पूर्वपरयोः' इत्यस्य प्राक् प्रयोजनमुक्तम्; पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात् । कथम् ?

न्यासः

सप्तम्यकृतार्था षष्ठीत्वं प्रकल्पयेत् । एवञ्च वृद्धिरवर्णस्यैव प्रसज्येत । 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यत्र द्वयोरपि पञ्चमीसप्तम्योरकृतार्थत्वात् पर्यायेण परस्परं षष्ठीप्रकल्पनेति पर्यायेणैव वृद्धिः स्यात् । यत् पुनः परस्याभिमतं पञ्चमी सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति, सप्तम्यपि पञ्चम्याः, ततोऽन्तरेणापि पूर्वपरग्रहणं द्वयोरप्यादेशो भविष्यतीति ? तन्निरासायाह—नोभे इत्यादि । निवृत्तिधर्मा हि स्थानी भवति, श्रूयमाणस्य च षष्ठीप्रकल्पनं प्रति निमित्त-भावः । कथं पूर्वपरौ निवर्त्तेयाताम् ? षष्ठीप्रकल्पनं च प्रति निमित्तभावमुपगच्छेताम् ? अत एवानिवृत्तेर्निमित्तभावस्य चासम्भवान्नोभे सप्तमीपञ्चम्यौ युगपत्प्रकल्पिके भवतः । तस्मादेकस्यैव स्यात्, नोभयोः ।

अथैकग्रहणं किमर्थम्, यावता 'भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इत्यत्र विनाप्येकग्रहणमेक एव सम्भवति, तथाप्यत्रैकग्रहणेन विनाप्येक एव भविष्य-तीत्याह—एकमित्यादि । रमागमेन हि मित्त्वात् 'मिदचोऽन्त्यात् परः' इत्यचो-ऽन्त्यात् परेण भवितव्यम् । न च द्वयोरमोर्भृज्जतावचोऽन्त्यात् परेण सम्भवोऽस्ति । ततो युक्तं तद्विनाप्येकग्रहणम् । एक एव रम् भवतीति गुणादिस्त्वादेशः । सम्भवति च स्थानिभेदे सत्येकैकस्य स्थानिनो गुणादिः पृथगादेशः । तत्रासत्येकग्रहणे पृथगादेशः स्यात् । तस्मात् पूर्वपरयोर्द्वयोः स्थानिनोः पृथगादेशो मा भूदित्येवमर्थमेक-ग्रहणम् । असति पुनरेकग्रहण आदेशश्च द्वयं प्राप्नोतीत्यमुमर्थं सोपपत्तिकं प्रतिपाद-यितुमाह—स्थानिभेदाद्धीत्यादि । यथा 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति स्थानिभेदाद्धेतोर्भिन्नं छिन्नमित्येवमादिषु द्वावेवादेशौ भवतः, तथा खट्वेन्द्र इत्येव-मादिष्वपि द्वावादेशौ स्याताम् ॥

पदमञ्जरी

सतः कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्, कार्यस्य च गुणादेर्विशेषणमेकग्रहणम्। ननु च 'आद्गुणः' इत्यादावेकस्यैवादेशस्य सूत्रे उपादानम्, संख्याया विवक्षितत्वादुपात्तसंख्यात्यागे कारणाभावात्, ततश्चैक एव गुणादिरादेशो भविष्यति। स्यादेतत्—आदेशस्य विधेयतया प्राधान्यात् प्रधाने च ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यादौ संख्याया अविवक्षितत्वादनेकादेशप्रसङ्ग इति? तदसत्; ग्रहं शेषितयोद्दिश्य सम्मार्गो हि विधीयते, शास्त्रान्तरे च विहितं शेषित्वमुपगच्छति, शास्त्रान्तरे च विज्ञाता ग्रहाः संख्यान्तरान्विताः, तत्रैकत्वविवक्षायां वाक्यभेदः प्रसज्येतेति कृत्वा ग्रहैकत्वमविवक्षितमुच्यते। नैवं गुणादिरादेश इत्येकत्वं विवक्षितम्; 'प्राजापत्या नव ग्रहाः' इति शास्त्रान्तरविहितनवग्रहोद्देशेन संस्कारः सम्मार्गो विधीयते, तत्र श्रुतमप्येकत्वं नोद्देश्यकोटौ निवेशयितुं शक्यते; तत्र संख्यान्तरान्विततया विहितत्वात्। ततश्च तद्विवक्षायां तदपि विधेयं स्यात्, ततश्च वाक्यभेदप्रसङ्गः। वचनव्यक्तिभेदाद्यो ग्रहस्तं सम्मार्ष्टि, तं चैकमिति। इह तु विधेयतया गुणादेः प्राधान्येऽपि विशिष्टविधिसम्भवाद् न वाक्यभेदप्रसङ्गः, अविवक्षाकारणाभावाद्विवक्षितमेकत्वं लोकवत्, तद्यथा—लोकेऽनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुर्विति, न चोच्यते एकमिति, एकमेव चासौ करोति। न चार्थप्रकरणादिना तत्रैकस्य करणम्, तदभावेऽपि दर्शनात्तस्मान्नार्थ एकग्रहणेन? तत्राह—*एकग्रहणं पृथगादेशनिवृत्त्यर्थमिति*। यथा पुनः पृथगादेशप्रसङ्गस्तथा दर्शयति—*स्थानिभेदादिति*। 'पूर्वपरयोः' इति निर्देशात्स्थानिभेदः प्रतीयते, ततश्च तद्वशादादेशेऽपि श्रुतमप्येकत्वमविवक्षितं स्यादित्यनेकादेशप्रसङ्ग इत्यर्थः। अवश्यं चैतदेवमभ्युपगन्तव्यमिति दृष्टान्तेन दर्शयति। *भिन्नादिषु नत्ववदिति*। यथा 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति नत्वमेकत्वाविवक्षया प्रतिस्थानि भवति, तद्वदत्रापीत्यर्थः।

भाष्ये त्वेकग्रहणं प्रत्याख्यातम्। न तावद् गुणभूतस्थान्यनुरोधेन प्रधानस्यादेशस्य भेदकल्पना युक्ता, प्रधानानुरोधी हि गुणो भवति, न पुनर्गुणानुरोधी प्रधानम्। यच्चोक्तम्—भिन्नादिषु नत्ववदिति, तत्र न खलु नत्वविधावेकत्वस्याविवक्षिततया द्वौ नकारौ भवतः, किं तर्हि? पूर्वस्य चेति चकाराद्वाक्यभेदोऽवगम्यते। तत्र पूर्वेण निष्ठातो नत्वम्, परेण धातुदकारस्य, इह च 'उभौ साभ्यासस्य' इति प्राणिणिषतीत्युपसर्गादनन्तरस्य नकारस्य 'अनितेः' इत्येव णत्वे सिद्धे साभ्यासस्येत्येतावतैव द्वयोर्नकारयोर्णत्वं सिद्धमिति स्थानिनिर्देशार्थमुभौग्रहणं न कर्त्तव्यम्—उभौ नकारौ णत्वमापद्येते इति। तस्मादादेशार्थमुभौग्रहणं विज्ञायते—साभ्यासस्यानितेर्यौ नकारौ द्वौ तयोरुभौ णौ भवत इति। तेनात्रापि नैकत्वस्याविवक्षितत्वाद् द्वयोर्द्वौ भवतः, किन्तूभौग्रहणादिति न कश्चिद्दोषः।

अन्तादिवच्च ॥ ८५ ॥

'एकः' इति वर्त्तते, 'पूर्वपरयोः' इति च। 'एकः पूर्वपरयोः'

पदमञ्जरी

इह श्रुतिस्मृतिविहितं कर्म किञ्चित्सकृदनुष्ठीयते, यथा–उपनयनम्, आधानम्, आचमनमिति; न ह्युपनीतः पुनरुपनीयते, नाप्यग्न्याहितः पुनरग्नीनाधत्ते, नाप्याचान्तः पुनराचामति। असति निमित्ते, किञ्चिदसकृद्यथा—ज्योतिष्टोमादयः। यथा–'पूर्ववया ब्राह्मणः प्रत्युत्थेयः' इति यो यो वृद्धवयास्तस्य तस्यागमनं प्रत्युत्थीयते। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'सुरा न पेया' इति प्रतिव्यक्तिनिषेधोऽनुष्ठीयते, न पुनरेकं ब्राह्मणमहत्वैकां च सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः। व्याकरणं च स्मृतिः, तदिह 'आद्गुणः' इत्यनया स्मृत्या 'गुणः कर्त्तव्यः' इति चोदिते यदि सकृदनुष्ठानं खट्वेन्द्र इत्येकस्यां व्यक्तौ गुणे कृते कृतः शास्त्रार्थ इति कृत्वा मालेन्द्र इत्यादिषु न क्रियेत, तस्मात्प्रत्युत्थानादिवदावर्त्तते। किं पुनरत्र निबन्धनम्—किञ्चित्सकृत्क्रियते, किञ्चित्पुनः पुनरिति? उपनयनं तावन्माणवकस्य संस्कारः, सकृच्चासौ संस्कृतोऽध्ययनादिषु योग्यो भवति, आधानमप्यग्निसंस्कारार्थम्, सम्पन्नेष्वग्निषु प्रयोजनाभावात्पुनर्न क्रियते, आचमनमपि शौचार्थमित्य सति निमित्ते पुनर्न क्रियते। ज्योतिष्टोमादयस्तु नित्याश्चेत्प्रत्यवायपरिहाराय वसन्ते क्रियन्ते; अथ काम्याः 'अमुष्मिन् लोक एनमप्सरसो जाया भूत्वोपशेरते इति ततस्तमभ्युदयम्', भूयोभूयः परीप्सुभिः पुनःपुनरनुष्ठीयन्ते। पूर्ववयोब्राह्मणप्रत्युत्थानाकरणे दोषः, करणे चाभ्युदयो दर्शितः—

> 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
> प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते'॥ इति।

तच्च प्रत्यागमनमविशिष्टम्, अतो दोषनिर्हाणाथ पुनःपुनरनुष्ठीयन्ते। नैमित्तिकत्वाद्वा प्रतिनिमित्तमावृत्तिः। तथा ब्राह्मणवधे च सुरापाने च दोष उक्तः, स ब्राह्मणमात्रे सुरामात्रे च भवति, ततो दोषवन्तो मा भूमेति सर्वत्रैवानुष्ठीयते। इह शब्दस्य ज्ञाने प्रयोगे चाभ्युदयो दर्शितः—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' इति। प्रत्यवायश्च याज्ञे कर्मण्यपशब्दप्रयोगे दर्शितः–'तेऽसुरा हेलयः' इति, 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य' इति च। अत एव तदपि गुणादिकं पुनःपुनरनुष्ठीयते। तदेवं नित्यत्वं नैमित्तिकत्वं काम्यत्वं भूयोभूयोऽनुष्ठाननिबन्धनम्। एतच्च सर्वशास्त्रसाधारणमपि वार्त्तिककारेण प्रोक्तं भाष्यकारेणोपपादितमित्यस्माभिरप्यत्रैव प्रत्यपादि॥

अन्तादिवच्च॥ अन्तादिशब्दयोरवयवविशेषवाचित्वादवयविशेषापेक्षायां पूर्व-

न्यासः

अन्तादिवच्च॥ अन्तादिवदित्युक्ते न ज्ञायते—कोऽस्यातिदेशस्यार्थ इत्यतस्तत्परि-

इति योऽयमेकादेशो विधीयते स पूर्वस्यान्तवद्भवति, परस्यादिवद्भवति। यथा तस्यान्त आदिर्वा तदन्तर्भूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते, तद्वदेकादेशोऽपि तद्ग्रहणेन गृह्यते—इत्येषोऽतिदेशस्यार्थः।

ब्रह्मबन्धूरित्यत्र ब्रह्मबन्ध्विति प्रातिपदिकम्, ऊङित्यप्रातिपदिकम्, तयोः प्रातिपदिकाप्रातिपदिकयोर्य एकादेशः स प्रातिपदिकस्यान्तवद् भवति। यथा शक्यते कर्त्तुम्—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति स्वादिविधिः।

पदमञ्जरी

परयोरित्यनुवृत्तेस्तस्य च वक्ष्यमाणगुणाद्यादेशविशेषणत्वादेकादेश इति लभ्यते, तदिदमुक्तम्–*एकः पूर्वपरयोरिति वर्त्तत इत्यादि*। कः पुनरत्रातिदेशार्थः, किं यावेकादेशस्य स्थानिनौ पूर्वपरौ तयोरन्तादिवद्भवति? किं वा–अकृत एकादेशे तमेवैकादेशमपेक्ष्य यौ पूर्वपरौ समुदायौ तयोरन्तादिवद्भवतीति? यदि वा–एकादेशस्य स्थानिनौ पूर्वपरौ वर्णौ, तयोः समुदाययोरन्तादी, तयोरेकादेशोऽप्यन्तादिवद्भवतीति? तत्राद्यपक्षस्तावन्न सम्भवति, एकादेशेन पूर्वपरयोस्तत्स्थानिनोर्निवर्त्तितत्वात्! कथमसतोः पूर्वपरयोरन्तादिवत्स्यात्! द्वितीये पक्षे वृक्षावित्यत्र वृक्ष+औ इति स्थिते सुबसुपोरेकादेशः सुबपेक्षस्य कस्यचित्परस्याभावात्परादिवन्न स्यात्?

अतस्तृतीयः पक्ष आश्रीयते। नन्वयमपि पक्षो न सम्भवत्येव। तथा हि—ब्रह्मबन्धूरित्यत्र ब्रह्मबन्धु+ऊ इति स्थिते पूर्वो वर्ण उकारो यस्यान्तो ब्रह्मबन्धुशब्दस्य स एकादेशे नास्त्येव, उकारस्य निवर्त्तितत्वात्; यश्चास्ति धकारान्तो न तस्यान्त एकादेशस्य स्थानी उकारः, अनारम्भकत्वात्? एवं तर्हि यद्व्यपदेशयुक्तस्य स्थानिनौ पूर्वपरावन्तादी तद्व्यपदेशयुक्तस्यैकादेशोऽप्यन्तादिवदित्यर्थः। एतदुक्तं भवति–एकादेशात्प्राक् पूर्वपरयोः पृथगवस्थितयोस्ताभ्यां सह यो व्यपदेशः पूर्वपरसमुदायविषयो दृष्टः–प्रातिपदिकमिति वा, सुबन्तमिति वा, स व्यपदेश एकादेशे कृतेऽपि भवतीति। तदिदमुक्तम्—*यथा तस्यान्त आदिर्वा तदन्तर्भूत इत्यादि*। तस्येत्यनेन एकादेशात्प्रागवस्थितः पूर्वः परश्च समुदायो निर्दिश्यते, अन्तादिशब्दाभ्यां च एकादेशस्य स्थानिनौ पूर्वपरौ। *तद्ग्रहणेन गृह्यत* इत्यनेनापि 'एतदुक्तं भवति' इत्यारभ्यानन्तरं यदुक्तमस्माभिस्तद्दर्शितम्। *एषोऽतिदेशार्थ इति*। अतिदिश्यत इत्यतिदेशः, अतिदेशश्चासावर्थश्चेत्यतिदेशार्थः, कर्मधारयोऽयमर्थोऽत्रातिदिश्यत इत्यर्थः।

न्यासः

ज्ञानायाह—यथेत्यादि। इत्येषोऽतिदेशस्यार्थ इति। इतिशब्दोऽतिक्रान्तप्रत्यवमर्शी—अतिदिश्यतेऽनेनेत्यतिदेशः, स पुनः 'अन्तादिवच्च' इत्येष एव योग इत्येषोऽनन्तरोक्तोऽस्यातिदेशस्यार्थ इत्यर्थः।

वृक्षावित्यत्र सुबौकारः असुबकारः, तयोः सुबसुपोरेकादेशः सुप आदिवद्भवति। यथा शक्यते वक्तुम्—सुबन्तं पदमिति।

वर्णाश्रयविधावयमन्तादिवद्भावो नेष्यते, तथा हि—खट्वाभिरित्यत्रान्तवद्भावाभावाद् 'अतो भिस ऐस्' इति न भवति। ह्वयतेः—जुहावेति सम्प्रसारणपूर्वत्वस्यादिवद्भावाभावाद् 'आत औ णलः' इति न भवति। अस्यै अश्वः, अस्या अश्व इति 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिः, 'एङः पदान्तादति' इत्यत्र विधावादिवन्न भवति।

पदमञ्जरी

वर्णाश्रयविधावित्यादि। वर्णस्वरूपमाश्रित्य यद्विधीयते न तदन्तादिवद्भावेनातिदिश्यत इत्यर्थः। तत्कथम्? नात्र ताद्रूप्यनिबन्धनं कार्यमतिदिश्यते, योऽयमन्त आदिर्वा प्रागेकादेशादवस्थितः पूर्वः परश्च तद्वदयमेकादेशो भवति। *तत्प्रयुक्तं कार्यं लभत इति*। एवं च तद्वच्चेत्येव वक्तव्यं स्यात, तच्छब्देन पूर्वापरौ परामृश्यते। एवं हि सिद्धेऽन्तादिवदिति वचनादन्तादित्वप्रयुक्तं कार्यमेकादेशस्य भवतु, पूर्वपरस्वरूपप्रयुक्तं तु कार्यं केन भवेत्! लिङ्गं चात्र भवति तुक्यसिद्धवचनम्; अन्यथा अधीत्येत्यादावेकादेशस्यादिवद्भावादेव तुकः सिद्धत्वादनर्थकं तत्स्यात। *खट्वाभिरिति*। तपरकरणं तु यत्रैकादेशो नास्ति तदर्थं स्यात्—शुभंयाभिरिति। *जुहावेति*। 'अभ्यस्तस्य च' इति ह्वयतेः सम्प्रसारणे कृते जुहु+आ इति यत्पूर्वरूपत्वमाकारस्य तन्नादिवद्भवति, योऽयमादिराकारस्तद्वन्न भवति, तेन 'आत औ णलः' इति न भवति। *अस्यै अश्व इति*। स्याटो विभक्त्येकारस्य योऽयं 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिरेकादेशः स परस्यादिवन्न भवति, तेन 'एङः पदान्तादति' इति न भवति। यत्र च युगपदुभयमाश्रीयते—अन्तश्चादिश्च, तत्राप्यन्तादिवद्भावो न भवति, यथा 'एतेलिंङि' इति ह्रस्वत्वमुपसर्गात्परस्येणो विधी-

न्यासः

वर्णाश्रयविधावयमन्तादिवद्भावो नेष्यत इति। कथमेतज्ज्ञायते? इत्याह—**तथा हीत्यादि**। 'अतो भिस ऐस्' इत्यकारवर्णाश्रयो विधिः, तत्र कर्त्तव्ये खट्वाभिरित्यत्र सवर्णदीर्घत्वं पूर्वस्यान्तवन्न भवति। 'आत औ णलः' इत्याकारवर्णाश्रयोऽयं विधिः। तत्र कर्त्तव्ये वर्णाश्रये जुहावेत्यत्र 'अभ्यस्तस्य च' इति ह्वयतेः सम्प्रसारणे कृते यत् पूर्वरूपत्वमाकारस्य तन्नादिवद्भवति। 'एङः पदान्तादति' इत्येष विधिरेङ्वर्णाश्रयः। तत्र कर्त्तव्ये—अस्यै अश्व इत्यत्र 'आटश्च' इति वृद्धिः परस्यादिवन्न भवति, तदभावादायादेशः, 'लोपः शाकल्यस्य' इति यकारलोपः, तत् किमेतद् वक्तव्यम्—वर्णाश्रये नान्तादिवदिति? न वक्तव्यम्! कथम्? अताद्रूप्यातिदेशात्। नेह ताद्रूप्यमतिदिश्यते, रूपाश्रयाश्चैते विधयः, तेनाताद्रूप्यान्न भविष्यन्ति।

पूर्वपरसमुदाय एकादेशस्य स्थानी, स हि तेन निवर्त्यते । तत्रावयवयोरानुमानिकं स्थानित्वमिति तदाश्रयं कार्यं स्थानिवद्भावादप्राप्तमित्यन्तादिवद्भावो विधीयते ॥

पदमञ्जरी

यमानम्—अभीयात्परीयादित्यादौ न भवति । यदि ह्ययमेकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवद् बुद्ध्या गृह्येत, स तदानीमेव कथं परं प्रत्यादिवत्स्यात्! एवं परं प्रत्यादिवत्त्वे तदानीमेव पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावोऽप्यनुपपन्नः; एकस्योभयापेक्षया युगपत्पारतन्त्र्यस्य विरोधात् ।

पूर्वापरेति । यो येन निवर्त्यते स तस्य स्थानी, यथा—भुवोऽस्तिः । समुदायश्चात्र निवर्त्यते, ततश्च तत्प्रयुक्तमेव कार्यं स्थानिवद्भावात्स्याद् यदि किञ्चिदस्ति, न तु प्रत्येकं पूर्वपरयुक्तम् । स्यादेतद्—अवयवयोरपि निवर्त्यमानत्वात्तयोरपि स्थानित्वम्? इत्यत आह—*तत्रेति* । इतिकरणद्वयमपि हेतौ । तत्र समुदाये स्थानिन्यवयवयोर्यत्स्थानित्वं तदानुमानिकमवयवनिवृत्तिमन्तरेणावयविनो निवर्त्तयितुमशक्यत्वादवयवयोर्निवृत्तिः, न त्वादिष्टत्वादित्यर्थः । ततश्च तदाश्रयं कार्यं स्थानिवद्भावान्न प्राप्नोति; साक्षाच्छ्रुतस्यैव च स्थानिनस्तत्राश्रयणात् । इष्यते च तदर्थमन्तादिवद्भावो विधीयते । ननु विपरीतमिदम्—अवयवयोरानुमानिकं स्थानित्वमिति? 'पूर्वपरयोः' इति द्विर्वचननिर्देशात् तयोरेव स्थानित्वं श्रुतं न समुदायस्य शब्दोऽस्ति, द्वयोस्तु निवर्तमानयोरर्थात्समुदायो निवर्तत इत्येतावत् । तथा च पूर्वसूत्रे 'स्थानिभेदाद्भिन्नादिषु नत्ववत्' इत्युक्तम् । तच्चान्यत्रापि उक्तम्—यो ह्युभयस्थाने भवति लभते सोऽन्यतरव्यपदेशम्, तेन खट्वर्श्य इत्यत्र रपरत्वं भवत्यृकारस्यापि स्थानित्वादिति । भवतु वा स्थानित्वमवयवयोरानुमानिकम्, तथापि सिद्धः स्थानिवद्भावः, कथम्? 'स्थानिवदादेशः' इत्यत्र स्थानिशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादेवादेशपरिग्रहे सिद्धे आदेशग्रहणमानुमानिकस्याप्यादेशस्य स्थानिवद्भावार्थम्, ततश्च स्थान्यप्यानुमानिक आश्रितः,

न्यासः

किमर्थं पुनरयमन्तादिवद्भावो विधीयते, यावता पूर्वपरावुक्तावेकादेशस्य स्थानिनौ, अत्र स्थानिवद्भावादेव तदाश्रयं कार्यं भविष्यति? इत्यत आह—**पूर्वपरसमुदाय एकादेशस्य स्थानीति** । कथं ज्ञायते? इत्याह—**स हीत्यादि** । येन हि यो निवर्त्त्यत आदेशेन स तस्य स्थानीति, तद् यथा—'अस्तेर्भूः' इति । अत्र भुवोऽस्तिः, समुदायश्चैहैकादेशेन निर्वर्त्त्यत इति स एव तस्य स्थानी, न पूर्वपरौ समुदायिनौ । स्यादेतत्—अवयवस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् समुदाय आदेशेन निवर्त्त्यमानेऽवयवावपि निवर्त्त्येते, तस्मात् तयोरपि स्थानित्वम्? इत्यत आह—**तत्रेत्यादि** । इतिकरणौ द्वावपि हेतौ । तत्र समुदाये स्थानिन्यवयवयोर्यत् स्थानित्वं तदानुमानिकम्, समुदाय एका-

षत्वतुकोरसिद्धः ॥ ८६ ॥

षत्वे तुकि च कर्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति। सिद्धकार्यं न

पदमञ्जरी

यथा 'एरुः', पचत्वित्यत्र। अत्र हि इकारेणेकारान्तः स्थान्यनुमीयते, उकारेणाप्युकारान्त आदेशः, तस्य स्थानिवद्भावात् 'तिङन्तं पदम्' इति पदसंज्ञा भवति। एवमप्यत्रावयवयोरानुमानिके स्थानित्वे सिद्धः स्थानिवद्भावः? एवं तर्ह्यनल्विधौ स्थानिवद्भाव उक्तः अल्विध्यर्थमिदम्, यथा—क्षीरपेण, सुरापेणोत्तरपदविभक्त्योरेकादेशस्यान्तवद्भावात् 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वमल्विधिरपि भवति। ननु च 'अनल्विधौ' इति प्रतिषेधः स्थान्यलाश्रयेष्वेव कार्येषु, अस्य त्वेकादेशस्योत्तरपदं प्रत्यवयवत्वमेव स्थानिवत्त्वेन प्रार्थनीयम्; अच्त्वं तु स्वत एव सिद्धम्, ततश्च यथा—अरुदितामित्यत्र स्वाश्रयं वलादित्वं स्थानिवद्भावकृतं च सार्वधातुकत्वमाश्रित्य 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीड् भवति, तद्वदिहापि स्थानिवद्भावकृतमुत्तरपदावयवत्वं स्वाश्रयं चाच्त्वमाश्रित्य णत्वं भवति। तत्तु स्थान्यल्स्वरूपनिबन्धनम्, तत्रेष्यत एव, यथा खट्वाभिरित्यादावैस्भावादि। तस्मात् चिन्त्यमस्य प्रयोजनम् ॥

षत्वतुकोरसिद्धः ॥ *षत्वे तुकि चेति*। षत्वशास्त्रे, तुक्शास्त्रे चेत्यर्थः। *एकादेश इति*। एकादेशशास्त्रम् 'आद्गुणः' इत्यादीत्यर्थः। *असिद्धो भवतीति*। सिद्धः= निष्पन्नः, ततोऽन्योऽसिद्धः। तत्र शास्त्रस्वरूपं तावन्निष्पन्नमिति परत्र परशब्दप्रयोगादिवार्थोऽवगम्यते, तत्कार्यकरणाच्च सादृश्यम्, तदाह—*सिद्धकार्याणि*

न्यासः

देशस्य आदेशेन निवर्त्त्यमाने तयोरपि निवर्त्तनं नान्तरीयकमिति कृत्वा। न हि विनावयवनिवर्त्तनेन समुदायः शक्यते निवर्त्तयितुम्; तस्य तदात्मकत्वात्। समुदायस्य तु प्रत्यक्षं स्थानित्वम्। 'पूर्वपरयोः' इति स्थानषष्ठ्यन्तस्य साक्षाच् श्रवणात् 'श्रुतानुमितयोः श्रौतः सम्बन्धो गरीयान्' इति 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यनेन यस्य प्रत्यक्षं साक्षात् श्रुतम्, स्थानित्वं तदाश्रयमेव कार्यमादेशे विधीयते। अवयवयोश्चानुमानिकं स्थानित्वं न प्रत्यक्षम्, अतस्तदाश्रयं कार्यं नातिदिश्यते। तेन तदाश्रयं कार्यं स्थानिवद्भावादेशे न प्राप्नोति, इष्यते च। तदर्थमयमन्तादिवद्भावो विधीयते ॥

षत्वतुकोरसिद्धः ॥ इहासिद्धवचनेनैकादेशस्याभावो वा क्रियते? तत्कार्यसामर्थ्यं वा प्रतिपाद्यते? सिद्धमपि हि वस्तु सिद्धकार्यं कर्तुमसामर्थ्यादसिद्धमित्युच्यते, यथा—पुत्रकार्यकरणेऽसामर्थ्यात् पुत्रोऽप्यपुत्र इति। तत्र यद्यनेनैकादेशस्याभावः क्रियते तदाधीत्येत्यत्र तुग् न स्यात्, न हीह ह्रस्वोऽस्ति; एकादेशेन निवर्त्तितत्वात्। न चासिद्धवचनेनैकादेशे निवर्त्तिते ह्रस्वस्य प्रादुर्भावो भवति, न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते पुनर्देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवतीतीममाद्ये पक्षे दोषं दृष्ट्वा कार्यासामर्थ्यमेकादेशस्यासिद्धत्वश्रुत्या प्रत्याय्यत इति दर्शयन्नाह—सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थ इति।

करोतीत्यर्थः। असिद्धवचनमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थम्, उत्सर्गलक्षणभावार्थं च। कोऽसिचद् इत्यत्र 'एङः पदान्तादतिः' इत्येकादेशस्य परं प्रत्यादिवद्भावादपदादेरिण उत्तरस्यादेशस्य सकारस्य षत्वं प्राप्नोति, तदसिद्धत्वान्न भवति। कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै—

पदमञ्जरी

न करोतीत्यर्थ इति। षत्वतुक्शास्त्रसन्निधावेकादेशशास्त्रं स्वकार्यमेकादेशाख्यं कार्यं न करोति=न प्रवर्त्तयति, न प्रतिपादयतीत्यर्थः। सूत्रस्य प्रयोजनमाह—*असिद्धवचनमिति*। आदेशे कृते यत्कार्यं तद्धेतुकं प्राप्नोति तदादेशलक्षणम्, आदेशो लक्षणं निमित्तमस्येति कृत्वा; तस्य प्रतिषेधार्थमसिद्धवचनम्। उत्सर्गः=स्थानी, सामान्योत्सृष्टत्वात्, स लक्षणं यस्य तदुत्सर्गलक्षणम्, तस्य भावः प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थं चासिद्धवचनम्। *कोऽसिचदिति*। 'लिपिसिचिह्वश्च' इति च्लेरङ्, कशब्दात्सोरुत्वम्, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वम्, गुणः। *एङः पदान्तादतीति*। *परम्प्रत्यादिवद्भावादिति*। आदिवद्भावे हि ओसिचदित्येतदन्तं पदम्, ततः सकारः पदादिर्न भवतीति 'सात्पदाद्योः' इति निषेधाभावादेकादेशमोकारमिणमाश्रित्य षत्वं प्राप्नोति, तदसिद्धत्वान्न भवति। असिद्धत्वे हि षत्वशास्त्रं प्रत्येकादेशशास्त्रस्याप्रतिपादकत्वात् को असिचदित्येवमवस्थितं पदरूपं भवति, तत्राकारेण व्यवधानात्षत्वाभावः। *कोऽस्येति*। इदमः षष्ठ्येकवचनम्, त्यदाद्यत्वम्, 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति स्यादेशः, हलि लोपः, शेषं पूर्ववत्। एवमादेशलक्षणप्रतिषेधस्योदाहरणानि दर्शितानि।

न्यासः

सिद्धस्य निष्पन्नस्य यत् कार्यं तदेकादेशः सिद्धो निष्पन्नोऽपि न करोतीत्ययमस्य वचनस्यार्थः। असिद्धवचनमित्यादिना सूत्रस्य प्रयोजनमाचष्टे। आदेशे च कृते यत्कार्यं तद्धेतुकं प्राप्नोति तदादेशलक्षणम्, आदेशो लक्षणं निमित्तमस्येति कृत्वा। तस्य प्रतिषेधो यथा स्यादित्येवमर्थमसिद्धवचनम्। उत्सृज्यते निवर्त्यत इत्युत्सर्गः, स्थान्यभिधीयते। उत्सर्गो लक्षणं यस्य तदुत्सर्गलक्षणम्, तद्भावो यथा स्यादित्येवमर्थश्चासिद्धवचनम्। कोऽसिचदिति। सिचेर्लुङि च्लिः, 'लिपिसिचिह्वश्च' इति च्लेरङ्, किंशब्दात् परस्य सकारस्य रुत्वम्, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्त्वम्, 'आद्गुणः' इति गुणः, 'एङः पदान्तादति' इति परपूर्वत्वम्। परं प्रत्यादिवद्भावादित्यादि। असिचदित्यत्र योऽकारस्तं प्रत्येकादेशस्य 'अन्तादिवच्च' इत्यनेनादिवद्भावः। अयञ्चापदादित्वे हेतुः। असिद्धत्वान्न भवतीति। असिद्धत्वे हि सति सकारोऽत्रादिरेव पदस्य भवति, तेन 'सात्पदाद्योः' इति षत्वप्रतिषेधो भवति। कोऽस्येति। इदमः षष्ठ्येकवचनम्, 'त्यदादीनामः' इत्यत्वम्, 'टाङसिङसामि-

इत्येकादेशस्यासिद्धत्वाद् 'इणः' इति षत्वं न भवति ।

तुग्विधौ—अधीत्य, प्रेत्येति । अत्रैकादेशस्यासिद्धत्वात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुग्भवति ।

❀ सम्प्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः ❀ । सम्प्रसारणे—ब्रह्महूषु । परिवीषु । सम्प्रसारणपूर्वत्वस्यासिद्धत्वात्षत्वं न प्राप्नोति । ङौ—वृक्षेच्छत्रम्, वृक्षे छत्रम् । इटि—अपचेच्छत्रम्, अपचे छत्रम्;

पदमञ्जरी

इतरस्य दर्शयति—*अधीत्य, प्रेत्येति* । *एकादेशस्यासिद्धत्वादित्यादि* । असिद्धत्वे हि तुक्शास्त्रसन्निधावधि + इ + इयेत्येव स्थितं पदरूपं भवति, ततश्च ह्रस्वाश्रयस्तुक् प्रवर्त्तते । यदि तु मुख्यस्यैकादेशस्यैव कार्यस्यासिद्धत्वमुच्यते, तदा षत्वे नास्ति दोषः, कथम् ? ओकारस्तावत्स्वकार्यं षत्वं न करोति, यौ तु ततः पूर्वौ ककारयकारौ तदाश्रयमपि षत्वं न भवति, तेनैवौकारेण व्यवधानात् । तुकि नेष्टसिद्धिः । कथम् ? एकादेशेन ह्रस्वस्य निवर्तितत्वात्, न चैकादेशः स्वकार्यं न करोति । अनेन स्थानिनः प्रत्यावृत्तिः शक्या, तस्मात्तुकि शास्त्रासिद्धत्वमेवाश्रयणीयम् । आह च—स्थानिवद्वचनानर्थक्यं च शास्त्रासिद्धत्वादिति ।

सम्प्रसारणङीट्स्विति । सम्प्रसारणे ङौ इटि च य एकादेशस्तस्यासिद्धत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः । *शकहूष्विति* । शकान् ह्वयतीति यजादित्वात्सम्प्रसारणं पूर्वत्वम्, क्विप्, 'हलः' इति दीर्घः । *परिवीष्विति* । व्येञः परिपूर्वात् क्विबादि पूर्ववत् । *असिद्धत्वात्षत्वं न प्राप्नोतीति* । पूर्वरूपस्यासिद्धत्वे हि शकहु+आ इत्येवमवस्थितं पदरूपं भवति । *वृक्षेच्छत्रमिति, अपचेच्छत्रमिति* । पचेर्लङ्, उत्तमैकवचनमिट्,

न्यासः

नात्स्याः' इति स्यभावः, 'हलि लोपः' इतीद्रूपस्य लोपः । शेषं पूर्ववत् । एतदादेशलक्षणप्रतिषेधस्योदाहरणम् । उत्सर्गलक्षणभावस्य तु—**अधीत्य, प्रेत्येति** । ननु च बहिरङ्ग एकादेशो द्विपदाश्रयत्वात्; अन्तरङ्गावेव षत्वतुकौ, एकपदाश्रयत्वात्, तत्र 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्यनया परिभाषयैवात्रासिद्धत्वं भविष्यतीति निरर्थकमिदं वचनम् ? एवं तर्हि सैव परिभाषात्र प्रकरणे षत्वतुकोर्नियम्यते । तेनाक्षद्यूरित्यत्र बहिरङ्गलक्षणोऽप्यूडादेशोऽन्तरङ्गयणादेशे कर्त्तव्ये नासिद्धो भवति ।

सम्प्रसारण इत्यादि । सम्प्रसारणे ङौ इटि च य एकादेशस्तस्यासिद्धत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः । **ब्रह्महूष्विति** । ब्रह्माणं ह्वयतीति क्विप्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम्, 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वम्, 'हलः' इति दीर्घः । सप्तमीबहुवचनम् । **परिवीष्विति** । वेञः परिपूर्वस्य पूर्ववत् क्विबादिषु कृतेषु रूपम् । **अपचेच्छत्रमिति** । पचेर्लङ्युत्तमपुरुषैकवचनमिट्, 'कर्त्तरि शप्' इति शप्, आद्गुणः' इति गुणः ॥

आद्गुणस्यासिद्धत्वाद् ह्रस्वलक्षणो नित्योऽत्र तुक् प्राप्नोति, 'दीर्घात्, पदान्ताद्वा' इति तुग्विकल्प इष्यते ॥

पदमञ्जरी

शप्। *आद्गुणस्यासिद्धत्वादिति*। असिद्धत्वे हि तस्य वृक्ष इ च्छत्रम्, अपच इ च्छत्रमित्येवमवस्थितं पदरूपं भवति। अत्र सम्प्रसारणे तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, एकादेशोऽसिद्ध इत्युच्यते, न चात्रैकादेशं पश्यामः; दीर्घेण निवर्त्तितत्वात्। न च दीर्घस्य स्थानिवद्भावादेकादेशग्रहणेन ग्रहणम्; अल्विधित्वात्। ङीटोस्तु प्रतिषेधो वक्तव्य एव।

अथ वा—लाघवार्थं पदस्येति वक्तव्यम्। अन्तादिग्रहणं च पूर्वसूत्रादनुवर्त्तनीयम्, तेन पदान्तस्य पदादेश्च य एकादेशः सोऽसिद्ध इत्येषोऽर्थो भवति। यद्येवम्, सुपिप्पला ओषधीस्कृधीत्यत्रौषधिशब्दाद् द्वितोयाबहुवचनम्, 'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्' इति दीर्घः, ततः प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घः, रुत्वविसर्जनीयौ। अत्रेदानीम् 'कःकरत्करतिकृति' इति विसर्जनीयस्य सत्वमिष्यते, तन्न प्राप्नोति; 'पदान्तपदाद्योः' इति वचनात्। एकादेशस्यासिद्धत्वाभावाद् इण उत्तरो विसर्जनीय इति 'इणः षः' इति षत्वं प्राप्नोति, अविशेषेणासिद्धत्वे ओषधी + अस् कृधीत्येवमवस्थानादिण उत्तरत्वाभावात्षत्वाप्रसङ्गात्सत्वं सिध्यति? ज्ञापकात्सिद्धम्; यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति, तज्ज्ञापयति—नैकादेशात्परस्य विसर्जनीयस्य षत्वं भवतीति। यदि स्याद्, भ्रातृशब्दान्ङसि 'ऋत उद्' इत्युत्त्वे एकादेशे रपरे च कृते 'रात्सस्य' इति सकारलोपे कृते षष्ठीसमासे 'ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इत्यलुकि रेफस्य विसर्जनीये 'ऋत उद्' इत्युकारस्यैकादेशस्य सिद्धत्वात् 'इदुदुपधस्य च' इत्येव षत्वे सिद्धे कस्कादिषु तन्न पठेत्, पठति च, ततो ज्ञायते—नैकादेशात्परस्य षत्वमिति। शकहूष्वित्यत्रापि तर्हि न प्राप्नोति? नैष दोषः; तुल्यजातीयस्य ज्ञापकं भवति। कश्च तुल्यजातीयः? यः कुप्वोरनन्तरः। इह च वेञः क्विपि सम्प्रसारणे पूर्वत्वे च 'ह्रस्वस्य पिति कृति' इति तुकि प्राप्ते पूर्वत्वस्य सूत्रेणासिद्धत्वे प्राप्ते 'पदान्तपदाद्योः' इति वचनादसिद्धत्वाभावादुदिति तुग्भवत्येव। न हि उ+आ इत्येकादेशात्प्रागवस्थायामाकारः पदान्तः। नाप्यकारः पदादिः; विभक्तेरभावात्। न चैकादेशात्प्रागेव कृदन्तत्वाद्विभक्त्युत्पत्तिः; एकादेशस्यान्तरङ्गत्वात्। अथापि प्रागेव विभक्त्युत्पत्तिः; एवमपि उ+आस् इति स्थिते उकारः पदादिः सकारः पदान्तः, सुबन्तं हि पदम्, न तु ततः पूर्वम्। अथापि भ्याम्प्रभृतौ उ+आभ्यामिति स्थिते 'स्वादिषु' इति पदसंज्ञायां पदान्तपदाद्योरेकादेशः? तथापि न दोषः; 'पूर्वपरयोः' इति वर्त्तते, अन्तादिग्रहणञ्च; तत्र यथासंख्यसम्बन्धात्पूर्वपदस्य योऽन्तः परस्य चादिस्तयोरेकादेशोऽसिद्ध इत्यर्थः सम्पद्यते। आकारश्चात्र पदादिर्न भवति, नाप्युकारः पदान्त इत्यसिद्धत्वात्तुग् भवत्येव।

आद् गुणः ॥ ८७ ॥

'अचि' इत्यनुवर्तते। अवर्णात्परो योऽच्, अचि च पूर्वो योऽवर्णः, तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने एको गुण आदेशो भवति। तवेदम्। खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। तवेहते, खट्वेहते। तवोदकम्, खट्वोदकम्। तवर्श्यः, खट्वर्श्यः। तवल्कारः, खट्वल्कारः। लृकारस्य स्थाने योऽण् तस्य लपरत्वमिष्यते ॥

पदमञ्जरी

किमर्थं पुनः षत्वतुकोरेकादेशस्यासिद्धत्वादुच्यते, यावता द्विपदाश्रयत्वाद् बहिरङ्गस्यैकादेशस्यैकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गयोः षत्वतुकोः 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इत्येवासिद्धत्वं सिद्धम्? ज्ञापनार्थं तु, एतज्ज्ञापयति—'यत्र बहिरङ्गस्यान्तरङ्गस्य वाऽचोरानन्तर्यं निमित्तत्वेनाश्रितं तत्र बहिरङ्गपरिभाषा न प्रवर्त्तते' इति। तेनाक्षद्यूरित्यत्र बहिरङ्गस्याप्यूठोऽसिद्धत्वाभावाद्यणादेशः सिद्धो भवति। अयमेवार्थः परिभाषारूपेण पठ्यते 'नाजानन्तर्यं बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इति ॥

आद्गुणः ॥ गुणग्रहणं किम्, यावताऽचीति वर्त्तते, 'एकः पूर्वपरयो' इति च, तत्रान्तर्यतः कण्ठतालव्ययोरकारेकारयोः स्थाने तादृश एवैकारो भविष्यति, कण्ठ्यौष्ठ्ययोश्चाकारोकारयोः स्थाने तादृश एवौकारो भविष्यति; न चैकारौकारयोरपि प्रसङ्गः, वृद्धिरेचीति नियमात्? तदिदानीं नियमार्थम्, ऐचोरनेनैव सिद्धत्वात्, एच्येव वृद्धिर्भवति। उभयथा नियमश्च व्याख्यास्यते, वृद्धिरेवैचीति। इह तर्हि खट्वर्श्यः, मालर्श्य इति, प्रमाणतोऽन्तरतमो मूर्द्धन्य ऋकारः प्राप्नोति? उभयोर्योऽन्तरतमस्तेन भाव्यम्, न चर्कार उभयोरन्तरतमः, अकारस्तु शिष्यमाण एव रपरो भवतीति स्थानत उभयोरन्तरतमः। आकारस्तर्हि प्राप्नोति? 'उपसर्गादृति धातौ' इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति—ऋति धातावेवाकारो नान्यत्रेति। प्लुतस्तर्हि प्राप्नोति—खट्वेन्द्रः, 'प्लुतश्च विषये स्मृतः', प्लुतविधाने हि सति यस्मिन्विषये प्लुतो विहितस्तस्मिन्नप्यनेनैव भाव्यम्? अस्मिन्कर्त्तव्ये आष्टमिकस्य प्लुतस्यासिद्धत्वात्, ततश्च पक्षेऽनुवाददोषप्रसङ्गात् प्लुतो न भवतीति। इह तर्हि खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, आन्तर्यतश्चतुर्मात्र आदेशः

न्यासः

आद्गुणः ॥ तवल्कारः, खट्वल्कार इति। कथं पुनरत्र लपरत्वम्? इत्याह—लृकारस्य स्थान इत्यादि। एतच्च 'लृकारऋकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या' इत्युपसंख्यानाद् 'उरण् रपरः' इत्यत्र रप्रत्याहारग्रहणाल्लभ्यते। उक्तं ह्यक्षरसमाम्नाये— 'हकारादिषु वर्णष्वकार उच्चारणार्थः, लकारे त्वनुनासिक इत्संज्ञकः प्रतिज्ञायते' इति। तत्र रेफादारभ्य लणकारेण प्रत्याहारे सति लृकारस्य ऋकारग्रहणेन गृहीतस्य स्थानेऽण विधीयमानो लपरः सम्पद्यते ॥

वृद्धिरेचि ॥ ८८ ॥

'आत्' इति वर्तते। अवर्णात्परो य एच्, एचि च पूर्वो योऽवर्णः, तयोः पूर्वपरयोरवर्णैचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। आद्गुणस्यापवादः। ब्रह्मैडका, खट्वैडका। ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः। ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः॥

एत्येधत्यूठ्सु ॥ ८९ ॥

'वृद्धिरेचि' इति वर्तते, 'आत्' इति च। तदेतदेज्ग्रहणमेतेरेव विशेषणम्, न पुनरेधतेः; अव्यभिचाराद्, ऊठश्चासम्भवात्। 'इण् गतौ' इत्येतस्मिन् धातावेचि, 'एध वृद्धौ' इत्येतस्मिन् ऊठि च पूर्वं यदवर्णं ततश्च परो योऽच्, तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति। उपैति, उपैषि, उपैमि। उपैधते, प्रैधते। प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा,

पदमञ्जरी

प्राप्नोति, गुणग्रहणे तु क्रियमाणे गुणसंज्ञायान्तपरकरणं सर्वार्थमिति त्रिमात्रचतुर्मात्राणामगुणत्वादप्रसङ्गः। तस्माद् गुणग्रहणम्। श्लोकौ चात्र भवतः—

आदेशश्चेद् गुणः केन स्थानेऽन्तरतमो हि सः।
ऐदौतौ नैचि तावुक्तावृकारो नोभयान्तरः॥
आकारो नर्त्तिधातौ स प्लुतश्च विषये स्मृतः।
आन्तर्यात्त्रिचतुर्मात्रो गुणश्च तपरः स्मृतः॥

इह वृक्षशब्दान्ङिः, वृक्ष + इ + इन्द्रामति स्थिते अकारेकारयोर्गुणश्च प्राप्नोतीकारयोः सवर्णदीर्घश्च, तत्र शब्दपरविप्रतिषेधाद्दीर्घप्रसङ्गः, तथा तच्छब्दात् 'जश्शसोः शिः', त इ इन्द्रम्, पचेरुत्तमैकवचनमिट् शप्, पच इ इन्द्रम्? नैष दोषः; एकपदाश्रयत्वादन्तरङ्गो गुणो भविष्यति प्रागेव पदान्तरसन्निधानात्।

लृकारस्य स्थानत इति। यथा चैतल्लभ्यते तथा 'लण्' इत्यत्र व्याख्यातम्॥

एत्येधत्यूठ्सु ॥ *न पुनरेधतेरव्यभिचारादिति*। बाहुल्याभिप्रायेणैतदुक्तम्। अस्ति ह्यस्यापि व्यभिचारः—चङ्युपधाह्रस्वत्वे भवान् मा प्रेदिधदित्यत्रेत्याहुः। *प्रष्ठौह इति*। प्रष्ठं वहतीति 'छन्दसि सहः', 'वहश्च' इति ण्विः, 'वाह ऊठ्'

न्यासः

वृद्धिरेचि ॥ एत्येधत्यूठ्सु ॥ सम्भवे व्यभिचारे च सति विशेषणविशेष्यभावो भवति, तौ च सम्भवव्यभिचारावेतावेव धातौ स्तः, नेतरत्रेत्याह—तदेतदेज्ग्रहणमित्यादि। प्रष्ठौह इति। प्रष्ठं वहतीति 'छन्दसि सहः' इति 'वहश्च' इति ण्विप्रत्ययः, 'वाह ऊठ' इत्यूठ् सम्प्रसारणसंज्ञकः, 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वम्, ततो वृद्धिः।

प्रष्ठौहे । ऊठ्याद्गुणापवादो वृद्धिर्विधीयते । एत्येधत्योः–एङिपर-रूपापवादः ।

'ओमाङोश्च' इत्येतत्तु पररूपं न बाध्यते; 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इति, 'पुरस्तादपवादा अनन्त-रान्विधीन्बाधन्ते' इति वा । तेनेह न भवति—उप + आ + इतः= उपेत इति ।

एचीत्येव–उप + इतः=उपेतः ।

पदमञ्जरी

इत्यूठ , सम्प्रसारणम् , पूर्वत्वम् , ततो वृद्धिः । *एत्येधत्योरेङि पररूपापवाद इति* । वृद्धिर्विधीयत इत्यनुषङ्गः ।

यथैव तर्हि 'एङि पररूपम्' बाधते, एवमाङि पररूपमपि बाधेत; नाप्राप्ते पररूपेऽस्या वृद्धेरारम्भात् ? इत्यत आह–*ओमाङोश्चैतत्त्विति* । कुतः ? इत्याह–*येनेति । स तस्य बाधको भवतीति* । तस्यैव बाधको भवतीति यावत्, तद्बाधस्या-वश्यम्भावित्वात्, तावता च बाधकस्य चरितार्थत्वात् । न चाप्राप्ते एङि पररूपे इयं वृद्धिरारभ्यते, आङि पररूपे तु आ इतः=एतः, प्रेतः, परेत इत्यत्र प्राप्ते; उपैति, प्रैतीत्यत्र त्वप्राप्ते तस्मान्न बाधते । परिहारान्तरमाह—*पुरस्तादिति* । अनन्तरे बाध्ये ज्ञाते तद्बाधया वचनस्य चरितार्थत्वादुत्तरेण सह स्पर्द्धायां परत्वात्तदेव भवतीति भावः ।

न्यासः

एत्येधत्योरेङि पररूपापवाद इति वृद्धिर्विधीयत इति प्रकृतेन सम्बन्धः ।

अथ 'ओमाङोश्च' इत्यस्याप्याङि पररूपापवादो वृद्धिः कस्मान्न भवति, नाप्राप्ते हि पररूप इयं वृद्धिरारभ्यत इति मा यथैङि पररूपं बाधते तथाङि पररूपमपि बाधेत, ततश्चेहापि स्यात्—आ + इतः=एतः, उप + एतः=उपेतः ? इत्यत आह—**ओमाङो-श्चेत्येतदित्यादि** । अत्रैव कारणमाह—**येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति** । नाप्राप्त एङि पररूपे इयं वृद्धिरारभ्यत इति युक्तं यत् तस्य बाधिका भवति । आङि पररूपे तु प्राप्ते चाप्राप्ते चैषा वृद्धिरारभ्यते । आ + इतः=एतः, प्र + एतः=प्रेतः, परेतः—इत्यत्र प्राप्त आङि पररूपे, उप + एति = उपैतीति—अत्र त्वप्राप्ते । तस्मादेषा वृद्धिराङि पररूपत्वं न बाधते । **पुरस्तादपवादा इत्यादिना** परीहारान्तरमाह । 'पुरस्ता-दपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते' नोत्तरान्' इति, इयं च वृद्धिः पुरस्तादपवादः, अस्याश्चैङि पररूपमेवानन्तरम् , अतस्तदेव तया बाध्यते, नाङि पररूपम् ; तस्या-नन्तरत्वात् ।

❀ अक्षादूहिन्यां वृद्धिर्वक्तव्या ❀। औहिणी।

❀ स्वादीरेरिण्योर्वृद्धिर्वक्तव्या ❀। स्वैरम्[1]। स्वैरिणी[1]।

❀ प्रादूढोढ्येषैष्येषु वृद्धिर्वक्तव्या[2] ❀। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

❀ ऋते च तृतीयासमासेऽवर्णाद् वृद्धिर्वक्तव्या ❀। सुखेन ऋतः सुखार्तः। दुःखेन ऋतो दुःखार्तः। ऋत इति किम्? सुखेन इतः सुखेतः। तृतीयेति किम्? परमर्तः। समास इति किम्? सुखेनर्तः।

❀ प्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे वृद्धिर्वक्तव्या ❀। प्र—प्रार्णम्।

पदमञ्जरी

अक्षौहिणीति। अक्षैरूहतेऽवश्यमिति आवश्यके णिनिः, साधनम् 'कृता' इति समासः।

स्वैरमिति। 'ईर गतौ', ईरणमीरः, भावे घञ्, स्वेनाभिप्रायेण ईरणं स्वैरम्, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः, क्रियाविशेषणात्वाल्लोकाश्रयत्वाद्वा लिङ्गस्य नपुंसकत्वम्। स्वेनाभिप्रायेणेरते गच्छतीति स्वैरी, 'सुप्यजातौ' इति णिनिः। ईरिग्रहणमनर्थकम्, 'पदास्वैरिबाह्य' इति निपातनात्सिद्धम्, पदास्वैरशब्दादिना मत्वर्थीयेन सिद्धम्, णिनिस्त्वनभिधानान्न भविष्यति।

प्रादित्यादि। ऊढ, ऊढि, एष, एष्य—इत्येतान्युत्तरपदानि। इष्यतेरिच्छते-रिष्णातेर्वा यदा ण्यत् तदा—प्रैष्यः, यदा घञ् तदा—प्रैषः, एङि पररूपापवादो

न्यासः

अक्षादित्यादि। वक्तव्येति। व्याख्येयेत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—उत्तरसूत्रे चकारोऽधिकविधानार्थः। तेनाक्षशब्दादूहिनीशब्दे परतो वृद्धिर्भविष्यतीति। एवमुत्तरत्रापि वक्तव्यशब्दस्यार्थः, व्याख्यानमप्येवमेव वेदितव्यम्। अक्षाणामूहः, सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीय इनिः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्—अक्षौहिणी।

स्वैरमिति। 'ईर गतौ', ईरणमीरः, भावे घञ्, स्वस्य ईरः स्वैरः। क्रियाविशेषणत्वात् स्वैरमिति वृत्तौ नपुंसकलिङ्गेन निर्देशः। क्रिया तु काचिदत्राध्याहर्त्तव्या। अथ वा—स्व ईरो यस्य कुलस्य तत् स्वैरं कुलम्। नपुंसकस्य कुलादेरन्यपदार्थत्वान्नपुंसक लिङ्गत्वम्। स्वैरीति। स्वमीरितुं शीलमस्येति 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः।

ऊढ, ऊढिरिति शब्दौ निष्ठाक्तिन्नन्तौ। प्रैष इति। 'इष गतिहिंसादानेषु', 'इषु इच्छायाम्' इति वा, आभ्यां प्रपूर्वाभ्यां यदा घञ् तदा प्रैषः, यदा तु ण्यत् तदा प्रैष्य इति।

सुखार्त्त इति। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः॥

१.—१. 'स्वैरः, स्वैरी' इति पा० ॥

२. अत्र वार्त्तिके ऊढग्रहणम्, प्रौढ इति तदुदाहरणं च पुस्तकान्तरेऽधिकम्।

वत्सतर—वत्सतरार्णम् । कम्बल—कम्बलार्णम् । वसन—वसनार्णम् ।

❀ ऋणदशाभ्यां वृद्धिर्वक्तव्या ❀ । ऋणार्णम् । दशार्णम् ॥

आटश्च ॥ ९० ॥

'एचि' इति निवृत्तम् । 'अचि' इत्यनुवर्त्तते । आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट्—तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति । ऐक्षिष्ट । ऐक्षत । ऐक्षिष्यत । औभीत् । आर्ध्नोत् । औब्जीत् ।

चकारोऽधिकविधानार्थः—'उसि' 'ओमाङोश्च' इति पररूपबाधनार्थः । औस्रीयत् । औङ्कारीयत् । आ + ऊढा ओढा, तामैच्छत् औढीयत् ॥

पदमञ्जरी

वृद्धिः । ईष्यशब्दे तु प्रेष्य इति भवति । तथा आ + ऊढा ओढा प्रोढेति 'ओमाङोश्च' इति पररूपं भवति । पूर्वोपात्तस्य ऋणस्यापनयनाय यदृणमन्यदुपात्तं तद् *ऋणार्णम्* । *दशार्णशब्दो* नदीविशेषस्य, देशविशेषस्य च संज्ञा ॥

आटश्च ॥ 'ईक्ष दर्शने', 'उभ उम्भ पूरणे', 'उब्ज आर्जवे', 'ऋधु वृद्धौ'—इत्येतेषामुदाहरणानि । *चकारोऽधिकविधानार्थ इति* । अस्यैव विवरणम्—*उस्योमाङोश्चेति* । *पररूपबाधनार्थ इति* । उसि, ओमि, आङि च यत्पररूपं प्राप्नोति तद्बाधनार्थ इत्यर्थः; अन्यथा परत्वात्तदेव पररूपं स्यात् । *औस्रीयदिति* । अनर्थकेऽप्युसि पररूपविधानादत्र प्रसङ्गः ॥

न्यासः

आटश्च ॥ **ऐक्षतेति** । 'ईक्ष दर्शने' इति लङ् । **ऐक्षिष्टेति** । लुङ् । **ऐक्षिष्यत इति** । लृङ् । **औम्भीदिति** । 'उभ उम्भ पूरणे' इति लुङ्, इट्, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीट् । 'इट ईटि' इति सिचो लोपः । **औब्जीदिति** । 'उब्ज आर्जवे' । **आर्ध्नोदिति** । 'ऋधु वृद्धौ' इति लङ्, 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति श्नुः ।

चकारोऽधिकविधानार्थ इति । न तु वृद्धेरनुकर्षणार्थः; तदनुवृत्तेः स्वरितत्वादेव सिद्धत्वादित्यभिप्रायः । अधिकविधानार्थ इत्यस्यार्थं वाक्यान्तरेण विस्पष्टीकर्तुमाह—**उस्योमाङोश्चेति पररूपबाधनार्थ इति** । उसि, ओमि, आङि च यत् पररूपं प्राप्नोति, तद्बाधनार्थ इत्यर्थः । चकारेण हि द्विर्वृद्धिविधानं विज्ञापयति । तत्र यद् द्वितीयं विधानं तद् बाधकबाधनार्थं भवति । तेन 'उस्यपदान्तात्' इति यत्पररूपं प्राप्नोति, यच्च 'ओमाङोश्च' इति, तदपि बाधित्वा वृद्धिरेव भवति । **औस्रीयद्. औङ्कारीयदिति** । उस्रशब्दादोङ्कारशब्दाच्च 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्, 'क्यचि च' इतीत्वम्,

उपसर्गादृति धातौ ॥ ९१ ॥

'आत्' इत्येव । अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति । आद्गुणापवादः । उपार्च्छति । प्रार्च्छति । उपार्ध्नोति ।

उपसर्गादिति किम् ? खट्वर्च्छति । मालर्च्छति । प्रगता ऋच्छका अस्माद्देशात् प्रर्च्छको देशः । 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञकाः' इति ।

ऋतीति किम् ? उप + इत उपेतः । तपकरणं किम् ? उप + ॠकारीयति उपर्कारीयति । 'वा सुप्यापिशलेः' इति विकल्पः स्यात् ।

उपसर्गग्रहणादेव धातुग्रहणे सिद्धे धातुग्रहणं शाकल्यनिवृत्त्यर्थम् । 'ऋत्यकः' इति हि शाकल्यस्य प्रकृतिभावः प्राप्नोति ॥

पदमञ्जरी

उपसर्गादृति धातौ ॥ उपार्च्छतीति । 'ऋच्छ गन्तीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु' ।

प्रर्च्छको देश इति । अत्र यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः' इति गमिं प्रति प्रशब्दस्योपसर्गत्वं नर्च्छतिं प्रतीति भवति प्रत्युदाहरणम् ।

वा सुप्यापिशलेरिति हि विकल्पः स्यादिति । तेनोत्तरार्थं तपरकरणमिति भावः ।

धातुग्रहणमनर्थकम्, यत्र चोपसर्गत्वं न सम्भवति, तत्रोपसर्गग्रहणेन प्रादयोऽपि लक्ष्यन्ते, यथा—नासिकाया नस्भावविधौ; इह तु मुख्यमेवोपसर्गत्वं सम्भवति, तत्किं धातुग्रहणेन ? इत्यत आह—*उपसर्गग्रहणादेवेति ।* शाकल्यस्येदं

न्यासः

क्यजन्ताल्लुङ्, आट्, 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपे बाधके प्राप्ते चकारस्याधिकविधानार्थत्वाद्वृद्धिरेव भवति । औढीयदिति । ओढाशब्दात् क्यजन्ताल्लुङ्, आडागमे कृते 'ओमाङोश्च' इति पररूपे बाधके प्राप्ते चकारस्याधिकविधानार्थत्वाद्वृद्धिरेव भवति ॥

उपसर्गादृति धातौ ॥ उपार्च्छतीति । 'ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु' । प्रगता ऋच्छका अस्माद् देशात् प्रच्छको देश इति । अत्र 'यं प्रति क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञका भवन्ति' इति गमिं प्रति प्रशब्दो गत्युपसर्गसंज्ञकः, न ऋच्छतिं प्रतीति भवति प्रत्युदाहरणमिदम् ।

वा सुप्यापिशलेरिति विकल्पः स्यादिति । एतेनोत्तरार्थतां तपरकरणस्य दर्शयति ।

अथ धातुग्रहणं किमर्थम्, यावता सम्बन्धिशब्दा हि नियतं प्रतियोगिनमुपस्थापयन्ति, तद्यथा—पुत्रादिशब्दाः, उपसर्गश्चायं धात्वपेक्षत्वात् सम्बन्धिशब्दः, तत्रोपसर्गग्रहणादेव धातुग्रहणं सिध्यति ? अत आह—उपसर्गग्रहणादेवेत्यादि । यदि धातुग्रहणं न

वा सुप्यापिशलेः ॥ ९२ ॥

'आत्' इत्येव, 'उपसर्गादृति धातौ' इति च। सुबन्तावयवे धातावृकारादौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोरापिशलेराचार्यस्य मतेन वा वृद्धिरेकादेशो भवति। उपर्षभीयति, उपार्षभीयति। उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति। 'ऋकारलृकारयोः सावर्ण्यविधिः' इति ऋतीति लृकारोऽपि गृह्यते।

आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्, वेति ह्युच्यत एव ॥

पदमञ्जरी

शाकलम्, तस्य निवृत्त्यर्थं पुनर्धातुग्रहणम्। सति तु धातुग्रहणे योगविभागेन पुनर्वृद्धिर्विधीयत इति शाकलं बाध्यते। असति तु तस्मिन् शाकल्यमतेन परत्वात् प्रकृतिभावः स्यादेव ॥

वा सुप्यापिशलेः ॥ सुबन्तस्य धातोरसम्भवात्सुवित्येतद्धातोरवयवद्वारकं विशेषणमित्याह—*सुबन्तावयवे धाताविति*। आचार्यग्रहणेनैव पूजाविकल्पयोरपि सिद्धयोः पुनर्वाग्रहणमाचार्यग्रहणस्य प्राधान्येन पूजार्थतां ख्यापयितुं कृतम् ॥

न्यासः

क्रियेत, तदा पराच्छंतीत्यत्र 'ऋत्यकः' इति परत्वाच्छाकल्यस्य मतेन प्रकृतिवद्भावः स्यात्। तस्मात् तस्य शाकल्यस्य प्रकृतिवद्भावस्य निवृत्त्यर्थं धातुग्रहणं क्रियते। कथं पुनः क्रियमाणे धातुग्रहणे शाकल्यस्य प्रकृतिवद्भावनिवृत्तिर्लभ्यते? योगविभागकरणात्। सति हि धातुग्रहणे योगविभागः क्रियते—उपसर्गादृति वृद्धिर्भवतीति; ततो धाताविति, इहोपसर्गादिति वर्त्तते। ततो द्वितीयो योगो बाधकबाधनार्थो विज्ञायते। अथ 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इत्यत्र यथा प्राद्युपलक्षणार्थमुपसर्गग्रहणं विज्ञायते, तथेहापि कस्मान्न विज्ञायेत? अशक्यत्वात्। 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे' इत्यत्र हि धातोरुपस्थानं न सम्भवतीति युक्तं प्राद्युपलक्षणार्थमुपसर्गग्रहणम्। इह हि धातोरुपस्थानं सम्भवतीत्ययुक्तम् ॥

वा सुप्यापिशलेः ॥ धातावित्यनुवर्त्तते, सुपीति चोच्यते, न च सुबन्तो धातुरस्ति, तत्र सामर्थ्याद्धात्वेकदेशे वर्त्तमानं सुपीत्येतदिह विशेषणं विज्ञायते, इत्याह—**सुबन्तावयवे धातावित्यादि**। **उपाल्कारीयतीति**। कथं पुनर्ऋतीत्युच्यमाने लृकारे वृद्धिः प्रवर्त्तते? इत्याह—**ऋकारलृकारयोरित्यादि**। ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा विहितेति ऋकारो गृह्यमाण लृकारमपि ग्राहयतीति तत्रापि वृद्धिर्भवति।

आपिशलिग्रहणं पूजार्थमिति। अथ विकल्पार्थं कस्मान्न भवति? इत्याह—**वेत्युच्यत एवेति**। यद्यप्याचार्यग्रहणेनैव पूजा, विकल्पश्चोभयं सम्पद्यते; तथाप्याचार्यग्रहणस्य प्राधान्येन पूजां ख्यापयितुं वाग्रहणं कृतमिति भावः ॥

औतोऽम्शसोः ॥ ९३ ॥

ओतोऽमि शसि च परतः पूर्वपरयोराकार आदेशो भवति । गां पश्य, गाः पश्य । द्यां पश्य, द्याः पश्य ।

द्योशब्दोऽप्योकारान्त एव विद्यते, ततोऽपि परं सर्वनामस्थानं णिदिष्यते, तेन नाप्राप्तायां वृद्धावयमाकारो विधीयमानस्तां बाधते ।

अमिति द्वितीयैकवचनं गृह्यते; शसा साहचर्यात्, 'सुपि' इति चाधिकारात् । तेनाचिनवम्, असुनवमित्यत्र न भवति ॥

पदमञ्जरी

औतोम्शसोः ॥ गां पश्येति । ननु चात्र 'गोतो णित्' इति णित्त्वे सति परत्वाद्वृद्धौ कृतायामोकाराभावादात्वेन न भाव्यम्, आत्वविधानं तु द्योशब्दार्थं स्यात्, न हि तत्र णित्त्वमस्ति, 'गोतः' इति वचनादित्यत आह—*द्योशब्दोऽपीत्यादि ।* सत्यं यदि णित्त्वं न स्यात्, अस्ति तु तत्रापि णित्त्वम्, 'गोतः' इत्यस्यौकारान्तोपलक्षणत्वात्, वर्णनिर्देशेषु तपरत्वप्रसिद्धेः । ततः किम् ? इत्याह—*तेनेति ।*

शसा साहचर्यादिति । सुप एव हि शसोऽत्र सम्भवः, नान्यस्य; 'अचि' इत्यधिकारात् ।

अचिनवमसुनवमिति । चिनोतेः, सुनोतेश्च लङ्, 'तस्थस्थमिपाम्' इत्यमि कृते विकरणस्य गुणावादेशौ ॥

न्यासः

औतोऽम्शसोः ॥ गाम्पश्येति । कथं पुनरेतदुदाहृतम्, यावता 'गोतो णित्' इति णित्त्वे सति परत्वाद् वृद्धयात्र भवितव्यम् ? इत्यत आह—**द्योशब्दोऽप्योकारान्त इत्यादि ।** तपरकरणं हि वर्णनिर्देशेषु प्रसिद्धमिति 'गोतः' इति तपरनिर्देश ओकारान्तोपलक्षणार्थो विज्ञायते, ततश्च द्योशब्दादपि परं सर्वनामस्थानं णिद्भवति । यद्येवम्, तत् किमिति वृद्धिर्नात्र भवति ? इत्याह—**तेनेत्यादि ।** यदि द्योशब्दात् परस्य सर्वनामस्थानस्य णित्त्वं न स्यात्, ततो द्यां पश्येत्यत्र सावकाशमात्वं गां पश्येत्यत्र परत्वाद् वृद्धया बाध्येत । यदि तु द्योशब्दादपि परं सर्वनामस्थानं णिद्भवतीति, तदा द्यां पश्येत्यत्र वृद्धिः प्राप्नोत्येव । ततो नाप्राप्तायां वृद्धाविदमात्वं विधीयमानमनवकाशत्वाद् वृद्धिं बाधते । ततश्च युक्तमेव गां पश्येत्येतदुदाहरणम् ।

अथेहाप्यचिनवम्, असुनवमित्यत्र चिनोतेः सुनोतेश्च लङि मिपि विकरणस्य गुणे कृते मिपः 'तस्थस्थमिपाम्' इत्यादिनाम्भावे चौकारस्यात्वं कस्मान्न भवति ? इत्याह—**अमीत्यादि ।** शसा साहचार्यात् सुबधिकाराद्वा सुप एवाम इदं ग्रहणम् । अतो नात्रात्वस्य प्रसङ्गः । चित्रगुं पश्येत्यत्र तु ह्रस्वत्वे कृत ओकाराभावाद् 'अनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादात्वं न भवति ॥

काशि० ४ : ११

एङि पररूपम् ॥ ९४ ॥

'आत्' इत्येव, 'उपसर्गाद्धातौ' इति च। अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशो भवति। 'वृद्धिरेचि' इत्यस्यापवादः। उपेलयति। प्रेलयति। उपोषति। प्रोखति।

केचिद् 'वा सुप्यापिशलेः' इत्यनुवर्त्तयन्ति, तच्च वाक्यभेदेन सुब्धातौ विकल्पं करोति—उपेडकीयति, उपैडकीयति। उपोदनीयति, उपौदनीयति।

* शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् *। शक + अन्धुः शकन्धुः। कुल + अटा कुलटा।

* सीमन्तः केशेषु *। सीम्नोऽन्तः सीमन्तः। अन्यत्र सीमान्तः।

पदमञ्जरी

एङि पररूपम् ॥ 'इल प्रेरणे' चुरादिः, 'ओखृ शाखृ' इति भूवादौ पठ्येते।

केचिद्वा सुप्यापिशलेरित्यनुवर्त्तयन्तीति। यद्येवम्, तेन सहास्यैकवाक्यतायाम् असुब्धातुषु नास्य प्रवृत्तिः स्याद्? इत्यत आह—*तच्चेति*। अत्र व्याख्यानमेव शरणम्।

शकन्ध्वादिष्विति। शकन्ध्वादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः, तेषु पररूपं वक्त-

न्यासः

एङि पररूपम् ॥ **उपेलयतीति**। 'इल प्रेरणे', चुरादिणिच्। **प्रोखतीति**। 'उख नख' इत्युखिर्गत्यर्थो भ्वादौ पठ्यते। यदि 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्तयन्ति, एवं सति तेन सहास्यैकवाक्यतायां सुब्धातोरेवानेन विकल्पेन पररूपं क्रियते, असुपि तु पररूपं न स्यादेवेत्याह—**तच्चेत्यादि**। एकवाक्यत्वे हि सत्येष दोषः स्यात्। न चात्रैकवाक्यता, किं तर्हि? वाक्यभेदः। तेन तदिहानुवर्त्तमानं सुब्धातावेव विकल्पं करोति, इतरत्र तु नित्यमेव पररूपं प्रवर्त्तते। तत्रावर्णान्तादुपसर्गादसुबन्तावयवे धातावेङादौ पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशो भवतीत्येकं वाक्यम्, अवर्णान्तादुपसर्गात् सुबन्तावयवे धातावेङादौ पूर्वपरयोर्वा पररूपमेकादेशो भवतीति द्वितीयम्। तत्र पूर्वेण वाक्येनासुबन्तावयवे धातावुपेलयतीत्यादौ नित्यं पररूपं विधीयते। द्वितीयेन तु सुबन्तावयवे धातावुपेडकीयतीत्येवमादौ विकल्पेन पररूपं विधीयते। वाक्यभेदस्तु 'एङि पररूपम्' इति तन्त्रेण सूत्रद्वयोच्चारणाल्लभ्यते। सूत्रद्वये तूच्चार्यमाणे सत्येक एव 'वा सुप्यापिशलेः' इत्येतदनुवर्तमानमपि लक्ष्यानुरोधान्नाभिसम्बध्यते, द्वितीये तु सम्बध्यत एव। तेन वाक्यद्वयं पूर्वोक्तं सम्पद्यते।

वक्तव्यमिति। व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—उत्तरसूत्रे चकारोऽधिक-

❀ एवे चानियोगे पररूपं वक्तव्यम् ❀। इह + एव इहेव। अद्य + एव अद्येव। अनियोगे इति किम्? इहैव भव माऽन्यत्र गाः॥

❀ ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम् ❀। स्थूल + ओतुः स्थूलौतुः, स्थूलोतुः। बिम्बौष्ठी, बिम्बोष्ठी। समास इति किम्? तिष्ठ देवदत्तौष्ठं पश्य।

❀ एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् ❀। अपां त्वा एमन्, अपां त्वेमन्। अपां त्वा ओद्मन्, अपां त्वोद्मन्॥

पदमञ्जरी

व्यम्। 'कुलटाया वा', 'कतन्तेभ्यः' इत्यादिनिर्देशोऽस्मिन्नर्थे लिङ्गम्। अन्धुः= कूपः, बहूनि कुलान्यटति नैकस्मिन्कुलेऽवस्थितेति *कुलटा*। पचादिष्वयं पठितव्यः, अन्यथा 'कर्मण्यण्' स्यात्।

एवे चानियोग इति। नियोगः=अवश्यम्भावः, नियमः=अवधारणम्, ततोऽन्यत्रार्थे पररूपं सम्भवति। उदाहरणेऽनवक्लृप्तावेवशब्दः, यथा—क्वेव भोक्ष्यस इति। अवधारणे तु वृद्धिरेव भवति—'अमैवाव्ययेन', 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव', इहैव सन्तत्वाय, ममैव हव्यान्यग्न इत्यादि।

ओतुः=बिडालः। 'तुन्वोर्वि निपात उपसंख्यानम्', वीति सप्तमीनिर्देशात् तदादिविधिः, वकारादौ निपाते परतः तुनु-इत्येतयोः पररूपं भवति—तु वै त्वै, अनुभूततमं चैकम्। नुवै न्वै। एक एवायं निपातः, अर्थभेदात्, यदाह-'न वा, निपातैकत्वात्' इति। अत एव नैतद् *वृत्तिकारेण* पठितम्।

सूत्रे पररूपग्रहणमुत्तरार्थम्, इह त्वेङीत्येव सिद्धम्—एङि परत एकादेशो भवतीति। रूपग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्, तथा च 'अमि पूर्वः' इत्यत्र रूपग्रहणं न कृतम्॥

न्यासः

विधानार्थः, तेन शकन्ध्वादिषु पररूपं भविष्यतीति। उत्तरत्रापि वक्तव्यशब्दस्यायमर्थो व्याख्यानं चैतदेव वेदितव्यम्।

एवे चानियोग इति। नियोगः=नियोजनम्, व्यापारणमित्यर्थः। न नियोगोऽनियोगः=अनवक्लृप्तिः। तत्रैवशब्दे पररूपं वेदितव्यम्। एवशब्दोऽनियमे वर्तते। यदा तमेव केवलं नियमं व्यापारेणाविशिष्टं ब्रूते तदा पररूपं भवति। यदा तु व्यापारेण विशिष्टं तदा वृद्धिरेव।

बिम्बोष्ठीति। 'नासिकोदरौष्ठ' इति ङीष्। तिष्ठ देवदत्तौष्ठं पश्येति वाक्यमेतत्, न तु समासः। देवदत्तशब्दात् 'एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' इति सोर्लोपः॥

ओमाङोश्च ॥ ९५ ॥

'आत्' इत्येव । अवर्णान्तादोमि आङि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति । का + ओमित्यवोचत्, कोमित्यवोचत् । योमित्यवोचत् । आङि खल्वपि—आ + ऊढा ओढा । अद्य + ओढा अद्योढा । कदा + ओढा कदोढा । तदा + ओढा, तदोढा । 'वृद्धिरेचि' इत्यस्यापवादः ।

इह तु—आ ऋश्यात् अर्श्यात्, अद्य अर्श्यात् अद्यर्श्यादिति अकः सवर्णे दीर्घत्वं बाधते ॥

उस्यपदान्तात् ॥ ९६ ॥

'आत्' इत्येव । अवर्णादपदान्तादुसि पूर्वपरयोराद्गुणापवादः पररूपमेकादेशो भवति । भिन्द्या + उस् भिन्द्युः । छिन्द्या + उस्

पदमञ्जरी

ओमाङोश्च ॥ अद्योढेति । आङ्नाङोरेकादेश आङ्ग्रहणेन गृह्यत इति भवत्युदाहरणम् । अत्र च 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति पूर्वमाद्गुणे कृते पश्चादद्यशब्देन सम्बन्धे वृद्धिः प्राप्नोति, एवमाङो रूपमविनष्टम् । अद्य आगत इत्यादौ तत्र सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धं रूपम् ।

अकः सवर्णे दीर्घत्वं बाध्यत इति । ननु च मध्येऽपवादन्यायेन वृद्धेरेव बाधो युक्तः, न दीर्घत्वस्य ? नैष दोष; चकारोऽत्र क्रियते, स पुनर्विधानार्थो भविष्यति ॥

उस्यपदान्तात् ॥ भिन्द्युरिति । भिदेर्लिङ्, यासुट्, झेर्जुस्, श्नसोरल्लोपः,

न्यासः

ओमाङोश्च ॥ अद्योढेति । अद्य + ओढा । ननु च 'आद्गुणः' इत्यनेनाङो निर्वर्तितत्वादिदमाङ उदाहरणं न युज्यते ? आङ्माङोरेकादेशस्त्वाङ्ग्रहणेन गृह्यत इत्यदोषः । पूर्वमेव हीदमुक्तम्—'द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने यो भवति लभतेऽसावन्यतरव्यपदेशम्' इति । किमर्थं पुनराङो ग्रहणम्, यावता प्रागेवाङः पूर्वेण सह 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे कृते ततः परेण सह 'आद्गुणः' इति गुणे त्वाद्योढेत्यादि सिद्धमेव ? न सिध्यति, यतः 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति पूर्वमाद्गुणेन भवितव्यम्, तथा च सति वृद्धिः स्यात् । अत आङोऽपि ग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

इह त्वकः सवर्णे दीर्घत्वं बाध्यत इति । अस्य विधेर्विशेषविहितत्वात्, अकः सवर्णे दीर्घस्य च सामान्यविहितत्वात् । विशेषविहितोऽपि सामान्यविहितस्य बाधको भवतीति प्रतिपादितमेतत् ।

उस्यपदान्तात् ॥ भिन्द्युरिति । भिदेर्लिङ्, झि, यासुट्, 'झेर्जुस्' इति जुस्, श्नम्, 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सकारलोपः

छिन्द्युः । अदा + उस् अदुः । अया + उस् अयुः ।

अपदान्तादिति किम् ? का + उस्रा कोस्रा । का + उषिता कोषिता ।

आदित्येव—चक्रुः । अबिभयुः ॥

पदमञ्जरी

'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपः, भिन्द्या + उस्—अनेन पररूपम् । *अदुरिति* । दाञो लुङ्, 'गातिस्था' इत्यादिना सिचो लुक्, 'आतः' इति झेर्जुस्, अदा + उस्—अनेन पररूपम् ।

कोस्रेति । ननु चानर्थकत्वादेवास्योसो ग्रहणं न भविष्यति ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—अनर्थकस्याप्युसो ग्रहणमिति, तेन भिद्युरित्यादावप्युसि पररूपं भवति । अत्र हि यासुडादिः समुदायोऽर्थवान्, न तु तदवयव उस् । *कोषितेति* । वसेः

न्यासः

भिन्द्या + उसिति स्थितेऽनेन पररूपत्वम् । अदुरिति । ददातेर्लुङ्, झि, 'आतः' इति झेर्जुस्, 'गातिस्था' इति सिचो लुक्, अदा + उसिति स्थितेऽनेन पररूपत्वम् ।

कोस्रा, कोषितेति । ननु चात्रैकस्मिन् प्रत्युदाहरणे 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इत्यनया परिभाषयैव न भविष्यति, उस्राशब्दो हि समुदायोऽर्थवान्, न तूसित्येष तदवयवः । द्वितीये तु 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणिकस्य' इत्यनया परिभाषयाऽपि न भविष्यति, लाक्षणिको हि तत्रोस्, तथा हि–वसेर्निष्ठायाम् 'वसतिक्षुधोरिट्', यजादित्वात् सम्प्रसारणे कृते—उषितेति, तत्र पररूपं न सम्पद्यते, तत् किमपदान्तादित्यनेन ? एवं तर्ह्येतदतिरिच्यमानमपदान्तग्रहणमर्थवदनर्थवत्त्वादिकं विशेषमनपेक्ष्योस्मात्रे पररूपं भवतीत्यमुमर्थं द्योतयति । तेन नानर्थके 'उस्यपदान्तात्' इत्येतद् भवति । भिन्द्युरित्यत्र हि यासुडादिः समुदायोऽर्थवान्, न तु तदवयव उस् । लाक्षणिकेऽपि भवतीति—बभुषः पश्येति । 'भा दीप्तौ', लिटः क्वसुः, शस्, 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम्, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम्, बभा उस् अस् इति स्थितेऽनेन पररूपत्वम् । एतत् सार्वधातुकपक्ष उदाहरणं वेदितव्यम् । आर्धधातुकपक्षे ह्याकारलोपेनैव सिद्धम् । सानुबन्धकेऽपि भवति—अदुः, अधुरिति । क्व तर्हि स्यात् ? बभुरिति । ननु चानर्थक्ये सत्यपदान्तग्रहणस्यायमर्थः परिकल्प्येत, अस्ति चास्योक्तसूत्रे प्रयोजनम्, किं तत् ? अपदान्ताद् यथा स्यादिह मा भूदिति–दण्डाग्रमिति ? नैतदस्ति; यद्येतदेव प्रयोजनमभिमतं स्यात्, तदोत्तरसूत्र एवेदं कुर्यात् । इह करणात् तु यथोक्तार्थप्रतिपादनपरतैव तस्यावगम्यते । अधिकाराच्चोत्तरार्थतापि भवत्येव । कोषितेत्यत्र 'वसतिक्षुधोः' इतीट्, 'शासिवसिघसीनाञ्च' इति षत्वम्, तस्य चासिद्धत्वात् पररूपत्वप्राप्तिर्वेदितव्या ।

चक्रुरिति । कृञो लिट्युसि रूपम् । अबिभयुरिति । 'ञिभी भये', लङ्, शप्,

अतो गुणे ॥ ९७ ॥

'अपदान्तात्' इति वर्त्तते । अकारादपदान्ताद् गुणे परतः पूर्व-परयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति । पचन्ति । यजन्ति । अकः सवर्णे दीर्घस्यापवादः ।

पचे, यजे—इत्यत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिः प्राप्नोति ।

अत इति किम् ? यान्ति । वान्ति ।

गुण इति किम् ? अपचे । अयजे ।

अपदान्तादित्येव—दण्डाग्रम् । यूपाग्रम् ॥

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ ९८ ॥

पदमञ्जरी

क्तः, 'घसतिक्षुधोरिट्', यजादित्वात्सम्प्रसारणम्, 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्, तस्यासिद्धत्वादुसि न पररूपं भवति । अस्य तु लाक्षणिकत्वादेवाग्रहणं सिद्धम् । *अबिभयुरिति* । भियो लङ्, शपः श्लुः, 'सिजभ्यस्त' इत्यादिना झेर्जुस्, 'जुसि च' इति गुणः ॥

अतो गुणे ॥ *अकः सवर्णे दीर्घस्यापवाद इति* । ननु च मध्येऽपवादन्यायेन वृद्धेरेवायमपवादो युक्तः, न दीर्घस्य ? गुणग्रहणाद्दीर्घस्यापि बाधको भविष्यति, अन्यथा—'अतोऽपदान्तात्' इत्येव वक्तव्यम् । एङीत्येव, ततो जुसि च, अपदान्तादित्येव । एवं सिद्धे गुणग्रहणाद् गुणमात्रेऽयं विधिः प्रवर्तमानो दीर्घमपि बाधिष्यते ।

अत इति किमिति । अदिति वर्त्तत एवेति प्रश्नः । तपरकरणे तात्पर्य-मित्युत्तरम् ॥

न्यासः

'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति श्लुः, द्विर्वचनम्, 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति झेर्जुस्, 'जुसि च' इति गुणः ॥

अतो गुणे ॥ पचे, यजे—इत्यत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिः प्राप्नोति, तेन तस्या एव पररूपत्वमपवाद इत्यभिप्रायः ।

'आद्गुणः' इत्यत आदित्यनुवर्त्तत एवेति मन्यमान आह—**अत इति किमिति** । दीर्घनिवृत्त्यर्थं इह तपरस्याकारस्य निर्देशः क्रियत इति दर्शयितुमाह—**यान्ति, वान्तीति** ।

अपचे इति । लङ्यात्मनेपदोत्तमपुरुषैकवचन इट्, अत्र 'आद्गुणः' । पररूपे तु सति स गुणो न लभ्यते ॥

अव्यक्तम्=अपरिस्फुटवर्णम्, तदनुकरणं परिस्फुटवर्णमेव केनचित्सादृश्येन तदव्यक्तमनुकरोति तस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। पटत् इति पटिति। घटत् इति घटिति। झटत् इति झटिति। छमित् इति छमिति।

पदमञ्जरी

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ *अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णमिति*। अपरिस्फुटा=अनभिव्यक्ता अकारादयो वर्णा यस्मिन्तत्तथोक्तम्। यद्येवम्, तदनुकरणेनापि तथाविधेनैव भाव्यम्, सदृशं ह्यनुकारणं भवति, ततश्चानुकार्य इव तत्रापि नैवाच्छब्दोऽवधार्यते, अनवधारिते चाशक्यं पररूपं कर्त्तुम्? तत्राह–*तदनुकरणं परिस्फुटवर्णमेवेति*। अथ कथं तर्हि तत्तेनानुक्रियते, न हि विसदृशमनुकरणं भवत्यतिप्रसङ्गात्? इत्यत आह—*केनचित्सादृश्येनेति*। तत्पुनः सादृश्यं ध्वनेस्तुल्यतया, तेन ह्यव्यक्तमनुकार्यमनुकरोति पुरुषः, अनुकरणं कर्तृ अव्यक्तं कर्मानुकरोति, करणस्य कर्तृत्वविवक्षयां कर्तृप्रत्ययः, अनुकरणशब्दस्तु करणसाधन एव। *पररूपमेकादेशो भवतीति*। अच्छब्दस्यापि सर्वस्य, नालोन्त्यस्य; 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' इति वचनाज्ज्ञापकाच्च। यदयम् 'आम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' इति अन्त्यग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयति—'नात्रालोन्त्यपरिभाषा प्रवर्त्तते' इति। किञ्च—पूर्वापरसमुदाय एकादेशस्य स्थानीत्युक्तम्, ततश्च तदेकदेशे पूर्वस्मिन् खल्वेतत्परिभाषाप्रवृत्तिः कीदृशीति चिन्त्यम्। *पटदितीति*। प्रक्रियावाक्यमेतत्, न प्रयोगार्हम्; पररूपस्य नित्यत्वात्। *पटितीति*। कथं पुनः पररूपे कृते

न्यासः

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ **अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णमिति**। अपरिस्फुटा=अव्यक्ता, अनभिव्यक्ता अकारादयो वर्णा यत्र तत् तथोक्तम्। यद्येवम्, तदनुकरणेनापि तथाविधेन भवितव्यम्, सदृशं ह्यनुकरणं भवति न त्वसदृशम्, ततश्चानुकार्य इवानुकरणेऽपि नैवाच्छब्दोऽवधार्यते, अनवधारितस्य च कथं शक्यते पररूपत्वं विधातुम्? इत्यत आह—**तदनुकरणमित्यादि**। यदि तर्हि तदनुकरणं परिस्फुटवर्णम्, एवं सति तत् तस्यानुकरणमेव न स्यात्, न हि विसदृशमनुकरणं भवति, तेनानुकर्तुमशक्यत्वात्, अतिप्रसङ्गो वेत्यत आह—**केनचिदित्यादि**। तत् पुनः सादृश्यं ध्वनेस्तुल्यता, उभयोरपि तयोः समानो ध्वनिः। तेन यद्यप्यनुकरणे वर्णविशेषा अवधार्यन्ते, तथापि ध्वनेः समानतया तदव्यक्तमप्यनुकार्यमनुकरोति। **पटितीति**। ननु च 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनया परिभाषयान्त्यस्य भवितव्यम्, तत् कथं सर्वस्यैवाच्छब्दस्य भवति? नैष दोषः; 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः' इति। अथवा—यदयम् 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' इत्यत्रान्त्यग्रहणं करोति, ततोऽवसीयते—नात्रालोऽन्त्यस्यैषा परिभाषा प्रवर्त्तत इति।

अव्यक्तानुकरणस्येति किम् ? जगत् इति जगदिति। अत इति किम् ? मरट् इति मरडिति। इताविति किम् ? पटत् अत्र पटदत्र ॥

* अनेकाच इति वक्तव्यम् *। इह मा भूत्—स्रत् इति स्रदिति।

कथं घटदिति गम्भीरमम्बुदैर्नदितमिति ? दकारान्तमेतदनुकरणं द्रष्टव्यम् ॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ ९९ ॥

अव्यक्तानुकरणस्याम्रेडितस्य योऽच्छब्द इतौ तस्य पररूपं न भवति, तस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य वा भवति। पटत्पटदिति, पटत्पटेति करोति। 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम्।

पदमञ्जरी

तदनुकार्यस्य प्रतिपादकं भवति, कुतश्च तस्यानुकरणत्वम् ? नैष दोषः; यथा गवित्ययमाहेति कृतावादेशमपि गोशब्दस्यानुकरणं भवति शास्त्रवासनया, तद्वदत्राऽपि भविष्यति।

दकारान्तानुकरणमेतदिति। तकारान्तानुकरणे तु रूपमेवैतन्न स्यात्; अपदत्वेन जश्त्वाभावाद्, यथा—पटिति करोतीति ॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ अव्यक्तानुकरस्याम्रेडितस्येति। व्यधिकरणे षष्ठ्यौ, अव्यक्तानुकरणस्य यदवयवभूतमाम्रेडितम्, तस्येत्यर्थः। *नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनमिति*। वीप्सायोगस्तु यथाकथञ्चिद् द्रष्टव्यः।

अपर आह—'नित्यवीप्सयोः' इत्युपलक्षणमेतत्, 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इत्यत्र बहुलवचनादन्यस्यापि द्विर्वचनमिति।

न्यासः

कथं पुनः पररूपे कृते तदनुकार्यस्य प्रतिपादनं भवति, कुतश्च न भविष्यति ? न्यूनत्वात् ? नैष दोषः; यथैव हि व्यक्तवर्णमपि तस्य केनचित्साधर्म्येण प्रतिपादकं भवति तथा न्यूनमपि भविष्यतीति।

अनेकाच इति वक्तव्यमिति। अनेकाचोऽव्यक्तानुकरणस्य पररूपं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—उत्तरसूत्रे वाग्रहणमुभयोरपि योगयोः शेषः। सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेनानेकाच एव भविष्यति, न त्वेकाच इति।

कथमिति। तकारान्तमेतदव्यक्तमनुकरणमिति मन्यमानस्य प्रश्नः ॥

यदा तु समुदायानुकरणं तदा भवत्येव पूर्वेण पररूपम्—पटत्पटेति करोति ॥

नित्यमाम्रेडिते डाचि[1] ॥ १०० ॥

'अव्यक्तानुकरणस्य', 'अतः' 'अन्त्यस्य' इति चानुवर्त्तते। डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्पूर्वस्याव्यक्तानुकरणस्याच्छब्दस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य पूर्वस्य परस्य चाद्यस्य वर्णस्य नित्यं पररूपमेकादेशो भवति। पटपटाकरोति। दमादमाकरोति[2]।

पटदित्यस्माद् 'अव्यक्तानुकरणाद्' इति डाचि विहिते 'डाचि बहुलम्' इति द्विर्वचनम्, तच्च टिलोपात् पूर्वमेवेष्यते ॥

पदमञ्जरी

यदा त्विति। द्विरुक्तस्य समुदायानुकरणस्य वार्थभेदो भवति।

नित्यमाम्रेडिते डाचि॥ वार्त्तिकमेवेदम्। वृत्तिकृता सूत्ररूपेण पठितम्। *डाचि विवक्षित इति*। 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यति क्तः, विधित्सित इत्यर्थः। अन्यथा डाजेव न स्यात्; द्व्यजवरार्धत्वाभावात्। तथा च डाज्विधावुक्तम्—'यस्य च द्विर्वचने द्व्यजवरार्द्धता ततः प्रत्ययः' इति, अष्टमे च वक्ष्यति—डाचीति विषयसप्तमीति।

डाचि विधित्सित एव द्विर्वचनं क्रियत इत्यत्र प्रयोजनान्तरमाह—*तच्चेति*।

न्यासः

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ यदा त्वित्यादि। यदा पटत्पटदित्येष शब्दः समुदाय एवानुकरणम्, तदा तस्याद्विरुक्तत्वात्परस्यावयवस्य पटच्छब्दस्याम्रेडितसंज्ञा नास्तीति पूर्वेण पररूपं भवत्येव ॥

नित्यमाम्रेडिते डाचि ॥ डाच्परमिति। डाच् परो यस्मात् तत् तथोक्तम्।

डाचि विहित इत्यादि। विहित इति 'हि गतौ' इत्यस्य विपूर्वस्य रूपमिदम्। अस्य च 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति विहिते=विज्ञाते बुद्धिस्थ एवेत्येषोऽर्थो वेदितव्यः। तेनायमर्थो भवति—डाचि विहिते बुद्धिस्थविषयभूत एवानुत्पन्ने 'डाचि बहुलं द्वे' इति द्विर्वचनमिति। अवश्यञ्चैतदेवं विज्ञेयम्; अन्यथा हि यदि डाचि विहिते कृत इत्येषोऽर्थः स्यात्, तदा डाचि परभूते 'डाचि बहुलं द्वे' इत्यनेन द्विर्वचनं विधीयेत। तथा च यद्वक्ष्यति—'डाचीति विषयसप्तमीयम्' इति तद् विरुध्यते। किं पुनः कारणम्—डाचि विहिते बुद्धिविषयीभूत एवानुत्पन्ने द्विर्वचनं विधीयते ? इत्याह—तच्चेत्यादि। चशब्दो हेतौ। यस्माद् द्विर्वचनं टिलोपात् पूर्वमिष्यते तस्माड डाचि विहिते बुद्धिस्थे विषयभूते एवानुत्पन्ने द्विर्वचनं विधीयते, न परभूते। एवं तट्टिलोपात् पूर्वं सिध्यति;

---

१. भाष्ये त्विदं वार्त्तिकरूपेणैव गृहीतमिति ध्येयम्।

२. 'मटमटाकरोति' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे।

अकः सवर्णे दीर्घः ॥ १०१ ॥

अकः सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति । दण्डाग्रम् । दधीन्द्रः । मधूदके । होतॄश्यः ।

अक इति किम् ? अग्नये । सवर्ण इति किम् ? दध्यत्र ।

पदमञ्जरी

ह्यर्थे चः, तद्धि द्विर्वचनं टिलोपात्पूर्वमिष्यते । एवं च पूर्वं सिद्धयति, यदि डाचि विधित्सित एव द्विर्वचनं भवति, नान्यथा । यदि हि परभूते द्विर्वचनं स्यात्, ततोऽन्तरङ्गत्वात्पूर्वं टिलोपे कृते टकारान्तस्य द्विर्वचने पटपटेति न सिद्ध्येत् ।

यद्वा—डाचि विहिते उत्पन्ने इत्यर्थः । ननु चोक्तम्—डाजेव न स्यादिति ? नैष दोषः; 'व्यजवराद्धात्' इति भाविव्यपदेशोऽयम् । यस्य व्यजवरार्द्धता भविष्यति द्विर्वचने कृते तस्मादित्यर्थः । यदि डाचि विहितं द्विर्वचनं परत्वाट्टिलोपप्रसङ्ग इत्युक्तम् ? तत्राह—*तच्चेत्यादि* । 'डाचि बहुलम्' इति बहुलग्रहणाद् द्विर्वचने कृते टिलोप इत्यर्थः ॥

अकः सवर्णे दीर्घः ॥ *अग्नये इति* । 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते दीर्घत्वप्रसङ्गः । *दध्यत्रेति* । असति सवर्णग्रहणे यणादेशस्य दीर्घस्य च विषयविभागो न ज्ञायेत, ततश्च पर्यायः स्यात् ।

न्यासः

नान्यथा । यदि हि डाचि परभूते द्विर्वचनं न क्रियते, तदान्तरङ्गत्वाट्टिलोपे कृते पश्चाट्टकारान्तस्य द्विर्वचनमापद्येत, तथा च पटपटेति न सिध्येत् । न च शक्यते वक्तुम्—'नित्यमाम्रेडितं डाचीत्येतद्वचनं ज्ञापकं पूर्वं द्विर्वचनं भवति ततष्टिलोपः' इति; यस्मात् पटदित्यादिकं टिलोपे कृते द्विरुच्यमानं यच्छब्दान्तं भवति तदर्थमेवेदं स्यात्—पटपटाकरोतीति ।

अथ वा—डाचीति डाचि विहिते सति परसप्तम्यामदोष इति मन्यमानेन डाचि विहित इत्युक्तम् । डाचि विहिते सति 'डाचि बहुलं द्वे' इत्यनेनोपसंख्यानेन द्विर्वचनम् । ननु चैवं सति 'सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान्' इति द्विर्वचनात् प्राक् टिलोपः स्यात्, तथा चानिष्टं रूपं प्रसज्येत ? इत्यत आह—**तच्चेत्यादि** । कथं पुनष्टिलोपात् पूर्वमिष्यमाणमेतल्लभ्यते ? बहुलग्रहणात् । अस्मिंस्तु व्याख्याने विहित इति दधातेरेव तद् रूपं वेदितव्यम् ॥

अकः सवर्णे दीर्घः ॥ **अग्नय इति** । परत्वाद् 'घेर्ङिति' इति गुणे कृतेऽगभावादत्र न भवति ।

दध्यत्रेति । ननु च यणादेशोऽत्र बाधको भविष्यति, तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन सवर्णग्रहणेन ? इहापि तर्हि बाधकः स्याद्—दधीन्द्रः, मधूष्णमिति । तस्माद् विषयविभागार्थं सवर्णग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

अचीत्येव—कुमारो शेते । 'नाज्झलौ' इत्यत्र यदजिति प्रत्याहार-ग्रहणं तत्र ग्रहणकशास्त्रस्यानिभिनिर्वृत्तत्वात्सवर्णा न गृह्यन्त इति सवर्णत्वमीकारशकारयोरप्रतिषिद्धम् ॥

❀ सवर्णदीर्घत्वे ऋति ॠ वा वचनम् ❀ । ऋति सवर्णे परभूते तत्र ॠ वा भवतीति वक्तव्यम् । होतृ + ऋकारः होतॄकारः । यदा

पदमञ्जरी

कुमारी शेत इति । ननु च तुल्यास्यप्रयत्नत्वेऽपि सावर्ण्यमत्र नास्ति, 'नाज्झलौ' इति प्रतिषेधात् ? इत्यत आह–*नाज्झलावित्यत्रेति* । 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति ग्रहणकवाक्यम्, तच्च 'नाज्झलौ' इत्यस्य प्रवृत्तिसमये नाभिनिर्वृत्तम्, तस्य हि सवर्णसंज्ञाङ्गम्, तेन यावत्सा न प्रवर्त्तते तावदनभिनिर्वृत्तम् । सवर्णसंज्ञाऽपि स्वापवादे 'नाज्झलौ' इत्यस्मिन्नप्रवृत्ते न प्रवर्त्तते, ततश्च पूर्वं 'नाज्झलौ' इत्यस्य प्रवृत्तिः, पश्चात्सवर्णसंज्ञायाः प्रवृत्तिः, पश्चाद् ग्रहणकवाक्यस्येति एष क्रमः । तेन 'नाज्झलौ' इत्यत्रागृहीतसवर्णानामचां ग्रहणमिति इकारशकारयोः सावर्ण्यमप्रतिषिद्धम्, तस्मादचीत्यनुवर्त्त्यमिति ।

ऋति ॠ व वचनमिति । मध्ये रेफभक्ती द्वे, आदितोऽज्भक्तेरर्द्धमात्रा, एवमन्ततः ।

न्यासः

कुमारी शेते इति । अत्र 'इचुयशास्तालव्याः' इति, 'विवृतं करणमूष्मणां स्वराणां च' इतीकारस्य सवर्णः शकारो यद्यपि भवति, तथाप्यज्ग्रहणानुवृत्तेर्न भवति । न च सावर्ण्यमप्यत्र नास्ति । 'नाज्झलौ' इति प्रतिषेधादित्यत आह—नाज्झलावित्यत्रेत्यादि । यदि 'नाज्झलौ' इत्यत्र 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययस्य' इत्येतद् ग्रहणकशास्त्रमभिनिर्वृत्तं स्याद्, एवमिकारो गृह्यमाण ईकारस्यापि ग्राहको भवति, ततश्च सवर्णत्वमीकारशकारयोः प्रतिषिध्येत । न च 'नाज्झलौ' इत्यत्र प्रतिषेधे कर्त्तव्ये ग्रहणकशास्त्रमभिनिर्वृत्तम्, तस्य हि शास्त्रस्य सवर्णसंज्ञाङ्गं निमित्तम्, ततो यावत् सा न प्रवर्त्तते, तावदङ्गवैकल्याद् ग्रहणकशास्त्रमनभिनिर्वृत्तम् । एवं सवर्णसंज्ञापि यावदपवादो नाभिनिर्वृत्तो भवति, तावत् क्व मया प्रवर्त्तितव्यमिति स्वविषयमजानाना न प्रवर्त्तते, ततो 'नाज्झलौ' इत्यस्यापवादस्यानभिनिर्वृत्तत्वात् सवर्णसंज्ञा न प्रवर्त्तते । तेनाङ्गवैकल्याद् ग्रहणकशास्त्रमपरिनिष्पन्नम्, अतोऽकः सवर्णा गृह्यन्ते । तेनागृहीतसवर्णानामेव प्रत्याहारसन्निविष्टानामयं प्रतिषेधः । न चायमीकारोऽक्षु सन्निविष्ट इति नासौ 'नाज्झलौ' इत्याजिति प्रत्याहारग्रहणेन गृह्यते । तेन सवर्णत्वमीकारशकारयोरप्रतिषिद्धम् ।

न ॠ, तदा दीर्घ एव होतॄकारः।

❀ ऌति ॡ वा वचनम् ❀। ऌति सवर्णे परतो ॡ वा भवतीति वक्तव्यम्। होतृ+ऌकारः। होतॢॡकारः। होतॄकारः। ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञाविधिरुक्तः। दीर्घपक्षे तु समुदायान्तरतमस्य ऌवर्णस्य दीर्घस्याभावात् ॠकारः क्रियते॥

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः॥ १०२॥

'अकः' इति 'दीर्घः' इति वर्तते। प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे

पदमञ्जरी

एवम् *ऌतीत्यत्रापि* मध्ये द्वे लकारभक्ती, अभितः पूर्ववत्। एवं द्विमात्रयोरप्येतयोरीषत्स्पृष्टत्वाद्विवृत्ताभ्यामृकारऌकाराभ्यामसावर्ण्याद्ग्रहणादीर्घसंज्ञाया अभावाद्वचनम्। अर्द्धतृतीयमात्रत्वात्तत्कालत्वाभावादित्यन्ये। एतच्च सवर्णसंज्ञाया प्रपञ्चितम्। *दीर्घपक्षे त्विति*। ऋकारऌकारयोः समुदायः स्थानी, न च तस्यान्तरतमो दीर्घः सम्भवति, अतोऽवयवस्य योऽन्तरतमः स एव भवति। तत्रापि ऌवर्णस्य दीर्घासम्भवादृकारस्य योऽन्तरतमः स ॠकार एव भवति॥

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः॥ प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे रूढ इति। सुपामाद्यत्रिके 'सपूर्वायाः प्रथमायाः', 'सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः' इत्यादौ तस्यैव ग्रहणात्। ननु च स्त्रीलिङ्गः प्रथमाशब्दस्तत्र रूढः, न चास्य स्त्रीलिङ्गत्वे प्रमाणमस्ति, प्रत्युत प्रथमशब्दस्तिङां त्रिकद्वयेऽस्मिन्नेवं शास्त्रे संज्ञात्वेन विनियुक्त इति तस्यैव ग्रहणं युक्तम्; ततश्च पचति, पचतः, पचन्ति, पचते, पचेते, पचन्ते, चकार, चक्रतुः, चक्रुः; चक्रे, चक्राते, चक्रिरे—इत्यादौ यथाप्राप्तविध्यन्तरबाधेनायं विधिर्युक्तः।

न्यासः

होतॢॡकारः, होतॄकार इति। कथं पुनरत्र दीर्घत्वम्, यावता ऋकारऌकारयोर्भिन्नस्थानत्वात् सवर्णसंज्ञा नास्ति? इत्यत आह—**ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञाविधिरुक्त इति**। ननु च ऋकारऌकारसमुदायोऽत्र स्थानीति तस्यैव योऽन्तरतमस्तेनैव युक्तमादेशेन भवितुम्, न च ॠकारस्तस्यान्तरतमस्तत् कथं स भवति? इत्यत आह—**दीर्घपक्षे त्वित्यादि**। समुदायान्तरतमस्याभावादिति। ऋकारऌकारसमुदायोऽत्र स्थानी, तस्य चान्तरतमो दीर्घो न सम्भवतीत्यवयवस्य योऽन्तरतमस्तेनैव युक्तमादेशेन भवितुम्। तत्रापि ऌकारस्य दीर्घो न सम्भवतीति ऋकारस्य योऽन्तरतमो दीर्घः स एव ॠकारो भवति॥

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः॥ प्रथमशब्दोऽयं सन्निवेशविशेषापेक्षेऽभिधेये वर्त्तते। परेष्वभिसमीक्षितेषु यस्मात्पूर्वो नास्ति स प्रथमशब्दाभिधेयः। इह च 'प्रथमयोः' इति सामान्येन निर्देशान्न ज्ञायते—कयोः प्रथमयोरिदं ग्रहणमित्यतस्तत्परिज्ञानायाह—**प्रथमा-**

रूढः, तत्साहचर्यात् द्वितीयापि प्रथमेत्युक्ता। तस्यां प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति। अग्नी। वायू। वृक्षाः। प्लक्षाः। वृक्षान्। प्लक्षान्।

पदमञ्जरी

किञ्चैव सति मुख्येऽपि प्रथमशब्दे 'प्रथमयोः' इति द्विवचनमुपपद्यते, आत्मनेपदपरस्मैपदभेदेन प्रथमस्य भेदात्? उच्यते; एवं सति द्विवचननिर्देशोऽनर्थकः; 'लुटः प्रथमस्य' इत्यादिवत्सिद्धत्वात्। यद्वा–'वा सुप्यापिशलेः' इत्यतः सुपीत्यनुवर्त्तयिष्यते, तेन सुप एव प्रथमस्य ग्रहणम्, लिङ्गाच्च, किं लिङ्गम्? 'दीर्घाज्जसि च' 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति। अत एव लिङ्गात्सुपामप्यादितः प्रथमयोर्द्वयोर्ग्रहणं भवति, अचीत्यधिकाराच्च, न हि सुरजादिः। सुरपि कुण्डं तिष्ठतीत्यदावजादिः? नात्रायं विधिः प्राप्नोति, कारणम्? अमि पूर्वत्वेन बाध्यते। तस्मात् स्त्रीलिङ्गस्य ग्रहणमिति स्थितम्। *तत्साहचर्याद् द्वितीयापि प्रथमेत्युक्तेति*। द्विवचनं चात्र प्रमाणम्। ननु सकृच्छ्रुतः शब्दो मुख्यवृत्तिरेव वा भवति, जघन्यवृत्तिरेव वा, न पुनरुभयवृत्तिः? प्रथमाद्वितीयासमुदाये जघन्यवृत्तिरेवायम्, स च समुदाय उद्भूतावयवभेद इति द्विवचनोपपत्तिः, यथा—छत्त्रिणो गच्छन्तीति।

वृक्षाः, प्लक्षा इति। नन्वत्रापि 'अतो गुणे' इति पररूपेण भवितव्यम्, ना-

न्यासः

शब्द इत्यादि। प्रथमाशब्दोऽयमिह शास्त्रे विभक्तिविशेषे रूढः, सुपां यदाद्यं त्रिकं तत्र प्रसिद्धः। तथा हि—'सपूर्वयोः प्रथमयोर्विभाषा', 'सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः' इत्येवमादिषु निर्देशेषु प्रथमाशब्देन स एव विभक्तिविशेषो निर्दिष्टः। तस्माद् रूढिशब्दत्वादिह प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे वर्त्तत इति विज्ञायते।

ननु च स्त्रीलिङ्गो यः प्रथमाशब्दः स इह शास्त्रे विभक्तिविशेषे रूढः, अस्य च स्त्रीलिङ्गतैव सन्दिग्धा? नैतदस्ति; प्रथमशब्दोपादानादेव स्त्रीलिङ्गोऽयमुपात्त इत्यवसीयते। यदि हि पुंल्लिङ्गस्येदमुपादानं स्यादेवं सति प्रत्ययग्रहणमेव स्यात्। यदि च प्रत्ययग्रहणमभीष्टं स्यात् तदौजसोरित्येवं ब्रूयात्। न चैवमुच्यमाने द्वितीयासम्बन्धिनोऽप्यौकारस्य ग्रहणप्रसङ्गः; इह जसा साहचर्यात् प्रथमासम्बन्धिन एवौकारस्य ग्रहणं विज्ञास्यते। तस्मात् स्त्रीलिङ्गस्येदं ग्रहणमित्यसन्दिग्धमेतत्।

ननु च यदि प्रथमाशब्दोऽयमिह शास्त्रे विभक्तिविशेषे रूढः, एवं सति विभक्तिविशेष एक इत्येकवचनेनैव भवितव्यम्, तत् कथं प्रथमयोरिति द्विवचनम्? इत्यत आह—**तत्साहचर्यादित्यादि**। तेन प्रथमाख्येन विभक्तिविशेषेण साहचर्याद् द्वितीयापि विभक्तिः प्रथमेत्युक्ता, ततश्च द्वित्वाद् द्विवचनमेव न्याय्यम्। तदेतेन प्रथमयोरिति विभक्त्योरिदं ग्रहणं न प्रत्यययोरिति दर्शयति। **वृक्षाः, प्लक्षा इति**। कथमिदमुदा-

'अतो गुणे' इति यदकारे पररूपं तदकः सवर्णे दीर्घत्वमेव बाधते, न तु पूर्वसवर्णदीर्घत्वम्, 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इति ।

पदमञ्जरी

प्राप्ते विध्यन्तरे तस्यारम्भात् । स्यादेतत्—प्रथमयोरित्येतदपि दीर्घत्वं नाप्राप्ते विध्यन्तरे आरभ्यमाणम् अग्नी इत्यादौ यथा बाधते, तथा पररूपमपि बाधिष्यते इति ? तत्र, स्वरसन्धिषु गुणयणावुत्सर्गौ, वृद्धिः सवर्णदीर्घत्वं पूर्वसवर्णादेशश्च तयोरपवादा इति द्वितीयकक्षाप्राप्ताः, पररूपं तु तृतीयकक्षाप्राप्तमिति तदेव प्राप्नोति । एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते—प्रथमयोरिति, अकः सवर्णे इत्येव, तेन वृक्षा इत्यादौ पररूपं बाधित्वा प्रथमयोरकः सवर्णे दीर्घत्वं भविष्यति; यथैव तर्हि योगविभागः पररूपं बाधते, तथा वृक्षमित्यादावमि पूर्वमपि बाधेत, तस्य त्वग्निमित्यादिरवकाशः ? नैष दोषः; 'अमि पूर्वः' इत्यत्रामीति विभज्यते, तत्र च पूर्वसवर्णदीर्घप्रतिषेधः प्रकृतोऽनुवर्त्तिष्यते । प्रथमयोरिति योगविभागेन प्राप्तं दीर्घत्वमपि न भवतीत्यर्थः । एवमपि 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इत्यत्र तच्छब्देनानन्तरो दीर्घः परामृश्यते, एतान् गाश्चरतो बलीवर्दान्पश्य इत्यत्र 'औतोम्शसोः' इत्येकादेशान्मा भूदिति, ततः किम् ? योगविभागे क्रियमाणे अग्नीन्, वायूनित्यादावेव नत्वं स्यात्, न तु वृक्षानित्यादौ यत्र प्रथमयोरिति योगविभागाद् दीर्घो विधीयते ? अयमप्यदोषः; तस्मादित्यनेनाक्स्थानिको दीर्घः परामृश्यते, नानन्तरः, नापि दीर्घमात्रम्, एतच्चाक इत्यनुवृत्तेर्लभ्यते । मा भूद्वा योगविभागः—प्रथमयोरिति । ननु चोक्तम्–वृक्षा इत्यादौ पररूपप्रसङ्ग इति ? नैष दोषः; आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न जस्शसोः पररूपं भवतीति, यदयं 'नादिचि' इतीज्ग्रहणं करोति; अन्यथा अवर्णान्तस्य नास्त्येत्र दीर्घप्रसङ्ग इति किमिज्ग्रहणेन ? केवलोत्तरार्थे हि तस्मिंस्तत्रैव कर्त्तव्यं स्यात् । यद्वा—'दीर्घाच्छसि' इत्येव ब्रूयात्, किमर्थमिदम् ? नियमार्थम्–दीर्घाच्छस्येवेति । तेन जस्शसोर्न भविष्यति ।

वृत्तिकारस्तु यथोक्ते परिहारे प्रतिपत्तिगौरवप्रसङ्गान्न्यायतः परिहारमाह–*अतो गुण इति यदकारे पररूपमित्यादि* । न्यायं दर्शयति—*पुरस्तादिति* । इतिकरणो हेतौ ।

न्यासः

कृतम् ? यावता 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपेणात्र भवितव्यम्, तद्धि नाप्राप्ते विभक्त्यन्तर आरभ्यमाणं यथाऽकः सवर्णे दीर्घत्वं बाधते, तथा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घत्वमपि बाधेत ? इत्यत आह—अतो गुण इत्यादि । अत्रैवोपपत्तिमाह—पुरस्तादित्यादि । इतिकरणो हेतौ । यस्मात् 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते

अचीत्येव वृक्षः । वृक्षः, प्लक्षः ।

अक इत्येव—नावौ ।

पूर्वसवर्णग्रहणं किम् ? अग्नी इत्यत्र पक्षे परसवर्णो मा भूत् । दीर्घग्रहणं किम् ? त्रिमात्रे स्थानिनि त्रिमात्रादेशनिवृत्त्यर्थम् ॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ १०३ ॥

पदमञ्जरी

अग्नी इत्यत्रेति । असति हि पूर्वग्रहणे पूर्वसमुदायस्य स्थानिनोऽन्तरतमस्य दीर्घस्याभावादवयवान्तरतमो भवन् पूर्वस्यैवेति नियमकारणाभावात्परसवर्णोऽपि स्यात्, ततस्तन्निवृत्त्यर्थम् । पूर्वग्रहणं तु विप्रतिषेधनिराकरणार्थम्; अन्यथा अग्नी इत्यत्र विप्रतिषिद्धमापद्यते । कथम् ? 'दीर्घः' इति वर्तते, यदि पूर्वो न दीर्घः, यदि दीर्घो न पूर्वः । ननु दीर्घग्रहणानुवृत्तिसामर्थ्यात् पूर्वशब्देन पूर्वाकृतिर्ग्रहीष्यते ? कथं पुनः सामर्थ्यम्, यावता यत्र पूर्वव्यक्तिर्दीर्घभूता—कुमारीः पश्य, भद्राः पश्येत्यादौ तत्रैव यथा स्यात्, अग्नी इत्यादौ मा भूदित्येवमर्था दीर्घानुवृत्तिः स्यात् ? यद्येतावत्प्रयोजनं स्याद्–'दीर्घाच्छसि पूर्वोऽमि च' इति ब्रूयात्; यतस्तु खलु प्रथमयोरित्यारभ्यते ततो ज्ञायते–न केवलं कुमारीः पश्येत्यादौ दीर्घस्यैव प्रथमयोरित्यनेन दीर्घो विधित्सितः, किं तर्हि ? अग्नी इत्यादावपीति, तच्चा-

न्यासः

नोत्तरान्' इति तस्माद् 'अतो गुणे' पररूपम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वं बाधते; तस्यैव तदनन्तरत्वात् । 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घत्वं तु न बाध्यते; विपर्ययात् ।

अग्नी इत्यत्रेत्यादि । असति पूर्वग्रहणे अग्नी इत्यत्र पूर्वपरसमुदायः स्थानी, तस्य चान्तरतमो दीर्घ आदेशो नास्तीत्यवयवान्तरतमो यस्तेन भवितव्यम् । अवयवौ चात्र द्वौ—पूर्वः, परश्चेति; तत्र च पूर्वस्यैव भवितव्यमिति नियमो न लभ्यते, नियमकरणाभावादिति तयोः पर्यायेण भवन्नादेशः पक्षे परसवर्णो वा स्याद् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थं पूर्वग्रहणम् ।

सवर्णग्रहणं तु विप्रतिषेधनिरासार्थम् । असति हि तस्मिन् दीर्घ इत्यनुवर्त्तमानेऽग्नी इत्यत्र विप्रतिषिद्धत्वमापद्येत यदि पूर्वो न दीर्घः; अथ दीर्घो न पूर्वः । यदि न पूर्वशब्देन पूर्वाकृतिरुच्येत, दीर्घादनुवृत्तेः पूर्वस्येति षष्ठी वा क्रियेत । तथा च सवर्णग्रहणं शक्यमकर्तुम् । क्रियमाणं वा तत् सुखप्रतिपत्त्यर्थं वेदितव्यम् ।

दीर्घग्रहणं त्रिमात्रे स्थानिनीत्यादि । अग्नि + औ इति स्थिते, असति दीर्घग्रहण एकादेशः क्रियमाणः स्थानिन आन्तरतम्यात् त्रिमात्रः प्राप्नोति; स्थानिनस्त्रिमात्रकत्वात् । तथा हि–अग्निशब्दस्येकार एकमात्रः, औकारो द्विमात्र इत्येतत्समुदायात्मकश्चात्र स्थानी । तस्मात् त्रिमात्रे स्थानिन्यन्तरतमस्त्रिमात्र आदेशो मा भूदित्येवमर्थं

तस्मात्पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य पुंसि नकारादेशो भवति । वृक्षान् । अग्नीन् । वायून् । कर्तॄन् । हर्तॄन् । षण्डकान् । पण्ढकान् । स्थूरकान् । अररकान्पश्य । सर्व एते पुंल्लिङ्ग-विशिष्टं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति ।

पदमञ्जरी

क्वविविवक्षायामुपपद्यते ? सत्यम् ; तदेव सवर्णग्रहणेनापि विस्पष्टीक्रियते-*त्रिमात्रे स्थानिनि त्रिमात्रादेशनिवृत्त्यर्थमिति* । आन्तरतस्यात् त्रिमात्र एव प्राप्नोति । यत्र प्लुताप्लुतप्रसङ्गः स एव 'प्लुतश्च विषये स्मृतः' इत्यस्य विषयः, इह तु प्लुत-स्यैव प्रसङ्ग इति नायमस्य विषयः ॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ तस्मादित्यनेनानन्तरः पूर्वसवर्णदीर्घो निर्दिश्यत इत्याह-*तस्मात्पूर्वसवर्णदीर्घादिति* । *उत्तरस्य शसोऽवयवस्येति* । उत्तरस्येत्येतच्छ-सवयवस्य विशेषणम्, तस्मादुत्तरो यः शसोऽवयवस्तस्येति, न तु शसः; असम्भ-वात् । न हि पूर्वसवर्णदीर्घात् परः क्वचिच्छस् सम्भवति । अन्तादिवद्भावोऽपि न भवति; उभयत आश्रयणात् । अत एवानुपात्तमप्यवयवस्येति लभ्यते । 'बहुषु बहुवचनम्' इत्यत्र 'त्रिकं प्रातिपदिकार्थः' इत्युक्तम्, तेन 'पुंसि' इत्येतत्प्रकृति-विशेषणम्—पुंशब्दात् परस्य शसोऽवयवस्येति । यद्येवम्, वृक्षानित्यादिकं पदं नकारान्तमुदाहरणमुपपद्यते । षणुकषण्ढकशब्दाविह लोकप्रसिद्ध्या नपुंसके वर्त्तमानावपि पुंस्त्वानुगतमेवार्थमाहतुः, यथा कुमार्यादिषु वर्त्तमानोऽर्थशब्दः, सामान्यविशेषा एव स्त्रीत्वादयो न पुनस्तनादयः । स्त्रीसूत्रे चैतदुपपादितम् । स्थूरकानित्यादि तूदाहरणद्वयमयुक्तम्, कथम् ? स्थूरकाया अपत्यानि, अररकाया अपत्यानि 'गर्गादिभ्यो यञ्', बहुषु लुक्, स्त्रीप्रत्ययस्यापि 'लुक् तद्धितलुकि' इति लुक्; स्थूरक, अररक-इत्येतौ स्त्रीशब्दौ, ताभ्यां परोऽत्र शस् भवति; न तु

न्यासः

दीर्घग्रहणम् । दीर्घग्रहणे हि सति तेनादेशे विशिष्यमाणे त्रिमात्रस्यादेशप्रसङ्गो न भवति; द्विमात्रस्यैव दीर्घसंज्ञाविधानात् ॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादिति । एतेन तस्मादित्यने-नानन्तरः पूर्वसवर्णदीर्घो निर्दिष्ट इति दर्शयति । **शसोऽवयवस्य सकारस्येति** । अनेन शस इति सकारावयवापेक्षयावयवषष्ठीति पुंसीति प्रत्ययार्थस्येदं वा विशेषणम्—पुंसि चेद् बहुत्वे शसुत्पन्न इति । प्रकृतिविशेषणं वा—पुंशब्दाच्चेत् परः शसिति । तत्र यदा प्रत्ययार्थस्य विशेषणं तदा 'सर्व एते' इत्यादेरयं पूर्वपक्षः—वृक्षान्, अग्नीनित्यादिकं युक्तमुदाहरणम्; पुंसां बहुत्वेऽत्र शस उत्पन्नत्वात् । षण्डकान्, पण्ढकानिति—एतदुदाहरणद्वयमयुक्तम्; न ह्यत्र पुंसां बहुत्वे शस् उत्पन्नः, किं तर्हि ? नपुंसकाना-मित्यत आह—**सर्व एत इत्यादि** । सर्वग्रहणेन न केवलं वृक्षादयः शब्दाः पुंल्लिङ्गेन

इह तु चञ्चेव चञ्चा, 'लुम्मनुष्ये' इति कनो लुपि कृते 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इति पुंसोऽपि स्त्रीलिङ्गता, तेन नत्वं न भवति— चञ्चाः पश्य, वध्रिकाः पश्येति।

पदमञ्जरी

पुंशब्दाभ्यामित्यत आह—*सर्व एत इति*। न केवलं वृक्षादयः, अपि त्वेतावपीति सर्वशब्दस्यार्थः, लुप्तेऽपि प्रत्यये प्रकृतिरेव तदर्थे वर्त्तते, प्रत्ययार्थश्चात्रायमन्यरूपः। *पुंस्त्वविशिष्ट इति*। स्त्रीवाचकत्वेन प्रसिद्धावप्येतावस्मिन् प्रयोगे पुंशब्दाविति भावः।

यद्येवम्, चञ्चेव चञ्चाः पुमांस इति 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनः 'लुम्मनुष्ये' इति लुपि कृते प्रकृतिरेव चञ्चाशब्दः पुंस्त्वविशिष्टं प्रत्ययार्थमस्मिन प्रयोग आहेति नत्वप्रसङ्गः? इत्यत आह—*इह त्वित्यादि*। प्रत्ययार्थोऽपि नैवात्र पुंस्त्वविशिष्टः, किं तर्हि? अतिदेशात् स्त्रीत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

न्यासः

सामान्यविशेषेण विशिष्टं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति, अपि तु षण्डकपण्डकशब्दावपीति दर्शयति। स्वार्थः पुनरेषां पुंस्त्वेन सामान्यविशेषेणावच्छिन्नं वृक्षादिकं द्रव्यम्। तदेवं यतः सर्व एते पुंल्लिङ्गविशिष्टार्थाभिधायिनः, तेनैतेभ्य उत्पद्यमानः शस् पुंसामेव बहुत्वे उत्पद्यत इति पूर्वपक्षो निराकृतो भवति। यदा तु प्रकृतिविशेषणं तदायं पूर्वपक्षः— वृक्षानित्यादिकमित्युदाहरणमुपपद्यते, तत्र हि पुंशब्दात् परः शस् भवति; स्थूरान्, अररकानिति इदमुदाहरणद्वयं नोपपद्यते; तथा हि—स्थूराया अपत्यानि अररकाया अपत्यानीति 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्, तस्य 'यञञोश्च' इति लुकि कृते स्त्रीप्रत्ययस्यापि 'लुक् तद्धितलुकि' इति लुक्—स्थूर, अररक, इत्येताभ्यां स्त्रीशब्दाभ्यामुत्पन्नोऽत्र शस् स्त्रीशब्दाभ्यां परो भवति, न नपुंसकशब्दाभ्याम्? इत्यत आह—सर्व एत इत्यादि। प्रकृतिरेव ह्यत्र तद्धितलुगन्ता प्रत्ययार्थे वर्त्तते, स च प्रत्ययार्थः पुंल्लिङ्गेन विशिष्टः। तस्मान्न केवलं वृक्षादयः शब्दाः पुंल्लिङ्गेन विशिष्टं वृक्षादिकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति, अपि तु स्थूराररकशब्दावपीति पूर्वपक्षः प्रतिक्षिप्तो भवति।

अयं तर्हि प्रत्ययार्थविशेषणपक्षे दोषः—चञ्चेव चञ्चाः पुमांस इति। 'इवे प्रतिकृतौ' कन्, 'लुम् मनुष्ये' इति लुप्; यदा लुबन्ताच्चञ्चाशब्दाद् पुंसां बहुत्वे शस् उत्पद्यते, तदा चञ्चाः पश्येत्यत्र नत्वं प्राप्नोति? इत्यत आह—इह त्वित्यादि। नैव ह्यत्र पुंबहुत्वे शस् उत्पन्नः, किं तर्हि? स्त्रीबहुत्वे; पुंसोऽपि युक्तवद्भावेन स्त्रीत्वातिदेशात्। ततोऽत्र नत्वं न भवति।

दीर्घग्रहणं प्रकृतम्, तस्य चेहार्थवशेन पञ्चम्यन्तस्योपस्थाने सत्यन्तरेणापि तस्मादित्येतद् वचनं दीर्घादेवोत्तरस्य शसो नत्वं भविष्यतीत्यभिप्रायेणाह—

तस्मादिति किम् ? एतांश्चरतो गाः पश्य । शस इति किम् ? वृक्षाः । प्लक्षाः । पुंसीति किम् ? धेनूः । बह्वीः । कुमारीः ॥

नादिचि ॥ १०४ ॥

अवर्णादिचि पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति । वृक्षौ । प्लक्षौ । खट्वे । कुण्डे ।

आदिति किम् ? अग्नी । इचीति किम् ? वृक्षाः ॥

दीर्घाज्जसि च ॥ १०५ ॥

पदमञ्जरी

तस्मादिति किमिति । प्रकृतस्य दीर्घग्रहणस्य पञ्चम्या विपरिणामात्सिद्धमिति प्रश्नः । *एतान् गाः पश्येति* । 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वमेकादेशः, 'एकः पूर्वपरयोः' इति महाप्रकरणम्, ततश्च तद्विषयमेव नत्वं स्यादिति मन्यते । नन्वेवं 'षत्वतुकोरसिद्धः' इति च तत्रैव कर्त्तव्यम्—शसो नः पुंसीति, इह तु प्रकरणादनन्तरमेवोपजीविष्यते ? तदेव तर्हि तस्माद्ग्रहणेन विस्पष्टयते ॥

नादिचि ॥ *खट्वे इति* । 'औङ आपः' इति औङः शीभावः । *कुण्डे इति* । अत्रापि 'नपुंसकाच्च' इति ॥

दीर्घाज्जसि च ॥ आदिति नानुवर्तते, चकारेणेचोऽनुकर्षणसामर्थ्यात्; अन्यथा पूर्वेणैव दीर्घादप्यवर्णादिचि सिद्धः प्रतिषेध इति किं तदनुवृत्त्यर्थेन चकारेण ! दीर्घग्रहणं किम्, यावता ऋवर्णस्य 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणविधानान्नातिप्रसङ्गः? एवमिदुतोरपि 'जसि च' इति गुणो विधीयते । इह तर्हि वृक्षाः, अग्नी, वायू ; इति ह्रस्वादपि प्रतिषेधः स्यात् ? नैष दोषः; 'नादिचि' इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति, अगृह्यमाणविशेषत्वाच्चोभयथानियमः—आदिच्येव, आदेवे-

न्यासः

तस्मादिति किमिति । एतान् गाश्चरतः पश्येति । 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वम् । यद्यनन्तरदीर्घप्रत्यवमर्शी तच्छब्देनोपादीयेत, तदाऽविशेषेण दीर्घमात्रान्नत्वं विधीयमानम्—एतान् गाश्चरतः पश्येत्यत्रापि स्यात्, भवति ह्ययमाकारो दीर्घः । तस्मात् तच्छब्दे तु न दोषः; न ह्ययमनन्तरसूत्रविहित आकारः ॥

नादिचि ॥ खट्वे इति । 'औङ आपः' इति शीभावः । कुण्डे इति । अत्रापि 'नपुंसकाच्च' इति, तत्र कृते 'आद्गुणः' इति गुणः ॥

दीर्घाज्जसि च ॥ 'आत्' इति नानुवर्त्तते,तेनायं दीर्घमात्रात् पूर्वसवर्णस्य प्रतिषेधः। अथ खट्वा इत्यत्र कथम् 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घत्वम्, नैव ह्यत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घत्वम्, किं तर्हि ? तस्मिन् प्रतिषिद्धे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वम् ? दीर्घादिति वचनं स्पष्टार्थम् । ननु चासति तस्मिन् वृक्षा इत्यत्रापि स्यात् ? नैतदस्ति; यदि ह्यत्रापि स्यात्, तदा पूर्वसूत्रे 'इचि' इत्येतदपार्थकं स्यात् । इह तर्हि

दीर्घाज्जसि इचि च परतः पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति । कुमार्यौ । कुमार्यः । ब्रह्मबन्ध्वौ । ब्रह्मबन्ध्वः ॥

वा छन्दसि ॥ १०६ ॥

दीर्घाच्छन्दसि विषये जसि च इचि च परतो वा पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति । मारुतीश्चतस्रः । पिण्डीः । मारुत्यश्चतस्रः ।

पदमञ्जरी

चीति । तत्राद्येन नियमेन वृक्षा इत्यादि सिद्धम्; द्वितीयेनाग्नी, वायू इत्यादि । यथैव तर्ह्यग्नी, वायू इत्यादौ निषेधो न भवति; एवं कुमार्यौ, वध्वावित्यादावपि न स्यात्, तस्माद् दीर्घादिति वक्तव्यम् । जस्ग्रहणं शस्निवृत्त्यर्थम्, अन्यथा कुमारीः पश्य, वधूः पश्येत्यादौ शस्यपि प्रतिषेधः स्यात् । ज्ञापकान्न भविष्यति, यदयम्, 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति पुंग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयति–न शसि प्रतिषेधो भवतीति; तद्धि नपुंसके सवर्णदीर्घत्वासम्भवात् स्त्रीनिवृत्त्यर्थं कृतम्, यदि च स्त्रियामप्ययं कुमारीः पश्येत्यादौ शस्यपि प्रतिषेधः स्यात्तदा पूर्वसवर्णदीर्घत्वाभावादेव नत्वं न भविष्यति, किं पुंग्रहणेन ? नैतदस्ति ज्ञापकम्; ह्रस्वान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदर्थमेतत् स्यात्—कृतीः पश्य, धेनूः पश्येति । तस्मात् 'जसि च' इत्येतदपि वक्तव्यमेव ।

वा छन्दसि ॥ *मारुतीरिति* । मरुतो देवता आसामिति 'सास्य देवता' इत्यण्, ङीप्, जसि पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । *वाराहीति* । वराहस्य विकार इति

न्यासः

स्याद्—अग्नये इति ? इष्टत्वाददोषः । अत्र हि परत्वात् 'जसि च' इति गुण एव भवति । उत्तरार्थं तर्हि स्यात्—'वा छन्दसि' इति दीर्घाद् यथा स्यात् ? नैतदस्ति; वाग्रहणस्य तत्र व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्—दीर्घादेव भविष्यति, न ह्रस्वात् । 'जसि च' इत्येतदपि स्पष्टार्थमेव । ननु चासति 'जसि च' इत्येतस्मिन् युवतीः पश्य, पद्धतीः पश्येत्यादौ शस्यपि प्रतिषेधः स्यात् ? ज्ञापकान्न भविष्यति, यदयम् 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति पुंग्रहणं करोति, तज् ज्ञापयति–शसि प्रतिषेधो न भवतीति । तद्धि नपुंसके पूर्वसवर्णदीर्घत्वासम्भवात् स्त्रीनिवृत्त्यर्थमेव क्रियते । यदि च स्त्रियामप्ययं युवतीः पश्येत्यादौ प्रतिषेधः स्यात्, तदा पूर्वसवर्णदीर्घत्वाभावान् नत्वस्य प्राप्तिरेव नास्तीति किं पुंग्रहणेन ? उत्तरार्थं तर्हि जस्ग्रहणम् ? नैतदस्ति; वाग्रहणस्य तत्र व्यवस्थितविभाषात्वविज्ञानादेव जसोऽन्यत्र न भविष्यति ॥

वा छन्दसि ॥ मारुतीरिति । मरुद् देवता आसामिति 'सास्य देवता' इत्यण्, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप; सवर्णदीर्घत्वम् । वाराहीरिति । वराहस्य विकार इति

पिण्ड्यः । वाराही । उपानही । वाराह्यौ । उपानह्यौ ॥

अमि पूर्वः ॥ १०६ ॥

'अकः' इत्येव । अमि परतोऽकः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । वृक्षम् । प्लक्षम् । अग्निम् । वायुम् ।

पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्व एव यथा स्यात्, पूर्वसवर्णोऽन्तरतमो मा भूदिति कुमारीमित्यत्र हि त्रिमात्रः स्यात् ।

पदमञ्जरी

'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' इति 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्', ङीप्, द्विवचने पूर्वसवर्णदीर्घः । उपानहौ विशेष्ये ॥

अमि पूर्वः ॥ 'दीर्घात्' इति नानुवर्त्तते, आरम्भसामर्थ्यात् ।

पूर्वग्रहणमित्यादि । यः पूर्वः श्रुतः, स एव यथा स्यात्, कः पुनरन्यः प्राप्नोति ? तत्राह—*पूर्वसवर्णो दीर्घो मा भूदिति* । कचित्तु समासः पठ्यते, स कर्मधारयो द्रष्टव्यः । एतदुक्तं भवति—असतीह पूर्वग्रहणे प्रकृतं पूर्वग्रहणमनुवर्त्यम्, तस्मिंश्चानुवर्त्तमाने तत्सम्बद्धं सवर्णग्रहणमप्यनुवर्त्यम्, ततश्च पूर्वस्य यः सवर्णः स एवान्तरतमः प्रसज्येत, तत्र को दोषः ? न तावद्वृक्षमित्यादौ द्विमात्रस्य स्थानित्वेन द्विमात्रप्रसङ्गः, वचनसामर्थ्यात् 'प्रथयोः पूर्वसवर्णः' इत्येव दीर्घस्य सिद्धत्वात् ? अत आह—*कुमारीमित्यत्रेति* ।

न्यासः

'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' इत्यण्, पूर्ववद् ङीप् । उपानहीति । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् ॥

अमि पूर्वः ॥ पूर्वसवर्णदीर्घत्वे प्राप्ते वचनमिदम् । दीर्घ इति चेहानुवर्त्तते, अन्यथा हीदं वचनमनर्थकं स्यात् ।

अथ पूर्वग्रहणं किमर्थम्, यावता प्रकृतं यत् पूर्वग्रहणं तदेवेहानुवर्त्तिष्यत इति ? अत आह—**पूर्वग्रहणमित्यादि** । यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक एव यथा स्यादित्येवमर्थं पूर्वग्रहणम् । एवकारेण यद्व्यवच्छिन्नं तद् दर्शयितुमाह—**पूर्वसवर्णान्तरतमो मा भूदिति** । पूर्वसवर्णश्चासावन्तरतमश्चेति कर्मधारयः । असति हि पूर्वग्रहणे यत् पूर्वकं पूर्वग्रहणं तेनैवानुवर्त्तितव्यम्, तस्मिंश्चानुवर्त्तमाने तत्सम्बद्धं सवर्णग्रहणमप्यनुवर्त्तेत, तथा च 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनया परिभाषया पूर्वस्य यः सवर्णः स एव प्रसज्येत । किं पुनरेवं सत्यनिष्टं स्यात्, वृक्षमित्यादौ द्विमात्रस्य स्थानिनो द्विमात्र एव स्यादिति चेत् ? नैतदस्ति; एवं हि वचनमिदमनर्थकं स्यात्, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इत्यनेन सिद्धत्वादित्यत आह—**कुमारीमित्यत्र हीत्यादि** । कुमारीशब्दस्येकारो द्विमात्रः, अमोऽकारो मात्रिकः; तत्समुदायात्मकश्चात्र स्थानी, तत्र पूर्वसवर्णो विधीय-

वा छन्दसीत्येव—शमीं च, शम्यं च । गौरीं च, गौर्यं च ॥

सम्प्रसारणाच्च ॥ १०८ ॥

'पूर्वः' इत्येव । सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । यजि—इष्टम् । वपि—उप्तम् । ग्रहि—गृहीतम् । सम्प्रसारणविधानसामर्थ्याद्विगृहीतस्य श्रवणे प्राप्ने पूर्वत्वं विधीयते ।

वा छन्दसीत्येव—मित्रावरुणौ यज्यमानौ ।

पदमञ्जरी

वा छन्दसीत्येवेति । एतच्च वाक्यभेदेन सम्बद्ध्यते, अन्यथा भाषायां न स्यात् । *शम्यं चेति* । विकल्पविधानसामर्थ्यात्पूर्वत्वाभावे पूर्वसवर्णदीर्घोऽपि न भवति, तयोरत्र विशेषाभावादिति यणादेश एव भवति ॥

सम्प्रसारणाच्च ॥ *सम्प्रसारणविधानसामर्थ्यादिति* । कथं पुनः सामर्थ्यम्, यावता संहितायां यण् विधीयते, असंहितायां संप्रसारणं चरितार्थम् ? नैतदस्ति; 'संहितैकपदे नित्या' इति वचनात् ।

वा छन्दसीत्येवेति । पूर्ववद्वाक्यभेदेन सम्बन्धः । *यज्यमान इति* । नन्विदानीमेवोक्तम्—विगृहीतस्य श्रवणं प्राप्नोति, तत्कथमत्र यणादेशः ? अत आह—*पूर्वत्वविधाने हीति* । सत्यम्, अनारब्धे पूर्वत्वे विगृहीतश्रवणं प्राप्नोति, सम्प्रसारण-

न्यासः

स्त्रिमात्रस्य स्थानिनोऽन्तरतमस्त्रिमात्र एव स्यात्, पूर्वग्रहणे तु सति यथाजातीयकः एव पूर्वः, तथाजातीयक एव द्विमात्रो भवति ।

वा च्छन्दसीत्येवेत्यादि । यदि तर्हि 'वा च्छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते, तेन सहास्यैकवाक्यतायां भाषायां परपूर्वत्वं न सिध्यति ? नैतदस्ति; यस्मात् तदिहानुवर्त्तमानं पूर्ववद् वाक्यभेदेन च्छन्दस्येव विकल्पं करोति, न भाषायाम् ॥

सम्प्रसारणाच्च ॥ सम्प्रसारणस्य यणादेशो मा भूदित्येवमर्थमिदं परपूर्वत्वं विधीयते । यदि चात्र यणादेशः स्यात्, तदा सम्प्रसारणविधानमनर्थकं स्यात् । तस्मात् सम्प्रसारणविधानसामर्थ्यादेव यणादेशो न भविष्यति, तत् किमर्थमिदं विधीयते ? इत्याह—**सम्प्रसारणविधानसामर्थ्यादित्यादि** । सम्प्रसारणविधानसामर्थ्याद् यणादेशो न भवतीति विगृहीतस्याकृतसंहिताकार्यस्य श्रवणं प्राप्नोति, तस्मान्मा भूदेष दोष इति परपूर्वत्वं विधीयते ।

वा च्छन्दसीत्येवेत्यादि । अत्रापि पूर्ववद् वाक्यभेदो द्रष्टव्यः; अन्यथा भाषायां न स्यात् । **यज्यमान इति** । परपूर्वत्वाभावपक्षे यणादेशः । कथं पुनरत्र यणादेशः, यावता विगृहीतस्यैव ग्रहणेन भवितव्यम्, इदानीमेव ह्युक्तम्—सम्प्रसारणविधानसामर्थ्याद्विगृहीतस्यैव श्रवणे प्राप्ते परपूर्वत्वं विधीयते ? इत्यत आह—**परपूर्वत्वविधान**

परपूर्वत्वविधाने सत्यर्थवत्सम्प्रसारणविधानमिति इष्ट इत्येवमादिषु पूर्वत्वाभावे यणादेशो भवत्येव ।

अन्तरङ्गे चाचि कृतार्थं वचनमिति बाह्ये पश्चात्सन्निपतिते पूर्वत्वं न भवति—शकह्वौ, शकह्वर्थम् ॥

एङः पदान्तादति ॥ १०६ ॥

एङ् यः पदान्तस्तस्मादति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेका-

पदमञ्जरी

विधानं व्यर्थं मा भूदिति, पूर्वत्वविधाने हि सति तत्प्रतिपत्तिविषये अर्थवत्सम्प्रसारणमिति पूर्वत्वाभावपक्षे यणादेशो भवत्येव, 'सम्प्रसारणपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणम्', यस्मिन्नङ्गे संप्रसारणमवस्थितं तदन्तर्भूतो योऽच् तेनैव सह यथा स्यात्, इह मा भूत्—शकह्वौ, शकह्वर्थमिति, शकान् ह्वयतीति क्विपि यजादित्वात्सम्प्रसारणम्, योऽन्यो धातोराकारः तस्मिन्नेवाङ्गेऽन्तर्भवति तस्य तावत् पूर्वत्वम्, विभक्त्योकारोऽर्थशब्दाकारश्च न तस्मिन्नङ्गेऽन्तर्भवत इति तयोः पूर्वत्वं न भवति । अत्र परिहारः—यणः स्थाने य इक् स संप्रसारणम् , एकादेशस्तु न यण्स्थानिकः, वर्णाश्रयत्वाच्चान्तादिवद्भावोऽपि नास्ति, एवं पूर्वत्वमेव तावन्न सम्प्रसारणम्, किं पुनः, तत्स्थानिक ऊकार इति पूर्वैकादेशाभावः । सम्प्रसारणदीर्घत्वे तु वचनसामर्थ्यादेकादेशस्य पूर्वं प्रत्यन्तवद्भावात् सम्प्रसारणव्यपदेशः । वृत्तिकारस्तु सम्प्रसारणत्वमभ्युपेत्य परिहारान्तरमाह—*अन्तरङ्गे चेति* ।

न्यासः

इत्यादि । अनारब्धे हि परपूर्वत्वे विगृहीतस्यैव श्रवणं प्राप्नोति, मा भूत् सम्प्रसारणस्य वैयर्थ्यमिति कृत्वा । सति तु परपूर्वत्वे यत्र परपूर्वत्वम्—इष्टमित्यादौ, तत्रार्थवत् सम्प्रसारणम् । अतः परपूर्वत्वाभावपक्षे यणादेशो भवत्येव । अथेह कस्मान्न भवति—शकह्वौ, शकह्वर्थमिति; अत्र हि शकं ह्वयतीति क्विप् , यजादित्वात् सम्प्रसारणम् , परपूर्वत्वम् , तस्य 'अन्तादिवच्च' इति सम्प्रसारणग्रहणेन ग्रहणात् सम्प्रसारणासम्प्रसारणयोरेकादेशस्य सम्प्रसारणस्य व्यपदेशभावत्वात्; औकारेऽर्थशब्दे च चपरतो व्यवस्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति परपूर्वत्वं प्राप्नोति ? इत्यत आह—**अन्तरङ्गे चाचीत्यादि** । योऽयं ह्वयतेरेचः स्थाने विहित आकारः स सम्प्रसारणस्यान्तरङ्गः प्रत्यासन्नः; उभयोरप्येकधात्वन्तर्गतत्वात् । औकारोऽर्थशब्दाकारश्च विप्रकृष्टः । विप्रकृष्टस्तु देशतः कालतश्च, यदाह—**बाह्य इति** । यस्य धातोः सम्प्रसारणमवयवः, तत्रानन्तर्भावाद् बाह्यः । कालतश्च, यदाह—**पश्चात् सन्निपतित इति** । पूर्वरूपविधानकालादुत्तरकालं सन्निहित इत्यर्थः । तत्र सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोरचोः प्रत्यासत्तेरन्तरङ्गो योऽच् तत्रेदं वचनं प्रवर्त्तते, तत्र चरितार्थमिति विप्रकृष्ट औकारादौ पश्चात् सन्निहितेन भवति ॥

देशो भवति । अग्नेऽत्र । वायोऽत्र । अयवादेशयोरयमपवादः ।

एङ इति किम् ? दध्यत्र । मध्वत्र । पदान्तादिति किम् ? चयनम् । लवनम् । अतीति किम् ? वायो इति । भानो इति । वायविति । भानविति । तपरकरणं किम् ? वायवायाहि ॥

ङसिङसोश्च ॥ ११० ॥

'एङः' इति वर्त्तते, 'अति' इति च । एङ उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । अग्नेरागच्छति । अग्ने स्वम् । वायोरागच्छति । वायो स्वम् ।

अपदान्तार्थ आरम्भः ॥

पदमञ्जरी

देशतो विप्रकर्षोऽत्र बाह्यत्वेनोपवर्णितः ।
कालतो विप्रकर्षस्तु पश्चादुपनिपाततः ॥

धातावनन्तर्भावकृतं बाह्यत्वम् पश्चादुपनिपातस्तु स्पष्ट एव ॥

ङसिङसोश्च ॥ *एङ उत्तरयोरिति* । एङ उत्तरौ यौ ङसिङसौ, तयोर्यः सम्बन्ध्यकारः,तस्मिन् परत इत्यर्थः । *अग्नेरागच्छति, अग्नेः स्वमिति* । यद्यपि द्वावेङौ, ङसिङसावपि द्वावेव; तथापि यथासङ्ख्यं न भवति, न ह्यत्र ङसिङसोः काय विधीयते, किं तर्हि ? तत्सम्बन्धिन्यति; स चैक एव । अथापि सम्बन्धिभेदेन तस्य भेदः स्यात् ? एवमपि न दोषः; 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः', 'धातोः' इत्यादिनिर्देशात् ॥

न्यासः

एङः पदान्तादति ॥ अग्नेऽत्रेति । 'सम्बुद्धौ च' इति गुणः ॥

ङसिङसोश्च ॥ एङ उत्तरयोरित्यादि । एङ उत्तरौ यौ ङसिङसौ तयोः सम्बन्ध्यवयवो योऽत् तस्मिन् परत इत्यर्थः । अग्नेरागच्छतीति । 'घेर्ङिति' इति गुणः । अथ कस्मादत्र यथासंख्यं न भवति, एङावपि हि द्वौ, ङसिङसावपि द्वावेवेति प्राप्नोति ? नैष दोष; न ह्यत्र ङसिङसोः परतः कार्य्यं विधीयते, किं तर्हि ? तत्सम्बन्धिन इति, स चैक एव । अथापि सम्बन्धिभेदेन भेदः स्यात् ? एवमप्यदोषः; चकारोऽत्र समुच्चयार्थः क्रियते । एवं च समुच्चयो भवति यद्येकैकस्यैङो ङसिङसोः प्रत्येकमपि परतः परपूर्वत्वं भवति; नान्यथा । 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः', 'ओरावश्यके' इति च निर्देशस्तदभावं ज्ञापयति । लक्षणव्यभिचारचिह्नेन वा । अल्पाच्तरस्य ङसः परनिपातेन यथासंख्याभावोऽवसीयते ॥

ऋत उत् ॥ १११ ॥

'ङसिङसोः' इत्येव । ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोरुकार एकादेशो भवति । होतुरागच्छति । होतुः स्वम् । द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने यः स लभतेऽन्यतरव्यपदेशमिति 'उरण् रपरः' इति रपरत्वमत्र कृत्वा 'रात्सस्य' इति सलोपः कर्तव्यः ॥

ख्यत्यात्परस्य ॥ ११२ ॥

'ङसिङसोः' इति वर्त्तते, 'उत्' इति च । ख्यत्यादिति खिशब्दखी-

पदमञ्जरी

ऋत उत् ॥ द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोरित्यादि । न्यायप्राप्तिप्रदर्शनमेतत्, न पुना रपत्वेऽक्रियमाणे किञ्चिदनिष्टम् 'ऋतः' इति तपरकरणं दीर्घनिवृत्त्यर्थम्, 'उन्न्योर्ग्रहः' 'प्रेस्त्रोऽयज्ञे' इत्यादौ न भवति । 'उत्' इत्यपि तपरकरणं दीर्घनिवृत्त्यर्थमेव, आन्तर्यतो हि द्विमात्रस्य द्विमात्र एव प्राप्नोति । ननु 'भाव्यमानोऽण्सवर्णान्न गृह्णाति' इति ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति' इति, तेनामूभ्यामित्यत्र 'अदसोसेर्दादु दो मः' इति दीर्घस्य दीर्घ ऊकारो भवति । इह गम्लृप्रभृतिभ्यो ङसिङसोः कृतयोः ऋकरलृकारयोः सवर्णसंज्ञाविधानादस्मिन्नुत्वे लपरत्वे च कृते संयोगान्तलोपे गमुलिति रूपं भवति ॥

ख्यत्यात् परस्य ॥ *खिशब्दखीशब्दयोरित्यादि* । यणादेशे कृते तुल्यरूपत्वाद् द्वयोरपि ग्रहणम् । एतदर्थमेवागन्तुकेनाकारेण यणादेशं कृत्वा विकृतनिर्देशः कृतः; अन्यथा खित्योरिति ह्रस्वयोर्ग्रहणे दीर्घयोर्न स्यात्, दीर्घयोर्ग्रहणे ह्रस्वयोर्न-

न्यासः

ऋत उत् ॥ द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थान इत्यादि । किं पुनर्होतुरित्यादावनिष्टं स्याद् यदि रपरत्वं न क्रियेत ? न किञ्चित्; न्यायतस्तु प्राप्नोति रपरत्वमपि, तदवश्यं कर्त्तव्यम् । तमेव न्यायं दर्शयितुम्—'द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने' इत्युक्तम् । ऋत इति तपरकरणं दीर्घनिवृत्त्यर्थम् । तेन 'उन्योर्ग्रः' 'प्रे स्त्रोऽयज्ञे' इत्यादौ न भवति । उदित्येतदपि तपरकरणं दीर्घनिवृत्त्यर्थमेव, आन्तरतम्याद् द्विमात्रस्य स्थाने द्विमात्र एव प्राप्नोति । ननु च 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति' इति सवर्णानां ग्रहणं न भविष्यतीति तत् किमेतन्निवृत्त्यर्थेन तपरकरणेन ? एवं तर्ह्येतज्ज्ञापयति—भवत्यत्र ह्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णस्य ग्रहणमिति । तेनामू, अमूभ्यामित्यत्र 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इति दीर्घस्य स्थाने दीर्घ ऊकारो भवति ॥

ख्यत्यात् परस्य ॥ ख्यत्यादति खिशब्दखीशब्दयोस्तिशब्दतीशब्दयोश्च कृतयणादेशयोरिदं ग्रहणमिति । यणादेशे कृते तुल्यं रूपमिति विशेषाभावात् । अथ कस्मादत्राकारान्तयोरेव ख्यशब्द-त्यशब्दयोरिदं ग्रहणं न भवति ? केवलस्य ख्यशब्दस्य त्यशब्द-

शब्दयोस्तिशब्दतीशब्दयोश्च कृतयणादेशयोरिदं ग्रहणम्, ताभ्यां परस्य ङसिङसोरत उकारादेशो भवति। सख्युरागच्छति। सख्युः स्वम्। पत्युरागच्छति। पत्युः स्वम्।

खीशब्दस्योदाहरणम्—सह खेन वर्त्तत इति सखस्तमिच्छतीति क्यच्–सखीयति, सखीयतेः क्विप् सखीः, तस्य ङसिङसोः–सख्युरिति। तीशब्दस्यापि–लूनमिच्छति लूनीयति, लूनीयतेः क्विपि लुप्ते लून्युरागच्छति। लून्युः स्वम्। निष्ठानत्वम् 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यसिद्धम्।

पदमञ्जरी

स्यात्। विकृतनिर्देशे तु द्वयोरपि भवति। अकारान्तयोस्तु मुख्यापत्यादिवर्त्तिनोर्ग्रहणं न भवति, 'सख्युर्यः' 'पत्युर्नो' 'आपत्यस्य च' इत्यादिनिर्देशात्।

सखीयतेः क्विप् सखीरिति। ननु चाल्लोपस्य स्थानिवद्भावाद्यणा भाव्यम्, तत्र कृते यलोपे स्थानिवत्त्वनिषेधादादिष्टादचः पूर्वत्वाच्च पुनः स्थानिवत्त्वाभावात् 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे सख्युरित्यादि न सिद्ध्यति? नैतदस्ति; 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति स्थानिवत्त्वनिषेधात्।

न्यासः

स्यासम्भवादिति चेत्? न; यदि केवलौ न स्तः, तदन्तानां तर्हि मुख्यगोसंख्यादीनामपत्यगार्हपत्यादीनाञ्च ग्रहणमस्तु? नैतदस्ति; एवं हि–'सख्युरसम्बुद्धौ' 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति निर्देशौ नोपपद्येयाताम्।

सह खेन वर्त्तत इति सख इति। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सभावः। **सखीयतीति**। 'क्यचि च' इतीत्वम्। **सखीरिति**। क्विप्, 'अतो लोपः' इत्यकारलोपः, लोपो व्योर्वलि' इति यकारस्य च। **लूनमिति**। 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम्। ननु च नायं तीशब्दः, तत् कथं तस्येदमुदाहरणमित्यत आह—**निष्ठानत्वमित्यादि**।

अथेह कस्मान् न भवति–अतिसखेरागच्छति, सेनापतेरागच्छतीति, अस्ति ह्यत्रापि खिशब्दः, तिशब्दश्च? इत्यत आह—**विकृतनिर्देशादित्यादि**। योऽयं ख्यत्यादित्यागन्तुकेनाकारेण यणादेशं कृत्वा विकृतनिर्देशः कृतस्तस्यैतदेव प्रयोजनम्—यत्र यणादेशः, तत्रैव यथा स्यात्। न चात्र यणादेशोऽस्ति, अतो न भवति; अन्यथा हि विकृतनिर्देशोऽनर्थकः स्यात्। ननु च लघ्वर्थः स्यात्, अन्यथा हि 'खितिखीतीभ्यः' इत्युच्यमाने गौरवं स्यात्? एवं मन्यते–यदि यत्र यण् न भवति, तत्रापि भवितव्यम्, तदा खीतीभ्यामित्येवं ब्रूयात्। न चैवमुच्यमाने ह्रस्वान्ताभ्यान्न प्राप्नोति; खिशब्दात् 'सख्युर्यः', तिशब्दात् 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति निर्देशाभ्यामेव सिद्धेः। अत्र हि सखिपतिशब्दयोर्ग्रहणम्, न सखीपतीशब्दयोः। न हीह पतीशब्दस्य यज्ञेन संयोगोऽस्ति,

विकृतनिर्देशादेवेह न भवति—अतिसखेरागच्छति, सेनापतेरागच्छतीति । सखिशब्दस्य केवलस्य घिसंज्ञा प्रतिषिध्यते, न तदन्तस्य ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ ११३ ॥

'अति' इति, 'उत्' इति वर्त्तते । अकारादप्लुतादुत्तरस्य रो रेफस्य उकारानुबन्धविशिष्टस्य अकारेऽप्लुते परत उकारादेशो भवति । वृक्षोऽत्र । प्लक्षोऽत्र । 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इत्यस्मिन्प्राप्ते उत्वं विधीयते । रुत्वस्याश्रयत्वात् 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यसिद्धं न भवति ।

पदमञ्जरी

विकृतनिर्देशस्य प्रयोजनान्तरमप्याह—*विकृतनिर्देशादिति । अतिसखेरिति ।* अतिक्रान्तः सखा येनेति बहुव्रीहिः । यद्वा—शोभनः सखा अतिसखा, 'न पूजनात्' इति समासान्तनिषेधः । अथ स एव यणादेशोऽत्र कस्मान्न भवति, 'घेर्ङिति' इति गुणेन बाधितत्वादिति चेत् ? न; 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञाप्रतिषेधादित्यत आह—*सखिशब्दस्य केवलस्यैव हीति ।* एतच्च तत्रैव प्रतिपादितम् ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ उकारानुबन्धकस्येति । यदि रुशब्दसमुदायः स्थानी स्याद्,अगुर्वर्थम्, तर्वर्थमित्यादावपि प्रसज्येत । 'ससजुषो रुः' इत्यत्र चोकारस्यानुनासिकत्वप्रतिज्ञयाऽनुबन्धकरणमनर्थकं स्यात्, तद्धयत्रैव सूत्रे विशेषणार्थं क्रियते । *रुत्वमपीति ।* अपिशब्दः पुनःशब्दस्यार्थे । यदि पुना रुत्वमसिद्धं स्यात्, स्थानित्वेनाश्रयणमनुपपन्नं स्यात्; उकारानुबन्धकस्य कस्यचिद्रोरभावात् ।

न्यासः

नापि 'सह खेन वर्त्तते' इत्यादिना प्रकारेण व्युत्पादितो यः सखीशब्दस्तत उत्पन्नो यः प्रत्ययः स प्रकृत्यर्थाभिधाने समर्थो भवति; यतोऽभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्ति । तस्माद् विकृतनिर्देशस्य पूर्वोक्तमेव प्रयोजनमिति ।

अथ स यणादेशोऽत्र कस्मान्न भवति यस्मिन् सत्युत्त्वेन भवितव्यम् ? 'घेर्ङिति' इति गुणेन बाधितत्वादिति चेत् ? न; 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञाप्रतिषेधादिति चेत्यत आह—सखीशब्दस्येत्यादि । अत्र च 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति प्रतिषेधो हेतुः ।

परस्येति किमर्थम् ? पूर्वपरयोर्मा भूत् । इतश्चारभ्य पूर्वपरयोरित्येतन्नानुवर्त्तते ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ उकारानुबन्धकस्येति । यदि रुशब्दः समुदायः स्थानी स्यात्, तदा महातरुवनमित्यत्रापि 'हशि च' इत्युत्त्वं प्रसज्येत । किञ्च—'ससजुषो रुः' इत्युकारानुबन्धकरणमनर्थकं स्यात् । तत्र ह्युकारोऽस्य सूत्रस्य विशेषणार्थः क्रियते, स इह समुदाये स्थानिन्यनर्थको जायते । तस्मादुकारानुबन्धवत इदं ग्रहणम् । ननु चोत्त्वे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति रुत्वमसिद्धम्, तदसतो रोः कथमुत्त्वं शक्यते विधातुम् ? इत्यत आह—**रुत्वमप्याश्रयात् सिद्धमिति ।** यदि रुत्वमसिद्धं स्यात्, तदा

अत इति किम् ? अग्निरत्र । तपरकरणं किम् ? वृक्षा अत्र । सानुबन्धग्रहणं किम् ? स्वरत्र । प्रातरत्र ।

अतीत्येव—वृक्ष इह । तस्यापि तपरत्वादत्र न भवति । वृक्ष आश्रितः । अप्लुतादिति किम् ? सुस्रोता३ अत्र न्वसि । अप्लुत इति किम् ? तिष्ठतु पय आ३श्विन् । अत्र प्लुतस्यासिद्धत्वादुत्त्वं प्राप्नोतीति 'अप्लुतादप्लुते' इत्युच्यते ॥

पदमञ्जरी

तस्यापीति । निमित्तभूतस्यापीत्यर्थः । *सुस्रोता३ अत्र न्वसीति* । 'दूराद्धूते च, इति प्लुतः, नुशब्दः प्रश्ने । *अश्विन् अत्रेति* । अश्वशब्दान्मत्वर्थीय इनिः, सम्बुद्ध्यन्तं चैतत्, 'गुरोरनृतः' इति प्लुतः, हे अश्विन् अत्रैव प्रदेशे पयस्तिष्ठत्वित्यर्थः । प्रायेण तु तकारान्तं पठ्यते, तत्राश्विचच्छब्दस्य व्युत्पत्तिर्मृग्या । ननु तपरकरणादेव प्लुतात्परस्य प्लुते वा परतो न भविष्यति, यथा दीर्घे ? तत्राह—*प्लुतस्यासिद्धत्वादिति* । ननु च सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु, यदयं 'प्लुतप्रगृह्या अचि' इति प्रकृतिभावं शास्ति, यस्य हि विकारः प्राप्नोति तस्य प्रकृतिभावो विधातव्यः, न च प्लुतस्यासिद्धत्वे प्लुतस्य सतो विकारप्राप्तिरित्यनर्थकं तत् स्यात् ? अस्तु स्वरसन्धिषु प्लुतः सिद्धः, रोरुत्वं तु स्वरसन्धिर्न भवति ।

यदि तु संहिताधिकारे यद्विधीयते तन्मात्रविषयं ज्ञापकमाश्रीयते शक्यमकर्त्तुम्—'अप्लुतादप्लुते' इति ॥

न्यासः

स्थानित्वेन रोराश्रयणमनर्थकं स्यात् ; कस्यचिदुकारानुबन्धविशिष्टस्य रोरसम्भवाद् । तस्मादाश्रयादेव रोरसिद्धत्वं नास्तीति ।

तस्यापीति । यत्राति परतो रोरुत्वमुच्यते तस्य **सुस्रोता३ अत्रेति** 'दूराद्धूते च' इति प्लुतः । **देवदत्ता३ अत्रेति** । अत्रापि 'गुरोऽनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' इत्यनेन ।

अथ किमर्थम् 'अप्लुतादप्लुते' इत्युच्यते ? न ह्यतोऽतीति च तपरकरणस्य वर्णस्य निर्देशे क्रियमाणे प्लुतात् परस्य प्लुते वा परतः प्राप्नोति ? इत्यत आह—**प्लुतस्येत्यादि** । ननु च सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु[1], यदयम् 'प्लुतः प्रगृह्या अचि' इति प्रकृतिभावं शास्ति ? एवं मन्यते—प्रकृतिभाव एतंतज्ज्ञापकं स्यात् । अथापि कथञ्चित् स्वरसन्धिविषयं ज्ञापकं स्यात्, तथा रोरुत्वं स्वरसन्धिर्न भवति । अथापि संहिताकार्य्यविषयं ज्ञापकं स्यात्, तथापि रोरुत्त्वं संहिताकार्य्यं न भवति । येन हि वर्णाः सन्धीयन्ते तत् संहिताकार्यम्, न चोत्त्वेन वर्णाः संहिता भवन्ति; पुनरप्याद् गुणाद्यपेक्षणादिति ॥

---

१. 'प्रकृतिभावेषु' इति महीशूरसंस्करणे पाठः ।

हशि च ॥ ११४ ॥

हशि च परतोऽत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति। पुरुषो याति। पुरुषो हसति। पुरुषो ददाति ॥

प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे ॥ ११५ ॥

एङोऽतीत्येव। 'एङः' इति यत्पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तते तदर्थादिह प्रथमान्तं भवति। प्रकृतिरिति स्वभावः कारणं वाऽभिधीयते। अन्तरित्यव्ययमधिकरणभूतं मध्यमाचष्टे। पादशब्देन च ऋक्पादस्यैव

पदमञ्जरी

हशि च ॥ अप्लुतादित्येव—सुस्रोता३ देहीति। चकारोऽतीत्यस्यानुकर्षणार्थः, तेनोत्तरत्र तस्यैवानुवृत्तिर्भवति, न हशीत्यस्य, नहि तदनुकर्षणस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति ॥

प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे ॥ *अतीत्येवेति*। न तु हशीति। अत्र हेतुः पूर्वमेवोक्तः। *एङ इति यत् पञ्चम्यन्तमित्यादि*। 'एङः' इति तावद् व्यवहितमप्यनुवर्त्तते, न त्वनन्तरमपि रोरिति, अत्र च व्याख्यानमेव शरणम्; तेनाव्यपरे हशि परतो रु प्रकृत्या भवतीत्यर्थो न भवति। *तदर्थादिति*। न हि पञ्चम्यन्तस्य 'प्रकृत्या' इत्यनेन सम्बन्धः सम्भवति। *प्रकृतिरित्यादि*। उभयत्रापि प्रकृतिशब्दो दृष्टः—दुस्त्यजा प्रकृतिः, दध्नः क्षीरं प्रकृतिरिति। *अन्तरित्यव्ययमित्यादि*। तेन मध्यवाचिनान्तः—शब्देनोपजनिते व्यतिरेके पादशब्दात्षष्ठी, तदन्तेन सहाव्ययीभावः। *ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यत इति*। इष्टिरेवैषा।

न्यासः

हशि च ॥ पूर्वत्रातीत्यनुवृत्तेर्हश्युत्त्वमप्राप्तमेवानेन विधीयते। चकारः 'अप्लुतात्' इत्यस्यानुकर्षणार्थः। तेनेह न भवति—सुस्रोता३ देहीति ॥

प्रकृत्याऽन्तःपादमव्यपरे ॥ प्रकृत्येति। करणे तृतीया। अन्तःपादमिति। सप्तम्यन्तमेतत्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावं विधाय ततः सप्तमी, तस्याः 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इत्यम्भावः कृतः। एङ इत्यादि। पञ्चम्यन्तस्यैङः प्रकृत्या भवतीत्यनेन सम्बन्धो नोपपद्यते। तस्मादिहार्थादेङ्ग्रहणं प्रथमान्तमुपजायते। प्रकृतिरित्यादिना प्रकृतिशब्दस्यार्थमाचष्टे। प्रकृतिशब्दो हि लोके स्वभावे प्रयुज्यते, यथा—दुस्त्यजा प्रकृतिरिति, कारणेऽपि यथा—दध्नः क्षीरं प्रकृतिरिति, तदिहापि स एवार्थस्तस्य विज्ञायते। अन्तरित्यव्ययमधिकरणभूतमिति। अत एवान्तःपादमित्यव्ययीभावो भवति। पादशब्देनेत्यादि। कथं पुनरृक्पादस्यैव ग्रहणं लभ्यते, यावता पादशब्दः सामान्यवाची? एवं मन्यते—'वा छन्दसि' इत्यतः छन्दोग्रहणमिह मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते, तेन ऋक्पादस्यैव ग्रहणं विज्ञायते। अथ 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यतः सूत्रात् प्राक्छ-

ग्रहणमिष्यते, न तु श्लोकपादस्य । अवकारयकारपरेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति । स्वभावेनावतिष्ठते कारणात्मना वा भवति न विकारमापद्यते । तौ चेन्निमित्तकार्यिणावन्तःपादमृक्पादमध्ये भवतः । ते अग्रे अश्वमायुञ्जन् । ते अस्मिन् जवमादधुः । उपप्रयन्तो अध्वरम् । शिरो अपश्यम् । सुजाते अश्वसूनृते । अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् ।

पदमञ्जरी

अन्ये तु 'वा छन्दसि' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तयन्ति । एवमवयवार्थं दर्शयित्वा समुदायार्थं दर्शयति—*अवकारयकारपर इत्यादिना* । *स्वभावेनावतिष्ठत इति* । यदा प्रकृतिशब्दः स्वभावे वर्त्तते तदायमर्थः—स्वभावपरित्यागेन न संहिताकार्यमापद्यत इत्यर्थः । यदा तु कारणे वर्त्तते तदायमर्थः—एङ्कारणात्मना भवतीति । कारणं परपूर्वत्वादेः कार्यस्यैङ्, तस्यात्मा=स्वरूपम्, तेनैव भवति । प्राक संहिताकार्यादेङो यद्रूपं तेनैवावतिष्ठत इत्यर्थः । अनन्तरोक्तमेवार्थद्वयं विस्पष्टीकरोति—न *विकारमापद्यत इति* । एवं हि स्वभावेन भवति, यदि स्वभावादन्यथालक्षणां विकारावस्थां न प्राप्नोति; तथा एवङ्कारणात्मना भवति, यदि विकाररूपं नापद्यते, यदि कार्यात्मना न विपरिणमतीत्यर्थः । *तौ चेदिति* । निमित्तम्=अकारः, कार्यम्=एङ् । उदाहरणेषु 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वत्वस्यायवादेश्च यथायोगमभावः ।

न्यासः

न्दस्येव कार्यं विज्ञायते । एवं हि तत्र सर्वत्रग्रहणमर्थवद् भवति यदि च्छन्दसि पूर्वं विधानं भवति । एवमवयवानामर्थमाख्याय **अवकारयकार** इत्यादिना समुदायस्यार्थमाचष्टे । अविद्यमानौ वकारयकारौ यस्य स तथोक्तः । **स्वभावेनेत्यादि** । यदा प्रकृतिशब्दः स्वभावे वर्त्तमानो गृह्यते, तदायमर्थः—एङ् स्वभावेन भवति । स्वभावपरित्यागेन संहिताकार्यं नोपपद्यत इति । यदा तु कारणे वर्त्तमानस्य प्रकृतिशब्दस्य परिग्रहस्तदायमर्थः—एङ् कारणात्मना भवतीति । कारणं परपूर्वत्वादेः कार्यस्यैङ्, तस्य य आत्मा स्वरूपं तेनैवात्मनैङ् भवतीत्येतदुक्तं भवति—प्राक् संहिताकार्याद् यदेङो रूपं तेनैव तदवतिष्ठत इति । अनन्तरोक्तमेवार्थद्वयं स्पष्टीकर्त्तुमाह—**न विकारमापद्यत इति** । एवं हि स्वभावेन भवति, यदि स्वभावादन्यथालक्षणा विकारावस्था नोत्पद्येत । तदैवं कारणात्मनापि भवति, यदि विकारभावं नोत्पद्यते । यदि कार्यात्मना न विपरिणमतीत्यर्थः । **नो चेन्निमित्तकार्यिणाविति** । निमित्तं तपरत्वविशिष्टोऽकारः । तत्र हि परतः प्रकृतिभावो विधीयते । कार्यी त्वेङ्, तस्य हि कार्यं प्रकृतिभावोऽस्ति । **ते अग्रे अश्वमायुञ्जन्निति** । अस्य ऋक्पादस्य मध्ये य एङ् एकारस्तेशब्देऽग्रेशब्दे च तस्य तदनन्तरे प्रकृतिभावाद् 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपं न भवति, अयादेशश्च । **उपप्रयन्तो अध्वरमिति** । अत्रापि प्रयन्त इति शब्दौकारस्यैङोऽध्वरशब्दस्याभ्यनन्तरे

अन्तःपादमिति किम् ? कया मती कुत एतास एतेऽर्चयन्ति । अव्यपर इति किम् ? तेऽवदन् । तेऽयस्मयम् । एङिति किम् ? अन्वग्निरुषसामग्रमख्यत् ।

केचिदिदं सूत्रम् 'नान्तःपादमव्यपरे' इति पठन्ति, ते संहितायामिह यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेधं वर्णयन्ति ॥

पदमञ्जरी

एतेऽर्चयन्तीति । अत्रैतत्पदान्ते वर्त्तते, अर्चयन्तीत्यकारश्च परस्य पादस्यादौ ।

केचिदिति । यदि 'नान्तः पादम्' इति पठन्ति, एवं सति पूर्वत्वस्यैवानन्तरस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति, नायवोर्व्यवहितयोः ? इत्यत आह–*संहितायामिति* । 'संहितायाम्' इत्येतावदेवात्रापेक्ष्यते, न तु पूर्वरूपत्वम्; तेनैङः संहिताधिकारे यदुक्तं तन्न भवतीत्यर्थः । तेनैतदपि न चोदनीयम्—अनारब्धेऽस्मिन् प्रतिषेधेऽयवोः प्राप्तिर्नास्ति, पूर्वत्वेन बाधितत्वात्, अनेन तु प्रतिषेधेन पूर्वत्वे बाधिते तयोरुद्भवः स्यात्, तस्यां दशायामस्य व्यापारो नास्ति, आत्माश्रयदोषप्रसङ्गादिति । कथमेतच्चोद्यं परिहृतम् ? यदि पूर्वत्वस्यैवायं प्रतिषेधः स्यात्ततस्तदेवापेक्ष्य प्रतिषेधयेत्, यतस्तु खलु संहितायामित्यपेक्ष्य सामान्येन प्रतिषेधति तस्यैतत्प्रयोजनम्—स्वप्रवृत्त्युत्तरकालमुद्भवतोरयवोरपि प्रतिषेधो यथा स्यादिति । अत्र च 'पदान्ताद्' इत्यनुवर्त्त्यम्, अन्यथा अग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ, वायोरिव सूनृतानामुदर्क्के इत्यादौ 'ङसिङसोश्च' इति यत्पूर्वरूपम्, तस्यापि प्रकृतिभावप्रतिषेधौ प्राप्नुतः ॥

न्यासः

प्रकृतिभावात् पूर्वरूपं न भवति, अवादेशश्च । एवं सुजाते अश्व इत्यादावपि प्रकृतिभावात् पूर्वरूपादिकार्यस्याभावो वेदितव्यः ।

एतेऽर्चयन्तीति । अत्रैतेशब्दे य एङ् एकारः स पदान्ते वर्त्तते । तदनन्तरस्त्वकारः पादादौ, न पादमध्ये । तेऽवदन्निति । अत्र तेशब्दे य एङ् तस्य प्रकृतिभावो न भवति; तदनन्तरस्यातो वकारपरत्वात् । **अवदन्निति** । वदतेर्लङि प्रथमपुरुषबहुवचनान्तम् । **तेऽयजन्निति** । अत्रापि तेशब्दे य एङ् तस्य प्रकृतिभावो न भवति । तदनन्तरस्यातो यकारपरत्वात् । **अन्वग्नीत्यादि** । सर्वमत्रास्ति, न त्वनुशब्द उकार एङ् भवति, नास्य प्रकृतिभावः ।

केचिदित्यादि । यदि तर्हि 'नान्तःपादमव्यपरे' इति सूत्रं पठन्ति, एवं सति परपूर्वस्यैव प्रतिषेधः कृतः स्यात्, नायवोः; तथा हि—परपूर्वत्वमेङोऽनन्तरविहितम् ? इत्यत आह—**ते संहितायामित्यादि** । यदि परपूर्वत्वं संहिताकार्यं विशेषणमपेक्ष्यायं

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥ ११६ ॥

अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु—इत्येतेषु यकारवकारपरेऽप्यति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति। अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात्। मा शिवासो अवक्रमुः। ते नो अव्रताः। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु पितरः। कुशिकासो अवस्यवः॥

पदमञ्जरी

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च। अव्यादीनामनुकरणत्वात्समासो विभक्तिश्च। *अव्यादिति*। अवेराशिषि लिङ्। *अवद्यादिति*। पञ्चम्येकवचनान्तम्। *अवक्रमुरिति*। अवपूर्वस्य क्रमेर्लिटचुसि 'द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा वक्तव्यम्' इति द्विर्वचनाभावे रूपम्। केचित्तु सूत्रे *अवचक्रमुरिति* कृतद्विर्वचनं पठन्ति, तेषामुदाहरणं मृग्यम्; बह्वृचस्तावद्–अवक्रमुरित्यधीयते। *अव्रतेति*। वृङ्वृञोः 'मन्त्रे घस' इत्यादिना च्लेर्लुक्, 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति अदादेशः। *अयमिति*। इदम्-शब्दात् सुः, 'इदोऽय् पुंसि'। अवतेर्लोट्, *अवन्तु*, तस्मादेवासुनन्तात् क्यच्, 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः–*अवस्युः*। तेनोवन्तु पितरो हवेष्विति बह्वृचाः पूर्वरूपमेवाधीयते। अधिब्रुवन्तुं तेऽवन्त्वस्मानिति॥

न्यासः

प्रतिषेधः क्रियते, तदायं दोषः स्यात्। यदा तु संहिताधिकारविहितं कार्यमात्रमपेक्ष्य प्रतिषेधो विधीयते, तदा सर्वस्यैव संहिताधिकारविहितस्य कार्यस्य प्रतिषेधो युक्त इति तेषां भावः॥

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥ नो अव्यादिति। अस्मदो द्वितीया-बहुवचनान्तस्य 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति नसि रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वे 'आद् गुणः' इति गुणे कृते 'नो' इति भवति। 'अव रक्षणे' इत्यस्मादाशिषि लिङि यासुटि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारलोपे च कृते **अव्यादिति** भवति। **अवद्यादिति**। अवद्यशब्दोऽयं पञ्चम्येकवचनान्तः। **अवक्रमुरिति**। अवपूर्वात् क्रमेर्लिट्युसि रूपमेतत्। अन्ये तु लुङि वर्णयन्ति—'बहुलं छन्दसि' इति च्लेः श्लुः, 'श्लौ' इति द्विर्वचनम्, जुस्भावश्छान्दसः। **अवन्त्विति**। अवतेर्लोट्, झेरन्तादेशः, 'एरुः' इत्युत्वम्। **अवस्यव इति**। अवतेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इति असुन्—अवस् इति, ततः 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्, तदन्तात् 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः, ततो जस्, 'जसि च' इति गुणः—ओकारः, 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशः॥

यजुष्युरः ॥ ११७ ॥

उरःशब्द एदन्तो यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति । उरो अन्तरिक्षम् ।

अपरे **यजुष्युरो** इति सूत्रं पठन्ति, उकारान्तमुरुशब्दं सम्बुध्यन्तमधीयते । त इदमुदाहरन्ति—उरो अन्तरिक्षं सजूरिति ।

यजुषि पादानामभावादनन्तःपादार्थं वचनम् ॥

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे ॥ ११८ ॥

'यजुषि' इत्येव । आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे—इत्येते शब्दा अम्बे, अम्बाले, इत्येतौ च यावम्बिकेशब्दात्पूर्वौ यजुषि पठितौ ते अति परतः प्रकृत्या भवन्ति । आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु । जुषाणो अप्तुराज्यस्य । वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिभिः । वर्षिष्ठे अधिनाके । अम्बे अम्बाले अम्बिके—यजुषीदमीदृशमेव पठ्यते । अस्मादेव निपातनाद् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं न भवति ॥

पदमञ्जरी

आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे । *आपो* इत्यादीनि पृथक् पदानि अनुकरणानि, विभक्तिस्त्वनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वान्न भवति । 'सुपां सुलुक्' इति वा विभक्तेर्लुग् भवति, *अम्बिकेपूर्व* इत्येतदप्यनुकरणमेव । तत्र प्रथमं जसन्तम्, द्वितीयं स्वन्तम्, तृतीयं शसन्तम्, चतुर्थं ङ्यन्तम्, इतरे सम्बुद्ध्यन्ते । *अम्बिकेशब्दात्पूर्वाविति ।* अस्मादेव निपातनात्पञ्चमीसमासः । *अस्मादेव निपातनादिति ।* अम्बेत्येतद्विषयमेतत् । इतरयोस्तु 'अम्बार्थं द्व्यक्षरम्' इति वक्ष्यमाणत्वान्नैव ह्रस्वप्रसङ्गः ॥

न्यासः

यजुष्युरः ॥ उरो अन्तरिक्षमिति । उरःशब्दस्योत्वम्, 'आद् गुणः' इति गुणः ।

ओकारान्तमुरोशब्दं सम्बुद्ध्यन्तमधीयत इति । उरुशब्दस्य 'सम्बुद्धौ च' इति गुणे कृत 'उरो' इति भवति ॥

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिकेपूर्वे ॥ आपो—इत्येवमादीनि सर्वाण्येतान्यनुकरणान्यविभक्तिकानि; 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना तेभ्य उत्पन्नाया विभक्तेर्लुप्तत्वात् । अत्रापो इति प्रथमाबहुवचनान्तस्यानुकरणम् । जुषाणो इति । प्रथमैकवचनान्तस्य । वृष्णो इति । षष्ठ्येकवचनान्तस्य । वर्षिष्ठे इति । सप्तम्येकवचनान्तस्य । अम्बे, अम्बाले इति । द्वितीयाद्विवचनान्तस्य । अम्बिकेपूर्वे इति । एतत्तु प्रथमाद्विवचनमनुकरणमेव अम्बे अम्बाले इत्येतयोर्विशेषणम् । अम्बिकेशब्दात् पूर्वेऽम्बिकेपूर्वे, अस्मादेव

अङ्ग इत्यादौ च ॥ ११९ ॥

अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ चाकारे यः पूर्वः स यजुषि विषयेऽति प्रकृत्या भवति । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत् । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम् ॥

अनुदात्ते च कुधपरे ॥ १२० ॥

'यजुषि' इत्येव । अनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परतो यजुषि

पदमञ्जरी

अङ्ग इत्यादौ च ॥ अङ्गशब्दे य एङिति । 'स प्रकृत्या भवति' इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । *तदादौ चाकारे यः पूर्व इति ।* 'एङ्' इत्यपेक्ष्यते, पूर्ववच्च सम्बन्धः । तच्छब्देनातिक्रान्तप्रत्यवमर्शिनेतिशब्दस्यार्थमाचष्टे, तस्याङ्गशब्दस्यादिस्तदादिः । चकारः किमर्थः, असति चकारेऽङ्गशब्दस्यैवैङ् तदादावति परतः प्रकृत्या भवतीत्यर्थः स्यात्, ततश्चाङ्गेऽङ्गे इत्यत्रैव स्यात् । सति तु तस्मिन्नङ्गशब्दस्य एवैङ् यत्र क्वचिदति परतः प्रकृत्या भवति, तदादौ चाति परतो यः कश्चिदेङ् प्रकृत्या भवतीत्ययमर्थो भवति । तेन *अङ्गे अदीध्यत्, प्राणो अङ्गे*—इत्युभयत्रापि भवति ॥

अनुदात्ते च कुधपरे ॥ कवर्गधकारपरे इति । कवर्गधकारौ परौ यस्मात्स

न्यासः

निपातनात् समासः । ननु च 'अम्बे' इति सम्बुद्ध्यन्तस्यानुकरणम्, ततश्च 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वेनैत्त्वापवादेन भवितव्यम्, तत् कथमम्बे इत्यत्रैत्त्वम् ? इत्यत आह—अस्मादेवेत्यादि । अम्बाले, अम्बिके—इत्येतयोस्तु युक्तमेवैत्त्वम् । वक्ष्यति हि ह्रस्वविधाने—'अम्बार्थं द्व्यक्षरं यदि' इति ॥

अङ्ग इत्यादौ च ॥ अङ्ग इत्यादौ चेति इतिकरणेनानन्तरोक्तोऽङ्गशब्दः प्रत्यवमृश्यते । तदादौ चाकार इति । समानाधिकरणे सप्तम्यौ । तच्छब्देनातिक्रान्तप्रत्यवमर्शिनेतिकरणस्यार्थमाचष्टे—तदादाविति । अङ्गशब्दादावित्यर्थः । यः पूर्व इति । 'एङ्' इति सम्बध्यते । चकारोऽङ्गशब्दस्यादौ योऽकारस्तत्रापि परतः पूर्वस्यैङः प्रकृतिभावो यथा स्यादिति समुच्चयार्थः क्रियते । तत्र ह्यसत्यङ्गशब्दाकारे परतोऽङ्गशब्दस्य य एङ् तस्यैव प्रकृतिभावः स्यात् । यस्त्वङ्गशब्दे परतोऽनङ्गशब्दस्यैङ् तत्र न स्यात् । प्राणो अङ्ग इत्यादि । अत्र 'प्राणो'-शब्दे य एङ अङ्गशब्दादावकारे प्रकृत्या भवति । अङ्गे अङ्गे अदीध्यदिति । अत्राङ्गशब्दे य एङ् तस्याङ्गशब्दादावकारेऽदीध्यच्छब्दादौ प्रकृतिभावो भवति ।

अनुदात्ते च कुधपरे ॥ कुधपर इति । अकारविशेषणमेतत् । कुधौ परौ यस्मात् स तथोक्तः । धकारेऽकार उच्चारणार्थः । अयं सो अग्निरिति । अग्निशब्दः 'अङ्गेर्नि-

काशि० 4 : 38

विषये एङ् प्रकृत्या भवति । अयं सो अग्निः । अयं सो अध्वरः ।

अनुदात्ते इति किम् ? अधोऽग्रे । अग्रशब्द आद्युदात्तो निपात्यते । कुधपरे इति किम् ? सोऽयमग्निः सहस्रियः ॥

अवपथासि च ॥ १२१ ॥

'यजुषि' इत्येव । 'अनुदात्ते' इति चशब्देनानुकृष्यते । अवपथाः-शब्देऽनुदात्तेऽकारादौ परतो यजुषि विषय एङ् प्रकृत्या भवति । त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः । वपेर्लङि थासि 'तिङ्ङतिङः' इति निघातेनानुदात्तत्वम् ।

अनुदात्त इत्येव—यद्रुद्रेभ्योऽवपथाः । 'निपातैर्यद्यदिहन्त' इति निघातः प्रतिषिध्यते ॥

सर्वत्र विभाषा गोः ॥ १२२ ॥

सर्वत्र—छन्दसि भाषायां च, अति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा । गोऽग्रम्, गो अग्रम् । छन्दसि—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोश्वाः ॥

पदमञ्जरी

तथोक्तः । धकारेऽकार उच्चारणार्थः । अग्निशब्दः 'अङ्गेर्निर्नलोपश्च' इति निप्रत्ययान्तोऽन्तोऽदात्तः । अध्वरशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ।

आद्युदात्तो निपात्यत इति । 'ऋज्रेन्द्राग्र' इत्यादावुणादिसूत्रे अग्रशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

सर्वत्र विभाषा गोः ॥ *सर्वत्र च्छन्दसि भाषायां चेति* । यद्यपि 'छन्दसि' इति न प्रकृतम्, तथापि 'अन्तःपादं यजुषि' इति वचनात् अवक्रमुः, अव्रतावस्युरिति छान्दसानुकरणाच्च छान्दसानि पूर्वसूत्राणीति भावः । सर्वत्रग्रहणं तु यजुषि, अन्यत्र चेत्यप्युपपन्नम् । पदान्तादित्येव—गोरागतं गोः स्वम् ॥

न्यासः

र्नलोपश्च' इति निप्रत्ययान्तो व्युत्पादित इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, शेषोऽनुदात्त इत्यकारस्यानुदात्तत्वम् । **अयं सो अध्वर इति** । अध्वरशब्दोऽपि प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, तदादिरप्यकारोऽनुदात्त एव । **आद्युदात्तो निपात्यत इति** । 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लगौरवत्रेरामालाः' इत्यनेन । **सोऽयमिति** । अयंशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, तस्यादिरनुदात्तः ॥

अवपथासि च ॥ **यद्रुद्रेभ्योऽवपथा इति** । अटः स्वरेणाद्युदात्तोऽयमवपथाःशब्दः ।

सर्वत्र विभाषा गोः ॥ **अवङ् स्फोटायनस्य** ॥ **अतीति निवृत्तमिति** । यद्यतीत्यनुवर्तेत तदा गव्रौदनादौ न स्यात्, तस्मादतीत्येतदस्वरितत्वाद् निवृत्तम् । हल्यपि

अवङ् स्फोटायनस्य ॥ १२३ ॥

'अति' इति निवृत्तम् । 'अचि' इत्येतत्पुनरनुवर्त्तत एव । अचि परतो गोः स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनावङादेशो भवति । गवाग्रम्, गोऽग्रम् । गवाजिनम्, गोऽजिनम् । गवोदनम्, गवौदनम् । गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम् ।

पदमञ्जरी

अवङ् स्फोटायनस्य ॥ स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः=स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः । ये त्वौकारं पठन्ति, ते नडादिष्वश्वादिषु वा पाठं मन्यन्ते । *अतीति निवृत्तमिति* । अन्यथा गवौदनादौ न स्यात् । न चैवं सत्यतिप्रसङ्गः ? इत्याह—*अचीत्येतत्त्विति* । सर्वत्र चात्र व्याख्यानमेव शरणम् । यद्यचीत्यनुवर्त्तते कथम् 'इको यणचि' इत्यत्रोक्तम्—"अचीति चाधिकारः 'सम्प्रसारणाच्च' इति यावत्" इति ? निरन्तरानुवृत्त्यभिप्रायं तदित्यदोषः । *गवाग्रम्, गवाजिनमिति* । बहुव्रीहिः, तत्पुरुषो वा । *गवोष्ट्रमिति* । द्वन्द्वः, गोरश्वचनम् गोरश्वक्तव्यः, तत्रापि अवादेशेन सिद्ध्यत्येव । न च 'एङः पदान्तात्' इति पूर्वत्वप्रसङ्गः; अगागमस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणादोकारस्यापदान्तत्वात् । किं प्रयोजनम् ? लाघवं तावद्भवति, स्वरे च न दोषः ।

कथमागमा अनुदात्ताः ? तत्र गवाग्रादौ बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणागमानुदात्तत्वं सम्भवति, अवङादेशे त्वान्तर्यतोऽन्तोदात्तस्यान्तोदात्तोऽवङादेशः स्यात् । ननु चास्यैकाचः सतो व्यपदेशिवद्भावेनान्तोदात्तत्वमेष्टव्यम्, तत एवाद्युदात्तत्वमपि भविष्यति, ततः किमाद्युदात्तस्याद्युदात्त आदेशो भविष्यति ? सत्यमेवमेतत्; न त्विदं लक्षणमस्ति—प्रातिपदिकस्यादिरुदात्तो भवतीति, इदं पुनरस्ति—प्रातिपदिकस्यान्त उदात्तो भवतीति । योऽसौ लक्षणेनान्तोदात्तः, तत्रान्तर्यतोऽन्तोदात्त आदेशः प्राप्नोति । ननु च गमेर्डो विधीयते ? ततः किम्, प्रत्ययाद्युदात्तत्वे कृते आन्तर्यत आद्युदात्त आदेशो भविष्यति । कथं पुनरयमाद्युदात्तः, यावता एकाच् व्यपदेशिवद्भावेन ? यद्येवम्, तत एवान्तोदात्तोऽपि, तत्रान्तर्यतोऽन्तोदात्तस्यान्तोदात्तोऽवङादेशः प्रसज्येत ? सत्यम्; नन्विदं लक्षणमस्ति—प्रत्ययस्यान्तोदात्तो भवतीति, इदं पुनरस्ति—प्रत्ययस्यादिरुदात्तो

न्यासः

तर्हि प्राप्नोति ? इत्यत आह—अचीत्येतत्पुनरनुवर्त्तत इति । 'इको यणचि' इत्यतः सा पुनस्तस्यानुवृत्तिर्मण्डूकप्लुतिन्यायेन वेदितव्या । न हि 'सम्प्रसारणाच्च' इत्यतः परेण ये योगा अस्माद् योगात् पूर्वं तेषु 'अति' इत्यस्यानुवृत्तिरस्ति । तथा च पूर्वमुक्तम्—"अचीति चायमधिकारः 'सम्प्रसारणाच्च' इति यावत्" इति । गवाग्रम्, गवाजिनमिति ।

आद्युदात्तश्चायमादेशो निपात्यते। स निपातनस्वरो बहुव्रीहौ प्रकृतिस्वरविधाने भवति—गावो अग्रमस्य गवाग्र इति। अन्यत्र तु समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यते।

स्फोटायनग्रहणं पूजार्थम्, 'विभाषा' इत्येव हि वर्त्तते।

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन गवाक्ष इत्यत्र नित्यमवङ् भवति॥

पदमञ्जरी

भवतीति। योऽसौ लक्षणेनाद्युदात्तस्तत्रान्तर्यत आद्युदात्त आदेशो भविष्यति। स्यादेवं यदि 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति शास्त्रातिदेशः स्यात्। यदा त्वनेन कार्यमात्रमुदात्तत्वम्, अन्तत्वे असत्येवादित्वे चातिदिश्यते तदौकारस्यैवादित्वव्यपदेशाभावात् कुतस्तदादेशस्याद्युदात्तत्वम्! ततश्च पर्यायेण त्वनियतदेशमाद्युदात्तत्वं स्यादिति पक्षे दोषप्रसङ्गः। तत्र सूत्रकारेण तावल्लाघवमनादृत्यावङादेशः कृतः। तत्र यथा स्वरे दोषो न भवति, तथा दर्शयति—*आद्युदात्तोऽवङादेशो निपात्यत इति*। एकश्रुत्या सूत्रपाठे यदत्र यत्नेनाद्युदात्तोच्चारणं तदन्तोदात्तत्वबाधनार्थं विज्ञायते, अन्यत्र समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यत इति। एतच्च भाष्ये 'उपदेशिवद्भावो वक्तव्यः' इति वचनेन लभ्यते, अन्यथा परत्वात् पूर्वं समासान्तोदात्तत्वे कृते अवङि अवङ्स्वर एव सतिशिष्टत्वात् स्यात्। उपदेशिवद्भावे तु पूर्वमवङि कृते पश्चात् समास इति सतिशिष्टत्वात् समासस्वर एव भवति। पदान्तादित्येव—गवे, गवोः, गवाम्, गवि॥

न्यासः

बहुव्रीहिः, तत्पुरुषो वा। **गवोष्ट्रमिति द्वन्द्वः। आद्युदात्तश्चायमित्यादि।** इह गावोऽग्रमस्येति बहुव्रीहौ कृते पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च प्राप्नोति, अवङादेशश्च, तत्रान्तरङ्गत्वादवङ् भवति, स च भवन् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तस्य गोशब्दस्य स्थान आन्तर्यतोऽन्तोदात्त एव स्यात्। तस्मिन् सति पश्चात् प्रकृतिस्वरे कृतेऽन्तोदात्तत्वं पूर्वपदस्यापद्येत, आद्युदात्तश्चेष्यते, तस्मादाद्युदात्तोऽयमादेशो निपात्यते। यद्येवम्, तत्पुरुषादावपि स एव निपातनस्वरः प्राप्नोति? इत्यत आह—**अन्यत्र त्वित्यादि**। अन्यत्रेति—तत्पुरुषे, द्वन्द्वे च। गोशब्दस्यायमादेश इति तत्सम्बन्ध्येव शब्दान्तरं निपातनस्वरेण बाध्यते, न समासस्वरः। तस्माद् बहुव्रीहेरन्यत्र तत्पुरुषादौ समासान्तोदात्तत्वेन निपातनस्वरो बाध्यते, **स्फोटायनग्रहणं पूजार्थमिति**। किं पुनः कारणं विकल्पार्थं न भवति? इत्याह—**विभाषेत्येव हि वर्त्तत इति**। किमर्थं पुनरवङ् विधीयते? अगेव न विधीयेत, तत्रापि ह्यवादेशेन सिध्यत्येव? न सिध्यति; 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपत्वं प्राप्नोतीति। ननु चाकि विहिते सति तदन्तो न भवति? आगमस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात्। न ह्योकारस्य प्राक् प्रवृत्ता पदान्तता नास्तीति शक्यं वक्तुम्॥

इन्द्रे च नित्यम्[1] ॥ १२४ ॥

इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोर्नित्यमवङादेशो भवति । गवेन्द्रः । गवेन्द्रयज्ञस्वरः ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि ॥ १२५ ॥

प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति । देवदत्ता३ अत्र न्वसि । यज्ञदत्ता३ इदमानय । आश्रयादत्र प्लुतः सिद्धः । प्रगृह्याः– अग्नी इति । वायू इति । खट्वे इति । माले इति ।

अचीत्यनुवर्त्तमाने पुनरज्ग्रहणमादेशनिमित्तस्याचः परिग्रहार्थम् ।

पदमञ्जरी

इन्द्रे च ॥ अत्र यदि 'अचि' इति विशेषणम्, इन्द्रशब्दो विशेष्यम्, तदाऽजादौ इन्द्रशब्द इत्यर्थः स्यात् । ततश्च गवेन्द्रयज्ञ इत्यादौ न स्यात्, अनुत्तरपदत्वात् । यद्यप्यत्रोत्तरपदग्रहणं नास्ति, तथाप्यर्थात्समास एतद्विधानम्, न ह्यन्यत्र गोरनन्तर इन्द्रशब्दः सम्भवति । समासे च विधानमर्थादुत्तरपद एव स्यात्–ष्यङः सम्प्रसारणवत्, तस्मादज्विशेष्यम्, इन्द्रशब्दो विशेषणम्, अचि परतः कस्मिन्निन्द्रे यः स्थितस्तस्मिन्निति, तदिदमुक्तम्—*इन्द्रशब्दस्थेऽचीति* ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥ ननु यस्य विकारः प्राप्तस्तस्य प्रकृतिभावो विधेयः, न च प्लुतस्य विकारः प्राप्तः, स्वरसन्धिषु तस्यासिद्धत्वात् ? इत्यत *आश्रयात्प्लुतः सिद्धः इति* । यदिदं प्लुतस्य प्रकृतिभावं प्रति कार्यित्वेनाश्रयणम्, आह–अस्मादेव ज्ञापकात् 'स्वरसन्धिषु प्लुतः सिद्धः' इति कल्प्यत इत्यर्थः ।

आदेशनिमित्तस्याचः परिग्रहार्थमिति । यस्मिन्नादेशो विधीयते स एव प्रकृतिभावस्यापि निमित्तत्वेन परिगृहीतो यथा स्यादित्येवमर्थमित्यर्थः । जानु उ

न्यासः

इन्द्रे च नित्यम् ॥ इन्द्रशब्दस्थ इति । य इन्द्रशब्दे तिष्ठति स इन्द्रशब्दस्थः, स पुनर्य इन्द्रशब्दस्थावयवः स वेदितव्यः । पूर्वेण विकल्पः सिद्ध एव, तत्रारम्भसामर्थ्यादेव नित्ये विधावस्मिंल्लब्धे नित्यग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि ॥ देवदत्ता३ अत्र न्वसीति । 'दूराद्धूते च' इति प्लुतः । ननु च 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यसिद्धः प्लुतः, तदसतस्तस्य कथं शक्यते प्रकृतिभावो विधातुम् ? इत्यत आह—**आश्रयादित्यादि** । आश्रयणमाश्रयः । तदेतत् प्रकृतिभावकार्यं विधातुं प्लुतस्य कार्यिण आश्रयणम् । अस्मादेवात्र प्रकृतिभावे कर्त्तव्ये सिद्धः प्लुतः, अन्यथा तस्य कार्यित्वेनाश्रयणमनर्थकं स्यात् । **अग्नी इत्यादि** । 'ईदूदेद् द्विवचनम्' इत्यादिना अत्र प्रगृह्यसंज्ञा । अथाचीति किमर्थम्, यावताऽचीत्यनुवर्त्तत एव ? इत्यत आह—

१. पदमञ्जरीकारमते 'इन्द्रे च', 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति सूत्रपाठ इति ध्येयम् ।

तेनेह न भवति–जानु उ अस्य रुजति जान्वस्य रुजति । प्रगृह्यादु-कारात्परस्याकारस्य सवर्णदीर्घत्वं प्रत्यनिमित्तत्वादत्र प्रकृतिभावो न भवति ।

नित्यग्रहणमिहानुवर्त्तते । प्लुतप्रगृह्याणां नित्यमयमेव प्रकृतिभावो यथा स्याद्, 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्येतन्मा भूदिति ॥

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ॥ १२६ ॥

पदमञ्जरी

अस्येति । उञ् निपातः, तस्य पूर्वेण सहैकादेशस्य यन्निमित्तं न स प्रगृह्यादुत्तरः, यश्च ततः परो न स एकादेशस्य निमित्तमिति प्रकृतिभावाभावादेकादेशो भवत्येव । असति पुनरज्ग्रहणे 'प्रगृह्योऽचि परतः प्रकृत्या भवति' इत्युच्यमाने पूर्वेण सह यो विकारः प्राप्तस्तस्यापि प्रकृतिभावः स्यात् । पुनरज्ग्रहणे तु न भवति, तत्रैकादेशे कृते तस्यादिवद्भावात्प्रगृह्यग्रहणेन ग्रहणात् 'इको यणचि' इति यणादेशः प्रकृतिवद्भावान्न भवति, 'मय उञो वो वा' इति पक्षे वकारः ।

नित्यग्रहणमनुवर्त्तत इति । पूर्वसूत्रे नित्यग्रहणमेतदर्थमेव कृतम्, तत्र त्वारम्भसामर्थ्यादेव नित्यो विधिः सिद्धः । *नित्यमेव प्रकृतिभावो यथा स्यादिति* । अयमेव प्रकृतिभावो नित्यं यथा स्यात्, शास्त्रान्तरेण कार्यान्तरसहितो मा भूदित्यर्थः ॥

न्यासः

अचीत्यनुवर्त्तमान इत्यादि । आदेशस्य निमित्तं योऽच् तस्य प्रकृतिभावनिमित्तत्वेन परिग्रहो यथा स्यादित्येवमर्थं पुनरज्ग्रहणम् । आदेशस्त्वत्र यत्राचि प्रकृतिभावो विधीयते तमेवाश्रित्य यः प्राप्नोति स एव विधेयः । कुत एतत् ? प्रत्यासत्तेः । तेनेह न भवति प्रकृतिभावः–जानु + उ अस्य रुजति जानू अस्य रुजतीति । न हि जानुशब्दे य उकारो यश्च तदनन्तरः प्रगृह्यसंज्ञकस्तयोः सवर्णदीर्घत्वं प्रति प्रगृह्यसंज्ञकादुकारात् परस्याकारस्य निमित्तभावः । इह च न भवति—जान्वस्य रुजतीति । तेन पूर्वपरयोरुकारयोर्य एकादेशः, स यद्यपि 'अन्तादिवच्च' इत्यादिवद्भावात्प्रगृह्यसंज्ञकोकारग्रहणेन गृह्यते, तथापि यणादेशोऽकारे परतो भवत्येव । न ह्यत्राप्यकार एकादेशनिमित्तम् । यदि तु विशिष्टाच्परिग्रहार्थं पुनरज्ग्रहणं न क्रियते, तदाऽज्मात्रे प्रकृतिभावो विधीयमान इहापि स्यादेव । प्रगृह्यसंज्ञा पुनरकारपूर्वस्योकारस्य 'निपात एकाजनाङ्' इत्यनेन ।

नित्यग्रहणमित्यादि । यदि नित्यग्रहणमिहानुवर्त्तते, तदाग्नी + इतीत्यादौ अस्य विधेः कृतार्थत्वाद् वायू + अत्रेत्यादौ परत्वाच्छाकलो विधिः प्रसज्येत । तस्मात् प्रकृतिभाव एव यथा स्यात्–इत्येवमर्थं नित्यग्रहणमिहानुवर्त्तते ॥

आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो भवति, स च प्रकृत्या भवति। अभ्रआँ अपः। गभीरआँ उग्रपुत्रे जिघांसत।

केचिद् 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्' इत्यधीयते। तेनेह न भवति—इन्द्रो बाहुभ्यामातरत्। आ अतरत्।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ १२७ ॥

इकोऽसवर्णेऽचि परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति। दधि अत्र, दध्यत्र। मधु अत्र, मध्वत्र। कुमारि अत्र, कुमार्यत्र। किशोरि अत्र, किशोर्यत्र।

पदमञ्जरी

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ॥ *तेनेह न भवतीति*। अनर्थकस्यैवाकारस्य भवति, अभ्र आँ अप इत्यादौ सप्तम्यैव तदर्थस्योक्तत्वात्तदर्थवृत्तिराङनर्थकः; अनर्थान्तरवाचित्वात्। *आतरदित्यत्र* तु क्रियाविशेषणत्वादर्थवान्।

कथं पुनरनर्थकस्य ङित्त्वम्, यावता—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्' ॥ इत्युक्तम्?

सत्यम्; 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इत्यत्रैव तात्पर्यम्, अन्यत्र सर्वत्र आङ् ङिद्वेदितव्यः—एवं तावद्भाष्ये स्थितम् ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ किमर्थश्चकारः, प्रकृत्येत्येतदनुकृष्यतेऽनेन? ननु च ह्रस्वविधानसामर्थ्यादेव स्वरसन्धिर्न भविष्यति? भवेद्दीर्घाणां

न्यासः

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ॥ आङ इति ङिद्विशिष्टस्याकारस्योपादनम्। 'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः'—तस्यैव ग्रहणं यथा स्यात्, वाक्यस्मरणयोर्यः तस्य मा भूदित्येवमर्थम्। असति प्रकृतिभावे विहितेऽप्याङोऽनुनासिकत्वे स्यादेव स्वरसन्धिः। अनुनासिकविधानं त्वादेशस्य सानुनासिकत्वार्थं स्यादित्येतन्मनसि कृत्वाऽऽह—न च प्रकृत्या भवतीति। आतरदिति। तरतेराङ्पूर्वाल्लङ्, अडागमः, अटा सह सवर्णदीर्घत्वम् ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवतीति। यद्येवम्, 'प्रकृत्या' इत्यस्यानुकर्षणार्थश्चकारो न कर्त्तव्यः, ह्रस्वविधानसामर्थ्यादेव हि स्वरसन्धिर्न भविष्यति? अत्रैतत् स्यात्— दीर्घाणामेव ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् स्वरसन्धिर्न स्यात्।

इक इति किम् ? खट्वेन्द्रः । असवर्ण इति किम् ? कुमारीन्द्रः ।

शाकल्यग्रहणं पूजार्थम्, आरम्भसामर्थ्यादेव हि यणादेशेन सह विकल्पः सिद्धः ।

❀ सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः ❀ । सिति—अयं ते योनिर्ऋत्वियः । नित्यसमासे—व्याकरणम् । कुमार्यर्थम् ।

पदमञ्जरी

ह्रस्ववचनसामर्थ्यादेव स्वरसन्धिर्न स्यादिति ह्रस्वानां तु प्राप्नोति । न हि ह्रस्वानां ह्रस्वो भवति; प्रयोजनाभावात् । अस्ति प्रयोजनम्—स्वरसन्धिर्मा भूदिति ? इदं तर्हि प्रयोजनम्–प्रकृतिभावमात्रं क्वचिद्यथा स्यादिति, तेनेषा अक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं सिद्धं भवति ।

शाकल्यग्रहणं पूजार्थमिति । अथ विकल्पार्थं कस्मान्न भवति ? इत्याह—*आरम्भसामर्थ्यादेवेति* । सवर्णेऽचि दीर्घविधानाद्यणादेशस्यासवर्ण एवाज्विषयः, अस्यापि विधेः स एव विषयः, ततश्च विषयैक्यादेव विकल्पे सिद्धे न तदर्थकमाचार्यग्रहणम् ।

सिन्नित्यसमासयोरिति । नित्याधिकारविहितोऽस्वपदविग्रहश्च समासो नित्यसमासः, एकापि सप्तमी विषयभेदाद्भिद्यते, सिति परतो नित्यसमासे च विषय इति, शाकल्यस्यायं विधिः शाकलः, 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' इत्यण् । *ऋत्विय इति* । ऋतुरस्य प्राप्त इति 'ऋतोरण्', 'छन्दसि घस्' । *व्याकरणमिति* । 'कुगति-

न्यासः

ह्रस्वानां तु स्यादेव, न हि तेषां ह्रस्वा भवन्ति । प्रयोजनाभावादित्येतच्च नास्ति; ह्रस्वानामपि हि स्वरसन्धिबाधनार्थं ह्रस्वो भवत्येव । कृतकारि खल्विदं शास्त्रम्, पर्जन्यवत्; नाकृतकारि, दहनवत् । एवं तर्हि चकारेणैतदाख्यायते—क्वचिद् ईषा + अक्षादौ प्रकृतिभाव एव भवति, न ह्रस्वत्वमिति । तेन यदुक्तमीषा अक्षादौ प्रकृतिभावमात्रमिति, तन्न वक्तव्यं भवति ।

यणादेशेन सह विकल्पार्थं शाकल्यग्रहणं कस्मान्न भवति ? इत्याह—**आरम्भसामर्थ्यादेव हीत्यादि** । यणादेशस्य ह्यसवर्ण एवाज्विषयः; सवर्णे तु 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घविधानात् । अयमपि च शाकलो ह्रस्वो विधीयते । अत एवास्मिन् विषय आरम्भसामर्थ्यादेवास्य विधेर्यणादेशेन सह विकल्पः सिद्ध इति न तदर्थमाचार्यग्रहणम् ।

सिन्नित्यसमासयोरित्यादि । एकापि सप्तमी द्विधा भिद्यते; अपेक्षाभेदात् । सिदपेक्षया परसप्तमी, नित्यसमासापेक्षया विषयसप्तमी । सिच्च नित्यसमासश्चेति द्वन्द्वः—स इद् यस्य स सित् । नित्याधिकारे विहितः समासो नित्यसमासः । शाकल्यास्यायं विधिः शाकलः—'कण्वादिभ्यो गोत्रे' इत्यण्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः, 'आपत्यस्य

❀ इषाअक्षादिषु च्छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं वक्तव्यम् ❀। ईषा अक्षः। का ईमरे पिशङ्गिला। पथा अगमन् ॥

ऋत्यकः ॥ १२८ ॥

'शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्येतदनुवर्त्तते। ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्याकः स्थाने भवति। खट्व ऋश्यः। माल ऋश्यः। कुमारि ऋश्यः। होतृ ऋश्यः[1]।

ऋतीति किम्? खट्वेन्द्रः। अक इति किम्? वृक्षावृश्यः।

सवर्णार्थमनिगर्थं च वचनम् ॥

अप्लुतवदुपस्थिते ॥ १२९ ॥

पदमञ्जरी

प्रादयः' इति समासः, तत्र 'नित्यम्' इत्यनुवर्त्तते। *कुमार्यर्थमिति*। कुमार्यै इदं कुमार्यर्थम्, अस्वपदविग्रहोऽयं नित्यसमासः ॥

ऋत्यकः ॥ *सवर्णार्थमनिगर्थं च वचनमिति*। होतृ ऋश्यः, खट्व ऋश्य इत्यादौ; अन्यत्र पूर्वेणैव सिद्धत्वात् ॥

न्यासः

च तद्धितेऽनाति' इति यकारलोपः। शाकलस्य प्रतिषेधः **शाकलप्रतिषेधः**। **वक्तव्य इति**। व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यतो विभाषाग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते। तेन सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधो भविष्यति। **ऋत्विय इति**। ऋतुः प्राप्तोऽस्येति 'ऋतोरण्', 'छन्दसि घस्' इति घस्। **व्याकरणमिति**। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। अत्र हि 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इत्यतो नित्यग्रहणानुवृत्तेर्नित्यसमासोऽयम्। **कुमार्यर्थमिति**। कुमार्या इदं कुमार्यर्थमिति। 'अर्थशब्देन सह समासवचनं सर्वलिङ्गता च' इत्ययमपि नित्यसमास एव। सर्वत्र शाकलविधौ प्रतिषिद्धे यणादेशो भवत्येव ॥

ऋत्यकः ॥ **सवर्णार्थमनिगर्थञ्च वचनमिति**। अन्यत्र पूर्वेणैव सिद्धत्वात्। यदि सवर्णार्थं वचनम्, कथं तर्हि खट्वर्श्य इत्युदाहरणम्, न ह्यत्र सवर्णोऽपरः? नैतदस्ति; 'अनिगर्थञ्च' इति यदुक्तं तस्योदाहरणम्। अत एवाक इत्युपात्तं सूत्रे; अन्यथेक इत्यनुवर्त्तनीयं स्यात्। सत्यस्मिन् योगे सवर्णार्थेऽप्यकोऽनेनैव युक्तो ह्रस्वप्रकृतिभावो परत्वादित्यस्योदाहरणस्योपन्यासः ॥

---

1. 'पोतृ ऋश्यः' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे।

उपस्थितं नामानार्ष इतिकरणः समुदायादवच्छिद्य पदं येन स्वरूपेऽवस्थाप्यते तस्मिन्परतः प्लुतोऽप्लुतवद्भवति । प्लुतकार्यं प्रकृतिभावं न करोति । सुश्लोका३ इति, सुश्लोकेति । सुमङ्गला३ इति, सुमङ्गलेति ।

वत्करणं किम् ? अप्लुत इत्युच्यमाने प्लुत एव प्रतिषिध्येत ।

पदमञ्जरी

अप्लुतवदुपस्थिते ॥ ऋषिः=वेदः, तत्र भव आर्षः, ततोऽन्योनार्षः, समुदायाद्वाक्यादवच्छिद्य पृथक्कृत्य स्वरूपेऽवस्थाप्यते । कैः ? पदकारैः । पदस्येयत्तापरिज्ञानाय अप्लुतेन तुल्यं वर्त्तत इत्यप्लुतवत् । तत्र येन साधर्म्येणाप्लुतवत्त्वम्, तद्दर्शयति—*अप्लुतकार्यमिति* । तत्रापि प्लुतशब्देन विहितस्य कार्यस्य प्रतिषेध इति दर्शयति—*प्रकृतिभावं करोतीति* । अन्यथा स्वरसन्धेरपि प्रतिषेधः स्यात्, तस्यापि प्लुतकार्यत्वात् । उदाहरणेषु प्लुतकार्यप्रतिषेधादेकादेशो भवन् प्लुतमेवोपसृद्य भवति; स्वरसन्धिप्रकरणे प्लुतस्य सिद्धत्वात् ।

तत्र को दोष इति । एकादेशेन निवर्त्त्यमानत्वात् प्लुतस्य श्रवणेन न भवितव्यमिति प्लुत एव निषिध्यताम्, किमर्थमतिदेशाश्रयणमिति प्रश्नः । *अग्नी३ इतीति* । यत्र प्लुताश्रयोऽपि प्रकृतिभावः प्राप्नोति, प्रगृह्याश्रयोऽपि; तत्र प्लुता-

न्यासः

अप्लुतवदुपस्थिते ॥ ऋषौ=वेदे भव आर्षः, तस्मादन्यो लौकिकोऽनार्षः । **समुदायादिति** । वाक्यादित्यर्थः । कुत एतत् ? पदरहितस्य वाक्यस्याप्रयोगात् । वाक्यस्य च समुदायात्मकत्वात् । **अवच्छिद्येति** । पृथक् कृत्वेत्यर्थः । **स्वरूपे व्यवस्थाप्यत इति** । शब्दपदात्मकतायां व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः । **अप्लुतवदिति** । अप्लुतेन तुल्यं वर्त्तत इत्यप्लुतवत् । येन साधर्म्येणाप्लुतवद् भवति तद् दर्शयितुमाह—**प्लुतकार्यमित्यादि** । तदनेन प्लुतकार्यस्यायं प्रतिषेधः, न तु प्लुतस्येति दर्शित भवति । **सुश्लोका३ इति** । 'दूराद्धूते च' इति प्लुतः । **सुश्लोकेति** । प्लुतकार्यस्याकरणादेकादेशो भवत्येव । ननु चैकादेशेनापि न भवितव्यम्, तस्यापि प्लुतकार्यत्वात् ? नैतदस्ति; एवं हि वचनस्य वैयर्थ्यं स्यात् । तस्मात् प्लुतसंशब्दनेनैव प्लुतस्य यत् कार्यं विहितं तस्यैव प्रतिषेधः, न सर्वस्य प्लुतकार्यस्य । न चैकादेश एवं विहितः ।

वत्करणं किमिति । इह कार्यमात्रस्य प्रतिषेधे सति प्लुतस्य श्रवणं यथा स्यादित्येवमर्थं वत्करणं स्यात् । सत्यपि च कार्यमात्रस्य प्रकृतिभावस्य प्रतिषेधेनैव प्लुतश्रुत्या भवितव्यम्; एकादेशेन निवर्त्तितत्वात् । तत् कस्मात् प्लुतस्यैव प्रतिषेधो न क्रियत इत्यभिप्रायः । प्लुतप्रतिषेधे वक्ष्यमाणं दोषं चेतसि कृत्वाऽऽह—**प्लुत इत्युच्यमान इत्यादि** । **तत्र को दोष इति** । यो वत्करणे सति न भवतीति भावः । **प्रगृह्याश्रय**

तत्र को दोषः ? प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात्—अग्नी३ इति । वायू३ इति ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥ १३० ॥

ई३कारः प्लुतोऽचि परतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लुतवद्भवति । अस्तु हीत्यब्रूताम्[1], अस्तु ही३ इत्यब्रूताम्[1] । चिनु हीदम्, चिनुही३ इदम् ।

चाक्रवर्मणग्रहणं विकल्पार्थम्—तदुपस्थिते निवृत्त्यर्थम्, अनुपस्थिते प्राप्त्यर्थमित्युभयत्रविभाषेयम् ।

ईकारादन्यत्राप्ययमप्लुतवद्भाव इष्यते । वशा३ इयम्, वशेयम् ॥

पदमञ्जरी

श्रयस्य प्रतिषेधेऽपि प्रगृह्याश्रयस्य प्रकृतिभावस्य प्रतिषेधाभावात् प्लुतस्य श्रवणं सिद्ध्यति, प्लुतप्रतिषेधे तु क्रियमाणेऽत्रापि श्रवणं न स्यात् ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥ सूत्रे ई चेति त्रिमात्रिकस्य निर्देशः । *अचि परत इति* । उपस्थितग्रहणं चास्वरितत्वान्निवृत्तम् । *अस्तु ही३ इत्यब्रूतामिति* । 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः' इति प्लुतः, अस्तेर्लोटि तिप्, 'एरुः' ।

तदुपस्थिते निवृत्त्यर्थमिति । तत्र पूर्वेणाप्लुतवद्भावस्य नित्यप्राप्तत्वात्, अनुपस्थिते प्राप्त्यर्थमिति, तत्र केनचिदप्राप्तत्वात् ।

ईकारादन्यत्रापीति । तथा च भाष्यम्—'ईकारग्रहणेन नार्थः' इत्यादि ॥

न्यासः

इत्यादि । प्रगृह्य आश्रयो यस्य तस्मिन् प्रकृतिभावे सति प्रगृह्यसंज्ञको यः प्लुतस्तस्य श्रवणं न स्याद्, यदि प्लुत एव प्रतिषिध्येत । वत्करणे तु सति प्लुतकार्यस्यायं प्रतिषेधो भवति, न प्लुतस्यैव । तत्र प्लुताश्रये प्रकृतिभावे प्रतिषिद्धेऽपि प्रगृह्याश्रयस्याप्रतिषिद्धत्वादसत्येकादेश एष दोषो न भवति । **अग्नी इतीति** । 'ईदूदेद् द्विवचनम्' इत्यादिना प्रगृह्यसंज्ञा, 'गुरोरनृत' इत्यादिना प्लुतः ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥ **अचि परत इति** । एतेन 'उपस्थिते' इत्येतन्निवृत्तम्; अस्वरितत्वादिति सूचयति । **अस्तु ही३ इति** । 'असु क्षेपणे', लोट्, सिप् । 'सेर्ह्यपिच्च' इति सेर्हिः, व्यत्ययेन श्लुः । 'क्रियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्' इति प्लुतः ।

तदुपस्थिते निवृत्त्यर्थमिति । तत्र पूर्वेणाप्लुतवद्भावस्य नित्यं प्राप्तत्वात् । **अनुपस्थिते प्राप्त्यर्थमिति** । तत्र केनचिदप्राप्तत्वात् ।

ईकारादित्यादि । कथं पुनरिकारादन्यत्रापीष्यमाणोऽप्येषोऽप्लुतवद्भावो लभ्यते ? 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इत्यतोऽनुवृत्तस्य चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् ॥

१—१. उभयत्र 'इत्यब्रवीत्' इति मुद्रितमूलपुस्तके पाठः ।

दिव उत् ॥ १३१ ॥

'एङः पदान्तादति' इत्यतः पदग्रहणमनुवर्तते। 'दिवः' इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः; सानुबन्धकत्वात्। दिवः पदस्य उकारादेशो भवति। दिवि कामो यस्य द्युकामः। द्युमान्। विमलद्यु दिनम्। द्युभ्याम्। द्युभिः।

निरनुबन्धकग्रहणादिह न भवति—अक्षद्यूभ्याम्, अक्षद्यूभिरिति।

पदमञ्जरी

दिव उत् ॥ *पदग्रहणमनुवर्त्तत इति*। अन्तग्रहणेनोपसमस्तमपि[1] केवलं पदग्रहणमेवानुवर्त्तते, ततश्चार्थात् षष्ठ्यन्तं जायते, दिवशब्देन विशेषणात्तदन्तविधिः, 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' इति तु प्रत्ययविधिविषयम्। व्यपदेशिवद्भावात् केवलस्यापि भवितव्यम्, 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इत्येतदपि प्रत्ययविधिविषयमेव। *सानुबन्धकत्वादिति*। दीव्यतेर्धातोरुकारोऽनुबन्धः, प्रातिपदिकस्य तु न कश्चिदनुबन्धः। *दिवः पदस्येति*। तदन्तस्य पदस्येत्यर्थः। *द्युकाम इति*। दिवं कामयते इति 'शीलिकामिभिक्षाचरिभ्यो णः'। *विमलद्यु इति*। विमला द्यौरस्मिन्निति बहुव्रीहिः। *अक्षद्युभ्यामिति*। अक्षशब्द उपपदे दीव्यतेः क्विप्, तत्र 'च्छ्वोः शूडनासिके च' इत्यूठ्।

अथ तपरकरणं किमर्थम्, यद्यपि 'ऋत उत्' इति तपरकरणेन ज्ञापितम्—'भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति' इति, तथाप्यान्तर्यतोऽर्द्धमात्राकालस्य व्यञ्जनस्य मात्रिक एव भविष्यति ? इत्यत आह—*तपरकरणमिति*। यद्यप्यनेन दीर्घो

न्यासः

दिव उत् ॥ **सानुबन्धकत्वादिति**। कस्य धातोरनन्तरम् ? प्रकृतत्वात् तस्यैव। दीव्यतिर्धातुः सानुबन्धः, प्रातिपदिकं तु दिवित्येतन्निरनुबन्धकम्, निरनुबन्धकस्य च च सूत्र उपादानम्; तस्मात् 'निरनुबन्धकस्य ग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति प्रातिपदिकस्येदं ग्रहणम्, न धातोरिति। **द्युकाम इति**। दिवि कामोऽस्येति बहुव्रीहिः, दिवं कामयत इति वा। 'शीलिकामिभिक्षाचरिभ्यो णो वक्तव्यः' इति णप्रत्ययः। **द्युमानिति**। द्यौरस्यास्तीति 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'। **विमलद्यु दिनमिति**। विमला द्यौरस्मिन्निति बहुव्रीहिः। **अक्षद्यूभ्याम्, अक्षद्यूभिरिति**। अक्षशब्द उपपदे दीव्यतेर्धातोः क्विप्, 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठ्।

अथ तपरकरणं किमर्थम्, यावता यद्यपि 'ऋत उत्' इत्यत्र तपरकरणेन 'भाव्यमनोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति' इति ज्ञापितम्, तथाप्यत्रान्तर्यतोऽर्द्धमात्राकालस्य व्यञ्जनस्य मात्रिक एव भविष्यति; न दीर्घः ? इत्यत आह—**तपरकरणमित्यादि**।

1. 'उत्तरपदेनापि'—इति पाठा०।

तपरकरणमूठो निवृत्त्यर्थम्–द्युभ्याम्, द्युभिरिति । अत्र हि परत्वादूठ् प्राप्नोति ।

पदस्येति किम् ? दिवौ । दिवः ॥

पदमञ्जरी

न प्राप्नोति, लक्षणान्तरेण तु प्राप्नोतीत्याह—*द्युभ्याम्, द्युभिरिति* । उत्वस्यावकाशो यत्रायजादिपरः—विमलद्यु, ऊठोऽवकाशः–द्यूत्वा, द्यूतम्; यत्र तूभयोः प्रसङ्गस्तत्र परत्वादूठ प्राप्नोति, तपरकरणादुत्वमेव भवति । यदि प्राप्तस्योठो निवृत्त्यर्थं तपरकरणमित्युच्यते, एवं तर्हि 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यत्र 'कथं द्युभ्याम्, द्युभिः' इति परेण चोदिते यद्वक्ष्यति–'ऊठि कृते दिव उदिति तपरकरणान्मात्राकालो भविष्यति', तद्विरुद्धयते, तस्य द्यूठि कृते तस्यैवोठो मात्राकालो भविष्यतीत्ययमर्थः ? नैषः दोषः; 'ऊठि कृते' इत्येतस्य पूर्वेण चोद्यग्रन्थेन सम्बन्धः–'कथं द्युभ्यां द्युभिरिति, ऊठि कृते' इति; 'दिव उत् इति तपरकरणात् मात्राकालो भविष्यति' इत्येतावान् परिहारग्रन्थः । तपरकरणस्य तूण्निवृत्तिरेव प्रयोजनम् । तस्मादुत्त्वमेवात्र कर्त्तव्यम्, न पुनरूडित्यर्थः ॥

न्यासः

यद्यप्यनेन दीर्घो न प्राप्नोति, लक्षणान्तरेण तु द्युभ्यां द्युभिः–इत्यत्रोठ् प्राप्नोति, अतः स मा भूदित्येवमर्थं तपरकरणम् । स्यादेतत् । ननु चोठ्प्राप्तिरेव नास्ति, किं तन्निवृत्त्यर्थेन तपरकरणेन ? इत्यत आह—द्युभ्याम्, द्युभिरिति । अत्र हीत्यादि । उत्त्वस्यावकाशो यत्र झलादिः क्विप्परो न विद्यते–विमलद्यु दिनमिति, ऊठोऽवकाशः—अक्षद्यूभ्यामिति; द्युभ्यामित्यादावुभयप्रसङ्गे परत्वादूठ् प्राप्नोति, तपरकरणादुत्त्वमेव भवति । यदि तर्हि प्राप्तस्योठो निवृत्तये तपरकरणं क्रियते, एवं सति 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यत्र 'कथं द्युभ्याम्, द्युभिः' इति परेण चोदिते यद्वक्ष्यति–"ऊठि कृते 'दिव उत्' इति तपरत्वान् मात्राकालो भविष्यति" इति, तद्विरुध्यते; तस्योठि कृतेऽभिनिवृत्ते तस्य स्थाने मात्राकाल उकारो भविष्यतीत्ययमर्थः ? नास्ति विरोधः; 'ऊठि कृते' इत्यस्य हि ग्रन्थस्य पूर्वेण चोद्यग्रन्थेन सह सम्बन्धः, नेतरेण परिहारग्रन्थेन । तत्र 'केचिदत्र क्ङितीति नानुवर्त्तयन्ति' इत्यस्मिन् दर्शनान्तरे उपन्यस्ते, 'कथं द्युभ्यां द्युभिरित्यूठि कृते' इति देश्यम् । तत्रायं चोदयितुरभिप्रायः—यदि क्ङितीति नानुवर्त्तेत, तदा द्युभ्यां द्युभिरित्यत्राप्यूडेव कर्त्तव्यः, ततश्चोठि कृते कथं द्युभ्यां द्युभिरिति सिध्यति, यावता द्यूभ्यां द्यूभिरिति भवितव्यमित्यस्य देश्यस्य 'दिव उत्' इति तपरत्वान् मात्राकालो भविष्यतीत्येष परिहारः । अत्राप्ययं परिहर्तुरभिप्रायः—तपरकरणस्यैतदेव प्रयोजनम् ऊठ् मा भूदिति; अन्यथा तदनर्थकं स्यात् । तस्मादुत्त्वमेव कर्त्तव्यम्, न तूड्भाव इति । ये तु 'क्ङिति' इत्यनुवर्त्तयन्ति, तेषां तपरकरणं विस्पष्टार्थम् ॥

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥ १३२ ॥

एतत्तदौ यावककारौ नञ्समासे न वर्त्तेते तयोर्यः सुशब्दः, कश्च तयोः सुशब्दः ? यस्तदर्थेन सम्बद्धः, तस्य संहितायां विषये हलि परतो लोपो भवति । एष ददाति । स ददाति । एष भुङ्क्ते । स भुङ्क्ते ।

पदमञ्जरी

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥ *सुशब्द इति* । एतेन 'एतत्तदोः' इति सुशब्दापेक्षया सम्बन्धलक्षणा षष्ठीत्याचष्टे । यद्येवम्, सु इत्येतस्य सापेक्षत्वाल्लोपशब्देन समासो न प्राप्नोति ? नैवायं समासः, सु इति पृथक्पदम् 'सुपां सुलुक्' इति लुप्तषष्ठीकम् । *कश्च तयोः सुशब्द इति* । यदि यस्ताभ्यां विहितः सुः स तयोः सम्बन्धी भवति, तदा परमस ददाति, परमैष ददातीत्यादौ न स्यादिति मन्यमानः पृच्छति । इतरो विदिताभिप्रायः परिहृति-*यस्तदर्थेन सम्बद्ध इति* । अर्थद्वारकश्च सम्बन्धः, यस्तदर्थगतमेकत्वमाचष्ट इत्यर्थः । परमस ददातीत्यादावपि उत्तरपदार्थप्रधानत्वात्तदर्थगतमेवैकत्वमाचष्ट इति सिद्धो लोपः । प्रथमैकवचनस्यात्र सुशब्दस्य ग्रहणम्, न सप्तमीबहुवचनस्य । 'स्यश्छन्दसि' 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इत्यत्र ह्यस्यैव सम्भवः । द्वयोः सामान्येन ग्रहणं तर्हि कस्मान्न भवति ? एवं तर्हि 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इति प्रथमैकवचनस्यैव ग्रहणम्, तस्य ह्युकार उच्चारणार्थः, नानुबन्धः । *एष इति* ।

न्यासः

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥ **नञ्समासे न वर्त्तेतेति** । अनेन क्रियासम्बन्धं दर्शयन् 'अनञ्समासे' इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयमिति दर्शयति । पर्युदासे हि सति नञिवयुक्तन्यायेन नञ्समासादन्यस्मिन् समासे वर्त्तमानयोः स्यात्—परमैष ददाति, परमस ददातीति; एष ददाति, स ददातीत्यत्र तु न स्यात् । अथ 'स सम्प्रदानम्' इत्यादिको निर्देशो ज्ञापयति—असमासेऽपि भवतीति ? उच्यते; एवमप्येतच्छब्दस्य न स्यात्, योगापेक्षे तु ज्ञापक आश्रीयमाणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यादित्यभिप्रायः । **तयोर्यः सुशब्द इति** । एतेन 'एतत्तदोः' इति सुशब्दापेक्षया सम्बन्धलक्षणेयं षष्ठीत्याचष्टे । यद्येवम्, सुशब्दस्य सापेक्षत्वादसामर्थ्ये सति लोपशब्देन सह समासो नोपपद्यते । गमकत्वात् सापेक्षस्यापि समासो भविष्यतीत्यदोषः । अथ वा—असमासनिर्देश एवायम्, षष्ठी तु 'सुपां सुलुक्' इत्यनेनैव लुप्तत्वान्न श्रूयते । **कश्च तयोः सुशब्द इति** । एवं मन्यते—आनन्तर्यलक्षणेन वा सम्बन्धेनैतत्तदोः सुशब्दः सम्बन्धी स्यात्, अर्थद्वारेण वा; तत्र हि पूर्वस्मिन् पक्षे सप्तमीबहुवचनस्यापि ग्रहणं स्यात् । भवति हि तदेतदोरानन्तर्यलक्षणेन सह सम्बन्धेन सम्बन्धी । इतरस्मिन् 'अनञ्समासे' इति प्रतिषेधस्यैव

एतत्तदोरिति किम् ? यो ददाति । यो भुङ्क्ते । सुग्रहणं किम् ? एतौ गावौ चरतः । अकोरिति किम् ? एषको ददाति । सको ददाति । 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति रूपभेदेऽपि साकच्कावेतत्तदावेव भवतः ।

पदमञ्जरी

'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सकारः, त्यदाद्यत्वम्, षत्वम् । *एषक इति* । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इत्यकच् ।

ननु रूपभेदात्साकच्कावेतत्तदावेव न भवतः, तत्किम् 'अकोः' इति प्रतिषेधेन ? तत्राह—*तन्मध्यपतित इति* । अस्याश्च परिभाषाया अस्तित्वे अयमेव प्रतिषेधो लिङ्गम् ।

न्यासः

वैयर्थ्यं स्यात्—अनेषो ददाति, असो ददातीति । अत्र हि समासद्वारेण सुशब्दः समासस्यैव सम्बन्धी, न त्वेतत्तदोरिति । ननु च सानुबन्धकत्वात् सप्तमीबहुवचनं नाशङ्कनीयमेव ? नैतदस्ति, प्रथमैकवचनमपि हि तद्गुणसंविज्ञाने बहुव्रीहौ सानुबन्धकमेव । तद्गुणसंविज्ञान इति 'एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य' इत्यत्र यदस्त्येकानुबन्धग्रहणं तदपेक्ष्य बोध्यम् । तत्रातद्गुणसंविज्ञानेऽङ्गीकृत एतद्वचनं न घटते; अनुबन्धं त्यक्त्वा सुशब्दो नास्ति, किं तर्हि ? सशब्दः । इयाँस्तु विशेषः—एकस्य पकारोऽनुबन्धः, अपरस्य तूकार इति । तस्माद् द्वयोरपि सानुबन्धकत्वात् सप्तमीबहुवचनमपि युक्तमाशङ्कितुम् । द्वितीये तु पक्षे यो दोषः, तमुत्तरत्र परिहरिष्यामीति चेतसि कृत्वाऽऽह—**यस्तदर्थेन सम्बन्ध इति** । एवं ब्रुवता प्रथमैकवचनं तयोः सम्बन्धीत्युक्तम् भवति । कथं कृत्वा ? एतत्तच्छब्दौ हि प्रातिपदिके । 'त्रिकश्च प्रातिपदिकार्थः' इतीदमत्र दर्शनमाश्रितम् । तथाहि 'बहुषु बहुवचनम्' इत्यत्र बहुषु बहुवचनं भवति । बहुत्वमस्य वाच्यं भवतीत्यर्थः । 'कर्मादयोऽप्यपरे विभक्तीनां वाच्यास्तदीये' (१.४.२१) इति ब्रुवाणेन संख्यायाः कर्मादीनाञ्च विभक्तिवाच्यत्वमिति दर्शितम्, अर्थाच्च त्रिकत्वम्, 'स्वार्थद्रव्य लिङ्गात्मकं प्रातिपदिकार्थः' इति तस्य प्रातिपदिकार्थस्य यदेकत्वं तत्र प्रथमैकवचनमेव भवति, न सप्तमीबहुवचनम् । तद् व्यधिकरणस्यैव बहुत्वे भवति । तस्माद् एतत्तदोरर्थद्वारकेण प्रथमैकवचनमेव सम्बद्धम्, न सप्तमीबहुवचनम् ।

एष ददातीति । 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सत्वम्, त्यदाद्यत्वम्, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ।

एषक इति । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इत्यकच् । ननु साकच्कावेतौ भिन्नरूपत्वादेतत्तदौ न भवतः, तत् किम् 'अकोः' इति प्रतिषेधेन ? इत्यत आह—**तन्मध्यपतित इत्यादि** । तस्याश्च परिभाषाया अस्तित्व एष एव 'अकोः' इति प्रतिषेधो ज्ञापकः, 'नेदमदसोरकोः' इति च ।

ननु च नञ्समासे कृते शब्दान्तरस्य सम्बन्धी सुर्भवति, नैतत्तदोः, ततश्च

अनञ्समास इति किम् ? एनेषो ददाति । असो ददाति । उत्तर-पदार्थप्रधानत्वात् नञ्समासस्यैतत्तदोरेवात्र सम्बद्धः सुशब्दः ।

हलीति किम् ? एषोऽत्र । सोऽत्र ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ १३३ ॥

'स्य' इत्येतस्य च्छन्दसि हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति । एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि । एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः ।

न च भवति—यत्र स्यो निपतेत् ॥

सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ॥ १३४ ॥

'सः' इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवति लोपे, सति चेत्पादः पूर्यते । सेन्द्र राजा क्षयति चर्षणीनाम् । सौषधीरनुरुध्यसे ।

लोपे चेत्पादपूरणमिति किम् ? स इव व्याघ्रो भवेत् ।

पदमञ्जरी

उत्तरपदार्थप्रधानत्वादिति । एतच्च नञ्सूत्र एव व्याख्यातम् । 'हल्ङ्याब्भ्यः' इत्यस्यानन्तरमिदं न कृतम्-संहितायां यथा स्यात्, असंहितायां मा भूदिति ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ *स्य इति* यदित्यस्य प्रथमान्तस्यानुकरणम् 'सुपां सुलुक्' इति लुप्तषष्ठीकम् । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादनुत्पत्तिरेव वा षष्ठ्याः । उदाहरणे सत्वादि पूर्ववत् ॥

सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ॥ *स इति* निर्देशः पूर्ववत् ।

न्यासः

प्रसङ्गो नास्तीति किम् 'अनञ्समासे' इति प्रतिषेधेन ? इत्यत आह—**उत्तरपदार्थप्रधानत्वादित्यादि** । यद्यपि शब्दान्तरं नञ्समासः, तथापि तस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वादेतत्तदोश्चोत्तरपदत्वात् तत्सम्बन्धिन्यामेव संख्यायां सुशब्द उत्पन्न इति तयोरेव सुर्भवति । तस्मादस्ति प्राप्तिरिति प्रतिषेधः क्रियते । **समास इति किम्** ? वाक्ये प्रतिषेधो मा भूत्—नैष ददाति, न स पश्यतीति ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ **स्य इति** त्यदः प्रथमैकवचनम्, तस्यानुकरणम् । तस्माच्च या षष्ठ्युत्पन्ना तस्याः 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना लुक् । अनुत्पत्तिरेव तस्याः; अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वाद्, यथा—गवित्ययमाहेति । उदाहरणे तु पूर्ववत् सत्वादिकार्यम् ॥

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥ **सोऽचीति** पूर्ववत् तस्य प्रथमैकवचनान्तस्यानुकरणम् । पादपूरणम् = पादनिष्पत्तिः ।

अचीति विस्पष्टार्थम् ।

पादग्रहणेनात्र श्लोकपादस्यापि ग्रहणं केचिदिच्छन्ति, तेनेदमपि सिद्धं भवति—

सैष दाशरथो रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥

सुट् कात्पूर्वः ॥ १३५ ॥

अधिकारोऽयम् 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' इति यावत् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र 'सुट्' इति, 'कात्पूर्वः' इति चैतदधिकृतं वेदितव्यम् । वक्ष्यति—"'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' । संस्कर्ता । संस्कर्तुम् । संस्कर्तव्यम्" ।

पदमञ्जरी

केचिदिति । स्वयं तु छन्दोऽधिकाराहक्पादस्यैव ग्रहणं मन्यते ॥

सुट् कात् पूर्वः ॥ *संस्कर्तेति* । सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वचनात् 'समस्सुटि' इति द्विसकारकत्वाद्वा निर्देशस्य समो मकारस्य सकारः, 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति पूर्वस्यानुनासिकः । इह 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे', 'किरतौ लवने' इत्यादौ ककारादावागमिनि टित्त्वादेव सुट् कात्पूर्वो लभ्यते । 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे' इत्यादौ कात्पूर्वत्वसम्भवादनुपयोग एवेत्यनर्थकं कात्पूर्वग्रहणम् । स्यादेतत्—संचस्कारेत्यादावभ्यासे सञ्जाते साभ्यासस्य करोतित्वाच्चात्पूर्वः सुट स्यात्, मा भूच्चात्पूर्वः, कात्पूर्व एव यथा स्यादित्येवमर्थं कात्पूर्वग्रहणमिति ? तन्न; अत्र हि लिटि द्विर्वचनं च प्राप्नोति, सुट् च; तत्र द्विर्वचनमकृते सुटि कृशब्दस्य प्राप्नोति, कृते तु स्कृशब्दस्य । सुडपि कृते द्विर्वचने चकृशब्दस्य प्राप्नोति, अकृते तु कृशब्दस्येत्युभयोरनित्ययोः परत्वात् सुटि कृते तस्य धातुग्रहणेन ग्रहणात् सहैव तेन द्विर्वचने 'शर्पूर्वाः खयः' इति खयः शेषे संचस्कारेति सिद्धम् । न च साभ्यासस्याकृतः सुडिति पुनः सुट्प्रसङ्गः; अस्मिन्नेव प्रयोगे लक्षणस्य प्रवृत्तत्वात् ।

न्यासः

ननु चारम्भसामर्थ्यादेवाचि विज्ञायते, हलि हि पूर्वेणैव सिद्धत्वात्, तत् किमर्थमचीति क्रियते ? इत्याह—**अचीति विस्पष्टार्थमिति** ।

केचिदिच्छन्तीति । ते च्छन्दोग्रहणं नानुवर्त्तयन्तीति ॥

सुट् कात् पूर्वः ॥ **संस्कर्त्तेति** । 'सम्पुंकानां सत्वम्' इति वचनात् 'समः सुटि' इति निर्देशाद्वा समो मकारस्य सकारः, 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति पूर्वाकारस्यानुनासिकः ।

पदमञ्जरी

ननु 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते' इति दर्शने पूर्वं साधनवाचिनि लकारे तदाश्रये च द्विर्वचने एकपदाश्रयत्वादन्तरङ्गे कृते पदद्वयाश्रयत्वाद्बहिरङ्गः सुट् पश्चाद्भवन् चात्पूर्वः स्यात्, समस्करोदित्यादौ चान्तरङ्गत्वात् परत्वाच्चाटि कृते तेन व्यवधानान्नैव सुट् स्यात्, विकरणान्ताङ्गभक्तो ह्यडागमस्तमेव न व्यवदध्यात्, करोतिं तु व्यवदधात्येव; इह च समस्कृत, संस्कृथा इति यत्र करोतिरेवाङ्गं तत्राटः कृग्रहणेन ग्रहणादट एव पूर्वः सुट् स्यात्, अतोऽडभ्यासयोरपि कृतयोः कात् पूर्वः सुड्यथा स्यादिति कर्त्तव्यं कात्पूर्वग्रहणम् ? न कर्त्तव्यम्; 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इत्येतस्मादेव निर्देशादेतत्सिद्धम् । न च तन्न करिष्यामीति कात्पूर्वग्रहणम्, कृतेऽप्यस्मिन्नसिद्धेः । तथा हि-क्रियमाणमप्येतत्कालावधारणार्थं वा स्यात्—करोतेस्तस्यामवस्थायां सुड् भवति यस्यामवस्थायां भवन् कात्पूर्वो भवतीति । करोत्यवधारणार्थं वा—तस्य करोतेः सुड् भवति यस्य भवन् कात्पूर्वो भवतीति । तत्र पूर्वस्मिन्पक्षे यद्यप्यन्तरङ्गे अप्यडद्विर्वचने बाधित्वा कात्पूर्वग्रहणसामर्थ्यात् पूर्वं सुड् भवति, पश्चात्तयोः कृतयोरिष्टं सिद्ध्यति । द्वितीये तु प्रत्युताभ्यासवतोर्निवृत्त्यर्थमेव कात्पूर्वग्रहणं स्यात्, न हि तद्वतोर्भवन् कात्पूर्वः कृतः स्यात् ।'स्यादेतत्—न करोत्यवधारणार्थं कात्पूर्वग्रहणम्, किं तर्हि ? अपकृष्य विधिः, करोतेः सर्वत्र सुड् भवति, स तु प्रदेशान्तरे प्राप्तः कात्पूर्वः कर्त्तव्य इति ? एवमपि समस्कृत, समस्कृथा इति सिद्ध्यति, अटः प्राक्प्राप्नुवन् कात्पूर्वो नीयत इति, समस्करोदित्यादौ त्वसिद्धिरेव, कथम् ? प्रदेशान्तरे प्राप्तस्य विधिरपकृष्य भवति, न चात्र सुट् प्राप्तोऽटा व्यवधानादिति कथमपकृष्य विधिर्भवेत् । कथं च संचस्कारेत्यादावपि द्विःप्रयोगे द्विर्वचने उच्चारणभेदाच्छब्दभेद इति द्वौ करोती, तत्र यः समोऽनन्तरो न तस्य ककारः, यस्य च ककारो नासौ समोऽनन्तरः—इति अप्राप्तत्वान् न कात्पूर्वं विधीयेत ? स्थाने द्विर्वचने च स्थानिवद्भावादेक एव करोतिः, स चाव्यवहित इति कात् पूर्वः प्राप्तः कात् पूर्वः कृत इति न कश्चिद्दोषः । तदेवं धातुः पूर्वं साधनेन युज्यते, ततश्च क्रियमाणेऽपि कात्पूर्वग्रहणे नैवेष्टं सिध्यतीति 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इत्येतदेव कर्त्तव्यम् । कात्पूर्वग्रहणं तु शक्यमकर्त्तुमति वार्त्तिककारस्य पक्षः ।

यदि तु 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ' इति तृतीयानिर्देशेन समादिभिरुपसृष्टस्य सुड् विधीयते, तदा व्यवहितस्याप्युपसृष्टत्वात्कात्पूर्वग्रहणेनाप्ययमर्थः शक्यते सम्पादयितुम् । कथम् ? समस्करोदित्यादौ तावदन्तरेणापि कात्पूर्वग्रहणमटो न भविष्यति; तस्य करोतिं प्रत्यनवयवत्वात् । करोतेस्तु भविष्यति; व्यवहितस्याप्युपसृष्टत्वात् । समस्कृतेत्यादौ त्वटः पूर्वं प्राप्तः कात्पूर्वं चेष्यते । संचस्कारेत्यादौ च स्थाने द्विर्वचने कात्पूर्वं प्राप्तः कात्पूर्वं करिष्यते । द्विःप्रयोगे तु द्वयोरपि करोत्योः प्राप्तः पूर्वस्मादेव करिष्यते, न हि तस्य कृतः कात्पूर्वः कृतः स्यादिति सिद्धमिष्टम् ।

कात्पूर्वग्रहणं सुटोऽभक्तत्वज्ञापनार्थम् । तथा हि—संस्कृषीष्ट,

पदमञ्जरी

भाष्यकारस्तु मेने—उभयं न कर्त्तव्यम् । पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते, ततश्चानुत्पन्न एव प्रत्यये संकृ इति स्थिते सुटि कृते लकारः, ततस्तन्निबन्धनावडभ्यासौ ससुट्कस्यैव भविष्यतः । ननु च लब्धस्वरूपा क्रिया विशेषणमाकाङ्क्षति, तल्लाभश्च साधनान्तर इति पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, लब्धस्वरूपेति, कोऽर्थः ? किं प्रतिपन्नस्वरूपा, उत निष्पन्नस्वरूपा ? निष्पत्तिस्तावद्विशेषणसम्बन्धेनोपयुज्यते, प्रतिपत्तिस्तु विशेषणसम्बन्धात्प्रागपि क्रियायाः सम्भवति । विशिष्टा च क्रिया साधनेन युज्यते, तथा हि—तिष्ठतीति गतिनिवृत्तेः साधनसम्बन्धः प्रतीयते, प्रतिष्ठत इति गतेः, गच्छतीति गमनस्य, आगच्छतीत्यागमनस्य, करोतीति व्यापारमात्रस्य, संस्करोतीति भूषणस्य । विशिष्टा च क्रियोपसर्गसम्बन्धे सत्येव प्रतीयत इति द्योतकत्वेन वाचकत्वेन वा पूर्वमुपसर्गसम्बन्धोऽपेक्षणीयः । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्; अन्यथा भवतेरकर्मत्वाद्भावे लकार उत्पन्ने पश्चादनुशब्देन सम्बन्धे अनुभूयते कम्बलो देवदत्तेनेति कथं कर्मणि लकारः स्यात् ? अतः 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते' इत्येतदेव सम्प्रतिपन्नम् । एवं च पूर्वोक्तन्यासेन सिद्धमिष्टमिति नार्थः कात्पूर्वग्रहणेन, नापि 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इत्यनेन । यदि पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते; अध्येता, प्रत्येता, प्रत्यायक इत्यादौ पूर्वं धातूपसर्गयोरेकादेशे तस्य धातुं प्रत्यादिवत्त्वात्तत एव प्रत्ययोत्पत्तावनिष्टं प्राप्नोति ? नैष दोषः, 'नेन्द्रस्य परस्य' इत्यत्र ज्ञापितमेतत्—पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति, पश्चात् स्वरसन्धिरिति । प्रत्यय इति वा निर्देशोऽस्यार्थस्य ज्ञापकः ।

वृत्तिकारस्तु—उभयं वक्तव्यमिति मन्यमानः कात्पूर्वग्रहणस्य तावत्प्रयोजनमाह—*कात्पूर्वग्रहणमित्यादि* । किं पुनरभक्तत्वे प्रयोजनम् ? अत आह—*तथा हीति* । *संस्कृषीष्टेति* । आशिषि लिङ्, आत्मनेपदम्, 'उश्च' इति कित्त्वम्, सुट्,

न्यासः

अथ कात्पूर्वग्रहणं किमर्थम्, यावता सुडयमादिलिङ्गः, करोतिश्च ककारादिः, तत्रान्तरेणापि कात्पूर्वग्रहणम् 'आद्यन्तौ टकितौ' इति कात्पूर्व एव सुड् भविष्यति ? इत्यत आह—कात्पूर्वग्रहणमित्यादि । किं पुनरभक्तत्वे सतीष्टं सिध्यतीति, अतस्तज्ज्ञापकं प्रति यत्नः क्रियते ? इत्याह—तथा हीत्यादि । संस्कृषीष्टेति । आशिषि लिङ्, सीयुट्, आत्मनेपदम्, 'उश्च' इति कित्त्वाद् गुणाभावः, 'सुट् तिथोः' इति तकारस्य सुडागमः, कात्पूर्वः सुट्, स यदि करोतेर्भक्तः स्यात् ततस्तस्य करोतिग्रहणेन ग्रहणात् कृञः संयोगादित्वं जातमिति 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीट् प्रसज्येत । संस्क्रियत इति । लट्, कर्मण्यात्मनेपदम्, यक्, 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । तत्र यदि करोति-

संस्क्रियते इति संयोगादिलक्षणाविड्गुणौ न भवतः । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातोऽपि तर्हि न प्राप्नोति, सुटा व्यवहितत्वात् ? 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' इति वचनान्नास्ति व्यवधानम् ।

सञ्चस्करतुः, सञ्चस्करुः—इति गुणः कथम् ? 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति ।

पदमञ्जरी

तयोः कात्पूर्वः सुट्, तस्य करोतिभक्तत्वात् करोतिग्रहणेन ग्रहणात् कृञः संयोगादिता ज्ञायेतेति 'ऋतश्च संयोगादेः' इतीट् प्रसज्येत । *संस्क्रियत इति* । कर्मणि लट् 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' । अत्रापि भक्तत्वे सुटः कृञः संयोगादित्वात् 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणः स्यात्, अतस्तौ मा भूतामिति अभक्तः सुडेषितव्य इति भावः । निघातोऽपि तर्हि न प्राप्नोति ? समः पदस्य सुटा व्यवहितत्वात्, सुटश्चापदत्वात् ।

गुणः कथमिति । सुटोऽभक्तत्वेनाङ्गस्य संयोगादित्वाभावात्प्रश्नः । 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति स्थानेद्विर्वचनपक्षे द्विःप्रयोगे च समुदायस्यैवाङ्गसंज्ञेत्युक्तम्, ततश्च तदङ्गमध्यपतितः तदङ्गग्रहणेन गृह्यते ।

न्यासः

भक्तत्वं सुटः स्यात्, ततश्च संयोगादित्वं करोतेर्जातमिति 'गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः' इति गुणः स्यात् ! अभक्तत्वे तु सुटः संयोगादित्वादिड्गुणौ न भवतः । तिङ्ङतिङ इत्यादि । यद्यभक्तः सुट्, तदा संस्क्रियत इत्यत्र समः पदस्य सुटा व्यवहितत्वात् 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न सिध्यति । न च सुट एव पदस्य तिङो लभ्यते; पदादित्यधिकारात् सुटश्चापदत्वात् । स्वरविधावित्यादि परिहारः ।

'ऋतश्च संयोगादेः' इत्यनेन ऋकारान्तस्याङ्गस्य संयोगादेर्लिटि गुणो विधीयते, स चाभक्ते सुटि करोतेरसंयोगादित्वान्नोपपद्यत इति मन्यमान आह—सञ्चस्करतुरित्यादि । गुणः कथम् ? न कथञ्चिदित्यर्थः । तन्मध्य इत्यादि । द्विर्वचने कृते द्वौ करोती भवतः, तन्मध्ये चायं वर्त्तते सुट्, अतः 'तन्मध्यपवितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति करोतिग्रहणेनैव गृह्यते, ततो नास्त्यसंयोगादित्वं कृञ इति भावः ।

ननु च 'द्विष्प्रयोगो द्विर्वचनम्' इत्यस्मिन् पक्ष उच्चारणमात्रं भिद्यते, धातुस्त्वेक एव, तत् कथं करोतेर्द्वित्वम् ? नैष दोषः; यद्यपि धातुरभिन्नः, तथाप्युच्चारणभेदाद्भेदस्तस्याश्रित इति; अडभ्यासव्यवायेऽपीति वचनात् । अभेदे हि व्यवाय एव नास्तीत्यभ्यासग्रहणमनर्थकं स्यात् । अथापि कथञ्चित् स तद्ग्रहणेन न गृह्यते, एवमपि गुणो

संयोगोपधग्रहणं च 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इत्यत्र कर्तव्यम्। टित्करणम्—'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' इत्यत्र विशेषणार्थम् ॥

अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥ १३६ ॥

अड्व्यवाये, अभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वो भवति। समस्करोत्। समस्कार्षीत्। सञ्चस्कार। परिचस्कार।

पदमञ्जरी

नन्वेवमपि असंयोगादित्वं तदवस्थम्? अत आह—*संयोगोपधग्रहणं चेति*। अन्त्यादचः पूर्वस्य वर्णस्योपधासंज्ञाविधानात् 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इत्येतदुक्तं भवति, यदि न सम्भक्तः सुट् टित्करणं किमर्थम्? इत्यत आह—*टित्करणमिति*। 'सुटस्तुस्वञ्जाम्' इत्युच्यमाने सुरेत्यादौ यः सुशब्दो यश्चोपसर्गस्तस्यापि ग्रहणं स्यात्, ततश्च सुरां परिचष्टे परिसुरयतीत्यादावपि प्राप्नोति ॥

अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥ व्यवायः=व्यवधानम्, अपिशब्दादव्यवधानेऽपि, असति तु तस्मिन् व्यवाय एव स्यात्। *संचस्करिथेति*। 'ऋतो भारद्वाजस्य' इत्येतदप्य-

न्यासः

भवत्येवेति दर्शयन्नाह—**संयोगेत्यादि**। संयोगोपधग्रहणे हि सति संयोग उपधा यस्येति संयोगोपधत्वेन ऋकारं विशेष्य पश्चात् तेनाङ्गं विशेष्येत—तदन्तस्याङ्गस्येति। तत्र यद्यपि करोतेरङ्गं संयोगोपधं न भवति, ऋकारस्तु भवतीति गुणो भवत्येव। तद्भक्तः सुट्।

टित्करणं किमर्थम्? तद्धि तदादित्वात् तद्भक्तता यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते। अभक्तश्चेत् सुट् तदा टित्करणस्य वैयर्थ्यमेवापन्नमित्यत आह—**टित्करणमित्यादि**। 'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' इत्युच्यमाने सुरेत्यादौ यः सुशब्दो यश्चोपसर्गस्तस्यापि ग्रहणं स्यात्। ततश्चातिसुस्थिरः, अतिसुस्थित इत्यादावपि षत्वं प्रसज्येत। तस्माद् विशेषणार्थं टित्करणम् ॥

अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥ अड्व्यवायेऽभ्यासव्यवायेऽपीति। व्यवायः = व्यवधानम्। अपिशब्दादव्यवायेऽपि। असत्यपिशब्दे व्यवाय एव स्यात्। **समस्करोदिति**। लङ्। **समस्कार्षीदिति**। लुङ्, च्लिः, तस्य सिच्, 'सिचि वृद्धिः' इत्यादिना वृद्धिः, 'इतश्च' इतीकारलोपः, 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीट्। **सञ्चस्करतुरिति**। लिट्।

यदि पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, तदा साधनाभिधायिनि प्राग्लकारे कृते तन्निमित्ताभ्यामडभ्यासाभ्यां भवितव्यम्, ततश्च तद्व्यवधाने सति सुड् न प्राप्नोतीति तदर्थं युज्यतेऽस्यारम्भः। न च पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, किं तर्हि? उपसर्गेण। यदि हि पूर्वं धातुः साधनेन युज्येत पश्चादुपसर्गेण, ततोऽनुभूयते कम्बलो देवदत्तेनेत्यत्र कर्मणि लकारो न स्यात्; भवतेरकर्मकत्वात्। उपसर्गेण पूर्वं धातौ सम्बध्यमाने न

किमर्थं पुनरिदमुच्यते, 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते' इति तत्र 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति पूर्वं सुट् क्रियते, पश्चादडभ्यासौ ? 'अभक्तश्च सुट्' इत्युक्तम्, ततः सकारादुत्तरावडभ्यासावनिष्टे देशे

पदमञ्जरी

सुट एवेष्यत इति वचनादिडागमः। *पूर्वं धातुरित्यादि*। यद्यपि 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते' इत्यत्रापि दर्शने सुतरामेतदनारम्भणीयम्, तथापि स्वदर्शनत्वादुपपन्नत्वाच्चेदमेव दर्शनमुपन्यस्तम्। अपर आह–'किमर्थं पुनरिदमुच्यते' इत्यस्यानन्तरं यावतेति पठितव्यम्, ततश्च पश्चादडभ्यासावित्येवमन्तश्चोद्यग्रन्थः' इति। परिहरति—*अभक्तश्चेति*। चस्त्वर्थे। *तत्रेति*। अभक्ते। *एतस्मिंस्तु सतीत्यादि*। ननु चास्मादेव वचनात्कृतयोरडभ्यासयोस्तद्व्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वः क्रियताम्, यस्तु संक्त इत्यस्यामवस्थायां सुट् प्राप्नोति स केन वार्येत ? उच्यते; नाप्राप्ते तस्मिन्नस्यारम्भात्तस्यानेन बाधः। अपरे तु–एतच्चोद्यभयाद्भाष्यकारमतमेव ज्यायो मन्यन्ते। यत्पुनरुक्तमादृगुणप्रसंग इति ? नैष दोषः; 'ऋतश्च संयोगादेः' इत्यत्र तावदुपदेश इति वर्त्तते, क्व प्रकृतम् ? 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति, ततः किम् ? 'उपदेशे संयोगादेः' इति सुटि कृते न भविष्यति। 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इत्यत्रापि नित्यमित्यनुवर्त्तते, क्व प्रकृतम् ? 'नित्यं छन्दसि' इति, ततः किम् ? नित्यं यः संयोगादिस्तस्य गुणः ? सुटि कृते न भविष्यति॥

न्यासः

भवत्येष दोषः; अकर्मका अपि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति। तस्मात् पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते, ततश्च धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्; तन्निमित्तयोर्धातूपसर्गयोरडभ्यासनिमित्तात् प्रत्ययविशेषात् प्रागेव संविधानात्। अडभ्यासौ तु बहिरङ्गौ; उत्तरकालभाविप्रत्ययविशेषापेक्षत्वात्। धातूपसर्गकार्यञ्च सुट्, तन्निमित्तत्वात्। अतस्तेनान्तरङ्गत्वाद् धातूपसर्गयोरुपादानमनन्तरमेव भवितव्यम्। न ह्यसावुपजातनिमित्तो लकारस्य तावदुत्पत्तिं प्रतीक्षते। कुतः पुनरडभ्यासौ ? इत्यभिप्रायेणाह–**किमर्थं पुनरिदमुच्यत इत्यादि**। इतरस्तु नैवेदमप्राप्तस्य सुटः प्रापणार्थमारभ्यते। किं तर्हि ? कृतयोरडभ्यासयोस्तद्व्यवाये कात्पूर्वः सुड् यथा स्याद्, अकृतयोर्मा भूदित्येवमर्थमिति दर्शयितुमाह—**पूर्वमित्यादि**। इतिकरणो हेत्वर्थः। तत्र धातोः पूर्वमुपसर्गेण योगः सुटोऽन्तरङ्गतायां हेतुः पूर्वं सुट्करणस्य, तदपि **पश्चादडभ्यासाविति**। कर्त्तव्याविति शेषः। यतो धातुः पूर्वमुपसर्गेण युज्यते, तेन धातूपसर्गयोः कार्यं नैव किञ्चिदनिष्टमापद्यते ? इत्याह–**अभक्तश्च सुडित्युक्तमित्यादि**। पूर्वमेव ह्यभक्तत्वं सुटः प्रतिपादितम्, अतस्तस्य करोतिग्रहणेनाग्रहणे सति पश्चाद् भवन्तौ सकारात् परावडभ्यासावनिष्टे देशे स्याताम्, ततश्चेष्टरूपं न सिध्यतीत्यभिप्रायः। अथ सत्यप्यस्मिन् कथमयं दोषो-

स्याताम् । एतस्मिंस्तु सत्यत एव वचनात् कृतयोरभ्यासयोस्तद्व्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वः क्रियत इति सिद्धमिष्टं भवति ॥

सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ॥ १३७ ॥

सम्, परि, उप—इत्येतेभ्यो भूषणार्थे करोतौ परतः सुट् कात्पूर्वो भवति । संस्कर्ता, संस्कर्तुम्, संस्कर्तव्यम्—अत्र 'सम्पुंकानां सत्वम्' इति समो मकारस्य सकारः, पूर्वस्य चाकारस्यानुनासिकः । परिष्कर्ता, परिष्कर्तुम्, परिष्कर्तव्यम्—'सुट्स्तुस्वञ्जाम्' इति षत्वम् । उपस्कर्ता, उपस्कर्तुम्, उपस्कर्तव्यम् ।

भूषण इति किम् ? उपकरोति ।

सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुडिष्यते—संस्कृतमन्नमिति ॥

समवाये च ॥ १३८ ॥

समवायः=समुदायः, तस्मिंश्चार्थे करोतौ सम्पर्युपेभ्यः कात्पूर्वः सुडागमो भवति । तत्र नः संस्कृतम् । तत्र नः परिष्कृतम् । तत्र नः उपस्कृतम् । समुदितमित्यर्थः ॥

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥ १३९ ॥

सतो गुणान्तराधानमाधिक्याय वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय समी-

पदमञ्जरी

सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ॥ *सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपीष्यत इति* । एतच्च 'संस्कृतं भक्षाः' इति निर्देशाल्लभ्यते ॥

समवाये च ॥ उदाहरणेषु भावे निष्ठा । एवं *समुदितमित्यत्रापि* ॥

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥ *सत इत्यादि* । लब्धसत्ताकस्यार्थस्य

न्यासः

न भवतीत्याह—**एतस्मिंस्तु सत्यत एवेत्यादि** । अत्र तु सूत्रे सत्यत एव यावदडभ्यासव्यवायो न भवति तावत् सुटा भवितव्यमेव । तस्मात् पूर्वमडभ्यासौ कर्त्तव्यौ, ततस्तद्व्यवाये सति कात् पूर्वं सुडिति सर्वमिष्टं सिध्यति ॥

सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ॥ **सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपीष्यत इति** । कथं पुनरिष्यमाणो लभ्यते ? 'संस्कृतं भक्षाः' इत्याचार्यप्रवृत्तेर्लिङ्गात् ॥

समवाये च ॥ **समवायः समुदाय इति** । समवपूर्वादिणो भावे 'एरच्' इत्यच् । समवाय इति सङ्घात इत्यर्थः । **समुदित इत्यर्थ इति** । भावे निष्ठा ॥

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥ **सत इत्यादि** लब्धसत्ताकस्यार्थस्य पूर्वो-

हा=प्रतियत्नः। विकृतमेव वैकृतम्, प्रज्ञादित्वादण्। गम्यमानार्थस्य वाक्यस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्यस्याध्याहारः। एतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु करोतौ धातौ परत उपात् सुट् कात्पूर्वो भवति। प्रतियत्ने तावत्—एधो दकस्योपस्कुरुते। काण्डगुणस्योपस्कुरुते।

वैकृते—उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं गच्छति।

वाक्याध्याहारे—उपस्कृतं जल्पति। उपस्कृतमधीते।

एतेष्विति किम्? उपकरोति॥

किरतौ लवने॥ १४०॥

पदमञ्जरी

पूर्वं ये गुणास्तेभ्योऽन्ये गुणा आधीयन्ते। येन तद्गुणान्तराधानं तत्पुनः किमर्थम्? इत्याह—*आधिक्यायेति*। आधिक्यम्=वृद्धिः। *वृद्धस्य वा तादवस्थ्यायेति*। तस्य वृद्धियुक्तावस्थायाः प्रच्युतिपरिहारायेत्यर्थः। समीहा=चेष्टा। *अगम्यमानार्थस्येति*। अर्थप्रकरणादिना। *वाक्यस्येति*। वाक्यैकदेशस्येत्यर्थः। *एधो दकस्येति*। जातिद्वन्द्वः, 'कृञः प्रतियत्ने' इति षष्ठी, 'प्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' इत्यात्मनेपदम्। *उपस्कृतं भुङ्क्त इति*। क्रियाविशेषणम्, विकृतं भुङ्क्त इत्यर्थः। *उपस्कृतं जल्पतीति*। साध्याहारं यथा तथा जल्पतीत्यर्थः।

अथैवं कस्मान्न कृतम्—'सम्प्रतिभ्यां करोतौ भूषणसमवाययोः, उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च' इति? सूत्रकारं पृच्छ॥

किरतौ लवने॥ *किरतौ लवनविषय इति*। अर्थद्वारकं किरतेर्लवनविषयत्वम्,

न्यासः

त्पन्नेभ्यो गुणेभ्यो योऽन्यो गुणस्तद्गुणान्तरम्, तदाधीयत उत्पाद्यते येन तद् गुणान्तराधानम्। तत्पुनः किमर्थम्? इत्याह—आधिक्यायेत्यादि। किं तत्? इत्याह—समीहेति। तदेवं विद्यमानस्य वस्तुन आधिक्याय वृद्धये वृद्धस्य चैव तादवस्थ्याय तस्या वृद्धावस्थाया अपरिहाणाय गुणान्तराधानं यथाधीयते समीहया चेष्टया स प्रतियत्न इत्युच्यते। विकृतमिति। जातविक्रियमित्यर्थः। **गम्यमानार्थस्य वाक्यस्य स्वरूपेणेति**। 'समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' इति प्रतीयमानोऽर्थः प्रकरणादिवाक्यस्यैकदेशो वाक्यशब्देनोक्तः। गम्यमानार्थस्यापि सुखप्रतिपत्तये स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः॥

किरतौ लवने॥ **लवनविषय इत्यादि**। अनेन लवनं किरतेर्नाभिधेयता विशेषणम्, अपि तु तदर्थस्य विषयभावेनेति दर्शयति। केन पुनरत्र णमुल्, यावता 'आभी-

'उपात्' इत्येव। उपादुत्तरस्मिन्किरतौ धातौ लवनविषये सुट् कात्पूर्वो भवति। उपस्कारं मद्रका लुनन्ति। उपस्कारं काश्मीरा लुनन्ति। विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः।

णमुलत्र वक्तव्यः। लवन इति किम्? उपकिरति देवदत्तः॥

हिंसायां प्रतेश्च॥ १४१॥

'किरतौ' इत्येव। उपात्प्रतेश्चोत्तरस्मिन्किरतौ विषये सुट् कात्पूर्वो भवति हिंसायां विषये। उपस्कीर्णं हं ते वृषल भूयात्। प्रतिस्कीर्णं हं ते वृषल भूयात्। तथा ते वृषल विक्षेपो भूयाद् यथा हिंसामनुबध्नातीत्यर्थः।

हिंसायामिति किम्? प्रतिकीर्णम्॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने॥ १४२॥

'किरतौ' इत्येव। अपादुत्तरस्मिन्किरतौ चतुष्पाच्छकुनिषु यदालेखनं तस्मिन् विषये सुट् कात्पूर्वो भवति। अपस्किरते वृषभो

पदमञ्जरी

लवनविषये विक्षेपे यः किरतिर्वर्त्तते तत्रेत्यर्थः। तदाह—*विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थ इति*। साक्षात्तु विषये किरतेर्लवनमेवार्थः स्यात्।

णमुलत्र वक्तव्य इति। आभीक्ष्ण्यादेर्णमुलर्थस्याभावात्॥

हिंसायां प्रतेश्च॥ हिंसायां विषय इति। न त्वभिधेयायाम्। विक्षेप एव त्वभिधेयः, तदेव दर्शयति—*तथेति*। उदाहरणे नपुंसके भावे क्तः, हंशब्द कोपे। परिनिविभ्य एव सुटः षत्वम्, न प्रतेः॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने॥ तस्मिन्विषय इति। न त्वभिधेये। विक्षेप

न्यासः

क्ष्ण्ये णमुल् च' इत्यादिना शास्त्रेण स आभीक्ष्ण्यादावप्यर्थे विधीयते। न चात्र सोऽर्थो विवक्षितः, नापि प्रतीयत इत्याह—**णमुलत्रेत्यादि**। **वक्तव्य इति**। व्याख्येय इत्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यतो बहुलवचनाद् भविष्यति॥

हिंसायां प्रतेश्च॥ हिंसायां विषय इति। एतेन किरतेर्नाभिधेयत्वेन हिंसाविशेषणम्। अपि तु तदर्थस्य विषयभावेनेति दर्शयति। **प्रतिस्कीर्णमिति**। 'ॠत इद्धातोः' इतीत्त्वम्, रपरत्वञ्च, 'रदाभ्याम्' इत्यादिना निष्ठानत्वम्, 'हलि च' इति दीर्घत्वम्। **तथेत्यादिना** किरतेरर्थस्य हिंसाविषयतां दर्शयति। **अनुबध्नातीति**। अनुगच्छतीत्यर्थः॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने॥ तस्मिन् विषय इत्यादि। अनेनाप्यालेखनं किरतेर्नाभिधेयतया विशेषणम्, अपि तु तदर्थस्य विषयभावेनेति दर्शयति। **अपस्किरत**

हृष्टः । अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी । अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । आलिख्य विक्षिपतीत्यर्थः ।

चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपकिरति देवदत्तः ।

❀ हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् ❀ । इह मा भूत्—अपकिरति श्वा ओदनपिण्डमाशितः ।

❀हर्षजीविकाकुलायकरणेष्वेव किरतेरात्मनेपस्योपसंख्यानम्❀ ॥

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥ १४३ ॥

'कुस्तुम्बुरूणि' इति सुट् निपात्यते जातिश्चेद्भवति । कुस्तुम्बुरुर्नामौषधिजातिः=धान्यकम् । तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि ।

सूत्रनिर्देशे नपुंसकलिङ्गमविवक्षितम् ।

पदमञ्जरी

एव त्वभिधेयः, तदाह—*आलिख्य विक्षिपतीत्यर्थ* इति ।

हर्षजीविकेत्यादि । हर्षः=प्रमोदः, जीविका=प्राणपरित्राणोपायः, कुलायः=आश्रयः ।

किं पुनरुदाहरण एवात्मनेपदं भवति, न प्रत्युदाहरणे ? अत आह—*हर्षजीविकेत्यादि* ॥

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥ सूत्रे नपुंसकलिङ्गेन बहुवचनेन च निर्देशात् फलजातावेव सुटा भवितव्यम्, न त्वोषधिजातौ ? इत्याशङ्क्याह—*सूत्रनिर्देश इति* । नपुंसकलिङ्गग्रहणं बहुवचनस्याप्युपलक्षणम् ॥

न्यासः

इति । 'तुदादिभ्यः शः' इति शः, पूर्ववदित्त्वम्, रपरत्वम् । आलिख्येत्यादिना लेखनस्य किरत्यर्थस्य विषयतामुद्भावयति । आलिख्येति आकृष्येत्यर्थः ।

चतुष्पाच्छकुनिसाधनस्य लेखनस्य सामान्येनोपादानादिहापि प्राप्नोति—अपकिरति श्वौदनपिण्डमाशित इति, अत इदमालेखनविशेषणमाह—हर्षजीविकेत्यादि । हर्षः = प्रमोदः । जीविका=प्राणधारणोपायः । कुलायः=आश्रमः ।

किं पुनः कारणं हर्षादिष्वात्मनेपदं भवति, न त्विह प्रत्युदाहरणे ? इत्याह—हर्षजीविकाकुलायकरणेष्वेवेत्यादि ।

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥ ननु च सूत्रे नपुंसकलिङ्गेन निर्देशान्नपुंसकलिङ्गतायां फलजातावेव भवितव्यम्, नान्यलिङ्गतायाम्, औषधजातौ बहुवचन एव भवितव्यम्, नान्यत्र, बहुवचनेन निर्देशात्; तत् कथं कुस्तुम्बुरुरित्यत्र पुंल्लिङ्गतायामेकवचने च भवति ? इत्यत आह—सूत्रनिर्देश इत्यादि । नपुंसकग्रहणमुपलक्षणमात्रम् । बहुवचनमप्यतन्त्रमेव सूत्रे । तथा चोक्तम्—'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्, तस्याविवक्षितत्वात्' इति ॥

जातिरिति किम् ? कुत्सितानि तुम्बुरूणि कुतुम्बुरूणि । तुम्बुरु-शब्देनात्र तिन्दुकीफलान्युच्यन्ते, समासेन तेषां कुत्सा ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ १४४ ॥

'अपरस्परा' इति सुट् निपात्यते क्रियासातत्ये गम्यमाने । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सन्ततमविच्छेदेन गच्छन्तीत्यर्थः ।

क्रियासातत्य इति किम् ? अपरपराः सार्थाः गच्छन्ति । अपरे परे च सकृदेव गच्छन्तीत्यर्थः । नात्र गमनस्य सातत्य-प्रबन्धो विवक्षितः ।

किमिदं सातत्यमिति ? सततस्य भावः सातत्यम् ।

कथं सततम् ? समस्तते विकल्पेन मकारलोपो विधीयते ।

पदमञ्जरी

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ *अपरस्परा इति* । अपरे च परे चेति द्वन्द्वः, निपातनादल्पाच्तरस्य परनिपातः । *सार्था गच्छन्तीति* । सार्थभूता गच्छन्तीत्यर्थः । *सततमविच्छेदेनेति* । न कदाचिदस्मिन् महापथे गमनं विच्छिद्यत इत्यर्थः । अयं चार्थः सुटा द्योत्यते । *किमिदमिति* । 'अस्मादेव निपातनान् मलोपः' इत्युच्यमाने सततमिति न सिद्ध्यति, सूत्रे ष्यञन्तोच्चारणादिति प्रश्नः । *कथमिति* मलोपस्य लक्षणं न दृश्यते । अथ 'सातत्ये' इत्येतदेव निपातनं सामान्येन ततशब्दे परतः समो मकारस्य लोपो भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापकं कल्प्यते, सन्ततमिति न सिद्ध्येत्, बाधकत्वान्निपातनानामिति मन्यमानस्य प्रश्नः ।
समस्तते विकल्पेनेति । अयमभिप्रायः—सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमाश्रितम्, अतस्तेन समो मकारस्य लोपो विधीयत इति, एवञ्च कृत्वावश्यंप्रभृतीनामपि कृत्यादिषु मकारलोपः सिद्धो भवति, तदेव

न्यासः

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ **अपरस्परा इति** । अपरे च परे चेति द्वन्द्वः । सन्ततशब्दाद् भावप्रत्यय उत्पन्ने सान्तत्यमिति भवितव्यमित्यभिप्रायेणाह—**किमिदमित्यादि** । सततशब्दादेवायं भावप्रत्यय उत्पन्न इति दर्शयन्नाह—**सततस्य भाव इत्यादि** । **कथं सततमिति** । एवं मन्यते—समो मकारलोपस्य लक्षणं तावदिह शास्त्रे नास्ति । अथ सातत्य इत्येतदेव निपातनम् ततशब्दे परतः समो मकारस्य लोपो भविष्यतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनं कल्प्येत, एवं सति सन्ततमिति न सिध्यति ? इत्यत आह—**समस्तते विकल्पेनेत्यादि** । अयमभिप्रायः—सातत्यशब्दं पूर्वाचार्यलक्षणप्रसिद्धमुच्चारयता पूर्वाचार्यलक्षणमप्याश्रितम् । अतस्तेन समो मकारस्यात्र लोपो विधीयते । एवञ्च कृत्वाऽवश्यम्प्रभृती-

लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि ।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि [1]युड्घञोः ॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ १४५ ॥

गोष्पदमिति सुट् निपात्यते, तस्य च षत्वं सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये । गोष्पदो देशः । गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः

पदमञ्जरी

पूर्वाचार्यलक्षणं पठन्ति—*लुम्पेदित्यादि* । अन्त्यमिति शेषः । कृत्यप्रत्ययान्ते परतोऽवश्यंशब्दस्यान्त्यं लुम्पेत्, लोपमस्य कुर्यादित्यर्थः । 'शे मुचादीनाम्' इति नुम् । अवश्यकार्यमित्युदाहरणम् । तुमिति वृत्तभङ्गभयात्षष्ठी न कृता । तुम्प्रत्ययान्तस्यान्त्यं लुम्पेत्, काममनसोः शब्दयोः परतः—कर्तुं कामोऽस्य कर्त्तुकामः, कर्तुं मनोऽस्य कर्त्तुमनाः, तुमप्यत्रोपसंख्यायते, अक्रियोपपदत्वादित्याहुः। संशब्दस्यान्त्यं लुम्पेत्, वा=विकल्पेन, हिततयोः शब्दयोः परतः-सहितम्, संहितम्, सततम्, संततम् । गतिसमासः । मांसशब्दस्याप्यन्त्यं लुम्पेत्, क्व ? *पचि*, पचतिधातौ । किंविशिष्टे ? *युड्घञोः*, युटि घञि च परतो यः पचिस्तस्मिन्नित्यर्थः, मास्पचनम्, मास्पाकः, कर्मणि षष्ठ्याः समासः । संहितायां समासे चैष मलोप इत्याहुः ।

अथ सन्ततशब्दात् ष्यञ् भवति वा न वा सान्तत्यमिति, नेत्याहुः ॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ गावः पद्यन्तेऽस्मिन्निति । 'पुंसि संज्ञायाम्'

न्यासः

नामपि कृत्यादिषु लोपः सिद्धो भवति । अतस्तदेव पूर्वाचार्यलक्षणं दर्शयति—लुम्पेदित्यादि । अन्त्यमिति शेषः । अवश्यंशब्दस्य कृत्यप्रत्ययान्ते परतो लुम्पेत्, अन्त्यलोपमस्य कुर्यादित्यर्थः । अवश्यकर्त्तव्यम् । तुमुन्प्रत्ययान्तस्याप्यन्त्यं लुम्पेत्, काममनसोश्च शब्दयो परतः—कर्तुं कामोऽस्येति कर्तुकामः, हर्तुं मनोऽस्येति हर्तुमनाः ।

सम्शब्दस्य चान्त्यं लुम्पेद् विकल्पेन हिततयोः शब्दयोः परतः—सहितम्, सततम्, सन्ततम् । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः ।

मांसशब्दस्यान्त्यं लुम्पेत्, क्व ? पचि । 'डुपचष् पाके' इत्येतस्मिन् धातौ । किंविशिष्टे ? युड्घञोरिति । ल्युटि घञि च प्रत्यये परतो यः पचिस्तस्मिन्नित्यर्थः । अत्रापि वाग्रहणं सम्बध्यते । मांस्पचनम्, मांसपचनम् । मांस्पाकः, मासपाकः । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति समासः । समासेऽयं लोपः पूर्वाचार्याणामभिप्रायः, संहितायाञ्च । तेन वाक्ये विच्छिद्यपाठे न भवति ।

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ तस्य च षत्वमिति । अनादेशप्रत्ययसकारत्वात् सुटः षत्वं न प्राप्नोतीत्यतस्तदपि निपात्यते । गावः पद्यन्त इत्यादिना देशस्य सेवितत्वं

१. 'युट्' इति ल्युटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा ।

सेवितो देशो गोष्पद इत्युच्यते । असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि । असेविते गोष्पदशब्दो न सम्भवतीत्यगोष्पदशब्दार्थं निपातनम् । यद्येवम्, नार्थ एतेन, गोष्पदप्रतिषेधादगोष्पदं भविष्यति ? सत्यमेतत्; यत्र तु सेवितप्रसङ्गोऽस्ति तत्रैव स्याद्—गोष्पदमिति । यत्र त्वत्यन्तासम्भव एव,

पदमञ्जरी

इत्यधिकरणे घः, कर्त्तरि षष्ठ्या समासः । *अगोष्पदान्यरण्यानीति* । ननु च सूत्रे गोष्पदशब्द उपात्तः, तत् किमिदम् ? इत्यत आह—*असेवित इत्यादि* । क्रियते चेदसेवितग्रहणम्, न च तत्र गोष्पदशब्दः सम्भवति, तस्मादसेविते गोष्पदशब्दार्थनिपातनं विज्ञायते । *नार्थ एतेनेति* । असेवितग्रहणेन । कथं तेन विना सिद्धिः ? तत्राह—*गोष्पदप्रतिषेधादिति* । *सत्यमिति* । गोष्पदप्रतिषेधादिति यदुक्तम्, तत् सत्यं मन्यते, न तु नार्थ एतेनेति । तद् यदि सत्यम्, किमर्थं तर्ह्यसेवितग्रहणम् ? इत्याह—*यत्र त्विति* । नञ्समासो हि तत्पुरुषः स्वभावादुत्तरपदार्थसदृशमर्थमाचष्टे—अब्राह्मणवत्, ततश्च न गोष्पदमगोष्पदमिति नञ्समासे कृते यत्र सेवितस्य सेवनस्य प्रसङ्गोऽस्ति, तत्रैवागोष्पदमिति स्यात्, स एव गोष्पदस्य देशस्य सदृशः; यत्र त्वत्यन्तासम्भव एव सेवितस्य तत्र न स्यात् । असेवित-

न्यासः

दर्शयति । **असेवित इत्यादि** । ननु च गोष्पदशब्दः सूत्र उपात्तः, तत् कस्मादसेवितेऽगोष्पदादीनीत्याद्युदाह्रियते ? इत्याह—**असेवित इत्यादि** । क्रियते चेदमसेवितग्रहणम्, न च तत्र गोष्पदशब्दः सम्भवति; तस्मादसेवितेऽगोष्पदार्थं निपातनं विज्ञायते । **यद्येवमिति** । यद्यसेवितेऽगोष्पदार्थं निपातनमित्यर्थः । **नार्थ एतेनेति** । असेवितग्रहणेन । कथं तेन विना सिध्यति ? इत्याह—**गोष्पदप्रतिषेधादित्यादि** । **सत्यमेवैतदिति** । गोष्पदप्रतिषेधादित्यादि यदुक्तं तस्य सत्यतामाह, न तु 'नार्थ एतेन' इत्यस्यार्थः । यदि तर्हि सत्यमेवैतत्, तत् किमर्थं सेवितग्रहणमिह क्रियते ? इत्याह—**यत्र त्वित्यादि** । नञ्समासेऽगोष्पद इत्येष तत्पुरुषः स्वभावादुत्तरपदार्थसदृशमर्थमाचष्टे, अब्राह्मणवत् । ततश्च न गोष्पदमगोष्पदमिति तत्पुरुषे कृते यत्र सेवितस्य सेवनस्य प्रसङ्गोऽस्ति तत्रैवागोष्पदमित्येतत् स्यात्, न तु यत्रात्यन्तासम्भव एव सेवितस्य तत्र । तथा हि—स एव गोष्पददेशस्य सदृशः, नेतरः । **असेवितग्रहणात् तथापि भवतीति** । अपिशब्दो न केवलं यत्र सेवितप्रसङ्गोऽस्ति तत्रैवागोष्पदमित्यमुमर्थं द्योतयति । कस्मात् ? पुनरत्रासेवितग्रहणात् । तत्रापि भवतीत्यत आह—**यानि हीति** । **एवमिति** । असेवितग्रहणार्थकः प्रकारः प्रत्यवमृश्यते । असेवितग्रहणे हि सति मा भूत् तस्य वैयर्थ्यमिति बहुव्रीहिरयं भावसाधनेनासेवितशब्देन विज्ञास्यते । अविद्यमानं सेवितमस्मिन्निति बहुव्रीहिश्चात्यन्ताभावेऽपि भवतीति येषु गवामत्यन्तासम्भवस्तान्यरण्यान्यासेवितशब्देनोच्यन्ते । ततश्च तत्राप्यगोष्पदमिति भवति ।

तत्र न स्याद्–अगोष्पदान्यरण्यानीति; असेवितग्रहणात्तत्रापि भवति। यानि हि महान्त्यरण्यानि येषु गवामत्यन्तासम्भवः, तान्येवमुच्यन्ते।

प्रमाणे–गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। नात्र गोष्पदं स्वार्थप्रतिपादनार्थमुपादीयते, किं तर्हि? क्षेत्रस्य वृष्टेश्च परिच्छेत्तुमियत्ताम्।

सेवितासेवितप्रमाणेष्विति किम्? गोः पदं गोपदम्॥

आस्पदं प्रतिष्ठायाम्॥ १४६॥

आत्मयापनाय स्थानम्=प्रतिष्ठा, तस्यामास्पदमिति सुट्

पदमञ्जरी

ग्रहणसामर्थ्यात्तु बहुव्रीहिराश्रीयते, स चात्यन्ताभावेऽपि भवति। तेन येषु गवामत्यन्तासम्भवः, तान्यरण्यान्यासेवितशब्देनोच्यन्ते। ततश्च तत्राप्यगोष्पदमिति भवति। अत्यन्तासम्भवं स्पष्टयति–*यानि हि महान्त्यरण्यानीति*। तत्र केचिदाहुः–यत्र गवामत्यन्तासम्भवः, तत्रैवागोष्पदशब्दः प्रयोक्तव्यः, न त्वसम्भव इति। अन्ये त्वविशेषेणेच्छन्ति। न चैवमसेवितग्रहणस्य वैयर्थ्यम्, असति ह्यस्मिन्नत्यन्तासम्भवे न स्यात्। *गोष्पदपूरमिति*। 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल्। ननु च गोष्पदमिति षष्ठीसमासोऽयम्, तस्य गोः सम्बन्धि पदमर्थः, न तु प्रमाणम्? तत्राह–*नात्र गोष्पदं स्वार्थप्रतिपादनार्थमुपादीयत इति*। तथा च गोष्पदपूरं वृष्टो देव इति। असत्यपि गोष्पदपूरणे प्रयुज्यते, यथा–चेलक्नोपं वृष्टो देव इत्यसत्यपि चेलक्नोपे॥

आस्पदं प्रतिष्ठायाम्॥ आत्मयापनायेति। प्राणधारणम्=आत्मयापनम्, तदर्थं यत्स्थानम्, सा प्रतिष्ठा। *आस्पदमिति*। आङ्पूर्वात्पदेः पूर्ववदधिकरणे घः, लोका-

न्यासः

गोष्पदपूरमिति। 'वर्षप्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति णमुल्। ननु च गोष्पदमिति षष्ठीसमासोऽयम्, तस्य च गोसम्बन्धि पदमर्थः, न तु प्रमाणम्, तत् कथं गोष्पदमात्रं क्षेत्रमित्यादि उदाहरणं प्रमाणे युज्यते? इत्यत आह—नात्रेत्यादि। न ह्यत्र स्वार्थप्रतिपादनार्थमेव गोष्पदमित्युपादीयते। किं तर्हि? क्षेत्रादेरियत्तां परिच्छेत्तुम्। तस्मात् क्षेत्रादेरियत्ता तेन परिच्छिद्यते=प्रमीयत इति भवति प्रमाणम्। न चात्र प्रमाणशब्देनायाम उच्यते, किं तर्हि? परिच्छेदमात्रम्। कुत एतत्? निपातनसामर्थ्यात्। निपातनं हि वस्त्वप्रसिद्धमप्युपादत्ते॥

आस्पदं प्रतिष्ठायाम्॥ आत्मयापनायेति। आत्मयापनम्=प्राणधारणम्। तदर्थं यत् स्थापनं तत् प्रतिष्ठेत्युच्यते। आस्पदमिति। आङः परस्य पदस्य सुट् निपात्यते।

निपात्यते । आस्पदमनेन लब्धम् ।

प्रतिष्ठायामिति किम् ? आ पदात्—आपदम् ॥

आश्चर्यमनित्ये ॥ १४७ ॥

अनित्यतया विषयभूतयाऽद्भुतत्वमिह लक्ष्यते, तस्मिन्नाश्चर्यं निपात्यते । 'चरेराङि चागुरौ' इति यत्प्रत्यये कृते निपातनात्सुट् । आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत । चित्रमद्भुतमित्यर्थः ।

अनित्य इति किम् ? आश्चर्यं कर्म शोभनम् ॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥ १४८ ॥

कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम्=अन्नमलम्, तस्मिन्नभिधेयेऽवस्कर इति

पदमञ्जरी

श्रयत्वादस्मादेव निपातनाद्वा नपुंसकलिङ्गता, आपदमित्यव्ययीभावसमासः ॥

आश्चर्यमनित्ये ॥ यद्याश्चर्यमनित्ये निपात्यते, घटादावतिप्रसङ्गः ? इत्यत आह—*अनित्यतयेत्यादि* । लोके यदनुचितमदृष्टपूर्वमुपलभ्यते, तदनित्यतया व्याप्तं कादाचित्कत्वम्, अतोऽनित्यता विषयभूता भवति । तया विषयभूतया अद्भुतत्वं विस्मयहेतुत्वमुपलक्ष्यते । उदाहरणे 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि' इत्यनवक्लृप्तावसम्भावनायां लिङ् । रुग्णस्य मन्दकर्णस्य[1] चाविशिष्टे कालादौ भोजनमध्ययनं चादृष्टपूर्वं[2] दृश्यमानमद्भुतं भवतीति । *आश्चर्यमिति* । 'चरेराङि चागुरौ' इति यत् । आचर्यमनुष्ठेयमित्यर्थः ॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥ कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम्, 'कुत्सिते' इति कन्, 'सोऽपदादौ'

न्यासः

आपदमिति । 'आङ् मर्यादावचने' इत्याङः कर्मप्रवचनीयत्वम्, तद्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति पञ्चमी, तदन्तेन 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावसमासः ॥

आश्चर्यमनित्ये ॥ यद्यनित्येऽशाश्वतिक आश्चर्यमिति निपात्यते, ततो घटादिष्वपि स्यादित्येतं दोषं परिजिहीर्षुराह—**अनित्यतयेत्यादि** । अद्भुतम्=चित्रमित्युच्यते । यल्लोकेऽद्भुतं तच्चित्रम्, तस्य भावोऽद्भुतत्वम् । तस्य चान्यत्राभावादनित्यता विषयभूता, न हि तत्र ततोऽन्यत्र सम्भवति । तस्मात् तया विषयभूतयाऽद्भुतत्वमुपलक्ष्यते । **आश्चर्यं यदि स भुञ्जीतेति** । 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि' इत्यनवक्लृप्तावसम्भावनायां लिङ् । भोजनं कस्यचिद् विशिष्टकालादावदृष्टपूर्वम् । अतस्तत्र भवत् तदद्भुतं भवति ॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥ कुत्सितं वर्चः वर्चस्कमिति । 'कुत्सिते' इति कना निर्देशो दीप्तौ

---

1. 'मन्दस्य' इति पाठा० ।
2. अपूर्वस्य' इति पाठा० ।

निपात्यते। अवपूर्वस्य किरतेः कर्मणि 'ऋदोरप्' इत्यप्, निपातनात्सुट्। अवकीर्यत इत्यवस्करः=अन्नमलम्, तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोच्यते।

वर्चस्क इति किम्? अवकरः॥

अपस्करो रथाङ्गम्॥ १४९॥

'अपस्कर' इति निपात्यते रथाङ्गं चेद्भवति। अपपूर्वात्किरतेः 'ऋदोरप्' इत्यप्, निपातनात् सुट्। अपस्करो रथावयवः।

रथाङ्गमिति किम्? अपकरः॥

विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा[1]॥ १५०॥

'विकिर' इति किरतेर्विपूर्वस्य 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्यये विहिते सुट् निपात्यते, शकुनिश्चेद्भवति, विकिरशब्दाभिधेयो वा शकुनिर्भवति।

सर्वे शकुनयो भक्ष्या विष्किराः कुक्कुटादृते।

पदमञ्जरी

इति' सत्वम्। कना निर्देशो दीप्तौ मा भूदिति, दीप्तावपि हि वर्चःशब्दो वर्त्तते। *अन्नमलमिति*। भाण्डेषु यल्लग्नं काष्ठादिनाऽपकृष्य काकादिभ्यो विकीर्यते तदन्नमलम्। *अवकीर्यत इति*। भूमाववक्षिप्यत इत्यर्थः। *तत्सम्बन्धाद् देशोपीति*। यत्र भाण्डानि परिमृज्यन्ते देशे स देशः। तथा च याज्ञवल्क्यः[2]— 'सम्मार्जितावस्करया व्यये चामुक्तहस्तया' इति। अपर आह—पुरीषं वर्चस्कं तद्देशश्चेति। *अवकर इति*। ब्रह्मचारिणः स्त्रियां रेतः सेकः=अवकरः, यतोऽवकीर्णो भवति॥

अपस्करो रथाङ्गम्॥ अत्र सूत्रे तृतीय उपसर्गः, पूर्वत्र षष्ठः॥

न्यासः

मा भूदित्येवमर्थः। दीप्तावपि हि वर्चःशब्दो वर्त्तत इति तत्रापि स्यात्। यदि वर्चस्केऽवस्करशब्दो निपात्यते तदा तत्सम्बन्धिदेशे न प्राप्नोति। तत्रापि च लोकेऽवस्करशब्दः प्रयुज्यत इत्यत आह—तत्सम्बन्धादित्यादि। यथा यष्टीः प्रवेशयेति यष्टिसम्बन्धात् पुरुषा अपि यष्टिशब्देनोच्यन्ते, तथा अवस्करसम्बन्धादवस्करशब्देन देशः॥

अपस्करो रथाङ्गम्॥ रथावयव इति। अनेनादिशब्दस्यावयववचनमाचष्टे॥

---

१. 'विष्किरः शकुनौ वा' इति पाठोऽन्येषां व्याख्यातॄणाम्।

२. याज्ञवल्क्यस्मृतौ तु—'संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी' (आचारा० ८३) इति पाठ उपलभ्यते,।

'विष्किरो वा शकुनौ' इति वाग्रहणादेव सुड्विकल्पे सिद्धे विकिरग्रहणमिह—तस्यापि शकुनेरन्यत्र प्रयोगो मा भूत् ॥

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ १५१ ॥

चन्द्रशब्द उत्तरपदे ह्रस्वात्परः सुडागमो भवति मन्त्रविषये। सुश्चन्द्रो युष्मान्।

ह्रस्वादिति किम्? सूर्याचन्द्रमसाविव। मन्त्र इति किम्? सुचन्द्रा पौर्णमासी।

उत्तरपदं समास एव भवतीति प्रसिद्धम्, तत इह न भवति—शुक्रमसि, चन्द्रमसि ॥

पदमञ्जरी

विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा ॥ विष्किरो वेत्यादि। शकुनावभिधेये विष्किर इति वा सुण्निपात्यत इत्येतावतैव सुड्विकल्पः सिद्ध इत्यर्थः। *विकिरग्रहणमित्यादि*। असति तस्मिन् कप्रत्ययान्तस्य विकिरशब्दस्य शकुनौ विकल्पार्थमेवेदं वचनं स्यादिति विकिरशब्दस्यान्यत्र प्रयोगो न निवर्त्तितः स्यादिति। पुनर्विकिरग्रहणे तु सति भवति। यथा तु भाष्यं तथा 'विष्किरः शकुनौ वा' इत्येतावत् सूत्रम् ॥

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ सुडागमो भवतीति। पूर्वं कात्पूर्वग्रहणादभक्तः सुडित्युक्तम्, इह तु कात्पूर्वत्वं न सम्भवति, आगमलिङ्गं च टित्त्वमस्तीत्यागम एव सुडुक्त इति भावः। स च भवन् 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति चन्द्रशब्दस्यैव भवति, *सूर्याचन्द्रमसाविति*। द्वन्द्वः, 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्।

उत्तरपदमित्यादि। स्वनिकायप्रसिद्धिरेवैषा ॥

न्यासः

विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा ॥ ननु च 'विष्किरः शकुनौ वा' इत्येतावतैव सुड्विकल्पः सिद्धः, तत्र किमर्थं विकिरग्रहणम्? इत्यत आह—शकुनावेव विकिरशब्दस्य प्रयोगो यथा स्यादन्यत्र मा भूदित्येवमर्थं विकिरग्रहणम्।

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ पूर्वं कात्पूर्वग्रहणादभक्तः सुडित्युक्तम्। इह कात्पूर्वत्वं न सम्भवति, आगमलिङ्गञ्चास्य टित्त्वमस्ति, तत आगम एव सुड् विज्ञायत इत्याह—सुडागमो भवतीति। स च भवन् 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति ह्रस्वादिति पञ्चम्याः, चन्द्रोत्तरपद इति च सप्तम्याः षष्ठयां प्रकल्पितायां चन्द्रशब्दस्यैव भवति। सुश्चन्द्र इति। प्रादिसमासः। सूर्याचन्द्रमसाविति। द्वन्द्वः, 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्। अथेह कस्मान्न भवति—शुक्लमसि, चन्द्रमसीति, अत्रापि ह्रस्वात् परश्चन्द्रशब्द उत्तरपदमस्ति? इत्यत आह—उत्तरपदमित्यादि। शुक्लमसि, चन्द्रमसीति वाक्ये। तस्मादिह चन्द्रशब्द उत्तरपदग्रहणेन न गृह्यत एव। यस्मादुत्तरपदं समास एव प्रसिद्धम् ॥

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ १५२ ॥

'कश गतिशासनयोः' इत्येतस्य धातोः प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि कृते सुट् निपात्यते, तस्यैव षत्वम् ।

ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ।

वार्त्तापुरुषः, सहायः, पुरोयायो वा प्रतिष्कश इत्यभिधीयते ।

कशेरिति किम् ? प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्वः ।

अत्र यद्यपि कशेरेव कशाशब्दः, तथापि कशेरिति धातोरुपादानं तदुपसर्गस्य प्रतेः प्रतिपत्त्यर्थम् । तेन धात्वन्तरोपसर्गान्न भवति ॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥ १५३ ॥

प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र—इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेदभिधेयौ भवतः । प्रष्कण्व ऋषिः । हरिश्चन्द्र ऋषिः ।

हरिश्चन्द्रग्रहणममन्त्रार्थम् ।

ऋषी इति किम् ? प्रकण्वो देशः । हरिचन्द्रो माणवकः ॥

पदमञ्जरी

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ अत्र यद्यपीत्यादि । कशेरिति । यद्धातोरुपादानं तस्य नान्यत्प्रयोजनमिति भावः ॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥ हरिश्चन्द्रो राजर्षिः । *प्रकण्वो देश इति* । कण्वम्=पापम्, तत्प्रगतं यस्मात्स एवमुच्यते । हरिः चन्द्रो यस्य मुग्धस्य स हरिचन्द्रः ।

न्यासः

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ प्रतिगतः कशां प्रतिकशोऽश्व इति । प्रादिसमासः । ननु च कशाशब्दोऽपि कशेरेव धातोः पचाद्यचमुत्पाद्य साध्यते, तदिहापि सुटा भवितव्यम् ? इत्यत आह—**यद्यपीत्यादि । कशेरेव** धातोर्यदुपादानं तत् तस्यैव कशेर्य उपसर्गः प्रतिशब्दस्तस्य प्रतिपत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थम् । न च कशेः प्रतिरुपसर्गः, किं तर्हि ? गमेः । तेन धात्वन्तरोपसर्गान्न भवति ॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥ प्रस्कण्वहरिश्चन्द्राविति । प्रकृष्टः कण्वोऽस्येति प्रस्कण्वः । हरिश्चन्द्रोऽस्येति हरिश्चन्द्रः । व्युत्पत्तिमात्रमेतत् कृतम्, न त्वत्रावयवार्थोऽस्ति । रूढिशब्दौ ह्येतौ प्रत्यस्तमितावयवार्थौ क्वचिदेव ऋषिविशेषे वर्त्तेते । ननु च हरिश्चन्द्रे 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे' इत्यनेनैव सुट् सिद्धः, तत्किमर्थं हरिश्चन्द्रग्रहणम् ? इत्यत आह—**हरिश्चन्द्रग्रहणमित्यादि ।**

प्रकण्व इति । प्रगतः कण्वोऽस्मादिति प्रकण्वः । हरिरिव चन्द्रोऽस्येति हरिचन्द्रः ॥

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥ १५४ ॥

मस्कर, मस्करिन्–इत्येतौ यथासंख्यं वेणौ परिव्राजके च निपात्येते । मकरशब्दो ह्यव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, तस्य वेणावभिधेये सुट् निपात्यते, परिव्राजके त्विनिरपि । मस्करो वेणुः । मस्करी परिव्राजकः ।

वेणुपरिव्राजकयोरिति किम् ? मकरो ग्राहः, मकरी समुद्रः ।

केचित्पुनरत्र माङ्युपपदे करोतेः करणेऽच्प्रत्ययमपि निपातयन्ति, माङश्च ह्रस्वत्वम्, सुट् च । मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते, स मस्करो वेणुः । वेणुग्रहणं च प्रदर्शनार्थम् । अन्यत्रापि भवति–मस्करो दण्ड इति । परिव्राजकेऽपि माङ्युपपदे करोतेस्ताच्छील्य इनिर्निपात्यते, माङो ह्रस्वत्वं सुट् च तथैव । माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात्परिव्राजक उच्यते । स ह्येवमाह—मा कुरुत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीति ॥

पदमञ्जरी

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥ *परिव्राजके त्विनिरपीति* । मत्वर्थाभावादिनिरप्राप्तः, अतः सोऽपि निपात्यते, न हि परिव्राजको मकरेण तद्वान्, मस्करेण तु वेणुना तद्वान् भवति; दण्डधारणात्, ततः किम् ? मस्करशब्दादिनिना सिद्धम् । एवमपि संयोगे मत्वर्थीयविधानान्मस्करसंयुक्त एव मस्करीत्युच्येत, मा भूदेवं परिव्राजकमात्रवचनो यथा स्यादितीनिर्निपात्यते, व्युत्पत्तेरदर्शनाद्वा नात्र स्पष्टं निपात्यम्, तद्दर्शयति—*केचिदिति* । *माकरणशील इति* । प्रतिषेधशील इत्यर्थः । *कर्मापवादित्वादिति* । कर्मशब्देनेह काम्यकर्माणि विवक्षितानि, न नित्य-

न्यासः

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥ **परिव्राजके त्विनिरपीति** । निपात्यत इत्यपेक्षते । **किं पुनः कारणं न प्राप्नोतीति ?** मत्वर्थाभावात् । अविद्यमानमस्करोऽपि परिव्राजको मस्करीत्युच्यते; मस्करिशब्दस्य तत्रैव रूढत्वात् । **अच्प्रत्ययमपि निपातयन्तीति** कर्त्तर्युच्यमानः करणे न प्राप्नोतीत्यच्प्रत्ययमपि निपातयन्ति । यदि चेह वेणौ मस्करशब्दो निपात्यते तदा दण्डे न प्राप्नोति, तत्रापि चासौ लोके प्रयुज्यते ? इत्याह—**वेणुग्रहणमित्यादि** । येन निवार्यते तदुपलक्षणार्थं वेणुग्रहणम् । दण्डेनापि निवार्यत इत्यत्रापि भवत्येव । **कर्मापवादित्वादिति** । सांसारिकं फलं कर्म । तदप-

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥ १५५ ॥

कास्तीर, अजस्तुन्द—इत्येतौ शब्दौ निपात्येते नगरेऽभिधेये। ईषत्तीरमस्य, अजस्येव तुन्दमस्येति व्युत्पत्तिरेव क्रियते, नगरं तु वाच्यमेतयोः। कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्तुन्दं नाम नगरम्।

नगर इति किम्? कातीरम्। अजतुन्दम्॥

कारस्करो वृक्षः ॥ १५६ ॥

'कारस्कर' इति सुट् निपात्यते, वृक्षश्चेद्भवति। कारं करोतीति 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्त' इति टप्रत्ययः। कारस्करो वृक्षः।

वृक्ष इति किम्? कारकरः।

केचित्[1] पारस्करप्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति॥

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥ १५७ ॥

पदमञ्जरी

नैमित्तिकानि, तानि हि मुमुक्षोरपि कर्त्तव्यानि। यथाऽऽहुः—

> मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत ततः काम्यनिषिद्धयोः।
> नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायनिवृत्तये॥ इति।

तानि कर्माण्यपवदितुं प्रतिषेद्धुं शीलमस्य स कर्मापवादी। परमहंसास्तु कर्ममात्रमपवदन्ति। *मा कुरुतेति।* न कर्त्तव्यानीत्यर्थः। कर्मणि लुङ्॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे॥ केचिन्नगरे इति प्रथमाद्विवचनान्तमाहुः। वृत्तौ तु सप्तम्यन्तं व्याख्यातम्। *कातीरमिति।* 'ईषदर्थे च' इति काभावः॥

कारस्करो वृक्षः॥ पारस्करप्रभृतिष्वेवेति। नेदं सूत्रमधीयत इत्यर्थः॥

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्॥ रूढिशब्दा एते यथाकथञ्चिद्व्युत्पाद्याः।

न्यासः

वदितुं प्रतिषेद्धुं शीलं यस्य स कर्मापवादी, तस्य भावः कर्मापवादित्वम्। स हीत्यादिना तदेव कर्मापवादित्वं दर्शयति॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे॥ कारस्करो वृक्षः। केचिदिति। यदि तर्हि सूत्रमेतत् केचिन्नाधीयते तत् कथं तेषां कारस्करशब्दो वृक्षे सिध्यति? इत्याह—**पारस्करप्रभृतिष्वेवेत्यादि॥**

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्॥ पारस्करप्रभृतयो रूढिशब्दा यथाकथञ्चिद्

---

1. इतोऽग्रे 'नेदं सूत्रमधीयते' इति पाठो दृश्यते स न्यास-पदमञ्जर्यसम्मतः।

पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये । पारस्करो देशः । कारस्करो वृक्षः । रथस्पा नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्धा गुहा ।

❀ तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च ❀ । तस्करश्चोरः । बृहस्पतिर्देवता ।

चोरदेवतयोरिति किम् ? तत्करः । बृहत्पतिः ।

संज्ञाग्रहणादुपाधिपरिग्रहे सिद्धे गणे चोरदेवताग्रहणं प्रपञ्चार्थम् ।

❀ प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि ❀ । तुम्पतौ धातौ प्रशब्दात्परस्सुट् भवति गवि कर्तरि । प्रस्तुम्पति गौः ।

गवीति किम् ? प्रतुम्पति वनस्पतिः ।

पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः ।

पदमञ्जरी

पारङ्करोतीति *पारस्करः*, 'कृञो हेतु' इत्यादिना टः । रथं यातीति रथ्या । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । षत्वमप्यत्र निपात्यते । अन्ये तु सकारमेव पठन्ति । किं करोतीति करोतेर्डुः, किमोऽन्त्यलोपः, सुट्, *किष्कुः* । किमपि धत्ते *किष्किन्धा* । पूर्ववत्कः, किमो द्विर्वचनं पूर्वस्य मलोपः, सुट, उभयत्राप्यत्र षत्वमपि निपात्यते । तत्करोतीति *तस्करः* । अत्र हि तच्छब्देन चोरकर्म प्रसिद्धं निन्द्यं परामृश्यते ।

प्रात्तुम्पताविति । 'तुप तुम्प हिंसार्थौ' इत्येतस्मिन्धातौ परतः प्रशब्दात्परः

न्यासः

व्युत्पाद्याः । नात्रावयवार्थं प्रत्यभिनिवेष्टव्यम् । पारं करोतीति पारस्करः, 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टः । रथं पातीति रथस्पा । 'आतोनुपसर्गे कः' । कार्यं करोतीति करोतेर्डुः, कार्यस्य च किरादेशः—किष्कुः । किमप्यन्तर्दधातीति दधातेः पूर्ववत् कः, किमो द्विर्वचनम्, पूर्वस्य च मकारस्य लोपः—किष्किन्धा ।

तद्बृहतोरित्यादि । तद्, बृहत्-इत्येतयोर्यथाक्रमं करपतिशब्दयोः परतश्चोरे देवतायाञ्चाभिधेयायां सुड् भवति, अन्त्यस्य च तकारस्य लोपः । तत् करोतीति 'किंयत्तद्बहुषु' इत्यज्विधानम्, तस्करश्चौरः, तत्करोऽन्यः । बृहतां पतिर्बृहस्पतिर्देवता, बृहत्पतिरन्यः । अथ किमर्थञ्चौरदेवतयोरित्युपाधिरुपादीयते, यावता संज्ञाग्रहणादेव तत्परिग्रहः सिद्धः, न ह्यन्यस्य तस्करबृहस्पतिशब्दौ संज्ञा ? इत्यत आह—**संज्ञाग्रहणमित्यादि** ।

प्रात्तुम्पतावित्यादि । 'तुप तुम्प तृप्तौ' इति अत्र परतः प्रशब्दात् परस्य सुड्

अविहितलक्षणः सुट् पारस्करप्रभृतिषु द्रष्टव्यः । प्रायश्चित्तम् । प्रायश्चित्तिः । यदुक्तम्—'प्रायस्य चित्तिचित्तयोः सुडस्कारो वा' इति, तत्संगृहीतं भवति ॥

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ १५८ ॥

परिभाषेयं स्वरविधिविषया । यत्रान्यः स्वर उदात्तः स्वरितो वा विधीयते, तत्रानुदात्तं पदमेकं वर्जयित्वा भवतीत्येतदुपस्थितं

पदमञ्जरी

सुड् भवति धात्वर्थस्य चेद् गौः कर्त्ता भवति, प्रस्तुम्पतीति यत्ने तिबन्ते सुट्। स्वशब्देन धातुग्रहणात्तदादावपि भवति प्रस्तुम्पतो गावौ, प्रस्तुम्पन्ति गाव इति। *चित्तिचित्तयोरिति* । 'चिती संज्ञाने', क्तिन्, 'नपुंसके भावे क्तः'।

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ *एकवर्जमिति* । एकं वर्जयित्वेत्यर्थः । 'द्वितीयायां च' इति णमुल् । तत्र हि परीप्सायामिति प्रायिकम् । अत्र यदि पदमिति जातावेकवचनं स्यात्तदैकवर्जमित्येकशब्देनापि प्रत्यासत्त्या पदमेवोच्येत, ततश्चायमर्थो भवति—वाक्ये पदान्यनुदात्तानि भवन्ति, एकं पदं वर्जयित्वेति । अनुदात्तशब्दश्चेदानीं लौकिकः, लोके ह्यचामनुदात्तादिगुणयोगे हलपि तदनुरक्तत्वात्तद्धर्मा गृह्यत इति अज्झल्समुदायरूपं पदमेवानुदात्तमिति सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति । अत्र पक्षे किमेकं वर्जनीयमिति नियमकारणाभावात् सर्वेषामेव पदानां पर्यायेण वर्जनात्स्वरनियमो न स्यात् । तस्मात्पदमिति

न्यासः

भवति गवि कर्त्तरि । प्रस्तुम्पति गौः । प्रतुम्पत्येवान्यः । यदुक्तमिति तु भाष्ये । यदि तर्हि पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः, 'प्रतिष्कशश्च कशेः' इत्यारभ्य पूर्वं सूत्रं न पठितव्यम्, तस्याप्यनेनैव संग्रहात् ? सत्यमेतत् ; प्रपञ्चार्थं तु पठितव्यम् ॥

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ **एकवर्जमिति** । एकं वर्जयित्वेत्यर्थः । 'द्वितीयायाञ्च' इति णमुल्प्रत्ययः । यद्ययमधिकारार्थः स्यात्, ततः षाष्ठिक एव स्वरः संगृहीतः स्यात् । ये त्वन्ये स्वराः 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः', 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्येवमादयः सप्ताध्याय्याम् ते न संगृहीताः स्युः । परिभाषायां त्वस्यां तेऽपि संगृहीता भवन्ति । सा ह्येकदेशे स्थितापि सकलं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा वेश्म प्रदीप इवेत्यालोच्याह—**परिभाषेयमिति** । विध्यङ्गशेषभूता चेयम् । परिभाषा हि कार्यवाक्यानां शेषभावगता । यस्य पदावयवस्य स्वरित उदात्तो वा विधीयते तत्र शेषमनुदात्तं भवति । **स्वरविधिविषयेति** । स्वरविधिर्विषयोऽस्या इति विग्रहः । **यत्रान्य इति** ।

पदमञ्जरी

व्यक्तिनिर्देशः, विवक्षितं चैकत्वम्। अनुदात्तशब्दश्च 'नीचैरनुदात्तः' इत्यच्विशेषे पारिभाषिक इति तस्यैव ग्रहणं युक्तम्। एकशब्देनापि सन्निधानादजेवोच्यते। कथं तर्ह्यज्झल्समुदायरूपस्य पदस्याज्मात्रवाचिनानुदात्तशब्देन सामानाधिकरण्यम्? अवयवावयविनोरभेदोपचारात् अर्शआद्यच्प्रत्ययान्तत्वाद्वाऽनुदात्ताच्कं पदमेवानुदात्तम्। यद्येवम्, अनुदात्तशब्देनापि पदमेव प्राधान्येनोच्यते अज्गुणाभावेनेति पुनरप्येकशब्दस्य संख्येयापेक्षायां प्रधानभूतपदमेव संख्येयं प्राप्नोति? उच्यते; पदमित्येकत्वं विवक्षितमित्युक्तम्, तत्रैकं पदमनुदात्ताच्कं भवत्येकं पदं वर्जयित्वेति नायमर्थः सम्भवतीति सामर्थ्याद् गुणभूतोऽप्यजेवैकशब्देनोच्यते।

यद्वा, पदशब्दोऽपि लक्षणया तत्स्थेष्वच्षु वर्त्तते, तत्राचां पदस्थत्वाव्यभिचारादेकत्वविवक्षार्थमेव पदग्रहणम्। सर्वथा त्वयमर्थो विवक्षितः—एकस्मिन्पदे वर्त्तमाना अचोऽनुदात्ता भवन्ति एकमचं वर्जयित्वेति। एवं स्थिते यदीदं स्वतन्त्रं लक्षणं स्यात्तदा नियमो वा स्याद्—एकमचं वर्जयित्वा, परिशिष्टमनुदात्तमेव भवतीति विधिर्वा।

तत्राद्ये पक्षे येषामचां लक्षणान्तरेणोदात्तः स्वरितो वा विधीयते, तत्रानियमप्रसङ्गाभावात्तद्व्यतिरिक्तविषयमेवेदं भवति। अस्ति हि तत्रानियमप्रसङ्गः; अस्वरस्याच उच्चारणासम्भवात्। *एकवर्जमिति*। यस्य यस्योदात्तस्वरितविधानं स स वर्ज्य इत्यर्थो भवति। ततश्चत्वार इत्यादावागमादीनां पृथक् स्वरप्रसङ्गः, आमलकीज इत्यत्र ङीषः प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्, 'गतिकारकोपपदात्कृत्' इति जशब्दस्योदात्तत्वम्, 'दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे' इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम्, 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' इति लकाराकारस्योदात्तत्वमिति युगपदुदात्तचतुष्टयप्रसङ्गः। ननु च नाप्राप्ते कृत्स्वर आरभ्यमाणेन 'दीर्घकाश' इत्याद्युदात्तत्वेनापोदितत्वादेव कृत्स्वरो न भविष्यति, तथाऽऽद्युदात्तत्वं कुटीज इत्यादौ सावकाशम्, उपसरज इत्यादौ सावकाशेन 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' इत्यनेन परत्वाद्बाधिष्यत इति कथमुदात्तचतुष्टयप्रसङ्गः? उच्यते; विरोधे समानफलत्वे बाध्यबाधकभावः, विप्रतिषेधोऽपि विरोध एव, तच्चोभयं स्वरेषु नास्तीति कृत्कृत्यप्रत्ययसंज्ञानामिव समावेशप्रसङ्गः। सत्यपि विप्रतिषेधे ङीष उदात्तत्वे कृते पश्चात् 'अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः' इत्येतस्मिन्प्रवृत्तेऽपि पूर्वकृतस्य ङीष उदात्तस्यानिवृत्तेरनिष्टमेव। यदि च यस्य यस्योदात्तस्वरितविधानम्, तं तं वर्जयित्वा परिशिष्टमनुदात्तमेवेत्यर्थः स्यात्, तदा पदमेकवर्जमिति द्वयमपि व्यर्थं स्यात्। सामान्येनाचोऽनुदात्ता इत्येवास्तु, प्रत्ययाद्युदात्तत्वादिविषये तैर्बाधितत्वादेवानुदात्तत्वं न भविष्यति। तस्मात्पदमेकवर्जमिति वचनान्नायं स्वतन्त्रो नियमः।

पदमञ्जरी

अथ विधिः ? तदा येषामचां लक्षणान्तरेणोदात्तः स्वरितो वा न विधीयते, तेष्वप्यनुदात्तस्य पक्षे प्राप्तत्वाद्विधिरनुपपन्न इति लक्षणान्तरेण येषामुदात्तः स्वरितो वा विहितः, त एकस्मिन्पदे वर्तमाना अनुदात्ता भवन्त्येकमचं वर्जयित्वेत्यर्थः स्यात्। क एक वर्ज्य इति न ज्ञायेत! अथापि परनित्यादिभिर्व्यवस्था ? एवमपि सतिशिष्टेनापि व्यवस्था न स्यात्। कथमौपगवत्वमित्यत्र द्वे प्रत्ययाद्युदात्तत्वे ? तत्रैकस्यानुदात्तत्वं विधीयमानं कस्य भवतु ? उदात्तस्वरितव्यतिरिक्तानां चाचामनियमप्रसङ्ग एवावतिष्ठेत। तदेवं स्वतन्त्रेऽस्मिन् विधौ नियमे वा नेष्टं सिद्ध्यति।

अथाधिकारः स्यात्तदा 'कर्षात्वतो घञोऽन्तः' इत्यत्रास्योपस्थाने सत्ययमर्थो भवति—कर्षशब्दस्याकारवतोऽन्त उदात्तो भवति, तमेकं वर्जयित्वा तस्मिन्पदे वर्तमानाः परिशिष्टा अचोऽनुदात्ता भवन्तीति। एवमन्यत्रापि—यत्र यत्रोपस्थानं तत्र तत्र सूत्रविहितं स्वरं वर्जयित्वा परिशिष्टस्यानुदात्तविधानम्। एकग्रहणमपि तत्र विधीयमानस्य स्वरस्योपलक्षणार्थम्। तेन 'तवै चान्तश्च युगपत्', 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' इत्यादौ द्वयोरपि वर्जनं भवति। इन्द्राबृहस्पती इत्यत्र बृहस्पतिशब्दे वनस्पत्यादित्वाद् द्व्युदात्ते इन्द्रशब्देन द्वन्द्वे 'देवताद्वन्द्वे च' इति द्वयोरपि प्रकृतिस्वरत्वमिति त्रयाणां वर्जनं भवतीत्येवं षाष्ठिके स्वरे न कश्चिद्दोषः।

'आद्युदात्तश्च', 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः' 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यादिषु प्रदेशान्तरवर्त्तिषु स्वविधिष्वस्यानुपस्थानात्तेषु परिशिष्टस्यानुदात्तत्वं न स्यात्, एकवर्जमिति च व्यर्थं स्यात्। कथमनुदात्तं पदमित्येवाधिकारोऽस्तु, न चैवं तत्तत्सूत्रविहितस्यापि स्वरस्यानुदात्तप्रसङ्गः, तद्विधानसामर्थ्यात्। तदेवं पक्षान्तरसम्भवात्परिभाषेयमिति निश्चित्याह—*परिभाषेयमिति*। लिङ्गवती चेयम्, स्वरविधिश्च लिङ्गमित्याह—*स्वरविधिविषयेति*।

यत्रान्य इति। अनुदात्तापेक्षमन्यत्वम्। *उदात्तः स्वरितो वेति*। अनुदात्तस्यानुदात्तवर्जनं व्यर्थमिति तद्विरोधाद् उदात्तः स्वरितो वा परिसंख्येयः, तद्विधावेवास्योपस्थानमिति भावः। उपस्थितमित्यनेन स्वरविधिभिरस्यैकवाक्यता

न्यासः

अनुदात्तापेक्षमन्यत्वम्। तत्रानुदात्तं पदमिति। ननु च 'नीचैरनुदात्तः' इत्यनुदात्तशब्दो विशिष्टगुणेऽवसञ्ज्ञीतः, तत्राज्झलक्षणञ्च पदम्, पदशब्दस्यार्थस्तत् कथमत्र सामानाधिकरण्यम् ? नैष दोषः; अनुदात्ताच्कमनुदात्तं पदमिहाभिमतम्, तेन पद एवानुदात्तशब्दो वर्त्तते। कथम् ? मत्वर्थीयाकारान्तत्वात्। अनुदात्ता अस्य सन्तीत्यनुदात्तम्। अर्शआदेराकृतिगणत्वादत्राच्। एकवर्जमित्युक्तम्, स त्वेको न

द्रष्टव्यम् । अनुदात्ताच्कमनुदात्तम् । कः पुनरेको वर्ज्यते ? यस्यासौ स्वरो विधीयते । वक्ष्यति—'धातोः' अन्त उदात्तो भवतीति; गोपायति, धूपायति । धातोरन्त्यमचं वर्जयित्वा परिशिष्टमनुदात्तं भवति । धातुस्वरं श्नास्वरो बाधते–लुनाति, पुनाति । श्नास्वरं तस्स्वरः–लुनीतः, पुनीतः । तस्स्वरमाम्स्वरः–लुनोतस्तराम्, पुनीतस्तराम् ॥

आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।
पृथक्स्वरनिवृत्त्यर्थमेकवर्जं पदस्वरः ॥

पदमञ्जरी

दर्शिता । *कः पुनरिति* । वर्ज्यविशेषस्य सूत्रेऽनिर्देशात्प्रश्नः । *यस्य स्वरो विधीयत इति* । यत्रेदमुपतिष्ठते तत्र यः स्वरो विधीयते स उच्यते । *असाविति* । यदि ह्यसावपि न वर्ज्येत तस्य तत्स्वरविधानमनर्थकं स्यात् । *धातुस्वरं श्नास्वरो बाधत इति* । सतिशिष्टेन व्यवस्थाया वक्ष्यमाणत्वात् । *श्नास्वरं तस्स्वर इति* । बाधत इत्यनुषङ्गः । अत्रापि हेतुर्वक्ष्यते, विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि' इत्यत्र । *तस्स्वरमाम्स्वर इति* । पूर्ववदनुषङ्गः । सतिशिष्टत्वं हेतुः ।

आगमस्येत्यादि । उपलक्षणमेतत् । अनेन हि तत्तल्लक्षणाभिनिर्वृत्तानां बहू-

न्यासः

ज्ञायते यो वर्जनीयः, तस्याभिव्यक्तये पृच्छति–कः पुनरित्यादि । यस्य चोदात्तः स्वरितो वा विधोयते स एवैको वर्ज्यते । यदि ह्यसावपि न वर्ज्यते तस्य तत् स्वर-विधानमनर्थकं स्यात् । गोपायति, धूपायतीति । 'गुपू रक्षणे', 'धूप सन्तापे', 'गुपूधूप' इत्यादिनायप्रत्ययान्तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञा, 'धातोः' इति धातोश्चान्तोदात्तत्वम्, आयप्रत्ययान्तस्यान्त्ययकाराकारस्य धातुस्वरत्वम् । धातुस्वरं श्नास्वरो बाधत इति । सतिशिष्टस्वरत्वात्, सतिशिष्टस्य बलीयस्त्वात् । तथा ह्युक्तम्—'सतिशिष्टस्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्' इति । लुनाति, पुनातीति । 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः, श्नाप्रत्ययस्य च प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । श्नास्वरमिति! बाधत इति सम्बध्यते । ननु परत्वात् तिबादिषु कृतेषु विकरणैर्भवितव्यम्, अतः सति सार्वधातुकस्वरे श्नास्वरस्य शिष्यमाणत्वात् तस्य सतिशिष्टत्वम्, एवञ्च श्नास्वरेणैव बाधा युक्ता तस्स्वरस्य ? एवं मन्यते यत् 'तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेश' इत्यादिना तासेः परस्य लसार्वधातुकत्वं शास्ति, तज्ज्ञापयति–शिष्टोऽपि विकरणस्वरः सार्वधातुकस्वरेण बाध्यत इति । लुनीतः, पुनीत इति । 'ई हल्यघोः' इतीत्वम् । तस्स्वरमाम्स्वर इति । बाधत इति सम्बन्धः । बाधकत्वे तस्य हेतुः सतिशिष्टत्वमेव । लुनीतस्तरामिति । 'तिङश्च' इति तसन्तात्तरप्, तदन्तात् 'किमेत्तिङव्यय' इत्यादिनाऽऽमुप्रत्ययः ।

किमर्थं पुनरयमेकवर्जपदस्वरो विधीयते ? इत्याह–आगमस्येत्यादि । आगमादीनां

आगमस्य–'चतुरनडुहोरामुदात्तः' चत्वारः, अनड्वाहः। आगमस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधते। विकारस्य–अस्थनि, दधनीत्यनङ्स्वरः प्रकृतिस्वरं बाधते। प्रकृतेः–गोपायति, धूपायति। प्रकृतिस्वरः प्रत्ययस्वरं बाधते। प्रत्ययस्य–कर्त्तव्यम्, हर्त्तव्यम्। प्रत्ययस्वरः प्रकृतेः स्वरस्य बाधकः।

पदमञ्जरी

नामुदात्तस्वरितानां समावेशनिवृत्तिः प्रयोजनमस्येत्युच्यते। न चैतावदेव प्रयोजनम्, येषामपि केनापि स्वरित उदात्तो वा न विधीयते, यथाऽनेकाच्सु प्रत्ययेषु धातुषु वाऽऽद्यन्तव्यतिरिक्तानामचां तेषामप्यनुदात्तनियमस्यैतदधीनत्वात्।

चत्वार इति। 'चतेरुरन्' इति चतुर्शब्द आद्युदात्तः। *अनड्वाह इति*। 'अनसि वहेः क्विब् उश्चानसः' इति क्विप्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम्, अनः-शब्दोऽसन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः, 'गतिकारकोपपदात्कृत्' इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण धातोरन्त उदात्तः। *अस्थनीति*। 'असिसञ्जिभ्यां क्थिन्' इत्याद्युदात्तोऽस्थिशब्दः, दधिशब्दः 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' इत्याद्युदात्तः। नबिति नपुंसकाख्या। यस्यासौ स्वरो विधीयते स वर्ज्यते इत्युक्तम्। सर्वेषां चागमादीनां स्वरो विधीयत

न्यासः

पृथक् स्वरो मा भूदित्येवमर्थमेकं वर्जयित्वा पदानुदात्तत्वं विधीयते। **आगमस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधत इति**। सत्यस्मिन्नेकवर्जं पदं स्वरे। असति त्वस्मिन् प्रकृतेरागमस्य च पृथगेव स्वरः स्यात्। **चत्वार इति**। प्रकृतिस्वरः पुनराद्युदात्तत्वम्। तथा हि 'चतेरुरन्' इत्युरन्प्रत्ययान्तश्चतुःशब्दो व्युत्पाद्यत इति स नित्स्वरेणाद्युदात्तो भवति। **अनड्वाह इति**। अनुडुहोऽप्येवं व्युत्पत्तिः क्रियते। 'अन प्राणने', अस्मात् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' इत्यसुन्प्रत्ययान्तत्वादनःशब्दो नित्स्वरेणाद्युदात्तः। अनो वहतीत्यनसि वहेः क्विप्, 'उश्चानसः' इत्यनस्युपपदे वहेर्धातोः क्विप्, अनश्चोकारादेशः। वहेर्यजादित्वात् संप्रसारणम्, उपपदसमासः, 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तस्मादनुडुहोऽप्येवं व्युत्पादितस्य स्यादाद्युदात्तत्वम्। विकारः=आदेशः। **अनङ्स्वरः प्रकृतेरिति**। दध्यस्थिशब्दावाद्युदात्तौ। तथा हि 'असु क्षेपणे', 'असिसञ्जिभ्यां क्थिन्' इति। क्थिन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्स्वरेणास्थिशब्द आद्युदात्तः। दधिशब्दोऽपि किन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्त एव। धाधातोः 'आदृगमहन' इति 'किकिनौ लिट् च' इति किन्प्रत्ययः, तत्र द्विर्वचने कृत आकारलोपे च दधीति भवति। 'अस्थिदधि' इत्यादिनाऽनङि कृते तस्य यः स्वरः स च कर्त्तव्यः, तस्याप्यसत्यस्मिन्नस्थिदधिशब्दयोरनङश्च पृथगे-

परनित्यान्तरङ्गापवादैः स्वरैर्व्यवस्था, सतिशिष्टेन च । यो हि यस्मिन् सति शिष्यते, स तस्य बाधको भवति । तथा हि—गोपायतीत्यत्र धातुस्वरापवादः प्रत्ययस्वरः, तेनैव धातुस्वरेण प्रत्ययान्तस्य धातोः सतिशिष्टत्वाद् बाध्यते ।

पदमञ्जरी

इत्यविशेषण वर्जनप्रसङ्ग इत्यत आह—*परनित्यान्तरङ्गापवादैरिति* । स तस्मिन्योगे सर्वेषामेव तेषां स्वकस्वरवर्ज्यमन्यमनुदात्तं चिकीर्षता परस्परविरोध उपजायते, परत्वादिभिर्युक्तैव व्यवस्था । *सतिशिष्टेन चेति* । व्यवस्थेत्यपेक्षते । एतदेव विवृणोति—*यो हीति* । सामान्येनोक्तमुदाहरणनिष्ठं करोति—*तथा हीति* । एतच्च सतिशिष्टस्य बाधकत्वं न्यायतस्सिद्धम् । कथमुदात्तस्वरितविधिभिरेकवाक्यतापन्नयाऽनया शेषनिघातः क्रियत इत्युक्तम्, ततः किम् ? उत्सर्गस्यापवादस्य वा या चरमा प्रवृत्तिस्तस्यामिदमुपतिष्ठते, एवञ्च तस्यैव लक्षणस्य या चरमा प्रवृत्तिस्तत्रास्या उपस्थाने पूर्वा प्रवृत्तिर्बाध्यते, तद्यथौपगवत्वमिति । अत्र हि 'आद्युदात्तश्च' इत्यस्य प्रतिप्रत्ययमावृत्तौ त्वप्रत्यये यदा प्रवर्त्तते तदाऽनया निघातः क्रियते । यदि सतिशिष्टस्वरो बाधकः, विकरणस्वरोऽपि लसार्वधातुकस्वरस्य

न्यासः

वोदात्तत्वं तु स्यात् । अस्मिंस्तु सत्यनङ्ग एव भवति । प्रकृतेरित्यादि । गोपायति, धूपायतीति । अत्र प्रकृतेर्गुपेर्धूपेश्च 'धातोः' इत्यन्तोदात्तत्वे आयप्रत्ययादेरप्याकारस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् । गोपायधूपायशब्दयोरपि 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां कृतायाम् 'धातोः' इत्यन्तोदात्तत्वमेव प्राप्नोति । एवं पृथक् स्वरप्रसङ्गे यकाराकारस्यैव धातुस्वरो भवति, न गुपिधूप्योः, नापि प्रत्ययाकारस्य । कर्त्तव्यमिति । धातोरन्तोदात्तत्वे प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वे च प्राप्ते प्रत्ययाद्युदात्तत्वमेव भवति, न तु धातुस्वरः । अथानियमेनैकस्वरस्य वर्ज्यमानता कस्मान्न भवति, न ह्यत्र सूत्रे कश्चिद् व्यवस्थाहेतुरुपात्तः, न च विना व्यवस्थाहेतुना सा लभ्यते ? इत्याह—परनित्यान्तरङ्गेत्यादि । यत्र परादिस्वराः प्राप्नुवन्ति, तद्विपक्षाश्च, तत्र परादीनां बलीयस्त्वात् तत एव वर्ज्यं न, इतरे तु निवर्त्त्यन्ते । यत्र तु परनित्यान्तरङ्गापवादेऽपि क्वचिदिष्टं न सिध्यति, तत्र सतिशिष्टेन व्यवस्था भवति, तस्य हि बलीयस्त्वमुक्तम् । अतः सतिशिष्टेतरस्वरप्राप्तौ सतिशिष्ट एव वर्ज्यते, नेतरः । कथं पुनः सतिशिष्टे न व्यवस्था ? इत्यत आह—यो हीत्यादि । कथमेतज् ज्ञायते ? इत्याह—तथा हीत्यादि । गोपायतीति । अत्रायप्रत्ययस्य प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । स च स्वरो धातुस्वरस्यापवादोऽपि सन्नायप्रत्ययान्तस्य धातुसंज्ञायां कृतायां पुनस्तेन धातुस्वरेण सतिशिष्टेन बाध्यते ।

काष्र्णोत्तरासङ्गपुत्र इत्यत्र च समासस्वरापवादो बहुव्रीहिस्वरः सतिशिष्टेन समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यते। विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि सार्वधातुकस्वरं न बाधते। लुनीत इति तस एव स्वरो भवति।

* विभक्तिस्वरान्नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम् *। अतिस्र इत्यत्र 'तिसृभ्यो जसः' इति सतिशिष्टोऽपि विभक्तिस्वरो नञ्स्वरेण बाध्यते।

* विभक्तिनिमित्तस्वराच्च नञ्स्वरो बलीयानिति वक्तव्यम् *। अचत्वारः, अनड्वाह इति। यस्य विभक्तिर्निमित्तमामस्तस्य यदुदात्तत्वं तन्नञ्स्वरेण बाध्यते।

पदमञ्जरी

बाधकः प्राप्नोति ? तत्राह—*विकरणस्वरस्त्विति*। एवं मन्यते—यद्यं तासेः परस्य लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वं शास्ति तज्ज्ञापकमुक्तस्यार्थस्य; अन्यथा यद्यपि लावस्थायां तासिर्विधीयते, तथापि लकारमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गेषु च लादेशेषु कृतेषु पश्चात्तासिरिति तत्स्वरस्य सतिशिष्टत्वाच्छेषनिघातेनैव सिद्धेरनर्थकं तत्स्यादिति।

विभक्तिस्वरादिति। सतिशिष्टत्वाद्विभक्तिस्वरे प्राप्ते वचनम्। *नञ्स्वरेणेति*। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इति प्रकृतिभावविहितेन।

विभक्तिनिमित्तस्वरादिति। विभक्तिर्निमित्तं यस्य तस्य यः स्वरस्तस्मादित्यर्थः। *वाक्ये हीत्यादि*। देवदत्तशब्द आमन्त्रितस्वरेणाद्युदात्तः, गामित्याद्युदात्तः, गमेर्डोः प्रत्ययस्वरः, 'औतोऽम्शसोः' इत्यात्वमेकादेशः, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः', 'निपाता आद्युदात्ताः' 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इत्याद्युदात्तत्वे वर्जितत्वादभेः

न्यासः

काष्र्णोत्तरासङ्गपुत्र इति। बहुव्रीहिं कृत्वा तत्पुरुषः कर्त्तव्यः। बहुव्रीहिस्वर इति। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या' इत्यादिनोक्तः।

पूर्वकं ज्ञापकं चेतसि कृत्वाऽऽह—**विकरणस्वरस्त्वित्यादि**।

विभक्तिस्वरादित्यादि। 'निपाता आद्युदात्ताः' इति नञुदात्तः। तत्र तत्पुरुषसमासे कृते 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इत्यादिना प्रकृतिस्वरादुदात्तत्वमेव भवति। यदा तु नञ्स्वराद् विभक्तिस्वरः प्राप्नोति नञ्स्वरश्चेष्यते, तस्माद् विभक्तिस्वरो बलीयानिति वक्तव्यम्। बलीयस्त्वे सति किं भवति ? इत्याह—**अतिस्र इत्यत्रेत्यादि**। 'तिसृभ्यो जसः' इत्यनेन विभक्तेरुदात्तत्वं विधीयते। तद्बलीयस्त्वात् सतिशिष्टमपि नञ्स्वरेण बाध्यते। विभक्तिस्वरस्य तु—तिस्रः, तिसृष्वित्येषोऽवकाशः।

पदग्रहणं किम् ? देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेति वाक्ये हि प्रतिपदं स्वरः पृथग् भवति । परिमाणार्थं चेदं पदग्रहणं पदाधिकारस्य

पदमञ्जरी

फिषित्यनेनान्तोदात्तत्वम् । फिषिति प्रातिपदिकस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । आङ् उपसर्गस्वरेणाद्युदात्तः । अजेर्लोट्, 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः, शुक्लशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । टापा विभक्त्या च 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' । तदेवं पदग्रहणाद्वाक्ये पृथगेव स्वरो भवति ।

ननु च यदि वाक्येऽपि शेषनिघातः स्यात्, ततश्च सतिशिष्टस्वरत्वादिनां व्यवस्थापकानां तत्रासम्भवात्क एको वर्जनीय इति न ज्ञायेत ? सत्यम्; विशेषाग्रहणात्पर्यायेण वर्जनं भविष्यति । यदि तर्हि पदग्रहणं क्रियते, एवं सति यावत् पदसंज्ञा न भवति, तावच्छेषनिघातेन न भवितव्यम्, ततश्च कुवल्या विकारः कौवलमित्यत्रानुदात्तादेश्चेत्यञ्न प्राप्नोति, यतः कुवलशब्दोऽयं ग्रामादित्वेनाद्युदात्तः, गौरादित्वान्ङीपि विहितेऽपि पदव्यपदेशाभावादाद्युदात्तत्वं न परित्यजति ? इत्यत आह—*परिमाणार्थं चेति* । पदमत्र गौणमभिप्रेतम्, यस्य पदसंज्ञा भविष्यति न मुख्यम्; पदाधिकारे पुनः पदग्रहणात् । किं चोदात्तस्वरितविधिभिरेकीभूय शेषनिघातः क्रियत इत्युक्तम्, तस्यां च दशायां युष्मदस्मदोर्ङसि, ङयि चेत्यादावेव पदत्वं निष्पन्नं भवति, न पुनः 'धातोः' इत्यादिषु धात्वाद्युपदेशानन्तरं प्रवर्त्तमानेषु । अतश्च तैरेकीभूतस्य पदशब्दस्य तदैकदेशेऽपि भविष्यति वृत्तिः । यद्येवम्, यत्र यत्रास्योपस्थानं तत्र तत्र सव पदम्, ततोऽपि चान्यत्र न्यूनं न कार्यित्वेन संनिहितमिति तत्रैवास्तु परिशिष्टमनुदात्तं भविष्यति, नार्थो वाक्यनिवृत्त्यर्थेन पदग्रहणेन ? उच्यते; असति पदग्रहणे धातोरन्त उदात्तो भवति परिशिष्टमनुदात्तमित्युक्ते धातोरेव यत्परिशिष्टं तदनुदात्तमिति गम्येत; एवम् 'आद्युदात्तश्च' इत्यादौ, ततश्च धातुप्रत्यययोः पृथक्स्वरः स्यादेव । अत एकपदे भविष्यतां सर्वेषामेवानुदात्तत्वं यथा स्यादित्येवमर्थं पदग्रहणम् ।

न्यासः

विभक्तिनिमित्तस्वराच्चेत्यादि । विभक्तिर्निमित्तं यस्य स स्वरो विभक्तिनिमित्तस्वरः । यस्य विभक्तिर्निमित्तमाम इति । आमो विभक्तिनिमित्तत्वम् 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थानग्रहणानुवृत्तेः । तस्य यदुदात्तत्वमित्यादिना बलीयस्त्वस्य फलं दर्शयति । विभक्तिनिमित्तस्वरस्य—चत्वारः, अनड्वाह इत्येषोऽवकाशः ।

वाक्ये हीत्यादि । देवदत्तशब्द आमन्त्रितस्वरेणाद्युदात्तत्वम्, गोशब्दो हि प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, तस्य 'औतोऽम्शसोः' इत्याकारोऽपि स्थानिवद्भावेनोदात्त एव । तथा विभक्त्या सहैकादेशेऽपि, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इति वचनात् । अभिशब्दोऽन्तोदात्तः, तस्य 'निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इत्याद्युदात्त-

निवृत्तिं करोति। तेन प्रागेव पदव्यपदेशात् स्वरविधिसमकालमेव

पदमञ्जरी

पदाधिकारस्य निवृत्तिं करोतीति। गौणार्थमेतत्पदग्रहणं मुख्यपदाधिकारस्य निवृत्तिं कारयति। तेन किं सिद्धं भवति? तत्राह–*तेनेति।* ज्ञापकमप्यस्मिन्नर्थे

न्यासः

विधाने वर्जितत्वात् प्रातिपदिकस्वर एव भवति। आङुपसर्गस्वरेणाद्युदात्तः। अजित्येष तु लोडन्तः 'तिङ्ङतिङः' इति निघातेनानुदात्तः। शुक्लशब्दो हि प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्त इति तस्य 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इति टापा सहैकादेशे कृतेऽन्तोदात्त एव भवति। एवममिपूर्वत्वे कृते वेदितव्यम्।

तदेवं पदग्रहणाद् वाक्य एकैकस्मिन् पदे पृथगेव स्वरो भवति। यद्यनुदात्तं पदमेकवर्जं भवति, एवं सति यावत् पदसंज्ञा न भवति तावदेकं वर्जयित्वा परिशिष्टस्यानुदात्तत्वेन भवितव्यम्, ततश्च कुवल्या विकारः कौवलमित्यत्र 'अनुदात्तादेश्च' इत्यनेनाञ् प्रत्ययो न स्यात्। यतः कुवलशब्दोऽयम् 'ग्रामादीनाञ्च' इत्याद्युदात्तः, गौरादित्वान् ङीषि विहितेऽपि पदव्यपदेशाभावादाद्युदात्तत्वं न परित्यजतीत्याह—**परिमाणार्थञ्चेदमित्यादि।** पदमत्र गौणमभिप्रेतम्, न मुख्यम्; अन्यथा पदाधिकारे सति पुनः पदग्रहणमनर्थकं स्यात्। तस्मादुत्तरकालं यस्य पदसंज्ञा भविष्यति, तदिह पदमभिप्रेतमिति वेदितव्यम्। असति पदग्रहणे न ज्ञायते—कियतामचामनुदात्तत्वं भवतीति। पदग्रहणे तु सत्येकस्मिन् पदे यावन्तोऽचस्तावतामनुदात्तत्वं भवतीत्येषोऽर्थो ज्ञायते, तस्मात् परिमाणार्थमिति। न तु सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा प्रतिपादनार्थम्। तेन प्रागेव पदव्यपदेशादनुदात्तत्वेन भवितव्यमिति न भवति पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः। स्यादेतत्—यद्यपि पदमित्यनेन मुख्यं पदं न प्रत्याय्यते, तथापि पदाधिकारेण तदिह सन्निधाप्यत इति तदवस्थ एव स दोषः? इत्यत आह—**पदाधिकारस्य निवृत्तिं करोतीति।** एतत् पदग्रहणं गौणमर्थं प्रतिपादयन् मुख्यपदाधिकारं निवर्त्तयति। तेन किमिष्टं भवति? इत्याह—**तेनेत्यादि। तथा चेति।** एवञ्च सतीत्यर्थः। प्रागेव पदव्यपदेशात् स्वरविधानतुल्यकालमेव परिशिष्टस्यानुदात्तत्वं भवतीति। अमुमेवार्थं द्रढयितुमाह—**गर्भिणीत्यादि।** गर्भोऽस्या अस्तीतीनिः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्। गर्भशब्दोऽयं कुवलशब्दवदाद्युदात्तः। तत्र यदीनिप्रत्ययस्योदात्तत्वसमकालमेवानुदात्तत्वं भवति ततो गर्भिणीशब्दस्यानुदात्तादित्वाद् 'अनुदात्तादेरञ्' इत्यञ् प्राप्नोतीति तद्बाधनार्थं युज्यते तस्य भिक्षादिषु पाठः। तस्य तूत्तरकालं पदसंज्ञायामुपजातायामवशिष्टस्यानुदात्तत्वं स्यात्। एवं सति गर्भिणीशब्द आद्युदात्तः स्यात्। ततश्चाणो बाधनार्थं भिक्षादिषु न पठ्येत, पठ्यते च। तस्मात् ततो विज्ञायते–प्रागेव पदव्यपदेशात् स्वरविधिसमकालमेवावशिष्टस्यानुदात्तत्वं भवतीत्यभिप्रायः।

शिष्टस्यानुदात्तत्वं भवति। तथा च—कुवल्या विकारः कौवलमित्यत्रानुदात्तादिलक्षणोऽञ् सिद्धो भवति। तथा गर्भिणीशब्दश्चानुदात्तादिलक्षस्याञो बाधनार्थं भिक्षादिषु पठ्यते।

कुवलगर्भशब्दावाद्युदात्तौ ॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥ १५९ ॥

पदमञ्जरी

दर्शयति—*गर्भिणीशब्दश्चेति*। गर्भोऽस्या अस्तीति मत्वर्थीय इनिः, ङीप्। गर्भशब्दो ग्रामादिः। तत्र यदीनिप्रत्ययस्योदात्तविधिसमकालमेवानुदात्तत्वं भवति, ततो गर्भिणीशब्दस्यानुदात्तादित्वाद् 'अनुदात्तादेः' इत्यञि प्राप्ते तद्बाधनार्थं युज्यते तस्य भिक्षादिषु पाठः। अथ पदसंज्ञाया उत्तरकालं शिष्टस्यानुदात्तत्वं भवेत्, ततो गर्भिणीशब्द आद्युदात्तः स्यात्, ततश्चाञो बाधनार्थं भिक्षादिषु न पठितव्यः स्यात्।

कुवलगर्भशब्दावाद्युदात्ताविति। तत्र चोक्त एव प्रकारः, ततः कुवलशब्दादञ्सिद्धये आश्रयणीयम्। गर्भिणीशब्दश्च ज्ञापकमुपपद्यत इति भावः। अत्रेदं चोद्यते—उदात्तस्वरितविधिभिरेकीभूतमप्येतन्नियमार्थं चेद् विहितस्वररहितेष्वेव स्यात्, विध्यर्थं चेद् विहितस्वरेष्वेव स्याद्—इति प्रागुक्तो दोषस्तदवस्थ एव? उच्यते; उक्तं पदग्रहणमेकस्मिन्पदेऽन्तर्भूतानां सर्वेषामनुदात्तत्वमिति, अतो यथैतदुपपद्यते तथा विधिरूपेण, नियमरूपेण, उभयरूपेण वा प्रवृत्तिर्भविष्यति।

नन्वेवमप्येकवर्जमिति व्यर्थम्, तद्धि यत्र सूत्रे येन व्यापारेण यस्य स्वरो विधीयते तस्य मा भूदित्येवमर्थम्, यदि च तस्यापि स्यादनर्थकमेव तत्स्यात्? उच्यते; 'एकवर्जम्' इति वचनात्परिभाषात्वनिर्णयः। तद्धि स्वातन्त्र्येऽधिकारे च न कर्तव्यम्। परिभाषात्वे तु प्रवृत्तिविषयज्ञानार्थं कर्तव्यमिति सर्वमवदातम्॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः॥ आदस्यास्तीत्यात्वान्, 'तसौ मत्वर्थे' इति

न्यासः

किं पुनः कारणं लब्धायां पदसंज्ञायामवशिष्टस्यानुदात्तत्वे विधीयमाने कुवलीशब्दादञ् न सिध्यति, कथञ्च गर्भिणीशब्दस्यानुदात्तादिलक्षणस्याञो बाधनार्थो भिक्षादिषु पाठः प्रागेव पदव्यपदेशात् स्वरविधिसमकालमेवावशिष्टस्यानुदात्तत्वं भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापकः ? इत्याह—कुवलगर्भशब्दावित्यादि। आद्युदात्तत्वे ह्यनयोर्यदि पदसंज्ञायां सत्यामवशिष्टस्यानुदात्तत्वं स्यात्, कुवलीशब्दस्य च स्यात्, ततश्च कुवलीशब्दाद् विकारेऽर्थेऽञ्न स्यात्।

गर्भिणीशब्दस्याद्युदात्तत्वादञ् प्राप्नोति, ततस्तद्बाधनार्थं भिक्षादिषु न पठ्येत, पठ्यते च, तस्मादवसीयते—प्रागेव पदव्यपदेशादवशिष्टस्यानुदात्तत्वं भवति॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः॥ कर्षात्वत इति कर्षश्चात्वांश्चेति कर्षात्वत्—समाहार-

कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति । कर्षः । पाकः । त्यागः । रागः । दायः । धायः । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्यस्यापवादः ।

कर्ष इति विकृतनिर्देशः कृषतेर्निवृत्त्यर्थः । तौदादिकस्य घञन्तस्य कर्ष इत्याद्युदात्त एव भवति ॥

पदमञ्जरी

भसंज्ञा, कर्षश्चात्वांश्चेति समाहारद्वन्द्वः । *विकृतनिर्देश इति* । विकरणान्तस्येदमनुकरणम्, न तु घञन्तनिर्देश इति भावः । अथ किमर्थो मतुब्निर्देशः, यावता न क्वचिदप्याकारात्परो घञस्तीति सामर्थ्यात्तद्वतो ग्रहणं भविष्यति ? उच्यते; घञाक्षिप्तो धातुरात इत्यनेन विशेष्येत, तत्र तदन्तविधौ ज्ञायमाने आनन्तर्यस्यासम्भवाद्विधानं विशेष्येत—आकारान्ताद्यो विहित इति, ततश्च दाय इत्यादावेव स्यात्, पाक इत्यादौ तु न स्यात्; मतुब्निर्देशात्तु सर्वत्र भवतीति । लाक्षणिकस्याप्यात्वतो ग्रहणमिष्यते; वृषादिषु कामपामर्पदानां पाठात् ।

'अलोऽन्त्यस्य' इत्येव सिद्धेऽन्तग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

न्यासः

द्वन्द्वः । आकारोऽस्यास्तीत्यात्वान् । कर्षतेर्धातोरिति । 'कृष विलेखने' इत्यस्याकारवतश्चेति सम्बध्यते । कर्षतिना धातुना साहचर्यादात्वतोऽपि धातोरेव ग्रहणम् । घञ इति प्रत्ययग्रहणम्, अतः प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तस्य कार्यं ज्ञायत इत्याह—घञन्तस्येति । एतच्च कर्षतेरात्वतश्च समानाधिकरणं विशेषणम् । पाक इत्यादि । 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां धातोराकारवत्त्वम् । दायः, धाय इति । 'आतो युक् चिण् कृतोः' इति युक् ।

किमर्थं पुनः प्रकृते विकृतस्य ग्रहणं क्रियते, न 'कृषातः' इत्येवोच्येत ? इत्यत आह—कर्ष इति विकृतिनिर्देश इत्यादि । कृषिर्विलेखनार्थो भ्वादौ तुदादौ च पठ्यते, तत्र यस्य विकरणे परतो गुणात्मको विकारो भवति तस्यैव भौवादिकस्य ग्रहणमिष्यते, नेतरस्य । एतच्च विकृतनिर्देशे सति लभ्यते । तस्मात् कृषतेस्तौदादिकस्य निवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थो विकृतनिर्देशः । कस्मात् पुनस्तौदादिकस्य निवृत्तिरिष्यते ? इत्यत आह—तौदादिकस्येत्यादि[1] ।

अथ किमर्थं मतुपा निर्देशः क्रियते, न कर्षात इत्येवोच्येत ? नैवं शक्यम्; विहितविशेषणस्याकारस्य ग्रहणं विज्ञायेत—आकारान्ताद् यो विहित इति । तथा च दाय इत्यादावेव स्यात्, पाक इत्यादौ न स्यात् । मतुब्ग्रहणे तु सति न दोषः ।

अन्तग्रहणमुत्तरार्थम्, इह हि 'अलोऽन्त्यस्य' इति भविष्यति ॥

1. अतः परं महिशूरसंस्करणे 'हृलस्येति कृद्योगे कर्तरि षष्ठी' इत्यधिकः पाठः ।

उञ्छादीनां च ॥ १६० ॥

'उञ्छ' इत्येवमादीनामन्त उदात्तो भवति।

उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः—एते घञन्ता इति, ञित्स्वरः प्राप्तः। जपः, व्यधः—इत्यबन्तौ, तयोर्धातुस्वरः प्राप्तः। केचित्तु वध इति पठन्ति। युजेर्घञन्तस्य निपातनादगुणत्वं विशिष्टविषये च निपातनमिदमिष्यते। कालविशेषे रथाद्युपकरणे च युगशब्दस्य प्रयोगः, अन्यत्र हि योग एव भवति।

❀ गरो दूष्येऽबन्तः ❀। गरशब्दोऽबन्तः, स दूष्य एवान्तोदात्तः। गरः=विषम्। अन्यत्राद्युदात्त एव॥

❀ वेदवेगवेष्टबन्धाः करणे ❀। 'हलश्च' इति घञन्ताः, एते करणेऽन्तोदात्ता भवन्ति। भावे आद्युदात्ता एव।

पदमञ्जरी

उञ्छादीनां च ॥ 'उछि उञ्छे', 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे'। 'जजि युद्धे', अत्र कुत्वाभावो निपातनात्। 'जल्प व्यक्तायां वाचि' 'व्यध ताडने', 'व्यधजपोरनुपसर्गे' इत्यप्। *वध इति*। 'हनश्च वधः' इत्यप्। *कालविशेष इति*। कृतद्वापरादौ। 'गॄ निगरणे', 'ॠदोरप्'।

विषमित्यनेन दूष्यशब्दस्य विशेषे वृत्तिं दर्शयति।

'विद ज्ञाने', 'ओविजी भयचलनयोः', 'वेष्ट वेष्टने', 'बन्ध बन्धने', 'ष्टुञ् स्तुतौ', 'यु मिश्रणे', 'द्रु गतौ'।

न्यासः

उञ्छादीनां च ॥ उञ्छः,म्लेच्छः,जञ्जः, जल्प इति। 'उछि उञ्छे', 'म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि', 'जज जजि युद्धे', 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि'। जञ्जेः कुत्वाभावो निपातनात्। जपो व्यध इत्यबन्ताविति। तत्र 'व्यधजपोरनुपसर्गे' इत्यबन्तत्वम्। वधशब्दो हि 'हनश्च वधः' इति। तयोर्धातुस्वरः प्राप्त इति। 'धातोः' इत्युदात्तत्वम्। व्यध इति। 'व्यध ताडने' अत्रापि व्यधजपोरित्यबन्तत्वम्, पूर्ववद्धातुस्वरः प्राप्तः। कालविशेष इति। कृतद्वापरादौ। रथाद्युपकरणे चेति। आदिशब्देन हलादेर्ग्रहणम्। गर इति। 'गॄ निगरणे'। 'ॠदोरप्' इत्यबन्तः। विषमित्यनेन दूष्यशब्दस्य विशेषे वृत्तिं दर्शयति। अन्यत्राद्युदात्त एवेति। धातुस्वरेण। वेद-वेग-वेष्ट-बन्धा इति। 'विद ज्ञाने', 'विचिर् पृथग्भावे', 'वेष्ट वेष्टने', 'बन्ध बन्धने'। परिष्टुदित्यादि। 'ष्टुञ् स्तुतौ', 'यु मिश्रणे', 'द्रु गतौ'—एभ्यो यथायोगं पर्याद्युपसर्गपूर्वेभ्यः क्विप्, प्रादिसमासः। अन्यत्र मध्योदात्त इति।

❀ स्तुयुद्रुवश्छन्दसि ❀ । उपसमस्तार्थमेतत् । परिष्टुत् । संयुत् । परिद्रुत् ।

❀ वर्तनिः स्तोत्रे ❀ । स्तोत्रम्=साम, तत्स्थो वर्त्तनिशब्दोऽन्तोदात्तो भवति, अन्यत्र मध्योदात्तः ।

❀ श्वभ्रे दरः ❀ । श्वभ्रेऽभिधेये दरशब्दोऽन्तोदात्तः । अन्यत्राबन्तत्वादाद्युदात्तः ।

❀ साम्बतापौ भावगर्हायाम् ❀ । अन्तोदात्तौ, अन्यत्राद्युदात्तौ ।

❀ उत्तमशश्वत्तमशब्दौ सर्वत्र ❀ । केचित्तु 'भावगर्हायाम्' इति अत्राप्यनुवर्तयन्ति ।

पदमञ्जरी

उपसमस्तार्थमेतदिति । केवलानां धातूनां क्विबन्तानां धातुस्वरेणैव सिद्धत्वात् । *परिष्टुदिति* । सम्पदादित्वात्क्विप् , तेन प्रादिसमासः, 'पूर्वपदात्' इति षत्वम् । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्तेऽन्तोदात्तत्वम् । सोपपदात्तु क्विपि कृत्स्वरेणैव सिद्धम् ।

अन्यत्र मध्योदात्त इति । स हि 'वृतु वर्त्तने' इत्यस्मादिनिप्रत्ययेन व्युत्पाद्यते । 'दॄ विदारणे' ।

साम्बतापौ भावगर्हायामिति । साम्बो भिक्षते, अम्बया सह भिक्षणं गर्हितम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्यापवादः। तापो दस्यूनाम्। धार्मिकेषु दस्युकर्तृकस्तापो गर्हितः । 'कर्षात्वतः' इत्येव सिद्धे भावगर्हाया अन्यत्राऽऽद्युदात्तार्थं वचनम् ।

उत्तमशश्वत्तमाविति । तमबन्तावेतौ । द्रव्यप्रकर्षविवक्षायामामभावः, पित्त्वादनुदात्ते प्राप्ते पाठः । *सर्वत्रेति* । भावगर्हायाम्, अन्यत्र च । छन्दसि, भाषायां चेत्यन्ये ।

न्यासः

वर्तनिशब्दो हि 'अर्त्तिसृघृ' इत्यतोऽनिप्रत्ययेऽनुवर्त्तमाने 'वृतेश्च' इत्यनेन 'वृतु वर्तने' इत्येतस्मादनिप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पाद्यते । तस्मात् प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तो भवति । दर इति । 'दॄ विदारणे' ॠकारान्तत्वादबन्तः ।

साम्बतापौ भावगर्हायामिति । सहाम्बया वर्तत इति साम्बः, 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इति प्रकृतिस्वरेण सहशब्दस्य 'निपाता आद्युदात्ताः' इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते भावगर्हायामन्तोदात्तत्वं विधीयते । साम्बो भिक्षते । भिक्षणमत्र भावगर्हा । तपनं तापः, 'तप सन्तापे' इत्यस्माद् घञ् । आद्युदात्तत्वे प्राप्ते वचनम् । तापो दस्यूनां धार्मिकेषु । भावगर्हायामिति किम् ? साम्बस्तिष्ठति, तापो महान् ग्रीष्मस्य । अनयोराद्युदात्तत्वमेव ।

उत्तमशश्वत्तमाविति । एतौ तमप्प्रत्ययान्तौ । पित्त्वात् प्रत्ययस्यानुदात्तत्वे

❀ भक्षमन्थभोगदेहाः ❀ । एते घञन्ताः । भक्षिर्ण्यन्तोऽपि घञन्त एव; 'एरजण्यन्तानाम्' इति वचनात् ॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥ १६१ ॥

'उदात्त' इति वर्तते । यस्मिन्ननुदात्ते परत उदात्तो लुप्यते, तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति । कुमार ई कुमारी । कुमार-शब्दोऽन्तोदात्तः, तस्य ङीप्यनुदात्ते उदात्तो लुप्यते । अनुदात्तो ङीब् उदात्तः, भस्य टेर्लोपः । पथः । पथा । पथे । पथिन्-शब्दोऽन्तोदात्तः । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' । कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमु-दादयोऽन्तोदात्ताः । ड्मतुबनुदात्तः ।

अनुदात्तस्येति किम् ? प्रासङ्गं वहति प्रासङ्ग्यः । प्रासङ्गशब्दः

पदमञ्जरी

'भक्ष अदने' चुरादिः, 'मन्थ विलोडने', 'भुज कौटिल्ये', 'दिह उपचये' । *एरजण्यन्तानामिति* । ये तु अनार्षमेतद्वचनमित्याहुः, तेषां भक्षशब्दस्य पाठे प्रयो-जनं मृग्यम् ॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥ कुमारशब्दोऽन्तोदात्त इति । फिषित्यनेन । अन्यत्रापि प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तत्वमनेनैव द्रष्टव्यम् । *पथिन्शब्दोऽन्तोदात्त इति* । 'पतेस्थ च' इतीन्प्रत्ययान्तत्वात् । *कुमुदादयोऽन्तोदात्ता इति* । कुमुदशब्दो मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययान्तः, नडशब्दोऽव्युत्पन्नः, 'वी गत्यादिषु' अस्माद-सच्, तुडागमश्च । वेतसश्चित्स्वरेणान्तोदात्तः ।

प्रासङ्ग्य इति । प्रासज्यत इति प्रासङ्गः, कर्मणि घञन्तः, 'तद्वहति' इति

न्यासः

उच्छब्दस्य 'निपाता आद्युदात्ताः' इत्याद्युदात्तत्वमित्यत आद्युदात्तत्वे प्राप्तेऽन्तोदा-त्तार्थमुत्तमशब्दः पठ्यते । शश्वच्छब्दोऽपि प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततो मध्यो-दात्तत्वे प्राप्तेऽन्तोदात्तार्थमेव पठ्यते । सर्वत्रेति । भावगर्हायाम्, अन्यत्र च ।

भक्ष-मन्थ इत्यादि । 'भक्ष भक्षणे,' 'मन्थ विलोडने,' 'भुज कौटिल्ये' 'दिह उप-चये' । ननु भक्षिश्चुरादित्वाण्ण्यन्त इति तत् 'एरच्' इत्यचा भवितव्यम्, तत् कथमसौ घञन्तः ? इत्याह—**भक्षिर्ण्यन्तोऽपीत्यादि** । अत्रैव कारणमाह—**एरजण्यन्तानामिति** ।

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥ कुमारीति । 'वयसि प्रथमे' इति ङीप्, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । **कुमारशब्दोऽन्तोदात्त इति** । प्रातिपदिकस्वरेण । एवमुत्तरत्रा-प्यन्तोदात्तता वेदितव्या । **ङीबित्यनुदात्त इति** । पित्त्वात् ।

प्रासङ्ग्य इति । 'तद् वहति' इत्यादिना प्राग्घितीयो यत् । **प्रासङ्गशब्द**

थाथादिस्वरेणान्तोदात्तः। तस्य यति 'तित्स्वरितम्' इति स्वरिते उदात्तो लुप्यते ? नैतदस्ति; स्वरिते हि विधीयमाने परिशिष्टमनुदात्तम्, तत् कुत उदात्तालोपः ! तदेतदनुदात्तग्रहणमादेरनुदात्तस्योदात्तार्थम्।

'अन्तः' इति हि प्रकृतत्वादन्तस्य स्यात्—मा हि धुक्षाताम्, मा हि धुक्षाथाम्।

पदमञ्जरी

'प्राग्घिताद्यत्' इति यत्। *नैतदस्तीति*। *उदात्तो लुप्यत इति*। यत्तस्य प्रतिषेधः। कथं नैतदस्ति ? इत्याह—*स्वरिते हीति*। 'प्रागेव पदसंज्ञायाः स्वरविधिसमकालमेव शेषनिघातो भविष्यति' इत्युक्तं पुरस्तात्। *तत् कुत उदात्तलोप इति*। न कुतश्चिदित्यर्थः। *तदेतदित्यादि*। यस्मादेवमनुदात्तग्रहणस्य व्यावर्त्यं न सम्भवति, तस्मादेतदनुदात्तग्रहणमादेरनुदात्तार्थम्।

अथासत्यनुदात्तग्रहणे कस्य स्यात् ? इत्यत आह—*अन्त इति*। *मा हि धुक्षातामिति*। दुहेर्माङि लुङ्यात्मनेपदम्, आतामाथामौ, च्लेः क्सः। 'अदुपदेशात्' इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वम्, क्सः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, 'क्सस्याचि' इत्यकारलोपः। माङः प्रयोगोऽडागमनिवृत्त्यर्थः, अटि हि सति पदमाद्युदात्तं भवति, हिशब्दप्रयोगः 'हि च' इति निघातप्रतिषेधार्थः। अत्रासत्यनुदात्तग्रहणे आतामाथामोर्द्वितीयस्याच उदात्तः स्यात्, अन्ताधिकारात्;सति त्वस्मिन्नादेर्भवति। इदं तु वक्तव्यम्, 'यत्रोदात्तलोपः' इत्युच्यमाने कथमन्त्यस्य प्रसङ्गः, न हि

न्यासः

इत्यादि। 'षन्ज सङ्गे' इत्यस्माद् घञमुत्पाद्य प्रासङ्गशब्दो व्युत्पाद्यते, तस्य 'गतिकारकोपपदात्' इति 'तत्पुरुषे' इति वर्तमाने 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' इत्यन्तोदात्तत्वं विहितम्, अतोऽसावन्तोदात्तः। नैतदस्तीति। 'उदात्तो लुप्येत' इति यदुक्तं तस्य प्रतिषेधः। कस्मान्नैतदस्तीत्याह—स्वरिते हीत्यादि। स्वरविधिसमकालमेव शिष्टस्यानुदात्त्वं भवतीति प्रातिपदिकमेतत्। तस्मात् स्वरिते विधीयमाने परिशिष्टस्यानुदात्तत्वेन भवितव्यम्। तत् कुत उदात्तलोपः ! न कुतश्चिदित्यर्थः। तदेतदित्यादि। यस्मादेवमनुदात्तग्रहणस्य प्रत्युदाहरणं न सम्भवति, तस्मादनुदात्तग्रहणमेतदादेरनुदात्तस्योदात्तत्वं यथा स्यादित्येवमर्थम्; अन्यथा ह्यस्यानर्थक्यमेव स्यात्।

किं पुनः कारणमादेरनुदात्तस्योदात्तो न सिध्यति, यतस्तदर्थमनुदात्तग्रहणं क्रियते ? इत्याह—अन्त इति हीत्यादि। अवधारणमात्रं द्रष्टव्यम्। अन्तस्यैव स्यात्, नादेरित्यर्थः। क्व पुनरादेरुदात्तार्थमनुदात्तग्रहणं क्रियते ? इत्याह—मा हि धुक्षाता-

यत्रेति किम् ? भार्गवः, भार्गवौ, भृगवः । प्राक् सुबुत्पत्ते-र्गोत्रप्रत्ययस्य लुक् ।

उदात्तग्रहणं किम् ? बैदी । और्वी[1] ॥

धातोः ॥ १६२ ॥

'अन्तः' इत्येव । धातोरन्त उदात्तो भवति । पचति । पठति । ऊर्णोति । गोपायति । याति ॥

पदमञ्जरी

तदुदात्तलोपस्य निमित्तमिति ? उच्यते; आदेरपि तर्हि न प्राप्नोति, तस्यानुदात्त-लोपं प्रत्यनिमित्तत्वात्, 'क्सस्याचि' इत्यजादौ प्रत्यये विधानात् । तस्माद्यत्र प्रत्यय उदात्तलोपस्तत्सम्बन्धिनोऽनुदात्तस्योदात्तो भवतीति सूत्रार्थेऽन्ताधिकारा-दन्त्यस्य प्रसङ्गः । यदि तु निमित्तत्वानादरेण यत्रानुदात्ते परतः उदात्तलोपः, तस्योदात्तो भवतीति सूत्रार्थः, तदा नान्त्यस्य प्रसङ्गः ।

भृगव इति । 'अत्रिभृगुकुत्स' इत्यादिना बहुषु लुक् । तत्र बहुष्वित्यर्थ-ग्रहणम्, न बहुवचनस्य । *बैदीति* । बिदाद्यञन्तात् 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' ॥

न्यासः

मित्यादि । दुहेर्लुङ्, आत्मनेपदमातामाथाम्, ततश्च 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशः, 'तास्यानुदात्त' इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वम्, 'क्सस्याचि' इत्यकारलोपः, क्सस्याकारः प्रत्ययस्वरेणोदात्तः, 'दादेर्धातोर्घः', 'खरि च' इति चर्त्वम्—घकारस्य ककारः, षत्वम् । अत्रासत्यनुदात्तग्रहण आतामाथामाकारस्यादिभू-तस्यानुदात्तत्वं न स्यात्, सति त्वस्मिन्नाकारस्यादिभूतस्योदात्तत्वं स्यात् । हिशब्दस्य प्रयोगे 'हि च' इति निघातप्रतिषेधो न स्यात् । निघाते हि तिङन्तस्यासत्युदात्तलोपो न स्यात् । माङ्प्रयोगोऽप्यटः 'न माङ्योगे' इति प्रतिषेधो यथा स्यात् । अटि हि तस्योदात्तत्वाच्छेषस्यानुदात्तत्वं स्यात्, तथा च सत्यनुदात्तस्याकारलोपः स्यात्, नोदात्तस्य ।

भृगव इति । भृगोरपत्यानि 'ऋष्यन्धकवृष्णि' इत्यादिना ऋष्यण्, तस्य 'अत्रिभृगुकुत्स' इत्यादिना बहुषु लुक् । ननु चात्रापि विभक्तावुत्पन्नायामुदात्तस्य लोपः, तस्मादिहापि भवितव्यमेव ? इत्यत आह—प्राक् सुबुत्पत्तेरित्यादि । न हि गोत्रप्रत्ययस्य लुग्विधौ विभक्तिर्निमित्तत्वेनाश्रीयते । तस्मात् प्रागेव गोत्रप्रत्ययस्य लुक्, ततो नात्रानुदात्तत्वम् । बैदी, और्वीति । बिदस्यापत्यम्, उर्वस्यापत्यमिति 'अनृ-ष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' इत्यञ्, ञित्स्वरेणाद्युदात्तः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् ॥

धातोः ॥ ऊर्णोतीति । अदादित्वाच्छपो लुक् ॥

---

१ 'मौञ्जायना' इत्यधिकमेस्मिन्पुस्तके ।

चितः ॥ १६३ ॥

चितोऽन्त उदात्तो भवति। 'भञ्जभासमिदो घुरच्', भङ्गुरम्। भासुरम्। मेदुरम्। 'आगस्त्यकौण्डिन्ययोरगस्तिकुण्डिनच्', कुण्डिनाः।

चिति प्रत्यये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्त इष्यते। बहुपटवः। उच्चकैः॥

पदमञ्जरी

चितः॥ भङ्गुरमिति। 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम्। *कुण्डिना इति।* कुण्डशब्दान्मत्वर्थीय इनिः, स्त्रियां ङीप्, कुण्डिनीशब्दो मध्योदात्तः, कुण्डिन्या अपत्यानि बहूनि, गर्गादियञो बहुषु लुक्, परिशिष्टस्य कुण्डिनजादेशः।

चिति प्रत्यये इति। ननु च नात्र चितीति प्रत्ययग्रहणं कुण्डिनजादेरपि ग्रहणात्? तस्मादयमत्रार्थः—यत्र चित्प्रत्ययस्तत्र समुदायस्येष्यत इति। कथं पुनरेतल्लभ्यते? चित इत्यवयवादेषा षष्ठी, न कार्यिणः, चितोऽवयवस्य सम्बन्धी यः समुदायः स कार्यी। अथ वा–चिदस्यास्तीति चितः, अर्शआदेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः, षष्ठ्यर्थे प्रथमा, तेन चिद्वतः समुदायस्येत्यर्थः। अत्र च लिङ्गम्–अकः चित्करणम्, अन्यथा तस्यैकाच्त्वादनर्थकं तत्स्यात्। कुण्डिनजादेर्व्यपदेशिवद्भावेन चिद्वत्त्वम्॥

न्यासः

चितः॥ भङ्गुरमित्यादौ प्रत्ययस्वरस्यापवादोऽन्तोदात्तत्वं विधीयते। **कुण्डिना इति।** अत्र तु स्थानिवद्भावः स्वरस्य। कुण्डिनीशब्दस्यायमादेशः, स च प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्त इति तदादेशोऽपि मध्योदात्त एव स्यात्। कुण्डमस्यास्तीतीनिः, तदन्तात् स्त्रियाम् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्। कुण्डिन्या अपत्यानि बहूनीति गर्गादित्वाद् यञ्, तस्य बहुषु लुक्। परिशिष्टस्य कुण्डिनजादेशः।

चिति प्रत्यय इत्यादि। कथं पुनः प्रकृतिप्रत्ययसमुदास्यान्तोदात्तत्वं लभ्यते? यथा लभ्यते तथाख्यायते—इह चित इति समुदायसम्बन्धेऽवयवादेषा षष्ठी। चितोऽवयवस्य यः सम्बन्धी यः समुदायस्तस्यान्तोदात्तत्वं भवतीत्यर्थः। अथ वा—चित इति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तमेतच् चिदस्यास्तीति चितः, तस्यान्तोदात्तत्वं भवतीत्यर्थः। तेन प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्तोदात्तत्वं सिध्यति। यदि तर्हि चित इति मत्वर्थीयाकारप्रत्ययान्तमेतत्, तर्हि षष्ठी प्राप्नोति, चितस्येति निर्देशेन भवितव्यम्? नैष दोषः; 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इति सुब्व्यत्ययेन षष्ठ्याः प्रसङ्गे प्रथमा भविष्यति। **बहुपटव इति।** ईषदसमाप्ताः पटव इति 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' इति बहुच्। **उच्चकैरिति।** 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' इत्यकच्॥

तद्धितस्य ॥ १६४ ॥

'चितः' इत्येव । चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति । 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्', कौञ्जायनाः ।

किमर्थमिदम् ? परमपि ञित्स्वरं बाधित्वाऽन्तोदात्तत्वमेव यथा स्यादिति ॥

कितः ॥ १६५ ॥

'तद्धितस्य' इत्येव । तद्धितस्य कितोऽन्त उदात्तो भवति । 'नडादिभ्यः फक्', नाडायनः । चारायणः । 'प्राग्वहतेष्ठक्', आक्षिकः । शालाकिकः ॥

तिसृभ्यो जसः ॥ १६६ ॥

तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति । तिस्रस्तिष्ठन्ति ।

पदमञ्जरी

तद्धितस्य ॥ *कौञ्जायना इति* । कुञ्जस्यापत्यानि बहूनि, 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्', 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इति ञ्यः, 'ञ्यादयस्तद्राजाः', 'तद्राजस्य बहुषु' लुक् ।

किमर्थमिति । पूर्वेण सिद्धमिति प्रश्नः । *परमपीति* । चकारः 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इत्यत्र विशेषणेन चरितार्थः । ञकारोऽपि वृद्ध्यर्थः, तत्रासत्यस्मिन्परत्वाद् ञित्स्वरः ॥

तिसृभ्यो जसः ॥ अर्थगतं बहुत्वं शब्दे आरोप्य बहुवचननिर्देशः । *तिस्र इति* । अन्तोदात्तस्य त्रिशब्दस्य स्थाने तिसृशब्द आदेशः स्थानिवद्भावादन्तोदात्तः । 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इति जसनुदात्तः, तत्राऽचि परतः 'अचि र ऋतः' ।

न्यासः

तद्धितस्य ॥ **कौञ्जायना इति** । 'कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' इति च्फञन्ताद् 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इत्यागतस्य ञ्प्रत्ययस्य 'तद्राजस्य बहुषु' इत्यादिना लुक् ।

किमर्थमिति । पूर्वेणैव सिद्धमिति मन्यमानस्य प्रश्नः । **परमपीत्यादि** । च्फञो [illegible] चकारः 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' इत्यत्र विशेषणेन चरितार्थः । ञकारोऽपि वृद्धौ । यद्येवं नोच्येत तदा परत्वान् ञित्स्वरः स्यात् । तस्मात्तमपि बाधित्वान्तोदात्तत्वमेव यथा स्यादित्येवमर्थं क्रियते ॥

कितः ॥ प्रत्ययस्वरस्यापवादोऽयम् । **आक्षिकः, शालाकिक इति** । 'तेन दीव्यति' इत्यर्थे ठक् ॥

तिसृभ्यो जसः ॥ **तिस्रस्तिष्ठन्तीति** । 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिस्रादेशः,

'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इत्यस्यापवादः ।

शसि 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति सिद्धे, अन्यत्र बहुवचने 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति विधानाज्जसेव लभ्यत इति जस्ग्रहणमुपसम-

पदमञ्जरी

'जसः' इति किमर्थम् ? तिसृका, स्वार्थे क प्रत्ययः, 'तिसृभावे संज्ञायां कनि' इति तिस्रादेशः ? नित्स्वरोऽत्र बाधको भविष्यति। नाप्राप्ते स्वरान्तरे तिसृस्वर आरभ्यते, स यथैव 'सुप्पितावनुदात्तौ' इत्येतं बाधते एवं नित्स्वरमपि बाधेत ? नैष दोषः; येन नाप्राप्ते इत्येतस्य बाधनं भविष्यति, न ह्यप्राप्ते 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्येतस्मिन् तिसृस्वर आरभ्यते, तिसृकेत्यत्रापि हि टापा सहैकादेशस्य स्थानिवद्भावात्पित्स्वरः प्राप्नोति। अथ वा 'मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन्बाधन्ते' इति तिसृस्वरः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्येतमेव बाधिष्यते, न नित्स्वरम्; बहुवचनविषयत्वाद् द्विवचनैकवचने न स्तः। शसि तु भवितव्यम् 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति। अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयस्तत्र 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' 'झल्युपोत्तमम्' इत्यनेन स्वरेण भवितव्यम्, तत्रान्तरेणापि जस्ग्रहणं जस एव भविष्यति ? अत आह—*जस्ग्रहणमुपसमस्तार्थमिति*। समासेऽपि तिसृशब्दात्परो जस् भविष्यति।

न्यासः

'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रादेशः। उदात्तस्वरितयोरित्यादि। त्रिशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्त इति तदादेशोऽपि तिसृशब्दोऽन्तोदात्त एव। तत्र ऋकारस्यान्तोदात्तस्य स्थाने विहितो रेफ उदात्तयण् न भवति। ततः परस्य जसः 'उदात्तस्वरितयोः' इत्यादिना स्वरितः प्राप्नोति, अतोऽस्यायमपवादः।

अथ जस्ग्रहणं किमर्थम्, तिसृकेऽप्यत्र मा भूदिति चेत् ? स्यादेतत्—त्रिशब्दात् संज्ञायां कनि कृते तत्र च 'तिसृभावे कन्युपसंख्यानम्' इति तिस्रादेशे तिसृकेत्यत्रापि स्यात् असति जस्ग्रहण इति ? नैतदस्ति; नित्स्वरोऽत्र बाधको भविष्यति। नाप्राप्ते स्वरान्तरे तिसृस्वर आरभ्यते, स यथैव 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्येतत्स्वरं बाधते तथा नित्स्वरमिति चेत् ? नैतदस्ति; यस्माद् येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति। न चाप्राप्ते 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्येतस्मिन् तिसृस्वर आरभ्यते, नित्स्वरे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च। अथ वा—'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते' इत्येव तिसृस्वरः 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्येतं बाधिष्यते, न नित्स्वरम्। शसादिनिवृत्त्यर्थं तर्हि जस्ग्रहणमिति चेत् ? एतदपि नास्ति; शसि तावद् भवितव्यमेवान्तोदात्तेन—'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति। अन्यानि सर्वाणि बहुवचनानि हलादीनि, तत्र 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति 'झल्युपोत्तमम्' इत्युदात्तत्वेन भवितव्यम्। बहुवचनविषयत्वाच्च तिसृशब्दस्य द्विवचनैकवचने न स्तः। तत्रान्तरेण जस्ग्रहणं जस एव भविष्यतीत्यत आह—जस्ग्रहणमित्यादि।

स्त्रार्थमेक इच्छन्ति, अतितिस्रावित्यत्र स्वरो मा भूदिति ॥

चतुरः शसि ॥ १६७ ॥

चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति । चतुरः पश्य[1] ।

पदमञ्जरी

अतितिस्राविति । अत्र 'अतेरकृत्पदे' इत्यत्र 'अतेर्धातुलोप इति वक्तव्यम्' इति वचनात्प्राप्तमन्तोदात्तत्वं बाधित्वा विभक्तेरुदात्तत्वं स्यात् । जस्ग्रहणात्तु 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' इति स्वरितो भवति । अतितिस्र इत्यत्र त्वनेन जस उदात्तत्वं भवत्येव ॥

चतुरः शसि ॥ अनुकरणत्वेनार्थपरत्वाभावादेकवचनम् । इह चतस्रः पश्य–इत्यत्र चतस्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादयं स्वरः प्राप्नोति ? तत्राह—*चतस्रादेश इति* । स्थानिवद्भावादेवाद्युदात्तत्वे सिद्धे पुनराद्युदात्तत्वनिपातनमस्य स्वरस्य बाधनार्थमिति भावः । यथैव तर्हि निपातनस्वरः शस्स्वरं बाधते, एवम् 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इत्येतमपि विभक्तिस्वरं बाधेत–चतसृणामिति ? ज्ञापकात्सिद्धम्, यदयम् 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति हलादिग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयति—'न निपातनस्वरो विभक्तिस्वरं बाधते' इति । तद्धि तत्र न कर्तव्यम्, कथम् ? सर्वेषामपि बहुवचनविषयत्वाद् द्विवचनैकवचने न सम्भवतः । न चोपसमस्ते सम्भवः; विहितविशेषणाश्रयणात् । तत्र षड्भ्यस्तावत् जश्शसोर्लुका भवितव्यम् । अन्याः सर्वा हलादयो विभक्तयः । त्रीशब्देऽपि जसि न भवितव्यम्; असर्वनामस्थानमित्यधिकारात्, शसि भवितव्यम् 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इति, अन्या हलादयः । तिसृशब्देऽपि जसि 'तिसृभ्यो जसः' इति भवितव्यम्, शस्यपि 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति, अन्या हलादयः । चतुर्-शब्देऽपि जस्यसर्वनामस्थान इति निषेधः, शसि 'चतुरः शसि' इत्ययमेव भवति, अन्यास्तु हलादयः । तदेतद्धलादिग्रहणं चतस्रः पश्येत्यत्र मा भूदित्येतदर्थमेव कृतम् । यदि च निपातनस्वरेण विभक्तिस्वरो बाध्येत हलादिग्रहणमनर्थकं स्यात् । चतस्रः पश्येत्यत्र निपातनस्वरेणैव बाधितत्वाद् विभक्तिस्वरस्याप्रसङ्गात् किं तन्निवृत्त्यर्थेन

न्यासः

एके भाष्यकारादयः । असति जस्ग्रहणे तिस्रः अतिक्रान्ताविति प्रादिसमासे कृते अतितिस्रावित्यत्रापि स्यात्, तन्मा भूदित्येष दोष इत्युपसमस्तार्थं जस्ग्रहणमिच्छन्ति ॥

चतुरः शसि ॥ 'चतेरुरन्' इत्युरन्प्रत्ययान्तत्वाच्चतुःशब्द आद्युदात्तः, तस्य हि शसि परतोऽनेनान्तोदात्तत्वं विधीयते ।

अथेह कस्मान्न भवति—चतस्रः पश्येति, चतस्रादेशेऽपि चतुरः कृते स्थानिवद्भा-

---

१. 'चतुरो देहि' इत्यपि पुस्तकान्तरे ।

चतस्रादेशे आद्युदात्तनिपातनाद्यणादेशस्य च पूर्वविधौ स्थानिवत्त्वादयं स्वरो न भवति—चतस्रः पश्येति ॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥ १६८ ॥

'सौ' इति सप्तमीबहुवचनस्य सुशब्दस्य ग्रहणम्। तत्र सौ य एकाच् तस्मात्परा तृतीयादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति। वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः। वाग्भ्यः। याता, याद्भ्याम्, याद्भिः।

साविति किम्? राज्ञा। राज्ञे। एकाच इति किम्? हरिणा। गिरिणा। राजसु। तृतीयादिरिति किम्? वाचौ। वाचः। विभक्तिरिति किम्? वाक्तरा। वाक्तमा।

पदमञ्जरी

हलादिग्रहणेन! तत्क्रियमाणम्—विभक्तिस्वरस्य बलीयस्त्वं ज्ञापयतीति चतसृणामित्यत्र विभक्तिस्वरः सिद्धः। *यणादेशस्य चेति*। 'अचि र ऋतः' इति रादेशस्यास्मात्स्वरात्पूर्वं परत्वात्कृतस्य। एतदुक्तं भवति—परत्वाद्रादेशे कृते ऋकारस्य तावन्न भवति, तशब्दाकारस्यापि न भवति; रादेशस्य स्थानिवद्भावादिति। न च स्वरविधौ स्थानिवत्त्वनिषेधः; 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत्' इति वचनात्॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः॥ *साविति सप्तमीबहुवचनस्य सुशब्दस्य ग्रहणमिति*। न प्रथमैकवचनस्य; व्याख्यानात्। प्रयोजनं तूत्तरत्र वक्ष्यति। *पातेति*। पातेर्लटः शत्रादेशः। *राज्ञेति*। 'सौ' इत्येतस्मिन्नसत्येकाचः परा तृतीयादिविभक्तिरुदात्ता भवतीत्यर्थो भवति, भवति चायमल्लोपे कृते एकाच्। ननु च विहितविशेषणं विज्ञास्यते—एकाचो या विहिता तृतीयादिरिति? न; प्रमाणाभावात्।

न्यासः

वेन न प्राप्नोति? इत्यत आह—चतस्रादेश इत्यादि। चतस्रादेशे कृत आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते, स निपातनस्वरः शसि स्वरस्य बाधक इत्याद्युदात्तत्वनिपातनाच्चतस्रः पश्येत्यत्रायं स्वरो न भवति। अथ वा—परत्वाद् 'अचि र ऋतः' इति रादेशे कृत ऋकारस्य तावन्न भवितव्यम्। अकारस्यापि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति यणादेशस्य स्थानिवद्भावादृकारेण व्यवधाने सति न भवितव्यमेव। ननु च 'न पदान्तद्विर्वचन' इत्यादिना स्वरविधौ प्रतिषिद्ध्यते स्थानिवद्भावः? नैतदस्ति; उक्तं हि तत्र 'स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्' इति, न चायं लोपाजादेशः॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः॥ साविति प्रथमैकवचनस्येदं ग्रहणं स्यात्? सप्तमीबहुवचनस्य वा? उभयोर्वा? तत्र यदि प्रथमैकवचनस्य ग्रहणं स्यात्, त्वया त्वयी-

सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणादिह न भवति—त्वया, त्वयीति ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥ १६९ ॥

'एकाचः' इति वर्तते, 'तृतीयादिर्विभक्तिः' इति च । नित्य-शब्दः स्वर्यते, तेन नित्याधिकारविहितः समासः पर्युदस्यते । नित्य-समासादन्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्तमेकाच्च तस्मात्परा तृतीयादिर्विभक्तिरन्यतरस्यामुदात्ता भवति । परमवाचा, परमवाचे । परमत्वचा, परमत्वचे । यदा विभक्तिरुदात्ता न भवति तदा समासा-न्तोदात्तत्वमेव ।

पदमञ्जरी

सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणादिति । प्रथमैकवचने तु 'त्वाहौ सौ' इति त्वादेशे कृते युष्मच्छब्द एकाच् भवति, शेषे लोपे कृतेऽकारान्तत्वात् 'सावर्णं' इति प्रतिषेधो भविष्यति । तदिह प्रथमैकवचनाग्रहणे को हेतुरिति चिन्त्यम् ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥ *नित्यशब्दः स्वर्यते इति* । स्व-रितत्वमस्य क्रियत इत्यर्थः । तत्र स्वरितो गुणः क्रियारूपेण निर्दिष्टः, स्वरितत्वे सति किं भवति ? इत्याह–*तेनेति* । 'स्वरितेनाधिकारः' इत्यत्रायमप्यर्थो व्या-

न्यासः

त्यत्रापि स्यात् । भवति हि युष्मच्छब्दस्य 'त्वाहौ सौ' इति त्वादेशे कृते प्रथमैकवचने परत एकाच्त्वम् । सामान्येनोभयग्रहणेऽप्येष दोषः । सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणे नायं दोषः प्रसज्येत, युष्मास्वित्यत्र युष्मच्छब्दस्यानेकाच्त्वमित्येतत् सर्वं हृदि कृत्वाऽऽह–**सावितिं सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणमिति** । **याञ्चामिति** । याच्छब्दान्नङन्तात् तृतीया । **राज्ञ इति** । भवति राजञ्शब्दो भसंज्ञके परतो लोपे कृत एकाच्, न तु सौ राजस्विति; तत्रानेकाच्त्वात् । **वाक्तरा, वाक्तमेति** । तरप्तमबिति भवति वा तृतीयादिः, न तु विभक्तिः ।

अथ कस्मात् सप्तमीबहुवचनग्रहणम् ? इत्याह–**सप्तमीबहुवचनस्येत्यादि** । **त्वया, त्वयीति** । युष्मदस्मदोः 'मपर्यन्तस्य', 'त्वमावेकवचने' इति त्वादेशः । परिशिष्टस्य 'योऽचि' इति यकारः ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥ यदि विग्रहाभावेन यो नित्यसमासः, स इह नित्यसमासग्रहणेन गृह्येत, ततोऽवाचा, सुवचा ब्राह्मणेनेत्यत्रापि विकल्पेन स्यादित्येतच्चेतसि कृत्वाऽऽह–**नित्यशब्दः स्वर्यत इति** । स्वरितत्वमस्य क्रियत इत्यर्थः, तेन किं भवति ? इत्याह–**तेनेत्यादि** । स्वरित्वेन ह्यधिकारगतिर्भवति । तेन नित्याधि-कारे यो विहितः समासः स एव नित्यसमास इति, अत्र स च प्रतिषिध्यते । **परमवाचेति** । 'सन्महत्' इत्यादिना समासः । स च नित्याधिकारविहितसमासो न

अन्तोदात्तादिति किम् ? अवाचा । सुवाचा । तत्पुरुषोऽयम् । तत्र 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।

उत्तरपदग्रहणमेकाच्त्वेनोत्तरपदं विशेषयितुम्, अन्यथा हि समासविशेषणमेतत्स्यात् । तत्र शुन ऊक् श्वोर्ज्जा—इत्यत्रैवायं विधिः स्यात् ।

अनित्यसमास इति किम् ? अग्निचिता । सोमसुता । 'उपपदमतिङ्' इत्ययं नित्याधिकारे समासो विधीयते, तत्र 'गतिकारकोपपदात् कृत्' इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण चित्-शब्द उदात्तः ।

पदमञ्जरी

ख्यातः—स्वरितेन लिङ्गेन यदत्राधिकारः स प्रत्येतव्य इति, ततो नित्याधिकारविहितः समासोऽत्र प्रतिषिध्यते । *अवाचेति* । नञ्समासः । *तत्पुरुषोऽयमिति* । न बहुव्रीहिः । तेन 'नञ्सुभ्याम्' इत्यन्तोदात्तत्वं न भवति, अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर एव भवतीति भावः । प्रायेण तु *सुवाचा, सुत्वचा इति* पाठः । तत्र प्रत्युदाहरणदिगियं दर्शितेति व्याख्येयम्, न पुनरत्र प्रसङ्गः; प्रादिसमासस्य नित्यसमासत्वात् ।

अथोत्तरपदग्रहणं किमर्थम्, यावता 'अनित्यसमासे' इत्याधारसप्तमी विज्ञास्यते—अनित्यसमासस्थान्तोदत्तादेकाचः परा तृतीयादिर्विभक्तिरिति, तच्चोत्तरपदमेव ? तत्राह—*उत्तरपदग्रहणमिति* । अयं भावः—सत्सप्तमी विज्ञायेत, ततश्च समासस्याश्रयत्वात्तस्यैवैकाच्त्वमन्तोदात्तत्वं च विशेषणं स्यादिति ।

अग्निचिता, सोमसुतेति । 'अग्नौ चेः', 'सोमे सुञः' इति क्विप् ।

न्यासः

भवतीत्यनित्यसमासः । **सुवाचेति** । 'कुगति' इत्यादिना समासः । **अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर इति** । स पुनरुदात्तः; 'निपाताश्चाद्युदात्ता उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इति वचनात् । यथात्रोत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वं नास्ति, एवमनित्यसमासत्वमपि; 'कुगति' इत्यादावपि नित्यग्रहणानुवृत्तेः । एवं सति 'मयूरव्यंसकादयश्च' इत्यनेनात्र समासो द्रष्टव्यः; मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात् ।

अन्यथा हीति । यद्युत्तरपदग्रहणं न क्रियेत, तदैकाज्ग्रहणं समासविशेषणं स्यात् । तत्र को दोषः स्यात् ? इत्याह—**तत्रेत्यादि** । ऊक् शब्दः सम्पदादित्वात् क्विबन्तः ।

अग्निचिता, सोमसुतेति । 'अग्नौ चेः', 'सोमे सुञः' इति क्विप् । **अयं नित्याधिकारे समासो विधीयत इति** । तत्र 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' इत्यतो नित्यग्रहणानुवृत्तेः । **तत्रेत्यादि** । 'गतिकारकोपपदात् कृत्' इत्यनेनोत्तरपदस्य प्रकृतिस्वरो विधीयते । उत्तरपदं च धातुस्वरेणान्तोदात्तम्, तेन चिच्छब्द उदात्तो भवति । एवं सोमसुच्छब्दोऽपि ।

यस्तु विग्रहाभावेन नित्यसमासस्तत्र भवत्येव विकल्पः—अवाचा ब्राह्मणेन, सुवाचा ब्राह्मणेनेति। 'बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तर-पदान्तोदात्तत्वं भवति ॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥ १७० ॥

अञ्चेः पराऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति छन्दसि विषये। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः। 'चौ' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तम्।

'तृतीयादिः' इति वर्तमाने शसोऽपि परिग्रहार्थमसर्वनामस्थान-ग्रहणम्। इहापि यथा स्यात्—प्रतोचो बाहून्प्रतिभङ्ग्ध्येषामिति ॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥ १७१ ॥

ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव्—इत्येतेभ्योऽसर्वनाम-स्थानविभक्तरुदात्ता भवति। उठ्—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा।

पदमञ्जरी

'नित्यशब्दः स्वर्यते' इति यदुक्तम्, तस्य प्रयोजनमाह—*यस्त्विति* ॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥ *दधीच इति*। दध्यञ्चतीति 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्, अनुनासिकलोपः, 'अचः' इत्यकारलोपः, 'चौ' इति दीर्घत्वम्।

शसोऽपि परिग्रहार्थमिति। शसादिग्रहणं तु न कृतम्, नपुंसके शसि मा भूत्, सुटि च यथा स्यादिति ॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥ *प्रष्ठौह इति*। 'छन्दसि सहः', 'वहश्च' इति ण्विः। वाह ऊठि 'एत्येधत्यूठसु' इति वृद्धिः।

न्यासः

यस्त्वित्यादि। 'नित्यशब्दः स्वर्य्यते' इति यदुक्तम्, तस्यानेन प्रयोजनं दर्शयति। **अवाचा, सुवाचेति**। अत्राकारेण पूर्वपदेन सुशब्देन च विग्रहो नोपपद्यते, तयोरिह प्रयोगाभावान्नित्यसमासावेतौ, न तु नित्याधिकारविधानात् ॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥ **इन्द्रो दधीच इति**। दध्यञ्चतीति 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्, अनुनासिकलोपः, षष्ठ्येकवचनम्, 'अचः' इत्यकारलोपः, 'चौ' इति दीर्घः।

तृतीयादिरित्यादि। यदि सर्वनामस्थानग्रहणं क्रियते तदा शसो न स्यात्; तस्यातृतीयादित्वात्। अथापि तृतीयादिग्रहणं निवर्त्त्येत, एवमपि सर्वनामस्थानेऽपि स्यात्। **प्रतीच इति**। पूर्वेण तुल्यम्।

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥ **प्रष्ठौह इति**। 'वहश्च' इति ण्विः, 'वाह ऊठ्' इत्यूठ, 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः।

❀ ऊठ्युपधाग्रहणं कर्तव्यम् ❀ । इह मा भूत्–अक्षद्युवा । अक्षद्युवे ।

इदम्–आभ्याम्, एभिः । 'अन्तोदात्तात्' इत्यधिकारादन्वादेशे न भवति–अथो आभ्यां निपुणमधीतमिति ।

पदादयः–'पद्दन्नोमास्' इत्येवमादयो निश्पर्यन्ता इह गृह्यन्ते । निपदश्चतुरो जहि । या दतो धावति । असन्प्रभृतिभ्यो विभक्तिरनुदात्तैव भवति । ग्रीवायां बद्धो अपि अक्ष आसनि । मत्स्यं नदीन उदनि क्षियन्तम् ।

पदमञ्जरी

ऊठ्युपधाग्रहणमिति । उपधाभूत ऊठ् गृह्यते, न त्वन्त्य इत्यर्थः । पञ्चमीनिर्देशादन्त्यस्यैव ग्रहणे प्राप्ते वचनम् ।

अन्तोदात्तादित्यधिकारादन्वादेशे न भवतीति । अत एव हेतोः 'सावेकाचः' इत्यनेनापि न भवति । यदि स्यात्, इहान्तोदात्ताधिकारो व्यर्थः स्यात् । ननु च यदीमे नानुशसो अभ्यवर्षादिति शसोऽन्वादेशेन मा भूदिति प्रयोजनम्, 'एकाचः' इत्यधिकारादेव सिद्धम्, तथा च तदस्मै तव्य तदस्य प्रियं प्रेणा तदेषामित्यादि सर्वानुदात्तं पदमधीयते ।

पदादयो निश्पर्यन्ता गृह्यन्त इति । 'पद्दन्नोमास्' इति सूत्रे निर्दिष्टाः, तत्र एकाच इत्यनुवृत्तेर्निशः परे न गृह्यन्ते । यदा त्वल्लोपे कृते एकाचो भवन्ति, तदोदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वं सिद्धम् । येऽप्याद्युदात्तानां स्थाने विधीयन्ते आदेशास्ते तत्रैवान्तोदात्ता निपात्यन्ते । वृत्तावप्येतदेवोक्तं द्रष्टव्यम् । *आसनीति* । आस्यशब्दस्यासनादेशः । यत्रैकाचस्तेषां शसर्थं ग्रहणम् ॥

न्यासः

ऊठ्युपधाग्रहणमिति । 'उपधाभूत ऊड् गृह्यते येन तदुपधाग्रहणम्' इति व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः । किमर्थम् ? इत्याह—इह मा भूदिति । तत्रेदं व्याख्यानम्—अन्तोदात्तात्' इत्यादिसूत्रादिहान्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा विज्ञायते, तेनोपधाभूतादेव भवितव्यमिति तस्यैव ग्रहणं युक्तमिति । **अक्षद्युवेति** । अक्षैर्दीव्यतीति क्विप्, 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति वकारस्योठ्, यणादेशः ।

आभ्यामिति । इदमस्त्यदाद्यत्वम्, 'हलि लोपः' इतीद्रूपस्य लोपः । **अथो आभ्यामिति** । 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' इत्यशादेशः ।

निश्पर्यन्ता इह गृह्यन्त इति । एतदपि पूर्ववद् व्यवस्थितविभाषया लभ्यते, तस्यां हि सत्यां निश्पर्यन्तेभ्य एव भवितव्यम् । तेषामेव ग्रहणं युक्तमिति त एव गृह्यन्ते । **निपद इति** । शसि परतः पादस्य पदादेशः । **दत इति** । अत्रापि दन्तशब्दस्य ददादेशः । **आसन्निति** । अत्रासन्शब्दस्य सप्तम्येकवचनेऽसन्नित्ययमादेशः । **उदन्निति** । अत्राप्युदक-

अप्—अपः पश्य । अद्भिः । अद्भ्यः ।

पुम्—पुंसः, पुम्भ्याम्, पुम्भ्यः । पुंसा, पुंसे ।

रै—रायः पश्य । राभ्याम् । राभिः ।

दिव्—दिवः पश्य । दिवा । दिवे ॥

अष्टनो दीर्घात् ॥ १७२ ॥

अष्टनो दीर्घान्तादसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टासु । घृतादिपाठादष्टन्-शब्दोऽन्तोदात्तः, तत्र 'झल्युपोत्तमम्' इत्येतस्यापवादो विभक्तेरेवोदात्तत्वं विधीयते ।

दीर्घादिति किम् ? अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ।

इदमेव दीर्घग्रहणमष्टन आत्वविकल्पं ज्ञापयति, कृतात्वस्य च षट्संज्ञां ज्ञापयति; अन्यथा ह्यात्वपक्षे सावकाशोऽष्टनः स्वरः परत्वादनात्वपक्षे षट्स्वरेण बाधिष्यत इति किं दीर्घग्रहणेन ! ॥

पदमञ्जरी

अष्टनो दीर्घात् ॥ *घृतादिपाठादन्तोदात्त इति* । तेनोत्तरार्थमनुवर्तमानस्य 'अन्तोदात्तात्' इत्यस्य नेहापि विरोध इति भावः । *अष्टस्विति* ।

ननु चात्र दीर्घग्रहणमनर्थकम्, यावता 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेन भवितव्यम्, तद्विधौ विकल्पस्याभावात् ? इत्यत आह–*इदमेवेति* । नित्ये ह्यात्वे व्यावर्त्याभावादिह दीर्घग्रहणमनर्थकं स्यात् । *कृतात्वस्य च षट्संज्ञामिति* । इदमेव दीर्घग्रहणमष्टनो ज्ञापयतीति सम्बन्धः । कथमेतत् ? इत्यत आह—*अन्यथा हीति* । आत्वाभावपक्षेऽयं स्वरो मा भूदित्येतदर्थं हि दीर्घग्रहणम् । यदि च कृतात्व-

न्यासः

शब्दस्योदन्नादेशः । अद्भिरिति । पकारस्य तकारः, तस्य जश्त्वम्–दकारः । राभ्यामिति । 'रायो हलि' इत्यात्वम् ॥

अष्टनो दीर्घात् ॥ अष्टाभिरित्यादि । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यात्वम् ।

अष्टस्विति । ननु चात्रापि भवितव्यमेवात्वेन, न हि तद्विधौ विकल्पप्रतिपादकं वचनमस्ति, नापि प्रकृतम् ? इत्यत आह—इदमेवेत्यादि । यदि हि नित्यमात्वं स्यादिह दीर्घग्रहणमनर्थकं स्यात्, व्यावर्त्याभावात्, कृतात्वस्य च षट्संज्ञामिति ? इदमेव हि दीर्घग्रहणमष्टनो ज्ञापयतीति सम्बन्धनीयम् । कथं पुनर्ज्ञापयति ? इत्याह—अन्यथा हीत्यादि । दीर्घग्रहणं ह्येवमर्थं क्रियते–यत्रात्वं नास्ति तत्रायं स्वरो मा भूदिति । यदि कृतात्वस्याष्टनः षट्संज्ञा न स्यात्, तदात्वपक्षे षट्संज्ञायामसत्यां सावकाशोऽष्टनः स्वरः;

शतुरनुमो नद्यजादी ॥ १७३ ॥

'अन्तोदात्तात्' इति वर्तते । अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्तादन्तोदात्तात्परा नदी अजादिर्विभक्तिरसर्वनामस्थानमुदात्ता भवति । तुदती, नुदती । लुनती, पुनती । तुदता, नुदता । लुनता, पुनता ।

अनुम इति किम् ? तुदन्ती, नुदन्ती । अत्राप्यदुपदेशादिति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे एकादेशः, तस्य 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्तत्वम्, तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वं नेष्यत इति शत्रन्तमन्तोदात्तं भवति ।

नद्यजादी इति किम्? तुदद्भ्याम्, नुदद्भ्याम् । तुदद्भिः, नुदद्भिः ।

अन्तोदात्तादित्येव—ददती । दधतः । 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तावेतौ ।

पदमञ्जरी

स्याष्टनः षट्संज्ञा न स्यात्, तदाऽऽत्वपक्षे सावकाशमिममष्टनः स्वरमनात्वपक्षे षट्संज्ञायां सत्याम् 'झल्युपोत्तमम्' इति षट्स्वरः परत्वाद्बाधिष्यते—इत्यनर्थकं दीर्घग्रहणं स्यात् । यदा तु कृतात्वस्याष्टनः षट्संज्ञा भवति, तदा नाप्राप्ते षट्स्वरे आरभ्यमाणोऽष्टनः स्वरोऽनात्वपक्षेऽपि स्यादिति तन्निवृत्तये क्रियमाणमर्थवद्भवति । कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं शक्यं ज्ञापयितुम् ? को दोषः ! अन्यथानुपपत्त्या ह्यनेकोऽप्यर्थो ज्ञाप्यते, तेनैतदुभयमन्तरेणानुपपद्यमानमुभयमपि ज्ञापयति ।

शतुरनुमो नद्यजादी ॥ तुदती, नुदतीति । तुदादित्वाच्छः, 'आच्छीनद्योर्नुम्' विकल्पितः । तत्र नुमभावपक्षे उदाहरणम्, नुम्पक्षे प्रत्युदाहरणम् ।

तुदन्तीति । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः । अत्र प्रत्ययस्वरेण शत्रन्तमन्तोदात्तम् । तत्रेत्यादिना प्रत्युदाहरणस्य व्यङ्गविकलतां परिहरति—*तत्र पूर्वत्रासिद्धमिति नेष्यते इति* । अत्र च ज्ञापकमयमेवानुम इति प्रतिषेधः, न हि किञ्चिदेकादेशस्वरमन्तरेण शत्रन्तं सनुम्कमन्तोदात्तमस्ति ।

न्यासः

तत्रापि षट्स्वरः प्राप्नोतीति कृत्वा । ततश्च यदि दीर्घग्रहणं न क्रियेत, तदानवकाशत्वाद् यदात्वपक्षेऽष्टनः स्वरो न भवति, तदेतरस्मिन्नपि पक्षे स्यात् । अतस्तन्निवृत्तये दीर्घग्रहणं क्रियमाणमर्थवद् भवति । कृतात्वस्याष्टनः षट्संज्ञायाम्—अष्टानामित्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुट् सिद्धो भवति ॥

शतुरनुमो नद्यजादी ॥ तुदति, नुदतीति । तुदादित्वाच्छः । लुनती, पुनतीति । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः । प्रत्ययस्वरेण शत्रन्तमिहान्तोदात्तं वेदितव्यम् ।

तस्येत्यादि । कथं पुनरिष्यमाणमपि न भवति ? 'न मु ने' इत्यत्र नेति योगविभागात् ।

❀ बृहन्महतोरुपसंख्यानम् ❀। बृहती, महती। बृहता, महता ॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥ १७४ ॥

उदात्तस्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्मात्परा नदी अजादिर्याऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति। कर्त्री, हर्त्री, प्रलवित्री, प्रसवित्री। कर्त्रा, हर्त्रा, प्रलवित्रा, प्रसवित्रा। तृजन्ता एतेऽन्तोदात्ताः।

उदात्तग्रहणं किम्? कर्त्री, हर्त्री। कर्त्रा, हर्त्रा। तृन्नन्तोऽयमाद्युदात्तः। हल्पूर्वादिति किम्? बहुतितवा ब्राह्मण्या[1]।

❀ नकारग्रहणं कर्तव्यम् ❀। वाक्पत्नीयं कन्या ॥

पदमञ्जरी

बृहन्महतोरुपसंख्यानमिति। शतृवद्भावादेव सिद्धे नियमार्थमिदम्—पृषदादीनां मा भूदिति। 'गौरादिषु बृहन्महतोः पाठोऽनर्थकः' इति स्त्रीप्रकरण एवोक्तम् ॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥ 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इति प्राप्ते वचनम्। *बहुतितवा ब्राह्मण्येति*। स्त्रीलिङ्गोपादानं नाभावनिवृत्त्यर्थम्। 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' इति, 'चालनी तितउः पुमान्', ततो बहुव्रीहिः, 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' इत्युत्तरपदान्तोदात्तः, तत्र 'उदात्तस्वरितयोः' इति विभक्तेः स्वरितत्वम्।

नकारग्रहणं च कर्त्तव्यमिति। उदात्तस्थाने यो नकारस्ततोऽपि परस्या नद्या उदात्तत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। तदर्थं केचिद् 'उदात्ताहलो हल्पूर्वात्' इति पठनीयमिति मन्यन्ते। *वाक्पत्नीति*। तत्पुरुषः। 'पत्यावैश्वर्य्ये' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्य 'न भूवाक्चिद्दिधिषु' इति प्रतिषेधात्समासान्तोदात्तत्वे 'विभाषा सपूर्वस्य' इति नकारः ॥

न्यासः

बृहन्महतोरित्यादि। उपसंख्यानशब्दस्य प्रतिपादनमर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—'ङ्याश्छन्दसि' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेन बहुलग्रहणमुपतिष्ठते, तेन बृहन्महद्भ्यामपि भवतीति ॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥ 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इति प्राप्ते वचनम्। **तृन्नन्तोऽयमाद्युदात्त इति**। नित्स्वरेण। **बहुतितवेति**। बहवस्तितवो यस्या इति बहुव्रीहिः, तया बहुतितवेति। तितउशब्दोऽयम् 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' इत्यन्तोदात्तः।

नकारग्रहणं कर्त्तव्यमिति। नकारो गृह्यते येन तन्नकारग्रहणं व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—इहापि पूर्ववद् बहुलग्रहणमनुवर्तते। तेनोदात्तस्य स्थाने यो नकारस्ततोऽपि न भविष्यतीति। अथ वा—नकारस्यात्र प्रश्लेषः—हल्पूर्वात् 'नोङ्धात्वोः' इति, तथा चायमर्थो भवति—उदात्तयण उदात्तनकाराच्चेति। तेनोदात्तनकारादपि भविष्यतीति। **वाक्पत्नीति**। पतिशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः।

1. 'वहति नावा ब्राह्मण्या' इति मुद्रितः पाठो व्याख्याद्वयपर्यालोचनेनासाधुरेव। काशि० 4 : ४२

नोङ्धात्वोः ॥ १७५ ॥

ऊङो धातोश्च य उदात्तयण् हल्पूर्वः, तस्मात्परा [1]तृतीयादि-विभक्तिर्नोदात्ता भवति। ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे। वीरबन्ध्वा, वीर-बन्ध्वे। ऊङ् प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। तेन सह य एकादेशः सोऽप्युदात्त इति उदात्तयण्वकारः, तस्मादुदात्तत्वे प्रतिषिद्धे 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इति विभक्तिः स्वर्यते।

धातुयणः खल्वपि—सकल्ल्वा। सकल्ल्वे। खलप्वे। क्विब-न्तस्य कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तस्य 'ओः सुपि' इति यणादेशः॥

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ॥ १७६ ॥

'अन्तोदात्ता' इत्येव। ह्रस्वान्तादन्तोदात्तान्नुटश्च परो मतुब् उदात्तो भवति। अग्निमान्। वायुमान्। कर्तृमान्। हर्तृमान्। नुटः खल्वपि—अक्षण्वता। शीर्षण्वता।

पदमञ्जरी

नोङ्धात्वोः॥ ऊङो धातोश्च य उदात्तयण् हल्पूर्व इति। अनेन पूर्वस्याः प्राप्तेरयं प्रतिषेध इति दर्शयति। *तस्मात्परा तृतीयादिविभक्तिरिति।* यद्यपि पूर्वसूत्रे 'नद्यजादी' इत्यनुवर्त्तते न 'तृतीयादिः' इति, तथाप्यत्र बाहुल्येन तृतीया-देरेव सम्भवादिदमुक्तम्। तथा हि—ऊङ्धातुयणः परा नदी तावन्न सम्भवति, नाप्यूङ्यणः शस् सम्भवति, धातुयणस्तु सम्भवति॥

ह्रस्वनुड्भ्यांमतुप्॥ अक्षण्वतेति। 'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यनङ्, 'अनो नुट्' इति नुडागमः, पूर्वस्य नकारस्य लोपः। *शीर्षण्वतेति।* 'शीर्षञ्छन्दसि' इति निपा-

न्यासः

तत्र 'विभाषा सपूर्वस्य' इति नकारान्तादेशः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्॥

नोङ्धात्वोः॥ ब्रह्मबन्ध्वेति। ब्रह्मा बन्धुरस्या इति विगृह्य बहुव्रीहिः। तस्माद् 'ऊङुतः' इत्यूङ्। **तेन सह य एकादेशः सोऽप्युदात्त इति।** 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इति वचनात्। **स्वर्यत इति।** स्वरितः क्रियत इत्यर्थः। **कृदुत्तरपदेत्यादि।** ऊकारोऽत्र धातुस्वरेणान्तोदात्तः। सः 'गतिकारकोपपदात्' इत्युदात्तस्तिष्ठति प्रकृतिस्वरेण॥

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्॥ पित्त्वान् मतुपोऽनुदात्तत्वे प्राप्तेऽयं विधिरारभ्यते। **अक्षण्व-तेति।** अक्षमस्यास्तीति मतुप्, 'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यनङ्, 'अनो नुट्' इति नुडा-गमः, पूर्वस्य नकारस्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति लोपः। **शीर्षण्वतेति।** शीर्षन्निति शीर्षञ्शब्दः 'शीर्षं च्छन्दसि' इति निपातितः।

---

१. 'अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिः' इति मुद्रितः पाठः।

'अन्तोदात्तात्' इदित्येव—वसुमान् । वसुशब्द आद्युदात्तः, तस्मान्मतुब् अनुदात्त एव भवति ।

अत्र च 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' इत्येषा परिभाषा नाश्रीयते; नुड्ग्रहणात् । तेन मरुत्वानित्यत्र न भवति ।

❀ रेशब्दाच्च मतुप उदात्तत्वं वक्तव्यम् ❀ । आरेवान् ।

पदमञ्जरी

तितः । *वसुशब्द आद्युदात्त इति* । वसेरुप्रत्ययः, 'धान्ये नित्' इत्यधिकारे । अथेह कस्मान्न भवति—मरुतोऽस्य सन्ति मरुत्वानिति ? मरुच्छब्दो हि 'मृग्रोरुतिः' इति उतिप्रत्ययान्तत्वात्प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । न च तकारेण व्यवधानम्, स्वरविधौ व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वात् ? इत्यत आह-*अत्रेति* । कथं पुनर्ज्ञायते नाश्रीयते इति ? नुड्ग्रहणात् । तद्धयक्षण्वतेत्यादौ यथा स्यादित्येवमर्थम्, अन्यथा नकारस्य लुप्तस्यापि स्वरविधावसिद्धेर्नकारेण व्यवधानान्न स्यादिति । यदि चात्र व्यञ्जनमविद्यमानवत्स्यात्, ततोऽसिद्धलोपस्यापि तस्याविद्यमानत्वादेव स्वरः सिद्ध इति नुड्ग्रहणमनर्थकं स्यात् ? नैतद्युक्तमुच्यते; यदि हि नकारलोपस्यासिद्धत्वेऽपि नकारोऽविद्यमानवत्स्यात्, स्वरविधौ नकारलोपस्यासिद्धवद्वचनमनर्थकं स्यात् । तस्मान्नलोपविषयेऽविद्यमानवद्भावो न प्रवर्त्तेत इति कर्त्तव्यमेव नुड्ग्रहणम् । एवं तर्हीष्टिरेवेयम्—'अत्र स्वरेऽविद्यमानवत्परिभाषा न प्रवर्त्तते' इति ।

रेशब्दाच्चेति पाठः । *आरेवानिति* । रयि अस्यास्तीति मतुपि 'रयेर्मतौ बहुलम्' इति सम्प्रसारणम्, पूर्वत्वम्, आद्गुणः, ततो ह्रस्वाभावाद्वचनम् ।

न्यासः

वसुशब्द आद्युदात्त इति । स हि 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' इति वर्त्तमाने 'धान्ये नित्' इत्यतो निद्ग्रहणे 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' इति व्युत्पाद्यते । तेन नित्स्वरेणाद्युदात्तो भवति ।

अथेह कस्मान्न भवति—मरुतोऽस्य सन्ति मरुत्वानिति, मरुच्छब्दोऽपि 'मृग्रोरुतिः' इत्युतिप्रत्ययान्तत्वात् प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त इत्यस्त्यत्र प्राप्तिः, अतो नकारेण व्यवधानान्न भवतीति चेत् ? न; तस्य लुप्तत्वात् । अथापि स्वरसिद्धौ नलोपस्यासिद्धत्वम् ? एवमपि 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' इति नास्ति व्यवधानम् ? इत्यत आह—**स्वरविधावित्यादि** । कथं पुनर्ज्ञायते—नाश्रीयत इति ? नुड्ग्रहणात् । नुडागमो ह्ययं मतुप एव भक्त इति तद्ग्रहणेनैव गृह्यते । यद्येषा परिभाषाऽऽश्रीयेत, तदा नकारस्य व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वाद् ह्रस्वादित्येव सिध्यतीति नुड्ग्रहणं न कुर्यात्, कृतं च । ततो ज्ञायते—नेयमिह परिभाषाश्रीयत इति ।

❀ त्रेश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः ❀ । त्रिवतीर्याज्यानुवाक्या भवन्तीति ॥

नामन्यतरस्याम् ॥ १७७ ॥

ह्रस्वग्रहणमनुवर्तते, मतुब्ग्रहणं च, तेन मतुपा ह्रस्वो विशेष्यते। मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्तादन्तोदात्तादन्यतरस्यां नाम् उदात्तो भवति। अग्नीनाम् । वायूनाम् । कर्तॄणाम् ।

मतुपा ह्रस्वविशेषणं किम् ? भूतपूर्वेऽपि ह्रस्वे यथा स्यात्, अन्यथा हि साम्प्रतिक एव स्यात्—तिसृणाम्, चतसृणामिति। सनुट्कस्य ग्रहणं किम् ? धेन्वाम् । शकट्याम् । 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इत्ययमन्तोदात्तः ।

पदमञ्जरी

त्रिवतीरिति । 'छन्दसीरः' इति वत्वम्, 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घः ॥

नामन्यतरस्याम् ॥ *मतुबिति चेति* । तच्चार्थात्सप्तम्यन्तं सम्पद्यते ।

अन्यथा हि साम्प्रतिक एव स्यादिति । साम्प्रतिकाभावे हि भूतपूर्वगतिर्भवति, न तु तस्मिन्सत्यपि; ततस्तिसृणाम्, चतसृणामित्यत्र 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घप्रतिषेधात्साम्प्रतिक एव ह्रस्वो विद्यते इति तत्रैव स्यात्; अग्नीनाम्, वायूनामित्यादौ परत्वान्नित्यत्वाच्च दीर्घत्वे कृते ह्रस्वाभावान्न स्यात्, तस्मान्मतुपा ह्रस्वो विशेष्यते। यद्येवम्, 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्', 'शरादीनां च' इति येषां मतौ दीर्घत्वमुच्यते तेषां न स्यात् ? नैष दोषः; संज्ञायामिति वर्त्तते, ततश्चातुरर्थिक एव मतौ दीर्घत्वम्, न तु 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इत्यत्र; तत्र मतौ ह्रस्वान्तत्वाद्भविष्यति। एवमपि तिसृणाम्, चतसृणामित्यत्र न स्यात्, तिसृचतसृभावस्यैव तत्राभावात् ? इष्टमेवैतत्संगृहीतम्। अत्र हि 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति नित्यमेव विभक्तेरुदात्तत्वमिष्यते। *धेन्वाम्, शकट्यामिति* । 'धेट इच्च' इति

न्यासः

वक्तव्य इति । व्याख्येयमित्यर्थः । उत्तरत्रापि वक्तव्यशब्दस्यायमेवार्थः । व्याख्यानं तु पूर्ववद् बहुलग्रहणानुवृत्तिमाश्रित्य कर्त्तव्यम् ॥

नामन्यतरस्याम् ॥ **नामिति** । सनुट्कस्य षष्ठीबहुवचनस्य ग्रहणम् ।

किं पुनः कारणं मतुपा ह्रस्वो विशेष्यते ? इत्याह—**अन्यथा हीत्यादि** । सम्प्रति भवः साम्प्रतिकः, अध्यात्मादित्वाट्ठञ् । **तिसृणामिति** । अत्र 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घत्वप्रतिषेधात् साम्प्रतिक एव ह्रस्वो विद्यते । न तु साम्प्रतिके सति भूतपूर्वगतिर्युक्ता। अत्र यदि मतुपा ह्रस्वो न विशेष्येत, इह नैव स्याद्—अग्नीनामिति । 'नामि' इति दीर्घत्वे कृते न स्यात्; ह्रस्वाभावात् । तस्माद् भूतपूर्वेऽपि ह्रस्वो यथा स्यादित्येवमर्थं मतुपा ह्रस्वो विशेष्यते । **धेन्वाम्, शकट्यामिति** । यदि सनुट्कस्य ग्रहणं न क्रियेत

ह्रस्वादित्येव—कुमारीणाम् । अन्तोदात्तादित्येव—त्रपूणाम् । वसूनाम् ॥

ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥ १७८ ॥

ङ्यन्ताच्छन्दसि विषये नामुदात्तो भवति बहुलम् । देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् । बह्वीनां पिता । न च भवति—नदीनां पारे जयन्तीनां मरुतः ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥ १७९ ॥

'अन्तोदात्तात्' इत्येतन्निवृत्तम् । षट्संज्ञकेभ्यः, त्रि, चतुर्—इत्येताभ्यां च परा हलादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति । षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम् । पञ्चानाम् । सप्तानाम् । त्रि—त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम् । चतुर्—चतुर्भ्यः, चतुर्णाम् ।

हलादिरिति किम् ? चतस्रः पश्य ॥

पदमञ्जरी

नुप्रत्ययान्तो धेनुशब्दोऽन्तोदात्तः, 'शकटिशकट्योरक्षरमक्षरं पर्यायेण' इति शकटीशब्दोऽपि पक्षेऽन्तोदात्तः । त्रपुशब्दो वसुशब्दश्चाद्युदात्तः ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥ अन्तोदात्तादिति निवृत्तमिति । यद्येतदनुवर्त्तेत पञ्चानाम्, नवानाम्, चतुर्णामित्यत्र न स्यात्; 'नः संख्याया' इत्याद्युदात्तत्वात्, क्व तर्हि स्यात् ? सप्तानाम्, अष्टानाम् । सप्ताष्टशब्दौ घृतादित्वादन्तोदात्तौ । 'न्रः' इति रेफनकारान्ताया इत्यर्थः ।

चतस्रः पश्येति । यथैतदिह हलादिग्रहणस्य व्यावर्त्त्यं तथा 'चतुरः शसि' इत्यत्रावोचाम ॥

न्यासः

तदानीं सप्तम्यादेशस्याप्यामो ग्रहणं स्यात्, ततश्च धेन्वामित्यादावपि स्यात् । सनुट्कस्य ग्रहणे तु न भवति, तस्मिन्नसति धेनुशकटिशब्दयोः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तयोरन्त्यस्य यणादेशे कृते 'उदात्तयणः' इत्यादिनाऽन्तोदात्तो नित्यो भवति ।

त्रपूणामिति । त्रपुशब्दो वसुशब्दवदाद्युदात्तः ॥

ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥ षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥ अन्तोदात्तादित्येतन्निवृत्तमिति । यद्येतदनुवर्तेत, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, चतुर्णामित्यत्र न स्यात् । पञ्चादीनां शब्दानाम् 'न्रः संख्यायाः' इत्युदात्तत्वात् । 'न्रः' इति रेफनकारान्तयोः संख्याशब्दयोर्ग्रहणम् ॥

झल्युपोत्तमम् ॥ १८० ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तममुदात्तं भवति । त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमम्, तत्समीपे च यत्तदुपोत्तमम् । पञ्चभिस्तपस्तपति । सप्तभिः परान् जयति । तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता । चतुर्भिः ।

झलीति किम् ? पञ्चानाम् । सप्तानाम् । उपोत्तममिति किम् ? षड्भिः । षड्भ्यः ॥

विभाषा भाषायाम् ॥ १८१ ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो वा झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पदे उपोत्तममुदात्तं भवति विभाषा भाषायां विषये । पञ्चभिः । सप्तभिः । तिसृभिः । चतसृभिः ॥

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्क्रुद्भ्यः ॥ १८२ ॥

गो, श्वन्, साववर्णम्=सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तम्, राड्, अङ्,

पदमञ्जरी

झल्युपोत्तमम् ॥ झलादौ विभक्तौ परतः षट्त्रिचतुर्णां त्रिप्रभृत्यक्षराभावात् झलादिविभक्त्यन्तस्य पदस्य ग्रहणम्, यदाह—*विभक्त्यन्ते पदे उपोत्तममुदात्तम्भवतीति* ॥

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्क्रुद्भ्यः ॥ 'सौ' इति यदि सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणं स्यात्, तेभ्यः, केभ्य इत्यत्र न स्यात्, तत्किंशब्दयोः सप्तमीबहुवचने परतस्त्यदाद्यत्वे कृते 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वविधानात्; ताभिर्याभिरित्यादावेव स्यात्, तासु यास्वित्यत्रावर्णान्तत्वात् । तस्मात्प्रथमैकवचनस्य ग्रहणमित्याह–*सौ प्रथमैकवचन इति* । अनन्तरस्य प्रतिषेध्यस्यासम्भवात्सर्वस्यैव षाष्ठिकस्वरस्य प्रतिषेधो विज्ञा-

न्यासः

झल्युपोत्तमम् ॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तममिति । उत्तमशब्दस्याव्युत्पन्नस्येह ग्रहणम् । स च स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमाहेति कृत्वा । तत्समीपे यत् तदुपोत्तममिति । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिनाऽव्ययीभावः ॥

विभाषा भाषायाम् ॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्क्रुद्भ्यः ॥ साविति । प्रथमैकवचनस्य सुशब्दस्य ग्रहणं वा स्यात् ? सप्तमीबहुवचनस्य वा ? तत्र यदि सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणं स्यात्, केभ्यः, तेभ्य इत्यत्र न स्यात्, किंतच्छब्दयोः सप्तमीबहुवचने परतो नावर्णान्तत्वमुपपद्यते; कृतेऽपि त्यदाद्यत्वे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्त्वविधानात् ।

क्रुङ्, कृद्—इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवति। गवा। गवे। गोभ्यामिति। 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' इति प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। सुगुना। सुगवे। सुगुभ्याम्। 'अन्तोदात्तादुत्तरपदात्' इति प्राप्तिः।

श्वन्—शुना। शुने। श्वभ्याम्। परमशुना। परमशुने। परमश्वभ्याम्। पूर्ववत्प्राप्तिः।

सावर्णः=सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तं तस्य ग्रहणम्—येभ्यः। तेभ्यः। केभ्यः।

राट्—राजतिः क्विबन्तः। राजा। परमराजः।

अङ्—अञ्चतिः क्विबन्तः, तस्य सनकारस्य ग्रहणं विषयावधारणार्थम्, यत्रास्य नलोपो नास्ति तत्र प्रतिषेधो यथा स्यात्। 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति प्रतिषिध्यते नलोपः। प्राञ्चा। प्राङ्भ्याम्। नलोप-

पदमञ्जरी

यते इत्याह—*इत्येभ्यो यदुक्तं तन्न भवतीति*। एवं च वृक्षवानित्यादौ 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इत्यपि प्रतिषेधो भवति, उदात्तनिवृत्तिस्वरस्य प्रतिषेधो नेष्यते। *सुगुनेति*। बहुव्रीहौ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः, 'नञ्सुभ्याम्' इत्यन्तोदात्तत्वम्।

शुनेति। ननु च नलोपे कृते सावर्णान्तमेतत्? न; स्वरविधौ नलोपस्यासिद्धत्वात्। न चायं स्वरविधिः, स्वरप्रतिषेधोऽयम्? एवं तर्हि शुनः प्रतिषेधं कुर्वन्नेतज्ज्ञापयति—अस्मिन्प्रतिषेधे नलोपोऽसिद्धो भवतीति। तेन नृशब्दात्स-

न्यासः

प्रथमैकवचनस्य तु ग्रहणे सत्यत्रापि भवति। तस्मादसप्तम्या एव ग्रहणं युक्तमिति मत्वाऽऽह—**प्रथमैकवचने यदवर्णान्तमिति**। अनन्तरमिह प्रतिषेध्यं न भवतीति सर्वस्य षाष्ठिकस्वरस्य प्रतिषेधोऽयं विज्ञायत इत्याह—**इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवतीति**। **सुगुनेति**। शोभना गावोऽस्येति सुगुः, 'गोस्त्रियोः' इत्यादिना ह्रस्वः, 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वम्।

शुनेति। 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणम्। **पूर्ववत् प्राप्तिरिति**। शुना, श्वभ्यामित्यत्र 'सावेकाचः' इत्यादिना प्राप्तिः। **परमशुनेति**। अत्रापि 'अन्तोदात्तादुत्तरपदात्' इत्यन्तोदात्तत्वं तु समासस्वरेण।

राज्ञा। परमराज इति। अत्रापि पूर्ववत् प्राप्तिः।

अञ्चतिः क्विबन्त इति। यद्येवम्, तर्हि यत्र नकारलोपेन न भवितव्यं तस्यैव सनकारस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्, किमर्थं सनकारस्य ग्रहणम्? इत्याह—**तस्येत्यादि**। ननु च सर्वत्रैव लोपेन भवितव्यम्, तत् एतदपि किमर्थम्? इत्याह—**यत्रास्येत्यादि**।

विषये तु भवत्येव विभक्तेरुदात्तत्वम् । प्राचा । प्राचे । प्राग्भ्याम् ।

क्रुङ् क्विन्नन्त एव—क्रुञ्चा । परमक्रुञ्चा ।

कृत्—करोतिः कृतिर्वा क्विबन्तः । कृता । परमकृता ॥

दिवो झल् ॥ १८३ ॥

दिवः परा झलादिर्विभक्तिर्नोदात्ता भवति । द्युभ्याम् । द्युभिः । 'सावेकाचः' इति 'ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः' इति वा प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ।

झलीति किम् ? दिवा ॥

नृ चान्यतरस्याम् ॥ १८४ ॥

पदमञ्जरी

सप्तम्येकवचने नरीत्यत्र 'सावेकाचः' इति विभक्तेरुदात्तत्वं भवति, पितृमानित्यादौ 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुप उदात्तत्वं भवति, अन्यथा 'सावर्ण' इति प्रतिषेधः स्यात् ।

प्राचेति । पूर्ववन्नलोपदीर्घादि । *क्रुञ्चेति* । 'क्रुञ्च क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः', 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्, तत्रैव सूत्रे क्रुञ्चेति निपातनान्नलोपाभावः । *कृतिर्वेति* । 'कृती छेदने' ॥

दिवो झल् ॥ *झलादिरिति* । कथं पुनरसति सप्तमीनिर्देशे तदादिविधिर्भवति; केवलझलात्मिकाया विभक्तेरभावात्, अस्तु तर्हि तदन्तविधिः, का पुनर्झलन्ता विभक्तिः, शसाद्भिः सकारान्ता ? एवं तर्हि 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इत्यत आदिग्रहणमनुवर्तते, दिवः परा विभक्तिर्नोदात्ता भवति, कीदृशी ? यस्या झलादिरिति ।

अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । कथम् ? एवं वक्ष्यामि—'अष्टनो दीर्घात्, दिवो-झलादिः, शतरनुमो नदी च' इति, 'ऊडिदम्' इत्यादौ च दिवो ग्रहणं न करि-

न्यासः

कथं नलोपस्याभावः ? इत्याह—नाञ्चेरित्यादि । प्राञ्चेति । पूर्ववत् प्राप्तिः । प्राञ्चतीति क्विन् । प्राचेति । पूर्ववल्लोपदीर्घत्वे ।

क्रुञ्चेति । 'क्रुच क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः', क्विन्, क्रुञ्चेति निपातनान्नलोपाभावः । परमक्रुञ्चेति । समासस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।

परमकृतेति । अत्रापि । कृतिर्वेति । 'कृतो छेदने' इत्येषः ॥

दिवो झल् ॥ नृ चान्यतरस्याम् ॥ नृशब्दात् 'सावेकाचः' इति, 'न गोश्वन्सावर्ण' इति नित्ये प्रतिषेधे च प्राप्ते विभाषेयमारभ्यते ।

'नृ' इत्येतस्मात्परा झलादिर्विभक्तिरन्यतरस्यां नोदात्ता भवति। नृभ्याम्। नृभिः। नृभ्यः। नृषु।

झलित्येव—त्रा। त्रे॥

तित्स्वरितम्॥ १८५॥

तित्स्वरितं भवति। सन्नन्ताद्यत्—चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्। 'ऋहलोर्ण्यत्'—कार्यम्, हार्यम्। प्रत्ययाद्युदात्तस्यापवादः॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः॥ १८६॥

पदमञ्जरी

ध्यामि? एवमपि 'नृ चान्यतरस्याम्' इत्युत्तरसूत्रे तत्र झल्ग्रहणं कर्तव्यम्, 'नदी च' इति चकारश्च क्रियत इति नास्ति लाघवे विशेषः॥

तित्स्वरितम्॥ इह कस्मान्न भवति 'ॠत इद्धातोः' आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्, तत्कालग्रहणार्थतया चरितार्थत्वादिति चेत्? न; अनेकप्रयोजनदर्शनादनुबन्धानाम्। तद्यथा आक्षिक इत्यादौ ठकि सति स्वरो वृद्धिश्च भवति। एवं तर्हि नायमिकारस्तपरः, किं तर्हि? दपरः। यद्येवम्, ऋकारस्य स्थाने आन्तर्य्यतो दीर्घः प्राप्नोति? 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति'। यद्येवम्, 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' अमूभ्याम् दीर्घस्य स्थाने दीर्घो न स्यात्? नैष दोषः; ज्ञापितमेतत् 'दिव उत्' 'ऋत उत्' इति तपरकरणेन—भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णातीति। तयोरेव तर्ह्युकारयोः स्वरितत्वप्रसङ्गः? तावपि तर्हि न तपरौ, किं तर्हि? दपरौ। कथं तर्हि ज्ञापकम्? 'तपरस्तत्कालस्य' इत्यत्र दकारोऽपि चर्त्वभूतो निर्दिश्यते, 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययस्तपरस्तत्कालस्य' इति, यदि दकारोऽपि निर्दिश्यते 'ॠदोरप्' इत्यत्रापि तद्ग्रहणादिहैव स्याद्यवः, स्तवः; लवः, पव इत्यत्र न स्यात्; 'तादपि परस्तपरः' इति तादपि परस्य तपरत्वात्। एवं तर्हि ॠदोरप्' इत्यत्र धकारो जश्त्वभूत उच्चारणार्थो निर्दिश्यते, तत्र जश्त्वस्यासिद्धत्वान्नायमृकारो दपरः। ये तु 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषां पठन्ति, तेषाम् 'ॠत इद्धातोः' इत्यादौ सत्यपि तित्त्वेनास्य स्वरस्य प्रसङ्गः। 'तपरस्तत्कालस्य' इत्यत्र दकारोऽपि न प्रश्लेष्टव्यः।

तस्यास्तु परिभाषाया भाष्यवार्त्तिकयोरिह।
अदर्शनादयं यत्नो महानस्माभिरादृतः॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः॥ तास्यादीनां समा-

न्यासः

तित् स्वरितम्॥ चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यमिति। सन्नन्ताद् यत्, 'अतो लोपः'।

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः॥ तासिप्रभृतीनां समा-

तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच्च शब्दात्परं लसार्वधातुकमनुदात्तं च भवति ह्रुङ्, इङ्—इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा। तासेस्तावत्—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। प्रत्ययस्वरापवादोऽयम्।

अनुदात्तेतः—आस—आस्ते। वस—वस्ते।

ङित्—षूङ्—सूते। शीङ्—शेते।

अदुपदेशात्—तुदतः। नुदतः। पचतः। पठतः। अनुबन्धस्यानैकान्तिकत्वादकारान्तोपदेश एव शप्। पचमानः। यजमानः। यद्यत्र

पदमञ्जरी

द्वारद्वन्द्वः। *अदुपदेशादिति*। उपदिश्यत इत्युपदेशः, तस्याकारेण विशेषणात्तदन्तविधिः, अच्चासावुपदेशश्चादुपदेशः, उपदिश्यमानदशायां यदवर्णान्तं तस्मादित्यर्थः। *अकारोपदेशादिति*। अकारान्तादुपदेशादित्यर्थः। *कर्त्तेत्यादि*। लुङात्मनेपदे प्रथमपुरुषस्य डारौरसः, तासिः। एकवचने टिलोपः, इतरत्र 'रि च' इति सलोपः।

आस्ते इत्यादावदादित्वाच्छपो लुक्।

तुदत इत्यादीनि तसन्तानि। कथं पुनः शबुपदेशेऽदन्तो भविष्यति, यावता पकारान्तोऽयं तत्र ? इत्यत आह—*अनुबन्धस्यानेकान्तत्वादकारान्तोपदेश एवेति*। 'उदीचामाङः' इति कृतात्वनिर्देशाज्ज्ञापकादनुमीयते—कार्येष्वनुबन्धाः श्रूयमाणा अपि न प्रतिबन्धका इति। *पचमानो यजमान इति*। लटः शानच्। नन्वत्र

न्यासः

द्वारद्वन्द्वेन निर्देशः। अदुपदेशादिति। उपदिश्यत इत्युपदेशः, शास्त्रवाक्येषु खिलपाठे च यः प्रथममुच्चार्यते स इत्यर्थः। अच्चासावुपदेशश्चेत्यदुपदेशः। कर्मसाधनस्योपदेशशब्दस्याश्रयणम्, भावसाधनस्य वा, नानेन सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। लसार्वधातुकमिति। षष्ठीसमासः। अदुपदेशादिति। पूर्ववत् कर्मसाधनेनोपदेशशब्देन कर्मधारयः। वर्णग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयतीत्यकारान्तोपदेशादित्यर्थः। कर्त्तेति। करोतेर्लुट्, आत्मनेपदप्रथमपुरुषः, तस्य डारौरसः। एकवचने टेर्लोपः। द्विवचनबहुवचनयोः 'रि च' इति सकारस्य।

आस्ते इत्येवमादिषु शेते इत्येवम्पर्यन्तेष्वदादित्वाच्छपो लुक्। वस्त इति 'वस आच्छादने'।

सूत इति। 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने'। शेत इति। 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणः।

तुदतः, तुदत इति। तसन्ते एते। एवं पचतः, पठत इत्येते अपि। ननु च व्यञ्जनान्तोऽयमुपदेशे शप्, नाकारान्तः, तत् कथमिहानुदात्तत्वं भवति ? इत्याह—अनुबन्ध-

मुक् अकारमात्रस्य स्यात्, तदा लसार्वधातुकमदुपदेशादनन्तरमिति सिद्धो निघातः। अथाकारान्तस्याङ्गस्य ? तथापि लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गत्वादसिद्ध इति सिद्धम्। चित्स्वरोऽप्यनेन

पदमञ्जरी

मुका व्यवधानम् ? अत आह—*यद्यत्रेति*। *स्यादिति*। सम्भावने लिङ्। अङ्गस्य योऽकारस्तस्य मुगित्याश्रयणादस्य पक्षस्य सम्भवः। *तदा लसार्वधातुकमदुपदेशादनन्तरमिति*। स्वावयवेन व्यवधानाभावादुपदेशग्रहणाच्च मुकि सत्यर्द्धमात्राव्यवधानेऽपि प्रवर्त्तते निघातः। 'आतो ङितः' इतीयादेशस्तु न भवति; अत इत्यत्र तपरकरणात्। अनन्तरयोगे पञ्चमी मृग्या, परमिति वाऽध्याहारः। *अथाकारान्तस्याङ्गस्येति*। अकारेणाङ्गस्य विशेषणादिति भावः। *लसार्वधातुकस्येति*। 'सिद्धम्' इति वक्ष्यमाणेन सबन्धः, निघात इति चानुषङ्गः, तथा च लसार्वधातुकस्य निघातः सिद्ध इत्यर्थः। *असिद्ध इति*। प्रकृतत्वान्मुगिति गम्यते। *बहिरङ्गत्वादिति*। बहिरङ्गत्वं तु मुको बह्वपेक्षत्वात्। स हि अकारान्तविशिष्टमङ्गमाश्रयति आनञ्च प्रत्ययविशेषम्। अयं तु स्वरोऽदुपदेशमात्रं लसार्वधातुकमात्रं चापेक्षत इत्यन्तरङ्गः। *चित्स्वरो-*

न्यासः

स्येत्यादि। एकान्तः=एकदेशः, नैकान्तोऽनेकान्तः, तद्ग्रहणेन गृह्यत इति यावत्, अनेकान्तस्य भावोऽनेकान्तत्वम्। ततो हेतोरकारान्तोपदेश एव शप्, न व्यञ्जनान्तः। तेन पचते—इत्यादावनुदात्तत्वं भवतीति भावः। अकारान्तत्वं तु शबकारस्य व्यपदेशिवद्भावात्। पचमानः, यजमान इति। शानच्। कथं पुनरिहानुदात्तत्वम्, यावता मुकाऽत्र व्यवधानम् ? इत्याह—यद्यत्रेत्यादि। मुगागमोऽयमकारमात्रस्य वा स्याद् ? अकारान्ताङ्गस्य वा ? तत्र यद्यकारमात्रस्य तदाऽदुपदेशग्रहणेनैव तस्य ग्रहणमिति लसार्वधातुकमदुपदेशादनन्तरमेव भवति, व्यवधानाभावात्, न हि स्वावयवो व्यवधायको भवति। तेनान्तरङ्गत्वात् सिद्धो निघातः। अथेत्यादिना द्वितीये पक्षे निघातस्यासिद्धत्वात् प्रतिपादयति—तथापीति। एवमपीत्यर्थः। लसार्वधातुकस्येत्यस्य सिद्धो निघात इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। असिद्ध इति अस्यापि मुगित्यनेन प्रकृतेन। इतिकरणो हेतौ। तदयमर्थः—यस्माल्लसार्वधातुकानुदात्ते बहिरङ्गत्वान्मुगसिद्धः, तस्मादेवमपि सार्वधातुकस्यानुदात्तत्वम्। बहिरङ्गत्वं तु मुको बह्वपेक्षत्वात्। स ह्यकारान्तविशिष्टमङ्गमाश्रयति, आनञ्च प्रत्ययविशेषम्। अङ्गावयवमदुपदेशं लसार्वधातुकमात्रं निघातः। तस्मादसावन्तरङ्गः। स्वरविधित्वाच्च, उक्तं हि स्वरविधेर्भाष्येऽन्तरङ्गत्वम्। ननु चाद्ये पक्षे मुकि कृते निघातो न सिध्यति, अदुपदेशादिति तपरकरणात्, मुकि च कृते कालस्यातिरिच्यमानत्वात् ? नैष दोषः; यद्येवमपि कृतेऽर्धमात्राधिका भवति, तथाप्युपदेशग्रहणात् सिध्यत्येव, उपदेशे मात्रिकस्यैवोच्चारणात्। चित्स्वरोऽप्यने-

लसार्वधातुकानुदात्तत्वेन परत्वाद्बाधते ।

तास्यादिभ्य इति किम् ? चिनुतः । चिन्वन्ति । ङिदयं श्नुः पूर्वस्य कार्यं प्रति न तु परस्य । उपदेशग्रहणं किम् ? इह च यथा स्यात्—पचावः, पचाम इति । इह च मा भूत्—हतः, हथ इति ।

पदमञ्जरी

ऽपीत्यादि । चित्स्वरस्यावकाशः—चलनः, 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्', अस्यावकाशः—आस्ते, शेते इति; पवमान इत्यादौ परत्वादयं निघातश्चित्स्वरं बाधते । ननु चैकस्य द्विकार्ययोगे विप्रतिषेधः, न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः, कथम् ? आदेरनुदात्तत्वमन्त्यस्य चित्स्वरः, नात्रादेरनुदात्तत्वम्, किं तर्हि ? सङ्घातः कार्यी । अत्र ज्ञापकमुत्तरत्र वक्ष्यामः । ततश्चानस्य सर्वानुदात्तत्वेन भवितव्यम्, न त्वादेरित्यस्त्येव विरोध इति परत्वादयं बाधते इति युक्तमेव ।

चिनुतः, चिन्वन्तीति । ननु च 'सार्वधातुकमपित्' इति श्नुरपि ङिदेव तत्कथमिदं प्रत्युदाहरणम् ? अत आह—*ङिदयं श्नुः पूर्वस्य कार्यं प्रतीति* । तत्र हि ङिति यत्कार्यं तदतिदिश्यते, यदाह—सिद्धं तु पूर्वस्य कार्यातिदेशादिति । नायं स्थितः सिद्धान्तः, 'आतो ङितः' इत्यत्र वक्ष्यति—"'सार्वधातुकमपित्' इत्यत्र ङित इव ङिद्वदित्यङ्गीक्रियते" इत्यादि । अत्र तु पक्षे परिहारः—उपदेशग्रहणमुभाभ्यामपि सम्बध्यते—ङिदुपदेशात्, अदुपदेशादिति । *पचावः, पचाम इति* । असत्युपदेशग्रहणे परत्वान्नित्यत्वाच्च दीर्घे कृते तपरकरणान्न स्यात् । ननु च तपरकरणं न करिष्यते ? यदि तु न क्रियते—यातः, वात इत्यत्रापि प्राप्नोति । *हतः, हथ इति* । अत्र 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिनानुनासिकलोपे कृते सत्यकारा-

न्यासः

नेत्यादि । चित्स्वरस्यावकाशः—'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्' चलनम्, चोपनमिति, तास्यादिभ्योऽनुदात्तस्यावकाशः—आस्ते, शेत इति; इहोभयं प्राप्नोति—पचमानो यजमान इति, परत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वमेव चित्स्वरं बाधित्वा प्रवर्त्तते ।

चिनुतः, चिन्वन्तीति । ननु 'सार्वधातुकमपित्' इति श्नुरपि ङिदेव, तत्कथमिदं प्रत्युदाहरणमुपपद्यते ? इत्याह—ङिदयमित्यादि । 'सार्वधातुकमपित्' इत्यनेन पूर्वस्य कार्यमतिदिश्यते, न परस्य । तथा चोक्तम्—सिद्धं तु पूर्वस्य कार्यातिदेशादिति । तस्मात् पूर्वस्य कार्यं प्रति ङित्त्वं भवति, न तु परस्येति किमत्र नोपपद्यते ! **इह चेत्यादि** । पचावः, पचाम इत्यत्र हि 'अतो दीर्घो यञि' इति दीर्घत्वे कृते न स्यात् असत्युपदेशग्रहणे । तस्मिंस्तु सति शबकारोऽपि मात्रिक एवोपदिष्ट इति यद्यप्युत्तरकालं दीर्घत्वं भवति तथापि निघातो भवतीति । **इह च मा भूदिति हतः, हथ इति** । अत्र 'अनुदात्तोपदेश' इत्यादिनाऽनुनासिकलोपे सत्युपदेशात्परं लसार्वधातुकं भवति, तत्रासत्युपदेशग्रहण इहापि स्यात् । अस्मिंस्तु सति न भवति, न हि हन्तिरवर्णान्तः ।

लग्रहणं किम् ? कतीह पचमानाः । सार्वधातुकमिति किम् ? शिश्ये। शिश्याते । शिश्यिरे । अहन्विङोरिति किम् ? ह्नुते । यदधीते ॥

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥ १८७ ॥

'उदात्तः' इति वर्तते । सिजन्तस्यान्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति । मा हि कार्ष्टाम् । मा हि कार्ष्टाम् । एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरोऽन्तोदात्तः । मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम् । एकोऽत्राद्युदात्तः, अपरो मध्योदात्तः । सिचश्चित्करणादागमानुदात्तत्वं हि बाध्यते ।

❀ सिच आद्युदात्तत्वेऽनिटः पितः पक्षे उदात्तत्वं वक्तव्यम् ❀ ।

पदमञ्जरी

त्परं लसार्वधातुकं भवति, तथाप्युपदेशग्रहणान्न भवति । न हि हन्तिरदन्त उपदिश्यते । अथ योऽत्रादन्तो हशब्दस्तदाश्रयमनुदात्तत्वं कस्मान्न भवति ? तावतोऽनुपदेशात्, समुदायपरो हि हन्त्युपदेशः । *कतीह पचमाना इति* । 'पूङ्यजोः शानन्', तत्र च 'लटः' इति निवृत्तत्वान्न लादेशोऽयम् । *शिश्य इति* । 'एरनेकाचः' इति यणादेशः, 'लिट् च' इत्यार्द्धधातुकमेतत् । *यदधीत इति* । यच्छब्दप्रयोगः 'निपातैर्यद्यदि' इति निघातप्रतिषेधार्थः ।

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥ *मा हि कार्ष्टामिति* । हेः, माङश्च प्रयोगे पूर्वमेव प्रयोजनमुक्तम् । *अपरो मध्योदात्त इति* । ननु च वलादिरिह प्रत्ययः, इडागमः, आगमाश्चानुदात्ता भवन्ति, तस्मादिहाप्यन्तोदात्तत्वेन भवितव्यम् ? अत आह—*सिचश्चित्करणादिति* ।

न्यासः

उपदिश्यते । किं तर्हि ? व्यञ्जनान्तः । **पचमाना इति** । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' न च स लादेशः, अपि तु प्रत्ययः । लसार्वधातुकत्वं त्वस्य न विद्यते । **शिश्य इति** । शीङो ह्यात्मनेपदे रूपम्, 'एरनेकाचः' इत्यादिना यणादेशः । 'लिट् च' इत्यार्धधातुकमेतत् । **शिश्याते इति** । लिट्यातामि रूपम् । नानुदात्तत्वम्, असार्वधातुकसंज्ञाविधानात् । **ह्नुते, यदधीत इति** । 'ह्नुङ् अपनयने', 'इङ् अध्ययने' । यच्छब्दस्य प्रयोगः 'निपातैर्यद्यदि' इति निघातप्रतिषेधो यथा स्यात् ॥

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥ **मा हि कार्ष्टामिति** । हेः, माङश्च प्रयोगो प्रयोजनं पूर्वमेवोक्तम् । **अपरोऽन्तोदात्त इति** । प्रत्ययस्वरेण । **अपरो मध्योदात्त इति** । प्रत्ययस्वरेणैव । ननु च वलादिरिह प्रत्ययः, इट् चागमः, आगमानाञ्चानुदात्तत्वं भवति, तस्मादिहाप्यन्तोदात्तेनैव भवितव्यम्, तत् कथं मध्योदात्तत्वम् ? इत्याह—**सिचश्चित्करणादित्यादि** । सिचश्चित्करणेनागमानुदात्तत्वे बाधिते चित्स्वर एव भवतीति युक्तं मध्योदात्तत्वम् ।

सिच आद्युदात्त इत्यादि । सिच आद्युदात्तत्वे कर्त्तव्येऽनिटो विद्यमाने सिचः परो

मा हि कार्षम् । अनिट इति किम् ? मा हि लाविषम् । मध्योदात्त एवाद्युदात्ताभावपक्षे भवति ॥

स्वपादिर्हिंसामच्यनिटि ॥ १८८ ॥

लसार्वधातुकग्रहणं यदनुवर्तते, तद् 'अच्यनिटि' इति सम्बन्धादिह सप्तम्यन्तमुपजायते । स्वपादिरा वृत्करणात् । स्वपादीनां हिंसेश्चाजादावनिटि लसार्वधातुके परतोऽन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति । स्वपन्ति । श्वसन्ति । हिंसेः खल्वपि—हिंसन्ति । प्रत्ययस्वरेण पक्षे मध्योदात्तः ।

अचीति किम् ? स्वप्यात् । हिंस्यात् । अनिटीति किम् ? स्वपितः । श्वसितः ॥

पदमञ्जरी

अनिटः पित इति । अनिटः सिचः परः पित्पक्षे उदात्तो भवति, पक्षे त्वनुदात्तः, तेन मा हि कार्षमिति तिङन्तं पक्षे आद्युदात्तम्, पक्षे त्वन्तोदात्तम्; अन्यथा धातुस्वरेण नित्यमाद्युदात्तं स्यात् । *मध्योदात्त एवेति ।* सिचः स्वरेण, एवकारेण न त्वन्तोदात्त इति दर्शयति ॥

स्वपादिर्हिंसामच्यनिटि ॥ स्वपादिरा वृत्कारणादिति । आ गणान्तादित्यर्थः । तत्र 'ञिष्वप् शये', 'श्वस प्राणने', 'अन च' इत्येतेभ्यः परे जक्षित्यादयोऽभ्यस्तसंज्ञकाः, तेषु परत्वाद् 'अभ्यस्तानामादिः' इति स्वरो भवति, ये तु ततः परे 'षस् स्वप्ने', वश कान्तौ', 'ह्नुङ् अपनयने', चर्करीतमिति; तत्र चर्करीतमभ्यस्तम् । अन्ये तु 'षस्तिवसी छान्दसौ', छन्दसि च दृष्टानुविधानम् । ह्नुङो-ऽयं स्वरो न भवति 'अहन्विङोः' इत्यनुवृत्तेः । पारिशेष्यादादितस्त्रिष्वेव[illegible] । *हिंसन्तीति ।* 'हिसि हिंसायाम्' रुधादिः, 'श्नान्नलोपः', 'श्नसो[illegible]पः' ।

न्यासः

यश्चित्प्रत्ययस्तस्योदात्तत्वं वक्तव्यम् । मा हि कार्षमिति । पक्षे स[illegible]त्तत्वं पदं मा भूदित्येवमर्थमिदम् । पक्षे तूदात्तत्वेन मुक्ते सर्वानुदात्तमेव पदं भू[illegible]

स्वपादिर्हिंसामच्यनिटि ॥ सार्वधातुकग्रहणमित्यादि । 'अ[illegible]त्येतत् सप्तम्यन्तं लसार्वधातुकस्य समानाधिकरणं विशेषणम्, न च प्रथमान्त[illegible]म्यन्तेन सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । तस्माद् 'अचि' इत्यनेन सम्बन्धाद् वि[illegible]शेष्यलक्षणात्लसार्वधातुकग्रहणादित्याह—सप्तम्यन्तमुपजायते । स्वपादिरा वृ[illegible]दिति । यद्यप्येत देवम्, तथापि 'ञिष्वप् शये,' 'श्वस प्राणने,' 'अन च' इत्येत[illegible]ये, ते इह स्वपादिग्रहणेन गृह्यन्ते । परेऽपि ये जक्षित्यादयोऽभ्यस्तसंज्ञाः, तेषु पर[illegible]अभ्यस्तानामादिः' इत्यनेन नित्यमाद्युदात्तत्वं भवति । हिंसन्तीति । 'तृह हि[illegible]याम्', रुधादित्वाच् श्नम्,

ङित्यजादावयं विधिरिष्यते । इह न भवति—स्वपानि । हिनसानि ॥

अभ्यस्तानामादिः ॥ १८९ ॥

अभ्यस्तानामजादावनिटि लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति । ददति, ददतु । दधति, दधतु । जक्षति, जक्षतु । जाग्रति, जाग्रतु ।

अचीत्येव—दद्यात् । अनिटीत्येव—जक्षितः । 'आदिः' इति वर्तमाने पुनरादिग्रहणं नित्यार्थम् ॥

अनुदात्ते च ॥ १९० ॥

अविद्यमानोदात्ते च लसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तानामादिरुदात्तो

पदमञ्जरी

अभ्यस्तानामादिः ॥ *आदिरिति वर्त्तमान इति* । 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' इत्यतः । *पुनरादिग्रहणं नित्यार्थमिति* । अन्यथा आदिग्रहणसम्बद्धमन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्तेत ॥

अनुदात्ते च ॥ अनजाद्यर्थमिदम् । *जिहीते, मिमीत इति* । 'ई हल्यघोः', ङित्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् । 'अविद्यमानोदात्ते' इति वदता 'अनुदात्त

न्यासः

'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः, 'श्नान्नलोपः' इति परस्य नकारस्य । स्वप्यादिति । लिङ्, अदादित्वाच्छपो लुक् । स्वपित इति । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीट् ॥

अभ्यस्तानामादिः ॥ प्रत्ययस्वरेण प्राप्ते तदपवादोऽभ्यस्तानां धातूनामादेर्विधीयते । दधतीत्यादौ 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपः, 'उभे अभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । जक्षति, जाग्रतीति । अत्रापि 'जक्षित्यादयः षट्' इति सर्वत्र 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । जक्षित इति । पूर्ववदिट् । अथादिग्रहणं किमर्थम्, यावता 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' इत्यत आदिरित्यनुवर्त्तते ? इत्यत आह—आदिरिति वर्तमान इत्यादि । पूर्वकं ह्यादिग्रहणमन्यतरस्यांग्रहणेन सम्बद्धम्, अतस्तदनुवृत्तौ तस्याप्यनुवृत्तिः स्यात् । तस्मान्नित्यार्थं पुनरादिग्रहणं क्रियते ।

अनुदात्ते च ॥ अनजाद्यर्थमिदम् । अजादौ त्वनुदात्ते पूर्वेणैव सिद्धम् । जिहीते, मिमीत इति । अत्र 'तास्यनुदात्तेत्' इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वम् । 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्येत्त्वम् ।

'अनुदात्ते' इति शास्त्रीयस्यानुदात्तस्यायं निर्देश इति—कस्यचिद् भ्रान्तिः स्यात्, अतस्तन्निरासार्थमाह—अनुदात्त इति बहुव्रीहिनिर्देश इति । अविद्यमानमुदात्तमस्मिन्नित्य-

भवति। अनजाद्यर्थ आरम्भः । ददाति । जहाति । दधाति । जिहीते । मिमीते ।

अनुदात्त इति बहुव्रीहिनिर्देशो लोपयणादेशार्थः । मा हि स्म दधात् । दधात्यत्र ॥

सर्वस्य सुपि ॥ १६१ ॥

सर्वशब्दस्य सुपि परत आदिरुदात्तो भवति । सर्वः, सर्वौ, सर्वे । सुपीति किम् ? सर्वतरः । सर्वतमः ।

❀ प्रत्ययलक्षणेनाप्ययं स्वर इष्यते सर्वस्तोम इति ❀ । ❀ सर्वस्वरोऽनच्कस्येति वक्तव्यम् ❀ । सर्वकः । चित्स्वरेणान्तोदात्तो भवति ॥

पदमञ्जरी

इति बहुव्रीहिनिर्देशोऽयम्' इत्युक्तम् । तत्र प्रयोजनमाह–*अनुदात्त इति । बहुव्रीहिनिर्देश इत्यादि* । न विद्यते उदात्तो यस्मिन्नित्यनुदात्तः । *मा हि स्म दधादिति* । शास्त्रीयेऽनुदात्ते गृह्यमाणे नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाद्वा इकारलोपे कृतेऽचोऽनुदात्तस्य परस्याभावादाद्युदात्तत्वं न स्यात्, बहुव्रीहौ विज्ञाते तु भवति । *दधात्यत्रेति* । अत्र यणादेशस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वादपि स्वरः सिद्धः ॥

सर्वस्य सुपि ॥ सर्वशब्द उणादिषु अन्तोदात्तो निपातितः, सर्वस्य विकारः सार्व इत्यनुदात्तादिलक्षणोऽञ् यथा स्यादिति ।

प्रत्ययलक्षणेनापीत्यादि । 'न लुमताङ्गस्य' इत्यत्रैतदुपपादितम् । *सर्वस्वरोऽनकच्कस्येति* ।

न्यासः

नुदात्तम् । किमर्थं पुनर्बहुव्रीहिनिर्देशः ? इत्याह—**लोपयणादेशार्थ इति** । लोपयणादेशयोः कृतयोरप्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् । **मा हि स्म दधात्** । **दधात्यत्रेति** । स्मशब्दस्य प्रयोगः स्मोत्तरे लङ् यथा स्यात् । अत्र यदि शास्त्रीयस्यायं निर्देशः स्यात्, 'इतश्च' इतीकारलोपे कृते यणादेशे चोदात्तं न स्यात्; शास्त्रीयस्यानुदात्तस्याभावात् । बहुव्रीहिनिर्देशे चात्रापि भवति; उदात्तस्येहाविद्यमानत्वात् ॥

सर्वस्य सुपि ॥ 'इण्शीभ्यां वन्' इति प्रकृत्य 'सर्वनीघृष्वरिष्वलष्वशिवपट्वप्रेष्वा अस्वतन्त्रे' इति सर्वशब्दोऽन्तोदात्तो निपातितः । तेन तस्य सुप्याद्युदात्तत्वं विधीयते । अन्तोदात्तत्वनिपातनं तु सर्वस्य विकारः सार्व इत्यत्र 'अनुदात्तादेरञ्' यथा स्यात् ।

प्रत्ययलक्षणेनापीत्यादि । कथं पुनरिष्यमाणोऽपि लभ्यते, यावता सर्वस्तोम इत्यत्र 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति लुमता लुप्तम्, ततश्च 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधेन भवितव्यम् ? नैष दोषः; पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, स च समुच्चयार्थः ।

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति ॥ १९२ ॥

भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ—इत्येतेषामभ्यस्तानां लसार्वधातुके पिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति। बिभेति। जिह्रेति। बिभर्ति। जुहोति। ममत्तु नः परिज्मा। मदेः 'बहुलं

पदमञ्जरी

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति ॥ आद्युदात्तस्यापवादोऽयम्। *जागरामिति* सौत्रो निर्देशः। अत्र मदिर्दिवादिः, दरिद्राजाग्रावदादी, अन्ये जुहोत्यादयः। *पञ्चमे लकार इति*। लस्येत्यत्र दर्शितक्रमे पञ्चमकलकारो लेट्। लेट्शब्दस्तु वृत्तिकारदेशे जुगुप्सितः, यथाऽत्र द्रविडदेशे नीवीशब्दः। *दधनदिति*। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु', 'लेटोऽडाटौ' इत्यट्। *दरिद्रतीति*। अत्र परत्वादाकारलोपे कृते इकारस्योदात्तत्वप्रसङ्गः।

अथ प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्, यावता भ्यादिभ्यः परः पित्प्रत्यय एव सम्भवति, ननु चायमस्ति—'आडुत्तमस्य पिच्च', बिभयानि, अत्रापि लोडुत्तमस्यैव पित्त्वं विधीयते, न त्वाट इति, आटसहितो लोडुत्तमः पिद्भवति स च प्रत्यय एव। अत एव लोडादेशात्पितः पूर्वमाड् भवति, प्रत्ययात्तु पूर्वो न भवति, आटसहितस्याप्रत्ययत्वादिति तन्निवृत्त्यर्थं प्रत्ययग्रहणमिति—न वाच्यम्, कथम्? यथैव प्रत्ययत्वमाट्सहितस्य, तथा पित्त्वमपि तस्यैव? इदं तर्हि प्रयोजनम्—प्रत्ययात्पूर्वस्याच उदात्तत्वं यथा स्यात्सङ्घातस्य मा भूदिति, एतदेव ज्ञापकम्—स्वरविधौ सङ्घातः कार्यीति, तेन 'तास्यनुदात्तेत्' इति निघातः 'पचमानः' इत्यादौ चित्स्वरं परत्वाद्बाधत इति यदुक्तं तदुपपन्नं भवति। अथ पूर्वग्रहणं किमर्थम्, प्रत्यये पितीति वक्तव्यम्, तत्र 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति पूर्वस्यैव भविष्यति? इदं तर्हि प्रयोजनम्—पिति पूर्वं कार्यभाग्यथा स्यात्, पिदन्तं मा भूदिति। कथं पुनः सप्तमीनिर्देशे तदन्तस्य प्रसङ्गः? एतदेव ज्ञापयति—स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्य इति। किं सिद्धं भवति? उपोत्तमं

न्यासः

तेन प्रतिषेधविषयेऽप्येष स्वरो भविष्यति। सर्वस्वरोऽनकच्कस्येत्यादि। योऽयं सर्वशब्दस्य स्वरो विधीयते स तस्याविद्यमानाकच्कस्य भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। तत्रेदं व्याख्यानम्—'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' इत्यतोऽन्यतरस्यांग्रहणमिह मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेनानकच्कस्य भवति ॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति ॥ 'अनुदात्ते च' इत्याद्युदात्ते प्राप्ते प्रत्ययात् पूर्वस्य भीह्रीप्रभृतीनामुदात्तो विधीयते। बिभेति, जिह्रेतीति। 'ञिभी भये', 'ह्री लज्जायाम्'। बिभर्त्तीति। बिभर्तेः पूर्ववदभ्यासस्येत्त्वम्। ममत्विति। 'मदी

छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः। जजनमिन्द्रम्। 'जन जनने' इत्यस्य पञ्चमे लकारे रूपम्। 'धन धान्ये' इत्यस्य पञ्चमे लकारे—दधनत्। दरिद्रति। जागर्ति।

भ्यादीनामिति किम्? ददाति। पितीति किम्? दरिद्रति॥

लिति॥ १९३॥

लिति=लकारेत्संज्ञके प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति। चिकीर्षकः। जिहीर्षकः। भौरिकिविधम्। भौलिकिविधम्। ऐषुकारिभक्तम्॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्॥ १९४॥

पदमञ्जरी

रिति', रित्प्रत्ययान्ते उपोत्तममुदात्तं भवति, न तु रिति परतः पूर्वस्य; 'चङ्यन्यतरस्याम्' चङन्तस्य। यद्येवम्, 'चतुरः शसि' इति शसन्तस्य प्राप्नोति, शस्ग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति। यदि हि 'चतुरः शसि' इत्यनेन शस उदात्तत्वमिष्टं स्यात्, ततः 'ऊडिदम्' इत्यस्यानन्तरम् 'चतुरश्च' इति ब्रूयात्, तत्रासर्वनामस्थानग्रहणानुवृत्त्या 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' इति हलादेरुदात्तत्वविधानाच्च शस एव भविष्यति॥

लिति॥ प्रत्ययात्पूर्वमिति वर्त्तते, तेन लिदन्ते स्वरप्रसङ्गो न चोदनीयः॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्॥ *लोलूयंलोलूयमिति*। एकाच्सु धातुषु लित्स्वरस्य,

न्यासः

हर्षे', लोट्, 'एरुः', दिवादित्वाच्छ्यन्, तस्य श्लुः। जजनमिन्द्रमिति। जनेर्लेट्, तस्य मिप्, 'इतश्च' इत्यादिनेकारलोपः, 'लेटोऽडाटौ' इत्यट्, जुहोत्यादित्वाच्छपः श्लुः, द्विर्वचनम्। क्वचित्—जजनदिति पठ्यते, तत् तिबन्तमेव वेदितव्यम्। दधनदिति। एतदपि पञ्चमे लकारे तिपि रूपम्। पूर्ववदडादिकार्यं विधेयम्। दरिद्रतीति। पूर्ववज्झेरदादेशो विधीयते, पूर्ववच्चाकारलोपः॥

लिति॥ **लकारेत्संज्ञक इति**। लकार इत्संज्ञको यस्य स तथोक्तः। **चिकीर्षक इति**। सन्नन्ताण्ण्वुल्। तत्र 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे कृते ण्वुलः पूर्वस्येकारस्योदात्तत्वम्। **भौरिकिविधमिति**। 'भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ' इति विधल्प्रत्ययः। भौरिकिर्विषयो देश इति। **ऐषुकारिभक्तमिति**। ऐषुकारिर्विषयो देश इति। पूर्वसूत्रेणैव भक्तल् प्रत्ययः॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्॥ लित्स्वरे प्राप्ते णमुलि परत आद्युदात्तत्वं विकल्पेन विधीयते। तेन मुक्ते पक्षे लित्स्वरोऽपि भवत्येव। अनेकाचश्च धातवो विकल्पं

णमुलि परतोऽन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति । लोलूयंलोलूयम् । पोपूयंपोपूयम्[1] । आम्रेडितानुदात्तत्वे कृते पूर्वो लोलूयंशब्द एकत्राद्युदात्तः, अपरत्र लित्स्वरेण मध्योदात्तः ॥

अचः कर्तृयकि ॥ १९५ ॥

'उपदेशे' इति वर्तते । अजन्ता ये उपदेशे धातवस्तेषां कर्तृयकि अन्यतरस्यामादिरुदात्तो भवति । लूयते केदारः स्वयमेव । स्तीर्यते केदारः स्वयमेव । यदाऽऽद्युदात्तत्वं न भवति, तदा लसार्वधातुकनिघाते कृते अदुपदेशभक्तयक एव स्वरो भवति ।

जनादीनामुपदेश एवात्वं द्रष्टव्यम्, तत्राप्ययं स्वर इष्यते ।

पदमञ्जरी

अस्य च विशेषाभावादनेकाजुदाहृतः । *आम्रेडितानुदात्तत्वे कृत इति* । 'अनुदात्तं च' इत्यनेन ॥

अचः कर्तृयकि ॥ कर्तृवाचिनि सार्वधातुके विहितो यक् कर्तृयक् । *उपदेश इति वर्त्तत इति* । 'अदुपदेशात्' इत्यत्र यदुपदेशग्रहणं तदुपसमस्तमपि स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिह सम्बद्ध्यते, तच्चार्थात्सप्तम्यन्तं सम्पद्यत इति मत्वोक्तम्, न तु सप्तम्यन्तमुपदेशग्रहणं प्रकृतमस्ति । यदि तूपदेशग्रहणं नानुवर्त्तेत, कार्यत इत्यादौ रपरत्वे सति न स्यात्, तस्मादुपदेश इत्यनुवर्त्त्यम् ।

यद्येवम्, जायते स्वयमेवेत्यादौ न स्यात्, 'ये विभाषा' इत्यात्वे सत्युत्तर-

न्यासः

प्रयोजयन्तीति । ये त्वेकाचस्तेषां लित्स्वरेणानेन वा विशेषो नास्ति । **लोलूयंलोलूयम्, पोपूयम्पोपूयमिति** । यदन्ताण्णमुल्, तस्य 'आभीक्ष्णे द्वे भवतः' इति द्विर्वचनम् । 'अनुदात्तं च' इत्याम्रेडितस्यानुदात्तत्वम् ।

अचः कर्तृयकि ॥ **कर्तृयकीति** । सार्वधातुकं कर्तृशब्देनोक्तम् । अभिधानेऽभिधेयोपचारात् । तत्र यः कर्त्तरि यक् स कर्तृयक्, 'सप्तमी' इति योगविभागात् समासः । **लूयते केदारः स्वयमेवेति** । लुनाति केदारं देवदत्तः, केदारो लवनक्रियया व्याप्तुमिष्टतमत्वात् कर्म । यदा तु सौकर्य्यात् तस्यैव कर्तृत्वं विवक्ष्यते तदासौ कर्त्ता भवति; 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इत्यतिदेशात् यगात्मनेपदञ्च । **स्तीर्य्यत इति** । 'स्तॄ आच्छादने', 'ॠत इद्धातोः', 'हलि च' इति दीर्घः । **लसार्वधातुकनिघाते कृत इति** । **अदुपदेशभक्तयक एव स्वरो भवतीति** । प्रत्ययलक्षणः ।

अथेह कथं भवति—जायते स्वयमेव, सायते स्वयमेव, खायते स्वयमेवेति, यावता 'ये विभाषा' इत्यात्वे कृते सत्युत्तरकालं जनादयोऽजन्ता भवन्ति, न तूपदेशः ?

---

[1] मुद्रितपुस्तकेऽयं प्रयोगो नास्ति ।

जायते स्वयमेव । सायते स्वयमेव । खायते स्वयमेव ।

अच इति किम् ? भिद्यते स्वयमेव । कर्तृग्रहणं किम् ? लूयते केदारो देवदत्तेन ॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥ १९६ ॥

सेटि थलि इट् वा उदात्तो भवति अन्तो वा आदिर्वाऽन्यतरस्याम् । लुलविथ । यदा नैते त्रयः स्वराः, तदा 'लिति' प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति । तेनैते चत्वारः स्वराः पर्यायेण भवन्ति ।

सेटीति किम् ? ययाथ । 'लिति' प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तम्—इत्ययमेवात्र स्वरो भवति ॥

पदमञ्जरी

कालमजन्ता जनादयः, न तूपदेशे ? इत्यत आह—*जनादीनामिति* । 'ये विभाषा' इत्यत्र 'अनुदात्तोपदेशे' इत्यत उपदेशग्रहणमनुवर्तते, सा च विषयसप्तमीति उपदेश एव जनादीनामात्वं भवति । *जायते स्वयमेवेति* । अन्तर्भावितण्यर्थो जनिः कर्मकर्तृविषयः । दृश्यते चान्तर्भावितण्यर्थस्य प्रयोगः, यथा—एकं द्वादशधा जज्ञे इति ॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥ 'अन्यतरस्याम्' इति वर्तमाने वाग्रहणं कार्यिविकल्पार्थम् । अन्यतरस्यांग्रहणेन कार्यं विकल्प्यते, वाग्रहणेन कार्यिणः । तेनेडादयः पर्यायेण कार्यं प्रतिपद्यन्ते । ननु च 'अन्तश्च तवै युगपत्' इत्यादौ युगपद्ग्रहणादेवान्यत्र पर्यायः सिद्धः ? सत्यम्; अदेरपि प्राप्ते वाग्रहणम्; अन्यथा श्रुतयोरिडन्तयोरेव कार्यित्वं विकल्पेत, वाग्रहणे तु सति यद्येवं विकल्पोऽर्थः, अथापि समुच्चयः, सर्वथादेरपि भवति ।

सेटीति किमिति । इड्ग्रहणादेव थल् सेट् ग्रहीष्यत इति प्रश्नः । *ययाथेति* । अयमभिप्रायः—इड्ग्रहणं यदेडागमः क्रियते तदा तस्योदात्तार्थं स्यात्, ततश्च यथा लुलविथेत्यादौ चतुर्णां पर्यायेणोदात्तविधाने ययिथेत्यादौ चतुर्थाभावेऽपि पर्यायेणोदात्तत्रयं भवति, एवमिडभावेऽपि स्यादिति ॥

न्यासः

इत्याह—जनादीनामित्यादि । जनादीनां ह्यात्वविधावनुदात्तोपदेशग्रहणमनुवर्त्तते । तेन तेषामुपदेश एवात्त्वं द्रष्टव्यम् । जायते स्वयमेवेति । कथं पुनरकर्मकर्त्ता, यावता जनिरकर्मकः ? अन्तर्भावितण्यर्थः सकर्मको भवतीत्यदोषः ।

लूयते केदारो देवदत्तेनेति । अत्र शुद्धकर्मण्यात्मनेपदविधानात् कर्तृयग्न भवति ॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥ 'अन्यतरस्याम्' इत्यनुवर्त्तमाने वाग्रहणं कार्यिणो विकल्पार्थम् । अन्यतरस्यांग्रहणेन कार्यं विकल्प्यते, वाग्रहणेन तु कार्यिणः । तेनेडादयः पर्यायेण कार्यं प्रतिपद्यन्ते । लुलविथेति । क्रादिनियमादिट् । ययाथेति । 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' इतीटो वा प्रतिषेधः ॥

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥ १९७ ॥

ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति । 'गर्गादिभ्यो यञ्', गार्ग्यः । वात्स्यः । 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'—वासुदेवकः, अर्जुनकः । प्रत्ययस्वरापवादोऽयं योगः ।

प्रत्ययलक्षणमत्र नेष्यते, तेन गर्गाः, बिदाः, चञ्चाः— इत्यत्र यञि कनि च लुप्ते न भवति ॥

आमन्त्रितस्य च ॥ १९८ ॥

आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति । देवदत्त ! देवदत्तौ, देवदत्ताः । अत्र 'कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि' इति प्राप्तिर्बाध्यते ।

पदमञ्जरी

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥ प्रत्ययस्वरापवाद इति । बाहुल्यादेवमुक्तम् । 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' इति, अत्र हि वाक्यार्थे पदवचनमित्यत्र पक्षे न प्रत्ययस्वरप्रसङ्गः ।

प्रत्ययलक्षणमत्र नेष्यत इति । ननु च 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रतिषेधादेव प्रत्ययलक्षणं न करिष्यते, किमुच्यते—प्रत्ययलक्षणमत्र नेष्यत इति ? एवमन्यतो ज्ञापितमेतत्—'स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः' इति । ततश्च यथा पूर्वसूत्रे थलन्तं कार्यि; तथात्रापि ञिनदन्तं कार्यि, न तु ततः पूर्वमङ्गमित्यनङ्गकार्यत्वात्प्रतिषेधो न सिद्ध्यतीति । *यञि कनि चेति ।* चकाराद्बिदाद्यञि च ॥

आमन्त्रितस्य च ॥ अत्र 'कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि' इति प्राप्तिः प्रतिषि-.

न्यासः

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥ वासुदेवक इति । वासुदेवो भक्तिरस्येत्यर्थे वुन् ।

अथेह गर्गा, बिदा इति 'यञञोश्च' इति बहुषु लुकि कृते, चञ्चेव चञ्चेत्यत्र च 'इवे प्रतिकृतौ' इत्युत्पन्नस्य कनः 'लुम् मनुष्ये' इति लुपि कृते कस्मान्न भवति, लुप्तेऽपि प्रत्यये 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इत्यस्ति प्राप्तिः ? इत्यत आह—प्रत्ययलक्षणमत्र नेष्यत इति । तत् कथं पुनरिष्यमाणो न भवति ? 'संज्ञायामुपमानम्' इत्यत्र वक्ष्यमाणाज्ज्ञापकात् । अथ वा—'न लुमताङ्गस्य' इत्यनेन यन्नाम किञ्चिदङ्गस्य कार्यमङ्गाधिकारे विहितमेव, तेन प्रतिषेधादिह प्रत्ययलक्षणं स्वरकार्यं न भविष्यति । एवमुत्तरत्रापि प्रत्ययलक्षणाभावो वेदितव्यः । यञि कनि च लुप्त इति । चकाराद् बिदाद्यञि च ॥

आमन्त्रितस्य च ॥ देवदत्तेति । ददातेः 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इत्याशिषि क्तः, 'दो दद् घोः' इति धातोर्ददादेशः । दत्तशब्दस्य देवशब्देन 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः । सर्पिरागच्छेति । 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति विभक्तेर्लुक् । **सप्तागच्छतेति** । अत्रापि 'षड्भ्यो लुक्' इति च ॥

लुमतापि लुप्ते प्रत्ययलक्षणमत्रेष्यते । सर्पिरागच्छ, सप्तागच्छतेति ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥ १६६ ॥

पथिमथिशब्दावौणादिकाविनिप्रत्ययान्तौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ, तयोः सर्वनामस्थाने परत आदिरुदात्तो भवति । पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः । मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः ।

सर्वनामस्थान इति किम् ? पथः पश्य । मथः पश्य । उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तो भवति । प्रत्ययलक्षणमत्रापि नेष्यते ।

पथिप्रियः—इत्यत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः पथिशब्दः ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥ २०० ॥

पदमञ्जरी

द्ध्यते, शेषनिघातेन बाध्यत इत्यर्थः । *प्रत्ययलक्षणमत्रेष्यत इति* । षष्ठीनिर्देशेन तत्कार्यस्य स्पष्टत्वात् । *सर्पिरिति* । सृपेरिसि सर्पिःशब्दोऽन्तोदात्तः, 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुक् । *सप्तशब्दो* घृतादित्वादन्तोदात्तः, 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुक् ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥ पथिमथिशब्दावित्यादि । 'गमेरिनिः', 'पुषः कित्', 'मन्थः', 'पतेस्थ च' इतीनिप्रत्ययः, मन्थः कित्त्वादुपधालोपः—पन्थाः, *मन्था इति* । 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्यादिकार्यम् ।

पथः पश्येति । भस्य टेर्लोपः । प्रत्ययलक्षणमत्रापि नेष्यते । अतिप्रसङ्गस्तु पूर्ववत् ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥ कर्त्तवै इति । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति तवै-

न्यासः

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥ पथिमथिशब्दावित्यादि । 'गमेरिनिः' इत्यत इनिप्रत्यये वर्त्तमाने 'मन्थ' इतीनिप्रत्ययः, अतो मथिन्शब्दो व्युत्पाद्यते, 'परमे कित्' इत्यतः किद्ग्रहणानुवृत्तेर्मन्थेरनुनासिकलोपः । 'पतस्थ च' इति पथिन्शब्दोऽपीनिप्रत्ययान्त इति तेनेतौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ । **पन्था इति** । 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्याकारान्तादेशः, 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' इतीकारस्यात्त्वम्, 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशः ।

पथः पश्येति । 'भस्य टेर्लोपः' इति टिलोपः । तत्र कृते 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । **पथिप्रिय इति** । पन्थाः प्रियो यस्येति बहुव्रीहिः । 'वा प्रियस्य' इति प्रियशब्दस्य पक्षे परनिपातः ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥ कर्तवा इति । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति तवैप्रत्ययः ।

तवैप्रत्ययान्तस्यान्तः, चशब्दादादिश्च युगपदुदात्तौ भवतः । कर्त्तवै । हर्तवै । प्रत्ययाद्युदात्तत्वापवादः ।

युगपद्ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम् । 'एकवर्जम्' इति वचनाद्यौगपद्यं न स्यात् ॥

क्षयो निवासे ॥ २०१ ॥

क्षयशब्दो निवासेऽभिधेये आद्युदात्तो भवति । क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः, 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययान्तस्य प्रत्ययस्वरः प्राप्तः । क्षये जागृहि प्रपश्यन् ।

निवास इति किम् ? क्षयो वर्तते दस्यूनाम् । 'एरच्' इत्ययमजन्तः ॥

जयः करणम् ॥ २०२ ॥

जयशब्दः करणवाची आद्युदात्तो भवति । जयन्ति तेनेति जयः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घः, तस्य प्रत्ययस्वरः प्राप्तः । जयोऽश्वः ।

करणमिति किम् ? जयो वर्तते ब्राह्मणानाम् । अत्रापि 'एरच्' इत्ययमजन्तः ॥

वृषादीनां च ॥ २०३ ॥

'वृष' इत्येवमादीनामादिरुदात्तो भवति । वृषः । जनः । ज्वरः ।

पदमञ्जरी

प्रत्ययः । किं पुनः कारणं पर्यायनिवृत्तये यत्नः क्रियते ? इत्याह—*एकवर्जमिति हीत्यादि* ॥

क्षयो निवासे ॥ 'क्षि निवासगत्योः'—इत्यस्माद् अधिकरणे घः । *क्षयो दस्यूनामिति* । क्षयेरच्, कर्त्तरि षष्ठी ॥

वृषादीनां च ॥ 'वृषु सेचने', 'जनी प्रादुर्भावे', 'ज्वर रोगे', 'हि गतौ', 'कै

न्यासः

किं पुनः कारणं पर्यायनिवृत्तये यत्नः क्रियते ? इत्याह—एकवर्जमित्यादि ।

क्षयो निवासे ॥ **क्षय इति** । 'क्षि निवासगत्योः' इत्यस्येदं रूपमिति ॥

जयः करणम् ॥ **जय इति** । 'जि ज्रि अभिभवे' इत्यस्य जयते रूपमेतत् ।

जयो ब्राह्मणानामिति । भावे 'एरच्' ॥

वृषादीनाञ्च ॥ **वृषः, जनः, ज्वरः, ग्रहः हयः, गय इति** । 'वृषु मृषु सेचने',

ग्रहः । हयः गयः । सर्वे एते पचाद्यच्प्रत्ययान्ताः । गय इत्यत्र गायतेर्निपातनादेत्वम् ।

नयः । तयः । अयः । अंशः । वेदः । अशः । दवः । एतेऽपि तथैवाच्प्रत्ययान्ताः । सूदः—इगुपधादिति कप्रत्ययान्तः । गुह—भिदादिः, अङ्प्रत्ययान्तः ॥

❀ शमरणौ संज्ञायां सम्मतौ भावकर्मणोः ❀ । शमो भावे रणः कर्मणि अजन्तावेतौ निपातनाद् भावकर्मणोर्भवतः—मन्त्रः पचाद्यजन्तः । शान्तिः—इति क्तिजन्तः । कामः, यामः—घञन्तावेतौ ।

पदमञ्जरी

गै रै शब्दे' । *एते सर्वेऽच्प्रत्ययान्ता इति* । पचादित्वात् । बाहुल्याच्चेदमुक्तम् । वृषः—इत्यत्रेगुपधलक्षणः कः । 'णीञ् प्रापणे', 'तायृ सन्तानपालनयोः' । केचित्तय इति पठन्ति, 'अय पय तय गतौ', क्वचिच्चयशब्दः पठ्यते, स चिनोतेर्द्रष्टव्यः । 'इण् गतौ', अंश समाधाने', 'विद ज्ञाने', 'षूद निरासे', 'दु दाहे' । 'वद व्यक्तायां वाचि', 'अन्न सातत्यगमने' । केचिदेतौ न पठन्ति । 'गुहू संवरणे', 'शम उपशमे', 'अण रण शब्दे' ।

सम्मतौ भावकर्मणोरिति । शमरणाविति वर्त्तते, सम्मतावर्थे शमरणौ भावकर्मणोर्यथाक्रममाद्युदात्तौ भवतः । 'मत्रि गुप्तभाषणे' । *शान्तिरिति* । शमेः क्तिचि 'कमु कान्तौ', 'यमु उपरमे' । केचिद्यमशब्दं न पठन्ति ।

न्यासः

'जनी प्रादुर्भावे', 'ज्वर रोगे', 'ग्रह उपादाने', 'हि गतौ', 'कै गै शब्दे'—सर्वे एतेऽच्प्रत्ययान्ता इति । पचादित्वात् । एतेन चित्स्वरे प्राप्ते पाठ एषामिति दर्शयति ।

नयः, तयः, अयः, अंशः, वेदः, सूदः, अश इति । 'णीञ् प्रापणे', 'तायृ सन्तानपालनयोः' क्वचित् तय इत्यस्य स्थाने चय इति पठ्यते, स चिनोतेर्द्रष्टव्यः । 'इण् गतौ' । अथ वा—अय वय मय चय इत्यादेः । 'अंश समाधाने', 'विद ज्ञाने', 'षूद क्षरणे', 'अश भोजने' । सूद इगुपधेति कप्रत्ययान्त इति । एतेऽपीति यदुक्तम्, तस्यायमपवादः । गुहेति । 'गुहू संवरणे' ।

शमरणौ संज्ञायामिति । 'शमु उपशमे', 'अण रण' इति शब्दार्थः । संज्ञाया अन्यत्रान्तोदात्तावेव भवतः । सम्मतौ भावकर्मणोरिति । शमरणाविति वर्त्तते । सम्मतावर्थे विवक्षिते शमरणौ भावकर्मणोर्यथाक्रममाद्युदात्तौ भवतः । मन्त्र इति । 'मत्रि गुप्तभाषणे' । केचित्तु—संमतौ भावकर्मणोर्मन्त्र इति पठन्ति । तस्य मन्त्रे विषयीभूत इत्येषोऽर्थो वेदितव्यः । शान्तिरिति । 'शमु उपशमे', 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' इति क्तिच् । कामः, याम इति । 'कमु कान्तौ', 'यम उपरमे' । घञन्ताविति । 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' इत्येतस्मिन् प्राप्तेऽस्य पाठः ।

आरा, धारा, कारा–भिदादयः। वहः–गोचरादिषु घप्रत्ययान्तः। कल्पः–अजन्तः। पादः–घञन्तः। तत्र क्वचित्प्रत्ययस्वरः प्राप्तः, क्वचित् 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' इति। वृषादिराकृतिगणः। अविहितमाद्युदात्तत्वं वृषादिषु द्रष्टव्यम् ॥

संज्ञायामुपमानम् ॥ २०४ ॥

उपमानशब्दः संज्ञायामाद्युदात्तो भवति। चञ्चा। वध्रिका। खरकुटी। दासी। उपमानशब्दा एते उपमेयस्य संज्ञाः। तत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इति यः कन् तस्य 'लुम्मनुष्ये' इति लुप्।

यद्येवम्, किमर्थमिदमुच्यते, प्रत्ययलक्षणेन सिद्धमाद्युदात्तत्वम्? एतदेव ज्ञापयति—क्वचिदिह स्वरविधौ प्रत्ययलक्षणं न भवतीति। तथा च पूर्वत्रोदाहृतम्।

संज्ञायामिति किम्? अग्निर्माणवकः। उपमानमिति किम्? देवदत्तः॥

पदमञ्जरी

'ऋ शब्दे गतौ', 'धृञ् धारणे', 'कॄ विक्षेपे', भिदादिषु निपातनाद्वृद्धिः। 'वह प्रापणे', 'कृपू सामर्थ्ये', 'पद गतौ'॥

संज्ञायामुपमानम्॥ यद्येवमिति। यद्यत्र कनो लुबित्यर्थः। *एतदेवेत्यादि*। ज्ञापकाभावे तु सप्तमीनिर्देशेऽपि प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो न स्यात्, 'स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः' इति ज्ञापनेन तदन्तस्य कार्यित्वात्। *क्वचिदिति*। वचनात्क्वचिद्भवत्येव, यथा—'सर्वस्य सुपि' इत्यत्र॥

न्यासः

कल्प इति। 'कृपू सामर्थ्ये'। पाद इति। 'पद गतौ'। वृषादिराकृतिगण इति। तदेव चाकृतिगणत्वं ज्ञापयितुं चकारः कृतः॥

संज्ञायामुपमानम्॥ यद्येवमिति। यदि कनो लुबित्यर्थः, कनोऽपि लुपि सत्यपि प्रत्ययलक्षणेनैव सिद्धमेषां हि नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्, तदपार्थकमित्यभिप्रायः। **एतदेवेत्यादि**। यदि हि क्वचित् स्वरविधौ प्रत्ययलक्षणं स्यात्, कर्त्तव्यमेवेदं वचनं स्यात्। प्रत्ययलक्षणेन सिद्धत्वात्, कृतञ्च। तस्मादेतज्ज्ञापयति–प्रत्ययलक्षणमिह स्वरविधौ न भवतीति। क्वचिद्ग्रहणं क्वचित्तु भवतीति प्रदर्शनार्थम्, तथा हि 'सर्वस्य सुपि' इत्यत्रोक्तम्—प्रत्ययलक्षणेनाप्ययं स्वर इष्यत इति। तथा चेत्यादिना ज्ञापनस्य प्रयोजनमाह।

अग्निर्माणवक इति। भवत्यग्निशब्द उपमानम्। तथा ह्यग्निरिवेति गम्यते, नासौ माणवकस्य संज्ञा॥

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥ २०५ ॥

निष्ठान्तं च द्व्यच् संज्ञायां विषये आद्युदात्तं भवति स चेदादिराकारो न भवति । दत्तः । गुप्तः । बुद्धः । प्रत्ययस्वरापवादः ।

निष्ठेति किम् ? देवः । भीमः । द्व्यजिति किम् ? चिन्तितः । रक्षितः । अनादिति किम् ? त्रातः । आप्तः । संज्ञायामिति किम् ? कृतम् । हृतम् ॥

शुष्कधृष्टौ ॥ २०६ ॥

'आदिरुदात्तः' इति वर्तते । शुष्क, धृष्ट—इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः । शुष्कः । धृष्टः ।

असंज्ञार्थ आरम्भः ॥

आशितः कर्ता ॥ २०७ ॥

आशितशब्दः कर्तृवाची आद्युदात्तो भवति । आशितो देवदत्तः ।

पदमञ्जरी

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥ इहाद्यात्तः अद्यात्त इत्येकादेशस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाद् 'अनात्' इति प्रतिषेधाभावः । भीष्मशब्दः 'भियः षुक्च' इति मन्प्रत्ययान्तः ।

चिन्तित इति । 'चिति स्मृत्याम्' चुरादिः ॥

आशितः कर्त्ता ॥ *अशेरिति* । 'अश भोजने' इत्यस्मात् । *आङ्पूर्वादविवक्षिते कर्मणीति* । उक्तं हि—'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति । *कर्तरि क्त इति* । 'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना । *भाष्ये तु* 'कर्त्तरि क्तो निपात्यते' इति स्थितम् । यदि तर्ह्याङ्पूर्वकस्याशेराशित इति रूपम्, अवग्रहः प्राप्नोति, तस्मात्

न्यासः

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥ गुप्त इति । 'गुपू रक्षणे' । बुद्ध इति । 'बुध अवगमने' ।

देव इति । देवशब्दः पचाद्यजन्तत्वादन्तोदात्तः । भीमशब्दोऽपि मगन्तत्वात् प्रत्ययस्वरेण । 'इषियुधि' इत्याद्यधिकृत्य 'भियः षुग्वा' इति मक्प्रत्ययान्तो व्युत्पाद्यते । चिन्तित इति । 'चिति स्मृत्याम्', चौरादिकः, 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः । रक्षित इति । 'रक्ष पालने' । त्रातः, आप्त इति । 'त्रैङ् पालने', 'आप्लृ व्याप्तौ' ॥

शुष्कधृष्टौ ॥ शुष्क इति । 'शुष शोषणे', 'शुषः कः' इति क्तस्य कादेशः । धृष्ट इति । 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये', ष्टुत्वम् । कत्वष्टुत्वयोरसिद्धत्वादिह निष्ठान्तत्वं वेदितव्यम् ।

असंज्ञार्थ आरम्भ इति । संज्ञायां पूर्वेणैव सिद्धत्वात् ॥

आशितः कर्त्ता ॥ आशेरिति । 'अश भोजने' इत्यस्मात् कर्त्तरि क्तो निपात्यते ।

अशेरयमाङ्पूर्वादविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । तत्र 'थाथघञ्' इति प्राप्तः स्वरो बाध्यते ।

कर्तरीति किम् ? आशितमन्नम् । आशितं देवदत्तेन । पूर्वत्र कर्मणि क्तः, उत्तरत्र भावे ।।

रिक्ते विभाषा ।। २०८ ।।

रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति । रिक्तः । रिक्तः । संज्ञायाम् 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इत्यनेन पूर्वविप्रतिषेधेन नित्यमाद्युदात्तः ।।

जुष्टार्पिते चच्छन्दसि ।। २०९ ।।

जुष्ट, अर्पित–इत्येते शब्दरूपे छन्दसि विषये विभाषा आद्युदात्ते भवतः । जुष्टः । अर्पितः ।

पदमञ्जरी

'उपधादीर्घत्वमपि निपात्यते' इति *वार्त्तिककारः । वृत्तिकारस्तु*—'संहितापाठ एव नित्यः, पदपाठस्तु पौरुषेयः, ततश्च न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्' इति मन्यते । अपर आह—अशेर्ण्यन्तस्य प्रयोज्यकर्त्तरि 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ' इति कर्मसंज्ञके निष्ठायामाशित इति रूपम्, स एवात्र भूतपूर्वगत्या कर्त्ता विवक्षित इति ।।

रिक्ते विभाषा ।। रिक्त इति । 'रिचिर्विरेचने' । *संज्ञायामित्यादि ।* 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इत्यस्यावकाशः–दत्तः, गुप्तः, अस्यावकाशोऽसंज्ञायाम्—रिक्तो घट इति; संज्ञायामुभयप्रसंगे पूर्वविप्रतिषेधः ।।

जुष्टार्पिते चच्छन्दसि ।। जुष्ट इति । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः', 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इतीट्प्रतिषेधः । *अर्पित इति ।* 'अर्तिह्री' अर्त्तेर्णिच्, अर्त्यादिना पुक् ।।

न्यासः

'गत्यर्थाकर्मक' इत्यादिना । पूर्ववत् कर्मणि क्त इति । 'तयोरेव' इत्यादिना । उत्तरत्र भाव इति । 'नपुंसके भावे क्तः' इति ।।

रिक्ते विभाषा ॥ रिक्त इति । 'रिचिर् विरेचने' । प्रत्ययस्वरे प्राप्त आदेर्विभाषोदात्तत्वं विधीयते । **संज्ञायामित्यादि ।** 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इत्यस्यावकाशः–दत्तः, गुप्त इति, अस्यावकाशोऽसंज्ञायाम्—रिक्तो घट इति; यदा तु रिक्तशब्दः कस्यचित् संज्ञा भवति, तदोभयोः प्राप्तौ पूर्वविप्रतिषेधेन 'निष्ठा च द्व्यजनात्' इति नित्यमाद्युदात्तो भवति । न च पूर्वविप्रतिषेधो वक्तव्यः, परशब्दस्येष्टवाचित्वात् ।।

जुष्टार्पिते चच्छन्दसि ॥ जुष्ट इति । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' । **अर्पित इति ।** अर्त्तेर्णिच्, 'अर्त्तिह्री' इत्यादिना पुक् ।।

छन्दसीति किम् ? भाषायां प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तावेतौ ॥

नित्यं मन्त्रे ॥ २१० ॥

जुष्ट, अर्पित—इत्येते शब्दरूपे मन्त्रविषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः । जुष्टं देवानाम् । अर्पितं पितॄणाम् । पूर्वेणात्र विकल्पः प्राप्तः ।

केचिदत्र 'जुष्ट'—इत्येतदेवानुवर्तयन्ति । अर्पितशब्दस्य विभाषा मन्त्रेऽपीच्छन्ति । अन्तोदात्तोऽपि ह्ययं मन्त्रे पठ्यते—तस्मिन्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता इति ॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥ २११ ॥

युष्मदस्मदी मदिक्प्रत्ययान्तेऽन्तोदात्ते, तयोर्ङसि परत आदिरुदात्तो भवति । तव स्वम् । मम स्वम् ॥

ङयि च ॥ २१२ ॥

पदमञ्जरी

नित्यं मन्त्रे ॥ आरम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे नित्यग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥ 'युष्यसिभ्यां मदिक्', युषिः सौत्रो धातुः । *तव, ममेति* । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्', 'तवममौ ङसि' इति मपर्यन्तस्य तवममादेशः, शेषे लोपः, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वम्, 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इति विभक्तेरुदात्तत्वे प्राप्ते इदमुच्यते ॥

न्यासः

नित्यं मन्त्रे ॥ केचिदत्रेत्यादि । किं पुनः कारणं जुष्टशब्द एवानुवर्त्तयन्ति ? इत्याह—अर्पितशब्दस्येत्यादि । अत्रापि किं कारणम् ? इत्याह—अन्तोदात्तोऽपीत्यादि । तमेवान्तोदात्तस्य पाठमन्त्रं दर्शयितुमाह—तस्मिन् साकं त्रिशतेत्यादि । आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वे सिद्धे नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम्, उत्तरार्थञ्च ॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥ युष्मदस्मदी मदिक्प्रत्ययान्ते इति । 'युष्यसिभ्यां मदिक्' इति मदिक्प्रत्ययमुत्पाद्य तयोर्व्युत्पादनात् । एतेन युष्मदस्मदोः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं दर्शयति । तव, ममेति । 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यशादेशः, 'तवममौ ङसि' इति युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य तवममौ, शेषे लोपे कृते 'अतो गुणे' पररूपत्वम् । युष्मदस्मदोरादेशस्य स्थानिवद्भावादन्तोदात्तत्वम् । एवञ्च यो ह्यशादेशेन सहैकादेशः, सोऽपि 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्त एवेत्यनेन क्रमेण विभक्तिस्वरे प्राप्त इदमुच्यते ॥

'युष्मदस्मदोः' इति वर्तते, 'आदिरुदत्तः' इति च । 'ङे' इत्येतस्मिंश्च परतो युष्मदस्मदोरादिरुदात्तो भवति । तुभ्यम् । मह्यम् ।

पृथग्योगकरणं यथासंख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ॥

यतोऽनावः ॥ २१३ ॥

'निष्ठा च द्व्यजनात्' इत्यतो द्व्यज्ग्रहणमनुवर्त्तते । यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति, न चेन्नौशब्दात्परो भवति । 'अचो यत्'—चेयम्, जेयम् । 'शरीरावयवाद्यत्'—कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यम् । 'तित्स्वरितम्' इत्यस्यापवादः ।

अनाव इति किम् ? नाव्यम् ।

द्व्यच इत्येव—चिकीर्ष्यम् । ललाट्यम् ॥

पदमञ्जरी

ङयि च ॥ *तुभ्यम्, मह्यमिति* । 'ङे प्रथमयोरम्', 'तुभ्यमह्यौ ङयि' ।

अथ किमर्थो योगविभागः, न 'युष्मदस्मदोर्ङेङसोः' इत्येवोच्येत, एवं हि चकारो न कर्त्तव्यो भवति ? अत आह—*पृथग्योगकरणमिति* । आशङ्काग्रहणेनास्वरितत्वादेव यथासंख्यं न भविष्यतीति शक्यं वक्तुमिति दर्शयति । अत्रापि पूर्ववद्विभक्तिस्वरः प्राप्तः ॥

यतोऽनावः ॥ अत्र 'अनावः' इति प्रतिषेधो ज्ञापयति–स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति; अन्यथा य आदिर्नकारो नासौ स्वरयोग्यः, यश्च स्वरयोग्य अकारो नासावादिरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ॥

न्यासः

ङयि च ॥ तुभ्यम् मह्यमिति । 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यम्भावः, 'तुभ्यमह्यौ ङयि' इति युष्मदस्मदोस्तुभ्यमह्यावादेशौ ।

किमर्थं पृथगयं योगः क्रियते ? इत्यत आह—पृथग्योगकरणमित्यादि । एकयोगे हि कार्यिणोः, निमित्तयोश्च समानत्वाद् यथासंख्यमत्र भवितव्यमिति कस्यचिदाशङ्का स्यात् । अतः पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिरासार्थमिति प्रदर्शनार्थम् । ततश्चास्वरितत्वादेव यथासंख्यं न भविष्यति । आशङ्कातः कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्यादिति तन्निरासार्थं पृथग्योगकरणम् । अयमपि पूर्ववदेव विभक्तिस्वरापवादः ॥

यतोऽनावः ॥ कण्ठ्यम्, ओष्ठ्यमिति । भवार्थे तद्धितः । नाव्यमिति । नावा तार्यमित्यस्मिन्नर्थे 'नौवयोधर्म' इत्यादिना यत् । अत्र 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यवादेशे कृते व्यञ्जनस्य स्वरविधावविद्यमानत्वात् ततः पूर्वस्य स्यादिति नावः प्रतिषेधः क्रियते । ललाट्यमिति । 'शरीरावयवाद्यत्' इति यत् ॥

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥ २१४ ॥

ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह्–इत्येतेषां यो ण्यत् तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति। ईड्यम्। वन्द्यम्। वार्यम्। शंस्यम्। दोह्या धेनुः।

द्व्यनुबन्धकत्वाद् ण्यतो यद्ग्रहणेन ग्रहणं नास्तीति 'तित्स्वरितम्' इत्येतत् प्राप्तम्। वार्यमिति––'वृङ् सम्भक्तौ' इत्यस्यायं ण्यत्। क्यब्विधौ हि वृञ एव ग्रहणमिष्यते ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥ २१५ ॥

वेणु, इन्धान—इत्येतयोर्विभाषा आदिरुदात्तो भवति। वेणुः, वेणुः। इन्धानः, इन्धानः।

वेणुशब्दोऽयम् 'अजिवृरीभ्यो नित्' इति णुप्रत्ययान्तो नित्त्वान्नित्यमाद्युदात्तः प्राप्तः।

इन्धानशब्दोऽपि यदा चानशन्तस्तदा चित्त्वादन्तोदात्तः। अथ शानजन्तस्तदा लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कृते उदात्तनिवृत्तिस्वरेण

पदमञ्जरी

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥ 'ईड स्तुतौ', 'वदि अभिवादनस्तुत्योः', 'वृङ् सम्भक्तौ', 'शंसु स्तुतौ', 'दुह प्रपूरणे'। कथं वार्य इत्यत्र ण्यत्, यावता 'एतिस्तुशासु' इत्यादिना विशेषविहितेन क्यपा भाव्यम्? अत आह—*वार्य इत्यादि*। अथ वृञोऽपि क्यबेव कस्मान्न भवति? अत आह—*क्यब्विधौ हीत्यादि*। एतच्च तत्रैव प्रतिपादितम् ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥ णुप्रत्ययान्त इति। 'तिष्ठतेर्णुः' इति तत्रानुवर्तते। *उदात्तनिवृत्तिस्वरेणेति*। 'श्नसोरल्लोपः' इति श्नसोऽकारस्योदात्तस्य लोपात्।

न्यासः

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥ 'ईड स्तुतौ', 'वदि अभिवादनस्तुत्योः', 'वृङ् सम्भक्तौ', 'शंस स्तुतौ', 'दुह प्रपूरणे'—एतेभ्यो धातुभ्यः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् प्रत्ययः। कस्मिन् पुनः प्राप्त इदमारभ्यते? इत्याह—द्व्यनुबन्धकत्वादित्यादि। अथ कथं पुनर्वार्यमित्यत्र ण्यत्प्रत्ययः, यावता 'एतिस्तुशासु' इत्यादिना विशेषविहितेन क्यपा भवितव्यम्? इत्याह—वार्य्यमित्यादि। ननु च वृञोऽपि क्यपैव भवितव्यम्, 'वृ' इति सामान्यनिर्देशात्? इत्याह—क्यब्विधौ हीत्यादि।

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥ णुप्रत्ययान्त इति ॥ तद्विधौ 'स्थो णुः' इत्यतो णुग्रहणानुवृत्तेः। यदि चानशन्त इति। 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' इत्यनेन। अथ शानजन्त इति। 'लटः शतृशानचौ' इत्यादिना। लसार्वधातुकनिघाते कृत इति। 'तास्यनुदात्तेत्' इत्यादिना। इन्धान इति। अस्यानुदात्तत्वाद्। 'उदात्तनिवृत्तिस्वरे-

मध्योदात्तः । तदेवमिन्धाने सर्वथाऽप्राप्तमाद्युदात्तत्वं पक्षे विधीयते ।

वेणुरिव वेणुरित्युपमानं यदा संज्ञा भवति, तदा 'संज्ञायामुपमानम्' इति नित्यमाद्युदात्तत्वमिष्यते ॥

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥ २१६ ॥

त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ–इत्येतेषां विभाषा आदिरुदात्तो भवति। त्यागः, रागः, हासः––एते घञन्ताः, तेषां पक्षे 'कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः' इत्युदात्तत्वमेव भवति। कुहः, श्वठः, क्रथः––एते पचाद्यजन्ताः ॥

उपोत्तमं रिति ॥ २१७ ॥

रिदन्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति। त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमं तस्य समीपे यत्तदुपोत्तमम्। करणीयम्। हरणीयम्। पटुजातीयः। मृदुजातीयः। प्रत्ययस्वरापवादोऽयम् ॥

चङ्यन्यतरस्याम् ॥ २१८ ॥

पदमञ्जरी

वेणुरित्यादि। 'संज्ञायामुपमानम्' इत्यस्यावकाशः–चञ्चा वर्ध्रिका, विभाषाया अवकाशः—अनुपमानभूतो वेणुः शुष्क उपवने; वेणुरिति संज्ञायामुपमाने पूर्वविप्रतिषेधः।

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥ 'कुह विस्मापने', 'श्वठ क्रथ भाषणे' चौरादिकावदन्तौ। निघातस्यैवायमपवादो युक्तः? नैतदेवम्; यद्ययं निघातस्यापवादः स्यात्, तत्रैवायं ब्रूयात्—'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, न हि स्वार्थे॰म् ॥

न्यासः

वेति। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इत्यनेन।

वेणुरित्यादि। 'संज्ञायामुपमानम्' इत्यस्यावकाशः–चञ्चा, वर्ध्रिकेति, अस्या विभाषाया अवकाशः–अनुपमानो वेणुशब्दः, शुष्को वने वेणुरिति वेति; यदा वेणुरिवेत्युपमानवेणुशब्दः कस्यचित् संज्ञा भवति तदा 'संज्ञायामुपमानम्' इति तस्याद्युदात्तत्वमिष्यते, तच्च पूर्वविप्रतिषेधाल्लभ्यते ॥

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥ 'कुह विस्मापने', 'शठ श्वठ सम्यगवभाषणे'—एतौ चौरादिकौ। 'श्रथ श्लथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः' ॥

उपोत्तमं रिति ॥ चङ्यन्यतरस्याम् ॥ सा हि चीकरतामिति। "सन्वल्लघुनि

चङन्तेऽन्यतरस्यामुपोत्तममुदात्तं भवति। मा हि चीकरताम्। 'न माङ्योगे' इत्यटि प्रतिषिद्धे 'हि च' इति निघातेऽदुपदेशादिति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे कृते चङ एव स्वरे प्राप्ते पक्षे धात्वकार उदात्तो भवति।

उपोत्तमग्रहणाद् द्वयोर्न भवति--मा हि दधत्॥

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम्॥ २१९॥

मतोः पूर्व अकार उदात्तो भवति तच्चेन्मत्वन्तं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा भवति। उदुम्बरावती। पुष्करावती। वीरणावती। शरावती। 'शरादीनां च' इति दीर्घः।

आदिति किम्? इक्षुमती। द्रुमवती। संज्ञायामिति किम्? खट्वावती। स्त्रियामिति किम्? शरावान्। मतोरिति किम्? गवादिनी॥

पदमञ्जरी

चङ्यन्यतरस्याम्॥ उदाहरणे एकवचनातिक्रमणे हेतुर्मृग्यः। *मा हि दधदिति।* 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति च्लेश्चङादेशः।

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम्॥ मतोः पूर्वं आकार इति। अर्थव्याख्यानमेतत्। सूत्रे तु शब्दरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः। केचित्तु सूत्रे पूर्वशब्दं पुंल्लिङ्गमेव पठन्ति। उदाहरणे धातुरर्थिकः 'नद्यां मतुप्', 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनां च' इति दीर्घत्वम्। *मतोरिति किम्? गवादिनीति।* मतोरित्यस्मिन्नसति पूर्वग्रहणमपि न क्रियेतेति संज्ञाशब्दसम्बन्धिन आकारमात्रस्य प्रसङ्गः। पूर्वग्रहणं मतोरनन्तरस्य पूर्वस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्—सानुमतीति॥

न्यासः

चङ्परेऽनग्लोपे' इत्यभ्यासस्येत्त्वम्। अटि प्रतिषिद्ध इति। यद्यटः प्रतिषेधो यस्य तस्यैव स्वरः स्याद्धात्वकारस्य। 'हि च' इति निघात इति। प्रतिषिद्ध इत्यपेक्षते। यदि निघातो न प्रतिषिध्येत, तदा चङन्तस्योदात्तस्याभाव एव स्यात्।

मा हि दधदिति। 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति च्लेश्चङ्।

मतोः पूर्वमात् संज्ञायां स्त्रियाम्॥ उदुम्बरावतीति। उदुम्बरा अस्यां सन्तीति चातुरर्थिको मतुप्, 'मतोर्बह्वचोऽनजिरादीनाम्' इति दीर्घत्वम्। शरावतीति। अत्र 'शरादीनाञ्च' इति। मतोरिति किम्? गवादिनीति। 'मतोः' इत्यस्मिन्ननुच्यमाने तत्सम्बद्धं पूर्वग्रहणमपि नोच्येत, संज्ञाशब्दस्याकारमात्रस्योदात्तत्वं प्रसज्येत। पूर्वग्रहणं

अन्तोऽवत्याः ॥ २२० ॥

'संज्ञायाम्' इत्येव। अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायामन्त उदात्तो भवति। अजिरवती। खदिरवती। हंसवती। कारण्डवती[1]। ङीप पित्त्वादनुदात्तत्वं प्राप्तम्।

'अवत्या' इति किमुच्यते, न वत्या इत्येवमुच्येत? नैवं शक्यम्; इहापि स्यात्—राजवती। स्वरविधौ नलोपस्यासिद्धत्वान्नायमवतीशब्दः। वत्वं पुनराश्रयात्सिद्धम्॥

ईवत्याः ॥ २२१ ॥

पदमञ्जरी

अन्तोऽवत्याः ॥ इहासन्देहार्थम् 'वत्या अन्तः' इत्यवचनादकारप्रश्लेषो निश्चितः।

तत्र प्रयोजनं पृच्छति—*अवत्या इति किमुच्यत इति*। अथावत्या इत्युच्यमानेऽपि राजवतीत्यत्र कस्मान्न भवति, भवति ह्येतदपि नलोपे कृतेऽवतीशब्दान्तम्? अत आह—*स्वरविधावित्यादि*। ननु चोदाहरणेऽपि मतोर्वत्वस्यासिद्धत्वादवतीशब्दान्तत्वं नास्ति? इत्याह—*वत्वं पुनरिति*। पुनःशब्दो नलोपाद्विशेषं द्योतयति॥

न्यासः

मतोरनन्तरस्यास्य यथा स्यात्। इह मा भूत्—सानुमतीति। लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया चेहैव स्यात्—श्यामावती, उदुम्बरावतीत्यादि न स्यात्। पूर्वग्रहणात् पूर्वमात्रस्य भवति॥

अन्तोऽवत्याः ॥ अजिरवतीत्यादि। पूर्ववन्मतुप्। पित्त्वादनुदात्तत्वं प्राप्तमिति। अतस्तस्यायमपवाद इति शेषः। अथावत्या इत्युच्यमाने राजवतीत्येतस्मान्न भवति, अस्ति ह्येतदपि नलोपे कृतेऽवतीशब्दान्तम्? इत्याह—स्वरविधावित्यादि। कथमुदाहरणम्, यावता मतोर्वत्वस्यासिद्धत्वादत्रावतीशब्दान्तत्वं नास्ति? इत्याह—वत्वं पुनरित्यादि। पुनःशब्देन नलोपाद्विशेषं दर्शयति। लोपो ह्यसिद्धः, वत्वं पुनः सिद्धम्। कुतः? आश्रयात्। आश्रयः स्वरविधौ निमित्तत्वेनोपादानमित्यर्थः। अवतीशब्दस्यान्तोदात्तत्वं ब्रुवता वत्वमाश्रितम्, तस्मादाश्रयात् तस्य सिद्धत्वम्, अन्यथैवं वचनमनर्थकं स्यात्। न हि वत्वस्य सिद्धत्वमन्तरेणावतीशब्दान्तं किञ्चिदस्ति॥

---

१. 'वेत्रवती' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे।

ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति स्त्रियां संज्ञायां विषये। अहीवती। कृषीवती। मुनीवती[1]।

चौ ॥ २२२ ॥

'चौ' इत्यञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते। तस्मिन्परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति। दधीचः पश्य। दधीचा। दधीचे। मधूचः पश्य। मधूचा। मधूचे। उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादोऽयम्।

❀ चावतद्धित इति वक्तव्यम् ❀। दाधीचः। माधूचः। प्रत्यय-स्वरएवात्र भवति।

समासस्य ॥ २२३ ॥

समासस्यान्त उदात्तो भवति। राजपुरुषः। ब्राह्मणकम्बलः।

पदमञ्जरी

ईवत्याः ॥ *अहीवतीत्यादौ* पूर्वं दीर्घः, 'संज्ञायाम्' इति वत्वम्। योग-विभागश्चिन्त्यप्रयोजनः॥

चौ ॥ *उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादोऽयमिति*। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणोदात्तस्या-ञ्चत्यकारस्य विभक्तिनिमित्तकः 'अचः' इति लोपः।

चावतद्धित इति वक्तव्यमिति। चौ यः स्वरः स तद्धिते परतो न भवती-त्यर्थः;अन्यथा योऽनुदात्तः प्रत्ययः–दधीचः पश्येत्यादौ,तत्र यथोदात्तनिवृत्तिस्वरं बाधते, तथा दाधीच इत्यादौ प्रत्ययस्वरमपि सतिशिष्टः स्वरो बाधेत, तस्माद-तद्धित इति वक्तव्यम्, अस्मिंश्च सति उदात्तनिवृत्तिस्वरस्यायमपवादो भवति॥

समासस्य ॥ *राजदृषदिति*। ननु च योऽत्र समासस्यान्तो दकारो नासौ

न्यासः

ईवत्याः ॥ अयमपि पित्त्वानुदात्तस्यैवापवादः, अहीवतीत्यादि। 'शरादीनाञ्च' इति दीर्घः, 'संज्ञायाम्' इति च वत्वम्॥

चौ ॥ **उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादोऽयमिति**। दधीच इति। दध्यञ्चतीति क्विन्, 'गतिकारकोपपदात्' इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणाञ्चेरकार उदात्तः। विभक्तावजादावसर्व-नामस्थाने 'अचः' इत्यकारलोपे कृते सति 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इत्युदात्त-निवृत्तिस्वरः प्राप्नोति, अतस्तस्यायमपवादः।

चावतद्धित इत्यादि। यदीदमञ्चेः पूर्वस्यान्तोदात्तत्वं विधीयते, तदा तद्धितं भवतीत्येतदर्थरूपं व्याख्येयमित्यर्थः। व्याख्यानञ्चेदम्—अन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्तते, सा च व्यवस्थितविभाषा, तेन तद्धिते न भविष्यतीति॥

समासस्य ॥ राजपुरुष इत्यादिषूदाहरणेषु समासपदानां तस्मिंस्तस्मिन् स्वरे प्राप्ते

---

१. 'कृषीवती'—इत्यधिकमेकस्मिन्पुस्तके।

कन्यास्वनः । पटहशब्दः । नदीघोषः । राजपृषत् । ब्राह्मणसमित् ।

'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानत्' इति हलन्तेऽप्यन्तोदात्तत्वं भवति । नानापदस्वरस्यापवादः ॥

इति श्रीवामनविरचितायां काशिकावृत्तौ

षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

पदमञ्जरी

स्वरभाक्, यश्च ततः पूर्वोऽकारो नासौ समासस्यान्तः ? अत आह—स्वर-*विधाविति* । न स्वरस्यैव विधिः, किं तर्हि ? योऽपि 'अनुदात्तादेरञ्' इत्यादिः, सोऽपि स्वरविधिः; स्वराश्रयत्वात् । तेन सोऽपि विधिर्व्यञ्जनादौ व्यञ्जनान्ते च भवति । अत्र च ज्ञापकम्–'नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ' इत्युक्त्वा पृथिव्याः प्रतिषेधः ।

नानास्वरापवाद इति । यद्यपि 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्यस्ति, तथापि वर्जने

न्यासः

सतीदमारभ्यते, स आख्यायते । राजशब्दे तावत् 'कनिन् युवृषितक्षिराजि' इति कनिन्प्रत्ययान्तत्वान् नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । एवं पुरुषेऽपि, स हि 'पुरः कुषन्' इति कुषन्प्रत्यान्तो व्युत्पाद्यते । ब्रह्मण इदमिति 'तस्येदम्' इति ब्राह्मणशब्दोऽणन्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । 'कलस्तृपश्च' इति 'वृषादिभ्यश्चित्' बहुलवचनात् 'कमेर्दुक्' इति कम्बलशब्दो व्युत्पाद्यते, तेनायं चित्स्वरेणान्तोदात्तः । कन्याशब्दोऽन्तस्वरितः, 'अघ्न्यादयश्च' इति निपात्यते । अथ वा—'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु' इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्, 'कन्यायाः कनीन च' इति निपातनाद् वृद्ध्यभावः । तित्स्वरेणायमन्तस्वरितः सम्पद्यते । स्वनशब्दः 'स्वनहसोर्वा' इत्यबन्तत्वाद् धातुस्वरे-णाद्युदात्तः । पटत् पटद् ध्वन्यत इति पटहशब्दः पृषोदरादित्वादन्तोदात्तः । शब्दशब्दः 'शाशपिभ्यां ददनौ' इति दन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्स्वरेणाद्युदात्तः । पचादिषु 'नदट्' इति पठ्यते, तेन 'टिड्ढाणञ्' इति ङीपि कृते तत्र च 'यस्येति च' इत्यकारलोपे कृत उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तो नदीशब्दो भवति । घोषशब्दो घञन्तत्वान् ञित्स्वरेणा-द्युदात्तः । पृषत्समिच्छब्दौ प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तौ ।

अथ राजपृषद्, ब्राह्मणसमिदित्यत्र कथमन्तो भवति, यावता योऽत्र समासस्यान्तो नासौ स्वरभाक्, यस्तु तस्मात् पूर्वः स तकारेण व्यवहितः ? इत्याह—**स्वरविधा-विस्यादि । हलन्तेऽपीति** । समासस्येदं विशेषणम् । **अन्तोदात्तत्वमिति** । समासे येऽच पूर्वे तदपेक्षया परस्याचोऽन्तत्वं वेदितव्यम् । तेन **नानापदस्वरस्यापवाद इति** । समासे

पदमञ्जरी

विशेषाश्रयणात्पर्यायेण नानास्वरप्रसङ्गः । तत्र राजशब्दः 'कनिन्युवृषितक्षि' इत्यादिना कनिन्प्रत्यान्तत्वादाद्युदात्तः; 'पुरः कुषन्'—पुरुषः; ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः–अणन्तः; 'कलतृपश्च'; 'वृषादिभ्यश्चित्'; 'कमेर्बुक् च'—कम्बलः; 'कन्याराजन्यशिष्यामनुष्याणामन्तः' इति कन्याशब्दोऽन्तस्वरितः; 'स्वनहसोर्वा' इत्यप्, धातुस्वरः; पटत्पटद्ध्वन्यत इति पटहः, पृषोदरादिरन्तोदात्तः; 'शाशपिभ्यां दनौ', पचादिषु नदडिति पठ्यते, टित्त्वान्ङीप्–नदी; उदात्तनिवृत्ति स्वरः; पोषशब्दो घञन्तः; 'शृदृभसोऽदिः' 'दृणातेः षुग् ह्रस्वश्च' दृषत्, प्र... स्वरः; समिध्यते ययेति समित्, सम्पदादित्वात्क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः–एते नानास्वराः, तेषामपवादः ॥

इति श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायां पदमञ्जर्यां षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

न्यासः

हि पदानां पृथक् स्वरो भवति । यदीदं नोच्येत, ततो नानापृथक्पदानां स्वरः प्राप्नोति । अतस्तदपवादोऽयमुच्यते ॥

बोधिसत्त्वदेशीयाचार्यश्रीजिनेन्द्रबुद्धिपादविरचितायां

काशिकाविवरणपञ्जिकायां षष्ठस्याध्यायस्य

प्रथमः पादः समाप्तः

—❀❀❀—

करेगा, न कि जातिप्रेममें वह नियम कानूनका उल्लंघन कर देगा। ऐसी स्थितिमें जब चुना गयासांसद जातिप्रेम नहीं कर सकता तो मतदाता जातिपातिके चक्करमें पड़कर अपने विवेक रुपी आंखोकी रोशनीको नष्ट कर धृतराष्ट्रकी श्रेणीमें क्यो आ जाए।

श्री सिंहने कहा कि अगर कोई भी प्रत्याशी इतना साहस रखता हो कि यह कहे कि जीतनेके बाद वह कुछ खास जातियोंके लिये ही कार्य करेगा तो उसे सार्वजनिक रुपसे घोषणा करनी चाहिए। यदि चुनाव आयोग के डरसे वह इतना साहस नहीं कर पाता है तो वह खेल वोट पानेक लिए मतदाताओंकी आंखोंमें धूल नहीं मिर्चा झोंक रहा है। कुछ अन्य प्रगतिशील नागरिकोंने भी क्षेत्रका भ्रमण करना शुरु कर दिया है जिसमें अधिवक्ता अशोक सिंह, अरुण मिश्र, मोहम्मद सलीम, वकील अहमद आदिने योग्य उम्मीदवारोंको विजयी बनानेकी अपीलकी।

अनेकानेक प्रबुद्ध नागरिकोंने मतदाताओंसे कहा कि वे अपना सांसद उसे चुने जो ईमानदार हो जिसकें ऊपर पैसा लेने देनेका आरोप नहीं है। जिसका बौद्धिक स्तर ऊंचा हो जो जरुरत पड़ने पर किसी भी मंच पर खड़ा हो तो कोई विचार दे सके। जिसके हृदयमें

...भाजपा, सपा और लसपाके कई प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय नेताओंका दौरा हो चुका है। वहीं इंका प्रत्याशीके पक्षमें मात्र लोकपति त्रिपाठी ने ब्राह्मण बाहुल्य क्षेत्रका दौरा किया। यहांके मतदाताओं पर अच्छी पकड़ रखने वाले राम प्यारे पनिका कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। चौधरी अजीत सिंहके यहां आनेकी चूर्चा थी, लेकिन लगता है कि अपने प्रत्याशीकी पतली हालत देखकर उन्होंने यहां आना मुनासिब नहीं समझा होगा। पूरे संसदीय क्षेत्रमें बसपा, सपा, भाजपा, के अलावा कहीं-कहीं अपना दल भी रीता आर्या, डाक्टर दिनेश सिंह तथा अन्य निर्दल प्रत्याशियोंकी गाड़ियां दौड़ती हुई दिखायी पड़ जाती हैं।

रार्बट्सगंज संसदीय क्षेत्रमें चुनाव आयोग के सख्त निर्देशों, तेज तपन एवं पेयजलकी भीषण समस्या तथा लगनेके चलते यह मालूम ही नहीं हो रहा है कि यहां पर लोकसभाका चुनाव हो रहा है। प्रचारमें बसपा, सपा और भाजपाही दिखाई पड़ रही हैं। चूंकि भाजपाके चुनाव प्रचारकी बागडोर संघके हाथमें है अतः सभीको मालूम रहता है कि आगले दिन भाजपा प्रत्याशी कहां मिलेगा। चुनाव प्रचारके अंतिम चरणमें प्रत्याशी अब जनसम्पर्क पर ज्यादा बल दे रहे हैं।

मिर्जापुर जनपदकी अपेक्षा सोनभद्र जनपदमें कम चुनाव प्रचार दिखाई पड़नेका एक प्रमुख कारण यह भी है कि इस जपदसे मात्र १० प्रत्याशी चुनाव लड़ रहे है जबकि

...हो सकते हैं।

इंका हाईकमान ने श्री रामनिहोरको ...प्त मदद दी है। यदि वे उसका यही उपयोग करें तो संघर्षमें आ सकते हैं। उन्हें पर्याप्त मात्रामें चुनाव प्रचार सामग्री, झण्डा, बैनर, पोस्टर दिये गये हैं। इतना ही नहीं लगभग १० दर्जन आडियो वीडियो कैसेट

उम्मीदवार वोट बटोरनेकी ...

चुनाव प्रचारके उपलब्ध कराये गये हैं। चौधरी अजीत सिंहके रामनिहोरके अच्छे एवं निकटवर्ती सम्बन्ध हैं। उनका कार्यक्रम यहां अभी तक नहीं लगा। इंका कार्यकर्ताओंमें प्रत्याशी द्वारा साधन मुहैय्या नहीं किये जानेसे रोष है। इस रोष, आक्रोश और असन्तोषको चलते प्रचारमें लगे कार्यकर्ताओंकी संख्या घटती जा रही है। यदि पिछले चुनावों पर दृष्टि डाली जाय और आजकी स्थिति तथा अन्य प्रमुख राजनीतिक पार्टियोंके प्रत्याशियोंसे तुलनाकी जाय तो बसपा प्रत्याशी रामसकल ज्यादा मजबूत होते जा रहे हैं। जनपदकी प्रमुख बसपा नेत्री श्रीमती एम. बेगने यहां पर चुनावकी कमान संभाली है. उनके द्वारा व्यापक जनसम्पर्क किये जानेसे महिलाएं तथा मुसलमान मतदाता बसपासे जुड़ते जा रहे हैं। वर्ष १९८९ तथा वर्ष १९९१ में हुए लोकसभा चुनावमें बसपा तीसरे स्थान पर थी। बसपाको

बसपाको मिले थे। इस चुनावमें बसपा प्रत्याशी को सवा लाख से ज्यादा मत मिलनेकी आशा है। इससे ज्यादा जो पायेगा उसकी जीत निश्चित समझी जायेगी। मुसलमान सपाको वोट देंगे तो टक्कर सपा भाजपाको देगी। यदि यही वोट बसपाको मिलेगा तो बसपा भाजपाको टक्कर देगी। इस

बसपा, सपा और भाजपाकी स्थिति मजबूत होनेसे

और क्षेत्रीयताके आधारपर